जीवराज जैन ग्रन्थमाला, हिन्दी विभाग पुष्प २८
ग्रन्थमाला-सम्पादक
स्व० प्रो० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एवं स्व० प्रो० डॉ० हीरालाल जैन.

श्रावकाचार संग्रह

(सागारधर्मामृत आदि ५ श्रावकाचारों का संग्रह)

[भाग २

•

सम्पादक एवं अनुवादक
पं० हीरालाल सिद्धान्तालंकार, न्यायतीर्थ
व्यवस्थापक
ऐलक पन्नालाल दि० जैन, सरस्वती भवन, ब्यावर (राजस्थान)

•

प्रकाशक
लालचन्द हीराचन्द
अध्यक्ष, जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर (महाराष्ट्र)

मूल्य : २० रु०

वी० नि० सं० २५०२] [ई० सन् १९७६

स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी
संस्थापक,
जैन संस्कृति-संरक्षक-संघ, सोलापूर.

श्री जीवराज जैन ग्रंथमालाका

परिचय

सोलापुर निवासी स्व० ब्र० जीवराज गौतमचंद दोशी कई वर्षों से उदासीन होकर धर्म-कार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४०में उनकी प्रबल इच्छा हो उठी कि अपना न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संग्रह कीं, कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालमें ब्रह्मचारीजीने सिद्धक्षेत्र गजपंथ (नाशिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्रित की। और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया।

विद्वान् सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैनसंस्कृति तथा जैनसाहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतु **'जैन संस्कृति संरक्षण संघ'** नामक संस्थाकी स्थापना की। उसके लिये रु० ३०,००० के दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग दो लाख की अपनी संपूर्णसंपत्ति संघको ट्रस्टरूपसे अर्पण की। इस संघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' द्वारा प्राचीन प्राकृत-सस्कृत हिंदी तथा मराठी पुस्तकोंका प्रकाशन हो रहा है।

आजतक इस ग्रन्थमालासे हिंदी विभागमें २८ पुस्तकें, कन्नड विभागमें ३ पुस्तकें, तथा मराठी विभागमें ४४ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका हिंदी विभागका २८वाँ पुष्प है।

●

प्रकाशकीय निवेदन

यह श्रावकाचार संग्रह ग्रंथ उपासकाध्ययनांगका चरणानुयोगका प्रकाशक अनुपम ग्रन्थ है। इसमें सब श्रावकाचारोंका संग्रह एकत्रित किया है। श्रावक धर्मका स्वरूप क्या है, आत्मधर्मके उपासककी दिनचर्या कैसी होनी चाहिये, परिणामोंकी विशुद्धिके लिये क्रमपूर्वक व्रत-संयमका अनुष्ठान नितांत आवश्यक है इसका विस्तारपूर्वक विवरण इस ग्रन्थका पठन-पाठन करनेसे ज्ञात हो सकता है। स्व० श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये ने सब श्रावकाचार ग्रंथोंकी नामावली भेजकर यह ग्रंथ प्रकाशित करनेके लिये मूलप्रेरणा दी इसलिये यह संस्था उनकी कृतज्ञ है।

श्रावकाचारके इस दूसरे भागका संपादन एवं हिंदी अनुवाद श्री पं० हीरालालजी शास्त्री ब्यावर ने तैयार करके ग्रंथमालाको जिनवाणीका प्रचार करनेमें सहयोग दिया है, जिसके लिये हम उक्त जैनधर्मसिद्धांतके मर्मज्ञ विद्वान्को हार्दिक धन्यवाद समर्पण करते हैं।

इस ग्रंथका मुद्रण कार्य सुचारु रूपसे करनेमें श्री वर्द्धमान मुद्रणालय वाराणसी के संचालक-वर्गने सहयोग दिया है इसलिये हम उनका भी आभार मानते हैं।

अंतमें इस ग्रन्थका पठन-पाठन घर-घरमें होकर श्रावकधर्मकी प्रशस्त तीर्थप्रवृति अखंड प्रवाहसे सदैव कायम रहे यह मंगल भावना प्रकट करते हैं।

श्री बालचंद देवचंद शहा
मंत्री, श्री जैनसंस्कृतिसंरक्षक संघ
(जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापुर)

सम्पादकीय वक्तव्य

आजसे लगभग १० वर्ष पूर्व की बात है कि इस संस्थाके मानद मंत्री श्रीमान् सेठ बालचन्द्र देवचन्द्रजी शहाका विचार हुआ कि इस संस्थासे दि० जैन सम्प्रदायमें उपलब्ध सभी श्रावकचारों का संकलन करके प्रकाशित हो तो अभ्यासियोंके लिए बहुत उपयोगी रहे। उन्होंने अपना अभिप्राय अपने अनन्य सहयोगी स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये से कहा। डाक्टर सा० ने एक रूप-रेखा बनाकर आपके पास भेजी। और आपने उसे मेरे पास भेजकर प्रेरणा की कि इस कार्य-भारको आप स्वीकार करें। मैं उस समय ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवनका व्यवस्थापक होकर ब्यावर आया ही था, इसलिए मैंने यह सोचकर इस कार्यको सहर्ष स्वीकार कर लिया कि सरस्वती भवनका विशाल-ग्रन्थ-संग्रह इस कार्यमें सहायक होगा।

स्व० डा० उपाध्ये सा० ने १५ श्रावकाचारोंके नाम अपने पत्रमें सुझाये थे। सरस्वती भवनकी ग्रन्थ-सूचीसे कुछ और भी श्रावकाचारोंके नाम ज्ञात हुए और मैंने उनकी प्रेसकापी करना प्रारम्भ कर दिया।

स्व० डा० उपाध्येने जिस काल-क्रमसे श्रावकाचारोंके संकलनका सुझाव दिया था, उन्हें और नये उपलब्ध श्रावकाचारों के नाम अपने विचार से काल-क्रमसे लिखकर २१ श्रावकाचारोंकी सूची दि० २१।४।७१ को श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजीके पास बनारस भेजी और कालक्रमका निर्णय चाहा। उन्होंने उसी पत्र पर अपना निर्णय देकर यह भी सुझाव दिया कि पद्मनन्दिपंचविंशतिका, वरांगचरित, हरिवंशपुराण आदिमें भी जो श्रावक धर्मका प्रतिपादन किया गया है उसे भी संक-लित करके प्रस्तुत संग्रहमें दे दिया जाना अच्छा रहेगा। तदनुसार चारित्रप्राभृत, तत्त्वार्थसूत्रका सप्तम अध्याय, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, पद्मचरित, हरिवंश पुराण, वराङ्ग चरित से भी श्रावका-चारका संकलन किया गया। स्व डा० उपाध्येके सुझाव से यह भी निर्णय किया गया कि जो श्रावकाचार स्वतंत्ररूपसे निर्मित हैं, और जो कार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा महापुराणके श्रावक धर्मके वर्णन करनेवाले पर्व है उन्हें तो क्रमशः काल-क्रमके अनुसार स्थान दिया जावे। शेष जो अन्य ग्रन्थोंसे उद्धृत हों, उन्हें अन्तमें परिशिष्टके रूपसे दिया जावे।

प्रस्तुत संकलनके मुद्रणका निर्णय वर्द्धमान मुद्रणालयमें किया गया और चार वर्ष पूर्व इसकी प्रारम्भिक प्रेसकापी बनारस भेज दी गई। परन्तु वहाँसे प्रूफ मेरे पास आने-जानेमें समय बहुत लगता था अतः तीन वर्षमें लगभग ३० ही फार्म छप सके। संस्थाके मानद-मंत्रीजी चाहते थे कि इस वीर निर्वाणशताब्दी पर तो श्रावकाचार-संग्रहका प्रथम भाग प्रकाशित हो ही जाना चाहिए। पर वहाँ प्रूफ-संशोधन कौन करे, यह समस्या सामने थी। अन्तमें संस्थाके मंत्रीजीके परा-मर्शसे मैं बनारस गया और श्री पं० महादेवजी चतुर्वेदी व्याकरणाचार्यसे—जो कि प्रूफ-संशोधनके कार्यमें अतिकुशल हैं—इसे स्वीकार करनेका आग्रह किया। हर्ष है कि उन्होंने उसे स्वीकार किया और प्रथम भाग अप्रैल में प्रकाशित हो गया। अब यह दूसरा भाग भी पाठकोंके सामने हैं, इसमें सागार धर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, गुणभूषण श्रावकाचार और धर्मो-पदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार इन पाँच श्रावकाचारों का संग्रह है।

तृतीय भाग में १. लाटीसंहिता, २. व्रतोद्योतन श्रावकाचार, ३. उमास्वाति श्रावकाचार, ४. पूज्यपाद श्रावकाचार आदि रहेंगे। इसके अतिरिक्त इन दोनों भागोंमें, चारित्र प्राभृत, तत्त्वार्थ-सूत्र, पद्मचरित आदि से उद्धृत अंश परिशिष्ट में रहेंगे।

जिन श्रावकाचारोंका संग्रह किया गया है, वे सभी विभिन्न स्थानोंसे पूर्व प्रकाशित हैं किन्तु सभीके मूल पाठोंका संशोधन और पाठ-मिलान ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवनके हस्त-लिखित मूल श्रावकाचारोंसे किया गया है। यशस्तिलकगत श्रावकाचार 'उपासकाध्ययन' के नामसे भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है, उसीके आधार परसे केवल श्लोकोंका संकलन प्रस्तुत संग्रहमें किया गया है। पूजन सम्बन्धी गद्यभाग एवं कथानकोंका गद्यभाग स्व० डॉ० उपाध्येके परामर्शसे नहीं लिया गया है।

दूसरे भागके साथ भी प्रस्तावना नहीं दी जा रही है। हाँ, तीसरे भाग के साथ विस्तृत प्रस्तावना दी जावेगी, जिसमें संकलित श्रावकाचारोंकी समीक्षाके साथ श्रावकाचारका क्रमिक विकास भी दिया जावेगा। तथा संकलित श्रावकाचारोंके कर्त्ताओंका परिचय भी दिया जावेगा। सम्पादनमें प्राचीन प्रतियोंका उपयोग किया गया है, उनका भी परिचय तीसरे भागमें दिया जायेगा। तीसरे भागमें ही समस्त श्रावकाचारोंके श्लोकोंकी अकारादि-अनुक्रमणिका भी दी जायगी, एवं आवश्यक पारिभाषिक शब्दकोष आदि भी परिशिष्ट में ही दिये जावेंगे।

अन्तमें संस्थाके मानद मंत्री, स्व० डॉ० उपाध्ये और श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्रीका बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने इस प्रकाशनके लिये समय-समय पर सत्परामर्श दिया है। श्री० पं० महादेवजी चतुर्वेदीका भी आभारी हूँ कि उन्होंने प्रूफ-संशोधन का भार स्वीकार करके इस भाग को शीघ्र प्रकाशित करनेमें सहयोग दिया है। शुद्ध और स्वच्छ मुद्रणके लिए वर्द्धमान मुद्रणालयका भी आभारी हूँ

ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती
१-६-७६

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

श्रावकाचार-संग्रह, द्वितीय भाग

की

विषय-सूची

११ धर्म संग्रह श्रावकाचार ९५–१९७

प्रथम अधिकार ९५–१०३

१२ प्रश्नोत्तरश्रावकाचार १९८–४३६

१४ धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार ४६२

●

श्रीः

पण्डितप्रवर आशाधर-विरचित

सागारधर्मामृत

प्रथम अध्याय

अथ नत्वार्हतोऽक्षूणचरणान् श्रमणानपि। तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेष्यते ॥१
अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसंज्ञाज्वरातुराः। शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागाराः विषयोन्मुखाः ॥२
अनाद्यविद्यानुस्यूतां ग्रन्थसंज्ञामपासितुम्। अपारयन्तः सागाराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥३
नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः। पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥४
केषाञ्चिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम्। मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम् ॥५

ग्रन्थकार श्री पं० आशाधर जी कहते हैं कि अनगारधर्मामृतकी रचनाके अनन्तर सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र युक्त अर्हन्त परमेष्ठोको और निर्दोष चारित्र-युक्त दिगम्बर आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार करके संहननकी हीनता आदि दोषोंके कारण मुनिधर्मके पालनकी योग्यता न होने पर भी जो मुनिधर्ममें प्रेम करते हैं ऐसे गृहस्थोंका धर्म उन्हें उसी भवमें या भवान्तरमें मुनिधर्मकी योग्यता प्राप्त हो इस भावनासे यहाँ कहा जाता है ॥१॥ जिस प्रकार वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषोंकी विषमतासे उत्पन्न होने वाले प्राकृत आदि चार प्रकारके ज्वरोंसे पीड़ित होनेके कारण मनुष्य हिताहितके विवेकसे शून्य हो जाता है, उसी प्रकार अनित्य पदार्थोंको नित्य, अपवित्र पदार्थोंको पवित्र, दुःखोंको सुख तथा अपनेसे भिन्न स्त्री पुत्र मित्रादिक बाह्य पदार्थों-को 'अपना मानना' रूप अनादिकालीन अविद्या रूपी वात, पित्त वा कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाली आहारादिक चारों संज्ञाओं रूपी ज्वरसे पीड़ित होनेके कारण जो निरन्तर मुख्यतया स्वात्मज्ञानसे विमुख होकर राग तथा द्वेषसे इष्ट और अनिष्ट विषयोंमें प्रवृत्त रहता है उसे सागार कहते हैं ॥२॥ सन्ततिरूप परम्परासे चले आनेवाले बीज अंकुरकी तरह अनादिकालीन अज्ञानके द्वारा सन्ततिरूप परम्परासे चली आनेवाली परिग्रह संज्ञाको जो नहीं छोड़ सकते, तथा जो बहुधा स्त्री आदि इष्टविषयोंमें ममकाररूप विकल्पोंकी परतन्त्रतासे व्याप्त रहते हैं वे सागार (गृहस्थ) कहलाते हैं ॥३॥ जिसका आत्मा मिथ्यात्वसे व्याप्त होता है उसके हिताहितका विवेक नहीं होता इसलिये वह पशुके समान है और सम्यक्त्वके द्वारा जिसकी स्वानुभूति (चैतन्य-सम्पत्ति) प्रगट होती है, उसके हिताहितका विवेक होता है, इससे वह पशु होकर भी मनुष्यके समान है ॥४॥ मिथ्यात्वके तीन भेद हैं—अगृहीत, गृहीत और सांशयिक। एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तकके अगृहीतमिथ्यात्व होता है। गृहीतमिथ्यात्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके होता है। सांशयिकमिथ्यात्व इन्द्राचार्य आदिको शल्यके समान कष्ट देता है। विशेषार्थ—दूसरोंके उपदेशके बिना जीवके अनादिकालसे जो तत्त्वोंमें अश्रद्धा होती है उसे अगृहीतमिथ्यात्व कहते हैं। जैसे गाढ़ अन्धकारमें

आसन्नभव्यताकर्महानि सञ्ज्ञित्वशुद्धिभाक् । देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥६
कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह । खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित् ॥७
नाथामहेऽद्य भद्राणामप्यत्र किमु सद्दृशाम् । हेम्न्यलभ्ये हि हेमाश्मलाभाय स्पृहयेन्न कः ॥८
कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन् । भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात् ॥९

अच्छे बुरे किसी भी पदार्थका दर्शन तथा ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार अगृहीतमिथ्यात्वके उदयसे जीवके धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप और स्व-पर आदि पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान नहीं होता। दूसरोंके उपदेशसे ग्रहण किये गये विपरीत तथा एकान्त-श्रद्धान रूप मिथ्यात्वको गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं। जैसे जब किसी व्यक्तिको भूत लग जाता है तब वह भूत उसकी स्वाभाविक दशाको भुलाकर उसे नानाप्रकारसे नचाता है, उसी प्रकार गृहीतमिथ्यात्व भी जीवोंको एकान्त तथा विपरीत आदि रूपसे पदार्थोंका श्रद्धान कराकर नानाप्रकारके धर्माभास रूप अनुष्ठान कराता है। जिनदेव द्वारा निरूपित अनेकान्तस्वरूप जीवादिक वस्तुएँ 'उसी प्रकारसे हैं या नही' इस प्रकार यथार्थ व अयथार्थ किसी एक भी स्वरूपका निश्चय नही कराने वाले चलित श्रद्धानको सांशयिकमिथ्यात्व कहते है। जैसे शरीरके भीतर घुसा हुआ बाण जब तक शरीरसे नही निकल जाता है तब तक शान्ति नहीं होने देता, कुछ भी काम करो अपनी ओर ही चित्तको खींचता है, उसी प्रकार सांशयिक मिथ्यात्व भी जीवोंके चित्तको अनुष्ठातव्य विषयकी ओरसे रोककर सदैव अशान्त करता है ॥५॥

आसन्नभव्यता, कर्महानि (मिथ्यात्वादि कर्मोंका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय) संज्ञीपना और परिणामोंकी विशुद्धि ये चार सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें अन्तरङ्ग कारण हैं। तथा सच्चे गुरुका उपदेश, जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन और वेदनाका होना आदि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें बाह्य कारण हैं ॥६॥ जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें मेघोंके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंके आच्छादित हो जानेपर सूर्य और चन्द्रका प्रकाश न होने पर भी किसी किसी प्रदेशमें कहीं कहीं पर ही खद्योत (जुगनू) चमकते दिखाई देते हैं उसी प्रकार इस पंचमकालरूपी वर्षाकाल में सर्वथैकान्तवादी बौद्ध, नैयायिक आदिकोंके मिथ्या उपदेशरूपी मेघोंके द्वारा अनेकान्त उपदेशरूपी दिशाओंके व्याप्त हो जानेपर (ढक जानेपर) बाधारहित और सम्पूर्ण जीवाजीवादि अनेकान्तरूप तत्त्वोंका उपदेश देनेवाले सच्चे गुरु आर्य-क्षेत्रमें कहीं कहीं पर ही दिखाई देते है ॥७॥ जिस प्रकार संसारमें सब लोग सुवर्णको चाहते हैं, परन्तु जिस समय सुवर्ण नहीं मिलता; उस समय वे सुवर्णकी उत्पत्तिके स्थानभूत सुवर्णपाषाणको ही चाहने लगते हैं। उसी प्रकार वास्तवमें सम्यग्दृष्टि ही देशनाके सच्चे अधिकारी है इसलिये जहाँ तक सम्यग्दृष्टि पुरुष मिलें वहाँ तक उनको ही उपदेश देना चाहिये। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयके द्वारा जिन पुरुषोंके चित्त व्याप्त हो रहे हैं ऐसे पुरुष तो उपदेश-श्रवणके पात्र ही नहीं हैं। परन्तु यदि सम्यग्दृष्टि नहीं मिल सकें तो फिर मिथ्यादृष्टि भद्रपुरुषोंको ही उपदेश देना चाहिए ॥८॥ जो व्यक्ति मिथ्याधर्मका पालक होता हुआ भी समीचीनधर्मसे द्वेषके कारणभूत मिथ्यात्वकर्मके उदयकी मन्दतासे समीचीन धर्मसे द्वेष नहीं करता उसे भद्र कहते हैं। तथा जो कुधर्ममें स्थित होकर भी मिथ्यात्वकर्मके उदयकी तीव्रतासे समीचीनधर्मसे द्वेष करता है उसे अभद्र कहते हैं। इन दोनोंमेंसे भद्र तो आगामीकालमें सम्यक्त्वगुणकी प्राप्ति योग्य हो सकता है इसलिये वह तो उपदेश ग्रहण करनेका अधिकारी है, किन्तु अभद्र पुरुष आगामी कालमें भी सम्यक्त्वगुणकी प्राप्तिके योग्य नहीं हो सकता, इसलिये उसे उपदेश देना वृथा है ॥९॥

शलाकयेवाप्तगिराप्तसूत्रप्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात् ।
हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद् भायादसौ सांव्यवहारिकाणाम् ॥१०
न्यायोपात्तधनो, यजन्गुणगुरून्, सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्नन्योन्यानुगुणं, तदर्हगृहिणी-स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः, प्राज्ञः कृतज्ञो वशी, शृण्वन्धर्मविधिं,दयालुरघभीः,सागारधर्मं चरेत्११
सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ॥१२
भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत् ।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान् शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः ॥१३
धर्मं यशः शर्म च सेवमानाः केऽप्येकशो जन्म विदुः कृतार्थम् ।
अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघान्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव ॥१४

यदि वज्रकी सुईके द्वारा छिद्र करके कान्तिहीन भी मणि कान्तिमान् मणियोंकी मालामें पिरो दिया जावे तो उस समय वह कान्तिमान् मणियोंके सम्बन्धसे दर्शकोंको कान्तिमान् मणिकी तरह मालूम होता है। उसी प्रकार सद्गुरुके वचनों द्वारा परमागमके जाननेमें उपायभूत सुश्रूषादि-गुणोंको प्राप्त होनेवाला भद्र मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि अन्तरङ्गमें मिथ्यात्व कर्मके सद्भावके कारण यथार्थ श्रद्धानसे रहित भी हो तथापि बाह्यमें सम्यग्दृष्टि जीवके समान ही उसमें परमागम-के सुननेकी इच्छा आदि गुणोंके पाये जानेसे वह भद्र मिथ्यादृष्टि जीव व्यवहारके ज्ञाता पुरुषोंको सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके मध्यमें सम्यग्दृष्टिके समान मालूम होता है ॥१०॥ न्यायसे धन कमाना, गुणों, गुरुओं तथा गुणगुरुओंकी पूजा करना, प्रशस्त वचन बोलना, निर्बाध त्रिवर्गका सेवन, त्रिवर्गयोग्य स्त्री, ग्राम व मकान, उचित लज्जा, योग्य भोजन और विहार, सत्संगति, विवेक, उपकारस्मृति, जितेन्द्रियता, धर्मश्रवण, दयालुता और पापभीति इन चौदह गुणोंमेंसे अधिकांश या समस्त गुणों-को धारण करनेवाला प्राणी ही सागारधर्मको धारण करनेका अधिकारी है ॥११॥ पच्चीस दोष-रहित सम्यक्त्व, पाँच-पाँच अतिचार रहित बारह व्रत और मरणसमयमें विधिपूर्वक सल्लेखना यह सब श्रावकका सम्पूर्ण धर्म है ॥१२॥ जैसे कोतवालके द्वारा मारनेके लिये पकड़ा गया चोर गधे पर चढ़ाना, काला मुँह कराना आदि जो जो कार्य कोतवाल कराता है उन सबको अयोग्य जानता हुआ भी करता है, परन्तु अपनी दुर्दशासे या हार्दिक भावनासे जब वह अपनी चोरीको बुरा समझता है और अपनी करामातको बुरा समझ कर अपनी निन्दा करता है, तब वह या तो दण्डसे छुटकारा ही पा जाता है या अल्पदण्डका भागी होता है। उसी प्रकार पृथ्वीरेखा आदिके समान अप्रत्याख्यानावरण-क्रोधादिकके वशीभूत व्यक्ति भावहिंसा और द्रव्यहिंसा आदि जो जो कार्य चारित्रमोह कराता है, उन सबको अयोग्य जानता हुआ भी अपने समय पर उदयमें आनेवाले कर्मोंकी दुर्निवारतासे करता है परन्तु सर्वज्ञदेवके उपदेशकी यथार्थताके अतिदृढ़ विश्वाससे वह स्त्री आदिक विषयोंसे उत्पन्न सुखको विनाशीक तथा आत्मोत्पन्न सुखको ग्राह्य समझता है। तथा "हाथमें दीपक रहते हुए अन्धकूपमें गिरने वाले मुझको धिक्कार है।" इस प्रकार अपनी निन्दा और गर्हा करता है। ऐसा अविरतसम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि इन्द्रियोत्पन्न सुखोंको भोगता है तथा त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, तथापि वह जिन संक्लेश परिणामोंसे नरकादि अशुभ गतियों-का बन्ध होता है, उन संक्लेश परिणामोंसे युक्त नहीं होता ॥१३॥

लोगोंकी रुचि विभिन्न होती है, एक सी नहीं। इसलिये इस संसारमें कोई पुरुष तो धर्म,

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः ।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात् ॥१५

रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुखस्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु ।
सद्दृग् दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादशस्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ॥१६

दृष्ट्या मूलगुणाष्टकं व्रतभरं, सामायिकं प्रोषधं,
सच्चित्तान्नदिनव्यवायवनितारम्भोपधिभ्यो मतात् ।
उद्दिष्टादपि भोजनाच्च विरतिं प्राप्ताः क्रमात्प्राग्गुण-
प्रौढ्या दर्शनिकादयः सह भवन्त्येकादशोपासकाः ॥१७

नित्याष्टाह्निकसच्चतुर्मुखमहाः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदया-दत्तीस्तपःसंयमान् ।

यश व सुख इन तीनोंमेंसे किसी एककी सिद्धिसे मानव-जीवनको सफल मानते हैं । लोकव्यवहारके अनुगामी तथा अपनेको आगमज्ञाता मानने वाले कोई व्यक्ति धर्म व यश, धर्म व सुख तथा यश व सुखकी सिद्धिसे ही मनुष्य-जीवनको सफल मानते हैं । किन्तु ग्रन्थकार कहते है कि वास्तवमें इन तीनोंके सेवनसे ही मानव-जीवन सफल होता है । अभिप्राय यह है कि—मनुष्यको प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार परस्परमें अविरोधभावसे धर्म, यश तथा सुख तीनोका साधन करना चाहिये ॥१४॥ जो सम्यग्दृष्टि अष्ट मूलगुणों और बारह व्रतोंको परिपूर्ण रूपसे पालन करता है । पंच परमेष्ठियोंके चरणोंको शरण समझता है । प्रधानरूपसे चार प्रकारके दानों और पाँच प्रकार-के पूजनोंको करता है तथा भेदविज्ञान रूपी अमृतको पीनेकी इच्छा रखता है उसे श्रावक कहते हैं । अर्थात् जो मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका एकदेश पालन करता है वह श्रावक कहलाता है ॥१५॥ रागद्वेष और मोहके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयाभावी क्षय की हीनाधिकता के अनुसार प्रकट होने वाली निर्मल चिद्रूप आत्मा की अनुभूति से उत्पन्न होने वाले सुख के स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा होने वाले अनुभव को अन्तरङ्ग प्रतिमा कहते है और मन वचन काय से स्थूल त्रसहिंसा आदिक पापों का देव गुरु धर्म की साक्षिपूर्वक त्याग करना बहिरङ्ग प्रतिमा कहलाती है । इस प्रकार जो सम्यग्दृष्टि पुरुष पञ्चपाप के सर्वथा त्याग रूप मुनिधर्म में अनुरक्त होता हुआ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग स्वरूप से युक्त देशव्रत नामक पंचम गुणस्थान के दार्शनिक, व्रतिक आदि ग्यारह स्थानों (प्रतिमाओं) में से क्रम को भंग न करके किसी एक स्थान (प्रतिमा) को अपनी शक्ति के अनुसार धारण करता है, वह पुरुष ही अपने कर्त्तव्य का भली प्रकार पालन करता है इसलिये वह अभिनन्दनीय है ॥१६॥ दर्शन, व्रत आदि प्रतिमाओं के ग्यारह भेद हैं । अनादिकाल से चले आये-हुए विषयों के अभ्यास से उत्पन्न असंयम को सहसा छोड़ नहीं सकनेके कारण यह जीव उन प्रतिमाओंको एक साथ धारण नहीं कर सकता इसलिये सम्यग्दर्शन और आठ मूलगुणोंकी परिपक्वताके साथ व्रत प्रतिमाको तथा अष्ट मूलगुण और बारह व्रतोंकी परिपक्वताके साथ सामायिक प्रतिमाको इस प्रकार पूर्व-पूर्वकी प्रतिमाओंके गुणोंकी वृद्धिके साथ-साथ आगे-आगेकी प्रतिमाओंका पालन करनेसे श्रावकोंके भी ग्यारह भेद हो जाते हैं ॥१७॥ नित्यमह, आष्टाह्निकमह, सच्चतुर्मुखमह; कल्पद्रुम मह और ऐन्द्रध्वज इस प्रकार पाँच प्रकारका पूजन, पात्रदत्ती, समक्रियादत्ती, दयादत्ती और अन्वयदत्ती इसप्रकार चार प्रकारका

स्वाध्यायं च विधातुमादृतकृषी-सेवावणिज्याविकः,
शुद्ध्याप्तोदितया गृही मललवं, पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥१८
स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं
धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदितं, दोषं विशोध्योज्झतः ।
सूनौ न्यस्य निजान्वयं, गृहमथो चर्या भवेत्साधनं,
त्वन्तेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया, ध्यात्यात्मनः शोधनम् ॥१९
पाक्षिकादिभिदा त्रेधा, श्रावकस्तत्र पाक्षिकः । तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो, नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ॥२०

दान, स्वाध्याय, तप और संयम ये पाँच श्रावकके कर्त्तव्य कर्म हैं। परन्तु इन पाँचों ही धार्मिक कार्योंका योग्यरीतिसे पालन, आजीविकाके उपायभूत कृषि आदिक कर्मोंके किये बिना निराकुलता नहीं रहनेके कारण हो नहीं सकता और कृषि आदिकके करने में पापसे बचाव हो नही सकता। इसलिये गृहस्थको जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कथित प्रायश्चित्तसे अथवा पक्ष,चर्या तथा साधनरूप श्रावक धर्म पालनसे कृष्यादिक छह कर्मोंद्वारा होनेवाले पापोंको दूर करना चाहिये ॥१८॥ धर्म, देवता, मंत्रसिद्धि, औषधि और आहार आदिके लिये मैं कभी 'संकल्प-पूर्वक त्रसजीवोंकी हिंसा नही करूँगा' इसप्रकारकी प्रतिज्ञा करके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ्य इन चार भावनाओके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुआ स्थूल झूठ आदि पापोंके त्याग सहित सम्पूर्ण त्रसजीवोंकी संकल्पी हिंसाके त्यागरूप अहिंसात्मक परिणामको पक्ष कहते हैं। परिणाममें वैराग्यकी वृद्धि होनेपर कृष्यादिक कर्मोंसे उत्पन्न हिंसादिक पापोंको प्रायश्चित्तके द्वारा दूर करके स्त्री, माता आदि पोष्यवर्गको, धनको तथा चैत्यालय वगैरह धर्मको अपने भारके चलनेमें समर्थ योग्य पुत्र या किसी अन्य वंशज वगैरहके सुपुर्दकर गृहत्याग करनेको चर्या कहते हैं। चर्यामें लगे हुए दोषोंको प्रायश्चित्तसे दूर करके गृह त्यागके अन्तिम समयमें अथवा मरण समयमें चतुर्विध आहार, योग की चेष्टा तथा शरीरमें ममत्वके त्यागसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल ध्यानके द्वारा आत्मासे रागादिक दोषोंके दूर करनेको साधन कहते हैं ॥१९॥ श्रावकके तीन भेद हैं—पाक्षिक श्रावक, नैष्ठिक श्रावक, साधक श्रावक। उनमेंसे जिसके एकदेश हिंसादिक पंच पापोंके त्यागरूप श्रावकधर्मका पक्ष है तथा जो अभ्यास रूपसे श्रावकधर्मका पालन करता है, उसको पाक्षिक श्रावक (प्रारब्ध देशसंयमी) कहते हैं। जो निरतिचार श्रावकधर्मका पालन करता है, उसको नैष्ठिक श्रावक (घटमान देशसंयमी) कहते हैं तथा जिसका देशसंयम पूर्ण हो चुका है और जो आत्मध्यानमें तत्पर होकर समाधिमरण करता है, उसको साधक श्रावक (निष्पन्न देशसंयमी) कहते है ॥२०॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

•

द्वितीय अध्याय

त्याज्यानजस्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया । मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य, गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥१
तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम् । मद्यमांसमधून्युज्झेत्, पञ्च क्षीरिफलानि च ॥२
अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा । फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थाने इहैव वा ॥३
यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवाश्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति ।
यद्विक्लवाश्चेमममुं च लोकं यस्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत् ॥४
पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च ।
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदं तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति ॥५
स्थानेऽश्नन्तु पलं हेतोः स्वतश्चाशुचि कश्मलाः । श्वादिलालावदप्यद्युः शुचिम्मन्याः कथं नु तत् ॥६
हिंस्रः स्वयम्मृतस्यापि स्यादश्नन्वा स्पृशन्पलम् । पक्वापक्वा हि तत्पेश्यो निगोदौघसुतः सदा ॥७

धर्माचार्य तो सबसे पहिले मुनिधर्म पालनका उपदेश करते है परन्तु जो भव्य विषयोंको त्याज्य समझता हुआ भी प्रत्याख्यानावरण कषायके तीव्र उदयसे उनको नही छोड़ सकता इसलिये मुनिधर्म धारण करनेमें असमर्थ है, उसको श्रावकधर्मका उपदेश दिया जाता है ॥१॥ सबसे पहिले जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका श्रद्धान करते हुए हिंसाका त्याग करनेके लिए मद्य, मांस, मधु और पांच क्षीरीफलोंका त्याग करना चाहिये। अर्थात् इन आठ मूलगुणोका धारण करना आवश्यक है ॥२॥ श्रीसोमदेव सूरिने तीन मकार और पांच उदुम्बरोके खानेके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा है। स्वामी समन्तभद्रने तीन मकार और पंच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया है तथा जिनसेनाचार्यने मद्य, मांस, जुआ तथा पंच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया है ॥३॥ यदि मद्यकी एक बूंदके जीव फैल जावें तो वे तीनों लोकोंको भर सकते हैं। इस बिन्दुमात्र भी मद्यके पीनेमें उतने प्राणियोंके घातका पाप लगता है और मद्यसे मोहित व्यक्ति इस लोक तथा परलोकमें दुःख पाता है। इस कारण आत्मकल्याणकी इच्छासे मद्यका परित्याग अवश्य करना चाहिये ॥४॥ मद्यके रसमें असंख्यात जीव होते है। उसके पीनेसे उन सबका मरण होता है। मद्यपानसे मन व शरीर में एक प्रकारकी अनुचित उत्तेजना पैदा होती है। उस उत्तेजनासे मनुष्य अविचारी होकर अगम्यागमन, अभक्ष्यभक्षण, अपेयपान आदि नाना प्रकारके अन्यायोंमें प्रवृत्त हो जाता है। माता बहिन आदिको भूल जाता है। गुरुजनोंसे कोप करता है। भयातुर होता है और मूर्च्छित हो जाता है। धूर्तिलनामक चोर, चोर होकर भी (चोरीका त्याग न कर सकने पर भी) देवादिकके समक्ष केवल मद्यपानके त्यागके प्रभावसे विवेकी बनकर सब प्रकारकी आपत्तियोंसे मुक्त हुआ। तथा एकपाद नामक संन्यासी वैरागी होकर भी केवल मद्यपानकी बुरी आदतसे दुराचारी बनकर नरक में गया। इन उदाहरणोंसे हानिकारक समझकर मद्यका त्याग करना ही श्रेष्ठ है ॥५॥ मांस की उत्पत्ति सप्तधातुसे निर्मित अपवित्र शरीरके घातसे होती है तथा शिकारी कुत्ते वगैरहकी लार भी उसमें मिल जाती है। इस प्रकार कारणोंसे तथा स्वभावसे अपवित्र मांसको आचार-विचारहीन नीच व्यक्ति खाते हैं, तो उनके विषयमें कुछ कहना व्यर्थ है। परन्तु अपनेको पवित्र माननेवाले उच्चवर्गके व्यक्ति उस मांसको खाते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है ॥६॥ मांसके टुकड़ोंमें

प्राणिहिंसार्पितं दर्पमर्पयत्तरसं तराम् । रसयित्वा नृशंसः स्वं विवर्तयति संसृतौ ॥८

भ्रमति पिशिताशनाभिध्यानादपि सौरसेनवत्कुगतीः ।

तद्विरतिरतः सुगतिं श्रयति नरश्चण्डवत्खदिरवद्वा ॥९

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः । भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥१०

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः । खादन्बध्नात्यघं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकम् ॥११

मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः । द्विमुहूर्तात्परं शश्वत् संसजन्त्यङ्गिराशयः ॥१२

पिप्पलोदुम्बर-प्लक्षवट-फल्गुफलान्यदन् । हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥१३

रागजीववधापायभूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत् । रात्रिभक्तं तथा युंज्यान्न पानीयमगालितम् ॥१४

अनन्त निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति सदा होती रहती है। वह मांस अपक्व, पच्यमान अथवा पक्व किसी भी दशामें वनस्पतिकी तरह प्रासुक नहीं होता; क्योंकि उसमें भी निगोदिया जीव सदैव उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिये अपने आप मृत प्राणोके मांसके भक्षण और स्पर्शनसे भी द्रव्यहिंसा होती है तथा उसके भक्षणसे आत्मामें क्रूरता उत्पन्न होती है इसलिये भावहिंसा भी होती है ।।७।। मांसकी प्राप्ति प्राणियोंके घातसे होती है तथा उसमें हरसमय अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। इसलिये मांसभक्षणमें द्रव्यहिंसा होती है। तथा मांसभक्षण करनेवाले का अन्तःकरण दयाहीन होता है इससे उसके द्वारा सदैव क्रूरकर्म किये जाते हैं। इसलिये मांसभक्षणमें भावहिंसा भी होती है। मांसभक्षी धर्मरहित होकर संसारमें परिभ्रमण करता है ।।८।। जैसे मांसभक्षणके त्यागसे चण्डनामक चांडाल तथा खदिरसार नामक भीलराजने सद्गति पायी और सौरसेन राजाने मांसभक्षणके विचारमात्रसे नरकगति पाई। वैसे ही प्रत्येक प्राणी मांसभक्षणके सङ्कल्पमात्रसे दुर्गति तथा उसके त्यागके संकल्पसे ही सद्गति पाता है ।।९।। कोई कहते हैं कि जिसप्रकार एकेन्द्रिय जीवका शरीर होनेपर भी मूंग और गेहूँ आदि पदार्थ खानेमें कोई दोष नही, उसी प्रकार पचेन्द्रिय जीवका शरीर होनेपर भी मांस खानेमें दोष नहीं। उनका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जिसप्रकार माता और पत्नी दोनों ही स्त्री हैं तो भी माता पूज्य और स्त्री भोग्य होती है, दोनों में सदृश व्यवहार नहीं होता, उसीप्रकार अन्न और मांसमें भी जीवशरीरत्वकी अपेक्षा समानता है, तो भी अन्न भक्ष्य है; मांस भक्ष्य नहीं ।।१०।। मधुमक्खियाँ पुष्पादिकोंका रस चूसकर अपने छत्तेमें मधु इकट्ठा करती हैं। वह उनका वमन है इससे अपवित्र है। मधुमें छोटी छोटी बहुत मक्खियों-का भी वध हो जाता है। इस अपेक्षासे मधुके भक्षणमें सप्तग्रामके भस्म करनेसे भी अधिक पाप लगता है ।।११।। जिस प्रकार मधु में निरन्तर त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार दो घड़ीके पश्चात् मक्खनमें भी प्रतिसमय सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है, इसलिये मद्यादिकके समान मक्खनका भी त्याग करना चाहिये ।।१२।।

वृक्षके काठको फोड़कर उसके दूधसे उत्पन्न होनेवाले फलोंको क्षीरिफल कहते है। उनमें पीपल, ऊमर, पाकर, वट और कठूमर इन पाँच उदुम्बर फलोंमें सूक्ष्म जीव ठसाठस भरे रहते हैं। उनको फोड़कर देखनेसे उनमेंसे बहुतसे स्थूल जीव बाहर भी उड़ पड़ते हैं। परन्तु स्वादकी लोलुपता आदि कारणोंसे जो इन गीले फलोंको खाता है वह प्रत्यक्ष जीववधके कारण द्रव्यहिंसा-का, तथा सूखोंको खानेसे लोलुपता आदिके कारण आत्मगुणका विघातक होनेसे भावहिंसाका पात्र होता है ।।१३।। पाक्षिक श्रावक मद्यपानादिककी तरह रागकी अधिकतासे, हिंसाकी अधिकता-से और हानि या रोगकी अधिकतासे रात्रिभोजनको छोड़ देवे और अगालित पीने योग्य जल

चित्रकूटेऽत्र मातङ्गी यामानस्तमितव्रतात् । स्वभर्त्रा मारिता जाता नागश्रीः सागराङ्गजा ॥१५
स्थूलहिंसानृतस्तेयमैथुनग्रन्थवर्जनम् । पापभीरुतयाभ्यस्येद् बलवीर्यनिगूहकः ॥१६
द्यूते हिंसानृतस्तेयलोभमायामये सजन् । क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत् ॥१७
मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती । जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः१८
यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः । जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः ॥१९

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद् गुणै-
र्येऽयत्नोपनतैः स्फुरन्ति सुकृतामग्रेसराः केऽपि ते ।
येऽप्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुणै-
र्विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान् ॥२०

आदिकको भी उपयोगमें नहीं लावे ॥१४॥ भावार्थ—दिनकी अपेक्षा रात्रिको खानेसे लोलुपता अधिक बढ़ती है। रात्रिमें सूर्य-प्रकाशके न होनेसे रात्रिञ्चर छोटे-छोटे जीव अधिकतासे विचरने लगते हैं, इसलिये रातको भोजन बनाने तथा खानेमें उनका घात होता है। तथा भोजनके संसर्ग से खानेमें रोगोत्पादक जन्तु आ जानेसे नाना प्रकारके भयंकर रोगोंको उत्पत्ति हो जानेकी अधिक सम्भावना रहती है। इसलिये मद्यादिकके समान रात्रिभोजन भी छोड़ना चाहिए तथा अगालित जल आदिकपेय पदार्थोंका भी उपयोग नहीं करना चाहिये। इस भरतक्षेत्रमें चित्रकूट नगरमें एक पहरमात्र पालित रात्रिभोजनत्यागव्रतके प्रभावसे जागरिकनामक अपने पतिके द्वारा मारी गई एक चाण्डाल-की कन्या सागरदत्त सेठकी कन्या नागश्री हुई। विशेषार्थ—चित्रकूट नगरमें एक चाण्डालकी कन्याने रात्रिभोजन त्यागव्रत लिया था। उसे व्रत लिये एक ही पहर हुआ था कि उसके पतिने रात्रिमें भोजन करनेका आग्रह किया परन्तु उसने व्रतभंग नहीं किया, तब उसके पति जागरिकने उसे इतना पीटा कि वह मर गई। तब वह व्रतके प्रभावसे सागरदत्त सेठके यहाँ नागश्री नामकी कन्या हुई। एक पहरमात्र रात्रिभोजन त्यागका जिनागममें इतना फल बताया है ॥१५॥ शक्ति और सामर्थ्यको नहीं छिपानेवाला पाक्षिक श्रावक पापके डरसे स्थूलहिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रहके त्यागका अभ्यास करे ॥१६॥ वेश्यासेवन, शिकार खेलना और परस्त्रीसेवनकी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ और मायाकी अधिकता सहित जुआमें आसक्त व्यक्ति अपनी जाति व आत्माको किस अनर्थमें नहीं गिराता है। अर्थात् सभी अनर्थोंमें अपने आपको गिराता है ॥१७॥ मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग, पञ्चोदुम्बरफलत्याग, देववन्दना, जीवदया और जलगालन इस प्रकार किसी आचार्यने ये आठ मूलगुण कहे हैं ॥१८॥ पूर्वोक्त अनन्त संसारके कारणभूत मद्यपानादिक पापोंको छोड़कर सम्यक्त्वके द्वारा विशुद्ध बुद्धिवाला और किया गया है यज्ञोपवीत संस्कार जिसका ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैनधर्मके सुननेका अधिकारी होता है ॥१९॥ जो जैन व्यक्ति पूर्वभवमें भी जैन थे। वहाँ सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्मके अभ्यासके प्रभावसे वर्तमान भवमें भी अनायास प्राप्त हुए सम्यक्त्वादिक गुणोंसे अन्य लोगोंके चित्तमें चमत्कार करते हैं, वे विशेष पुण्यवान् हैं, परन्तु इनकी संख्या बहुत कम है। तथा जो व्यक्ति जिन कुलोंमें विद्या और शिल्पसे भिन्न कार्योंसे आजीविका होती है तथा जो मुनि वा श्रावककी जैनदीक्षाके लिये उपयुक्त हैं—ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलमें मिथ्यात्व सहित पुण्योदयसे उत्पन्न होकर श्रावकोंके वक्ष्यमाण अवतार आदिक आठ गुणोंसे अपनेको पवित्र करते हैं, वे भी जैन कुलोत्पन्न व्यक्तियोंके समान हैं ॥२०॥ धर्माचार्य या गृहस्थाचार्यके उपदेशसे प्रमाणों और नयोंसे निश्चित सातों तत्त्वोंको

तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं, तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तदुर्दैवतः ।
आङ्गं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः, पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन् धन्यो निहन्त्यंहसी ॥२१

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्यास्ति तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥२२

यजेत देवं सेवेत गुरून्पात्राणि तर्पयेत् । कर्म धर्म्यं यशस्यं च यथालोकं सदा चरेत् ॥२३

यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः । सङ्कल्पतोऽपि तं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते ॥२४

प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना
पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवैश्चैत्यादिनिर्मापणम् ।
भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधा दानं त्रिसन्ध्याश्रया
सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम् ॥२५

ग्रहणकर एकदेशव्रतकी दीक्षाके पहले धारण किया है महामन्त्र जिसने ऐसा छोड़ दिया है मिथ्या देवोंका आराधन जिसने ऐसा द्वादशांग सम्बन्धी और चतुर्दश पूर्व सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़कर, पढ़े हैं व्याकरण न्याय आदिक अन्य शास्त्र जिसने ऐसा तथा पर्वके दिन प्रतिमायोगको धारण करने वाला व्यक्ति अपने द्रव्य और भाव पापोंको नष्ट करता है ॥२१॥ वेशभूषा, आचार-विचार और शरीरकी शुद्धिसे सहित शूद्र भी जैनधर्म सुननेका अधिकारी होता है। क्योंकि वर्णसे हीन भी प्राणी धर्माराधनयोग्य काल और देश आदिकके प्राप्त होनेपर श्रावकधर्मका आराधन करनेवाला होता है। भावार्थ—जिनका रहनसहन स्वच्छ है, जो मद्यादिकका सेवन नहीं करता और जो शरीरकी शुद्धिपूर्वक भोजन करता है वह वर्णहीन शूद्र भी धर्मश्रवणका अधिकारी है। क्योंकि उसका आत्मा यद्यपि जातिसे हीन है तथापि काललब्धि आदिके प्राप्त होनेपर वह भी धर्मश्रवणकर धर्मधारक हो सकता है ॥२२॥ श्रावक प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवको पूजे, सद्गुरुओंको सेवे, पात्रोंको सन्तुष्ट करे, तथा लोकव्यवहार या आप्तोपदेशके अनुसार धर्मसम्बन्धी और यशकारक कार्यको प्रतिदिन करे ॥२३॥ पाक्षिक श्रावक नित्यमह आदिक पूजाओंसे शक्तिके अनुसार जिनेन्द्रदेवको पूजे, क्योंकि संकल्पमात्रसे भी उन जिनेन्द्रदेवको पूजनेवाला व्यक्ति मेंढकके समान स्वर्गमें पूजा जाता है। विशेषार्थ—राजगृही नगरीमें एक मेंढक महावीर स्वामीकी पूजाकी इच्छासे केवल एक कमल-पत्रको मुहमें दबाकर वैभारगिरिपर्वत जा रहा था, किन्तु दुर्दैववश राजा श्रेणिक के हाथीके पैरके नीचे दबकर मर गया और पूजा करनेकी भावनामात्रसे स्वर्गमें देव हुआ। जब पूजनके संकल्पमात्रसे क्षुद्र मेंढकको इतना विशेष फल मिला तो भक्तिपूर्वक साक्षात् जिनपूजन करनेवाले मनुष्यको प्राप्त होनेवाले फलका कहना ही क्या है? ॥२४॥ अपने घरसे लाये गये जल गन्ध आदि अष्ट द्रव्योंसे जिनमन्दिरमें अरिहन्त देवकी प्रतिदिन भक्तिसे पूजा करना, अपनी आर्थिकशक्तिसे मूर्ति और मन्दिर वगैरह का बनवाना, शास्त्रोक्त विधिसे गाँव, घर, दुकान आदिका दान देना, अपने घरमें भी अरिहन्तकी तीनों संध्याओंमें की जानेवाली सेवा तथा मुनियोंको भी नित्य आहारदान देना है बादमें जिसके ऐसी पूजा नित्यमह पूजा कही गई है भावार्थ—जिन साधनोंसे पूजनके लिये सदैव सामग्री मिलती रहे, जिन साधनोंसे नित्यपूजनके लिये साधन प्राप्त होते हैं अथवा जिनसे पूजनका मार्ग सदैव खुला रहता है, उन साधन सामग्रीके दानके देनेको आगममें नित्यमह कहा है। जैसे—अपने घरकी सामग्रीसे रोज पूजन करना, जिनचैत्य-चैत्यालय निर्माण करना, मन्दिरके लिये अपनी स्थावर सम्पत्ति (ग्राम, गृह आदि) देना,

जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि। आष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यैः साध्या त्वैन्द्रध्वजो महः ॥२६
भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते। तदाख्याः सर्वतोभद्रचतुर्मुखमहामहाः ॥२७
किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः। चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥२८
बलिस्नपननाटयादि नित्यं नैमित्तिकं च यत्। भक्ताः कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत् ॥२९

वार्धारा रजसः शमाय पदयोः सम्यक्प्रयुक्ताऽर्हतः
सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षताः।
यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः ॥३०
चैत्यादौ न्यस्य शुद्धे निरुपरमनिरौपम्यतत्तद्गुणौघ-
श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनमनघैस्तद्विधोपाधिसिद्धैः।

त्रिकाल सेवा पूजा करना तथा संयमी मुनियोंको पूजाके बाद आहार देना 'नित्यमहपूजा' कही जाती है ॥२५॥ आष्टाह्निका पर्वमें भव्योंके द्वारा जो जिनपूजा की जाती है वह आष्टाह्निकपूजन कहलाती है और इन्द्रादिक देवोंके द्वारा की जाने वाली वह पूजा ऐन्द्रध्वजनामक पूजा कही गई है ॥२६॥ मुकुटबद्ध मंडलेश्वर राजाओंके द्वारा भक्तिसे जो जिनेन्द्रदेवकी पूजा की जाती है उस पूजनके नाम 'सर्वतोभद्र, चतुर्मुख और महामह है। विशेषार्थ - जो पूजा सब जीवोंके कल्याणके लिये की जाती है इससे उसे 'सर्वतोभद्र' कहते हैं। चतुर्मुख प्रतिबिम्ब विराजमान करके राजा लोग चारों ही दिशाओंमें खड़े होकर करते हैं इससे इसे 'चतुर्मुख' कहते हैं। तथा आष्टाह्निकपूजनसे यह पूजा बड़ी है इसलिये इसका तीसरा नाम 'महामह' है। इस प्रकार तीनों नाम सार्थक हैं। जैसे चक्रवर्ती छह खण्डों पर विजय प्राप्त करके किमिच्छक दानपूर्वक कल्पद्रुम पूजन करते हैं, उसी प्रकार अपने देश पर साम्राज्य प्राप्त करते समय राजा लोग यह महामह पूजन करते हैं ॥२७॥ याचककी इच्छापूर्वक दानसे जनताके मनोरथोंको पूर्ण करके चक्रवर्तियोंके द्वारा जो जिनपूजन किया जाता है वह कल्पद्रुमपूजन माना गया है ॥२८॥ जिनभक्त जन प्रतिदिन और नैमित्तिक—पर्वकालिक जो उपहार, अभिषेक, गीतनृत्य, प्रतिष्ठा और रथयात्रा आदिक करते हैं वे सब उन नित्यमह आदिक पूजाओंमें ही यथयोग्य गर्भित करना चाहिये विशेषार्थ—भक्त श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार नित्य तथा नैमित्तिक जो भेंट लाते हैं, अभिषेक करते हैं, कीर्तन या नृत्य करते हैं तथा प्रतिष्ठा रथयात्रा आदि करते हैं वे सब जिस पूजनके सम्बन्धमें किये जाते हैं उसी पूजनमें गर्भित समझना चाहिये। प्रतिदिन होनेवाली अभिषेक आदि विधिको 'नित्यविधि' तथा पर्व आदि विशेष उत्सव (प्रसङ्ग) पर होनेवाली विधिको नैमित्तिक विधि कहते हैं ॥२९॥

जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें विधि पूर्वक जल चढ़ानेसे पूजकके पापका नाश या ज्ञानावरण दर्शनावरणकी मन्दता होती है। चन्दन चढ़ानेसे शरीर सुगन्धित होता है। अक्षत चढ़ानेसे ऋद्धियों व धनकी क्षति नहीं होती। पुष्पमाला चढ़ानेसे देवगति सम्बन्धी मन्दारमाला प्राप्त होती है। नैवेद्य चढ़ानेसे लक्ष्मीपतित्वकी प्राप्ति होती है। दीप चढ़ानेसे कान्ति प्राप्त होती है। धूप चढ़ानेसे परम सौभाग्यकी प्राप्ति होती है। फल चढ़ानेसे मनोवांछित पदार्थ प्राप्त होते हैं। और अर्घ चढ़ानेसे विशेष मान व प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ॥३०॥ अनन्त और अनुपम उन उन प्रसिद्ध ज्ञानादिक गुणों के समूह में अतिशय अनुराग से यह वही जिनेन्द्र भगवान् हैं इस प्रकार दोष रहित मूर्ति और अक्षत आदिकमें जिनेन्द्रदेवको स्थापित करके निर्दोष पापरहित कारणोंसे

नीराद्यैश्चारुकाव्य-स्फुरदनणुगुण-ग्रामरज्यन्मनोभि-
र्भव्योऽर्चन्दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया कल्पते तत्पदाय ॥३१
दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः। श्रयन्त्यहम्पूर्विकया किम्पुनर्व्रतभूषितम् ॥३२
यथास्वं दानमानाद्यैः सुखीकृत्य विधर्मणः। सधर्मणः स्वसात्कृत्य सिद्ध्यर्थी यजतां जिनम् ॥३३
स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टः स्नात्वाकण्ठमथाशिरः। स्वयं यजेतार्हत्पादानस्नातोऽन्येन याजयेत् ॥३४
निर्माप्यं जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं,
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबन्धाय यत्।
हिंसारम्भविवर्तिनां हि गृहिणां तत्तादृगालम्बन-
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम् ॥३५

उत्पन्न तथा सुन्दर गद्यपद्यात्मक काव्यों द्वारा आश्चर्यान्वित करनेवाले बहुतसे गुणोंके समूहसे मनको प्रसन्न करनेवाले जल चन्दनादिक द्रव्यों द्वारा जिनेन्द्रदेवको पूजनेवाला भव्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको पुष्ट करे है जिस दर्शनविशुद्धिके द्वारा तीर्थङ्करपदकी प्राप्तिके लिये समर्थ होता है। भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान्को जो सामग्री चढ़ाई जाती है वह दुराग्रहसे लाई हुई, अशोभनीय, परके भोगसे अवशिष्ट तथा अन्यायोपार्जित नहीं होनी चाहिये। तथा सामग्री चढ़ाते समय जो पद्य बोले जाते हैं वे काव्यके प्रसाद आदिक गुणोंसे परिपूर्ण तथा श्रवण और कथनसे श्रोता और वक्ताके चित्तको प्रसन्न करने वाले होने चाहिये। इस प्रकार भक्तियुक्त पूजन करनेसे पूजकको दर्शनविशुद्धिकी प्राप्ति होती है। जिसके प्रभावसे वह कालान्तरमें तीर्थङ्कर पदवो पाता है ॥३१॥ अरिहन्त भगवान्के सम्यग्दर्शनसे पवित्र भी पूजकको पूजा, आज्ञा आदिक उत्कर्षकारक सम्पत्तियाँ मैं पहले, मैं पहले इस प्रकार ईर्ष्यासे प्राप्त होती हैं, तो फिर व्रतसहित व्यक्तिको कहना ही क्या है। भावार्थ—जब अविरत सम्यग्दृष्टिको भी अर्हत्पूजनके माहात्म्यसे पूजा, आज्ञा आदिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है तो फिर अर्हत्पूजा करनेवाले व्रतीको उत्तमोत्तम अभ्युदयकी प्राप्ति क्यों नहीं होगी? ॥३२॥

निर्विघ्न जिनपूजाकी समाप्तिका इच्छुक व्यक्तिविधर्मियोंको यथायोग्य दान और 'मान आदिकसे अनुकूल करके और जैनधर्मावलम्बियोंको अपने अधीन करके जिनदेवको पूजे। भावार्थ—पूजा आदिकमें विघ्न सहधर्मी और विधर्मी दोनोंके द्वारा उपस्थित होना सम्भव है, इसलिए निर्विघ्न पूजाकी सिद्धिके लिये दान और सन्मान आदिक उचित उपायोंसे विधर्मियोंको अनुकूल कर लेना चाहिये तथा सहधर्मियोंको भी स्वाधीन कर लेना चाहिये। इसके अनन्तर पूजन प्रारम्भ करनेसे उसमें विघ्न नहीं आते ॥३३॥ स्त्री-सेवन और खेती आदिक करनेसे दूषित है शरीर और मन जिसका ऐसा गृहस्थ कण्ठपर्यन्त अथवा शिरपर्यन्त स्नान कर खुद जिनेन्द्रदेवके चरणोंको पूजे और नहीं किया है स्नान जिसने ऐसा व्यक्ति दूसरे स्नात साधर्मी व्यक्तिसे पूजा करावे। भावार्थ—स्त्री सम्भोग तथा खेती आदिकसे पसीना, तन्द्रा, आलस्य और दुर्बलता आदि होनेके कारण शरीर और मन संक्लेशयुक्त रहता है, इसलिये गृहस्थोंको स्नान करके ही शरीर और मनको शुद्ध करके स्वयं पूजन करना चाहिये। किसी सूतकादि कारणवश अस्पर्श होनेपर अथवा अस्वस्थताके कारण स्नान करना अशक्य होनेपर किसी दूसरे सहधर्मी व्यक्तिको स्नान कराकर पूजन कराना चाहिये ॥३४॥ जो बड़े भारी धर्मसाधनका हेतु है वह जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, मठ और स्वाध्यायशाला आदिक अपनी रुचि और आर्थिकशक्तिके अनुसार बनवाना चाहिये, क्योंकि

धिग्दुष्षमाकालरात्रिं यत्र शस्त्रदृशामपि। चैत्यालोकादृते न स्यात् प्रायो देवविशा मतिः ॥३६
प्रतिष्ठा यात्रादि-व्यतिकरशुभस्वैरचरणस्फुरद्धर्मोद्धर्षप्रसररसपूरास्त-रजसः।
कथं स्युः सागाराः श्रमणगणधर्माश्रमपदं, न यत्रार्हद्गेहं दलितकलिलीलाविलसितम् ॥३७
मनो मठकठेराणां वात्ययेवानवस्थया। चेक्षिप्यमाणं नाद्यत्वे क्रमते धर्मकर्मसु ॥३८
विनेयवद्विनेतॄणामपि स्वाध्यायशालया। विना विमर्शशून्या धी-र्दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि ॥३९

हिंसायुक्त आरम्भमें फँसे रहनेवाले गृहस्थोंका जिन प्रतिमादिक तथा उन जिनप्रतिमादिकके समान तीर्थयात्रादिक सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके कारणोंकी प्रौढ़ताके द्वारा शोभायमान है स्वाभिमानसे परिपूर्ण हर्ष जिसमें ऐसा मन पुण्यको बढ़ानेवाला होता है। भावार्थ—जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर आदि धर्मके आयतन हैं। इनके निमित्तसे नवीन धर्मकी प्राप्ति, प्राप्त धर्मकी रक्षा और रक्षित धर्मकी वृद्धि होती है, तथा उसीसे धर्मपरम्परा चलती है। आरम्भमें आसक्त गृहस्थोंके मनमें इन आयतनोंके निर्माणके अवलम्बनसे अपने जीवनमें एक प्रकारका सत्कृत्य सम्बन्धी गौरवका अनुभव प्राप्त करानेवाला स्वाभिमान रससे युक्त परिणाम होता है और उस परिणामसे पुण्यबन्ध होता है इसलिये श्रावकको भक्ति और शक्तिके अनुसार जिनमन्दिर वगैरह बनवाना चाहिये ॥३५॥

इस दुःषमनामक पंचमकाल रूप रात्रिको धिक्कार है जिस पंचमकालमें जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाके दर्शनों बिना शास्त्रज्ञोंकी भी बुद्धि बहुधा परमात्माकी भक्तिमें प्रवृत्त नहीं होती ॥३६॥ जिस ग्राममें कलिकालके प्रभावका नाशक और मुनियोंके धर्मसाधनके हेतु स्थानस्वरूप जिनमन्दिर नहीं होवें उस ग्राममें बिम्बप्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदिकके समूहमें पुण्यास्रवका कारणभूत जो स्वतन्त्रतापूर्वक होनेवाला मन, वचन, कायका व्यापार, उससे प्रकाशित होनेवाले धार्मिक उत्सवके विस्तारके हर्षरूपी जलप्रवाहसे धो डाली है पापरूपी धूलि जिन्होंने ऐसे गृहस्थ कैसे हो सकते हैं। भावार्थ—जहाँ जिनमन्दिर होते हैं, वहाँ उनके निमित्तसे धार्मिक उत्सव मनाये जाते हैं, उन उन धार्मिक उत्सवोंमें धर्मात्मा लोगोंके एकत्रित होनेसे बड़ा धर्म प्रचार होता है, धर्मके विषयमें उत्साह बढ़ता है और उससे धर्मात्माओंके पापोंका प्रक्षालन होता है। यदि पञ्चमकालको लीलाके विलासको दलित करनेवाले तथा श्रमणगणोंके आश्रयस्थल और धर्मके आयतन जिनमन्दिर न होवें तो उनके निमित्तसे होनेवाली उपर्युक्त बाते कैसे हो सकती हैं? इसलिये जिनमन्दिर-हीन ग्राममें श्रावकको नहीं रहना चाहिये ॥३७॥ इस पंचमकालमें वायुमण्डलके द्वारा चलायमान रुईके समान रागादिकके परिणमनसे होनेवाली चञ्चलतासे बार-बार चलाय मान वसतिकारहित मुनियोंका भी मन आवश्यक आदिक धार्मिक कार्योंमें उत्साहित नहीं होता। भावार्थ—जैसे चञ्चल झंझावातसे झोपड़ी स्थिर नहीं रहती, वैसे ही वर्तमानमें बिना ठहरनेकी व्यवस्थाके यतियोंका भी चञ्चल मन उनकी आवश्यक क्रियाओंमें उत्साही नहीं रहता, इसलिये गृहस्थोंको यतियोंके लिये मठोंका निर्माण कराना चाहिये ॥३८॥ शिष्योंकी तरह गुरुओंकी बुद्धि भी स्वाध्यायशालाके बिना ऊहापोहरहित होती हुई परिचित या अभ्यस्त भी शास्त्रके विषयमें या मोक्षमार्गमें अन्धेके समान आचरण करती है। अर्थात् यथार्थज्ञानविहीन रहती है। भावार्थ—जहाँ स्वाध्यायशाला नहीं है वहाँ शिष्योंके समान उपाध्यायोंकी भी बुद्धि तत्त्वोंके ऊहापोहका मार्ग नहीं रहनेसे परामर्शशीलता के साधनके अभावमें अभ्यस्त भी शास्त्र व मोक्षमार्गके विषयमें अन्धो सी हो जाती है, परिमार्जित नहीं रहती। इसलिये स्थान-स्थान पर स्वाध्यायशाला भी स्थापित कराना चाहिये ॥३९॥

सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया । चिकित्साशालवद्दुष्येन्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ॥४०
यथा कथञ्चिद्भजतां जिनं निर्व्याजचेतसाम् । नश्यन्ति सर्वदुःखानि दिशः कामान्दुहन्ति च ॥४१
जिनानिव यजन्सिद्धान् साधून्धर्मं च नन्दति । तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मंगलं च यत् ॥४२
यत्प्रसादान्न जातु स्यात् पूज्यपूजाव्यतिक्रमः । तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोड्डमरां गिरम् ॥४३
ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम् । न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥४४
उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तैः शिवार्थिभिः । तत्पक्षताक्ष्र्य-पक्षान्तश्चराविघ्नोरगोत्तराः ॥४५
निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः । प्रविश्य राजवच्छश्वद् विनयेनानुरञ्जयेत् ॥४६
पार्श्वे गुरूणां नृपवत् प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः । अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत् ॥४७

पाक्षिक श्रावक, औषधालयकी तरह दुखी प्राणियोंके उपकारकी चाहसे अन्न और जल वितरणके स्थानको भी बनवावे, और जिनपूजनके लिये बगीचा और बावड़ी आदिकका बनवाना दोषजनक नही होता ॥४०॥ अभिषेक, पूजन, स्तुति आदि किसी भी प्रकारसे जिनेन्द्रदेवको सेवन करनेवाले निष्कपट चित्त वाले व्यक्तियोंके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो जाते हैं और दशों दिशाएँ इच्छाओंको पूर्ण करती है। भावार्थ—सरल भावोंसे जितने भी साधन मिल सकते हैं उतने ही से जिनेन्द्रकी पूजा करनेवालोंके सब ही दुःख दूर हो जाते हैं। वे जिधर जो भी इच्छा करते हैं सब ही जगह उनकी इच्छायें पूर्ण होती हैं। अर्थात् सब दिशाएँ उनके मनोरथ पूर्ण करती हैं ॥४१॥

अरिहन्तोंके समान सिद्धोंको, दि० जैन साधुओंको तथा दिगम्बर जैन धर्मको पूजनेवाला व्यक्ति समृद्धिको पाता है। वे सिद्धादिक भी अरिहन्तोके समान लोकोत्तम शरणभूत और मङ्गल स्वरूप हैं। विशेषार्थ—ये चारों पुण्यवर्धक और पापनाशक हानेसे मङ्गल है। परमोत्कृष्ट माननेकी भावनासे लोकोत्तम है और दुःखनाशक तथा विघ्नघातक होनेसे इन्हें शरण कहते है ॥४२॥ कल्याणका इच्छुक व्यक्ति जिस जिनवाणीके प्रसादसे कभी भी पूजनीय अरिहन्त आदिककी पूजामें शास्त्रोक्त-विधिका उल्लंघन नहीं होता उस जगत्पूज्य तथा स्यात् पदके प्रयोगसे सर्वथा एकान्तवादियों के द्वारा अजेय जिनवाणीको पूजे ॥४३॥ जो पुरुष भक्तिसे जिनवाणीको पूजते हैं वे पुरुष वास्तवमें जिनभगवान्को ही पूजते हैं क्योंकि सर्वज्ञदेव जिनवाणी और जिनेन्द्रदेवमें कुछ भी अन्तर नहीं कहते है। भावार्थ—भगवान् सर्वज्ञदेवने जिनवाणी और जिनदेवमें अन्तर नहीं बताया है, इसलिये भक्तिभावसे जिनवाणीकी पूजा करना परमार्थसे 'जिनपूजा' ही है ॥४४॥ प्रमाद रहित मोक्षके इच्छुक व्यक्तियों के द्वारा गुरुजन सदा ही पूजे जाना चाहिये। क्योंकि उन गुरुओंके अधीन होकर रहने रूपी गरुड़के पंखोंके भीतर चलने वाले व्यक्ति विघ्नरूपी सर्पोंसे दूर हो जाते है। भावार्थ—मुमुक्षुओंको सावधान होकर सदा गुरुकी उपासना करना चाहिये। क्योंकि जैसे गरुड़के पंखोंको ओढ़ कर चलनेवालोंके पास सर्प नहीं फटक सकते, उसी प्रकार गुरुभक्ति करने वालोके गुरुओंके अनुभव और सत्संगसे किसी प्रकारका विघ्न नही आता ॥४५॥

जैसे राजाके हृदयमें अपना स्थान करके राजाके साथ विनयपूर्वक व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार गुरुके प्रति अपनी मनोवृत्ति सरल और अनुकूल बनाकर उनके हृदयमें अपने श्रद्धालुत्वका स्थान बनाकर गुरुको अपने ऊपर प्रसन्न करना चाहिये ॥४६॥ गुरूपासना करनेवाला श्रावक राजाओंके समीपमे विरुद्ध क्रियाओंको नही करने वाले सेवकवर्गकी तरह गुरुओंके समीपमें क्रोध हँसी विवाद आदिक विकारजनक और शास्त्रनिषिद्ध सब क्रियाओंको छोड़ देवे और गुरुओंके मनको कभी भी दूषित नहीं करे ॥४७॥ गृहस्थके द्वारा पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश और कालका

पात्रागमविधिद्रव्यदेशकालानतिक्रमात् । दानं देयं गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तितः ॥४८
नियेमेनान्वहं किञ्चिद्यच्छतो वा तपस्यतः । सन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोका जिनश्रितः ॥४९
धर्मपात्राण्यनुग्राह्याण्यमुत्रस्वार्थसिद्धये । कार्यपात्राणि चात्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ॥५०
समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान्धिनुयात् ।
दानादिना यथोत्तर-गुणरागात्सद्गृही नित्यम् ॥५१
स्फुरत्येकोऽपि जैनत्वगुणो यत्र सतां मतः । तत्राप्यजैनैः सत्पात्रैर्द्योत्यं खद्योतवद्रवौ ॥५२

उल्लङ्घन नहीं करके अपनी शक्तिके अनुसार दान दिया जाना चाहिये और तप भी किया जाना चाहिये। भावार्थ—पाक्षिक श्रावकको आगम, विधि, देश, काल और द्रव्यका लक्ष्य रखते हुए त्रिविध पात्रोंके लिये यथाशक्ति दान देना चाहिये और अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर उपवासादिक तप करना चाहिये ॥४८॥ प्रतिदिन नियमपूर्वक शास्त्रविहित कुछ दान देनेवाले अथवा तप तपनेवाले जिनभक्त व्यक्तिके दूसरे भव अवश्य इन्द्रादिकपद विशिष्ट होते हैं। भावार्थ—शास्त्रविहित रीतिके अनुसार दान और तप करने वाले जिनभक्तको भविष्यमें महत्त्वपूर्ण इन्द्रादिक पद प्राप्त होते हैं ॥४९॥ कल्याणके इच्छुक व्यक्तिके द्वारा परलोकमें स्वर्गादिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये धर्मपात्र और इस लोकमें अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये त्रिवर्गके साधनमें सहायक जन उपकृत किये जाने चाहिये। तथा कीर्तिके लिये उचित व्यवहारको करना चाहिये। विशेषार्थ—रत्नत्रयकी सिद्धिमें तत्पर व्यक्ति धर्मपात्र कहलाते हैं। तथा धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थमें सहायक व्यवहारी जन कार्यपात्र कहलाते हैं। परलोकके स्वार्थकी सिद्धिके लिये धर्मपात्रोंका तथा इस लोकके स्वार्थकी सिद्धिके लिये कार्यपात्रोंका अनुग्रह करना चाहिये ॥५०॥ तथा कीर्तिके उत्पादनके लिये सदैव उचित व्यवहार करना चाहिये। पाक्षिक श्रावक दान, सन्मान और स्थान आदिकसे उत्तरोत्तर गुणोंकी अधिकतामें अनुरागसे सदा समयिक, साधक, समयद्योतक, नैष्ठिक और गणाधिपोंको सन्तुष्ट करे। विशेषार्थ—समयिक आदिकोंमें उत्तरोत्तर गुणोंकी अधिकता होती है, इसलिये उन उन विशेष गुणोंके अनुसार यथायोग्य दान, सन्मान और सम्भाषण आदिक द्वारा उनको दान देना चाहिये। जैनधर्मका अवलम्बन करनेवाला श्रावक या यति 'समयिक' कहलाता है। ज्योतिषशास्त्र और मंत्रशास्त्र आदि लोकोपकारक शास्त्रोंके ज्ञाताको 'साधक' कहते हैं। वाद और प्रतिष्ठा आदिक द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करनेवाले विद्वान्को 'समयद्योतक' कहते हैं। मूलगुणों और उत्तरगुणोंसे प्रशंसनीय तपके अनुष्ठान करनेवाले श्रावक या यतिको 'नैष्ठिक' कहते हैं। धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्यको 'गणाधिप' करते हैं। मुमुक्षु यति वा श्रावकमें यथायोग्य रत्नत्रयकी वृद्धिकी बुद्धिसे दिया हुआ दान पात्रदत्तिमें तथा मुमुक्षु गृहस्थोंके लिये यथायोग्य वात्सल्यबुद्धिसे दिया हुआ दान समदत्तिमें गिना जाता है ॥५१॥

जिस जैन व्यक्तिमें सज्जनोंका प्रिय एक भी जैनीपनका गुण अर्थात् सम्यक्त्वगुण शोभायमान होता है उस व्यक्तिके होनेपर ज्ञान वा तपसे बढ़े चढ़े अजैन सूर्यके रहने पर जुगनूकी तरह मालूम पड़ते हैं। विशेषार्थ—ज्ञान और तप कम भी रहे परन्तु यदि एक भी जैनगुण हो तो भी वह व्यक्ति पात्र है और उसके सामने ज्ञानादिककी अधिकता होनेपर भी जैनत्वगुण-विहीन व्यक्ति सूर्यके सामने जुगनूके समान निष्प्रभ है। संसारसे पार करनेवाले एक जिनेन्द्रदेव ही हैं ऐसी दृढ़ श्रद्धाका नाम जैनगुण है। श्रद्धानके साथ साथ यदि ज्ञान और तपका जोड़ रहे तो फिर उस व्यक्तिके पात्रत्वका कहना ही क्या है ॥५२॥ अनुगृहीत किया गया जैन एक भी श्रेष्ठ है। दूसरे

वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रशः । दलादिसिद्धान् कोऽन्वेति रससिद्धे प्रसेदुषि ॥५३

नामतः स्थापनातोऽपि जैनः पात्रायतेतराम् । स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभिः ॥५४

प्रतीतजैनत्वगुणेऽनुरज्यन् निर्व्याजमासंसृति तद्गुणानाम् ।
धुरि स्फुरन्नभ्युदयैरदृप्तस्तृप्तस्त्रिलोकीतिलकत्वमेति ॥५५

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे । कन्याभूहेमहस्त्यश्वरथरत्नादि निर्वपेत् ॥५६

आधानादिक्रियामन्त्रव्रताद्युच्छेदवाञ्छया । प्रदेयानि सधर्मभ्यः कन्यादीनि यथोचितम् ॥५७

निर्दोषां सुनिमित्तसूचितशिवां कन्यां वरार्हैः गुणैः
स्फूर्जन्तं परिणाय्य धर्म्यविधिना यः सत्करोत्यञ्जसा ।

हजारों नहीं क्योंकि दारिद्र्य तथा व्याधि वगैरहको दूर करनेकी शक्तिसे युक्त पारेको सिद्ध करने वाले व्यक्तिके प्रसन्न होनेपर साररहित और कृत्रिम सुवर्णादिक द्रव्योंके बनानेमें प्रसिद्ध व्यक्तियों-को कौन पुरुष चाहता है। भावार्थ—जब तक असली पारद भस्मकी प्राप्ति नही होती तब तक भले ही नकली पारदका आदर किया जाता है, परन्तु असली पारदके मिलनेपर नही। उसी प्रकार सच्चे श्रद्धानके धारकोंके अभावमें भले ही कुश्रद्धानी ज्ञानी तपस्वी पात्र समझे जाते हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टी पात्रोंके सामने तो वे अत्यन्त निष्प्रभ हैं। क्योंकि पात्रताका कारण असली श्रद्धान है, ज्ञान और तप नहीं ॥५३॥ नामनिक्षेपसे और स्थापनानिक्षेपसे भी जन विशेष पात्रके समान मालूम होता है। वह जैन द्रव्यनिक्षेपसे पुण्यात्माओंके द्वारा तथा भावनिक्षेपसे महात्माओंके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। विशेषार्थ—जो व्यक्ति नाम व स्थापनासे जैन हैं वे भी अजैन पात्रोंकी अपेक्षा अधिक पात्रताके धारक हैं। जो द्रव्य जैन-पात्र हैं वे धन्य है तथा जो भाव जैनपात्र है वे महात्मा है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे जैनके चार भेद हैं। जो गुणोंके बिना नाममात्रसे जैन है उसे नाम जैन कहते हैं। 'यह वही जैन है' इस प्रकार कल्पनायुक्त जैनको स्थापना जैन कहते हैं। जिसे भविष्यमें यथार्थ श्रद्धान आदिक जैनगुण प्राप्त होने वाले हैं उसे द्रव्य जैन कहते हैं। तथा जिसे वर्तमानमें यथार्थश्रद्धान आदिक जैन गुण प्राप्त है उसे भाव जैन कहते हैं ॥५४॥ प्रसिद्ध है जैनत्वगुण जिसका ऐसे व्यक्तिमें छलकपट रहित अनुराग करनेवाला और संसारपर्यन्त प्रसिद्ध जैनत्वगुणवाले पुरुषोंके अग्रभागमें शोभायमान होनेवाला उत्कर्षोंसे गर्वरहित तथा सन्तुष्ट होता हुआ गृहस्थ तीनों लोकोंके तिलकपने अर्थात् मोक्षपनेको प्राप्त होता है। भावार्थ—जो व्यक्ति जैनोंके प्रति निश्छल वृत्तिसे अनुराग करता है वह जब तक संसारमें रहता है तब तक निर्मद होकर सांसारिक ऐश्वर्योंसे तृप्त होता हुआ अन्तमें मुक्तिको प्राप्त करता है ॥५५॥ पाक्षिक श्रावक अपने समान धर्मके पालक उत्तम गृहस्था-चार्यके लिये अथवा मध्यम श्रावकके लिये कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ, रत्न और मकान आदिक दानमें देवे। भावार्थ—सधर्मियोंमें प्रधान व्यक्तिके लिये कन्या तथा दहेजमें भूमि, सोना, हाथी, घोड़ा आदि देना चाहिये। किन्तु यदि उत्तम पात्र नहीं मिल सके तो सधर्मी मध्यम पात्रके लिये ही उक्त वस्तुएँ अर्पण करना चाहिये ॥५६॥ गृहस्थके द्वारा गर्भाधान आदिक क्रियाओं की तथा उनके मंत्रोंकी व्रतनियमादिकोंकी रक्षाकी आकांक्षासे सहधर्मियोंके लिये यथायोग्य कन्या आदिक दिये जाना चाहिये। भावार्थ—गर्भाधानादिक क्रियाओंके मंत्र या अपराजित महामंत्र, अष्टमूलगुण तथा देवपूजन और पात्रदान आदि सत्कर्मकी निरन्तर प्रवृत्ति चलती रहे, इस हेतु सधर्मियोंको कन्या आदिकका दान देना चाहिये ॥५७॥ जो गृहस्थ शुभलक्षणोंसे अपना

दम्पत्योः स तयोस्त्रिवर्गघटनात् त्रैवर्णिकेष्वग्रणी-
भूंत्वा सत्समयास्तमोहमहिमा कार्ये परेऽप्यूर्जति ॥५८

सत्कन्यां ददता दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः । गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम् ॥५९
धर्मसन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिम् । देवादिसत्कृतिं चेच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥६०
सुकलत्रं विना पात्रे भूहेमादिव्ययो वृथा । कीटैर्दन्दश्यमानेऽन्तः कोऽम्बुसेकाद्द्रुमे गुणः ॥६१

वा पतिका कल्याण सूचित करने वाली सामुद्रिक शास्त्र कथित दोषरहित कन्याको वरके योग्य कुल और विद्या आदिक गुणोंसे शोभायमान व्यक्तिको शास्त्रोक्तविधिसे विवाहकर श्रद्धासे सत्कार करता है, वह व्यक्ति उन दोनों पतिपत्नीके त्रिवर्गका मेल मिला देनेसे धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके साधकोंमें प्रधान होकर स्वाध्याय या सत्सङ्गतिके प्रभावसे नष्ट हो गया है मिथ्यात्व जिसका ऐसा होता हुआ मोक्ष-सम्बन्धी कार्यमें भी समर्थ होता है। भावार्थ—जो व्यक्ति आत्मकर्त्तव्य समझता हुआ सामुद्रिक शास्त्रमें प्रतिपादित दोषोंसे रहित, शुभ लक्षणोंसे अपना वा पतिका कल्याण सूचित करनेवाली कन्याको कुल, शील, विद्या, योग्य वय और सौरूप्य आदिक गुणोंसे युक्त वरको धर्मविधिसे विवाहकर अपने सधर्मीका सत्कार करता है वह जिनागमका स्वाध्याय या सत्संगतिके द्वारा अपने चारित्रमोहको मन्द कर वर-वधूके पुरुषार्थत्रयका सम्पादक होनेसे गृहस्थोंमें श्रेष्ठ होकर इस लोक तथा परलोकके आवश्यक कार्योंको पूर्ण करनेमें समर्थ होता है ॥५८॥ उत्तम कन्याको देनेवाले गृहस्थके द्वारा सहधर्मी गृहस्थके लिये त्रिवर्गसहित गृहस्थाश्रम अथवा गृह दिया जाता है, क्योंकि विद्वान् स्त्रीको ही घर कहते हैं, दीवालों और बाँसोंके समूहको नहीं। विशेषार्थ—जो व्यक्ति सधर्मीको कन्यादान देता है वह उसे गृहस्थाश्रम ही देता है। क्योंकि कुलपत्नीका नाम ही घर है, दीवालों और छप्पर आदिका नहीं। तपके स्थानको आश्रम कहते है। घररूपी तपस्थानको गृहस्थाश्रम कहते है। धर्म, अर्थ और कामका मूल स्त्री है। योग्य स्त्रीके होनेपर ही संयम, देवपूजा और दान सधते है। इस कारण स्त्री धर्मपुरुषार्थमें कारण है। २—योग्य स्त्रीके होनेपर ही वेश्यादि व्यसनसे व्यावृत्ति होती है, जिससे धनकी रक्षा होती है। अथवा स्त्रीके सद्भावमें आकुलताका अभाव होनेसे निश्चिन्त होकर धनका अर्जन, रक्षण और वर्धन होता है इसलिये अर्थपुरुषार्थको सिद्धि होती है। ३—और योग्य स्त्रीके होनेपर ही प्रीति और सम्भोगसे सम्पन्न रुचिर अभिलाषारूप कामकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार कन्यादानसे तीनों पुरुषार्थोंके दानका फल मिलता है ॥५९॥ धर्मके लिये सन्तानको अथवा धर्म परम्परा चलते रहनेको, विघ्नरहित स्त्री सम्भोगको, चारित्र तथा कुलकी उन्नतिको और देव तथा अतिथि वगैरहके सत्कारको चाहनेवाला पाक्षिक श्रावक प्रयत्नसे उत्तम कन्याको व्याहे। भावार्थ—धर्म, सन्तान, निर्विघ्न भोग-विलास, आचार और कुलकी उन्नति तथा देव, ब्राह्मण, अतिथि और बान्धवोंका सत्कार बिना स्त्रीके नहीं हो सकता, इसलिये इन बातोंके इच्छुक व्यक्तिको समीचीन कन्या अथवा सज्जनोंकी कन्यासे प्रयत्नके साथ विवाह करना चाहिये ॥६०॥ अच्छी स्त्रीके बिना मोक्षमार्ग साधक पात्रमे पृथ्वी तथा सुवर्ण वगैरहका दान देना व्यर्थ होता है जैसे घुणोंके द्वारा भीतर बुरी तरह काटे गये वृक्षमें जलसिंचनसे कौनसा लाभ है। भावार्थ—यदि कन्यादान न देकर सधर्मीको केवल पृथ्वी और स्वर्णादिक दिया जावे तो वह जिस वृक्षमें घुन लगा है उसमें पानी सीचनेके समान व्यर्थ है। अथवा जैसे घुन-युक्त वृक्षमें पानी सींचना वृथा है, उसी प्रकार गृहिणीहीन श्रावकके लिये भूमि और स्वर्ण आदिकका देना वृथा है ॥६१॥

विषयेषु सुखभ्रान्तिं कर्माभिमुखपाकजाम्। छित्वा तदुपभोगेन त्याजयेत्तान्स्ववत्परान् ॥६२
दैवाल्लब्धं धनं प्राणैः सहावश्यं विनाशि च। बहुधा विनियुञ्जानः सुधीः समयिकान्क्षिपेत् ॥६३
विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव। भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥६४
भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः। तं दुष्यन्तमतो रक्षेद् धीरः समयभक्तितः ॥६५
ज्ञानमर्च्यं तपोऽङ्गत्वात् तपोऽर्च्यं तत्परत्वतः। द्वयमर्च्यं शिवाङ्गत्वात् तद्वन्तोऽर्च्या यथागुणम् ॥६६

न्यङ्मध्योत्तमकुत्स्यभोगजगतीभुक्तावशेषाद् वृषात्,
तादृक्पात्रवितीर्णभुक्तिरसुदृग् देवो यथास्वं भवेत्।
सद्दृष्टिस्तु सुपात्रदानसुकृतोद्रेकात्सुभुक्तोत्तम-
स्वर्भूमर्त्यपदोऽश्नुते शिवपदं व्यर्थस्त्वपात्रे व्ययः ॥६७

उत्तम गृहस्थ पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें कर्मोदयसे उत्पन्न होनेवाले सुखके भ्रमको उन विषयोंके सेवनसे नाशकर अपने समान दूसरोंसे भी उन स्त्री आदिक विषयोंको छुड़वावे। भावार्थ—चारित्रमोहके उदयसे स्त्री पुत्रादिकमें सुखका भ्रम हो रहा है, यह बात बिना उपभोगके समझमें नहीं आती। इसलिये साधर्मीको कन्यादान देना चाहिये और उसके उपभोग द्वारा वह भी अपने समान पुत्र कलत्रादिकसे विरक्त होवे। यह भी कन्यादानका एक हेतु है ॥६२॥ प्राणोंके साथ नियमसे नष्ट होनेवाले और पुण्योदयसे प्राप्त हुए धनको लज्जा, भय और पक्षपात आदिक नाना प्रकारसे व्यय करनेवाला कल्याणका इच्छुक व्यक्ति सहधर्मी गृहस्थों या मुनियोंको तिरस्कृत करेगा क्या? भावार्थ—प्राणोंके साथ धनसे भी सम्बन्ध अवश्य छूट जाता है, इसलिये नाना प्रकारसे उस धनका व्यय करनेवाला श्रावक धनके विनियोग (व्यय) के समय अपने साधर्मियों-की सहायताका लक्ष्य नहीं रखेगा क्या? जरूर रखेगा ॥६३॥ उत्तम गृहस्थ प्रतिमाओंमें स्थापित अरिहन्तोंकी तरह वर्तमानकाल सम्बन्धी मुनियोंमें चतुर्थकाल सम्बन्धी मुनियोंको नामादिक द्वारा स्थापित करके भक्तिसे पूजा करे, क्योंकि अत्यन्त खोद-विनोद करनेवालोका कल्याण कहाँ हो सकता है? भावार्थ—द्रव्य,क्षेत्र, काल और भावके निमित्तकी कमोसे आधुनिक मुनि पूर्व मुनियोंके समान नहीं मिलते। तो भी जैसे प्रतिमाओंमें जिनेन्द्रकी स्थापना करके पूजा की जाती है उसी प्रकार आधुनिक मुनियोंमें पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके उनकी पूजन करना चाहिये, क्योंकि अधिक नुक्ताचीनी करनेवालोको कल्याणकी प्राप्ति कहाँसे होगी ॥६४॥ क्योंकि शुभ परिणाम पुण्यास्रवके लिये और अशुभ परिणाम पापास्रवके लिये माना गया है इसलिये धीरपुरुष विकारको प्राप्त होनेवाले उस भावको जिनागममें भक्तिसे वशमें रक्खे। भावार्थ—इस कलिकालमें जिनशासनकी भक्तिसे जिनरूपको धारण करनेवाले व्यक्ति भी जिनेन्द्रके समान मान्य हैं ऐसी धर्मा-नुरागिणी बुद्धिसे चित्तमें विकार न लाकर धीर बनना चाहिए। क्योंकि भाव ही पुण्य और पाप-का कारण है। इसलिए उसे दूषित होनेसे बचाना चाहिए ॥६५॥ अनशन आदिक तपका कारण होनेसे ज्ञान पूजनीय है, उस ज्ञानकी वृद्धिका कारण होनेसे तप पूजनीय है और मोक्षका कारण होनेसे ज्ञान तथा तप दोनों पूजनीय हैं। और ज्ञानयुक्त, तपसे युक्त और ज्ञान तथा तप दोनोंसे युक्त पुरुष अपने-अपने गुणोंके अनुसार पूजनीय हैं ॥६६॥ जघन्य, मध्यम और उत्तम पात्रों तथा कुपात्रोंको आहार दान देनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव जघन्यभोगभूमि, मध्यमभोगभूमि, उत्तमभोग-भूमि और कुभोगभूमिके विषयोंके भोगनेसे बचे हुए पुण्यसे यथायोग्य देव होता है और सम्यग्दृष्टि जीव सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न पुण्यके प्रभावसे भलीप्रकार उत्तमभोग भूमि, महर्धिक कल्पवासी

सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान् स्वाङ्गुष्ठमार्यास्ततः
कौ रिङ्गन्ति ततः पदैः कलगिरो यान्ति स्खलद्भिस्ततः ।
स्थेयोभिश्च ततः कलागुणभृतस्तारुण्यभोगोद्गताः
सप्ताहेन ततो भवन्ति सुदृगादानेऽपि योग्यास्ततः ॥६८

तपःश्रुतोपयोगीनि निरवद्यानि भक्तितः । मुनिभ्योऽन्नौषधावासपुस्तकादीनि कल्पयेत् ॥६९

भोगित्वाद्यन्तशान्ति-प्रभुपदमुदयं संयतेऽन्नप्रदाना-
च्छ्रीषेणो रुग्निषेधाद् धनपतितनया प्राप सर्वौषधर्द्धिम् ।
प्राक्तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणात् सूकरः स्वर्गमग्र्यं,
कौण्डेशः पुस्तकार्चा-वितरणविधिनाप्यागमाम्भोधिपारम् ॥७०

देवोंके तथा चक्रवर्त्यादिकके पदोंको भोगता हुआ मोक्षको पाता है। किन्तु सम्यक्त्व और व्रत रहित अपात्रमें दान देना निष्फल होता है। विशेषार्थ—दि० मुनि उत्तमपात्र, अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र, अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र तथा सम्यक्त्वरहित द्रव्यलिंगी मुनि या श्रावक कुपात्र कहलाते है और जो न तो भावसे मुनि, श्रावक व सम्यग्दृष्टि है और न द्रव्यसे, वे सब अपात्र है ॥६७॥ भोगभूमिके जीव ऊपरको मुख कर चित्त लेटे हुए जन्मके अनन्तर एक सप्ताह तक अपने अँगूठेको चूसते हैं। इसके अनन्तर सात दिन तक पृथ्वी पर रेंगते है, इसके बाद सात दिन तक मनोहर वचन बोलते हुए डगमगाते हुए पैरों द्वारा गमन करते हैं। इसके बाद एक सप्ताहमें स्थिर पैरोंसे गमन करने लगते हैं। इसक अनन्तर एक सप्ताहमें गीतनृत्य आदिक कलाओं और सौंदर्य आदिक गुणोंके धारी हो जाते हैं। इसके बाद एक सप्ताहमें नवयौवन अवस्था वाले तथा इष्ट विषयोंके सेवन करनेवाले हो जाते हैं। और इसके अनन्तर एक सप्ताहमें सम्यक्त्व ग्रहण करनेके विषयमें भी योग्य हो जाते हैं ॥६८॥

उत्तम गृहस्थ मुनियोंके लिये दोषोंसे रहित और तप तथा श्रुतज्ञानके उपकारक आहार, औषधि, वसतिका तथा शास्त्रादिक पदार्थोंको भक्तिसे देवे। भावार्थ—दिगम्बर जैन साधुओंके लिये उद्गम और उत्पादन आदि आहारके दोषोसे रहित तथा साधुके तप और स्वाध्यायके उपयोग-में सहायक होनेवाले अन्न, औषधि, वसतिका, शास्त्र और पीछी कमण्डलु आदि देना चाहिए ॥६९॥ मुनिके लिये विधिपूर्वक आहारदान देनेसे श्रीषेणराजा उत्तमभोगभूमिमें उत्पन्न होना है आदिमें और शान्तिनाथ तीर्थंकरके पदको पाना है अन्तमें जिसके ऐसे अभ्युदयको प्राप्त हुआ। धनपति सेठकी वृषभसेना नामक पुत्री सर्वौषधिनामक ऋद्धिको प्राप्त हुई। सूकर पूर्व तथा इस जन्ममें मुनियोंके निवास व उनकी रक्षा करनेके विषयमें शुभ परिणामोंसे पहले सौधर्मस्वर्गको प्राप्त हुआ और कौण्डेश नामक मुनि शास्त्रोंकी विधिपूर्वक पूजा करने तथा उनका दान देनेसे द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानके पारको प्राप्त हुए। विशेषार्थ—श्रीषेणराजाने आदित्यगति और अरिञ्जय नामक चारण ऋद्धिधारक मुनियोंको आहार दान दिया था, जिसके प्रभावसे उन्हें प्रारम्भमें भोगभूमि तथा अन्तमें शान्तिनाथ तीर्थङ्करके पदका अभ्युदय प्राप्त हुआ था। धनपति सेठकी सुपुत्री वृषभसेनाने मुनिराजके लिये औषधिदान दिया था जिससे उसे सर्वौषध ऋद्धि प्राप्त हुई थी। एक सूकर पहले भवमें मुनिराजके लिये आवासदानके शुभ परिणामसे तथा अपने वर्तमान भवमें मुनिराजके निवास स्थानकी रक्षाके भावसे प्रथम स्वर्गको प्राप्त हुआ था। गोविन्द नामक गोपाल का जीव (कौंडेश

जिनधर्मं जगद्बन्धुमनुबद्धुमपत्यवत् । यतीञ्जनयितुं यस्येत तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥७१
श्रेयो यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषाद् गुणद्युतौ । असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान् ॥७२
आर्यिकाः श्राविकाश्चापि सत्कुर्याद् गुणभूषणाः । चतुर्विधेऽपि संघे यत् फलत्युप्तमनल्पशः ॥७३
धर्मार्थकामसध्रीचो यथौचित्यमुपाचरन् । सुधीस्त्रिवर्गसम्पत्त्या प्रेत्य चेह च मोदते ॥७४
सर्वेषां देहिनां दुःखाद् बिभ्यतामभयप्रदः । दयार्द्रो दातृधौरेयो निर्भीः सौरूप्यमश्नुते ॥७५
भृत्वाऽऽश्रितानवृत्त्याऽऽर्तान् कृपयाऽनाश्रितानपि । भुञ्जीताह्न्यम्बुभैषज्यताम्बूलैलादि निश्यपि ॥७६
यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानाप्रवृत्तितः । व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥७७

नामक मुनि) शास्त्रकी पूजा और दानके प्रभावसे द्वादशाङ्गके ज्ञानको प्राप्त हुआ था ॥७०॥ उत्तम गृहस्थ पुत्रके समान संसारके प्राणियोंके उपकारक जिनधर्मको परम्परासे चलानेके लिये और मुनियोंको पैदा करनेके लिये प्रयत्न करे और विद्यमान मुनियोंको श्रुतज्ञान आदिक गुणोंके द्वारा उत्कृष्ट करनेके लिये प्रयत्न करे। भावार्थ—जैसे अपने वंशकी परम्परा चलानेके लिये सन्तानको उत्पन्न करने और उसे गुणी बनानेका प्रयत्न किया जाता है उसी प्रकार जगत्के सच्चे बन्धु जैनधर्मकी परम्परा चलानेके लिये नये मुनियोंकी उत्पत्तिके लिये तथा जो वर्तमानमें मुनि हैं उनमें श्रुतज्ञान आदिकको वृद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥७१॥ कलिकालके प्रभावसे गुणों-का विकास करनेके विषयमें सफलता न होनेपर भी प्रयत्न करनेवाले व्यक्तिके पुण्य होता ही है और मुनियोंमें गुणोंके विकासकी सफलता होनेपर बड़ा भारी अपना तथा दूसरेका उपकार होता है। विशेषार्थ—सच्चे त्यागी व्रतीके निमित्तसे ही धर्मकी स्थिति, रक्षा और वृद्धि तथा सच्ची प्रभावना होती है। इसलिये त्यागी संस्थाके निर्माण करने और गुणी बनानेका सदैव प्रयत्न करना चाहिए ॥७२॥

उत्तम गृहस्थ गुण ही हैं भूषण जिन्होंके ऐसी आर्यिकाओंको और श्राविकाओंको भी सत्कृत करे क्योंकि चार प्रकारके सङ्घमें भी दिया गया आहार आदिक दान अधिक फल देता है। भावार्थ—गुणवती आर्यिका और श्राविकाको भी पात्र समझकर शास्त्रोक्त विधिसे दान देना चाहिए क्योंकि चार प्रकारके संघमें दान दिया हुआ धन भी मनोवांछित फल देता है ॥७३॥ धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके साधनमें सहायक पुरुषोंको यथा योग्य उपकार करनेवाला बुद्धिमान् पाक्षिक श्रावक धर्म, अर्थ और कामकी सम्पत्तिसे इस लोकमें और परलोकमें आनन्दित होता है ॥७४॥ शारीरिक तथा मानसिक दुःखसे डरने वाले सम्पूर्ण प्राणियोंको अभय दान देनेवाला आहारादिक दान दाताओंमें प्रधान और दयालु गृहस्थ भयरहित होता हुआ सुन्दरता, सौभाग्य और तेज आदिक गुणोंको पाता है ॥७५॥ गृहस्थ अपने आश्रित मनुष्य और तिर्यञ्चोंको तथा आजीविकाके न होनेसे दुखी अनाश्रित मनुष्य वा तिर्यंचोंको भी दयासे भोजन कराकर दिनमें ही भोजन करे और जल, दवा, पान और इलायची आदिक रात्रिमें भी खा सकता है। भावार्थ—पाक्षिक श्रावक आजीविकाके साधनमें असमर्थ अतएव अपने आश्रित मनुष्य और तिर्यञ्चोंका कर्त्तव्य बुद्धिसे तथा जो अपने आश्रित नहीं हैं, ऐसे व्यक्तियों-का दया बुद्धिसे दिनमें भरण पोषण कर स्वयं भी दिनमें ही भोजन करे, रात्रिमें भोजन नहीं करे। परन्तु अशक्यावस्थामें पानी, पान, सुपारी, इलायची और दवाई वगैरह यदि रात्रिमें भी खाना पड़े तो खा सकता है ॥७६॥ पंचेन्द्रिय सम्बन्धी स्त्री आदिक विषय जब तक या जबसे सेवनमें

पञ्चम्यादिविधिं कृत्वा शिवान्ताभ्युदयप्रदम् । उद्द्योतयेद्यथासम्पन्निमित्ते प्रोत्सहेन्मनः ॥७८
समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः । छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमञ्जसा ॥७९
सङ्कल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः । निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥८०
न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मे प्रमाणयन् । सागसोऽपि सदा रक्षेच्छक्त्या किं नु निरागसः ॥८१
आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत् । घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥८२
हिंस्रदुःखिसुखिप्राणिघातं कुर्यान्न जातुचित् । अतिप्रसङ्गश्वभ्रार्ति-सुखोच्छेदसमीक्षणात् ॥८३

आना शक्य न हों तब तक या तबसे उन विषयोंको फिरसे उन विषयोंमें प्रवृत्ति न होनेके समय तक छोड़ देना चाहिये। क्योंकि व्रतसहित मरा हुआ व्यक्ति परलोकमें सुखी होता है ॥७७॥ मोक्षपर्यन्त इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदोंको प्राप्त करानेवाले पचमी, पुष्पाञ्जली, मुक्तावली तथा रत्नत्रय आदिक व्रत विधानोंको करके अपनी आर्थिक शक्तिके अनुसार उद्यापन करना चाहिये, क्योंकि नैमित्तिक क्रियाओंके करनेमें मन अधिक उत्साहको प्राप्त होता है ॥७८॥ कल्याणके इच्छुक व्यक्तियोंके द्वारा व्रत भली भाँति देश, काल, स्थान और सहायक आदिकको विचार करके ग्रहण किया जाना चाहिये। गृहीत व्रत प्रयत्नसे पालन किया जाना चाहिये। तथा मदके आवेशसे अथवा असावधानीसे भग्न हुआ व्रत जल्दी ही फिरसे धारण किया जाना चाहिये ॥७९॥ सेवनीय स्त्री आदिक विषयोंमें सङ्कल्पपूर्वक नियम करना हिंसा आदिक अशुभ कार्योंसे निवृत्त होना और पात्रदान आदिक शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करना व्रत कहलाता है ॥८०॥ त्रस और स्थावर किसी भी प्राणीको नहीं मारना चाहिये इस प्रकार ऋषिवचनको प्रमाण माननेवाला गृहस्थ धर्मके निमित्त सदैव अपनी शक्तिके अनुसार अपराधियोंकी भी रक्षा करे। फिर निरपराधियोंके लिए कहना ही क्या है? अर्थात् उसको तो रक्षा करनी ही चाहिए ॥८१॥ हिंसाके फलका जानकार व्यक्ति खेती आदिक कार्योंमें भी सङ्कल्पी हिंसाको सदैव छोड़ देवे क्योंकि असङ्कल्पपूर्वक बहुतसे प्राणियोंका घात करनेवाले भी किसानसे जीवोंक मारनेका संकल्प करके उनको नहीं मारने वाला भी धीवर विशेष पापी होता है ॥८२॥ कल्याणको चाहनेवाला गृहस्थ अतिप्रसङ्ग दोष, नरक सम्बन्धी दुःख तथा सुखके नाशका कारण होनेसे हिंसक, दुखी और सुखी प्राणियोंके घातको कभी भी नही करे। विशेषार्थ—हिंसककी हिंसा उचित माननेसे अतिप्रसंग दोष आता है। दुखी प्राणीकी हिंसा करनेसे नरकको प्राप्ति होती है। सुखी प्राणीकी हिंसा करनेसे सुखका विनाश होता है इसलिये हिंसक, दुखी और सुखी प्राणीकी भी हिंसा त्याज्य है। कोई कहते है कि सिंहादिक क्रूर प्राणीको मार डालनेसे अनेकोंकी रक्षा होती है, इसलिये धर्म भी होता है और पापकी प्रवृत्ति भी कम होती है, यह मानना ठीक नही। क्योंकि यदि हिंसककी हिंसा करना धर्म है तो हिंसकों-का हिंसक भी तो हिंसक है उसको भी मार डालना चाहिये। इस प्रकार अतिप्रसङ्ग दोष आवेगा और समस्त प्राणियोंका मूलोच्छेद हो जावेगा। इसलिये क्रूरको भी नहीं मारना चाहिये। दयासे ही धर्मकी वृद्धि और पापकी हीनता होती है, क्रूर जीवोंको मारनेसे नहीं। कोई कहते हैं कि दुखी प्राणीको मार डालना चाहिये जिससे उसकी वेदना मिट जावे। यह मानना ठीक नही। क्योंकि दुखी अवस्थामें दुखी होकर आकुलता सहित मरनेवाले नरकमें जाते हैं। इसलिये उनके दुःखोंका अन्त नहीं होता, किन्तु नरकमें अधिक दुःखोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये दुखी प्राणीका भी वध नहीं करना चाहिये। कोई कहते हैं कि यदि किसी सुखी प्राणीको मार दिया जाय तो वह आगे भी सुखी

**स्थूललक्षः क्रियास्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये । कुर्यात्तथेष्टभोज्याद्याः प्रीत्या लोकानुवृत्तये ॥८४
अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः । तत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत् ॥८५
परासाधारणान्पुण्यप्रगण्यानघमर्षणान् । गुणान् विस्तारयेन्नित्यं कीर्तिविस्तारणोद्यतः ॥८६
सैषः प्राथमकल्पिको जिनवचोऽभ्यासामृतेनासकृन्निर्वेदद्रुममावपन् शमरसोद्गारोद्धुरं बिभ्रति।
पाकं कालिकमुत्तरोत्तरमहान्त्येतस्य चर्याफलान्यास्वाद्योद्यतशक्तिरुद्धचरितप्रासादमारोहतु ॥८७**

रहेगा इसलिये सुखी प्राणीको मार डालना चाहिये। यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि मरण सबसे बड़ा दु:ख है, मरणके दु:खसे सुखीके सुखमें बाधा आती है। क्योंकि मृत्युके दु:खसे दुर्ध्यानका होना सम्भव है और दुर्ध्यानसे मरा प्राणी नरकके दु:खोंको पाता है ॥८३॥

व्यवहारको प्रधान रूपसे माननेवाला गृहस्थ सम्यग्दशनकी विशुद्धिके लिये तीर्थयात्रा आदिक क्रियाओंको और लोगोंको अपने अनुकूल करनेके लिये हर्षपूर्वक प्रीतिभोज आदिक क्रियाओंको भी करे। भावार्थ—व्यवहारको मुख्य माननेवाला गृहस्थ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिये तीर्थयात्रा आदिक करे और लोगोंको अपने अनुकूल करनेके लिये प्रीतिभोज वगैरह भी करावे ॥८४॥ अकीर्त्तिसे चित्त संक्लेशको प्राप्त होता है और चित्तका संक्लेश या सन्ताप पाप कर्मोंके आस्रवका कारण होता है। इसलिये गृहस्थ पुण्यके हेतु चित्तकी प्रसन्नताके लिये अथवा पुण्यके कारणभूत चित्तकी प्रसन्नताके लिये सदैव कीर्तिको उपार्जन करे अर्थात् कमावे। भावार्थ—कीर्ति से मन प्रफुल्लित रहता है और मनके प्रफुल्लित रहसे श्रेय (पुण्यास्रव) होता है। तथा मनका प्रफुल्लित न रहना (सन्ताप रहना) अशुभास्रवका कारण है। इसलिये कीर्तिका उपार्जन करना चाहिए ॥८५॥ कीर्तिका विस्तार करनेमें तत्पर गृहस्थ दूसरे पुरुषोंमें नहीं पाये जानेवाले गुणवान पुरुषोंके द्वारा सम्माननीय और पापोंके नाश करनेवाले दान तथा शील आदिक गुणोंको सदैव बढ़ावे। भावार्थ—दान, सत्य, शौच और सत्स्वभाव इन चारोंसे कीर्ति प्राप्त होती है। कीर्तिके इच्छुक व्यक्तिके ये चारों बातें दूसरोंकी अपेक्षा असाधारण विशेषताको लिये, बड़े-बड़े गुणीजनोंके द्वारा उल्लेखनीय—तथा स्वार्थके लिए न होकर निष्पापवृत्तिसे होना चाहिये। इस प्रकारसे असाधारण, गणनीय और निष्पापवृत्तिसे दान, सचाई, शौच और सत्स्वभावसे कीर्तिकी प्राप्ति होती है ॥८६॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनोंके अभ्यासरूप अमृतके द्वारा वैराग्यरूपी वृक्षको निरन्तर सीचनेवाला वह पाक्षिक श्रावक वैराग्यरूपी वृक्षके प्रशमसुख रूपी रसकी अभिव्यक्तिके द्वारा लबालब भरे हुए कालकृत आत्मीय परिणतिरूपी पाकको धारण करनेवाले तथा आगे-आगे बड़े-बड़े ऐसे दर्शनिकादी प्रतिमारूपी फलोंको आस्वादन करके उत्पन्न हुई है शक्ति जिसके ऐसा अर्थात् सामर्थ्यवान् होता हुआ मुनिधर्मरूपी प्रासादको आरोहण करे अर्थात् मुनिधर्मरूपी प्रासादके ऊपर चढ़े। भावार्थ—पाक्षिक श्रावक जिनभगवान्‌के उपदेशरूपी अमृतके अनुभवसे संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर वैराग्यरूपी वृक्षके समता सुखरूपी रसकी अभिव्यक्ति सहित आत्मीय परिणतिको धारण करनेवाले और आगे-आगे बड़े-बड़े दर्शनिक आदि प्रतिमारूपी फलोंका अनुभव करके मुनिधर्म पालन करनेकी योग्यता प्राप्त कर मुनिधर्मरूपी प्रासादपर आरोहण करे ॥८७॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

●

तृतीय अध्याय

देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात् । दर्शनिकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः ।।१

दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामयिको प्रोषधोपवासी च ।
सच्चित्तदिवामैथुन-विरतो गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ।।२

अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः ।अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ।।३

दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुकः । स्खलन्नपि क्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः ।।४

तद्वद्दर्शनिकादिश्च स्थैर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन् । लभते पूर्वमेवार्थाद् व्यपदेशं न तूत्तरम् ।।५

प्रारब्धो घटमानो निष्पन्नश्चार्हतस्य देशयमः । योग इव भवति यस्य त्रिधा स योगीव देशयमी ।।६

देशसंयमका घात करनेवाली कषायोंके क्षयोपशमकी क्रमशः वृद्धिके वशसे श्रावकके दर्शनिक आदि ग्यारह संयमस्थानोंके वशीभूत और उत्तम लेश्यावाला व्यक्ति नैष्ठिक कहलाता है। विशेषार्थ—जिसके देशसंयमकी घातक अप्रत्याख्यानावरण कषायका उत्तरोत्तर अधिक क्षयोपशम होता है, जिसकी लेश्या उत्तरोत्तर विशुद्ध होती है और इसी कारण जो श्रावकके दर्शनिक आदि ग्यारह संयमस्थानोंमेंसे किसी एकका पालन करता है वह 'नैष्ठिक' कहलाता है। निर्मल दर्शनवालेको दर्शनिक और निर्मल व्रतवालेको व्रतिक कहते हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम और लेश्याका नैर्मल्य आगे-आगेकी प्रतिमाओंमें उत्तरोत्तर अधिक होता है ।।१।। दर्शनिक, व्रती, सामयिकी, प्रोषधोपवासी और सच्चित्तविरत तथा दिवामैथुनविरत ये छह श्रावक देशसंयमधारक श्रावकोंमें जघन्य गृहस्थ हैं। अब्रह्मविरत, आरम्भविरत और परिग्रहविरत ये तीन श्रावक मध्यम तथा ब्रह्मचारी है तथा अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये दो श्रावक उत्तम तथा भिक्षुक हैं। भावार्थ—दर्शनिक और व्रतिक आदिक प्रथम छह प्रतिमाधारी जघन्य-श्रावक और गृहस्थ कहलाते हैं। सप्तम, अष्टम और नवम प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक और ब्रह्मचारी कहलाते हैं। तथा दशम और एकादश प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक और भिक्षु कहलाते हैं ।।२-३।। कृष्ण, नील और कापोत इन लेश्याओंमेंसे किसी एकके वेगसे किसी समय किसी इन्द्रियके विषयमें उत्कण्ठित तथा किसी मूलगुणके विषयमें अतिचार लगानेवाला गृहस्थ पाक्षिक श्रावक कहलाता है, नैष्ठिक नहीं। भावार्थ—परिणामोंमें कदाचित् कृष्ण, नील और कापोत लेश्याके वेगके आ जानेसे यदि नैष्ठिक श्रावक पंचेन्द्रियोंके किसी एक विषयमें उत्सुक हो जावे अथवा उसके किसी मूलगुणमें अतिचार लग जावे तो वह नैतिक संज्ञासे च्युत होकर पाक्षिक कहलाता है ।।४।। नैष्ठिकश्रावककी तरह अपने-अपने व्रतोंमें स्थिरताको प्राप्त नहीं होनेवाले दर्शनिक आदि श्रावक भी वास्तव में पूर्व ही संज्ञाको पाता है किन्तु आगेकी संज्ञाको नहीं। भावार्थ—नैष्ठिक श्रावक अपनी जिस प्रतिमामें दोष लगाता है उससे च्युत होकर उससे नीचेकी प्रतिमावाला हो जाता है। व्यवहारसे भले ही उसे उस प्रतिमावाला मान लिया जावे परन्तु निश्चयसे वह जिस प्रतिमाके कर्त्तव्योंमें परिपक्व होता है उसी प्रतिमाका धारक कहा जायगा ।।५।। अरिहन्तके उपासक जिस श्रावकका देशसंयम प्रारब्ध घटमान और निष्पन्न तीन प्रकार योग या समाधिकी तरह प्रारब्ध

पाक्षिकाचारसंस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक् । भवाङ्गभोगनिर्विण्णः परमेष्ठिपदैकधीः ॥७
निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः । न्याय्यां वृत्तिं तनुस्थित्यै तन्वन् दर्शनिको मतः ॥८
मद्यादिविक्रयादीनि नार्यः कुर्यान्न कारयेत् । न चानुमन्येत मनोवाक्कायैस्तद्व्रतद्युते ॥९
भजन् मद्यादिभाजः स्त्रीस्तादृशैः सह संसृजन् । भुक्त्याऽऽदौ साकीर्तिं मद्यादिविरतिक्षतिम् ॥१०

घटमान और निष्पन्न तीन प्रकार होता है वह देशसंयम पालन करनेवाला श्रावक योगीकी तरह तीन प्रकारका होता है। विशेषार्थ—जिसप्रकार योग अर्थात् समाधि नैगम आदि नयसे प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्नके भेदसे तीन प्रकार है उसी प्रकार जिनभक्त श्रावकका देशसंयम भी प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्नके भेदसे तीन प्रकारका है। पाक्षिक श्रावक व्रतोंका अभ्यास करता है इसलिये वह प्रारब्ध देशसंयमी है। नैष्ठिक श्रावक प्रतिमाओंके व्रतोंको क्रमसे पालता है इसलिये वह घटमान देशसंयमी है और साधक श्रावक आत्मलीन होनेसे निष्पन्न देशसंयमी है। प्रारब्ध नाम उपक्रान्त या प्रारम्भ करने का है। घटमान नाम निर्वाह करनेका है और निष्पन्न नाम पूर्ण या पर्यन्तका है ॥६॥ पाक्षिक श्रावकके आचरणोंके संस्कारसे निश्चल और निर्दोष हो गया है सम्यग्दर्शन जिसका ऐसा, संसार, शरीर और भोगोंसे अथवा संसारके कारणभूत भोगोंसे विरक्त, पञ्च परमेष्ठियोंके चरणोंका भक्त, मूलगुणोंमेंसे अतिचारोंको दूर करनेवाला, आगेके व्रतिक आदिक पदोंके धारण करनेमें उत्सुक तथा शरीरको स्थिर रखनेके लिये न्यायानुकूल आजीविकाको करनेवाला व्यक्ति दर्शनप्रतिमाधारी माना गया है। विशेषार्थ—पाक्षिक सम्बन्धी आचारके संस्कारसे निश्चल और निर्दोष सम्यक्त्ववाला, संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त अथवा संसारके कारणभूत भोगोंसे विरक्त, पञ्चपरमेष्ठीका उपासक, निरतिचार अष्ट मूलगुणोंका पालक, आगेकी प्रतिमाके धारणको उत्सुक और आजीविकाके लिये अपने वर्ण, कुल और व्रतके अनुकूल कृषि आदिक आजीविका करनेवाला दर्शनप्रतिमाधारी दर्शनिक श्रावक कहलाता है। 'परमेष्ठिपदैकधी' पदमें आये हुए 'एक' शब्दसे यह सूचित होता है कि दर्शनिक श्रावक आपत्तिके समयमें भी शासनदेवताकी पूजा नहीं करता। 'भवाङ्गभोगनिर्विण्णः' पदका यह अभिप्राय है कि—दर्शनिकश्रावकके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी आठ कषायोंका उदय न होनेसे संसार, शरीर और भोगोंके भोगनेपर भी उनमें उसकी आसक्ति नहीं पाई जाती ॥७-८॥

दर्शनिक श्रावक मद्यत्याग आदि मूलगुणोंको निर्मल रखनेके लिये मन, वचन और कायसे मद्यादिककी खरीद तथा विक्री आदि स्वयं नहीं करे, दूसरोंसे नहीं करावे तथा अनुमति नहीं देवे। भावार्थ—आठ मूलगुणोंको निरतिचार पालन करनेके लिये दर्शनिक श्रावक मन, वचन और कायसे मद्य, मांस, मधु और मक्खन आदिका व्यापार न स्वयं करे, न दूसरोंसे करावे और अनुमोदना भी नहीं करे। आदिशब्दसे यह भी सूचित किया गया है कि अचार, मुरब्बा आदि बनानेका उपदेश भी नहीं करे ॥९॥ मद्य मांस आदिको खानेवाली स्त्रियोंको सेवन करनेवाला और भोजन वगैरह में मद्यादिकके सेवन करनेवाले पुरुषोंके साथ संसर्ग करनेवाला व्रतधारी पुरुष निन्दासहित मद्यत्याग आदि मूलगुणोंकी हानिको प्राप्त होता है। भावार्थ—मद्यादिकका भक्षण करनेवाली स्त्रियोंके साथ संसर्ग तथा भोजन करनेसे, उनके पात्रोंमें जीमने और उनके साथ जीमने बैठनेसे तथा मद्यादि पीनेवाले पुरुषोंके साथ भी इसी प्रकारके संसर्गसे अपयश होता है और मद्यादित्यागव्रतकी हानि होती है इसलिए मद्यादिकके सेवनमें आसक्त स्त्री पुरुषोंका भोजनादिकमें

सन्धानकं त्यजेत्सर्वं दधितक्रं द्व्यहोषितम् । काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा ॥११
चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिङ्ग्वसंहृतचर्म च । सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते ॥१२
प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्मधुव्रतविशुद्धये । वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती ॥१३
सर्वं फलमविज्ञातं वार्ताकादि त्वदारितम् । तद्वद् भल्लादिसिम्बीश्च खादेन्नोदुम्बरव्रती ॥१४
मुहूर्तेऽन्त्ये तथाऽऽद्येऽह्नो वल्भाऽनस्तमिताशिनः । गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति ॥१५

मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनं वा दुर्वाससा गालनमम्बुनो वा ।
अन्यत्र वा गालितशेषितस्य न्यासो निपानेऽस्य न तद्व्रतेऽर्च्यः ॥१६

संसर्ग नहीं करना चाहिये ॥१०॥ दर्शनिक श्रावक सर्व प्रकारके अचार मुरब्बा आदिको, जिसे दो दिन तथा दो रात्रियाँ व्यतीत हो चुकी हैं ऐसे दही व छाँछको तथा जिसपर फूलसे आ गये हों ऐसी कांजीको भी छोड़ देवे नहीं तो मद्यत्यागव्रतमें अतीचार होता है। भावार्थ—वस्तुतः २४ घण्टेके पश्चात् अचार (अथाना), मुरब्बा, दही, छाँछ, कांजिक आदिकमें रसकायिक अनन्त सम्मूर्च्छन जीव पैदा हो जाते हैं बाद उन सबको नहीं खाना चाहिये। अन्यथा उनके खानेपर मद्यत्यागव्रतमें अतिचार लगता है ॥११॥ चमड़ेमें रखा हुआ जल, घी, तैल आदि चमड़ेको हींग रूप कर लेनेवाले अथवा चमड़ेसे आच्छादित या चमड़ेसे सम्बन्ध रखनेवाले हींग और स्वादचलित सम्पूर्ण भोजन आदिका उपयोग करना मांसत्यागव्रतमें अतिचार होता है। भावार्थ—चमड़ेके बर्तनोंमें रखे हुए पानी, घी और तैल तथा चमड़ेको अपने रूप कर लेनेवाले या चमड़ेमें रखे हुए हींग तथा स्वादचलित वस्तुको खानेसे मांसत्यागव्रतमें अतिचार लगता है। यहाँ उपलक्षणसे यह भी अर्थ निकलता है कि चमड़ेके बर्तनोंमें रखी हुई दूसरी वस्तुएँ तथा जिन चालनी, और सूपा आदिकमें चमड़ा लगा है उनमें रखे हुए आटा आदिको भी नहीं खाना चाहिए ॥१२॥ मधुत्यागव्रतका पालक व्यक्ति प्रायः करके फूलोंको नहीं खावे और व्रती पुरुष वस्त्यादिक कर्मोंमें भी मधु आदिका उपयोग नहीं कर सकता है। विशेषार्थ—प्रायः पुष्पो (फूलों) का खाना और वस्तिकर्म (एनिमा), पिण्डप्रदान, नेत्राञ्जन तथा सेक आदि कार्योंमें मधु और मदिराका उपयोग करना मधुत्यागव्रतके अतिचार हैं। दर्शनप्रतिमाधारी इनका उपयोग नहीं कर सकता। इस श्लोकमें आये हुए 'प्रायः' पदका यह तात्पर्य है कि जिन फूलोंको सोध सकते हैं ऐसे भिलावे आदिके फूल खाये जा सकते है। 'अपि' शब्दसे यह सूचित होता है कि वस्तिकर्म आदिक कार्योंमें भी जब दर्शनिक श्रावक मधु आदिकका उपयोग नहीं कर सकता तो स्वास्थ्यकी वृद्धिके लिये और बाजीकरण आदिक औषधिमें इनका प्रयोग कर ही नहीं सकता ॥१३॥ उदुम्बरत्यागी श्रावक जिनका नाम नहीं मालूम, ऐसे सम्पूर्ण अजानफलोंको तथा विना चीरे हुए भटा वगैरहको और उसी तरह चवला सेंम आदिकी फलियोंको नहीं खावे ॥१४॥ रात्रिभोजनत्याग व्रतका पालन करनेवाले श्रावकके दिनके अन्तिम तथा प्रथम मुहूर्तमें भोजन करना तथा रोगको दूर करनेके लिये भी आम और घी वगैरहका सेवन करना अतिचार-जनक होता है। भावार्थ—रात्रिभोजनके त्यागी दर्शनिक श्रावकको दिनकी प्रारम्भिक और पिछली दो दो घड़ियोंमें भी भोजन नहीं करना चाहिये। तथा रोगको दूर करनेके लिये भी इन चार घड़ियोंमें आम, घी, केला आदिका सेवन नहीं करना चाहिये। सूर्योदयके बाद तथा सूर्यास्तके पूर्वकी दो दो घड़ियोंको छोड़कर दिनमें ही दवा वगैरह खाना चाहिये। नहीं तो रात्रिभोजनत्यागव्रतमें अतिचार लगता

द्यूताद्धर्मतुजो बकस्य पिशितान्मद्याद्यदूनां विपच्चारोः कामुकया शिवस्य चुरया यद्ब्रह्मदत्तस्य च।
पापर्द्ध्या परदारतो दशमुखस्योच्चैरनुश्रूयते द्यूतादिव्यसनानि घोरदुरितान्युज्झेत्तदार्यस्त्रिधा ॥१७

जाग्रत्तीव्रकषायकर्कशमनस्कारार्पितैर्दुष्कृतै-
श्चैतन्यं तिरयत्तमस्तरदपि द्यूतादि यच्छ्रेयसः।
पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यान्त्यतस्तद्व्रतः
कुर्वीतापि रसादिसिद्धिपरतां तत्सोदरीं दूरगाम् ॥१८

दोषो होढाद्यपि मनोविनोदार्थं पणोज्झिनः। हर्षामर्षोदयाङ्गत्वात् कषायो ह्यंहसेऽञ्जसा ॥१९
त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाट्यां षिड्गसङ्गतिम्। नित्यं पण्याङ्गनात्यागी तद्गेहगमनादि च ॥२०
दायादाज्जीवतो राजवर्चसाद् गृह्णतो धनम्। दायं वाऽपह्नुवानस्य क्वाचौर्यं व्यसनं शुचि ॥२१

है ॥१५॥ दो मुहूर्त अर्थात् चार घड़ीके बाद जलका नहीं छानना अथवा छोटे और छिद्र सहित पुराने वस्त्रसे छानना, अथवा छाननेके बादमें बचे हुए इस जलका दूसरे जलाशयमें डालना जलगालनव्रतमें योग्य नहीं ॥१६॥ यतः जुआ खेलनेसे युधिष्ठिरके, मांसभक्षणसे बकराजाके, मदिरापानसे यदुवंशियोंके, वेश्यासेवनसे चारुदत्तसेठके, चोरीसे शिवभूति ब्राह्मणके, शिकार खेलनेसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीके और परस्त्रीसेवनकी अभिलाषासे रावणके बड़ी भारी विपत्ति प्रसिद्ध है अतः दर्शनिक श्रावक मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे दुर्गतिके दुःखोंको देनेवाले हिंसा आदिक पापोंके कारणभूत जुआ आदिक सातों व्यसनोंको छोड़े ॥१७॥ यतः निरन्तर उदयमें आनेवाले तीव्र क्रोधादिकसे कठोर हुए आत्माके परिणामके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले पापोंके द्वारा मिथ्यात्वको उल्लङ्घन करनेवाले भी चैतन्यको आच्छादित करनेवाले जुआ आदि सातों ही व्यसन पुरुषोंको कल्याणमार्गसे भ्रष्ट कर देते हैं अतः विद्वान् लोग उन जुआ आदिको व्यसन कहते हैं। इसलिये जुआ आदि सप्त व्यसनोंका त्याग करनेवाला श्रावक जुआ आदि व्यसनोंकी बहिन रसादिकोंके सिद्ध करनेकी तत्परताको भी दूर करे। विशेषार्थ—मनुष्यकी जो कुटेव या खोटी आदत मिथ्यात्वपर विजय प्राप्त करनेवाले, सम्यग्दर्शनयुक्त चैतन्यको भी श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट कर देती है उसे व्यसन कहते हैं। इसलिए व्यसनोंका त्यागी दर्शनिक इन व्यसनोंकी बहिन (उपव्यसन) रसादिसिद्धिपरताको भी छोड़ देवे। क्योंकि इन कामोंमें भी मनकी वृत्ति व्यसनके समान श्रेयोमार्गसे विमुख करती है। ऐसा करनेसे सुवर्ण बनाया जा सकता है और बड़ा धनीपना प्राप्त हो सकता है। यदि ऐसा अंजन बनाया जावे कि जिससे जमीनमें गड़ा हुआ धन नेत्रोंसे दिखने लगे तो बड़ा काम हो जावेगा। मन्त्रादिकसे ऐसी खड़ाऊँ सिद्ध करना कि जिनके योगसे चाहे जहाँ अदृश्य होकर जाना हो सकता है। ऐसे कार्योंमें दिन रात लगा रहना तथा सब धर्म कर्म छोड़ देना उपव्यसनोंमें गिना जाता है ॥१८॥

जुआके त्याग करनेवाले श्रावकके मनोविनोदके लिये भी हर्ष और क्रोधकी उत्पत्तिका कारण होनेसे शर्त लगाकर दौड़ना, जुआ देखना आदि अतिचार होता है क्योंकि वास्तवमें आत्माका रागद्वेष रूप कषाय परिणाम पापके लिये होता है ॥१९॥ वेश्याव्यसनका त्यागी श्रावक गीत, नृत्य और वाद्यमें आसक्तिको, बिना प्रयोजन घूमनेको, व्यभिचारी पुरुषोंकी संगतिको और वेश्याके घर जाने आदिको सदा छोड़ देवे ॥२०॥ जीवित उत्तराधिकारी भाई आदिसे राजाके प्रतापसे धनको ग्रहण करनेवालेके अथवा कुलकी साधारण सम्पत्तिको भाई वगैरहसे छिपाने-

वस्त्रनाणकपुस्तादिन्यस्तजीवच्छिदादिकम् । न कुर्यात्त्यक्तपापर्द्धिस्तद्धि लोकेऽपि गर्हितम् ॥२२
कन्यादूषणगान्धर्वविवाहादि विवर्जयेत् । परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया ॥२३
त्यज्यते यदिहामुत्राप्यपायावद्यकृत्स्वयम् । तत्परेऽपि प्रयोक्तव्यं नैव तद्व्रतशुद्धये ॥२४
अनारम्भवधं मुञ्चेच्चरेन्नारम्भमुद्धुरम् । स्वचाराप्रतिलोम्येन लोकाचारं प्रमाणयेत् ॥२५
व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन् । सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद् भ्रंशयते तराम् ॥२६
स्त्रीणां पत्युरुपेक्षैव परं वैरस्य कारणम् । तन्नोपेक्षेत जातु स्त्रीं वाञ्छंल्लोकद्वये हितम् ॥२७
नित्यं भर्तृमनीभूय वर्तितव्यं कुलस्त्रिया । धर्मश्रीशर्मकीर्त्येककेतनं हि पतिव्रता. ॥२८

वालेके अचौर्यव्रत निरतिचार कहाँपर हो सकता है। भावार्थ—उत्तराधिकारीके मौजूद रहनेपर भी (राजसत्ताके बलसे) अपने भाईबन्दके स्वत्वके धनको ग्रहण करना अथवा अधिकारी भाई आदिकी सम्पत्तिको छिपा लेना चौर्यव्यसनत्यागव्रतके अतिचार है ॥२१॥ शिकार व्यसनका त्यागी वस्त्र, सिक्का, काष्ठ और पाषाण आदि शिल्पमे बनाये गये जीवोंके चित्रोंके छेदनादिक को नहीं करे, क्योंकि वह वस्त्रादिकमें बनाये गये चित्रोका छेदन भेदन लोकमें भी निन्दित है। भावार्थ—वस्त्रमें छपे हुए, सिक्कोमें उकरे हुए, चित्रोमे अंकित, तथा धातु, काष्ठ वा हाथीदाँत आदिसे बने हुए जीवोंके आकारोको चीरना, तोड़ना, फोड़ना, फाड़ना आदि शिकार व्यसनत्यागव्रतके अतिचार है। क्योंकि ऐसा करना व्यावहारिक लोगोकी दृष्टिमे भी बुरा माना जाता है ॥२२॥ परस्त्री व्यसनका त्यागी श्रावक परस्त्रीव्यसनके त्यागरूपव्रतकी शुद्धिकी करनेकी इच्छासे कन्याके लिये दूषण लगानेको और गान्धर्वविवाह आदि करनेको छोड़े। विशेषार्थ—माता पिता और बन्धुजनोंकी सम्मति बिना ही वर और वधू परस्परके अनुरागसे जो विवाह कर लेते हैं उसे गन्धर्वविवाह कहते है और कन्याका हरण करके जो विवाह किया जाता है उसे हरण-विवाह कहते हैं। परस्त्रीके त्यागीको ऐसे कार्य नही करना चाहिए ॥२३॥ इस लोकमें और परलोकमें भी अकल्याण तथा निन्दाको करनेवाली जो वस्तु स्वयं संकल्पपूर्वक छोड़ दी वह वस्तु उस व्रतकी निर्मलताके लिये दूसरे प्राणीके विषयमें भी प्रयुक्त नही की जानी चाहिये। भावार्थ—इस लोकमें निन्दनीय और परलोकमें पापजनक जिस वस्तुका त्याग स्वयं किया है उस वस्तुका दूसरेके प्रति भी प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥२४॥ दर्शनिक श्रावक कृष्यादि आरम्भसे अन्यत्र चलने, फिरने, उठने, बैठने आदिसे होनेवाली हिंसाको छोड़े, जिस आरम्भका सम्पूर्ण भार अपनेको ही उठाना पड़े ऐसे आरम्भको नहीं करे तथा अपने द्वारा ग्रहण किये गये व्रतोके घात बिना लौकिक आचारको प्रमाण माने। भावार्थ – दर्शनिक श्रावकको आवश्यक कृषि आदि क्रियाके आरम्भको छोड़कर समस्त सङ्कल्पी हिंसाका त्याग कर देना चाहिये। खेती आदिक भी स्वयं नही करना चाहिये। तथा लोकाचारको प्रमाण मानकर लौकिक व्यवहार करना चाहिये ॥२५॥ दर्शनिक श्रावक विशेष प्रेमको करता हुआ अपनी स्त्रीको धर्ममें अन्य कुटुम्बियोंकी अपेक्षा अधिक व्युत्पन्न करे क्योंकि मूर्ख अथवा अपनेसे विरुद्ध स्त्री धर्मसे पुरुषको परिवारके अन्य लोगोंकी अपेक्षा अधिक भ्रष्ट कर देती है ॥२६॥ स्त्रियोंके पतिका अनादर ही विशेष वैरका कारण होता है, इसलिये इसलोक और परलोकमें सुखको चाहनेवाला पुरुष कभी भी स्त्रीको उपेक्षाकी दृष्टिसे नही देखे ॥२७॥ कुलीन स्त्रीको सदा पतिके चित्तके अनुकूल होकर ही आचरण करना चाहिये। क्योंकि पतिव्रता स्त्रियाँ धर्म, विभूति, सुख वा कीर्तिका एक घर या ध्वजा होती हैं ॥२८॥ दर्शनिक श्रावक स्त्रीको अन्नकी तरह शारीरिक तथा मानसिक सन्तापको

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत् । क्षीयन्ते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥२९
प्रयतेत सधर्मिण्यामुत्पादयितुमात्मजम् । व्युत्पादयितुमाचारे स्ववत्त्रातुमथापथात् ॥३०
विना सुपुत्रं कुत्र स्वं न्यस्य भारं निराकुल । गृही सुशिष्यं गणिवत् प्रोत्सहेत परे पदे ॥३१
दर्शनप्रतिमामित्थमारुह्य विषयेष्वरम् । विरज्यन् सत्त्वसज्जः सन् व्रती भवितुमर्हति ॥३२

शान्ति पर्यन्त ही सेवन करे क्योंकि अन्नकी तरह स्त्रीके भी अधिक सेवनसे धर्म, अर्थ और शरीर तीनों ही क्षीण हो जाते हैं। भावार्थ—जैसे शरीर और सन्तापकी शान्ति जितनेसे होती है उतना अन्न खाया जाता है, उसी प्रकार श्रावकको शरीर और मनके सन्तापकी शान्ति जितनेसे होती है, उतने ही परिमाणमें स्त्रीसंसर्ग करना चाहिये, आसक्तिसे नहीं। क्योंकि अन्नके समान स्वदारजनित विषयोंके सेवनकी अधिकतासे भी धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका नाश होता है। अभिप्राय यह है कि श्रावकका स्वदारसेवन भी अनासक्तिपूर्वक और मर्यादित होना चाहिये ॥२९॥ दर्शनिक श्रावक अपनी धर्मपत्नीमें पुत्रको उत्पन्न करनेके लिये प्रयत्न करे। और अपने समान हा पुत्रको कुल और लोक सम्बन्धी व्यवहारमें व्युत्पन्न करनेके लिये तथा कुमार्ग या दुराचारसे बचानेको प्रयत्न करे। भावार्थ—अपनी सधर्मिणीमें पुत्रोत्पत्तिका और पुत्रको कुलाचार तथा लोकव्यवहारमें अपने समान विज्ञ बनानेका तथा दुराचारसे बचानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥३०॥ उत्तम शिष्यके बिना धर्माचार्यकी तरह उत्तम पुत्रके बिना दर्शनिक श्रावक अपने भारको कहाँ पर स्थापित करके निराकुल होता हुआ उत्कृष्ट पदमें प्रोत्साहित होवे। भावार्थ—जैसे आचार्यको अपने समान शिष्य भी योग्य बनाना चाहिये और उसके ऊपर संघके शासनका भार सौंपकर मोक्षमार्गमें प्रयत्न करना चाहिये। यदि योग्य शिष्य न हो तो आचार्य धर्म-रक्षाका भार किसे सौंप कर आत्म-कल्याणमें प्रवृत्त हो सकेंगे। उसी प्रकार दर्शनिक श्रावकको भी व्रत आदि प्रतिमाओंके पालनके लिये अपने समान योग्य पुत्रकी उत्पत्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो वह अपने द्वारा पोषण करने योग्य अपनी गृहस्थीके भारको किसे सौंप कर और निराकुल रूपसे अपने इष्ट मार्गको प्राप्त करेगा? ॥३१॥ श्रावक इस प्रकारसे दर्शनप्रतिमाको धारणकर विषयोंमें विशेष या अधिक विरक्त और धैर्य आदि सात्त्विक भावोंसे युक्त होता हुआ व्रत प्रतिमाधारी होनेको योग्य है। भावार्थ—इस प्रकार दर्शनप्रतिमाका भली प्रकार पालन कर पाक्षिककी अपेक्षा अथवा अपनी पूर्व अवस्थाकी अपेक्षासे भी विशेष वैराग्य भावनाका धारक श्रावक सत्य तथा धैर्य आदिक गुणोंसे सुसज्जित होकर आगेकी व्रतप्रतिमाके पालनके योग्य होता है ॥३२॥

इति तृतीयोऽध्यायः ।

चौथा अध्याय

सम्पूर्णदृग्मूलगुणो निःशल्यः साम्यकाम्यया । धारयन्नुत्तरगुणानक्षूणान्व्रतिको भवेत् ॥१
सागारो वानगारो वा यन्निःशल्यो व्रतीष्यते । तच्छल्यवत्कुदृङ्माया-निदानान्युद्धरेद् धृदः ॥२
आभान्त्यसत्यदृङ्मायानिदानैः साहचर्यतः । यान्यव्रतानि व्रतवद् दुःखोदर्काणि तानि धिक् ॥३
पञ्चधाणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमगारिणाम् । शिक्षाव्रतं चतुर्धेति गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥४
विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः ।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥५

परिपूर्ण सम्यक्त्व और मूलगुणका धारक शल्यरहित तथा इष्टानिष्ट पदार्थोमें रागद्वेषके विनाश करनेकी इच्छासे निरतिचार उत्तरगुणोंको धारण करनेवाला व्यक्ति व्रतिक होता है या कहलाता है ॥१॥ यतः शल्यरहित गृहस्थ अथवा मुनि ही व्रती माना जाता है अतः व्रत का इच्छुक व्यक्ति शल्यकी तरह मिथ्यात्व, माया और निदानको हृदयसे दूर करे। भावार्थ—विपरीत तत्त्व श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते है। पर-वंचनाको माया कहते हैं और व्रत-पालन कर इस भवमें या आगामी भवमें फल पानेकी इच्छाको निदान कहते है। मुनि या श्रावक कोई भी हो बिना शल्यके त्याग किये 'व्रती' नहीं हो सकता। इसलिये व्रती होनेवाले व्यक्तिको मिथ्या, माया और निदान नामक तीनों शल्योंको अपने हृदयसे निकाल देना चाहिये। जैसे केवल गाय भैसोंके पालनेसे कोई 'गोमान्' नहीं कहला सकता, किन्तु दूध देने वाली गाय भैंसोंके योगसे ही सच्चा 'गोमान्' कहलाता उसी प्रकार केवल व्रतोंके पालनसे हो कोई सच्चा 'व्रती' नहीं हो सकता किन्तु निःशल्य होकर व्रतपालनसे ही व्रती कहला सकता है ॥२॥ दुःख ही है उत्तरफल जिन्होंका ऐसे जो अव्रत मिथ्यात्व, माया और निदानके सम्बन्धसे व्रतोंकी तरह मालूम होते हैं उन अव्रतोंको धिक्कार है। भावार्थ—मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीनों शल्योंके सहयोगसे जो व्रताभास व्रतके समान मालूम होते हैं, उनका फल संवर और निर्जरा नहीं है किन्तु दुःख (आस्रव और बन्ध) है। इसलिये व्रतियों-को अपने हृदयसे इन तीनोंको दूर कर देना चाहिये ॥३॥ पाँच प्रकारका अणुव्रत, तीन प्रकारका गुणव्रत और चार प्रकारका शिक्षाव्रत इस प्रकार गृहस्थोंके बारह उत्तर गुण होते है। विशेषार्थ—महाव्रतकी अपेक्षासे श्रावकके अहिंसादिव्रत लघु हैं इसलिये ये 'अणुव्रत' कहलाते हैं। दिग्व्रत आदि व्रत अणुव्रतोंमें गुण लाते हैं अथवा अणुव्रतोंका उपकार करते हैं इसलिये ये 'गुणव्रत' कहलाते हैं। देशावकाशिक आदि व्रतोंसे मुनिव्रत पालनके हेतु प्रतिदिन शिक्षा मिलती है इसलिये ये 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं ॥४॥ किसी गृहविरत श्रावकमें मन वचन काय सम्बन्धी कृत कारित अनुमोदन इन नौ भङ्गों द्वारा स्थूलहिंसा आदिकसे निवृत्त होना पाँच अहिंसा आदि अणुव्रत होते हैं—और किसी गृहनिरतश्रावकमें अनुमोदनाको छोड़कर शेष छह भङ्गोंके द्वारा स्थूल हिंसा आदिकसे निवृत्त होना पाँच अहिंसा आदिक अणुव्रत होते हैं। भावार्थ—व्रतप्रतिमाधारीके दो भेद हैं। गृहवासविरत और गृहवासनिरत। मन वचन काय इन तीनों भंगोको कृत, कारित और अनुमोदना इन तीन भंगोंसे गुणा करनेपर ९ भंग होते हैं। गृहवासविरतके इन नौ ही भंगों द्वारा

स्थूलहिंस्याद्याश्रयत्वात् स्थूलानामपि दुर्दृशाम्। तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वाद् वधादि स्थूलमिष्यते ॥६
शान्ताद्यष्टकषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान्। अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतम् ॥७
इमं सत्त्वं हिनस्मीति हिन्धि हिन्ध्येष साध्विमम्। हिनस्तीति वदन्नाभिसन्दध्यान्मनसा गिरा ॥८
वर्तेत न जीववधे करादिना दृष्टिमुष्टिसन्धाने। न च वर्तयेत्परं तत्परे नखच्छोटिकादि न च रचयेत् ॥९
इत्यनारम्भजां जह्याद्धिंसामारम्भजां प्रति। व्यर्थस्थावरहिंसावद् यतनामावहेद् गृही ॥१०

स्थूल हिंसादिक पाँच पापोंका त्याग होता है। इसके ही अणुव्रतोंका पालन उत्कृष्टवृत्तिसे होता है। मन, वचन, काय इन तीन भंगोंको केवल कृत और कारित भंगसे गुणा करनेसे छह भंग होते हैं। गृहवासनिरतके इन छह भंगों द्वारा ही स्थूल पाँच पापोंका त्याग होता है। इसके अणुव्रतोंका पालन मध्यमरीतिसे होता है। इस का यह तात्पर्य है कि शासन-कर्त्ता चक्रवर्ती आदि जो दण्डविधान करते हैं वह दोषाधायक नहीं है। क्योंकि पुत्र वा शत्रुमें समतारूपसे शासक द्वारा दिया गया दण्ड इस लोक और परलोककी रक्षा करता है। अतएव अपनी-अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार ही शासकजन भी स्थूलहिंसा आदिकके त्यागी होते हैं और अपराधियोंको दण्ड देना उनका कर्त्तव्य है, दोषाधायक नहीं। इस प्रकार ९ या ६ भंगों द्वारा स्थूल पापोंका त्याग करना अणुव्रत कहलाता है ॥५॥ स्थूल हिंस्य आदिकका आश्रय होनेसे और स्थूल मिथ्यादृष्टियोंके भी हिंसा आदिक नामसे प्रसिद्ध होनेसे हिंसा, चोरी आदि स्थूल कहे जाते हैं। भावार्थ—अणुव्रतोंमें जिन हिंसादिक पापोंका त्याग होता है उनके विषय स्थूल हिंस्य प्राणी आदिक होते हैं तथा मिथ्या दृष्टि भी उन्हें हिंसा, चोरी आदिक मानते हैं, इसलिये हिंसादिकके साथ स्थूल विशेषण दिया गया है। सारांश यह है कि लोक में सर्व-साधारण भी जिन पापोंको हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह नामसे पुकारते हैं उनको स्थूल हिंसादिक कहते हैं। इन मोटे पापोंको त्यागी अणुव्रती कहलाता है ॥६॥ शान्त हो गये हैं—आदिके आठ कषाय जिसके ऐसे, दयाके द्वारा कोमल है हृदय जिसका ऐसे तथा मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ सङ्कल्पोंसे दो इन्द्रिय आदिक जीवोंकी हिंसा नहीं करनेवाले व्यक्तिके अहिंसा नामक अणुव्रत होता है। भावार्थ—अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका क्षयोपशम होनेपर मन, वचन, काय सम्बन्धी कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ सङ्कल्पोंसे त्रस जीवोंकी द्रव्य और भाव हिंसा नहीं करना, तथा प्रयोजनवश की जाने वाली स्थावर हिंसासे भी डरना और यथा संभव उनकी भी यतना करना अहिंसाणुव्रत है ॥७॥ गृहविरत श्रावक इस प्राणीको मारता हूँ, तुम इस प्राणीको मारो मारो, तथा यह पुरुष इस प्राणीको मारता है यह अच्छा करता है इस प्रकार मनके द्वारा और वचनके द्वारा हिंसाका सङ्कल्प नहीं करे तथा दृष्टि और मुष्टिका है जोड़ना जिसमें ऐसे जीवोंके मारनेके विषयमें हस्तादिकके द्वारा स्वयं प्रवृत्ति नहीं करे, दूसरेको प्रवृत्ति नहीं करावे, तथा स्वयं ही जीववध करनेवाले व्यक्तिके विषयमें ताली चुटकी आदि न बजावे। भावार्थ—"मैं मारता हूँ, तुम मारो, यह ठीक मार रहा है।" इस प्रकार मनके द्वारा संकल्पी हिंसा होती है। इसी प्रकार तीन प्रकारकी संकल्पी हिंसा वचनसे होती है। अपने हाथसे हिंसा करना, दृष्टि और मुष्टि सन्धान रूप दूसरे द्वारा हिंसा कराना तथा हिंसकके कार्यमें ताली और चुटकी वगैरह बजाकर कायकृत हिंसाकी अनुमोदना करना। इस प्रकार अहिंसाणुव्रतमें नव संकल्पोंसे हिंसाका परित्याग करना आवश्यक है ॥८-९॥

घरमें रहने वाला श्रावक इस प्रकारसे सांकल्पिक हिंसाको छोड़े और कृष्यादिक आरम्भसे होनेवाली हिंसाके प्रति निष्प्रयोजन एकेन्द्रिय प्राणियोंके वधके समाने सप्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोंकी

यन्मुक्त्यङ्गमहिंसैव तन्मुमुक्षुरुपासकः । एकाक्षवधमप्युज्झेद् यः स्यान्नावर्ज्यभोगकृत् ॥११
गृहवासो विनारम्भान् न चारम्भो विना वधात् । त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः॥१२
दुःखमुत्पद्यते जन्तोर्मनः संक्लिश्यतेऽस्यते । तत्पर्यायश्च यस्यां सा हिंसा हेया प्रयत्नतः ॥१३
सन्तोषपोषतो यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः । भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत् ॥१४
मुञ्चन् बन्धं वधच्छेदावतिभारादिरोपणम् । भुक्तिरोधं च दुर्भावाद् भावनाभिस्तदाविशेत् ॥१५

हिंसामें भी सावधानी रखे ॥१०॥ यतः अहिंसा ही मोक्षका कारण है, अतः मोक्षको चाहनेवाला श्रावक जो एकेन्द्रिय प्राणियोंका वध त्याग नहीं किये जा मकने योग्य भोगोपभोगको करनेवाला अथवा सेवन करने योग्य भोगोपभोगको करनेवाला नहीं होता उस एकेन्द्रिय प्राणियोंके वधको भी छोड देवे। भावार्थ—अहिंसा ही मोक्षका कारण है इसलिये मोक्षका इच्छुक श्रावक त्रसहिंसाके समान ऐमी स्थावर हिंमाका भी परित्याग कर देवे जो सम्पादनीय भोगकारक नहीं है अथवा जिसका त्याग कर सकना अशक्य नही है। अर्थात् गृहनिरत श्रावकको भी सकल्पी हिंसाके समान निरर्थक स्थावरहिसाका भी त्याग करना चाहिये ॥११॥ गृहस्थाश्रम आरम्भके विना नहीं होता और आरम्भ प्राणियोंकी हिंसाके विना नहीं होता, इसलिये संकल्प पूर्वक होनेवाला वह वध प्रयत्न पूर्वक छोडने योग्य है। किन्तु कृष्यादिक कामोंके करनेसे होनेवाला वह वध छाडनेके लिये अशक्य है अर्थात् गृहस्थके लिये कृष्यादिक कर्मोंसे होनेवाली हिंसाका छोडना शक्य नही। भावार्थ—गृहवास आरम्भके विना नही होता और आरम्भ हिंसाके विना नहीं होता, इसलिये गृहवासीको अपने किसी मतलबसे 'मैं मारता हूँ' इस प्रकारकी संकल्पी हिंसाका प्रयत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिये। किन्तु खेती आदिक आजीविका करते समय संकल्परहित जो आरम्भी हिंसा होती है वह गृहवासीके लिये दुस्त्यज है ॥१२॥ जिम हिंमामें प्राणीके दुःख उत्पन्न होता है, मन संक्लेशको प्राप्त होता है, और उस प्राणीकी वर्तमान पर्याय विनाशको प्राप्त होती है वह हिंसा प्रयत्नपूर्वक छोड़ने योग्य है ॥१३॥

जो गृहस्थ मनकी शुद्धिमें है एक ध्यान जिसका ऐसा और सन्तोषकी पुष्टिसे अर्थात् अधिक सन्तोष होनेके कारण थोड़ा आरम्भ तथा थोड़ा परिग्रह रखनेवाला है वही गृहस्थ अहिंसाणुव्रतको सेवन करे। भावार्थ :—जिसकी सन्तोषवृत्ति अनासक्तिके कारण वर्धमान रहती है। जिसके आरम्भ और परिग्रह इतने अल्प होते है कि उनसे आर्त और रौद्र ध्यान उत्पन्न नहीं होते और जो अपने भावोंकी शुद्धिमें एकाग्र रहता है, वही अहिंसाणुव्रतको पालन कर सकता है ॥१४॥ खोटे परिणामोंसे बन्धको, वध और छेदको, बहुत बोझा आदिके लादनेको और अन्न-पानके निरोधको छोड़नेवाला व्रती पुरुष अहिंसाणुव्रतकी भावनाओं द्वारा उस अहिसाणुव्रत को पालन करे। विशेषार्थ —गाय, बैल, मनुष्य आदिको रस्सी आदिमें बांधना बन्ध कहलाता है। शिक्षित और सुशील बनानेके लिये शिष्य और पुत्र आदिको जो दण्ड दिया जाता है वह अतिचार जनक नहीं है। इस श्लोकमें दिये हुए 'दुर्भावात्' पदसे यह ध्वनित होता है कि कषायोंके तीव्र उदयके वश होनेसे ही बन्ध अतिचार होता है। विनय आदि गुण सिखानेके लिये प्रयुक्त बन्ध अतिचार नहीं है। बंधके दो भेद हैं—सार्थक और निरर्थक। निरर्थक बंध तो श्रावकके द्वारा सर्वथा हेय है। सार्थक बंधके भी दो भेद हैं—साक्षेप और निरक्षेप। अपने पालतू जानवर, अग्नि आदिका उपद्रव आनेपर बंध ढीला होनेसे स्वयं अपनी रक्षा कर सकें, इस अपेक्षासे लगाये गये ढीले बन्धनको साक्षेप सार्थक बंध कहते हैं। इस बंधमें बद्ध प्राणीकी रक्षाकी जिम्मेदारी अवश्य रखना चाहिये। अथवा श्रावकको वे ही पालतू जानवर आदि

गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्तिं त्यजेद् बन्धादिना विना । भोग्यान् वा तानुपेयात्तं योजयेद्वा न निर्दयम् ॥१६
न हन्मीति व्रतं क्रुध्यन् निर्दयत्वान्न पाति न । भनक्त्यघ्नन् देशभङ्गत्राणात् त्वतिचरत्यधीः ॥१७
सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभञ्जनम् । मन्त्रतन्त्रप्रयोगाद्याः परेऽप्यूह्यास्तथाऽत्ययाः ॥१८

रखना चाहिये जो बंधके बिना ही रह सकें । वध—बेंत और चाबुक आदिसे मारना वध कहलाता है । दुर्भावोंसे बेंत वगैरह मारना अतिचार है । यदि कोई आश्रित विनय न करता हो, तो उसे इस ढंगसे चाबुक मारना चाहिये जिससे उसके मर्मस्थानोंका आघात नहीं पहुँचे तथा लता व डोरीके चाबुकसे एक दो बार ही ताड़ना देना चाहिये । इसके विपरीत करनेसे यह भी अहिंसाणुव्रतका अतिचार होता है । छेद—शरीरके नाक, कान वगैरह अवयवोंको खोटे भावोंसे निर्दयता पूर्वक काट डालनेको छेद कहते हैं । वैद्य या डाक्टर स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये सान्त्वना देते हुए रोगीके अवयवों का छेद करता है किन्तु उसकी भावना खोटी नहीं रहती । इससे वह अतिचार नहीं है । अति-भारादिरोपण—जो प्राणी जितना बोझ लाद सकता है, उससे अधिक लादना ढोना अतिभारादिरोपण नामका अतिचार है । उत्तम बात तो यही है कि श्रावक सचेतन प्राणियोंके ऊपर बोझ लादकर आजीविका ही नहीं करे । कदाचित् करना ही पड़े तो मनुष्य पर इतना बोझ लादे जिसे स्वयं लाद सके और उतार सके तथा योग्य समय पर उसे छुट्टी दे । चौपायों पर भी बोझ उनकी शक्तिसे कुछ कम लादे । हल वा गाड़ी वगैरहमें जानवरोंको जोतते समय उन्हें उचित समय पर छोड़ने और विश्राम देनेका ध्यान रखे अन्यथा अतिचार लगता है । भुक्तिरोध—दुर्भावोंसे अन्न पानके रोक देनेको भुक्तिरोध कहते हैं । बिना भोजनके प्राणी मर जाते है । इसलिए अपराधीको भय दिखानेके लिए "तेरे लिए भोजन नहीं दिया जावेगा" इस प्रकार वचनसे भले ही कहे, परन्तु समय पर उन्हें भोजन अवश्य देवे । शान्तिके लिए उपवास करना अतिचार नहीं है । जो आश्रित अपराधी वा रोगी है, उसको अन्न नहीं देना हित तथा स्वास्थ्य की दृष्टिसे लाभदायक है । इस अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, इर्यासमिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकितपानभोजन इन पाँच भावनाओंका यथाशक्य पालन करना चाहिए ॥१५॥

नैष्ठिक श्रावक गौ, बैल आदि जानवरोंके द्वारा अपनी आजीविकाको छोड़े अथवा यदि इस उत्तम पक्षको स्वीकार करनेमें असमर्थ हो तो भोग करनेके योग्य उन गौ आदि जानवरोंको बंधन, ताड़न आदिके विना ग्रहण करे, अथवा यदि यह मध्यम पक्ष भी स्वीकार करनेमें असमर्थ हो तो निर्दयतापूर्वक उनका बंधादिक नहीं करे। भावार्थ—नैष्ठिक श्रावक गाय, भैंस आदिसे आजी-विका नहीं करे । गाड़ी रखना, बैल लादना, हल जोतना इत्यादि रूपसे आजीविका नहीं करे । कदाचित् दूध-दही खाने, लादने, ढोने और जोतनेके लिये जानवरोंको पाले तो उन्हें बांधे नहीं, यदि बाँधे तो निर्दयतापूर्वक नहीं बांधे ॥१६॥ क्रोध करनेवाला अज्ञानी पुरुष दयारहित होनेसे अहिंसाणुव्रतको पालन नहीं करता है और जीवोंको साक्षात् नहीं मारनेवाला वह अहिंसाणु-व्रतका भङ्ग भी नहीं करता किन्तु व्रतके एकदेशका भंग तथा एकदेश की रक्षा करनेसे अतिचार लगाता है। भावार्थ—क्रोधी व्यक्ति जब किसीको कससे बांधने आदिमें प्रवृत्त होता है तब उसके दयाका अभाव होनेसे अन्तरंगमें तो अहिंसाव्रतका सच्चा पालन नहीं हो रहा है, परन्तु जीवको वह बाँध रहा है, साक्षात् मार रहा है, इस प्रकार एक दृष्टिसे भंग और एकदेश पालन होनेके कारण बंधादि करनेपर अतिचार दोष × लगता है ॥१७॥ व्रतमें

**मन्त्रादिनापि बन्धादिः कृतो रज्ज्वादिवन्मलः । तत्तथा यतनीयं स्यान्न यथा मलिनं व्रतम् ॥१९
हिंस्यहिंसकहिंसातत्फलान्यालोच्य तत्त्वतः । हिंसां तथोज्झेन्न यथा प्रतिज्ञाभङ्गमाप्नुयात् ॥२०
प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः । प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसञ्चयः ॥२१
कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात् । नित्योदयां दयां कुर्यात् पापध्वान्तरविप्रभाम् ॥२२**

अपेक्षा रखनेवाले व्यक्तिका व्रतका एकदेश भंग होना अतिचार कहलाता है। मंत्र-तंत्रके प्रयोग हैं आदिमें जिनके ऐसे दुष्ट कर्मोंके कारणभूत ध्यानादि दूसरे शास्त्रोंमें कहे गये खोटे कर्म भी व्रतकी अपेक्षापूर्वक उसके एकदेश भंग होने रूप प्रकारसे अतीचार समझना चाहिये। भावार्थ—व्रतमें अपेक्षा रखनेवाले व्यक्तिका अन्तरग व बहिरंग किसी एक वृत्तिसे व्रतका भंग होना अतिचार कहलाता है। इसलिए उक्त पांच अतिचारके अतिरिक्त मंत्र-तन्त्र आदिकके द्वारा किये गये किसी प्राणीके बंध आदिक भी अतिचार है। इष्टक्रियाके सिद्ध करनेमें समर्थ विशिष्ट अक्षरोंके समूहको मंत्र तथा सिद्ध औषधियोंको तत्र कहते हैं ॥१८॥ मत्रादिकके द्वारा भी किया गया बंधादिक रस्सी आदि से किये गये बंधकी तरह अतिचार होता है। इसलिये उस प्रकारसे यत्नत्रपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिये जिस प्रकारसे व्रत मलिन या अतिचार सहित नहीं होवे। भावार्थ—जैसे रस्सी आदिसे किमी का बांधना आदि अतिचार बताया है, उसी प्रकार मंत्र-तंत्र आदिके द्वारा किया गया बंध आदि भी अतिचार है। क्योंकि मंत्र तंत्र आदिके द्वारा किये गये बंध आदिमें भी व्रतका एकदेश भंग और पालन होनेसे अतिचारका लक्षण घट जाता है। इसलिए प्रत्येक व्रतको भावनाओं पूर्वक तथा प्रमाद-परिहार पूर्वक इस तरह पालन करना चाहिये, जिससे लिये हुए व्रत मलिन नहीं होने पावें ॥१९॥ श्रावक यथार्थ रीतिसे हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलको विचार करके हिंसाको उस प्रकार-से छोड़े जिस प्रकारसे व्रतोंको ग्रहण करनेवाला वह श्रावक प्रतिज्ञाके भंगको प्राप्त नहीं होवे। भावार्थ—हिंसा किसकी होती है, हिंसक कौन है, हिंसा किसे कहते है? हिंसाका क्या फल है, इन बातोंका गुरु और अन्य विद्वानोंके साथ तत्त्वदृष्टिसे खूब विचार करके अहिंसाणुव्रती हिंसाका इस रीतिसे त्याग करे कि जिमसे उसकी गृहीत प्रतिज्ञाका भंग नहीं होने पावे ॥२०॥ कषायसे युक्त आत्मा हिंसक है। द्रव्य और भाव रूप प्राण हिंस्य कहलाते है उन द्रव्यभावरूप प्राणोंका वियोग करना हिंसा है और खोटे कर्मोंका बंध हिंसाका फल है। भावार्थ—प्रमादसहित परिणामयुक्त व्यक्ति हिंसक कहलाता है। द्रव्य और भाव प्राण हिंस्य है। प्राणोका वियोग हिंसा कहलातो है। और नाना प्रकारके पापका बध हिंसाका फल है ॥२१॥

अहिंसाणुव्रतकी निर्मलताका इच्छुक श्रावक कषाय, विकथा, निद्रा, मोह और इन्द्रियोंके विधिपूर्वक निग्रह करनेसे पापरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यकी प्रभाके समान तथा सदैव ही प्रकाशित रहनेवाली दयाको करे। भावार्थ—पंद्रह प्रमादोंको जीतकर पापरूपी अन्धकार को नाश करनेके लिए सूर्यकी कान्तिके समान सदा उदित रहनेवाली दया करना चाहिये। दया भावकी वृद्धिके लिए क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें, भोजनकथा; स्त्रीकथा; देशकथा और राजकथा ये चार विकथायें, निद्रा, प्रणय और पांच इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति इन पन्द्रह प्रमादोंका त्याग आवश्यक है। यह मेरा है, इस प्रकारका संकल्प प्रणय कहलाता है। निद्रा और चारों कषाय प्रसिद्ध है। विकथाओंका स्वरूप इस प्रकार है—ये चावल बढ़िया और मोहक है। मुझे अच्छी तरह खाना चाहिये, तुम खाओ, जो लोग खाते हैं, वे बहुत अच्छा करते हैं। इस प्रकार भोजनकी

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत । भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ।।२३
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ।।२४
जलोदरादिकृद्यूकाद्यङ्कमप्रेक्ष्यजन्तुकम् । प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ।।२५

कथाको भोजन (भक्त) कथा कहते हैं। कर्नाटक देशकी स्त्रियाँ भोगविलासके समय उपचार करनेमें चतुर होती हैं, लाट देशकी स्त्रियाँ चतुर और प्यारी होती हैं। काश्मीर और कामरूप देशकी स्त्रियाँ बहुत ही सुन्दर होती हैं। अमुक स्त्रियोंके हाव-भाव पहनाव या कटाक्ष बहुत बढ़िया होते हैं। इत्यादि स्त्रियोंकी कथाको 'स्त्रीकथा' कहते हैं। दक्षिणदेश बढ़िया भोजन और बढ़िया भोग-विलासकी सामग्रीसे युक्त है। पूर्व देशमें गुड़, खांड़, धान और नाना प्रकारके मद्य तैयार होते हैं। उत्तरदेशके मनुष्य शूरवीर, घोड़े घौड़ लगाने वाले, गेहुँओंकी अधिकता और मेवा वगैरहसे भरपूर हैं। पश्चिमदेशमें कोमल कपड़े, ईखोंकी सुलभता आदि है। इस प्रकार देशकी कथाको राष्ट्रकथा कहते हैं। हमारे राजा शूर और दानी हैं, इनके ज्यादह घोड़े और हाथी हैं—इत्यादि राजाकी कथाको राजकथा कहते है। ये भोजन खराब है, अमुक स्त्रियाँ खूबसूरत नही हैं, अमुक देश खराब है और अमुक राजा खराब है। इस प्रकार विकथाओंका निन्दाके रूपमें भी प्रतिपादन किया जा सकता है ।।२२।। यदि बन्ध और मोक्ष परिणाम ही हैं प्रधान कारण जिनका ऐसे अर्थात् भावोंके अधीन नहीं होवें तो सब ओरसे जीवोंके द्वारा भरे हुए संसारमें कहाँ पर चेष्टा करनेवाला कौन मुमुक्षु पुरुष मोक्षको प्राप्त कर सकेगा अर्थात् कोई भी नहीं। भावार्थ—लोक जीवोंसे ठसाठस भरा है। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ सम्मूर्च्छन जीव नहीं हों, ऐसी हालतमें प्राणोंसे जीवहिंसा हुए बिना रह नहीं सकती। परन्तु यदि बन्ध और मोक्ष भावके अधीन नही माने होते तो कहाँ रहकर कौन मुक्ति प्राप्त कर सकता था। किन्तु जैन शासनमें बन्ध और मोक्ष भावों पर आश्रित हैं, अतः प्रमत्तजीव बन्धता है। और अप्रमत्त जीव मुक्तिको प्राप्त करता है ।।२३।। व्रतोंका पालक श्रावक अहिंसाणुव्रतको रक्षाके लिये धैर्यसे युक्त होता हुआ रात्रिमें मन, वचन, कायसे चारों ही प्रकारके भी आहारको जीवन पर्यन्तके लिये छोड़े। विशेषार्थ—अन्न, पान, लेह्य और खाद्य ये चार प्रकारके आहार हैं। अहिंसाव्रतको रक्षा और मूलगुणोंको विशुद्धिके लिये श्रावक साहसी बनकर मन वचन कायसे रात्रिमें चारों प्रकारके आहारोंका परित्याग करे ।।२४।। आश्चर्य है कि जलोदर आदिक रोगोंका करनेवाले जूँ वगैरह हैं मध्य में जिसके ऐसे, नही दिखाई देते हैं जन्तु जिसमें ऐसे, और प्रेतादिकके द्वारा उच्छिष्ट भोजनको और त्यागी हुई वस्तुको भी रात्रिमें खाने वाला पुरुष अपनेको सुखी मानता है। विशेषार्थ—(१) सूर्यका प्रकाश नही होनेसे भोजनके ग्रासमें जलोदर आदि रोगोत्पादक जूँ आदि देखे नही जा सकनेके कारण खानेमें आ सकते है। (२) जल घी आदिमें मिले हुए छोटे छोटे कीड़े देखे नहीं जा सकते। (३) खजूर आदिमें लिपटे हुए छोटे छोटे कीड़े नही दिखते। (४) परोसने आदिके लिये चलने फिरनेमें जीवोंका घात सम्भव है। (५) क्षुद्र व्यन्तरादिकों द्वारा भी भोजन उच्छिष्ट पाया जा सकता है। (६) त्यागी हुई वस्तु मिश्रित होने पर पहचानी नहीं जा सकती। इसलिये रात्रिमें भोजन करना कल्याणकारक नहीं हो सकता। इसके सिवाय पेटमें गया जूँ जलोदर रोग, मकड़ी कुष्ट रोग, मक्खी वमन, विच्छू तालुगतरोग, कुण्टक नामका कीड़ा और एक विशेष प्रकारका काष्ठका टुकड़ा गलरोग तथा बाल (केश) स्वर-भंग रोग कर देता है ।।२५।।

त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य रामं लिप्ये वधादिकृदघैस्तदिति श्रितोऽपि ।
सौमित्रिरन्यशपथान् वनमालयैकं दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन् ॥२६
यत्र सत्पात्रदानादि किञ्चित्सत्कर्म नेष्यते । कोऽद्यात्तत्रात्ययमये स्वहितैषी दिनात्यये ॥२७
भुञ्जतेऽह्नः सकृद्वर्या द्विर्मध्याः पशुवत्परे । रात्र्यहस्तद्व्रतगुणान् ब्रह्मोद्यानावगामुकाः ॥२८
योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्तमुहूर्तौ रात्रिवत्सदा । स वर्ण्येतोपवासेन स्वजन्मार्धं नयन् कियत् ॥२९

सुना जाता है कि यदि रामचन्द्रजोको सुव्यवस्थित करके मैं फिरसे तुमको प्राप्त नहीं होऊं अर्थात् तुम्हारे पास नहीं आऊं तो मै हिंसा आदिको करनेवाले पुरुषोके पापोसे लिप्त होऊँ इस प्रकारसे दूसरी प्रतिज्ञाओंको ग्रहण करनेवाला भी लक्ष्मण इस लोकमें वनमालाके द्वारा दूसरी प्रतिज्ञाओंसे रहित एक रात्रिमें भोजन करनेवाले पुरुषोंके पापोंसे लिप्त होने रूप प्रतिज्ञाको प्रेरित किये गये। भावार्थ—कैकेयीकी कुटिलतावश दशरथके द्वारा वनवास प्राप्त होनेपर जब लक्ष्मण और सीताके साथ राम वनको गये तब कुछ ही समय पूर्व कूर्चनगरके अधिपति राजा महीधरकी कन्याके साथ लक्ष्मणका विवाह हुआ था। जब वनमालाको लक्ष्मणका वनवास ज्ञात हुआ तो वियोगसे विह्वल हो वह आत्मघातको उद्यत हुई। इसी समय अकस्मात् लक्ष्मणसे भेंट हो गई, तब उसने उनके साथ चलनेका आग्रह किया। तब वनमालाको समझाने लगे कि मैं रामचन्द्रजीको इष्टस्थानपर पहुंचाकर वापिस आता हूँ। परन्तु जब वह सन्तुष्ट नहीं हुई तब लक्ष्मण ने उसे विश्वास दिलानेके लिये गोहत्या स्त्रीवध आदिके पापोंसे लिप्त होनेकी अनेक शपथें खाई, किन्तु वनमालाने लक्ष्मणसे यह शपथ कराई कि "रामको इष्ट स्थानमें पहुंचाकर यदि मैं वापिस नहीं आऊँ तो रात्रिभोजनके पापसे लिप्त होऊँ।" इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमें रात्रिभोजन बड़ा भारी पाप समझा जाता था। इसलिये रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिये ॥२६॥ जिस रात्रिके समय सत्पात्रदान, स्नान और देवपूजा आदि कोई भी शुभकर्म नही किया जाता है उस पापपूर्ण रात्रिके समयमें कौन अपने हितको चाहनेवाला पुरुष भोजन करेगा? अर्थात् कोई भी नहीं करेगा। भावार्थ—रात्रिका समय अनेक दोषमय है। उसमे जैनोंकी तो बात ही क्या, जैनेतरोंमें भी पात्रदान, स्नान, देवपूजा, आहुति, श्राद्ध और भोजन आदि शुभकर्म नही किये जाते। ऐसी दशामें लोकद्वयमें आत्मकल्याणके इच्छुक जैन श्रावकको रात्रिमें भोजन भूल करके भी नहीं करना चाहिए ॥२७॥ उत्तम पुरुष दिनमें एक बार, मध्यम पुरुष दो बार और सर्वज्ञके द्वारा कहे गये रात्रिभोजनत्याग व्रतके गुणोंको नहीं जाननेवाले जघन्य पुरुष पशुओंकी तरह रात दिन खाते हैं ॥२८॥ जो पुरुष सदा ही रात्रिकी तरह दिनके आदि और अन्तिम मुहूर्तको छोड़ता हुआ भोजन करता है अपने आधे जन्मको उपवासके द्वारा व्यतीत करनेवाला वह पुरुष कितना प्रशंसित किया जावे? अर्थात् वह अत्यधिक प्रशंसाका पात्र है ॥२९॥ व्रतोंको पालन करनेवाला गृहस्थ अतिप्रसङ्ग दोषको दूर करनेके लिये तथा तपको बढ़ानेके लिए व्रतरूपी बीजकी रक्षा करनेके लिये बाड़के समान व्रतोंको रक्षाके कारणभूत भोजनके अन्तरायोंको पाले। विशेषार्थ—जैसे खेतकी रक्षा उसके चारों तरफ की गई बाड़से होती है। उसी प्रकार रात्रिभोजन त्यागरूप व्रतकी रक्षा उसके अन्तरायोंको दूर करनेसे होती है। यदि व्रती श्रावक इन अन्तरायोंको नहीं पालेगा तो उसके अतिप्रसङ्ग दोष आवेगा और उसके जीवनमें तपकी वृद्धि नहीं हो सकेगी। भोजन करते समय शिथिलताके कारण अन्तरायका लक्ष्य नहीं रखा जायगा, तो

अतिप्रसङ्गमसितुं परिवर्धयितुं तपः । व्रतबीजवृतीर्भुक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥३०
दृष्ट्वाऽऽर्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयपूर्वकम् । स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्क-चर्मास्थिशुनकादिकम् ॥३१
श्रुत्वाऽतिकर्कशाक्रन्दविड्वरप्रायनिःस्वनम् । भुक्त्वा नियमितं वस्तु भोज्येऽशक्यविवेचनैः ॥३२
संसृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वा बहुभिर्मृतैः । इदं मांसमिति दृष्ट-सङ्कल्पे चाशनं त्यजेत् ॥३३
गृद्ध्यै हुङ्कारादिसञ्ज्ञां संक्लेशं च पुरोऽनु च । मुञ्चन्मौनमदन्कुर्यात् तपःसंयमबृंहणम् ॥३४
अभिमानावने गृद्धिरोधाद् वर्धयते तपः । मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥३५
शुद्धमौनान्मनःसिद्ध्या शुक्लध्यानाय कल्पते । वाक्सिद्ध्या युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय च ॥३६

मनुष्य की लोलुपताकी सीमा नहीं रह सकेगी और वह भोजनके विषयमें कितना शिथिलाचारी हो जावेगा, यह कहा नहीं जा सकता। इस प्रकारके दोषको 'अतिप्रसङ्ग' दोष कहते हैं। इच्छा-निरोधको तप कहते हैं। भोजन करनेकी तैयारी हो चुकी है और ऐसे समयमें यदि अन्तराय आ जाय तथा उसके आते ही अन्न, जल छोड़ दिया जावे तो स्वाभाविक रीतिसे इच्छानिरोध होकर श्रावकका तप बन जाता है। इसलिये अन्तराय टालकर भोजन करना चाहिये। इससे व्रतोंकी रक्षा होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥३०॥ व्रती गृहस्थ गीला चमड़ा, हड्डी, मदिरा, मांस, खून तथा पीब आदि पदार्थोंको देख करके, रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, सूखी हड्डी, कुत्ता, बिल्ली व चांडाल आदिको स्पर्श करके, अत्यन्त कठोर शब्दोंको और विड्वर प्रायशब्दोंको सुनकर तथा त्यागी हुई वस्तुको खाकरके खाने योग्य पदार्थ से—अशक्य है अलग करना जिनका ऐसे त्रस आदि जीवोंसे अथवा तीन चार आदि मरे हुए जीवोंसे खाने योग्य पदार्थके मिल जानेपर और यह खाने योग्य पदार्थ मांसके समान है इस प्रकारसे मनके द्वारा सङ्कल्प होनेपर भोजनको छोड़े। विशेषार्थ—सिर काटो इत्यादि वचनको कर्कश वचन कहते है। हाय हाय इत्यादि वचनको आर्तस्वर कहते है। शत्रुकी सेना चढ़ आई इत्यादि आतङ्क उत्पादक वचनको विड्वरप्राय शब्द कहते हैं। जिनके कारण भोजन त्याज्य होता है इन्हे अन्तराय कहते है ॥३१॥

खाने योग्य पदार्थकी प्राप्तिके लिए अथवा भोजन विषयक इच्छाको प्रगट करनेके लिये हुँकारना और ललकारना आदि इशारोंको तथा भोजनके पीछे संक्लेशको छोड़ता हुआ भोजन करनेवाला व्रती श्रावक तप और संयमको बढ़ानेवाले मौनको करे। भावार्थ—मौनसे तप और संयमकी वृद्धि होती है। इसलिये व्रती श्रावक भोजन करते समय मौनका पालन करे। तथा किसी वस्तुकी लोलुपतासे 'हूँ हूँ' करना, अँगुलीका इशारा करना, खांसना, खखारना, भौंहें चलाना, सिर मटकाना इत्यादि इशारे का त्याग करे। लोग भोजन कराते समय परोसने आदि का ख्याल नहीं रखते अथवा परवाह नहीं करते इत्यादि रूपसे भोजनके आगे या पीछे संक्लेश नहीं करे ॥३४॥ मौन स्वाभिमान की अर्थात् अयाचकत्व रूप व्रतकी रक्षा होनेसे तथा भोजन विषयक लोलुपताके निरोधसे तपको बढ़ाता है और श्रुतज्ञानकी विनयके सम्बन्धसे पुण्यको बढ़ाता है। भावार्थ—मौनपूर्वक भोजन करनेसे मौनीके स्वाभिमानकी रक्षा होती है, याचनाजनित दोष नहीं लगता, सन्तोषके कारण भोजन विषयक लोलुपताका निरोध होता है इससे तपकी वृद्धि होती है तथा भोजनादिकमें मौन रखनेसे शब्दात्मक द्रव्यश्रुतकी विनय पलती है इसलिये कल्याणकी वृद्धि होती है ॥३५॥ श्रावक और मुनि निरतिचार मौनव्रत पालनसे मनकी सिद्धिके द्वारा शुक्लध्यानके लिये समर्थ होता है और वचनकी सिद्धिके द्वारा एक ही कालमें तीनों लोकोंके भव्यजीवोंका उपकार

उद्योतनं महेनैकघण्टादानं जिनालये। असार्वकालिके मौने निर्वाहः सार्वकालिके ॥३७
आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये च वान्तिवत्। मौनं कुर्वीत शश्वद्वा भूयोवाग्दोषविच्छिदे ॥३८
कन्यागोक्ष्मालीक-कूटसाक्ष्यन्यासापलापवत्। स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥३९
लोकयात्रानुरोधित्वात् सत्यसत्यादिवाक्त्रयम्। ब्रूयादसत्यासत्यं तु तद्विरोधान्न जातुचित् ॥४०

करनेके लिये समर्थ होता है। भावार्थ—साधु तथा श्रावकके भोजनादिके समय निरतिचार मौनव्रतके पालनसे मनकी सिद्धि होती है, जिससे वे शुक्लध्यानके लिये समर्थ होते हैं। यथा वाक्सिद्धि भी प्राप्त होती है, जिसके प्रसादसे केवलज्ञान या दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश देनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥३६॥ अपनी शक्तिके अनुसार किसी नियत कालके लिये ग्रहण किये गये मौनव्रतमें बड़े भारी उत्सव अथवा पूजनके साथ जिनमन्दिरमें एक घंटाका दान करना उद्यापन है और जीवन पर्यन्तके लिये ग्रहण किये गये मौनव्रतमें उस मौनका निराकुल रीतिसे पालन करना उद्यापन ही है। भावार्थ—परिमित कालके लिये गृहीत मौनको असार्वकालिक मौनव्रत और यावज्जीवके लिये गृहीत मौनको सार्वकालिक मौनव्रत कहते हैं। असार्वकालिक मौनव्रतका ही उद्यापन किया जाता है। और उत्सव या जिनपूजन पूर्वक जिनमन्दिरमें एक 'घंटा' दान करना ही उसका उद्यापन है। सार्वकालिक मौनव्रतमें यावज्जीव मौनका पालन करना ही उद्यापन है ॥३७॥ श्रावक या मुनि वमनकी तरह सामायिक आदि छह आवश्यकोंमें मलमूत्रके क्षेपण करनेमें, पापके कार्योंमें और स्नान, भोजन तथा मैथुन आदिकमें मौनको करे अथवा बहुतसे वचन सम्बन्धी दोषोंको दूर करनेके लिये निरन्तर ही मौनको करे ॥३८॥ व्रती श्रावक कन्या-अलीक, गो-अलीक, पृथ्वी-अलीक, कूटसाक्ष्य और न्यासापलापकी तरह अपने तथा परको विपत्तिके हेतु सत्यको भी छोड़ता हुआ सत्याणुव्रतधारी कहलाता है। विशेषार्थ—कन्या-अलीक, गोअलीक, पृथ्वीअलीक, कूटसाक्ष्य और न्यासापलाप रूप वचनका नहीं बोलना तथा जिसके बोलनेसे अपने तथा दूसरेपर विपदा आनेकी सम्भावना हो ऐसा सत्य भी नहीं बोलना और बोलनेके लिये दूसरेको प्रेरणा भी नहीं करना सत्याणुव्रत कहलाता है। जिस कन्याके साथ किसी कुमारकी शादीकी बातचीत चल रही हो या होनेवाली हो उसके विषयमें विवाद उपस्थित होनेपर विपरीत बोलना 'कन्या-अलीक' कहलाता है। यहाँ 'कन्याशब्द' द्विपदका उपलक्षण है। इसलिये इसी प्रकारके अन्य द्विपदोंके सम्बन्धमें झूठ बोलना भी कन्या-अलीकमें गर्भित होता है। गायकी बिक्रीके समय या खरीदते समय कम दूध देनेवालीको अधिक दूध देनेवाली और अधिक दूध देने वालीको कम दूध देनेवाली बताना 'गो अलीक' नामक असत्य है। यहाँ पर 'गोशब्द' उपलक्षण है इसलिये सम्पूर्ण चौपायों सम्बन्धी झूठका ग्रहण करना चाहिये। खेत, जमीदारी वा वृक्ष वगैरह चीजोंके सम्बन्धका झूठ 'क्षमालीक' कहलाता है। रिश्वत वगैरह लेकर अथवा मात्सर्यसे झूठी गवाही देना 'कूटसाक्ष्य' कहलाता है। झूठी गवाही देनेवालेके द्वारा दूसरेके द्वारा किये गये पापोंका समर्थन होता है इसलिये यह धर्म-विरुद्ध है। सुरक्षित रहनेको इच्छासे किसीके पास जेवर वगैरह धरोहर रखना 'न्यास' कहलाता है। न्यासके सम्बन्धमें झूठ बोलना 'न्यासापलाप' कहलाता है। सत्याणुव्रतीको इन सबका त्याग करना चाहिए ॥३९॥

सत्याणुव्रतका पालक श्रावक लोकव्यवहारके विरुद्ध नहीं होनेसे सत्यसत्य आदिक तीन प्रकारके वचनोंको बोले। किन्तु लोकव्यवहारके विरुद्ध होनेसे असत्यासत्य वचनको कभी भी नहीं

यद्वस्तु यद्देशकालप्रमाकारं प्रतिश्रुतम् । तस्मिंस्तथैव संवादि सत्यसत्यं वचो वदेत् ॥४१॥
असत्यं वय वासोऽन्धो रन्धयेत्यादि सत्यगम् । वाच्यं कालातिक्रमेण दानात्सत्यमसत्यगम् ॥४२
यत्स्वस्य नास्ति तत्कल्ये दास्यामीत्यादिसंविदा । व्यवहारं विरुन्धानं नासत्यासत्यमालपेत् ॥४३
मोक्तुं भोगोपभोगाङ्गमात्रं सावद्यमक्षमाः । ये तेऽप्यन्यत्सदा सर्वं हिंसेत्युज्झन्तु वानृतम् ॥४४
मिथ्यादिशं रहोऽभ्याख्यां कूटलेखक्रियां त्यजेत् । न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञां मन्त्रभेदं च तद्व्रतः ॥४५

बोले। भावार्थ—वचन चार प्रकारका है—सत्यसत्य, सत्यासत्य, असत्यसत्य और असत्यासत्य। इनमेंसे प्रारम्भिक तीन वचन ही बोलना चाहिये; जिससे लोकव्यवहार नहीं बिगड़ने पावे किन्तु अन्तिम असत्यासत्य वचन कभी भी नहीं बोलना चाहिये, क्योंकि इसके बोलनेसे लोकव्यवहार बिगड़ जाता है ॥४०॥ जो वस्तु जिस देश, काल, प्रमाण और आकार वाली प्रसिद्ध है उस वस्तुके विषयमें उसी देश, काल, प्रमाण और आकार रूप कथन करनेवाले सत्यसत्य वचनको बोलना चाहिये। भावार्थ—जो वस्तु जिस देश या कालमें जितनी संख्या वाली और जिस आकार हो उसको उसी देश वा उसी कालमें उतनी हो संख्या वाली और उसी आकार रूप कहना 'सत्यसत्य' वचन कहलाता है। यह वचन बोलने योग्य होता है ॥४१॥ सत्याणुव्रतके पालक श्रावकके द्वारा 'वस्त्रको बुनो, भातको पकाओ' इत्यादिक सत्यसूचक असत्य वचन तथा कालकी मर्यादाका उल्लघन करके देनेसे असत्यसूचक सत्य वचन बोलने योग्य है। भावार्थ—सत्यसूचक असत्य वचनको सत्यासत्य कहते हैं। हे कोरो ! तुम कपड़ा बुनो, हे भाई ! तुम भात बनाओ इत्यादि असत्यकी ओर झुकने वाला सत्य असत्यसत्य कहलाता है। जैसे किसीका रुपया १५ दिनमें चुकानेका वायदा करके अधिक समयमें चुकाना। ये दोनो प्रकारके वचन बोलने योग्य हैं। क्योंकि इनमें लोकव्यवहार नहीं बिगड़ता ॥४२॥ सत्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक जो वस्तु अपनी नही है वह वस्तु मैं तुम्हारे लिये प्रातः काल दूँगा, इत्यादि रूप प्रतिज्ञाके द्वारा लोकव्यवहारको बाधा देने वाले असत्यासत्य वचनको नही बोले ॥४३॥ जो केवल भोग और उपभोगके साधनभूत सावद्य वचनको छोड़नेके लिये असमर्थ हैं वे पुरुष भोगोपभोगके साधनभूत सावद्य वचनोंको छोड़ करके अन्य सब प्रकारके भी सावद्य वचनको हिंसा ऐसा मान कर सदैवके लिये त्याग करें ॥४४॥ सत्याणुव्रतका पालक, श्रावक मिथ्यापदेशको, रहोऽभ्याख्याको, कूटलेखक्रियाको, न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञाको तथा मत्र-भेदको छोड़े। विशेषार्थ—मिथ्योपदेश, रहोऽभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा और मन्त्रभेद ये पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार है। सत्याणुव्रतीको इनका परित्याग करना चाहिये। मिथ्योपदेश—अभ्युदय और मोक्षसे सम्बन्ध रखने वाली क्रियाके विषयमें सन्देह होने पर 'किस प्रकारकी प्रवृत्ति करनी चाहिये' ऐसा प्रश्न होने पर समझदारीके बिना विपरीत मार्गका उपदेश देना अथवा प्रमादके वश होकर परपीड़ाकारक उपदेश देना अथवा विवादके उपस्थित होने पर स्वयं वा दूसरेके द्वारा किसी एकको ठगनेका उपाय बताना मिथ्योपदेश कहलाता है। परन्तु जान-बूझ कर मिथ्योपदेश करना अनाचार है। रहोभ्याख्या—एकान्तमें स्त्री पुरुषोंकी आपसमें होने वाली चेष्टाओंको हास्य तथा विनोद आदिसे प्रगट करना उन दम्पती तथा दूसरोंके लिये रागवर्धक होनेसे अतिचार है परन्तु किसी प्रकारकी हठसे या रागादिकके आवेशसे उनकी चेष्टाओंका प्रगट करना अनाचार है। कूटलेखक्रिया—किसी ने न तो कहा ही है और न किया ही है केवल पर-प्रयोगसे जानकर किसीको ठगनेके लिये यह लिख देना कि उसने इस प्रकारसे कहा है अथवा किया है। कूटलेखक्रिया कहलाती है। अन्याचार्योंके मतसे दूसरोंके जैसे अक्षर या मुहर बनानेको

परस्वं चौरव्यपदेश-करस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात् ।
परमुदकादेश्चाखिलभोग्यान्न हरेद्ददीत न परस्वम् ॥४६
संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकम् । अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवम् ॥४७
नास्वामिकमिति ग्राह्यं निधानादिधनं यतः । धनस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥४८
स्वमपि स्वं मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पदम् । यदा तदादीयमानं व्रतभङ्गाय जायते ॥४९
चोरप्रयोगचोराहृतग्रहावधिकहीनमानतुलम् । प्रतिरूपकव्यवहृतिं विरुद्धराज्येऽप्यतिक्रमं जह्यात्॥५०

'कूटलेखक्रिया' कहते हैं। न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा—रखी धरोहर उठाने आये व्यक्तिसे धरोहरकी संख्या भूल जाने पर यह कहना कि इतनी ही थी न, हमें भी इतनी ही की याद है, जितनी तुम बताते हो, ले जाओ, यह न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा कहलाती है। मन्त्रभेद—अंग विकार तथा भौंहोंके निक्षेपणसे और के अभिप्रायका अनुमान लगाकर ईर्ष्यादिकके कारण प्रकट करना अथवा विश्वास-पात्र मित्रादिकके साथ अथवा अपने साथ मंत्र किये हुए लज्जा उत्पादक अभिप्रायका प्रगट कर देना 'मन्त्रभेद' कहलाता है ॥४५॥ चौर नामको करनेवाली स्थूल चोरीका है त्याग जिसके ऐसा पुरुष अर्थात् अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक मृत्युको प्राप्त हो चुके पुत्रादिकसे रहित अपने कुटुम्बी भाई वगैरहके धनसे तथा सम्पूर्ण लोगोंके द्वारा भोगने योग्य जल, घास आदि पदार्थों-से भिन्न दूसरे धनको न तो स्वयं ग्रहण करे और न दूसरोंके लिये देवे। भावार्थ—घर फोड़ कर, ताला तोड़कर या और किन्ही उपायोंसे परकी अदत्त चेतनाचेतनात्मक वस्तु न तो स्वयं ग्रहण करना और न दूसरोंको देना अचौर्याणुव्रत कहलाता है। जिसके यह व्रत होता है, वह अचौर्याणुव्रती कहलाता है। यह जिस पर अपना हक पहुँचता है ऐसे मृत कुटुम्बीके धनका तथा सर्व साधारणके लिये रुकावट रहित जलाशयके पानी और खानिकी मिट्टीको बिना दिये ले दे सकता है ॥४६॥ बिना दिये हुए अपनेसे भिन्न है स्वामी जिसका ऐसे अर्थात् दूसरेके तृणको भी रागादिकके आवेशसे ग्रहण करनेवाला अथवा दूसरेके लिये देनेवाला पुरुष निश्चयसे चोर होता है। भावार्थ—राग द्वेष पूर्वक दूसरेकी मालिकीके तिनकेको भी लेने वाला चोर है, इसमें कोई संशय नहीं। क्योंकि प्रमाद-के योगसे दूसरेकी वस्तुको स्वयं ग्रहण करने वा और को वितरण करनेमें चोरी होती है ॥४७॥ अचौर्याणुव्रतके पालक श्रावकके द्वारा यह धन स्वामिहीन है ऐसा विचार करके जमीन और नदी आदिमें रखा हुआ धन ग्रहण करने योग्य नहीं है। क्योंकि इस लोकमें जिस धनका कोई स्वामी नहीं है ऐसे धनका साधारण स्वामी राजा होता है ॥४८॥ जिस समय अपना भी धन यह धन मेरा है अथवा नहीं इस प्रकारसे संशयका स्थान होता है उस समय ग्रहण किया गया अथवा दूसरेके लिये दिया गया अपना भी धन व्रतभङ्गके लिये होता है। भावार्थ—कभी अपनी वस्तुमें भी संशय हो जाता है कि यह वस्तु मेरी है या और की ? ऐसी स्थितिमें व्रतीको उस संशयापन्न वस्तुका भी ग्रहण नहीं करना चाहिये और न उठा कर दूसरेको ही देना चाहिये। क्योंकि उस वस्तुके ग्रहण या दानसे उसका अचौर्यव्रत भंग हो जाता है ॥४९॥

अचौर्याणुव्रतका पालक श्रावक चोरोंका उपाय बतानेको और चोरके द्वारा लाई हुई वस्तुके खरीदनेको मान तथा तुलाके हीनाधिक रखनेको प्रतिरूपक-व्यवहारको और विरुद्ध-राज्यमें अतिक्रमको छोड़े। भावार्थ—चोरप्रयोग, चोराहृतग्रह, हीनाधिकमानतुल, प्रतिरूपकव्यवहार और विरुद्धराज्यातिक्रम ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। चोरप्रयोग—चोरी करने वालेको स्वयं

या दूसरेके द्वारा "तू चोरी कर" इस प्रकारकी प्रेरणा करना अथवा जिसे पहले प्रेरण की थी उसको "तू ठीक कर रहा है" इस प्रकार अनुमोदना करना अथवा चोरोंको कुश, कैंचो, गैती आदि चोरीके उपकरणोंको समर्पण करना वा बेचना इत्यादिको चोर प्रयोग कहते हैं। चोरसे यह कहना कि आज कल आप बेकार क्यों बैठे हो, यदि आपके पास भोजन वगैरह नहीं हो, तो हमसे ले जाओ। आप जो वस्तु चुराकर लाते हैं, यदि उसका कोई खरीददार आपको नहीं मिलता हो, तो मैं बेच दूंगा। इस प्रकारके वचनोंसे वह चोरको चोरीमें प्रवृत्त कराता है, परन्तु स्वयं अपनी कल्पनासे वह चोरी नहीं कर रहा है। वह अपने व्रतकी अपेक्षा रखते हुए चोरीके लिये चोरका सहायक होता है, इसलिये यह 'चोर प्रयोग' नामका अतिचार है। चोराहृतग्रह—बिना प्रेरणा या बिना अनुमोदनाके चोर द्वारा स्वयं लाई वस्तुका ग्रहण करना चोराहृतादान कहलाता है। चोरीकी वस्तु खरीदनेवाला भी चोर है। परन्तु वह अपने मनमें यह समझता है कि मैं स्वयं चोरी नहीं कर रहा हूँ, मैं तो कीमत देकर खरीद रहा हूँ। इस प्रकार व्रत सापेक्ष होनेसे तथा परिणामोंमें अदत्तादानकी ओर झुकाव होनेसे एकदेश भंगाभंग होनेके कारण यह 'चोराहृतादान' नामका अतिचार है। अधिकहीनमानतुल—कपड़े आदिका व्यवहार नापने द्वारा और धान्य आदिका व्यवहार तोलने द्वारा होता है। अपने लिये लेते समय नापने तोलनेके बड़े उपकरणोंसे वस्तुका ग्रहण करना और दूसरोंको देते समय छोटे बांट और गज आदिसे वस्तुका देना इस प्रकारके अप्रामाणिक व्यवहार को अधिकहीनमानतुल नामक अतिचार कहते हैं। क्योंकि ऐसा करनेसे दूसरेकी अदत्त वस्तुका एक प्रकारसे ग्रहण होनेसे एकदेशका भंग होता है और प्रत्यक्षमें भंग नहीं कर रहा है। उसके एकदेशसे व्रतका भंग और अभंग हो रहा है, इसलिये यह अतिचार है। प्रतिरूपकव्यवहृति—सदृश अल्पमूल्य वाली वस्तुको बहुमूल्य वस्तुमें मिलाकर व्यवहार करना प्रतिरूपकव्यवहृति नामक अतिचार है। जैसे—घीमें चरबी मिलाकर बेचना, तेलमें मूत्र मिलाकर बेचना, असली सोने चांदी में कम कीमतके सोना चांदी मिलाकर बेचना और धानमें धानका भुसा मिलाकर बेचना इत्यादि। यहां पर भी एक प्रकारसे पर द्रव्यका अदत्तग्रहण होनेसे व्रतका भंग और व्रतकी अपेक्षा मौजूद रहनेसे व्रतका अभंग मानकर अतिचार माना गया है। क्योंकि इस प्रकार अतिचार लगानेवालेकी भावना ऐसी होती है कि किसीका ताला तोड़ना या सेंध लगाना ही चोरी है, कम बढ़ तोलना और अधिक मूल्यकी वस्तुमें कम मूल्यकी वस्तु मिलाकर बेचना चोरी नहीं है, किन्तु व्यापार है। यह एक प्रकारकी व्यापारी की कला है। ऐसी भावनासे अपनी समझसे वह व्रतभङ्ग नहीं कर रहा है। विरुद्धराज्यातिक्रम—राजाका राज्य छिन जानेपर अथवा एक राजाके ऊपर दूसरे राजाका आक्रमण होनेपर राज्यकी जो स्थिति होती है उसको विरुद्धराज्यातिक्रम कहते हैं। ऐसे अवसर पर शासन की गड़बड़ रहती है। अत: अति-लोभसे उचित न्यायमार्गका उल्लंघन करके कम कीमत की चीजको अधिक कीमतमें देना और अधिक कीमतकी वस्तुको कम कीमतमें खरीदना विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतिचार है। अथवा परस्पर विरोधी राजाओंकी सीमा वा सेनाकी जो व्यवस्था होती है उसका अतिक्रम करना अर्थात् अमुक सीमातक हो परस्पर विरोधी राजाओंके आदमी जा सकते हैं; सीमाका उल्लंघन करके नहीं जा सकते, इस प्रकारकी व्यवस्थाका व्यापार आदिके लोभसे उल्लंघन करना, सीमाकी परवाह न करके दूसरेके राज्यमें आदमीको भेजना वा बुलाना विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतिचार है। क्योंकि सीमाका उल्लंघन करते समय वहाँके राजाकी आज्ञा पालन नहीं की गई, वहाँ की भूमि पर जाना एक प्रकार अदत्तका आदान हो चुका

प्रतिपक्षभावनैव न रतौ रिरंसारुजि प्रतीकारः । इत्यप्रत्ययितमना श्रयत्वहिंस्रः स्वदारसन्तोषम् ॥५१
सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ । न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥५२
सन्तापरूपो मोहाङ्गसादतृष्णानुबन्धकृत् । स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥५३
सम-रस-रस-रङ्गोद्गम-मृते च काचित् क्रिया न निर्वृतये ।
स कुतः स्यादनवस्थित-चित्ततया गच्छतः परकलत्रम् ॥५४
स्त्रियं भजन् भजत्येव रागद्वेषौ हिनस्ति च । योनिजन्तून् बहून् सूक्ष्मान् हिंस्रः स्वस्त्रीरतोऽप्यतः ॥५५

और उसकी आज्ञा भंगकी एवजमें दण्ड दिया जा सकता है, इस दृष्टिसे व्रत भङ्ग हुआ है। परन्तु मैं दूसरेकी भूमिमें आया हूँ या आदमी भेजा है, बिना ऐसा किये हमारा काम नहीं बन सकता अर्थात् खासी नफा नहीं मिल सकती, मैंने व्यापार किया है, चोरी नहीं की, इस प्रकार की भावना करता है। विरुद्धराज्यमें अतिक्रम करनेवाला अपने व्रतका भङ्ग नहीं मानता है। इसलिये भंगाभंग रूप होनेसे यह अतिचार है। इसी प्रकार विरुद्धराज्यातिक्रमके प्रथम अर्थमें भी शासनकी गड़बड़से लोभातिरेकके कारण भंग, उसकी व्यापारकी भावनासे अभग सिद्ध होनेसे अतिचार है। ये चोर प्रयोग आदि पाँचों ही अतिचार यदि साक्षात् किये जावें तो चोरीरूप हैं। कोई सामन्त अपने मालिकके यहाँ रहकर राजाके शत्रुके साथ उसको सहायता देनेकी जो क्रिया करता है वह उसका विरुद्धराज्यातिक्रम कहलाता है ॥५०॥

ब्रह्मचर्यत्वकी भावना भाना ही रमण करनेकी इच्छारूप वेदनाका प्रतिकार होता है। स्त्रीसम्भोग नहीं इस प्रकारसे उत्पन्न नहीं हुआ है चित्तमें विश्वास जिसके ऐसा अहिंसाणुव्रतका पालक श्रावक स्वदारसन्तोष नामक व्रतको स्वीकार करे। भावार्थ—मैथुनसंज्ञाकी वेदनारूपी रोगका इलाज ब्रह्मचर्य ही है, भोगोंकी ओर प्रवृत्त होना नहीं। भोग भोगनेसे यद्यपि खाज खुजानेके समान तत्काल शान्ति मालूम होती है, परन्तु उससे पुनः भोगकी तृष्णा बढती है। इसलिये जब मैथुनकी इच्छा हो तब ब्रह्मचर्यके विचारोंका आश्रय लेना चाहिये, परन्तु जिसके चित्तमें दृढता नहीं है, वह स्वदारसन्तोष व्रतको धारण करे ॥५१॥ जो गृहस्थ पापके भयसे परस्त्री और वेश्याको मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदनासे न तो स्वयं सेवन करता है न परपुरुषोंसे सेवन करवाता है वह गृहस्थ स्वदारसन्तोष नामक अणुव्रतका पालक है। भावार्थ—परस्त्री और वेश्याका पापके डरसे मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनसे न तो स्वयं सेवन करना और न दूसरोंसे सेवन कराना, केवल अपनी धर्मपत्नीमें सन्तोष रखना स्वदार सन्तोष व्रत कहलाता है ॥५२॥ यदि स्त्री-सम्भोग सन्तापको करनेवाला तथा मूर्च्छाजनक, सहनशीलतानाशक और तृष्णाका बढ़ानेवाला होता है। फिर भी यदि यह स्त्रीसम्भोग सुख माना जाता है तो ज्वरमें क्यों ईर्ष्या है? अर्थात् ज्वरको भी सुख मानना चाहिये ॥५३॥ जब समरसरूप रसरङ्गकी उत्पत्तिके बिना अर्थात् समान रतिके बिना आलिङ्गन आदि कोई भी क्रिया सुखके लिये नहीं होती तब अनवस्थित चित्तपनेसे परस्त्रीको सेवन करनेवाले पुरुषके वह समरस रूप रसरंग अर्थात् समान रति कहाँसे हो सकती है। भावार्थ—समरसरसरङ्गोद्गमका अर्थ समान रति है। वह समान रति अपनी स्त्रीके समागमसे ही प्राप्त हो सकती है। परस्त्री सम्भोगमें उसके पति, कुटुम्बी, अन्य व्यक्ति तथा जनताका भय रहता है। इस कारण चित्तकी वृत्ति स्थिर नहीं रहती इस प्रकार परस्त्री-सेवनमें समान रति जनित सुखकी सम्भावना नहीं। इसलिये इस समान रतिके बिना परस्त्रीके सम्बन्धमें की गई आलिंगन और चुम्बन आदि कोई भी क्रिया सुखरूप नहीं हो सकती ॥५४॥ स्त्रीको सेवन करनेवाला पुरुष

स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा ।
सोऽप्यद्भुतप्रभावः स्यात् किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥५६
रूपैश्वर्यकलावर्यमपि सीतेव रावणम् । परपूरुषमुज्झन्ती स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥५७
इत्वरिकागमनं परविवाहकरणं विटत्वमतीचाराः ।
स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडा च पञ्च तुर्ययमे ॥५८

राग और द्वेषको अवश्य ही सेवन करता है और वह बहुतसे सूक्ष्म योनि सम्बन्धी जीवोंको मारता है इसलिये अपनी स्त्रीको सेवन करनेवाला भी मनुष्य हिंसक होता है। भावार्थ —स्त्रीके सेवनसे राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है, इसलिये तो भावहिंसा होती है और योनिगत बहुतसे सम्मूर्च्छन जीवोका घात होता है, इसलिये द्रव्यहिंसा भी होती है। इस प्रकार अपनी स्त्रीका प्रसंग करनेवालेको भी द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका पाप लगता है॥५५॥ अपनी स्त्रीमात्रमें ही सन्तुष्ट होता हुआ जो कभी भी अन्य स्त्रियोंकी इच्छा नही करता है वह स्वदार-सन्तोषी पुरुष भी अद्भुत प्रभाव या माहात्म्य वाला होता है। फिर सम्पूर्ण स्त्रियोंमे विरक्त ब्रह्मचारीके माहात्म्यका क्या वर्णन किया जा सकता है॥५६॥ रावणको त्यागनेवाली सीताकी तरह रूप, ऐश्वर्य और कलाओंमे उत्कृष्ट अर्थात् असाधारण परपुरुषको त्यागनेवाली स्त्री देवोंके द्वारा भी पूजी जाती है। भावार्थ—जैसे सीताने रूप, ऐश्वर्य और कलाओंमें सर्व श्रेष्ठ रावणको चाह नही की थी जिससे उसका संसारमें आजतक यश विख्यात है, उसी प्रकार जो सती रूपादिक गुणोंमें श्रेष्ठ भी परपुरुषका त्याग करती है वह उभय-लोकमें देवताओंके द्वारा पूजी जाती है॥५७॥ इत्वरिकागमन, परविवाहकरण, विटत्व, कामतीव्राभिनिवेश और अनंगक्रीड़ा ये पाँच सार्वकालिक ब्रह्मचर्याणुव्रतमें अतिचार होते हैं। विशेषार्थ—इत्वरिकागमन, विटत्व, स्मरतीव्राभिनिवेश, परविवाहकरण और अनंगक्रीडा ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार है। इनका खुलासा इस प्रकार है। इत्वरिकागमन—बिना स्वामीवाली असदाचारिणी स्त्रीको इत्वरिका कहते हैं। इसके गणिका, पुँश्चली, व्यभिचारिणी, दारिका और वेश्या आदि अनेक नाम है। इत्वरिका स्त्रीके यहाँ गमन करनेवालेके यदि ऐसी भावना हो कि रुपया पैसा देकर जितने कालतक मै अपनी स्त्री समझकर सेवन करता हूँ उतने कालतक वह परस्त्री नही है, इसलिये मेरे व्रतका भंग नही होता, परन्तु वह वास्तवमें स्वपत्नी नही है, इसलिये व्रतका भंग होता है। इस प्रकार व्रतके भंग होनेसे यह अतिचार है। परविवाहकरण—अपनी स्त्रीको छोड़कर अन्य सर्व प्रकारकी स्त्रियोंके त्यागी स्वदार सन्तोषीके एवं अन्य सब प्रकारकी स्त्रियोंका त्रियोगसे सेवन और प्रेरणाके त्यागी परदारनिवृत्तिव्रतधारीके विवाह दम्पत्तियोके मैथुनका साधक होनेसे 'परविवाहकरण' निषिद्ध है। परन्तु इस प्रकार व्रत लेनेवाला अपने मनमें यह समझता है कि मैंने इन वर-वधूका विवाह ही कराया है, सम्भोग नही कराया है, इस दृष्टिसे गृहीतव्रतका अभंग है। परन्तु वास्तवमें वह विवाह मैथुनके लिए कारण है, इसलिये व्रतका भग समझना चाहिये। यह व्रत पालनेवाले दो हैं—एक सम्यग्दृष्टि दूसरा भद्रमिथ्यादृष्टि। उनमेंसे सम्यग्दृष्टि तो अज्ञानके कारण कन्यादानके फलकी इच्छासे अतिचार करता है तथा भद्रमिथ्यादृष्टि अनुग्रह की दृष्टिसे दूसरोंकी कन्या वा पुत्रोंके विवाह करके अतिचार सेवन करता है। विवाह नही करनेसे कन्या और पुत्र स्वेच्छाचारी हो जावेंगे और शास्त्र तथा लोक व्यवहारमें विरोध आवेगा। इस विचारसे ब्रह्मचर्याणुव्रतीको अपनी कन्या तथा पुत्रका विवाह करना दोषजनक नही है। परन्तु

ममेदमिति सङ्कल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु । ग्रन्थस्तत्कर्षनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रतम् ॥५९
उद्यत्क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयात्मकम् । अन्तरङ्गं जयेत्सङ्गं प्रत्यनीकप्रयोगतः ॥६०
अयोग्यासंयमस्याङ्गं सङ्गं बाह्यमपि त्यजेत् । मूर्च्छाङ्गत्वादपि त्यक्तुमशक्यं कृशयेच्छनैः ॥६१

कोई योग्य भाई बन्धु वगैरह इनके विवाहकी जिम्मेदारी ले लेवें तो व्रतीको अपनी कन्या या पुत्र का विवाह नहीं करना चाहिये। विटत्व—रागवर्धक, आसक्तिद्योतक, अश्लील वचन बोलना 'विटत्व' नामका अतिचार है। क्योंकि यह अपने सिवाय दूसरेके मनमें भी काम-भाव जागृत करता है। स्मरतीव्राभिनिवेश—कामासक्तिके कारण सब पुरुषार्थ छोड़कर एक कामसेवन व्यवसाय मान लेना। चिड़वा चिड़वीके समान अपनी स्त्रीके साथ पुनः पुनः कामसेवन तथा अनेक प्रकारकी कुचेष्टायें करना, बाजीकरण औषधियोंको खाकर मैं हाथी वा घोड़ेके समान बल प्राप्त करके भोग भोगनेमें समर्थ होऊँगा इत्यादि आसक्तिपूर्वक कामकी अधिकतामें रागद्वेष करनेको 'स्मरतीव्राभिनिवेश' कहते हैं। यह अतिचार अपनी ही स्त्रीमें अत्यासक्तिके कारण होता है। अनंगक्रीडा—अग शब्दका अर्थ स्त्रीकी योनि और पुरुषका लिंग है। इन अंगोंके सिवाय दूसरे अंगोंमें कायकृत कुचेष्टा करना अनंगक्रीडा है। अतिकामी व्यक्ति जो रागोत्पादक नाना प्रकारकी कुचेष्टाये करते है, वे सब अनंगक्रीडामें शामिल हैं। स्त्रियोंकी अपेक्षासे भी चार अतिचार तो पुरुषोंके समान होते हैं। एक 'इत्वरिका गमन' की जगह 'परपुरुष गमन' नामका अतिचार इस प्रकार समझना चाहिये कि किसी पुरुषके दो स्त्रियाँ है, उनकी सहूलियतके लिए उसने दिन नियत कर दिये है। जिस पत्नीका जो दिवस है उस पत्नीको उसी दिन अपने पतिके साथ स्त्रियोचित व्यवहार करना चाहिये। दूसरी पत्नीके दिन उसका पति इसके लिये परपुरुष ही है। यदि उस दिन इसकी वारी नहीं है और अपने पतिके साथ वह सहवास करेगी तो इसको 'परपुरुषगमन' नामका अतिचार लगेगा अथवा अपना पति जिस दिन ब्रह्मचर्य व्रतसे हो उस दिन अतिक्रम करनेवाली स्त्रीके यह प्रथम अतिचार लगेगा ॥५८॥ चेतन, अचेतन तथा चेतनाचेतनात्मक मिश्र वस्तुओंमें यह मेरी है, अथवा मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकारके सङ्कल्प, अथवा ममत्व परिणामोंका नाम परिग्रह है, तथा उस परिग्रहके कम करनेसे उन चेतन, अचेतन और मिश्र वस्तुओंका कम करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। विशेषार्थ—स्त्री पुत्र आदि सजीव वस्तुओंको चेतन, स्वर्ण और चाँदी आदि अजीव वस्तुओंको अचेतन तथा बाग बगीचा आदि उभयात्मक वस्तुओंका मिश्र परिग्रह कहते है। इन चेतन, अचेतन और मिश्र वस्तुओंमें 'यह मेरी है' इस प्रकारके सङ्कल्प (ममत्व परिणामको) परिग्रह कहते हैं और चेतन, अचेतन तथा मिश्र वस्तुओंकी मर्यादा करके मर्यादासे बाहर इन पदार्थोंमें ममत्व का परित्याग करना 'परिग्रहपरिमाणाणुव्रत' कहलाता है ॥५९॥

परिग्रह परिमाणाणुव्रतका इच्छुक श्रावक उदीयमान प्रत्याख्यानावरणादि आठ क्रोधादिक कषायस्वरूप, हास्यादिक छह नोकषायस्वरूप और स्त्रीवेदादि तीन वेदस्वरूप अन्तरंग परिग्रहको यथायोग्य उत्तमक्षमादिककी भावनाके द्वारा जीते। भावार्थ—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवद, पुवेद और नपुंसक वेद ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं। अर्थात् इन कषायोंके उदयको अन्तरंग परिग्रह कहते हैं। क्रोधादिककी प्रतिकूल उत्तमक्षमादिभावनाओंसे इनका परित्याग करना चाहिये ॥६०॥ परिग्रह परिमाण व्रतका पालक श्रावक मूर्च्छाका कारण होनेसे नहीं करने योग्य अनुचित असंयमके कारणभूत बाह्य परिग्रहको भी छोड़े और जो बाह्यपरिग्रह छोड़नेके लिए अशक्य है अर्थात् जिस बाह्य-परिग्रहको श्रावक छोड़ ही नहीं

देशसमयात्मजात्याद्यपेक्षयेच्छां नियम्य परिमायात् ।
वास्त्वादिकमामरणात् परिमितमपि शक्तितः पुनः कृशयेत् ॥६२
अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः । आरम्भमकराम्भोधिरहो श्रेयः परिग्रहः ॥६३
वास्तुक्षेत्रे योगाद् धनधान्ये बन्धनात् कनकरूप्ये ।
दानात्कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात् ॥६४

सकता है उस बाह्यपरिग्रहको धीरे-धीरे कम करे। भावार्थ—बाह्यपरिग्रह, श्रावकके पदके अयोग्य असंयमके कारण होते हैं इसलिये बाह्यपरिग्रहका भी त्याग करना चाहिए। और जो बाह्यपरिग्रह गृहस्थाश्रममें अत्यावश्यक है उसका आगम परिपाटी तथा कालकी मर्यादाके क्रमसे धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए। क्योंकि परिग्रह संज्ञा अनादिकालसे लगी है इसलिये उसका सहसा त्याग नहीं हो सकता। और किसीने कर भी दिया तो संज्ञाकी वासनासे उसके त्यागके भंगकी सम्भावना रहती है। इसलिये श्रावकको बाह्यपरिग्रहका त्याग आगम परिपाटीके अनुसार कालक्रमसे धीरे-धीरे करना चाहिये। त्रसवध, व्यर्थस्थावरवध और परदारगमन आदिक अयोग्यासंयम शब्दसे कहे जाते हैं। ये श्रावक पदके योग्य नहीं होते और इनसे संयमका घात होता है ॥६१॥ परिग्रह परिमाणाणुव्रतका पालक श्रावक देश, काल, आत्मा और जाति आदिकी अपेक्षासे परिग्रह-विषयक तृष्णाको सन्तोषकी भावनाओं द्वारा रोक करके वास्त्वादिक दश प्रकारके परिग्रहको जीवनपर्यन्तके लिये परिमाण करे। और परिमित परिग्रहको भी अपनी शक्तिके अनुसार कम करे। भावार्थ—वास्तु, क्षेत्र, धन, धान्य, चतुष्पद, द्विपद, शयन, आसन, वाहन और कुप्य ये दस बाह्यपरिग्रह हैं। देश, काल, अपनी आत्मा, जाति, कुल, अवस्था और पदवीके अनुसार इन दस प्रकारके बाह्यपरिग्रहोंके विषयमें अपनी इच्छाका निग्रह करके जन्म भरके लिए परिमाण करे तथा परिमाण करनेके बाद भी ज्यों-ज्यों त्यागकी शक्ति बढ़ती जावे त्यों-त्यों धीरे-धीरे इनको कृश करता जावे ॥६२॥ अविश्वास रूपी अन्धकारके लिए रात्रिके समान, लोभरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए घीकी आहुतिके समान और आरम्भ रूपी मगरमच्छ वगैरहके लिए समुद्रके समान परिग्रह कल्याण करने वाला या सेवन करने योग्य है। यह बड़ा आश्चर्य है। भावार्थ—जैसे रात्रिमें अन्धकार बढ़ता है, वैसे ही परिग्रहके कारण अविश्वास बढ़ता है। जैसे घी डालनेसे आग बढ़ती है उसी प्रकार परिग्रह के लोभसे परिग्रह बढ़ता है। जैसे समुद्रमें मगर स्वच्छन्द होकर विचरता है, वैसे ही परिग्रहके रहते हुए आरम्भको फैलनेकी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, ऐसा परिग्रह हितकारक माना जाता है, यह बड़े आश्चर्यका बात है ॥६३॥ परिग्रह परिमाणाणुव्रतका पालक श्रावक मकान और खेतके विषय में अन्य मकान और अन्य खेतके सम्बन्धसे, धन और धान्यके विषयमें ब्याना बाँधनेसे, स्वण और चाँदीके विषयमें धरोहर रखने या दान देनेसे, स्वर्ण और चाँदीसे भिन्न धातु वगैरहके बर्तनोंके विषयमें मिश्रण या परिवर्तनसे गाय बैल आदिके विषयमें गर्भसे मर्यादाको उल्लङ्घन नहीं करे। विशेषार्थ—वास्तुक्षेत्रयोग, धनधान्यबन्धन, कनकरूप्यदान, कुप्यभाव और गवादिगर्भ ये पाँच परिग्रह परिमाणाणुव्रतके अतिचार हैं। वास्तुक्षेत्र योगातिचार—वास्तुका अर्थ घर ग्राम नगर आदि है। घर तीन प्रकारके होते हैं—तलघर, प्रासाद और जो नीचे भी बनाये जाते हैं और जिनमें ऊपरी मंजिल बनाई जाती है। खेत भी तीन प्रकारके होते हैं—जिन खेतोंमें सिंचाई रांहट वगैरहसे की जाती है ऐसे बाग-बगीचेके खेत सेतुखेत कहलाते हैं। जिनकी सिंचाई आकाशके पानीसे ही होती है उनको केतुखेत कहते हैं और जिनकी सिंचाई आकाश तथा कुआं दोनोंके पानी

यः परिग्रहसंख्यानव्रतं पालयतेऽमलम् । जयवज्जितलोभोऽसौ पूजातिशयमश्नुते ॥६५

से की जाती है । उनको सेतुकेतुखेत कहते हैं । जीवन-पर्यन्त या नियतकालतकको देवादिकके समक्ष गृहीत घर वा खेतकी मर्यादाका घरसे घर जोड़कर और खेतकी बारी या मेढ़ काटकर (खेतसे खेत जोड़कर) उल्लंघन करना वास्तुक्षेत्रयोग नामका अतिचार कहलाता है । इसमें इस प्रकारके भावसे मर्यादा बढ़ाई जाती है कि मैने तो केवल अपने घर अथवा खेतको बढ़ाया है, मर्यादाके समय जितने घर वा खेत रखे थे उनकी संख्याका उल्लंघन कब किया है ? इस प्रकार व्रतकी अपेक्षा रखनेसे अभंग तथा भावोंके द्वारा परिग्रहकी वृद्धि होनेसे व्रतभग होनेके कारण यह अतिचार है । धनधान्यबन्धनातिचार—गणिम, धरिम, मेय और परीक्ष्यके भेदसे धन चार प्रकार है । गिनकर ली जानेवाली सुपारी, जायफल आदिका गणिम, कुंकम और कपूर आदिको धरिम, तेल, नमक आदिको मेय और रत्नादिकको परीक्ष्य धन कहते हैं। धान, जौ, गेहूँ, तिल, कोद्रव आदिको धान्य कहते हैं । सुपारी आदि हमारे मालकी बिक्री जब हो जावेगी अथवा खर्च हो जावेगा तब तुम्हारा माल मै ले लूँगा, मेरे इतनेका परिमाण है, इसलिये इसके बिकनेके बाद या खर्च होनेके बाद माल तुम्हारा ही खरीदूँगा, तुम बेचना नहीं, इस प्रकारसे दूसरेके मालको खरीदनेके अभिप्रायसे रोक रखना (बँधेवर बाँधना) धनधान्यबन्धन नामका अतिचार है । कनकरूप्यदानातिचार—प्राप्त हुए मर्यादासे अधिक स्वर्ण चाँदीका धरोहर रख देना या अपने बन्धुजनोंको दान दे देना कनक-रूप्यदानातिचार कहलाता है । जैसे—किसी गृहस्थने स्वर्ण चाँदी और जेवरोंकी कुछ कालतककी मर्यादा कर ली, इतनेमें उसे उसकी मर्यादासे अधिक स्वर्ण वा चाँदी भेंट या पारितोषिक आदिमें मिला, ऐसी स्थितिमें मर्यादाका काल पूरा होने तक उसके द्वारा वह अधिक स्वर्ण या चाँदी किसी के यहाँ धरोहर रख देना या भाई बन्धु आदिको दानमें दे देना कनकरूप्यदानातिचार है । कुप्य-भावातिचार—सुवर्ण और चाँदीसे भिन्न ताँबा, पीतल, बाँस, लकड़ी वा मिट्टी आदिसे बनी हुई चीजोंको कुप्य कहते है । उनमें दो-दोको मिलाकर एक करनेको भाव कहते है । कुप्यकी जितनी संख्याकी प्रतिज्ञा ले ली है उसकी संख्या बढ़ने पर संख्याकी रक्षाके लिये वस्तुओंको मिलाकर (ढलवाकर) बड़ी-बड़ी वस्तुएँ बनवा लेना कुप्यभावातिचार है । क्योंकि संख्या यद्यपि मर्यादित ही रही परन्तु उसकी स्वाभाविक संख्यामें ढलवा लेनेसे बाधा जरूर आती है इसलिये कथञ्चित् भंग और कथञ्चित् अभंग होनेसे यह अतिचार है । अथवा स्वर्णादिकके समान इन वस्तुओंकी भी अधिक प्राप्ति हो जानेपर मेरे इतने कालतक इन वस्तुओंका परिमाण है; मै नहीं रख सकता, मर्यादित काल पूरा होनेपर उठा लूँगा, इस अभिप्रायसे धरोहर रख देना भी कुप्यभावातिचार कहलाता है । अथवा किसी वस्तुके लानेवालेसे यह कहना कि मुझे यह वस्तु जरूर लेनी है परन्तु मर्यादाके बाहर होनेसे आज नहीं ले सकता, तुम किसीको बेचना नही, मर्यादित काल पूरा होते ही मै इसे जरूर ले लूँगा । इस प्रकार मनमें संख्याकी वृद्धिका भाव आ जाना भी कुप्यभावातिचार कहलाता है । गवादिगर्भातिचार—यहाँ पर आदि शब्दसे भैंस, घोड़ी, आदिका ग्रहण समझना चाहिये । इनमें नवीन गर्भ होनेपर भी अपनी की हुई मर्यादाका भंग नहीं समझना गवादिगर्भातिचार कहलाता है । इस अतिचारसे बचनेके लिये व्रतीको गाय आदिके गर्भ रहनेपर किसी एकका विक्रय या दान आदि करना पड़ता है ॥६४॥ जीत लिया है लोभ जिसने ऐसा जो श्रावक अतिचार रहित परिग्रहपरिमाणाणुव्रतको पालन करता है । वह श्रावक जयकुमारकी तरह पूजाके अतिशयको प्राप्त

पञ्चाप्येवमणुव्रतानि समतापीयूषपानोन्मुखे
सामान्येतरभावनाभिरमलीकृत्यार्पितान्यात्मनि ।
त्रातुं निर्मलशीलसप्तकमिदं ये पालयन्त्यादरात्
ते संन्यासविधिप्रमुक्ततनवः सौर्वीः श्रियो भुञ्जते ।।६६

होता है। भावार्थ—जो व्यक्ति इस परिग्रह परिमाण व्रतको निरतिचार पालन करता है वह लोभविजेता व्यक्ति भरत चक्रवर्तीके सेनापति जयकुमारके समान इन्द्रादिक द्वारा प्रतिष्ठाको पाता है। जयकुमारका कथानक प्रथमानुयोगसे जानना चाहिए ।।६५।। जो भव्यजीव इस प्रकार समतारूपी अमृतका पान करनेमें तत्पर अपनी आत्मामें सामान्य और विशेष भावनाओंके द्वारा अतिचारोंको दूर करके अर्पित किये गये पाँचों ही अणुव्रतोंको रक्षा करनेके लिए इस वक्ष्यमाण निरतिचार सात शीलोंको आदरसे पालन करते हैं समाधिमरणसे शरीरको छोड़नेवाले वे भव्य स्वर्गसंबधी लक्ष्मियोंको भोगते है। भावार्थ—जिसके प्रभावसे समतारूपी अमृतके पानकी भावना प्रकट होती है ऐसे सम्यग्दर्शन सहित आत्मामें आगमोक्त व्रतोंको सामान्य और विशेष भावनाओं द्वारा निरतिचार पंच अणुव्रतोंके भली प्रकार निर्वाहके लिए जो श्रावक तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों (सात शीलव्रतों) का निरतिचार पालन करते हैं, वे सन्यासविधिसे शरीरका परित्याग कर स्वर्ग सम्बन्धी उत्तम विभूति पाते हैं ।।६६।।

।। इति चतुर्थोऽध्यायः ।।

पञ्चम अध्याय

यद्गुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत् । गुणव्रतानि त्रीण्याहुर्दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥१
यत्प्रसिद्धैरभिज्ञानैः कृत्वा दिक्षु दशस्वपि । नात्येत्यणुव्रती सीमां तत् स्याद्दिग्विरतिर्व्रतम् ॥२
दिग्विरत्या बहिः सीम्नः सर्वपापनिवर्तनात् । तप्तायोगोलकल्पोऽपि जायते यतिवद् गृही ॥३
दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमान्द्यतः । महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम् ॥४
सीमविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः । अज्ञानतः प्रमादाद्वा क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः ॥५

यतः दिग्व्रत आदिक तीनों ही व्रत अणुव्रतोंके उत्कर्षके लिये तथा उपकारके लिये होते है अतः आचार्य उन दिग्व्रत आदिकको गुणव्रत कहते हैं। भावार्थ—दिग्व्रत आदिकसे अणुव्रतोंकी रक्षा और विशुद्धि होती है तथा चारित्रगुणका विकास होता है और जैसे बाड़से खेतकी रक्षा होती है उसीप्रकार सात शीलोंसे अणुव्रतोंकी रक्षा होती है। इसलिये इन विशेष गुणोंके आधायक व्रतोंको गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रतके तीन भेद हैं—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग-परिमाणव्रत ॥१॥ अणुव्रतोंका पालक श्रावक जो प्रसिद्ध प्रसिद्ध चिह्नोंसे दशों ही दिशाओंमें सीमाको करके उसका उल्लङ्घन नहीं करता है वह दिग्व्रत नामक व्रत कहलाता है। भावार्थ—लोभ वा आरम्भ घटानेके लिये किन्हीं प्रसिद्ध चिह्नों तक दशों दिशाओंमें आने जानेकी मर्यादा कर लेना और उसका उल्लङ्घन नहीं करना दिग्व्रत है। यह दिग्व्रत अणुव्रतीके होता है ॥२॥ दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर सम्पूर्ण पापोंकी निवृत्ति हो जानेसे तपे हुए लोहेके गोलेकी तरह गमन, भोजन और शयन आदि सम्पूर्ण क्रियाओंमें जीवोंकी हिंसा करनेवाला भी गृहस्थ मुनिकी तरह होता है। भावार्थ—जैसे तपा हुआ लाल लोहेका गोला यदि पानीमें डाला जावे तो वह चारों तरफसे पानीको खींचता है, वैसे ही आरम्भ परिग्रह जनित कषायरूपी अग्निके कारण भाव विकारोंमें तपा हुआ गृहस्थका आत्मा चारों ओरसे कार्मणवर्गणाओंको खींचता है। परन्तु अणुव्रतीका आत्मा दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर सर्व आरम्भ, परिग्रह और भोगोपभोगजनित पापोंका त्याग होनेसे यतिके समान पापोंसे बचता है। तात्पर्य यह है कि दिग्व्रतके पालनसे विवक्षित क्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रमें महाव्रतका अभ्यास होता है। अतः अणुव्रती दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर महाव्रतीके समान कहा जाता है ॥३॥ दिग्व्रतके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होने तथा व्रतोंके घातक कषायके उदयके मन्दपनेसे विदित नहीं होता है मोहका अस्तित्व जिसके ऐसे गृहस्थमें अणुव्रत महाव्रतके समान आचरण करता है। भावार्थ—दिग्व्रतके व्रतकी प्रतिज्ञासे सकल संयमके घातक प्रत्याख्यानावरणादि कषायोंकी उत्कृष्ट रीतिसे मंदता हो जाती है। इसलिये अणुव्रतीका प्रत्याख्यानावरणजनित चारित्रमोहका उदय अतिशय मन्दताके कारण किसीके लक्ष्यमें नहीं आता, इसलिये दिग्व्रतका पालक अणुव्रती दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर महाव्रती कहा जाता है ॥४॥ अज्ञानसे अथवा प्रमादसे नियमित मर्यादाका भूल जाना ऊपर, नीचे तथा तिरछी मर्यादाका उल्लङ्घन करना और मर्यादित क्षेत्रसे अधिक क्षेत्रका बढ़ा लेना ये पांच दिग्व्रतके अतिचार हैं। विशेषार्थ—सीमाविस्मृति, ऊर्ध्वभागातिक्रम, अधोभागातिक्रम, तिर्यग्भागातिक्रम और क्षेत्रवृद्धि ये पाँच

पीडा पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाङ्गिनाम् । अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ॥६
पापोपदेशो यद्वाक्यं हिंसाकृष्यादिसंश्रयम् । तज्जीविभ्यो न तं दद्यान्नापि गोष्ठ्यां प्रसञ्जयेत् ॥७
हिंसादानं विषास्त्रादिहिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत् । पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत् ॥८

दिग्व्रतके अतिचार हैं। सीमाविस्मृति—किसीने सौ योजनकी मर्यादा की। जब जानेका समय आया तब अज्ञान अथवा प्रमादसे भूल जाना। यह विचार करना कि—नहीं मालूम १०० योजनकी प्रतिज्ञा की थी या ५० योजन की ? ऐसी हालतमें यदि वह ५० योजनके भीतर ही गमन करता है तो उसका व्रत निर्दोष है, ५० योजनसे बाहर जाता है तो अतिचार-सहित है और १०० योजनसे बाहर जाता है तो अनाचार है। क्योंकि ५० योजनके भीतर जानेवालेने व्रतका पूरा पालन किया है। और उससे अधिक बाहर जानेवालेने संशयके कारण एकदेश भंग किया है तथा १०० योजनके बाहर गमन करनेवालेने पूरा व्रत भंग किया है। ऊर्ध्वभागातिक्रम, अधोभागातिक्रम, तिर्यग्भागातिक्रम—मर्यादा करते समय अपनी सीमा सम्बन्धी ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और तिर्यग्भागकी जो प्रतिज्ञा की जाती है; उस सीमाका अज्ञान वा प्रमादसे उल्लङ्घन करना ऊर्ध्वभागातिक्रम आदि अतिचार हैं। किन्तु बुद्धिपूर्वक साक्षात् इन भागोंकी सीमाका उल्लङ्घन करना तो अनाचार ही है। क्षेत्रवृद्धि—किसी व्रतीने चारों दिशाओंमें १०० योजन तक जानेकी मर्यादा की है परन्तु समय बीतनेपर जिस ओर उसे अधिक जाना है उस ओर १०० योजनसे भी अधिक चला जाता है और उसके विरुद्ध दिशाओंमें उतना ही कम जानेका विचार करता है तो उसका यह क्षेत्रवृद्धि नामका अतिचार है। क्योंकि उसने एक तरफकी मर्यादा कम करके दूसरी ओरकी उतनी ही मर्यादा बढ़ा ली है ॥५॥ अपने तथा अपने कुटुम्बीजनोंके शरीर, वचन तथा मन सम्बन्धी प्रयोजनके बिना पापोपदेशादिकके द्वारा प्राणियोंको पीडा देना अनर्थदण्ड कहलाता है और उस अनर्थदण्डका त्याग अनर्थदण्डव्रत माना गया है। भावार्थ—जिससे अपने तथा अपनेसे सम्बद्ध कुटुम्बीजन आदिका मन, वचन और काय सम्बन्धी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ऐसे पापोपदेशादिक द्वारा प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाना अनर्थदण्ड कहलाता है। उस अनर्थदण्डका त्याग अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ये पांच अनर्थदण्डके भेद हैं ॥६॥ हिंसा, खेती और व्यापार आदिको विषय करनेवाला जो वचन होता है वह पापोपदेश कहलाता है, इसलिये अनर्थदण्डव्रतका इच्छुक श्रावक हिंसा, खेती और व्यापार आदिकसे आजीविका करनेवाले, व्याध, ठग और चोर आदिके लिये उस पापोपदेशको नहीं देवे और कथा वार्तालाप आदिमें उस पापोपदेशको प्रसङ्ग नहीं लावे। भावार्थ—जिन वाक्योंका हिंसादिक पाप तथा खेती और व्यापार आदिकसे सम्बन्ध जुड़ सकता हो उन वाक्यों द्वारा हिंसा, खेती और व्यापार आदिक द्वारा आजीविका करनेवालोंको उपदेश देना पापोपदेश कहलाता है। ऐसा पापोपदेश नहीं देना चाहिये और गोष्ठीमें भी उसका प्रसङ्ग नहीं लाना चाहिये। जैसे व्याधोंकी सभामें यह कहना कि क्यों बैठे हो "आज जलाशयके किनारे बहुतसे पक्षी आये हैं" इस वाक्यको सुनकर कोई व्याध उनके वधका उपाय सोच सकता है। इसलिये यह वाक्य पापोपदेशकी कोटिमें चला जाता है। इसीप्रकार अन्य उदाहरण भी जानना ॥७॥ विष और हथियार आदि हिंसाके कारणभूत पदार्थोंका देना हिंसादान नामक अनर्थदण्ड कहलाता है। उस हिंसादान अनर्थदण्डको छोड़ देना चाहिये और जिनसे अपना व्यवहार नहीं है ऐसे पुरुषोंसे भिन्न पुरुषोंके विषयमें पाकादिकके लिये अग्नि वगैरह नहीं देना चाहिये। भावार्थ—

चित्तकालुष्यकृत्कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम् । न दुःश्रुतिमपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात् ॥९
प्रमादचर्यां विफलक्ष्मानिलाग्न्यम्बुभूरुहाम् । खातव्याघातविध्यापसेकच्छेदादि नाचरेत् ॥१०
तद्वच्च न सरेद् व्यर्थं न परं सारयेन्महीम् । जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान् मार्जारशुनकादिकान् ॥११
मुञ्चेत्कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि तदत्ययान् । असमीक्ष्याधिकरणं सेव्यार्थाधिकतामपि ॥१२
भोगोऽयमियान् सेव्यः समयमियन्तं मयोपभोगोऽपि ।
इति परिमानानिच्छँस्तावधिकौ तत्प्रमाव्रतं श्रयतु ॥१३

विष, हथियार, हल, गाड़ी, कुसिया, कुदारी और कुल्हाड़ी आदि वस्तुओंसे हिंसा सम्भव है इसलिये इनके दानको हिंसादान कहते हैं। तथा जिनके साथ अपना व्यवहार नहीं है ऐसे अपरिचित किसी व्यक्तिको भोजन पकानेके लिये अग्नि, कूटनेको मूसल आदिका देना भी निष्प्रयोजन होनेसे हिंसादान है। अनर्थदण्डत्यागी श्रावकको इन दोनों प्रकारके हिंसादानका त्याग कर देना चाहिये ॥८॥ अनर्थदण्डव्रतका इच्छुक श्रावक चित्तमें कलुषता उत्पन्न करनेवाले काम हिंसा आदिके प्रवर्धक शास्त्रोंके श्रवणरूप दु:श्रुति नामक अनर्थदण्डको नही करे और आर्त तथा रौद्रध्यान स्वरूप अपध्यान नामक अनर्थदण्डको नहीं करे। भावार्थ—जिन शास्त्रोमें काम और हिंसा आदि रूप अर्थोंका कथन है उनके सुननेको दुःश्रुति-नामक अनर्थदण्ड कहते है। तथा आर्त और रौद्र ध्यानको अपध्यान अनर्थदण्ड कहते हैं। अनर्थदण्डव्रतीको इन दोनोंका परित्याग कर देना चाहिये ॥९॥

अनर्थदण्डका त्यागी निष्प्रयोजन पृथ्वीके खोदने, वायुके रोकने, अग्निके बुझाने, जलके फेंकने तथा वनस्पतिके छेदने आदि रूप प्रमादचर्याको नही करे। भावार्थ—निष्प्रयोजन-भूमि खोदना, वायु रोकना, अग्नि बुझाना, जल फेंकना या सीचना और वनस्पतिका छेदना, प्रमादचर्या अनर्थदण्ड कहा जाता है। इस व्रतके धारीको इनका भी परित्याग करना चाहिये ॥१०॥ निष्प्रयोजन पृथ्वी खोदने आदिकी तरह बिना प्रयोजन पृथ्वी पर स्वय नही घूमे, दूसरोंको भी नही घुमावे तथा बिल्ली कुत्ता आदि जीवोंके घातक जीवोंको नहीं पाले ॥११॥ अनर्थदण्डका त्यागी श्रावक कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और सेव्यार्थाधिकता इन अनर्थदण्डव्रतके पाँच अतिचारोंको छोड़े। विशेषार्थ—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और सेव्यार्थाधिकता ये पाँच अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं। इस अनर्थदण्डके त्यागी व्रतीको इनका परित्याग करना चाहिये। कन्दर्प—काम या रागके उद्रेकसे प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प कहलाता है। कौत्कुच्य—हास्य और भंडवचन सहित भौंह, नेत्र, नाक, ओंठ, मुख, पैर और हाथ आदिकी संकोचादि क्रिया द्वारा कुचेष्टा करनेको कौत्कुच्य कहते हैं। मौखर्य—धृष्टतापूर्वक विचार-रहित असत्य और असंबद्ध बहुत बोलनेको मौखर्य कहते हैं। असमीक्ष्याधिकरण—अपने प्रयोजनका विचार नहीं करके प्रयोजनसे अधिक कार्यका करना कराना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है। अथवा हिंसाके उपकरणोंको उनके साथी दूसरे उपकरणोंके पास रखना। जैसे उखलीके पास मूसल, हलके पास फाल, गाड़ीके पास जुआँ और धनुषके साथ बाणोंको रखना भी असमीक्ष्याधिकरण नामक अतिचार है। क्योंकि ऐसा करनेसे इन चीजोंको आरम्भादि कार्यके लिए हर एक व्यक्ति सुलभतासे ले सकता है। तथा देनेके लिए निषेध भी नहीं किया जा सकता। सेव्यार्थाधिकता—जितने भोग व उपभोगके साधनोंसे अपना प्रयोजन सधता है उससे अधिक साधन सामग्रीके जुटानेको सेव्यार्थाधिकता कहते हैं ॥१२॥ यह भोग और इतना उपभोग इतने समय तक मेरे द्वारा

भोगः सेव्यः सकृदुपभोगस्तु पुनः पुनः स्रगम्बरवत् ।
तत्परिहारः परिमितकालो नियमो यमश्च कालान्तः ॥१४
पलमधुमद्यवदखिलस्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः ।
त्याज्योऽन्यथाप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम् ॥१५

सेवन करने योग्य है, अथवा यह भोग और उपभोग इतना, तथा इतने समय तक मेरे द्वारा सेवन करने योग्य नहीं है इस प्रकार परिमाण करके प्रतिज्ञासे अतिरिक्त उन भोग और उपभोगको नहीं चाहने वाला गुणव्रती श्रावक भोगोपभोगपरिमाणव्रतको स्वीकार करे। विशेषार्थ—भोग और उपभोगकी मर्यादा विधिमुख और निषेधमुखसे की जाती है। जैसे यह भोग अथवा उपभोग मेरे द्वारा इतना और इतने समय तक सेवन किया जावेगा अथवा यह भोग और उपभोग इतना तथा इतने समय तक मेरे द्वारा त्याज्य है इस प्रकारसे भोग और उपभोगके विषयमें परिमाण करके उससे अधिककी इच्छा नहीं करना गुणव्रत पालकका भोगोपभोग परिमाण व्रत है ॥१३॥ जो माला और ताम्बूल आदिकी तरह एक वार सेवनीय होता है वह भोग और जो वस्त्राभूषणादिक की तरह बार बार सेवनीय होता है वह उपभोग कहलाता है। तथा किसी नियमित काल तकके लिये भोगोपभोगका त्याग नियम और जीवनपर्यन्तके लिये उस भोगोपभोगका त्याग यम कहलाता है। भावार्थ—जो पदार्थ एक बार भोगनेके बाद फिर भोगने योग्य नहीं रहता वह भोग कहलाता है। जैसे माला गन्ध और भोजन वगैरह। तथा जो पदार्थ बारबार भोगनेमें आता है वह उपभोग कहलाता है, जैसे—वस्त्र और आभूषण वगैरह। जो त्याग घड़ी आदि नियत समयकी मर्यादा लेकर किया जाता है वह त्याग नियम कहलाता है और जो त्याग जीवन पर्यन्तके लिये किया जाता है वह त्याग यम कहलाता है ॥१४॥ भोगोपभोगपरिमाण व्रतके पालक श्रावकके द्वारा मांस, मधु तथा मदिराकी तरह त्रसघात, बहुस्थावरघात और प्रमाद विषयक तथा त्रसघातादिकको विषय करनेवाले नहीं हो करके भी अनिष्ट और इष्ट होता हुआ भी अनुपसेव्य भोग तथा उपभोग करनेके योग्य सम्पूर्ण पदार्थ त्याग दिया जाना चाहिये, क्योंकि व्रतसे स्वर्गादिक इष्ट फल होता है। विशेषार्थ—भोगोपभोगकी मर्यादाके समय व्रतीके द्वारा त्रसघात, बहुस्थावरघात, प्रमादजनक, अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थोंके खानेका मांस, मधु और मदिराके समान त्याग किया जाना आवश्यक है। क्योकि व्रतसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। जिनमें बहुतसे सम्मूर्छन जीव उड़ कर बैठते है, जिनमें जीवोंके रहनेके लिये बहुत जगह होती है इस प्रकार कमलनाल आदि त्रसघातविषयक पदार्थ है। और इसी प्रकार केतकीके फूल, सहजनेके फूल, अरणिके फूल तथा बेलफल आदि बहुजन्तुओंके स्थान है। ये सब त्रसघातविषयक पदार्थ हैं। जिन पदार्थोंके सेवनसे मधुके समान तदाश्रित बहुतसे जीवोकी हिंसा होती है तथा जिन कन्दमूल आदिकके भक्षणसे अनन्त स्थावरोंकी हिंसा होती है वे सभी पदार्थ बहुस्थावरहिंसाकारक हैं। जैसे गुरबेल, अदरक, आलू और शकरकन्द इत्यादि। जिन पदार्थोंके सेवनसे मद्यके समान मादकता उत्पन्न होती है उन्हे प्रमाद-जनक पदार्थ कहते हैं। जैसे भांग, धतूरा, अफीम और गाजा इत्यादि। भक्ष्य होनेपर भी जो अपनेको या अपने स्वास्थ्यके लिये हानिकारक है अर्थात् अपनी प्रकृतिके अनुकूल नहीं हो उसे अनिष्ट कहते है। जैसे खाँसीके रोग वालेको मिष्टान्न आदि। जो भले पुरुषोंके सेवन करने योग्य नहीं है उसे अनुपसेव्य कहते हैं। जैसे लार, मूत्र आदि पदार्थोंका सेवन तथा चित्र-विचित्र वस्त्रोंका परिधारण करना और विकृत वेष-भूषा करना ॥१५॥

नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत् । आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं, फलं घातश्च भूयसाम् ॥१६
अनन्तकायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः । यदेकमपि तं हन्तुं प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान् ॥१७
आमगोरससम्पृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम् । वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१८
भोगोपभोगकृशनात् कृशीकृतधनस्पृहः । धनाय कोट्टपालादिक्रियाः क्रूराः करोति कः ॥१९
सचित्तं तेन सम्बद्धं सम्मिश्रं तेन भोजनम् । दुष्पक्वमप्यभिषवं भुञ्जानोऽत्येति तद्व्रतम् ॥२०

धार्मिक श्रावक नाली, सूरण, कालिंदा और द्रोणपुष्प आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको जीवन पर्यन्तके लिये छोड़ देवे, क्योंकि इन नाली और सूरण आदि खाने वालोंके उन पदार्थोंके खानेमें फल थोड़ा और घात बहुतसे जीवोंका होता है। भावार्थ—नाली (पोलीभाजी), सूरण, तरबूज, द्रोणपुष्प, मूली, अदरख, नीमके फूल, केतकीके फूल आदिके खानेमें जिह्वास्वाद रूप सुख तो थोड़ा होता है किन्तु घात बहुतसे एकेन्द्रिय प्राणियोंका होता है। इसलिये धार्मिकको इनके भक्षणका त्याग करना चाहिये ॥१६॥ दयालु श्रावकोंके द्वारा सर्वदाके लिये सब ही साधारण वनस्पति त्याग दी जानी चाहिये क्योंकि एक भी उस साधारण वनस्पतिको मारनेके लिये प्रवृत्त व्यक्ति अनन्तजीवोंको मारता है। विशेषार्थ—धर्म दयाप्रधान है। इसलिये दयालु होकर अनन्त कायवाली साधारण वनस्पतिके भक्षणका त्याग सदैवके लिये कर देना चाहिये। क्योंकि भक्षण-द्वारा एक साधारण वनस्पतिके जीवको मारनेके लिये प्रवृत्त व्यक्ति उसमें रहने वाले अनन्त जीवोंकी हिंसाका भागी होता है। जिस वनस्पतिके शरीरमें अनन्त साधारण वनस्पति प्राणी रहते हैं उसको अनन्तकाय कहते हैं। अनन्तकाय वनस्पतिके सात भेद हैं—मूलज, अग्रज, पर्वज, कन्दज, स्कन्धज, बीजज और सम्मूर्छनज। अदरक और हल्दी वगैरह मूलज हैं। आर्यिका (एक प्रकार) की ककड़ी इत्यादि अग्रज है। देवनाल, ईख और वेत आदि गाँठोसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति पर्वज है। प्याज और सूरण वगैरह कंदज हैं। सल्लाकी, कटेरी और पलाश आदि स्कन्धज हैं। धान और गेहूँ वगैरह बीजज है। तथा इधर-उधरके पुद्गलोंके सम्मिश्रणसे होनेवाली वनस्पति सम्मूर्छनज है ॥१७॥ कच्चे दूध मिश्रित वा कच्चे दूधसे बनाये गये दही और मठासे मिश्रित द्विदलको, बहुधा पुराने द्विदलको वर्षा ऋतुमें विना दले द्विदलको तथा इस वर्षा ऋतुमें पत्तोंके शाकको भी नहीं खाना चाहिये। भावार्थ—कच्चे दूधके साथ तथा कच्चे दूधसे तैयार हुए दही व मही (छाँछ) के साथ उड़द, मूंग, चना, मटर आदिकी दालको वस्तुओंका, प्रायः कर इन दाल वाले पुराने धान्योंको, वर्षा ऋतुमें बिना दले किसी भी द्विदल धान्यको और वर्षा ऋतुमें पत्ते वाले शाकको भी नहीं खाना चाहिये ॥१८॥ भोगोपभोगको कम करनेके कारण धनकी आकांक्षा कृश हो गई है जिसकी ऐसा कौन पुरुष धनके हेतु क्रूर खराब कोतवाल आदिकी आजीविकाओंको करेगा ? भावार्थ—जिस व्यक्तिने अपने भोगोपभोगको कम करनेसे अपनी धनलोलुपता कम कर ली है उसे कोतवाल आदिकी नौकरी नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसमें क्रूरता पूर्ण व्यवहार करना पड़ता है ॥१९॥ सचित्तको उस सचित्तसे सम्बद्ध उस सचित्तमें मिले हुए अधपके और गरिष्ट भोजनको करनेवाला व्यक्ति उस भोगोपभोगपरिमाणव्रतको उल्लङ्घन करता है। भावार्थ—सचित्तभोजन, सचित्त-सम्बद्धभोजन, सचित्तसम्मिश्रभोजन, दुष्पक्वभोजन और अभिषवभोजन ये पाँच भोगोपभोग-परिमाणव्रतके अतिचार हैं। सचित्तभोजन—कच्ची ककड़ी वगैरहको सचित्त कहते हैं। अज्ञान या प्रमादसे कच्ची ककड़ी आदिका मुखमें डालना या खाना सचित्त भोजन कहलाता है।

व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान् पञ्चदश त्यजेत् । वृत्तिं वनाग्न्यनःस्फोटभाटकैर्यन्त्रपीडनम् ॥२१
निर्लाञ्छनासतीपोषौ सरःशोषं दवप्रदाम् । विषलाक्षादन्तकेशरसवाणिज्यमङ्गिरुक् ॥२२
इति केचिन्न तच्चारु लोके सावद्यकर्मणाम् । अगण्यत्वात्प्रणेयं वा तदप्यतिजडान् प्रति ॥२३

सचित्तसम्बद्ध—अज्ञान व असावधानीके कारण वृक्षमें लगी हुई गोंदका खाना और पके फलोंके भीतरके बीजोंका खा जाना सचित्तसम्बद्ध नामका अतिचार कहलाता है। आम और खजूर आदि पके फलों आदिके खाते समय सचित्तसम्बद्ध नामका अतिचार होता है। सचित्तसम्मिश्र—जिस पदार्थमें सचित्त वनस्पति इस प्रकारसे मिल गई हो कि जिसको किसी प्रकारसे अलग नहीं किया जा सकता हो, प्रमाद वा अज्ञानसे उस चीजका खानेमें आ जाना अथवा सचित्तसे मिली हुई वस्तुको सचित्त सम्मिश्र कहते हैं। दुष्पक्व—जो अधिक पक गया हो, अधजला हो गया हो अथवा कम पका हो उसको दुष्पक्व कहते हैं। ऐसे पदार्थोंका खाना दुष्पक्व नामका अतिचार है। उसके खानेमें रागभावकी अधिकता रहती है। अभिषव—खीर आदिक पौष्टिक पदार्थोंका खाना अभिषव नामका अतिचार है। क्योंकि ये राग व पुष्टिकी अभिलाषासे अधिक खाये जाते हैं। इन सचित्त आदिके भक्षणसे इन्द्रियोंका मद बढ़ता है, वातादि रोगोंका प्रकोप होता है और दवा खाना पड़ती है। इसलिये कुछ पापोंका अंश भी लगता है अतएव व्रतियोंको इनका त्याग कर देना चाहिये ॥२०॥

श्रावक प्राणिपीड़ाजनक व्यापारको छोड़े तथा इस खरकर्म व्रतमें वन, अग्नि, गाड़ी, स्फोट और भाटक द्वारा आजीविका या व्यापारको, यन्त्रपीडनको, निर्लाञ्छनकर्म तथा असतीपोषको, सर शोषको, दवाग्निको तथा प्राणिपीडाकारक विष, लाक्षा, दन्त, केश तथा रसके व्यापारको इस प्रकार पन्द्रह अतिचारोंको छोड़े। इस प्रकार कोई श्वेताम्बर आचार्य कहते हैं। परन्तु संसारमें पापजनक कार्योंके अगण्य होनेसे उनका वह कहना ठीक नही है। अथवा अत्यन्तमूढ़ बुद्धिवाले पुरुषोंके प्रति वह खरकर्मव्रत भी प्रतिपादन करने योग्य है। विशेषार्थ—प्राणिपीडाजनक व्यापार को खरकर्म (क्रूरकर्म) कहते हैं। इनका त्याग करना चाहिये। इनके त्यागका नाम खरकर्म-भोगोपभोगत्यागव्रत कहलाता है। वनजीविका, अग्निजीविका, अनोजीविका, स्फोटजीविका, भाटकजीविका, यन्त्रपीडन, निर्लाञ्छनकर्म, असतीपोष, सरःशोष, दवप्रद, विषवाणिज्य लाक्षा-वाणिज्य, दन्तवाणिज्य, केशवाणिज्य और रसवाणिज्य ये पन्द्रह खरकर्मत्यागव्रतके अतिचार हैं। इस खरकर्मका त्याग करना चाहिए। यह किसी श्वेताम्बर आचार्यका कथन है, परन्तु पापरूप आजीविकाओंकी गिनती नहीं की जा सकती। इसलिए १५ हीके त्यागका उपदेश देना ठीक नहीं है। हाँ ! जो अत्यन्त मन्दबुद्धि हैं उनके लिए इतने खरकर्म बताकर त्याग करना बुरा नहीं है। इनका विवरण इस प्रकार है। वनजीविका—स्वयं टूटे हुए अथवा तोड़कर वृक्ष आदि वनस्पतिका बेचना अथवा गेहूँ आदिक अनाजोंका पीट कूटकर व्यापार करना। अग्नि-जीविका—अग्निद्वारा कोयला व लुहारकी चीजें वगैरह बनाकर व्यापार करना। अनोजीविका—स्वयं गाड़ी रथ तथा उसके चका वगैरह बनाना अथवा दूसरोंसे बनवाना। गाड़ी जोतनेका व्यापार स्वयं करना तथा दूसरोंसे कराकर आजीविका करना और गाड़ी आदिके बेचनेका व्यापार करना। स्फोटजीविका—पटाखा व आतिशबाजी आदि बारूदकी चीजोंसे आजीविका करना। भाटक-जीविका—गाड़ी, घोड़ा आदिसे बोझा ढोकर भाड़ेकी आजीविका करना। यन्त्रपीड़न—कोल्हू चलाना, तिल आदिको कोल्हूमें पिलवाना अथवा तिल वगैरह देकर उसके बदलेमें तेल लेना। निर्लाञ्छन—बैल और भैंस आदिके बधिया करना, नाक और मुष्क आदि अवयवोंके छेदनकी

शिक्षाव्रतानि देशावकाशिकादीनि संश्रयेत् । श्रुतिचक्षुस्तानि शिक्षाप्रधानानि व्रतानि हि ॥२४
दिग्व्रतपरिमितदेशविभागेऽवस्थानमस्ति मितसमयम् । यत्र निराहुर्देशावकाशिकं तद्व्रतं तज्ज्ञाः॥२५
स्थास्यामीदमिदं यावदियत्कालमिहास्पदे । इति संकल्प्य सन्तुष्टस्तिष्ठन्देशावकाशिकी ॥२६

आजीविका करना । असतीपोष—हिंसक प्राणियोंका पालन पोषण करना और किसी प्रकारके भाड़े की उत्पत्तिके लिए दास और दासियोंका पोषण करना । सरःशोष—अनाज बोनेके लिए जलाशयों से नाली खोदकर पानी निकालना । दवप्रद—घास आदि जलानेके लिए वनमें आग लगा देना । इसके दो भेद हैं—सूखे घासके जला देनेसे उस जगह अच्छी उपज होती है और अच्छा घास पैदा होता है, इस भावनासे आग लगवाना दवप्रद कहलाता है । विषवाणिज्य—प्राणघातक विषका व्यापार करना । लाक्षावाणिज्य—लाखके व्यापारको लाक्षावाणिज्य कहते है । जब वृक्षसे लाख निकाली जाती है तब जिन जीवोंके शरीरसे यह लाख बनती है उनके आश्रित रहनेवाले असंख्य त्रस जीवोंका घात हो जाता है । लाखके कीड़े जिन छोटे-छोटे पत्तोंपर बैठते हैं, उनमें जो सूक्ष्म त्रसजीव होते हैं, उनके घात बिना लाख पैदा ही नहीं होती । इसी प्रकार मनमिल, गूगल तथा धायके फूल आदिका व्यापार भी लाक्षावाणिज्यमें गर्भित है । दन्तवाणिज्य—जहाँ हाथी वगैरह रहते हैं उस जगह व्यापार करनेके लिए भीलादिकोंको द्रव्य देकर दाँत आदि खरीदना । केश-वाणिज्य—केश-ऊनका व्यापार करना । रसवाणिज्य—मक्खन, मधु, चरबी और मद्य आदिका व्यापार करना ॥२१-२३॥ श्रावक श्रुतज्ञानरूपी नेत्रवाला होता हुआ देशावकाशिक आदिक शिक्षाव्रतोंको ग्रहण करे क्योंकि वे व्रत शिक्षाप्रधान होते है । भावार्थ—जिन-व्रतोंसे सर्व पापोंके त्याग या मुनिव्रतका शिक्षा मिलती है उन्हे शिक्षाव्रत कहते है । उनके पालनसे अणुव्रतोंमें विशेष निर्मलता आती है और उनकी रक्षा होती है; इसलिए शिक्षाप्रधान वा व्रतपरिरक्षक होनेके कारण इन देशावकाशिक आदिको ग्रहण करना चाहिए । शिक्षाव्रतके देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये चार भेद है । प्रातःकालके सामायिकके बाद देशावकाशिक व्रतमें दिन भरके लिए जो क्षेत्रकी मर्यादा की जाती है उससे सर्व पापोंके त्यागकी शिक्षा मिलती है । सामायिक करते समय सामायिकके काल तक समताभाव धारण करनेसे सर्व पापोंका कालकृत त्याग हो जाता है । प्रोषधोपवास व्रतमें प्रोषधोपवास व्रतके काल तक सर्व आरम्भ आदिका त्याग कर देनेसे सर्व पापोके त्यागकी शिक्षा मिलती है । और अतिथिसंविभाग व्रतके पालनेसे (अतिथियोंका वैयावृत्य करनेसे) उनका आदर्श अपने जीवनमें उतर सकता है । इसलिए सर्व पापोंके त्यागकी शिक्षा मिलती है ॥२४॥ जिस व्रतमें दिग्व्रतमें सीमित क्षेत्रके किसी अंशमें किसी नियमित समय तक रहना होता है, उस व्रतको उस व्रतकी निरुक्तिके जानकार व्यक्ति देशावकाशिक व्रत कहते हैं ॥२५॥ घर, पर्वत तथा ग्राम आदि निश्चित स्थानकी मर्यादा करके सन्तुष्ट होता हुआ इस स्थानमें इतने समय तक निवास करूँगा इस प्रकारसे संकल्प या नियमको करके स्थित रहनेवाला श्रावक देशावकाशिक कहलाता है । भावार्थ—दिग्व्रतमें जीवन भरके लिए सीमित आवागमनके क्षेत्रकी मर्यादाको नियत काल तक घटाना देशावकाशिक व्रत कहलाता है । अर्थात् दिग्व्रतमें परिमाण किए हुए क्षेत्रके किसी एकदेशमें रहना देशावकाशिक व्रत कहलाता है । सीमाके बाहर आवागमनकी तृष्णा नहीं करके किसी पर्वत, गाँव तथा नगर आदिकी मर्यादा करके मर्यादित क्षेत्रके भीतर मर्यादित काल तक संतोषपूर्वक रहने

**पुद्गलक्षेपणं शब्दश्रावणं स्वाङ्गदर्शनम् । प्रेषं सीमबहिर्देशे ततश्चानयनं त्यजेत् ॥२७
एकान्ते केशबन्धादिमोक्षं यावन्मुनेरिव । स्वं ध्यातुः सर्वहिंसादित्यागः सामायिकव्रतम् ॥२८**

वाला व्यक्ति देशावकाशिक कहलाता है। इस व्रतके पालनसे सीमाके बाहर सर्वदेशरूपसे पापके त्याग करनेका अभ्यास होता है या शिक्षा मिलती है। तथा यह व्रत परिमित कालके लिये धारण किया जाता है, दिग्व्रतके समान यावज्जीवनके लिये नहीं। इसलिये इसे शिक्षाव्रत कहना युक्ति-संगत है। दिग्व्रतके समान इस व्रतमें भी सीमाके बाहर विद्यमान वस्तु सम्बन्धी लोभादिकको निर्वृत्ति हो जानेके कारण स्थूल और सूक्ष्म हिंसादिकका सब प्रकारसे त्याग हो जाता है। यही इसका प्रत्यक्ष फल है। और परभवमें आज्ञा, ऐश्वर्य आदिक सुख सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। इसलिये यह व्रत अवश्य पालन करने योग्य है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥२६॥ देशावकाशिक-व्रतकी निर्मलता चाहने वाला श्रावक मर्यादाके विषयभूत प्रदेशसे बाहरके प्रदेशमें पत्थर आदिके फेंकनेको, शब्दके सुनानेको, अपने शरीरके दिखानेको, किसी मनुष्यके भेजनेको और मर्यादाके बाहर-के प्रदेशसे किसी वस्तुके बुलानेको छोड़े। विशेषार्थ—पुद्गलक्षेपण, शब्दश्रावण, स्वांगदर्शन, प्रेष और आनयन ये पाँच देशावकाशिकव्रतके अतिचार हैं। पुद्गलक्षेपण—मर्यादाके बाहर स्वयं तो नहीं जाना, परन्तु अपने कार्यके लोभसे मर्यादाके बाहर व्यापार करनेवालोंको प्रेरणाके हेतु ढेला और पत्थर आदि फेंक कर संकेत करना। शब्दश्रावण—सीमाके बाहर रहने वाले, मनुष्योंको कार्यके लिये अपने पास बुलाने आदिके हेतु उनको सुन पड़े इस प्रकार चुटकी बजाना और ताली पीटना आदि। स्वाङ्गदर्शन—किसी कार्यके लिए सीमाके बाहरसे जिनको बुलाना है उनको शब्दोच्चारणके बिना अपने शरीर अथवा शरीरके अवयव दिखाना आदि। प्रेष्यप्रयोग—स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर कार्यके लिए "तुम यह कार्य करो" ऐसा कहकर मर्यादाके बाहर नौकर वगैरहको भेजना। प्रेष्यानयन—स्वयं मर्यादाके भीतर रहकर "तुम यह लाओ" इस प्रकार कहकर मर्यादाके बाहरसे किसी वस्तुको बुलाना। श्लोकमें आये हुए "च" पदसे यह भी ध्वनित होता है कि यदि कोई नौकर मर्यादाके बाहर स्थित है तो उसे किसी कार्यकी आज्ञा करना भी अतिचार है ॥२७॥ केशबन्ध और मुष्टिबन्ध आदिके छोड़ने पर्यन्त एकान्त स्थानमे मुनिके समान अपने आत्मा-को चिन्तवन करनेवाले शिक्षाव्रती श्रावकका जो हिंसादिक पाँचों ही पापोंका त्याग वह सामायिक शिक्षाव्रत कहलाता है। विशेषार्थ—केशबन्ध, मुष्टिबन्ध और वस्त्रबन्ध पर्यन्त सम्पूर्ण रागद्वेष और हिंसादिक पापोंका परित्याग कर अपने आत्माका ध्यान करना सामायिक शिक्षाव्रत कहलाता है। सम = रागद्वेषकी निवृत्ति, अय = प्रशमादिरूपज्ञानका लाभ ये दोनो जिसके प्रयोजन है उसे सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं। अथवा रागद्वेषमें माध्यम भाव रखना सामायिक है अथवा समय = आप्तोपदेश, उसमें नियुक्त कर्म (व्यापार) को सामायिक कहते है। अर्थात् व्यवहार दृष्टिसे जिन भगवान्के पूजन, अभिषेक, स्तवन और जापको सामायिक कहते हैं। और निश्चयसे आत्म-ध्यानको सामायिक कहते हैं। अथवा विधिपूर्वक सामायिकके समय तक (केशबन्धादि) पर्यन्त सम्पूर्ण रागद्वेषका परित्याग कर प्रशम और संवेग आदि रूप ज्ञानका लाभ होना जिसकी आराधना-का प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं। देशावकाशिकव्रतमें मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें सर्व पापोंकी निवृत्ति होती है और सामायिकमें सर्वत्र सर्व पापोंकी निर्वृत्ति होती है यही इन दोनोंमें अन्तर है। इसकी विधिमें जो केशबन्धादिकसे मोक्षपर्यन्त सामायिक करनेका विधान किया है उसका

परं तदेव मुक्त्यङ्गमिति नित्यमतन्द्रितः। नक्तं दिनान्तेऽवश्यं तद् भावयेच्छक्तितोऽन्यदा ॥२९

मोक्ष आत्मा सुखं नित्यः शुभः शरणमन्यथा।
भवेऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत् किं स्यादित्यापदि स्मरेत् ॥३०

स्नपनार्चास्तुतिजपान् साम्यार्थं प्रतिमार्पिते। युञ्ज्याद्यथाम्नायमाद्यादृते सङ्कल्पिते ऽर्हति ॥३१
सामायिकं सुदुःसाध्यमप्यभ्यासेन साध्यते। निम्नीकरोति वार्बिन्दुः किन्नाश्मानं मुहुः पतन् ॥३२
पञ्चात्रापि मलानुज्झेदनुपस्थापनं स्मृतेः। कायवाङ्मनसां दुष्टप्रणिधानान्यनादरम् ॥३३

अभिप्राय यह है कि सामायिक करते समय ऐसी प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है कि जब तक मैं केशोंकी गाँठ नहीं छोड़ूँगा, बाँधी हुई मुट्ठीको नहीं छोड़ूँगा, वस्त्रकी गाँठ नहीं छोड़ूँगा तब तक मेरे सर्व सावद्यका त्याग है, मै समताभावको नहीं छोड़ूँगा ॥२८॥

यह सामायिक ही उत्कृष्ट मोक्षका साधन है इसलिये मोक्षका इच्छुक श्रावक सदा आलस्य रहित होता हुआ रात्रि और दिनके अन्तमें नियमसे उस सामायिकव्रतको अभ्यास करे तथा शक्तिके अनुसार दूसरे समयोंमें भी उस सामायिकव्रतको अभ्यास करे। भावार्थ—केवल सामायिक ही मुक्तिका अङ्ग है इसलिये मुमुक्षु व्रतिक श्रावकको आलस्यका परित्याग करके प्रातः और संध्या समय सदा अवश्य ही सामायिक करना चाहिये। और यथाशक्ति मध्याह्न आदिक कालमें भी सामायिक करना चाहिये। क्योंकि मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है और चारित्रका प्रधान अङ्ग सामायिक है ॥२९॥ सामायिकव्रतको ग्रहण करनेवाला श्रावक मोक्ष आत्मरूप सुखरूप नित्य शुभ तथा शरण है। तथा संसार इससे विपरीत है इसलिये इस संसारमें निवास करनेवाले मेरे अन्य क्या होगा, इस प्रकार परीषह तथा उपसर्गके आनेपर चिन्तवन करे। भावार्थ—सामायिक करते समय परोषह और उपसर्ग आने पर सामायिकव्रतीको अपने अन्तः-करणमें इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिए कि अनन्तज्ञानादिस्वरूप मोक्ष ही मेरा आत्मा है, अनाकुल चेतनस्वरूप होनेसे मोक्ष ही सुख है, अनन्तस्वरूप होनेसे मोक्ष ही नित्य है, शुभ कार्य होनेसे मोक्ष ही शुभ है, विपत्तिके अगोचर होनेसे मोक्ष ही शरण है और चतुर्गतिमें परावर्त्तनरूप संसार इससे विपरीत है। अर्थात् ससार मेरे लिए अनात्मस्वरूप, दुःखरूप, विनाशी, अशुभ और अशरण है। जब तक मैं इस ससारमें हूँ तब तक मुझे इन परोषह और उपसर्गोंको छोड़कर और क्या होनेवाला है, क्या हुआ है तथा क्या होगा। इस प्रकारका चिन्तवन करते हुए सब प्रकारके परीषह और उपसर्गोंको सहकर भावसामायिक व्रत धारण करना चाहिए ॥३०॥ मोक्षका इच्छुक श्रावक प्रतिमामें प्रतिष्ठापित अरिहन्त भगवान्में सामायिकव्रतकी सिद्धिके लिए आम्नायके अनुसार अभिषेक, पूजा, स्तुति और जपको करे तथा चांवल आदिमें संकल्पित अरिहन्त भगवान्में अभिषेकके बिना अन्य पूजा आदि तीन क्रियाओंको करे। विशेषार्थ—मुमुक्षु श्रावक सामायिक-व्रतकी सिद्धिके लिए तदाकार प्रतिमामें स्थापित अरिहन्तका आगमके अनुसार अभिषेक, पूजन, स्तुति तथा जाप करे। और अतदाकार चांवल आदिमें स्थापित अरिहन्तकी केवल पूजा, स्तुति और जाप करे। स्थापना दो प्रकारकी है—साकार और निराकार। साकार स्थापनामें अभिषेक, पूजा, स्तुति और जपके द्वारा देवपूजा की जाती है। और निराकार स्थापनामें अभिषेकको छोड़कर शेष तीन प्रकारसे देवकी उपासना की जाती है। इस प्रकार देवकी उपासनामें तत्पर रहनेवाले व्यक्ति व्यवहारसे सामायिकव्रतके धारक होते हैं ॥३१॥ अत्यन्त दुःसाध्य भी अर्थात् बड़ी कठिनतासे सिद्ध होनेवाला भी सामायिक व्रत अभ्यासके द्वारा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि

स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम् । साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥३४
उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः । आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः ॥३५

जैसे बार बार गिरनेवाली जलकी बूँद पत्थरको गड्ढा विशिष्ट नहीं कर देती है क्या ? अर्थात् कर ही देती है। भावार्थ—आकुलता-सहित कठोर अन्तःकरणवाले संसारियोंके लिए यद्यपि सामायिकका धारण करना बहुत कठिन है, तो भी वह अभ्यासके द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। जैसे—पत्थरके ऊपर पुनः पुनः पड़नेवाली जलकी बूँद पत्थरमें भी गड्ढा कर देती है वैसे ही पुनः पुनः किये गये अभ्याससे आत्मामें विषय और कषायोंकी मन्दता होकर सामायिकव्रतकी सिद्धि होती है।।३२।। सामायिकके फलका इच्छुक श्रावक इस सामायिकव्रतमें भी स्मृतिका भूल जाना काय, वचन तथा मनकी पाप कार्योंमें प्रवृत्ति करना और अनादर करना इन पांच अतिचारोंको छोड़े। विशेषार्थ—स्मृत्यनुपस्थापन, वचनदुःप्रणिधान, कायदुःप्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान और अनादर ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं। सामायिककी पूर्तिका इच्छुक श्रावक इन पाँच अतिचारोंको छोड़े। इनका विवरण इस प्रकार है—स्मृत्यनुपस्थान—चित्तकी एकाग्रताका न होना स्मृत्यनुपस्थापन है। अथवा मैने सामायिक किया है या नहीं किया है, मुझे सामायिक करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, इस प्रकार चित्तकी अनेकाग्रताको भी स्मृत्यनुपस्थान कहते हैं। कायदुष्टप्रणिधान—सामायिक करते हुए भी शरीरसे सावद्य कर्ममें प्रवृत्त होना कायदुष्ट-प्रणिधान है। अर्थात् सामायिक करते समय हाथ पैर आदि शरीरके अवयवोंको स्थिर नहीं रखना कायदुष्टप्रणिधान है। वचनदुष्टप्रणिधान—सामायिकपाठ या सामायिकमंत्रके उच्चारणके समय वर्णोंके संस्कारसे उत्पन्न होनेवाला अर्थबोध नहीं होना अथवा सामायिक व मंत्रके पाठके उच्चारणमें चपलताका होना वचनदुष्टप्रणिधान नामका अतिचार है। मनोदुष्टप्रणिधान—सामायिक करते समय क्रोध, लोभ, अभिमान और ईर्ष्या वगैरह मनोविकारोंका उत्पन्न होना या कार्यके व्यासंगसे संभ्रम उत्पन्न होना मनोदुष्टप्रणिधान है। अनादर—सामायिकमें उत्साहका नहीं रहना, निश्चित समय पर सामायिकका नहीं करना अथवा यद्वा तद्वा सामायिकके अनन्तर ही अतिशीघ्र भोजनादिमें लग जाना अनादर है ॥३३॥

जो सामायिकके संस्कारकी दृढ़ताके लिये चारों ही पर्व तिथियोंमें आगमके अनुसार जीवन पर्यन्त चारों प्रकारके आहारोंका त्याग करना वह प्रोषधोपवास कहलाता है। विशेषार्थ—सामायिकके संस्कारोंको दृढ़ करनेके लिये अर्थात् परीषहों और उपसर्गोंके आनेपर समताभावसे पतन नहीं हो इस हेतुसे चारों ही पर्वोंमें शास्त्रानुसार जीवन भरके लिये जो चार प्रकारके आहारोंका त्याग किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। एक दिनमें दो भुक्ति होती हैं, यह संमत मार्ग है। प्रोषधोपवास धारणा और पारणापूर्वक होता है। अतः प्रत्येक मासके चार पर्वोंमें प्रोषधोपवास करनेवाला सप्तमी और त्रयोदशीको प्रोषधोपवासकी धारणामें एक भुक्तिका त्याग करता है और एक भुक्तिका ग्रहण करता है। अष्टमी और चतुर्दशीके दिन दोनों ही भुक्तियोंका त्याग करता है। और नवमी तथा पूर्णिमाको पारण करते हुए एक ही भुक्तिका ग्रहण करता है तथा एक भुक्तिका त्याग करता है। इस प्रकार अशन, स्वाद्य, खाद्य और पेय इन चारों प्रकारके आहारोंको चतुर्भुक्तियोंके त्यागको प्रोषधोपवास कहते है। तात्पर्य यह है कि प्रोषधोपवासके करनेसे परीषह और उपसर्गोंके सहन करनेका अभ्यास होता है और उससे समताभावका उत्कर्ष तथा दृढ़ीकरण होता है ॥३४॥ उपवास करनेमें असमर्थ श्रावकोंके द्वारा

पर्वपूर्वदिनस्यार्धे भुक्त्वाऽतिथ्यशितोत्तरम् । लात्वोपवासं यतिवद् विविक्तवसतिं श्रितः ॥३६
धर्मध्यानपरो नीत्वा दिनं कृत्वाऽऽपराह्णिकम् । नयेत् त्रियामां स्वाध्याय-रतः प्रासुकसंस्तरे ॥३७
ततः प्राभातिकं कुर्यात् तद्वद्यामान् दशोत्तरान् ।
नीत्वाऽतिथिं भोजयित्वा भुञ्जीतालौल्यतः सकृत् ॥३८

जलको छोड़कर चारों प्रकारके आहारका त्याग किया जाना चाहिये और अनुपवास करनेमें असमर्थ श्रावकोंके द्वारा आचाम्ल तथा निर्विकृति आदि रूप आहार किया जाना चाहिये। क्योंकि शक्तिके अनुसार किया गया तप कल्याणके लिये होता है। भावार्थ—जो पूर्वोक्त उत्तम उपवास करनेमें असमर्थ है उसे अनुपवास करना चाहिए। और जो अनुपवास करनेमें भी असमर्थ है उसे आचाम्ल और निर्विकृति आदि रूप भोजन करना चाहिये। क्योंकि प्रोषधोपवास तप है। और वह अपनी शक्तिके अनुसार किया गया हो कल्याणकारी होता है। अनुपवास—प्रोषधोपवास व्रतमें जल रखकर शेष आहारोंका त्याग करना अनुपवास कहलाता है। आचाम्लाहार—कांजी सहित केवल भातके भोजनको आचाम्लाहार कहते है। निर्विकृतिआहार—विकृति शब्दका अर्थ गोरस, इक्षुरस, फलरस और धान्यरस हैं, क्योंकि जिस आहारसे जिह्वा और मनमें विकार पैदा होता है उसे विकृति कहते हैं। अतः उपर्युक्त चारों प्रकारके रस विकृति कहलाते है। घी, दूध आदि गोरस है। शक्कर, गुड़ आदि इक्षुरस है। द्राक्षा आम आदिके रसको फलरस कहते हैं। और तेल, माड़ आदिको धान्यरस कहते हैं। अथवा जिसको मिलाकर भोजन करनेसे भोजनमें स्वाद आता है उसको विकृति कहते हैं और इस प्रकारकी विकृतिरहित भोजनके करनेको निर्विकृति आहार कहते है आचाम्लनिर्विकृत्यादि पदमे जो आदि शब्द आया है उससे एक स्थान पर बैठकर ही और रस छोड़कर भोजन करने आदिका ग्रहण किया है ॥३५॥ प्रोषधोपवास व्रतका पालक श्रावक पर्वके पहिले दिनके आधे भागमें, अर्थात् मध्याह्न अथवा कुछ कम ज्यादह कालमें अतिथिको भोजन करानेके अनन्तर स्वय भोजन करके मुनिके समान उपवासको करके निर्जन स्थानको आश्रित होता हुआ धर्मध्यानमे तत्पर होता हुआ दिनको बिता करके और सन्ध्याकालमें होनेवाले संध्यावन्दन आदि सम्पूर्ण कर्मोको करके स्वाध्यायमे लीन होता हुआ शुद्ध शय्यापर रात्रिको बितावे। विशेषार्थ—पर्वके पूर्व दिनके मध्याह्न कालमें अतिथिको आहारदान देकर विधिपूर्वक स्वय भोजन करके जिस प्रकार यति यदि उन्हें अगले दिन उपवास करना होता है तो वे उपवास करनेका व्रत पूर्व दिनके भोजनके समय ही लेते है। उसी प्रकार धारणाके दिनके भोजनानन्तर यह भी उपवास ग्रहण करे। तथा की हुई उपवासकी इस प्रतिज्ञाको आचार्यके पास जाकर प्रकट करे। उपवासकी प्रतिज्ञा लेनेके अनन्तर सावद्य व्यापारों, शरीरके संस्कारों और अब्रह्मका त्याग कर देना चाहिए तथा अयोग्य जन रहित और प्रासुक एकान्त स्थानका आश्रय कर वहाँपर चार प्रकारके धर्मध्यानमें लीन होकर संध्याकालको व्यतीत करे। अनन्तर सन्ध्याकाल सम्बन्धी सब कृतिकर्म करके जन्तुरहित तृणादिकसे बने हुए प्रासुक चटाई आदि पर स्वाध्याय करते हुए निद्रा और आलस्यको छोड़कर रात्रि व्यतीत करे ॥३६-३७॥

विधिपूर्वक छह प्रहरोंको बितानेके अनन्तर प्रातःकालमें होनेवाले सम्पूर्ण आवश्यकादिक कर्मोंको करे और फिर इसके अनन्तर पूर्वोक्त छह प्रहरोंके समान आगेके दश प्रहरोंको बिताकर भोजनमें आसक्तिको छोड़कर एक बार भोजन करे। भावार्थ—पर्वके दिन प्रातःकाल उठकर प्रातःकाल सम्बन्धी सब आवश्यक कर्म करे और धारणाके दिन सम्बन्धी छह प्रहरके कृतिकर्मके

पूजयोपवसन्पूज्यान् भावमय्यैव पूजयेत् । प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ॥३९
ग्रहणास्तरणोत्सर्गानवेक्षाप्रमार्जनान् । अनादरमनैकाग्र्यमपि जह्यादिह व्रते ॥४०

व्रतमतिथिसंविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण ।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥४१

समान शेष दश प्रहरोंमें भी कृतिकर्म करता हुआ व्यतीत करे । अनन्तर पारणाके दिन अतिथिको आहार देकर आसक्तिका त्याग कर एक बार भोजन करे ॥३८॥ उपवास करनेवाला श्रावक भावमयी अथवा प्रासुकद्रव्यमयी पूजाके द्वारा ही देव, शास्त्र और गुरुको पूजे तथा रागके कारणोंको दूर छोड़े । भावार्थ—उपवासके दिन उपवास करनेवाला श्रावक भावपूजन करे अथवा प्रासुक द्रव्यसे द्रव्यपूजन करे । किन्तु इन्द्रिय और मनकी लोलुपता बढ़ानेवाले गीत और नृत्य आदि रागवर्द्धक साधनोंका त्याग करे । भक्तिपूर्वक देव, शास्त्र और गुरुके गुणोका स्मरण करना भावपूजा है । यह भावपूजा प्रोषधोपवासीके सामायिकमें निरत रहनेके कारण सहज सिद्ध है । क्योंकि द्रव्यपूजा का भी साध्य (फल) भावपूजा है । परन्तु जो इसमें असमर्थ है वह प्रासुक अक्षतादिके द्वारा द्रव्यपूजा करे ॥३९॥ नैष्ठिक श्रावक इस प्रोषधोपवास नामक व्रतमें नहीं है चक्षुके द्वारा देखना तथा कोमल उपकरणके द्वारा साफ करना जिनमें ऐसे उपकरणादिकके ग्रहणको, बिछौनाके बिछानेको, मलमूत्रादिकके त्यागनेको, अनादरको और अनैकाग्र्यको छोड़े । विशेषार्थ—अनवेक्षाप्रमार्जित-ग्रहण, अनवेक्षाप्रमार्जितास्तरण, अनवेक्षाप्रमार्जितोत्सर्ग, अनादर और अनैकाग्र्य ये पाँच प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं । अनवेक्षाप्रमार्जितग्रहण—जन्तु हैं या नहीं इस प्रकार चक्षुके द्वारा अवलोकन करनेको अवेक्षा कहते हैं । कोमल उपकरणसे स्थानादिकके शोधनेको प्रमार्जित कहते हैं । पूजाके उपकरण और स्वाध्यायके लिए शास्त्र आदिकको बिना देखे वा बिना शोधे ग्रहण करना अनवेक्षाप्रमार्जितग्रहण नामका अतीचार है । उपलक्षणसे बिना देखे और बिना शोधे हुए उनको रखना भी अतीचार होता है । इसी प्रकार आस्तरण अर्थात् बिछौना आदिका बिना देखे और बिना शोधे धरना अनवेक्षाप्रमार्जितास्तरण नामका अतीचार है । बिना देखे और बिना शोधे किसी जगहपर मलमूत्र आदिका विसर्जन करना अनवेक्षाप्रमार्जितोत्सर्ग नामका अतीचार है । यहाँपर नहीं देखना और नही शोधना तो अविधि (अनाचार) है और यद्वा तद्वा देखना और यद्वा तद्वा शोधना अतीचार है । यह अर्थ अनवेक्षा और अप्रमार्जन शब्दोंमें कुत्सा अर्थमें नञ्समासके करनेसे निकलता है । जैसे कि अब्राह्मण पदमें किये गये नञ्समासका अर्थ ब्राह्मणका अभाव नहीं है, किन्तु कुत्सित ब्राह्मण है । वैसे ही अनवेक्षा और अप्रमार्जन शब्दमें भी कुत्सित रीतिसे देखना और शोधना अतिचार है । बिल्कुल नही देखना वा बिल्कुल नहीं शोधना अतिचार नहीं, अनाचार हैं । अनादर—क्षुधादिककी वेदनासे प्रोषधोपवास व्रतमें अथवा अन्य आवश्यक कर्ममें उत्साहका न होना अनादर नामका अतिचार है । अनैकाग्र्य—क्षुधादिककी वेदनाके कारण प्रोषधोपवासव्रतमें या अन्य आवश्यक कर्ममें चित्तका एकाग्र नही रहना अनैकाग्र्य नामका अतिचार है ॥४०॥

विशेष दाताका विशेष फलके लिए विशेष विधिके द्वारा विशेष पात्रके लिए विशेष द्रव्यका दान करना अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है । विशेषार्थ—विशेष दाता द्वारा विशेष फलके लिए विशेष विधिके द्वारा विशेष पात्रके लिए विशेष द्रव्यका दान करना अतिथिसंविभाग कहलाता है ।

ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम् । यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः ॥४२
यत्तारयति जन्माब्धेः स्वाश्रितान्यानपात्रवत् । मुक्त्यर्थगुणसंयोगभेदात्पात्रं त्रिधा मतम् ॥४३
यतिः स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं श्रावकोऽधमम् । सुदृष्टिस्तद्विशिष्टत्वं विशिष्टगुणयोगतः ॥४४
प्रतिग्रहोच्चस्थानाङ्घ्रिक्षालनार्चानतीर्विदुः । योगान्नशुद्धींश्च विधीन् नवादरविशेषितान् ॥४५

अतिथिसंविभाग व्रतके प्रतिपादन करनेका यहाँ यह प्रयोजन है कि इसको अपने भोजनके पहले अतिथिकी प्रतीक्षा करना ही चाहिए। इससे उसको अतिथिके न मिलनेपर दानके फलमें बाधा नहीं आती, किन्तु वह भावनाके बलसे ही दानके फलका अधिकारी हो जाता है। सम् = निर्दोष तथा निर्बाध। वि-भाग—अपने लिए बनाये हुए भोजनके अशको अतिथिके लिए हिस्सा रखना अतिथिसंविभाग कहलाता है। सुयोग्य अतिथिके लिए सुयोग्य दाता द्वारा योग्य द्रव्यके देनेसे विशेषफलकी प्राप्ति होती है ॥४१॥ जो ज्ञानादिकको सिद्धिके हेतु शरीरको स्थितिके प्रयोजनभूत अन्नके लिए बिना बुलाए प्रयत्नपूर्वक अर्थात् संयमकी विराधना नहो करके दातारके घरको जाता है वह अतिथि कहलाता है। अथवा जिसके पर्व तिथि आदि किसीका भी विचार नहीं होता वह अतिथि कहलाता है। भावार्थ—ज्ञानादिकको सिद्धिके उपायभूत शरीरकी रक्षाके लिए (न कि शरीरकी ममताके लिए) अपने सयमको सम्हालते हुए किसीके बिना बुलाए शास्त्रविहित आहारकी आवश्यकताके लिए जो श्रावकके घरको यत्नाचारसहित गमन करता है उसे अतिथि कहते हैं? अथवा तिथि और तिथिके उपलक्षणसे पर्वदिवस और उत्सव दिवसका जिसके विचार नहीं होता वह अतिथि कहलाता है ॥४२॥ जो जहाजकी तरह अपने आश्रित प्राणियोंको ससार रूपी समुद्रसे पार कर देता है वह पात्र कहलाता है और वह पात्र मोक्षके कारणभूत अथवा मोक्ष ही है प्रयोजन जिनका ऐसे सम्यग्दर्शनादिक गुणोंके सम्बन्धके भेदसे तीन प्रकारका माना गया है। विशेषार्थ—जैसे जहाज अपने आश्रितोको जलाशयसे पार कर देता है वैसे ही जो दानके कर्त्ता, प्रेरक और अनुमोदकको ससारसे पार करता है उसे पात्र कहते हैं। वह पात्र मोक्षके लिए आवश्यक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी गुणोंके सयोगके भेदसे तीन प्रकारका है। अर्थात् उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे पात्रके तीन भेद है ॥४३॥ मुनि उत्तम, श्रावक मध्यम, असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र कहलाता है, तथा विशेषगुणोंके सम्बन्धसे ही इन उत्तमादि पात्रोंका परस्परमें या दूसरोसे भेद होता है। विशेषार्थ—मुनि उत्तम पात्र, श्रावक मध्यम पात्र और सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है। इन तीनोंमें परस्पर जो विशेषता है वह सम्यग्दर्शनादिकको प्राप्तिविशेषके कारण है। मुनियोंमें महाव्रत सहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। श्रावकोंमे देशव्रतसहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। तथा सम्यग्दृष्टियोमे व्रतरहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। इसलिये पात्रोंके उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद हो जाते है। इनमें परस्पर यही विशेषता है। तथा ये तीनों ही पात्र, अपात्रोंकी अपेक्षा भी विशेषता रखते है। अर्थात् अपात्र तारक नही होता, किन्तु ये पात्र तारक होते है ॥४४॥ प्राचीनाचार्य यथायोग्य विनयके द्वारा विशेषताको प्राप्त हुए प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार और मन.शुद्धि, वचनशुद्धि तथा अन्नशुद्धि दानके नौ प्रकारोंको जानते है। विशेषार्थ—पात्रके लिए विशेष आदरपूर्वक नवधाभक्तिसे जो आहार दिया जाता है उसे विधि-विशेष कहते हैं। प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, काय-शुद्धि तथा अन्नशुद्धि। पात्रको आहार देते समय यह नौ प्रकारकी विधि (नवधाभक्ति) होती है।

पिण्डशुद्ध्युक्तमन्नादिद्रव्यं वैशिष्ट्यमस्य तु । रागाद्यकारकत्वेन रत्नत्रयचयाङ्गता ॥४६
भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टिज्ञानलौल्यक्षमागुणः । नवकोटीविशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः ॥४७
रत्नत्रयोच्छ्रयो भोक्तुर्दातुः पुण्योच्चयः फलम् । मुक्त्यन्तचित्राभ्युदयप्रदत्वं तद्विशिष्टता ॥४८

जब पात्र अपने द्वारपर आता है तब भक्ति पूर्वक प्रार्थना करना कि भो गुरो ! मुझपर कृपा कीजिये, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोस्तु, ठहरिये, ठहरिये, ठहरिये, इस प्रकारसे आहारके लिए पात्रका स्वागत करके स्वीकार करना प्रतिग्रह कहलाता है। जब पात्र अपने यहाँ भोजन ग्रहण करना स्वीकार कर ले तब उसे अपने घरके भीतर ले जाकर निर्दोष, निर्बाध उच्चस्थानपर बिठाना उच्चस्थान कहलाता है। भक्तिपूर्वक पात्रके पैर धोना पादप्रक्षालन कहलाता है। और अक्षत जल आदिकसे पूजा करना पूजा कहलाती है। पञ्चाङ्ग नमस्कार करना नमस्कार कहलाता है। आर्त वा रौद्र ध्यानरहित मनकी अवस्थाको मनःशुद्धि, परुष वा कर्कश आदि वचन नहीं बोलनेको वचनशुद्धि तथा शरीरसे संयत आचार करनेको कायशुद्धि कहते हैं। यत्नपूर्वक शोध करके पिण्डसम्बन्धी दोषोंसे रहित आहारका नाम अन्नशुद्धि कहलाती है ॥४५॥ धर्मामृतके पिण्डशुद्धि नामक पञ्चम अध्यायमें कहा गया भक्त-पान देने योग्य द्रव्य कहलाता है और रागद्वेष आदिको उत्पन्न करने वाला नहीं होनेसे रत्नत्रयकी वृद्धिका कारणपना इस देने योग्य द्रव्यकी विशेषता कहलाती है। भावार्थ—अनगारधर्मामृतके पाँचवें अध्यायके पिंडशुद्धि नामक अधिकारमें बताये हुए चौदह दोष-रहित आहार, औषधि, आवास, पुस्तक आदि द्रव्य पात्रके लिए देय पदार्थ हैं। और वे देय पदार्थ पात्रके लिए रागद्वेष, असंयम, मद तथा दुख आदिकका कारण न हों किन्तु रत्नत्रयकी वृद्धिमें कारण हों यह देय द्रव्य की विशेषता है ॥४६॥ भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा इन सात असाधारण गुण सहित जो श्रावक मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनु-मोदना इन नौ कोटियोंके द्वारा विशुद्ध दानका अर्थात् देने योग्य द्रव्यका स्वामी होता है वह (दाता) कहलाता है। विशेषार्थ—मन, वचन और कायको कृत, कारित और अनुमोदनासे गुणा करनेपर नौ विकल्प होते है उनको 'नवकोटि' कहते हैं। अथवा देयशुद्धि और उसके लिए आवश्यक दातृ-शुद्धि तथा पात्रशुद्धि ये तीन, दातृशुद्धि और उसके लिए आवश्यक देय और पात्रकी शुद्धि ये तीन तथा पात्रशुद्धि और उसके लिए उपयोगी पड़नेवाली देय और दाताकी शुद्धि ये तीन प्रकारसे भी 'नवकोटि' मानी गई हैं। इस नवकोटिकी विशुद्धता जिस दानमें होती है उसे नवकोटि विशुद्ध दान कहते हैं। इस नवकोटि विशुद्ध दानका जो पति है अर्थात् उपयोग करनेवाला है उसे दाता कहते हैं। भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा ये सात दाताके गुण है। १—पात्र-गत गुणके अनुरागको भक्तिगुण कहते है। २—पात्रको दिये गये दानके फलमें प्रतीति रखनेको श्रद्धा कहते हैं। ३—जिससे दाता अल्प धनी होकर भी अपनी दानकी वृत्तिसे बड़े-बड़े धनाढ्योंको भी आश्चर्यान्वित करता है उसे सत्त्व कहते हैं। ४—देते समय अथवा दिये जानेपर जो हर्ष होता है उसे तुष्टि कहते हैं। ५—देने योग्य द्रव्यादिककी जानकारी रखनेको ज्ञान कहते हैं। ६—दुर्निवार क्रोधादिकके कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करना क्षमागुण कहलाता है। ७—सांसारिक फलकी इच्छाका नहीं रखना अलौल्य कहलाता है ॥४७॥

दान की गई वस्तुके भोक्ताके रत्नत्रयकी वृद्धि होना और दान देनेवाले श्रावकके पुण्यके समूहकी प्राप्ति होना अर्थात् बहुत पुण्यास्रव होना दानका फल है। तथा मोक्ष है अन्तमें जिसके ऐसे नानाप्रकारके और संसारमें आश्चर्यको करनेवाले इंद्रादिक पद स्वरूप अभ्युदयोंको देना दान

पञ्चसूनापरः पापं गृहस्थः सञ्चिनोति यत् । तदपि क्षालयत्येव मुनिदानविधानतः ॥४९

यत्कर्त्ता किल वज्रजङ्घनृपतिर्यत्कारयित्री सती,
श्रीमत्यप्यनुमोदका मतिवराव्याघ्रादयो यत्फलम् ।
आसेदुर्मुनिदानतस्तदधुनाऽप्याप्तोपदेशाब्दक-
व्यक्तं कस्य करोति चेतसि चमत्कारं न भव्यात्मनः ॥५०

कृत्वा माध्याह्निकं भोक्तुमुद्युक्तोऽतिथये पदे । स्वार्थं कृतं भक्तमिति, ध्यायन्नतिथिमीक्षताम् ॥५१

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु पात्रेभ्यो वितरन्ति ये । धन्या ते इति च ध्यायेदतिथ्यन्वेषणोद्यतः ॥५२

के फलकी विशेषता है। विशेषार्थ—दानका फल दाता और पात्र दोनोंको मिलता है। दानके प्रभावसे दाताके पुण्यराशिकी प्राप्ति होती है और दानके ग्रहणसे पात्रोंके रत्नत्रयकी उन्नति होती है। भोगभूमित्व, देवत्व, चक्रवर्तित्व, पारिव्राज्य आदि लोगोंको विस्मयमें डालनेवाले अभ्युदय और अन्तमें निर्वाण पदकी प्राप्ति यह सब दानके फलकी विशेषता है। दानके निमित्तसे मोक्ष मार्गस्थ साधुओंके शरीरकी स्थिति रहती है और उसके कारण वे अपनी आत्मविशुद्धि करके रत्नत्रयका पूर्ण विकास करते हैं। दानका मुख्यफल अन्तमें मोक्षप्राप्ति और उसके पहिले विश्वमें आश्चर्य पैदा करनेवाले अभ्युदय हैं ॥४८॥ पाँचसूनामे प्रवृत्त जो गृहस्थ जिस पापको सञ्चित करता है वह गृहस्थ मुनियोंके लिए विधिपूर्वक दान देनेसे उस पापको भी अवश्य नष्ट कर देता है। विशेषार्थ—हिंसात्मक पंचसूनारूप क्रियाओंमें प्रवृत्त रहनेवाला गृहस्थ जिन पापोंका संचय करता है, वे सब पाप मुनिदानके प्रभावसे प्रक्षालित (दूर) हो जाते हैं। अपिशब्दके विस्मय और समुच्चय दो अर्थ हैं। विस्मयार्थकतासे यह सूचित होता है कि—केवल मुनिदान के प्रभावसे गृहस्थके आरम्भजनित सब पापोंका नाश होता है। और समुच्चयार्थकतासे यह निष्कर्ष निकलता है कि आरम्भजनित पापोंका भी नाश होता है और व्यापारादि जनित पापोंका भी नाश होता है ॥४९॥ आगममें इस प्रकार सुना जाता है कि मुनियोंके लिए दान देनेसे दान देनेवाला वज्र-जङ्घ नामका राजा, उस दानको करानेवाली श्रीमती नामकी सती तथा उस दानकी अनुमोदना करनेवाले मतिवरमंत्री और व्याघ्र आदिक जिस फलको प्राप्त हुए वह मुनिदानका फल इस समय भी आप्तके उपदेशरूपी दर्पणके द्वारा व्यक्त होता हुआ अर्थात् प्रतीतिका विषय होता हुआ किस भव्य जीवके हृदयमें आश्चर्य नही करता है। भावार्थ—उत्पलखेट नामके राजा वज्रजङ्घने दान देकर, पुण्डरीकणी नगरीके वज्रदन्त चक्रवर्तीकी पुत्री एव उसकी रानी श्रीमतीने दानकी प्रेरणा करके और दान देते समय उपस्थित मतिवर नामक मन्त्री, आनन्दनामक पुरोहित, अकंपन नामके सेनापति, धनमित्र नामक सेठ तथा व्याघ्र, सूकर, वानर और नकुल इन पुरुष तथा तिर्यंचोंने दानकी अनुमोदना करके जो फल पाया है, वह आगमरूपी दर्पणके द्वारा आज भी जगत्प्रसिद्ध है। ऐसा दानका फल किस भव्यात्माके चित्तमें चमत्कार पैदा नहीं करता ॥५०॥ अतिथिसंविभागव्रतको पालन करनेवाला श्रावक मध्याह्नकालमें होनेवाले स्नान आदि सम्पूर्ण कार्योंको करके भोजन करनेके लिए उद्यत या तत्पर होता हुआ अपने लिए बनाये गये भोजनको में अतिथिके लिए दूँ इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ अतिथिकी प्रतीक्षा करे ॥५१॥ अतिथिकी खोज करनेमें तत्पर हुआ श्रावक जो गृहस्थ ढाई द्वीपमें पात्रोंके लिए विधिके अनुसार दान देते हैं वे गृहस्थ धन्य हैं इस प्रकार भी चिन्तवन करे ॥५२॥

हिंसार्थत्वान्न भूगेहलोहगोऽश्वादि नैष्ठिकः । न दद्याद् ग्रहसङ्क्रान्तिश्राद्धादौ वा सुदृग्द्रुहि ॥५३
त्याज्याः सचित्तनिक्षेपोऽतिथिदाने तदावृतिः । सकालातिक्रम-परव्यपदेशश्च मत्सरः ॥५४
एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तामला-
न्यागूर्णः समितिष्वनारतमनो दीप्राप्तवाग्दीपकः ।
वैयावृत्त्यपरायणो गुणवतां दीनानतीवोद्धरं-
श्चर्यां दैवसिकीमिमां चरति यः सः स्यान्महाश्रावकः ॥५५

नैष्ठिक श्रावक प्राणियोंकी हिंसामें निमित्त होनेसे भूमि, घर, शस्त्र, गौ, बैल, घोड़ा, वगैरह हैं आदि में जिनके ऐसे कन्या, सुवर्ण और अन्न आदि पदार्थोंको दान नहीं देवे। और जिनको पर्व माननेसे सम्यक्त्वका घात होता है ऐसे ग्रहण, संक्रान्ति तथा श्राद्ध वगैरहमें अपने द्रव्यका दान नहीं देवे। भावार्थ—ग्रहण और संक्रान्ति आदिके अवसर पर दिया गया दान मिथ्यात्वका पोषक है तथा भूमि, घर, गाय और कन्या आदिका दान देनेसे हिंसा होती है इसलिये नैष्ठिकको इनका दान नही करना चाहिए ॥५३॥ अतिथिसंविभागव्रतके पालक श्रावक द्वारा अतिसंविभागव्रत-में देयवस्तुका सचित्तमें रखना, सचित्तके द्वारा ढकना और कालातिक्रम वा परव्यपदेश सहित मात्सर्य ये पाँच अतिचार छोड़े जाना चाहिए। विशेषार्थ—सचित्तनिक्षेप, सचित्तावृति, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सर ये पाँच अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार हैं। व्रतीको इनका त्याग करना चाहिए। सचित्त पत्ते आदि पर रखे भक्त-पानादि पात्रको देना सचित्त निक्षेप अतिचार है। सचित्ता-वृति—सचित्तपदार्थसे देय वस्तुके ढकनेको सचित्तावृति कहते है। कालातिक्रम—आहारके समय-का टालना कालातिक्रम कहलाता है। यह अतिचार अकालमें यतियोंको आहार देनेके अभिप्रायसे द्वारापेक्षण करनेसे होता है। परव्यपदेश—देयवस्तु परकीय है, इस प्रकार व्याजसे कहना अथवा अपने इष्टजनोंको भी पुण्यलाभ हो इस अभिप्रायसे देयवस्तु अमुक व्यक्तिकी है इस अभिप्रायसे देना भी परव्यपदेश कहलाता है। मत्सर—पात्रप्रतीक्षाके समय क्रोधभाव रखना जैसे 'मैं प्रतिदिन खड़ा होता हूँ, फिर भी मेरे यहाँ कोई पात्र नही आता। अथवा मै कितनी देर से खड़ा हूँ, तो भी अभी तक कोई पात्र मेरे यहाँ नही आया' ऐसी भावना रखना मत्सर कहलाता है। अथवा यतिको पड़गाह लेने पर भी अपने पास रखे हुए देय पदार्थका समर्पण नहीं करना भी मत्सर है। अर्थात् देने पर भी आदर नहीं करना, अन्यदाताके दानको नहीं सह सकना तथा दूसरेके दानमें वैमनस्य रखना मत्सर अतिचार है ॥५४॥ इस प्रकार पाँचों अणुव्रतोंको पालन करनेके लिए अतिचार रहित सातों शीलोंको पालन करनेवाला ईर्या आदि पाँचों समितियोंमें उद्यत निरन्तर मनमें देदीप्यमान है आप्तके वचनसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञान रूपी दीपक जिसके ऐसा गुणी पुरुषोंके वैय्यावृत्य करनेमें तत्पर तथा पाक्षिकादिककी अपेक्षा अधिक रूपसे दीन पुरुषोंको दुःखसे छुड़ाने वाला जो गृहस्थ आगेके अध्यायमें कही जाने वाली इस दिनरात सम्बन्धी चर्याको पालन करता है वह गृहस्थ महाश्रावक कहलाता है। विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन सहित, अणुव्रतोंका निरतिचार पालक, जिनागम-का उपासक, वैयावृत्यपरायण, दीनोद्धारक और षष्ठाध्यायोक्त दिनचर्याका पालक व्यक्ति इन्द्रादिकसे पूज्य महाश्रावकपद कालादि लब्धिके निमित्तसे किसी महान् व्यक्तिको हो प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शनशुद्धत्व, व्रतभूषित्व, जिनागमसेवित्व, निर्मलशीलनिधित्व, संयमनिष्ठत्व, गुरु-शुश्रूषकत्व, दयापरत्व और दिनचर्यापालकत्व ये आठ गुण जिसके होते हैं वह महाश्रावक कहलाता है। अणुव्रत और महाव्रत यदि समितिसहित हों तो संयम कहलाते हैं और समितिरहित हों तो विरत कहलाते हैं ॥५५॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

षष्ठ अध्याय

ब्राह्मे मुहूर्त्त उत्थाय वृत्तपञ्चनमस्कृतिः । कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥१
अनादौ बम्भ्रमन् घोरे संसारे धर्ममार्हतम् । श्रावकीयमिमं कृच्छ्रात् किलापं तदिहोत्सहे ॥२
इत्यास्थायोत्थितस्तल्पाच्छुचिरेकायनोऽर्हतः । निर्मायाष्टतयीमिष्टिं कृतिकर्म समाचरेत् ॥३
समाध्युपरमे शान्तिमनुध्याय यथाबलम् । प्रत्याख्यानं गृहीत्वेष्टं प्रार्थ्यं गन्तुं नमेत्प्रभुम् ॥४
साम्यामृतसुधौतान्तरात्मराजज्जिताकृतिः । दैवादैश्वर्यदौर्गत्ये ध्यायन्गच्छेज्जिनालयम् ॥५

ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठ करके पढ़ा है पंचनमस्कार मंत्र जिसने ऐसा श्रावक मैं कौन हूँ, मेरा धर्म कौन है और मेरा व्रत कौन है इस प्रकार चिन्तवन करे। भावार्थ—श्रावक शय्यासे ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठे और सर्वप्रथम पंचनमस्कार मन्त्रका स्मरण करे। फिर मैं कौन हूँ, मेरा धर्म क्या है और मेरा व्रत क्या है ? इत्यादि चिन्तवन करे ॥१॥ आगममें इस प्रकार सुना जाता है कि भयङ्कर और आदि रहित संसारमें कुटिलरीतिसे घूमनेवाले मैंने वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित श्रावक-सम्बन्धी इस धर्मको बड़ी कठिनाईसे पाया है इसलिए इस अत्यन्त दुर्लभ धर्मके विषयमें प्रमाद-रहित प्रवृत्त होता हूँ। भावार्थ—भयङ्कर और पंचपरावर्त्तनरूप अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हुए मैंने वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित श्रावकीय धर्म बड़ी कठिनाईसे प्राप्त कर पाया है इसलिए मुझे इसमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए ॥२॥ इस प्रकार प्रतिज्ञा करके शय्यासे उठा पवित्र और एकाग्रमन होता हुआ अरिहन्त भगवान्की जलगन्धादिक आठ अवयववाली पूजाको करके वन्दना आदि करणीय कार्योंको भली भाँति करे। विशेषार्थ—इस प्रकार शय्यासे उठकर शौच, मुखशुद्धि और स्नान आदिकसे निवृत्त होकर एकाग्रमन होकर अरिहन्त भगवान्की पूजा करके कृति कर्म करना चाहिए। योग्य कालमें, योग्य आसनसे, योग्य स्थानमें, सामायिकके योग्य मुद्रा धारण करके, चारों दिशाओंमें तीन तीन आवर्त्त और एक एक नमस्कार कर अपने पदके योग्य वस्त्रादिक रखकर शेष आरम्भ और परिग्रहका त्याग करके विधिपूर्वक सामायिक आदि करना कृतिकर्म कहलाता है ॥३॥ वन्दना कादि कर्मोंको करनेवाला श्रावक समाधिकी निवृत्ति होनेपर शान्तिपाठको चिन्तवन करके अपनी शक्तिके अनुसार भोगोपभोग सम्बन्धी नियमविशेषको ग्रहण करके अभिलषित पदार्थको प्रार्थना करके गमन करनेके लिए अरिहन्त देवको नमस्कार कर विसर्जन करे। भावार्थ—पूर्वकालमें प्रायः प्रत्येक घरमें चैत्यालय होते थे। दक्षिणमें आज भी यही प्रथा है। इसलिये पहले घरके चैत्यालयमें पूजन, सामायिक, शान्तिपाठ, इष्टप्रार्थना और विसर्जन कर पश्चात् जिनमन्दिरमें जानेका विधान किया है ॥४॥ समता परिणामरूप अमृतके द्वारा अच्छी तरह विशुद्धिको प्राप्त हुए अन्तरात्मामें देदीप्यमान है परमात्माकी मूर्ति जिसके ऐसा श्रावक ऐश्वर्य और दारिद्र्य पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मके उदयसे होते हैं, इसप्रकार चिन्तवन करता हुआ जिनालयको जावे। भावार्थ—सामायिकके द्वारा जिसका अन्तःकरण भेदविज्ञान युक्त है और इसी कारण जिसके अन्तःकरणमें जिनेन्द्र भगवान्की आकृति विराजमान है वह भव्य ऐश्वर्य (अमीरी) और दारिद्र्य (गरीबी) दोनों दैवी लीलाके फल

यथाविभवमादाय जिनाद्यर्चनसाधनम् । व्रजन्कौत्कुटिको देशसंयतः संयतायते ॥६
दृष्ट्वा जगद्बोधकरं भास्करं ज्योतिरार्हतम् । स्मरतस्तद्गृहशिरोध्वजालोकोत्सवोऽघहृत् ॥७
वाद्यादिशब्दमाल्यादिगन्धद्वारादिरूपकैः । चित्रैरारोहदुत्साहस्तं विशेन्निःसहीगिरा ॥८
क्षालिताङ्घ्रिस्तथैवान्तः प्रविश्यानन्दनिर्भरः । त्रिःप्रदक्षिणयेन्नत्वा जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन् ॥९
सेयमास्थायिका सोऽयं जिनस्तेऽमी सभासदः । चिन्तयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान् ॥१०
अथेर्यापथसंशुद्धिं कृत्वाऽभ्यर्च्य जिनेश्वरम् । श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥११

हैं इनमें हर्ष विषादसे लाभ नहीं—इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ देवदर्शनके लिए जिनालयको जावे ॥५॥ अपनी सम्पत्तिके अनुसार अरिहन्तादिककी पूजाके साधनभूत जल गन्धादिकको ग्रहण करके आगे चार हाथ जमीन देखता हुआ गमन करनेवाला देशसंयमी श्रावक मुनिके समान आचरण करता है। भावार्थ—अपनी सम्पत्तिके अनुसार पूजनकी सामग्री लेकर चार हाथ आगे जमीन देखता हुआ ईर्यासमितिपूर्वक दर्शनके हेतु मन्दिरजीको जानेवाला देशसंयमी ईर्यासमितिपालक यतिके समान मालूम होता है ॥६॥ जगत्के प्राणियोंकी निद्राको दूर करनेवाले सूर्यको देखकर अरिहन्त भगवान् सम्बन्धी बहिरात्मा प्राणियोंकी मोहरूपी निद्राको दूर करनेवाले ज्ञानमय अथवा वचनमय तेजको स्मरण करनेवाले श्रावकके जिनेन्द्र भगवान्के चैत्यालयके शिखरमें लगी ध्वजाके देखनेसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द पापनाशक होता है। भावार्थ—उक्त विधिसे प्रातःकाल जिनमन्दिरजीको जानेवाला श्रावक सूर्यको देखकर इस प्रकार चिन्तवन करे कि जैसे सूर्य अपनी किरणोंके प्रकाशसे; प्रकाशमें अपने अपने व्यवहारको सम्पादन करनेवाले प्राणियोंका मार्गदर्शक है उसी प्रकार जिनेन्द्रभगवान् भी अपनी ज्ञानात्मक और वचनात्मक किरणोंसे संसारके बहिरात्मा प्राणियोंकी मोहनिद्राके नाशक हैं। इस प्रकार चिन्तवन करनेवाले भव्यके चित्तमें भगवान्के मन्दिरकी ध्वजाके दर्शनसे जो आनन्दोत्सव होता है उससे उसके पापोंका नाश होता है ॥७॥ नानाप्रकार और विस्मयको करनेवाले प्रभातकाल सम्बन्धी वादित्र आदिके शब्दोके द्वारा, चम्पा गुलाब आदिके फूलोंकी गन्धके द्वारा तथा द्वारतोरण और शिखर पर बने हुए चित्रो द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुआ है धर्माचरण सम्बन्धी उत्साह जिसका ऐसा श्रावक निःसही इस वचनके द्वारा अर्थात् निःसही इस वचनका उच्चारण करके उस जिनालयमें प्रवेश करे। भावार्थ—दर्शनार्थी श्रावक घंटा, झालर, जयघोष, स्तुति और स्वाध्याय आदिके शब्दसे तोरणकी वन्दनवार आदिमें लगे हुए नानाप्रकारकी पुष्पमालाओंसे, धूप आदिकी सुगन्धसे तथा प्रवेशद्वार, खम्भों वा शिखर पर अंकित नानाप्रकारके चित्रोंसे अपने अन्तःकरणमें उत्साहसम्पन्न होकर निःसही निःसही निःसही इसप्रकार तीन बार उच्चारण करता हुआ जिनमन्दिरमें प्रवेश करे ॥८॥

धोये हैं पैर जिसने ऐसा और आनन्दके द्वारा व्याप्त हो गया है सम्पूर्ण अङ्ग जिसका ऐसा यह श्रावक उसी प्रकार अर्थात् निःसही इस शब्दको उच्चारण करता हुआ ही चैत्यालयके भीतर प्रवेश करके पुण्यास्रवको करनेवाली स्तुतियोंको पढ़ता हुआ तीन बार प्रदक्षिणा करे ॥९॥ यह चैत्यालयकी भूमि वही जिनागम प्रसिद्ध समवसरण है, ये प्रतिमार्पित जिनेन्द्र वही अरिहन्त तथा ये जिनाराधक भव्य वे ही बारह सभाओंके सभासद हैं इस प्रकार विचार करनेवाला श्रावक उस चैत्यालयमें धर्माराधक भव्योंको बार बार अभिनन्दन करे ॥१०॥ इसके अनन्तर यह महाश्रावक ईर्यापथशुद्धि अथवा प्रतिक्रमणको करके जिनेन्द्र भगवान्को, जिनवाणीको और

ततश्चावर्जयेत्सर्वान् यथार्हं जिनभाक्तिकान् । व्याख्यातः पठतश्चार्हद्वचः प्रोत्साहयेन्मुहुः ॥१२
स्वाध्यायं विधिवत्कुर्यादुद्धरेच्च विपद्धतान् । पक्वज्ञानदयस्यैव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः ॥१३
मध्ये जिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिम् । निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥१४
ततो यथोचितस्थानं गत्वाऽर्थेऽधिकृतान् सुधीः । अधितिष्ठेद् व्यवस्येद्वा स्वयं धर्माविरोधतः ॥१५
निष्फलेऽल्पफलेऽनर्थफले जातेऽपि पौरुषे । न विषीदेन्नान्यथा वा हृष्येल्लीला हि सा विधेः ॥१६
कदा माधुकरी वृत्तिः सा मे स्यादिति भावयन् । यथालाभेन सन्तुष्टः उत्तिष्ठेत तनुस्थितौ ॥१७
नीरगोरसधान्यैधःशाकपुष्पाम्बरादिभिः । क्रीतैः शुद्ध्यविरोधेन वृत्तिः कल्प्याघलाघवात् ॥१८
सधर्मिणोऽपि दाक्षिण्याद् विवाहादौ गृहेऽप्यदन् । निशि सिद्धं त्यजेद् दीनैर्व्यवहारं च नावहेत् ॥१९

आचार्यको पूज करके उस आचार्यके समक्ष घरके चैत्यालयमें पहले ग्रहण किये हुए नियम विशेषको प्रगट करे। विशेषार्थ—ईर्यापथसे चलते हुए भी मेरे द्वारा आज प्रमादसे किसी भी कायके जीवोंको यदि बाधा पहुचाई गई हो अर्थात् चार हाथ शोधकर चलनेमें गलती हुई हो वह सब गुरुभक्तिके प्रभावसे मिथ्या होवे ऐसे चिन्तवनको ईर्यापथशुद्धि कहते हैं ॥११॥ इसके अनन्तर यह श्रावक यथायोग्य आदर विनयके द्वारा सम्पूर्ण अरिहन्तके आराधकोंको प्रसन्न करे तथा जिनागमको व्याख्यान करनेवालोंको और अध्ययन करनेवालोंको भी बार बार उत्साहित करे। भावार्थ—मुनियोंको 'नमोऽस्तु', आर्यिकाओं और क्षुल्लकोंको 'वन्दे' तथा श्रावकोंको 'इच्छामि' कहकर विनय करे ॥१२॥ इसके अनन्तर यह महाश्रावक विधिके अनुसार स्वाध्यायको करे और विपत्तिसे पीड़ित दीन प्राणियोंको विपत्तिसे दूर करे क्योंकि विशेषज्ञानी और दयालु व्यक्तिके ही सब गुण इच्छापूर्तिकारक होते हैं ॥१३॥ यह श्रावक जिनमन्दिरमें हँसीको, शृङ्गारयुक्त चेष्टाको, खोटी कथाओंको, कलहको, निद्राको, थूकनेको और चारों प्रकारके आहारको छोड़े ॥१४॥ इसके अनन्तर हित और अहितका विवेकी श्रावक द्रव्योपार्जन-योग्य दुकान आदि स्थानोंको जाकर द्रव्यका उपार्जन करनेमें नियुक्त किये गये व्यक्तियोंको सनाथ करे अर्थात् उनकी वा उनके कार्योंकी देख रेख करे अथवा अपने धर्मकी रक्षाका लक्ष्य करके स्वयं व्यवसाय करे ॥१५॥ द्रव्योपार्जन करनेमें तत्पर यह श्रावक पुरुषार्थके विफल, अल्पफलवाले और वृथा फलवाले होनेपर विषाद नहीं करे। तथा इससे विपरीत होनेपर हर्ष नहीं करे, क्योंकि पुरुषार्थको सफल या निष्फल आदि बनानेवाली निरंकुश प्रवृत्ति पूर्वोपार्जित पुण्यपाप कर्म की है। भावार्थ—अर्थोपार्जनके लिए कृत पुरुषार्थ निष्फल हो जावे; आशाकी अपेक्षा कम फल मिले, अपेक्षासे बहुत अधिक फल मिल जावे, अथवा बिलकुल विफल हो जावे, तो भी श्रावकको हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह सफलता और असफलता आदि पुरुषार्थका फल नहीं है किन्तु पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मजनित है। इसलिए उसमे हर्ष विषाद नही करना चाहिए ॥१६॥ वह जिनागममें वर्णित माधुकरीनामक भिक्षावृत्ति मेरे किस समय होगी इस प्रकार चिन्तवन करनेवाला यह श्रावक जितना धन मिला हो उतने ही धनसे सन्तुष्ट होता हुआ शारीरिक स्वास्थ्यको ठीक रखनेमें कारणभूत भोजनादिककी प्रवृत्तिमे उद्यम करे ॥१७॥ श्रावकके द्वारा अपने गृहीत सम्यक्त्व और व्रतोका घात नही करके मूल्य देकर खरीदे गये जल, गोरस, धान्य, लकड़ी, शाक, फूल और वस्त्र आदिक द्वारा पापोंकी लघुतापूर्वक अपने शरीरके निर्वाहका व्यापार किया जाना चाहिये ॥१८॥ व्यवहारनिर्वाहके प्रयोजनसे साधर्मी भाइयोंके घर में, तथा

उद्यानभोजनं जन्तुयोधनं कुसुमोच्चयम् । जलक्रीडान्दोलनादि त्यजेदन्यच्च तादृशम् ॥२०
यथादोषं कृतस्नानो मध्याह्ने धौतवस्त्रयुक् । देवाधिदेवं सेवेत निर्द्वन्द्वः कल्मषच्छिदे ॥२१

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक्-
कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ।
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तनं
सिक्तं कुम्भजलैश्च गंधसलिलैः सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२

सम्यग्गुरूपदेशेन सिद्धचक्रादि चार्चयेत् । श्रुतं च गुरुपादांश्च को हि श्रेयसि तृप्यति ॥२३
ततः पात्राणि सन्तर्प्य शक्तिभक्त्यनुसारतः । सर्वांश्चाप्याश्रितान्काले सात्म्यं भुञ्जीत मात्रया ॥२४
लोकद्वयाविरोधीनि द्रव्यादीनि सदा भजेत् । यतेत व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः स हि वृत्तहा ॥२५
विश्रम्य गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोऽर्थिभिः सह । जिनागमरहस्यानि विनयेन विचारयेत् ॥२६

विवाह आदिकमें भी भोजन करनेवाला यह श्रावक रात्रिमें बनाये गये भोजनको छोड़े, और नीचजनोंके साथ व्यवहारको नही करे। भावार्थ—विवाह आदिके समय कोई सधर्मी जन भोजनके लिए आग्रह करे तो श्रावक जा सकता है। अपने बालबच्चोंके विवाहमें भी भोजन कर सकता है। परन्तु ऐसी परिस्थितिमें उसे रात्रिके बने पदार्थ नही खाना चाहिए। क्योंकि रातके बने भोजनमें त्रस जीवोंकी विराधना और संमिश्रण नहीं हटाया जा सकता। तथा धर्मसे हीन जनके साथ भी दानग्रहण आदिका व्यवहार नहीं करना चाहिए ॥१९॥

यह श्रावक बगीचामें भोजन करनेको, प्राणियोंके परस्परमें लड़ानेको, फूलोंके ढेरको, जलक्रीडाको, झूला झूलना आदिको छोड़े तथा इस प्रकारके हिंसाके कारण और दूसरे कार्योंको भी छोड़े ॥२०॥ मध्याह्नकालमें दोषके अनुसार किया है स्नान जिसने ऐसा और धुले हुए वस्त्रोंको धारण करनेवाला यह श्रावक पापोंको नष्ट करनेके लिए आकुलतारहित होता हुआ अरिहन्त भगवान्की आराधना करे ॥२१॥ अभिषेककी प्रतिज्ञा कर अभिषेकके स्थानको शुद्ध करके चारों कोनोंमें चार कलशसहित श्रीवर्णके ऊपर कुशसहित सिंहासनपर जिनेन्द्रभगवान्को स्थापित करके आरती उतारकर इष्टदिशामें स्थित होता हुआ जल, इक्षुरस, घी, दुग्ध और दहीके द्वारा अभिषिक्त करके चन्दनानुलेपन युक्त तथा पूर्वस्थापित कलशोंके जलसे तथा सुगन्धयुक्त जलसे अभिषिक्त जिनराजको अष्टद्रव्यसे पूजा करके स्तुति करके जाप करे ॥२२॥ यह श्रावक सच्चे गुरुके उपदेशसे सिद्धचक्र आदिको तथा शास्त्रको और गुरुके चरणोंको पूजे, क्योंकि कल्याणके विषयमें कौन पुरुष तृप्त हो सकता है ॥२३॥ तदनन्तर यह श्रावक अपनी शक्ति तथा भक्तिके अनुसार पात्रोंको और सम्पूर्ण अपने आश्रित प्राणियोंको भी अच्छी तरहसे सन्तुष्ट करके योग्य कालमें प्रमाणसे सात्म्यपदार्थ खावे। विशेषार्थ—मध्याह्न कालको पूजाके बाद पात्रदानके लिए द्वारापेक्षण करे। और प्राप्त सत्पात्रको अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार दान देकर तथा सम्पूर्ण आश्रितोंका भरण पोषण करके योग्यकालमें मात्रासे सात्म्य भोजन करे। प्रकृतिसे अविरुद्ध भोजन जिसके खानेपर हानि नहीं होती उसे सात्म्य कहते हैं ॥२४॥ यह श्रावक इस लोक और परलोकमें विरोध नहीं करनेवाले द्रव्यादिकको सर्वदा सेवन करे तथा व्याधिके उत्पन्न नहीं होने देने और उत्पन्न हुई व्याधिके दूर करनेके विषयमें प्रयत्न करे। क्योंकि वह व्याधि संयमका घात करनेवाली होती है ॥२५॥ इसके अनन्तर यह श्रावक विश्राम करके गुरुओंके साथ, सहपाठियोंके साथ तथा हितैषियोंके साथ जिनागमके रहस्योंको विनयपूर्वक विचार करे ॥२६॥ उस

सायमावश्यकं कृत्वा कृतदेवगुरुस्मृतिः । न्याय्ये कालेऽल्पशः स्वप्यात् शक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥२७
निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं निर्वेदेनैव भावयेत् । सम्यग्भावितनिर्वेदः सद्यो निर्वाति चेतनः ॥२८
दुःखावर्ते भवाम्भोधावात्मबुद्धयाध्यवस्यता । मोहाद्देहं हहाऽऽत्माऽयं बद्धोऽनादि मुहुर्मया ॥२९
तदेनं मोहमेवाहमुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे । मुच्येतैतत्क्षये क्षीणरागद्वेषः स्वयं हि ना ॥३०
बन्धाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रहः । बन्धश्च पुनरेवातस्तदेनं संहराम्यहम् ॥३१
ज्ञानिसङ्गतपोध्यानैरप्यसाध्यो रिपुः स्मरः । देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येणैव साध्यते ॥३२
धन्यास्ते येऽत्यजन् राज्यं भेदज्ञानाय तादृशम् । धिङ्माहृशः कलत्रेच्छातन्त्रगार्हस्थ्यदुःस्थितान् ॥३३

तत्त्वचर्चाके बाद सन्ध्या समय आवश्यक कर्मोंको करके किया है देव तथा गुरुका स्मरण जिसने ऐसा यह श्रावक उचित समयमें थोड़ा शयन करे और यथाशक्ति मैथुनको छोड़े ॥२७॥ यह श्रावक निद्राके दूर होनेपर फिरसे वैराग्यके द्वारा ही चित्तको भावित करे, क्योंकि अच्छी तरहसे अभ्यास किया है वैराग्यका जिसने ऐसा आत्मा उसी क्षणमे प्रशम सुखका अनुभव करता है और अल्प समयमें ही निर्वाणको प्राप्त होता है ॥२८॥ बड़े खेदकी बात है कि दुःख ही हैं आवर्त अर्थात् भँवरे जिसमें ऐसे संसाररूपी समुद्रमें मोहके कारण शरीरको आत्मा रूपसे निश्चित करनेवाले मेरे द्वारा यह आत्मा अनादिकालमें बार-बार कर्मोंसे बद्ध किया गया। भावार्थ—जिसमे नरकादिकके दुःख ही भँवरें हैं ऐसे ससाररूपी समुद्रमें अनादिकालसे मोह (अविद्या) संस्कारसे शरीरको ही आत्मा मानकर मैने अपने आत्माको बार-बार कर्मोसे परतत्र किया है, यह बड़े खेदकी बात है ॥२९॥

इसलिये मै सर्वदा इस मोहको ही नष्ट करनेके लिए प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि इस मोहके नष्ट होनेपर क्षीण हो गये है राग और द्वेष जिसके ऐसा पुरुष स्वय अर्थात् बिना किसी प्रयत्नके अपने आप मुक्त हो जाता है। भावार्थ—मोहके नष्ट होनेपर मेरा आत्मा रागद्वेषसे रहित होकर स्वयं (बिना किसी प्रयत्नके) मुक्तिका लाभ कर सकता है क्योंकि रागद्वेषका मूलकारण मोह है। इसलिये मोहके नाशसे रागद्वेषका विनाश अपने आप होता है। अतएव मुझे मोहके उच्छेदके लिए ही निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ॥३०॥ पुण्यपापरूप कर्मके उदयसे शरीर, इस शरीरमें स्पर्शन आदिक इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियोके द्वारा स्पर्श आदिक विषयोका ग्रहण तथा इन विषयोंके ग्रहणसे फिर भी कर्मोंका बन्ध होता है इसलिए मै इस बन्धके कारणभूत विषयोंके ग्रहणको ही जड़से नष्ट करता हूँ। भावार्थ—पुण्यपापात्मक कर्मोके विपाकको बन्ध कहते हैं, उससे देहकी प्राप्ति होती है। देहमें इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। और इन विषयोके उपभोगसे पुनः बन्ध होता है। यह अनर्थपरम्परा अनादिसे चली आती है इसलिये मैं बन्धके मूल विषयग्रहण या परपदार्थमें उपादेय बुद्धिका ही सर्वप्रथम संहार करता हूँ ॥३१॥ ज्ञानियोंकी संगति, तप और ध्यानके द्वारा भी वशमें नहीं हो सकनेवाला कामरूपी शत्रु शरीर और आत्माके भेदविज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले वैराग्यके द्वारा ही वशमें किया जा सकता है ॥३२॥ जो व्यक्ति भेदविज्ञानके लिये उस प्रकारके अर्थात् आज्ञा और ऐश्वर्य आदिकके द्वारा सर्वोत्कृष्ट साम्राज्यको भी छोड़ चुके वे पुरुष प्रशंसनीय हैं, किन्तु स्त्रीकी इच्छा है प्रधान जिसमें ऐसे अथवा स्त्रीकी इच्छाके अधीन है वृत्ति जिसकी ऐसे गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्योके द्वारा दुखी मेरे समान पुरुषोंको धिक्कार है ॥३३॥

**इतः शमश्रीः स्त्री चेतः कर्षतो मां जयेन्नु का। आ ज्ञातमुत्तरैवात्र जेत्री या मोहराट्चमूः ॥३४
चित्रं पाणिगृहीतीयं कथं मां विष्वगाविशत्। यत्पृथग्भावितात्माऽपि समवैम्यनया पुनः ॥३५
स्त्रीतश्चित्त निवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे। मृतमण्डनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥३६
इति च प्रतिसन्दध्यादुद्योगं मुक्तिवर्त्मनि। मनोरथा अपि श्रेयोरथाः श्रेयोऽनुबन्धिनः ॥३७
क्षणे क्षणे गलत्यायुः कायो ह्रसति सौष्ठवात्। ईहे जरां नु मृत्युं नु सध्रीचीं स्वार्थसिद्धये ॥३८
क्रियासमभिहारोऽपि जिनधर्मजुषो वरम्। विपदां सम्पदां नासौ जिनधर्ममुचस्तु मे ॥३९
लब्धं यदिह लब्धव्यं तच्छ्रामण्यमहोदधिम्। मथित्वा साम्यपीयूषं पिबेयं परदुर्लभम् ॥४०
पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे। जीविते मरणे मोक्षे भवे स्यां समधीः कदा ॥४१**

इस ओरसे शान्तिरूपी लक्ष्मी और इस ओरसे स्त्री मेरेको अपनी-अपनी तरफ खीचती है। अथवा अच्छी तरहसे मालूम हो गया कि इन दोनोंमें स्त्री ही विजयशील है जो मोहरूपी राजाकी सेना है ॥३४॥ बड़ा भारी आश्चर्य है कि हाथके द्वारा ग्रहण की गई यह विवाहिता स्त्री किस प्रकार से मेरेमें चारों ओरसे प्रविष्ट हो गई है क्योंकि पृथक् रूपसे बार-बार चिन्तवन किया है आत्माका जिसने ऐसा मै बार-बार इस स्त्रीके साथ तादात्म्य सम्बन्धको प्राप्त होता हूँ ॥३५॥ हे मन, यदि तू निश्चय करके स्त्रीसे निवृत्त हो गया तो फिर धनग्रहणको क्यों चाहेगा? क्योंकि स्त्रीकी इच्छा नहीं रहनेपर धनका ग्रहण करना अथवा धनकी इच्छा करना मरे हुए मनुष्योंको भूषण पहिनानेके समान व्यर्थ है ॥३६॥ वक्ष्यमाण प्रकारसे भी यह श्रावक मोक्षमार्गके विषयमे उद्योग या उत्साहको बार-बार लगावे क्योंकि मोक्ष ही है रथ जिन्होंका ऐसे अर्थात् मोक्षविषयक मनोरथ भी अभ्युदयके सम्पादन करनेवाले या स्वर्गादिकको देनेवाले होते है ॥३७॥ आयुकर्म क्षण-क्षणमें अर्थात् प्रतिसमय-में नाशको प्राप्त हो रहा है और सौन्दर्य एवं स्वार्थक्रियाके करनेकी सामर्थ्यसे शरीर ह्रासको प्राप्त हो रहा है इसलिए मै अपने इच्छित अर्थकी सिद्धिके लिए सहायभूत बुढ़ापेकी इच्छा करूं क्या? अथवा मृत्युको चाहूँ क्या? भावार्थ—व्यावहारिक जीवनमें स्वार्थकी सिद्धिके लिए आयु और शरीर प्रधान साधन माने जाते है। परन्तु आयु अञ्जलिके जलके समान प्रतिक्षण क्षीण हो रही है। तथा काय भी अपने सामर्थ्यसे प्रतिक्षण शिथिल हो रहा है। कायकी यह हीनता बुढ़ापेके लानेमें प्रवृत्त हो रही है। तो मरण और बुढापा इन दोनोमेंसे किसको अपने स्वार्थका सहायक समझूं। अर्थात् वास्तवमें इनमें कोई भी मुझे स्वार्थका सहायक नही दिखता, इस प्रकार भी चिन्तवन करे ॥३८॥ जिनधर्मको प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले मेरे विपत्तियोंका बार-बार आना भी श्रेष्ठ है, किन्तु जिन-धर्मसे विमुख मेरे सम्पत्तियोका यह बार-बार आना श्रेष्ठ नही है। भावार्थ—जिनधर्मको प्रीति-पूर्वक सेवन करते हुए यदि शारीरिक वा मानसिक दुःख और परीषह तथा उपसर्गकी मुझे पुनः-पुनः प्राप्ति होवे तो उसे मै अच्छा मानता हूँ। किन्तु जैनधर्मसे विमुख रहनेपर इन्द्रिय और मान-सिक सुख साधनोंकी बारम्बार प्राप्तिको मै अच्छा नही मानता हूँ। श्रावक इस प्रकार श्रद्धाकी दृढ़ता-द्योतक भावना भावे ॥३९॥ इस मनुष्यजन्म अथवा इस गृहस्थाश्रममे जो प्राप्त करना चाहिये था वह मैंने प्राप्त कर लिया इसलिए मुनिव्रत रूपी महासमुद्रको मथ करके दूसरोंके लिए अत्यन्त दुर्लभ समतारूपी अमृतको मुझे पीना चाहिये। भावार्थ—मुझे इस गृहस्थाश्रम तथा मनुष्यभवमें जो कुछ प्राप्त करने योग्य था वह मैंने प्राप्त कर लिया है, अब तो यही भावना है कि मैं मुनित्व-रूपी महोदधिका मथनकर परम दुर्लभ समताभावरूपी अमृतको पीऊँ ॥४०॥ मैं नगरके विषयमें, वनके विषयमें, मणिके विषयमें, धूलिके विषयमें, मित्रके विषयमें, शत्रुके विषयमें, सुखके विषयमें,

मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्डविस्मापितबहिर्जनः । कदा लप्स्ये समरसस्वादिनां पंक्तिमात्मदृक् ॥४२
शून्यध्यानैकतानस्य स्थाणुबुद्धयानडुन्मृगैः । उद्घृष्यमाणस्य कदा यास्यन्ति दिवसा मम ॥४३
धन्यास्ते जिनदत्ताद्याः गृहिणोऽपि न येऽचलन् । तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते जिनधर्मतः ॥४४
इत्याहोरात्रिकाचारचारिणि व्रतधारिणि । स्वर्गश्रीः क्षिपते मोक्षश्रीर्ष्ययेव वरस्रजम् ॥४५

दुःखके विषयमें, जीवनके विषयमें, मरणके विषयमें, मोक्षके विषयमें और संसारके विषयमें समान बुद्धिवाला कब होऊंगा ॥४१॥ मोक्षमार्गमें प्रवृत्त मुनियोंकी करणीय क्रियाओंके समूहको पालन करनेसे चकित कर दिया है बहिरात्मा लोगोंको जिसने ऐसा तथा आत्मदर्शी होता हुआ मैं समता-रूपी रसका आस्वादन करनेवाले मुमुक्षुओंकी श्रेणीको किस समय प्राप्त होऊंगा ॥४२॥ निर्विकल्पक समाधिमें लीन होनेवाले तथा ठूँठकी बुद्धिसे गाय बैल और मृगोंके द्वारा निर्भयतासे खुजाये जाने वाले मेरे दिन किस समय बीतेंगे। भावार्थ—जब मै तत्त्वज्ञान और वैराग्य सम्पन्न होकर नगरके बाहर या वनमें कायोत्सर्ग धारण करूँ और निर्विकल्पक समाधिमें लीन होऊँ उस समय अपनी इच्छानुसार विचरनेवाले ग्रामीण वृषभादि जानवर तथा वन्य मृगादि पशु मुझे स्थाणु (ठूँठ) समझ कर मेरी देहसे अपनी खाज खुजावें, योगाभ्यासकी परमसीमाको प्राप्त ऐसे दिन मेरे कब आवेंगे ? इस प्रकारसे श्रावकको निद्रा-विच्छेदके समय विचार करना चाहिए ॥४३॥ जो गृहस्थ होते हुए भी उन शास्त्रप्रसिद्ध और असाधारण उपसर्गोंके आनेपर भी जिनधर्मसे विचलित नहीं हुए वे सेठ जिनदत्त आदि महापुरुष प्रशंसनीय है। भावार्थ—प्रोषधोपवासव्रतके धारी आगमप्रसिद्ध वे जिनदत्त सेठ तथा वारिषेणकुमार आदि श्रावक धन्य है, जो शस्त्रप्रहार आदि घोर उपसर्ग आनेपर भी जिनधर्म तथा जिनसेवित सामायिकसे विचलित नही हुए ॥४४॥ इस प्रकार दिन रात सम्बन्धी आचार को आचरण करनेवाले व्रतधारी पुरुषके गलेमें स्वर्गरूपी लक्ष्मी मोक्षरूपी लक्ष्मीसे ईर्ष्यासे ही वर-मालाको डालती है। भावार्थ—इस प्रकारकी दिनचर्याके अनुसार चलनेवाले व्रतप्रतिमाके धारी श्रावकके गलेमें मोक्षश्रीके साथ ईर्ष्यासे ही मानो स्वर्गश्री वरमाला डालती है। अर्थात् उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥४५॥

इति षष्ठोऽध्यायः ।

●

सप्तम अध्याय

सुदृङ्मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधीः । भजंस्त्रिसन्ध्यं कृच्छ्रेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत् ॥१
कृत्वा यथोक्तं कृतिकर्म सन्ध्यात्रयेऽपि यावन्नियमं समाधेः ।
यो वज्रपातेऽपि न जात्वपैति, सामायिकी कस्य न स प्रशस्यः ॥२
आरोपितः सामायिकव्रतप्रासादमूर्धनि । कलशस्तेन येनैषा धूरारोहि महात्मना ॥३
स प्रोषधोपवासी स्याद्यः सिद्धः प्रतिमात्रये । साम्यान्न च्यवते यावत् प्रोषधानशनव्रतम् ॥४
त्यक्ताहाराङ्गसंस्कारव्यापारः प्रोषधं श्रितः । चेलोपसृष्टमुनिवद् भाति नेदीयसामपि ॥५
यत्सामायिकं शीलं तद्व्रतं प्रतिमावतः । यथा तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक् ॥६
निशां नयन्तः प्रतिमायोगेन दुरितच्छिदे । ये क्षोभ्यन्ते न केनापि तान्नुमस्तुर्यभूमिगान् ॥७

निरतिचार सम्यक्त्व और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंके अभ्याससे पवित्र बुद्धिवाला तथा उपसर्ग और परीषहके आनेपर भी तीनों सन्ध्याओंमें सामायिकको सेवन करनेवाला व्रती श्रावक सामायिक प्रतिमाधारी कहलाता है ॥१॥ जो व्यक्ति तीनों ही संध्याओंमें आगमोक्त विधिसे वन्दनाकर्मको करके सामायिककी प्रतिज्ञाका काल समाप्त होनेतक वज्रके गिरनेपर भी समाधिसे कभी भी च्युत नहीं होता है वह सामायिक प्रतिमावाला श्रावक किसके प्रशंसनीय नहीं है। अर्थात् सभी के द्वारा प्रशंसाका पात्र है। विशेषार्थ—मन, वचन और कायकी एकाग्रताको योग, समाधि या भाव सामायिक कहते हैं। श्लोकमें दिया गया अपिशब्द उस साम्यभावका द्योतक है जिसके कारण भयंकर उपसर्गोंके आनेपर भी सामायिकी समतासे च्युत नहीं होता ॥२॥ जिस महात्माके द्वारा यह भाव सामायिक प्रतिमारूप भार धारण किया है उस महात्माने सामायिकव्रत रूपी मन्दिरके शिखरपर कलश स्थापित किया ॥३॥ जो श्रावक प्रारम्भिक तीन प्रतिमाओंमें परिपक्व या निरतिचार होता हुआ जबतक प्रोषधोपवास व्रत है तबतक साम्य भावसे च्युत नहीं होता है वह प्रोषध प्रतिमाधारी कहलाता है। भावार्थ—जैसे सामायिकप्रतिमामें सामायिक करते समय समताभावोंकी आवश्यकता है उसी प्रकार प्रोषधप्रतिमामें भी १६ पहरतक समताभावकी स्थिरता आवश्यक है ॥४॥ प्रोषधप्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक छोड़ दिया है चारों प्रकारका आहार, शरीरसंस्कार और व्यापार जिसने ऐसा होता हुआ निकटवर्ती लोगोंके भी वस्त्रके द्वारा ढके हुए मुनिके समान प्रतीत होता है। भावार्थ—चारों प्रकारके आहारका त्यागी, स्नान, उबटन, चन्दन आदिकका लेप वा सुगन्धित वस्त्र आभरणका त्यागी तथा आरम्भ और परिग्रहका त्यागी सच्चा प्रोषधी श्रावक ब्रह्मचर्यका पालक तथा शरीरादिक ममत्वका त्यागी होनेसे निकटवर्ती लोगोंकी दृष्टिमें और खास कर अन्य अपरिचित लोगोंकी दृष्टिमें वस्त्रसे ढके हुए मुनिके समान गिना जाता है ॥५॥ जैसे जो सामायिक पहले व्रतप्रतिमामें शीलरूप था वही सामायिकव्रत तीसरी प्रतिमाके पालक श्रावकके व्रत हो जाता है वैसे ही प्रोषधोपवास भी जानना चाहिये। यही इस सामायिक और प्रोषधोपवास व्रतके प्रतिमारूप होनेमें समाधानवचन है ॥६॥ पाप नष्ट करनेके लिए मुनियोंके समान कायोत्सर्ग के द्वारा रात्रिको व्यतीत करनेवाले जो व्यक्ति किसीके द्वारा भी समाधिसे च्युत नहीं होते उन

हरिताङ्कुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन् । जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः ॥८
पादेनापि स्पृशन्नर्थवशाद्योऽति ऋतीयते । हरितान्याश्रितानन्तनिगोतानि स भोक्ष्यते ॥९
अहो जिनोक्तिनिर्णीतिरहो अक्षजितिः सताम् । नालक्ष्यजन्त्वपि हरित् प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत् ॥१०
सचित्तभोजनं यत्प्राङ् मलत्वेन जिहासितम् । व्रतयत्यङ्गिपञ्चत्वचकितस्तच्च पञ्चमः ॥११
स्त्रीवैराग्यनिमित्तैकचित्तः प्राग्वृत्तनिष्ठितः । यस्त्रिधाऽह्नि भजेन्न स्त्रीं रात्रिभक्तव्रतस्तु सः ॥१२
अहो चित्रं धृतिमतां सङ्कल्पच्छेदकौशलम् । यन्नामापि मुदे साऽपि दृष्टा येन तृणायते ॥१३
रात्रावपि ऋतावेव सन्तानार्थमृतावपि । भजन्ति वशिन कान्तां न तु पर्वदिनादिषु ॥१४

चौथी प्रतिमा धारक श्रावकोंकी हम स्तुति करते है। भावार्थ—जो श्रावक पापोका नाश करनेके लिये पर्वको रात्रिको संयमीके समान कायोत्सर्ग-विधानमे व्यतीत करते है तथा किसी परीषह और उपसर्गसे क्षुब्ध नही होते वे धन्य है ॥७॥ प्रथम चार प्रतिमाओंका निर्दोष पालक तथा प्रासुक नही किये गये हरे अंकुर, हरे बीज, जल और नमक आदि पदार्थोको नही खानेवाला दयामूर्ति श्रावक सचित्तत्याग प्रतिमावान् माना गया है ॥८॥ जो श्रावक प्रयोजन वश पैरसे भी हरी वनस्पतियोंको छूता हुआ अपनी अत्यन्त निन्दा करता है वह श्रावक मिले हुए है अनन्तनिगोदिया जीव जिसमे ऐसी हरी वनस्पतियोंको खावेगा क्या ॥९॥ सज्जनोका जिनागमसम्बन्धी निर्णय तथा इन्द्रियविजय आश्चर्यजनक है क्योकि ये सज्जन दिखाई नही देते है जन्तु जिसमे ऐसी भी हरी वनस्पतिको प्राणों का क्षय होनेपर भी नही खाते है। भावार्थ—सचित्तत्यागी श्रावक जिनमें प्रत्यक्ष जीव दिखाई नही देते हैं तो भी केवल आगमके कथनके विश्वाससे उस सचित्त वनस्पतिका प्राण जानेपर भी भक्षण नहीं करते। उनका आगम विश्वास और इन्द्रिय विजय प्रशंसनीय है ॥१०॥

व्रती श्रावकने जो सचित्तभोजन पहले भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचाररूपसे छोड़ा था उस सचित्तभोजनको प्राणियोके मरणसे भयभीत पंचम प्रतिमाधारी व्रतरूपसे छोड़ता है। भावार्थ—जो सचित्तभोजन व्रतप्रतिमामे भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचाररूपसे छोडा जाता है उसी सचित्तभोजनको पंचम प्रतिमाधारी 'व्रत' रूपसे छोड़ता है ॥११॥ प्राथमिक पांच प्रतिमाओंके आचरणमें परिपक्व और स्त्रीसे वैराग्य होनेके कारणोंमें दत्तावधान होता हुआ जो श्रावक मन वच काय और कृत कारित अनुमोदनासे दिनमे स्त्रीको सेवन नही करता है वह रात्रिभक्तत्याग प्रतिमावाला कहलाता है ॥१२॥ जिस स्त्रीका नाम भी आनन्दके होता है, ऐसी चक्षुके द्वारा देखी गई भी वह स्त्री जिन मनोव्यापारके सामर्थ्यसे तृणके समान मालूम होती है उन धैर्यशाली पुरुषोंका वह मनोव्यापारके निरोधका सामर्थ्य बहुत ही आश्चर्यकारक है। भावार्थ—छठी प्रतिमाधारी विलक्षणधृतिके धारक श्रावकका मनोनिग्रह कितना उत्तम है कि जिस कामिनीके नाममात्रके श्रवणसे लोगोंको आनन्दकी कल्पना होती है उसको प्रत्यक्ष देखते हुए भी तृणवत् मानता है। अर्थात् उसे वह भोगरूपसे प्रतिभासित नहीं होती ॥१३॥ जितेन्द्रिय व्यक्ति रात्रिमें भी ऋतुकालमे ही, ऋतुकालमें भी सन्तानके लिये ही स्त्रीको सेवन करते हैं, किन्तु अष्टमी आदि पर्वके दिनोंमें तो किसी तरह भी स्त्रीको सेवन नहीं करते। भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष रात्रिमें ही, ऋतुकालमें ही, केवल सन्तानकी चाहसे ही स्त्रीसेवन करते हैं, विषयसुखकी अभिलाषासे नहीं। तथा अष्टमी चतुर्दशी और अष्टाह्निका आदि पर्व दिनोंमें स्त्रीसेवनका सर्वथा परित्याग करते हैं ॥१४॥ इस ग्रन्थमें रात्रिमें स्त्रीसेवनका व्रत ग्रहण करनेसे रात्रिभक्तव्रती कहा

रात्रिभक्तव्रतो रात्रौ स्त्रीसेवावर्तनादिह । निरुच्यतेऽन्यत्र रात्रौ चतुराहारवर्जनात् ॥१५
तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनास्त्रिधा । यो जात्वशेषा नो योषा भजति ब्रह्मचार्यसौ ॥१६
अनन्तशक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः । यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव जगज्जैत्रं जयेत्स्मरम् ॥१७
विद्या मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति किङ्करन्त्यमरा अपि । क्रूराः शाम्यन्ति नाम्नापि निर्मलब्रह्मचारिणाम् ।१८
प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पञ्चोपनयादयः । तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥१९
ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे । चत्वारोऽङ्गे क्रिया भेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः ॥२०

गया है और दूसरे ग्रन्थोंमें रात्रिमें चारों ही प्रकारके आहारोंको छोड़नेसे रात्रिभक्तत्यागी कहा जाता है। भावार्थ—चारित्रसार आदि शास्त्रोंके अनुसार लिखे हुए इस ग्रन्थमे रात्रिमें ही स्त्रीसेवन करना दिनमें स्त्रीसेवन नहीं करना रात्रिभक्तव्रत माना गया है और रत्नकरण्ड आदि शास्त्रोंमें भक्त शब्दका अर्थ आहार मानकर रात्रिमें चार प्रकारके आहारके त्यागको रात्रिभक्त कहा है ॥१५॥ उस अर्थात् पूर्वोक्त छह प्रतिमाओंमे कहे गये और उस प्रकारके अर्थात् क्रमसे बढ़ाये गये संयमके अभ्याससे वशमे कर लिया है मनको जिसने ऐसा जो श्रावक मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे सम्पूर्ण स्त्रियोको कभी भी सेवन नही करता है वह श्रावक ब्रह्मचर्य प्रतिमावान् कहलाता है ॥१६॥ आत्मा अनन्तशक्तिवाला है यह आगमका वचन यथार्थ ही है, प्रशंसामात्र नही है, क्योंकि आत्मस्वरूपमें लीन होनेवाला आत्मा ही संसारके प्राणियोंको जीतनेवाले कामको जीतता है। भावार्थ—आत्मा अनन्तशक्तिवाला है यह कथन यथार्थ है, प्रशसामात्र नही। क्योंकि अपने ब्रह्ममें लीन होनेवाला ब्रह्मचारी आत्मा अनन्तसंसारी जीवोंपर विजय प्राप्त करनेवाले जगज्जेता कामको जीतता है। अर्थात् अनन्तप्राणियोके विजेता कामको जीतनेसे आत्मलीन आत्मा अनन्तशक्तिवाला सिद्ध होता है ॥१७॥ निरतिचार ब्रह्मचर्यपालकोंके विद्याएँ और मन्त्र सिद्ध हो जाते है, देव भी नौकरके समान आचरण करते हैं और नामोच्चारणमात्रसे भी दुष्ट प्राणी शान्त हो जाते हैं ॥१८॥ जो प्रथम आश्रमवाले मौजीबन्धन-पूर्वक व्रतग्रहण करनेवाले उपनय आदिक पाँच प्रकारके ब्रह्मचारी कहे गये हैं वे सब नैष्ठिकके बिना शेष सब शास्त्रोंको पढ़कर स्त्रीको स्वीकार कर सकते हैं। विशेषार्थ—ब्रह्मचारीके पांच भेद है—उपनय, अवलम्ब, अदीक्षा, गूढ़ और नैष्ठिक। इनमेंसे नैष्ठिक विवाह नहीं करा सकता है। शेष चार विद्याध्ययनके बाद विवाह करा सकते है। यज्ञोपवीतके धारक समस्त विद्याओंका अभ्यास करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते है वे उपनय ब्रह्मचारी कहलाते है। क्षुल्लकरूपसे रहकर आगमका अध्ययन पूरा करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते है वे अवलम्बन ब्रह्मचारी कहलाते है। विना किसी भेषके अध्ययन करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अदीक्षा ब्रह्मचारी कहलाते है। जो कुमार मुनि बनकर विद्याका अभ्यास करते है और दुःसहपरीषह, बन्धुजनकी प्रेरणा या राजाकी शासनसत्ता आदिके कारण मुनिवेषको छोड़कर गृहस्थधर्म स्वीकार कर लेते है वे गूढ़ ब्रह्मचारी कहलाते है। तथा चोटी रखनेवाले और देवपूजामें तत्पर नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं ॥१९॥ सप्तम अङ्गमें वर्णकी तरह क्रियाके भेदसे ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षु ये चार आश्रम कहे गये हैं। विशेषार्थ—सप्तम उपासकाध्ययन अङ्गमे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चार आश्रम कहे गये हैं। वर्णव्यवस्थाके समान क्रियाके भेदसे इनमें भेद है। जो चोटी रखता है, शुक्लवस्त्र पहिनता है, लँगोटी लगाता है, जिसका वेश विकाररहित है तथा जो व्रतके

निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघाताङ्गत्वात् करोति न । कारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा ॥२१
यो मुमुक्षुरघाद्बिभ्यत् त्यक्तु भक्तमपीच्छति । प्रवर्तयेत्कथमसौ प्राणिसंहरणीः क्रियाः ॥२२
स ग्रन्थविरतो यः प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः । नैते मे नाहमेतेषामित्युज्झति परिग्रहान् ॥२३
अथाहूय सुतं योग्यं गोत्रजं वा तथाविधम् । ब्रूयादिदं प्रशान् साक्षाज्जातिज्येष्ठसधर्मणाम् ॥२४

चिह्नरूप सूत्रको धारण करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। ब्रह्मचारीका नाम परिवर्तन कर दिया जाता है। और राजकुमारको छोड़कर शेष सब ब्रह्मचारी भिक्षासे अपना उदर-निर्वाह करते हैं। जो पूर्वोक्त नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानमें स्थित रहता है उसे गृहस्थ कहते हैं। जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रियके भेदसे क्षत्रिय दो प्रकारके हैं। जिन्होंने जिनरूपको धारण नहीं किया है, जो खण्डवस्त्र धारण करते हैं और जो निरतिशय तपश्चर्यामें उद्यत होते हैं उन्हें वानप्रस्थ कहते हैं। जो जिनरूपको धारण करते है उन्हें भिक्षु या साधु कहते हैं। साधुके अनेक भेद हैं—देशप्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष ज्ञानके धारीको मुनि कहते हैं। ऋद्धिप्राप्त साधुको ऋषि कहते हैं। दोनों श्रेणियोंपर आरूढ़ साधुको यति कहते है। दूसरे साधुवर्गको अनागार कहते है। विक्रिया ऋद्धि और अक्षीणमहानस ऋद्धिके धारकको राजर्षि कहते हैं। बुद्धिऋद्धि और औषध-ऋद्धिके अधिपतिको ब्रह्मर्षि कहते हैं। विविध नयोंमें पटु व्यक्तिको देवर्षि कहते है। और जो विश्वका वेत्ता है उसे परमर्षि कहते हैं ॥२०॥

प्राथमिक सात प्रतिमाओंका निर्दोष पालक जो श्रावक प्राणिहिंसाका कारण होनेसे खेती आदि कर्मोंको मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे न स्वय करता है तथा न दूसरोंसे करवाता है वह श्रावक आरम्भत्याग प्रतिमावाला कहलाता है। भावार्थ—पहली सात प्रतिमाओं का निर्दोष पालक जो व्यक्ति मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनसे आरम्भका त्याग करता है वह आरम्भत्याग नामक अष्टमप्रतिमाका धारक कहलाता है। जो सात प्रतिमाओंको निर्दोष-रीतिसे पालते हुए भी पुत्रादिकके प्रति अनुमतिके न देनेमें कदाचित् असमर्थ हो तो वह छह भंगसे भी आरम्भत्याग करता हुआ आरम्भत्याग प्रतिमावान् कहलाता है ॥२१॥ मोक्षकी इच्छा रखने-वाला जो आरम्भविरत श्रावक पापसे डरता हुआ भोजनको भी छोड़नेके लिये इच्छा करता है वह आरम्भविरत श्रावक प्राणिघातकारक क्रियाओंको किस प्रकार करेगा और करावेगा अर्थात् न करेगा और न करावेगा ॥२२॥ पूर्वोक्त आठ प्रतिमाविषयक व्रतोंके समूहसे स्फुरायमान है सन्तोष जिसके ऐसा जो श्रावक ये वास्तु क्षेत्रादिक पदार्थ मेरे नहो हैं और मैं इनका नहीं हूँ ऐसा संकल्प करके वास्तु और क्षेत्र आदिक दश प्रकारके परिग्रहोंको छोड़ देता है वह श्रावक परिग्रहत्याग प्रतिमावान् कहलाता है। भावार्थ—प्रथम आठ प्रतिमाओंका पूर्णरूपसे पालन करनेसे जिसका धैर्य सदा जागृत रहता है और जो क्षेत्र वास्तु आदि दश बाह्य परिग्रह मेरे योग्य नहो हैं और मैं भी इनका स्वामी नहीं हूँ इस प्रकार ममकार और अहंकारके त्यागके भावको धारण करके सर्व प्रकारके परिग्रहका त्याग करता है, परन्तु केवल अपने शरीरकी रक्षाके योग्य वस्त्रादिको तथा संयमके साधनोंको रखता है वह परिग्रहत्याग प्रतिमावान् कहलाता है ॥२३॥ इसके अनन्तर शान्तचित्त नवम प्रतिमावान् वह श्रावक योग्य अर्थात् अपने भारको चलानेमें समर्थ पुत्रको अथवा योग्य पुत्रके अभावमें योग्यपुत्रके समान गोत्रज भाई या उनके पुत्र आदिको बुला करके सजातीय मुखिया और साधर्मियोंके समक्ष इस वक्ष्यमाण वचनको कहे ॥२४॥ हे प्रियपुत्र, आज तक हमने यह गृहस्थाश्रम

ताताद्य यावदस्माभिः पालितोऽयं गृहाश्रमः । विरज्यैनं जिहासूनां त्वमद्यार्हसि नः पदम् ॥२५
पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं सुविधेरिव केशवः । य उपस्कुरुते वप्तुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥२६
तदिदं मे धनं धर्म्यं पोष्यमात्मसात्कुरु । सैषा सकलदत्तिर्हि परं पथ्या शिवार्थिनाम् ॥२७
विदीर्णमोहशार्दूलपुनरुत्थानशङ्किनाम् । त्यागक्रमोऽयं गृहिणां शक्त्यारम्भो हि सिद्धिकृत् ॥२८
एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं मोहाभिभवहानये । किञ्चित्कालं गृहे तिष्ठेदौदास्यं भावयन्सुधीः ॥२९
नवनिष्ठापरः सोऽनुमतिव्युपरतस्त्रिधा । यो नानुमोदते ग्रन्थमारम्भं कर्म चैहिकम् ॥३०
चैत्यालयस्थः स्वाध्यायं कुर्यान्मध्याह्नवन्दनात् । ऊर्ध्वमामन्त्रितः सोऽश्नाद् गृहे स्वस्य परस्य वा ॥३१
यथाप्राप्तमदन्देहसिद्ध्यर्थं खलु भोजनम् । देहश्च धर्मसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते ॥३२
सा मे कथं स्यादुद्दिष्टं सावद्याविष्टमश्नतः । कर्हि भैक्षामृतं भोक्ष्ये इति चेच्छेज्जितेन्द्रियः ॥३३

पालन किया आज विरक्त होकरके इस गृहस्थाश्रमको छोड़नेकी इच्छा करनेवाले हमारे स्थानको स्वीकार करनेके लिये तुम योग्य हो ॥२५॥ सुविधिनामक राजाके केशवपुत्रकी तरह अपनी आत्माको शुद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले पिताका जो उपकार करता है वह पुत्र कहलाता है। और इससे भिन्न पुत्र पुत्रके बहानेसे शत्रु है। विशेषार्थ—श्लोकमें जो सुविधि और केशवका उल्लेख किया गया है उसका भाव यह है—ऋषभदेव अपने एक भवमें सुविधि राजा थे। सुविधिके पूर्वभवकी पत्नीका नाम श्रीमती था। यह श्रीमतीका जीव मरने पर सुविधि राजाके केशव नामक पुत्र हुआ था। पुत्रप्रेमवश सुविधि गृहस्थाश्रम छोड़नेमें असमर्थ थे। इससे श्रावक रहते हुए भी उत्कृष्ट तप तपते थे और केशव पुत्र उन्हें सर्व प्रकारसे सहाय था ॥२६॥ इसलिये हे प्रिय पुत्र, मेरे इस धनको, पात्रदानादिकरूप धार्मिक क्रियाओंको और पालन पोषण करने योग्य स्त्री माता पिता आदिको तुम अपने अधीन करो क्योंकि आगममें कही गई यह सकलदत्ति मोक्ष चाहनेवालोंके अत्यन्त कल्याणकारिणी है ॥२७॥ नष्ट किये गये मोहरूपी व्याघ्रके फिरसे उठनेकी शंका करनेवाले गृहस्थों-का यह त्यागका क्रम है क्योंकि अपनी शक्तिके अनुसार ही किया गया आरम्भ अभिलषितकी सिद्धि करनेवाला होता है ॥२८॥ तत्त्वज्ञानी श्रावक इस प्रकार सम्पूर्ण परिग्रहको छोड़कर मोहके द्वारा होनेवाले आक्रमणको नष्ट करनेके लिये उपेक्षाको विचारता हुआ कुछ काल तक घरमें रहे ॥२९॥ प्राथमिक नौ प्रतिमाओंके पालनमें तत्पर जो श्रावक मन वचन कायसे धन धान्यादिक परिग्रहको, कृष्यादिक आरम्भको और इस लोक सम्बन्धी विवाहादिक कार्योंकी अनुमोदना नहीं करता है अर्थात् उक्त कार्योंके विषयमें अपनी अनुमति नही देता है वह श्रावक अनुमति त्याग प्रतिमावान् कहलाता है ॥३०॥ वह अनुमतित्याग प्रतिमाधारी चैत्यालयमें स्थित होता हुआ स्वाध्यायको करे और मध्याह्न वन्दनाके बाद आमन्त्रित होता हुआ अपने पुत्रादिकके घरमें अथवा जिस किसी धार्मिक व्यक्तिके घरमें भोजन करे। यह दशमप्रतिमाकी विधि है ॥३१॥ कर्मानुसार प्राप्त आहारको खाने वाला जितेन्द्रिय अनुमतित्यागी इस प्रकार इच्छा करे कि—मोक्षाभिलाषी व्यक्तियोंके द्वारा शरीरकी रक्षाके लिये भोजन और धर्मकी सिद्धिके लिये शरीर निश्चयसे अपेक्षित होता है। किन्तु सावद्य कर्मसे मिले हुए अपने निमित्तसे बनाये गये आहारको खाने वाले मेरे वह धर्मकी सिद्धि कैसे होगी ? इसलिये मैं भिक्षारूपी अमृतको कब खाऊँगा। भावार्थ—अनुमतित्यागी जो कुछ शुद्ध भोजन मिलता है उसे खाता है और इस प्रकार इच्छा करता है कि मुमुक्षुओंके द्वारा देहकी स्थितिके लिये भोजन और रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये देह अपेक्षित होता है, किन्तु सावद्य कर्मसे मिले हुए अपने निमित्त बनाये गये आहारको खाने वाले मेरे वह धर्मकी सिद्धि कैसे होगी ?

पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो निष्क्रमिष्यन्नसौ गृहात् । आपृच्छेद् गुरून् बन्धून् पुत्रादींश्च यथोचितम् ॥३४
सुदृङ्निवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ । यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥३५
इति चर्यां गृहत्यागपर्यन्तां नैष्ठिकाग्रणीः । निष्ठाय साधकत्वाय पौरस्त्यपदमाश्रयेत् ॥३६
तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन्मोहमहाभटः । उद्दिष्टं पिण्डमप्युज्झेदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥३७
स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानपनाययेत् । सितकौपीनसंव्यानः कर्तर्या वा क्षुरेण वा ॥३८

इसलिये मुझे भिक्षावृत्तिसे प्राप्त आहाररूप अमृतका भोजन करना ही श्रेयस्कर है ॥३२-३३॥ पञ्चाचारके पालनमें तत्पर और घरसे निकलनेकी इच्छा करनेवाला यह श्रावक गुरुओंसे बन्धुओंसे और पुत्रादिकोंसे यथायोग्य पूछे। विशेषार्थ—यह श्रावक द्रव्य और भावरूपी घरसे निकलते समय यथायोग्य रीतिसे गुरु, बन्धु और पुत्र आदिकसे पूछे और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार ये पाँच आचारोंके पालनमें उद्यत हो। काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यञ्जन और तदुभय इन आठ अंगोंसे युक्त हे ज्ञान ! यह निश्चित समझो कि तुम शुद्ध आत्माके नहीं हो। तुम्हारा आश्रय हम तभी तक लेते हैं जबतक हमें शुद्धात्माकी प्राप्ति नहीं होती है। तुम मार्ग हो, साध्य नहीं। इसी प्रकार पाँचों आचारोंके चिन्तवनमे विचार करना चाहिये। २—निःशंकित आदि अङ्गसहित हे दर्शनाचार ! ३—पञ्चमहाव्रत, तीनगुप्ति, पाँच-समिति रूप हे त्रयोदशविध चारित्राचार ! ४—अनशनादि छह बहिरङ्ग और प्रायश्चित्तादि अन्तरङ्ग भेदरूप हे तप आचार तथा ५—समस्त इतर आचार प्रवर्तक और अपनी शक्तिको नहीं छिपाने रूप हे वीर्याचार ! तुम तभी तक हमारे हो जब तक हमने शुद्धात्माको नहीं पाया है। इस प्रकार चिंतवन करे। इसी प्रकार हे मेरे शरीरके माता, पिता, स्त्री और पुत्रके आत्मन् ! तुम अपने अन्तरङ्गमें समझो कि मै वास्तव में तुम्हारा नहीं हूँ, इस लिये मुझसे मोह मत करो। इस प्रकारकी भावनासे यह आत्मा गृहत्याग कर शुद्धात्मोपलब्धिकी ओर बढ़ता है ॥३४॥ मोक्ष-की इच्छा रखने वाला श्रावकका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपके निर्दोष करनेके विषयमें यत्न विनय कहलाता है और निर्मल किये गये उन सम्यग्दर्शनादिकके विषयमें प्रयत्न आचार कहलाता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपको निर्दोष करनेके लिये जो यत्न किया जाता है उसे विनय कहते है और निर्दोष हुए इन चारोमें अपनी शक्तिको नहीं छिपा कर जो यत्न किया जाता है उसे आचार कहते है ॥३५॥

नैष्ठिकोंमें मुख्य अनुमतित्याग प्रतिमावान् श्रावक पूर्वोक्त कथनानुसार गृहत्यागपर्यन्त गृहस्थाचारको समाप्त करके साधकत्वकी प्राप्ति अर्थात् आत्मशुद्धिके लिये अग्रिम पदको धारण करे। भावार्थ—दशमीप्रतिमा श्रावकका उत्कृष्ट स्थान है। यहाँ पर श्रावकका नैष्ठिकपना पूरा हो जाता है। दशमप्रतिमाधारी इस नैष्ठिकत्वको पूर्ण करके साधकत्वकी प्राप्ति (आत्मशुद्धि) के लिए ग्यारहवी उद्दिष्टत्याग प्रतिमाको ग्रहण करनेके लिये प्रयत्नवान् होता है ॥३६॥ उन पूर्वोक्त व्रतरूपी अस्त्रोंके प्रहारसे अत्यन्त नष्ट हो करके भी श्वास लेता हुआ है मोहरूपी महाभट जिसके ऐसा जो श्रावक उद्दिष्ट—अपने उद्देशसे बनाये गये भोजनको और आसन आदिकको भी छोड़ता है वह ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। भावार्थ—जो पूर्वोक्त दशप्रतिमाओंमें परिपक्व होकर अपने उद्देश्यसे बनाये गये भोजन और आसन आदिकको भी ग्रहण नहीं करता वह ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है ॥३७॥ वह उद्दिष्टविरतश्रावक दो प्रकारका है—

स्थानादिषु प्रतिलिखेद् मृदूपकरणेन सः । कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम् ॥३९
स्वयं समुपविष्टोऽद्यात् पाणिपात्रेऽथ भाजने । स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥४०
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा । मौनेन दर्शयित्वाङ्गं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥४१
निर्गत्यान्यद्गृहं गच्छेद् भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद् भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥४२
प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूरणीम् । लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥४३
आकांक्षन्संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु । स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ॥४४
ततो गत्वा गुरूपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् । गृह्णीयाद् विधिवत्सर्वं गुरोश्चालोचयेत्पुरः ॥४५
यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाद्यादनुमुन्यसौ । भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमावश्यकम् ॥४६
वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषेत गुरूंश्चरेत् । तपो द्विधापि दशधा वैयावृत्यं विशेषतः ॥४७
तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान् । कौपीनमात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥४८

उनमें पहला उत्कृष्ट श्रावक केवल सफेद लंगोटी और ओढनीका धारक होता है। तथा अपने दाढ़ी मूँछ व शिरके बालोंको कैंचीसे अथवा क्षुरासे दूर करता है ॥३८॥ वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक प्राणियोंको बाधा नहीं पहुँचानेवाले कोमल वस्त्र आदिक उपकरणसे स्थान आदिकमें शुद्धि करे और प्रत्येक मासकी दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार चारों पर्व दिनोंमें खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय पदार्थके त्यागरूप चार प्रकारके उपवासको करे ही ॥३९॥ वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक पद्मासन-बद्ध बैठकर हाथरूपी पात्रमें अथवा बर्तनमें अपने आप बिना किसी प्रेरणाके भोजन करे। तद्यथा हाथमें है भोजनका पात्र जिसके ऐसा वह अनेक भिक्षानियमवाला श्रावकके घरको जाकर सर्व-साधारणके लिये रुकावटरहित उसके मकानके सामने खड़ा होकर धर्मलाभ हो ऐसे वचनको कह-कर अथवा मौनसे शरीरमात्रको दिखाकर भिक्षाको माँगे। भिक्षाके मिलने या नहीं मिलनेपर हर्ष-विषाद रहित होता हुआ शीघ्र निकलकर दूसरे श्रावकके घरको जावे तथा भिक्षा लेनेको उद्यत वह श्रावक किसी श्रावकके द्वारा भोजन करनेके लिए प्रेरित होता हुआ थोड़ा जो भोजन किसी श्रावकके घरसे अपने बर्तनमें पहले प्राप्त हुआ था उसे खावे। किसी श्रावकके द्वारा भोजन की प्रेरणा नही की जानेपर अपने उदर पूरण योग्य भिक्षा नहीं मिलनेतक भिक्षाको माँगे तथा जिस श्रावकके घर प्रासुक जलको पावे वहाँपर उस मिली हुई भिक्षाको भली प्रकार शोधकर खावे। यह अनेक भिक्षा नियमवाले प्रथमोत्कृष्ट की विधि है ॥४०-४३॥ वह संयमको इच्छा करता हुआ अपने भोजनके पात्रको धोने आदिके कार्यमें अपने तप और विद्या आदिका गर्व नही करता हुआ स्वयं ही यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करे, नहीं तो बड़ा भारी असंयम होता है ॥४४॥ आहारके बाद गुरुके पास जाकर विधिपूर्वक चार प्रकारके आहारके त्यागको ग्रहण करे। तथा अपने गुरुके समक्ष आहारके लिए जानेके समयसे लेकर आनेतकको सम्पूर्ण क्रियाओं और तत्सम्बन्धी भूलोंकी आलो-चना करे ॥४५॥ तथा जो प्रथमोत्कृष्ट श्रावक एक ही घरमें भिक्षा लेनेका नियमवाला होता है वह मुनिराजके भोजनके पश्चात् श्रावकके घर जाकर भोजन करे। भोजनकी प्राप्ति नही होनेपर अवश्य ही उपवासको करे ॥४६॥ वह एक भिक्षा नियमवाला प्रथमोत्कृष्ट सदा मुनियोंके साथ उनके निवासभूत वनमें निवास करे। तथा गुरुओंकी सेवा करे, अन्तरङ्ग वा बहिरङ्ग दोनों प्रकार के भी तपको आचरण करे। तथा खासकर दशप्रकार वैयावृत्यको आचरण करे ॥४७॥ द्वितीयो-त्कृष्ट श्रावक भी प्रथमके समान आचरण करे। यह अपने शिर, दाढ़ी वा मूँछोंके बालोंको लोंच

स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितम् । इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥४९
श्रावको वीरचर्याहः प्रतिमातापनादिषु । स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥५०
दानशीलोपवासार्चाभेदादपि चतुर्विधः । स्वधर्मः श्रावकैः कृत्यः भवोच्छित्त्यै यथायथम् ॥५१
प्राणान्तेऽपि न भङ्क्तव्यं गुरुसाक्षिश्रितं व्रतम् । प्राणान्तस्तत्क्षणे दुःखं व्रतभङ्गो भवे भवे ॥५२
शीलवान्महतां मान्यः जगतामेकमण्डनम् । स सिद्धः सर्वशीलेषु यः सन्तोषमधिष्ठितः ॥५३

तत्र न्यक्षति नो विवेकतपनो नाक्रत्यविद्यातमी,
नाप्नोति स्खलितं कृपामृतसरिन्नोदेति दैन्यज्वरः ।
विस्निह्यन्ति न सम्पदो न दृशमप्यासूत्रयन्त्यापदः,
सेव्यं साधुमनस्विनां भजति यः सन्तोषमंहोमुषम् ॥५४

स्वाध्यायमुत्तमं कुर्यादनुप्रेक्षाश्च भावयेत् । यस्तु मन्दायते तत्र स्वकार्ये सः प्रमाद्यति ॥५५
धर्मान्नान्यः सुहृत्पापान्नान्यः शत्रुः शरीरिणाम् । इति नित्यं स्मरन्न स्यान्नरः संक्लेशगोचरः ॥५६
सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मारणान्तिकीम् । अवश्यमित्यद शीलं सन्निदध्यात्सदा हृदि ॥५७

करता है लगोटी मात्र धारक होता है और मुनिके समान पीछी आदि संयमोपकरणको रखता है ॥४८॥ यह द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक किसी श्रावकके द्वारा दिये गये भोजनको भलीप्रकार शोधकर अपने हाथरूपी पात्रमे ही खाता है। तथा सभी प्रतिमाओंके धारक श्रावक परस्पर इच्छामि ऐसे शब्दोच्चारणरूप व्यवहारविनयको करते हैं ॥४९॥ श्रावक वीरचर्या अर्थात् भ्रामरीवृत्तिसे भोजन करना, दिनमें प्रतिमायोग धारण करना और आतापन आदिक योग धारण करना आदि मुनियोंके करने योग्य कार्योंके विषयमें तथा प्रायश्चित्त शास्त्रोंके अध्ययन करनेके विषयमें अधिकारी नहीं है ॥५०॥ श्रावकोंके द्वारा संसारपरिभ्रमणका विनाश करनेके लिए दान देना, शील पालना, उपवास करना तथा अपना धर्म अपनी-अपनी प्रतिमा सम्बन्धी आचरणके अनुसार यथायोग्य किया जाना चाहिये ॥५१॥

पञ्च परमेष्ठी, गुरु या दीक्षागुरुकी साक्षीमे ग्रहण किया हुआ व्रत या प्रतिज्ञा प्राणनाश हो जानेपर भी भङ्ग नही करना चाहिये, क्योकि प्राणनाश केवल मरणसमय ही दुःखकर होता है; परन्तु व्रतभङ्ग भव-भवमें दुःखदायक होता है ॥५२॥ सदाचारी संसारका अद्वितीय भूषण तथा इन्द्रादिकोंके भी माननीय जो मुनि या श्रावक व्यक्ति विषयाभिलाषाके त्याग या संतोष वृत्तिको प्राप्त हुआ वह सर्व शीलोंमें सिद्ध हो चुका ॥५३॥ जो मनुष्य साधुओं और स्वाभिमानियोंके सेवनीय पापनाशक सन्तोषको सेवन करता है उस व्यक्तिमें विवेकरूपी सूर्य अस्त नहीं होता, अज्ञानान्धकाररूपी रात्रि नही फैलती, दयारूपी अमृतकी नदी रुकावटको प्राप्त नही होती, संपत्तियाँ तथा आपत्तियाँ अपनी दृष्टिको भी नही डालती है ॥५४॥ श्रावक आत्महितकारक शास्त्रोंके उत्तम-रीतिसे स्वाध्यायको करे और बारह भावनाओं या षोडशकारणभावनाओंको भावे, परन्तु जो श्रावक इन कार्योंमें आलस्य करता है वह आत्महितकारक कार्योंमें प्रमाद करता है ॥५५॥ प्राणियों का धर्मसे भिन्न शत्रु नही है इस प्रकार सदा स्मरण करनेवाला मनुष्य दुःखोंका पात्र नहीं होता है ॥५६॥ मैं शास्त्रोक्त विधिपूर्वक मरण समय होनेवाली सल्लेखनाको अवश्य करूँगा इस प्रकार इस सल्लेखनारूप व्रतको अपने हृदयमें हमेशा तथा अवश्य ही धारण करे। विशेषार्थ—सती = सम्यक्प्रकारेण, लेखना = कायकषायकृशीकरणं सल्लेखना। काय और कषायके भलीप्रकार कृश

सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः। समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम् ॥५८
यत्प्रागुक्तं मुनीन्द्राणां वृत्तं तदपि सेव्यताम्। सम्यङ् निरूप्य पदवीं शक्तिं च स्वामुपासकैः ॥५९
इत्यापवादिकीं चित्रां स्वभ्यस्यन् विरतिं सुधीः। कालादिलब्धौ क्रमतां नवधौत्सर्गिकीं प्रति ॥६०
इत्येकादशधाऽऽम्नातो नैष्ठिकः श्रावकोऽधुना। सूत्रानुसारतोऽन्त्यस्य साधकत्वं प्रवक्ष्यते ॥६१

करनेको सल्लेखना कहते हैं। मरणसमयमें अर्थात् तद्भवमरणके अन्तमें होनेवाली सल्लखनाको मारणान्तिकी सल्लेखना कहते हैं। मरण दो प्रकारका है—प्रतिक्षणमरण और तद्भवमरण। सल्लेखनामें जो मरण होता है, वह तद्भवमरण माना जाता है। गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंकी तरह सल्लेखनाको भी शील माना है ॥५७॥ जिसने संसारपरिभ्रमणका नाशक समाधिमरण साध लिया उसने अपने धर्मके सर्वस्व रत्नत्रयको परभवके लिए सहचर बनाया ॥५८॥ पहले अनगारधर्मामृत में मुनियोंका जो चारित्र कहा गया है उसे भी अपनी शक्तिको और पदको भलीभाँति समझकर श्रावकोंको करना चाहिए ॥५९॥ इस प्रकार अनेक भेदवाली अपवादमार्गस्वरूप श्रावकीय संयमको अभ्यास करनेवाला बुद्धिमान् गृहस्थ योग्य समय आदि साधन सामग्रीके प्राप्त होनेपर मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना रूप नव प्रकारसे महाव्रतरूप संयमके प्रति उत्साहित होता है ॥६०॥ नैष्ठिक श्रावक पूर्वोक्त व्याख्यानके अनुसार ग्यारह प्रतिमावाला आचार्य परम्परासे बतलाया गया है। अब जैनागमके अनुसार एकादशम प्रतिमाधारीके साधकपना कहा जाता है। भावार्थ—इस प्रकार आगम परम्पराके अनुसार ग्यारह प्रतिमारूप नैष्ठिक श्रावकका वर्णन करके अब अष्टमाध्यायमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके साधकत्वपनेका वर्णन किया जायगा ॥६१॥

इति सप्तमोऽध्यायः।

●

आठवां अध्याय

देहाहारेहितत्यागाद् ध्यानशुद्ध्यात्मशोधनम् । जीवितान्ते सुसम्प्रीतः साधयत्येष साधकः ॥१
सामग्रीविधुरस्यैव श्रावकस्यायमिष्यते । विधिः सत्यां तु सामग्र्यां श्रेयसी जिनरूपता ॥२
किञ्चित्कारणमासाद्य विरक्ताः कामभोगतः । त्यक्त्वा सर्वोपधिं धीराः श्रयन्ति जिनरूपताम् ॥३
अनादिमिथ्यादृगपि श्रित्वार्हद्रूपतां पुमान् । साम्यं प्रपन्नः स्वं ध्यायन् मुच्यतेऽन्तर्मुहूर्ततः ॥४
न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधैः । न च केनापि रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम् ॥५
कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात् प्रतिकार्यश्च रोगितः । उपकारं विपर्यस्यँस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥६
नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः । देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥७
न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितुः । कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यैर्हिंसतः स हि ॥८

जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवनके अन्तमें अर्थात् मृत्युसमय शरीर, भोजन और मन वचन कायके व्यापारके त्यागसे पवित्रध्यानके द्वारा आत्माकी शुद्धिको साधन करता है वह साधक कहा जाता है ॥१॥ यह वक्ष्यमाण सल्लेखनाकी विधि जिनलिङ्गग्रहण करने के अयोग्य श्रावकके ही करने योग्य है किन्तु जिनलिङ्गग्रहण करने योग्य सामग्रीके विद्यमान रहने पर मुनिदीक्षा लेना ही श्रेष्ठ है। भावार्थ—दोनों अण्डकोष और लिंग इन तीनोंसे सम्बन्ध रखने वाले दोषोंसे जो श्रावक युक्त है वह जिनदीक्षा लेनेका अधिकारी नहीं। ऐसे श्रावकके लिये ही वक्ष्यमाण सल्लेखनाका वर्णन है किन्तु जिसमें जिनरूपग्रहणकी योग्यता है उसे तो जिनरूप ही धारण करना चाहिये ॥२॥ परीषह और उपसर्गके सहनमें समर्थ श्रावक किसी हेतुको प्राप्त कर काम और भोगसे विरक्त होते हुए समस्त परिग्रहको छोड़ कर जिनलिंगको धारण करते है ॥३॥ अनादिमिथ्यादृष्टि भी पुरुष जिनलिंगको धारण करके अपने आत्माको ध्यान करता हुआ अन्तर्मुहूर्तमें मुक्त हो जाता है ॥४॥ स्थायी शरीर रत्नत्रयस्वरूप धर्मकी सिद्धिका उपाय है इस कारण तत्त्वज्ञ पुरुषोंके द्वारा नष्ट नहीं किया जाना चाहिये तथा मरणासन्न शरीर देवेन्द्र आदि किसीके द्वारा भी नहीं बचाया जा सकता इस प्रकार शोक भी नहीं करना चाहिये। भावार्थ—शरीर रत्नत्रयकी सिद्धिका उपाय है, इसलिये धर्मका साधन है। अतएव यदि वह स्थिर हो तो विवेकी जनोंको प्रयत्न कर उसका नाश नहीं करना चाहिये। और यदि वह पातोन्मुख हो तो उसे योगीन्द्र, देवेन्द्र तथा दानवेन्द्र आदि कोई भी नहीं बचा सकता, इसलिये शोक नहीं करना चाहिये ॥५॥ विवेकियोंके द्वारा स्वस्थ शरीर पोषण करने योग्य है, रोगी शरीर उपचारके योग्य है और उपकारको विफल करनेवाला शरीर दुष्ट पुरुषके समान त्यागने योग्य है। भावार्थ—नीरोग शरीरकी रक्षाके लिये नियमित रूपसे योग्य आहार और विहार करना चाहिये। यदि रोगकी उत्पत्ति हो जावे तो उसकी निवृत्तिके लिये औषधोपचार भी करना चाहिये। परन्तु योग्य आहार विहार और औषधोपचार करते हुए भी यदि शरीर पर उसका असर नहीं हो; तथा व्याधि ही बढ़े, ऐसी हालतमें शरीर का दुष्टके समान त्याग कर देना उचित है ॥६॥ निश्चयसे नष्ट होनेवाले शरीरके लिये इच्छित अर्थका दाता धर्म नष्ट करने योग्य नहीं, क्योंकि नष्ट हुआ शरीर फिर मिल सकता है किन्तु धर्म अतिदुर्लभ है ॥७॥ गृहीत व्रतके विनाशका कारण उपस्थित होने पर शरीरकी उपेक्षा

कालेन वोपसर्गेण निश्चित्यायुः क्षयोन्मुखम् । कृत्वा यथाविधि प्रायं तास्ताः सफलयेत् क्रियाः ॥९
देहादिवैकृतैः सम्यङ् निमित्तैस्तु सुनिश्चिते । मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ॥१०
भृशापवर्तकवशात् कदलीघातवत्सकृत् । विरमत्यायुषि प्रायमविचारं समाचरेत् ॥११
क्रमेण पक्त्वा फलवत् स्वयमेव पतिष्यति । देहे प्रीत्या महासत्त्वः कुर्यात्सल्लेखनाविधिम् ॥१२
जन्ममृत्युजरातङ्काः कायस्यैव न जातु मे । न च कोऽपि भवत्येष ममेत्यङ्गेऽस्तु निर्ममः ॥१३
पिण्डे जात्यापि नाम्नापि समो युक्त्यापि योजितः । पिण्डोऽस्ति स्वार्थनाशार्थो यदा तं हापयेत्तदा॥१४
उपवासादिभिः कायं कषायं च श्रुतामृतैः । संलिख्य गणमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी ॥१५

करनेवालेके आत्मघातका प्रसंग नहीं होता क्योंकि वह आत्मघात कषायके आवेशसे विष आदिकसे प्राणोंको नष्ट करनेवाले व्यक्तिके ही होता है ॥८॥ आयुपूर्ण होनेके कालसे अथवा उपसर्गसे आयुको क्षयके सन्मुख निश्चय करके विधिपूर्वक संन्यासयुक्त उपवासको करके नैष्ठिक अवस्थामें गृहीत दार्शनिक आदि प्रतिमासम्बन्धी नित्य और नैमित्तिक सम्पूर्ण क्रियाओंको सफल करे ॥९॥ देहादिकके विकारों द्वारा और ज्योतिर्विद्या और शकुन आदि निमित्तों द्वारा मृत्युके निश्चित होने पर निश्चय आराधनामें आसक्त है मन जिसका ऐसे समाधिमरण करनेवालेके वह सिद्ध पद दूर नही है । भावार्थ—शीघ्रमरणसूचक देहविकार या वाणीविकार आदिसे और ज्योतिषशास्त्र, कर्ण-पिशाचिनीविद्या तथा शकुन आदि निमित्तों द्वारा मरणका निश्चय होनेपर जो अपनी सल्लेखनाकी आराधनामें मग्न हो जाते है उनके निर्वाण दूर नहीं है ॥१०॥ मोक्षाभिलाषी अगाढ़ अपमृत्युके कारण कदलीघातके समान एकदम आयुके नाशकी स्थिति उपस्थित होने पर समाधिके योग्य स्थान आदिके हेतु दौड़ धूप किये बिना भक्तप्रत्याख्यान सार्वकालिक संन्यासको धारण करे। भावार्थ—जैसे शस्त्र द्वारा छिन्न केलेका वृक्ष एक दम गिर जाता है उसी प्रकार अगाढ़ अपमृत्युके कारण एकदम आयुनाशकी सम्भावना उपस्थित होने पर समाधिके योग्य स्थान आदि सामग्रीके हेतु दौड़धूप किये बिना भक्तप्रत्याख्यान संन्यास धारण करे और शुद्ध स्वात्मध्यानमें लीन होवे ॥११॥

क्रमसे पककर फलके समान अपने आप ही शरीरके पतन होनेपर अनिवार्य धैर्यधारक श्रावक प्रीतिसे सल्लेखनाकी विधिको करे। भावार्थ—जैसे पकनेपर फल स्वयं डालीसे जमीनपर गिर जाता है उसी प्रकार आयुके निषेकोका क्षय होनेपर शरीर भी मृत्युको प्राप्त हो जाता है । इसलिए ऐसी मृत्युके समय प्रीति-पूर्वक सल्लेखना अवश्य धारण करना चाहिये ॥१२॥ जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग ये सब शरीरके ही होते हैं, आत्माके कदाचित् नही। और यह शरीर मेरा कोई भी नही है इस प्रकार शरीरमें ममत्वरहित होवे ॥१३॥ आश्चर्य है कि पुद्गलत्वजातिसे तथा पिण्ड नामसे समान और शरीरमें शास्त्रोक्त विधिसे प्रयुक्त किया गया आहार जिस समय अपने प्रयोजन का घातक होता है उस समय उस आहारको त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—पिण्डशब्दका अर्थ आहार और शरीर दोनों हैं और दोनों ही पुद्गलकी पर्यायें हैं। शरीरमें युक्तिपूर्वक प्रयुक्त आहारादिक शरीरका बल और ओज बढ़ाता है। बलवान् और ओजस्वी शरीर धर्मसिद्धिके लिएउपयोगी पड़ता है। परन्तु जाति तथा नामसे समान और युक्तिसे प्रयुक्त भी आहार पिण्ड जब शरीररूपी पिण्डमें उपयोगी नहीं पड़े तो उस समय भोजनका त्याग कर देना चाहिये ॥१४॥ साधक उपवास आदिक बाह्य तपोंके द्वारा शरीरको और शास्त्रोपदेशरूपी अमृतोंसे कषायको कृश करके चतुर्विध संघके समक्ष समाधिमरणके लिये उद्यमी होवे। भावार्थ—साधक

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो विराद्धो मरणे मुधा । स त्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम् ॥१६
नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत् । युधीव स्खलतो मृत्यौ स्वार्थभ्रंशोऽयशः कटुः ॥१७
सम्यग्भावितमार्गोऽन्ते स्यादेवाराधको यदि । प्रतिरोधि सुदुर्वारं किञ्चिन्नोदेति दुष्कृतम् ॥१८
कार्यो मुक्तौ दवीयस्यामपि यत्नः सदा व्रते । वरं स्वः समयाकारो व्रतान्न नरकेऽव्रतात् ॥१९

श्रावक उपवासादि बाह्य तपोंके द्वारा कायको और शास्त्रोपदेशरूपी अमृतके द्वारा कषायको घटाकर चतुर्विधसंघके सामने समाधिमरण ग्रहण करनेके लिये तैयार होवे ॥१५॥ चिरकाल तक आराधित भी धर्म मरण समयमें विराधित होता हुआ विफल हो जाता है। किन्तु मृत्युसमय आराधित वह धर्म चिरकालसे सचित पापोंको नष्ट करता है। भावार्थ—दीर्घकाल तक आराधित भी धर्म यदि मरण समय पर बिगाड़ दिया जावे तो वह सब आराधना निष्फल हो जाती है और यदि मरणसमय सध जावे तो वह प्राणीके असंख्यात कोटि भवोंमें उपार्जित पापोंका विनाश करती है ॥१६॥ चिरकाल तक अभ्यास करने वाले परन्तु युद्धमें लक्ष्यसे चूकने वाले राजाके शस्त्रके समान चिरकाल तक अभ्यास करने वाले, तथापि मरणके समय भ्रष्ट होनेवाले मुनिका धर्म अकीर्तिसे कटुक परिणाम वाला तथा इष्ट प्रयोजनका घातक होता है। भावार्थ—जैसे चिरकाल तक शस्त्रास्त्रोंका अभ्यास करनेवाला राजा युद्धके समय सावधानी नही रखनेके कारण चूक जाय तो उसका मरण, अयश, पराजय और राज्यनाश हो जाता है और वह इष्टसिद्धि नहीं कर पाता। उसी प्रकार यति भी चिरकाल तक धर्मका अभ्यास करके यदि मरण समय धर्मकी आराधनामें सावधान नही रहकर उसकी विराधना करता है तो उसका भी अपयश और आत्म-कल्याणका घात होता है और उसकी जीवनभरकी आराधना व्यर्थ हो जाती है ॥१७॥ यदि समाधिके समयपर समाधिमरणमें बाधक हजारों प्रयत्नोंसे भी नहीं रुकनेवाला नामनिर्देशरहित कोई पूर्वकृत दुष्कर्म उदयको प्राप्त नहीं होता तो अपने जीवनमें भली प्रकार रत्नत्रयकी आराधना करनेवाला व्यक्ति मरण समयमें सल्लेखना साधक होता ही है। विशेषार्थ—चिरकाल रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले साधुजन भी पूर्वोपार्जित तीव्र अशुभ कर्मके उदयसे मरणसमयमें सम्यग्दर्शना-दिकसे च्युत हो जाते हैं। तथा जिनके बिना अभ्यासके सल्लेखनाकी सिद्धि होती है वह उनके लिये केवल अन्धनिधिलाभ है। अर्थात् जैसे अन्धेको कभी योगायोगसे बिना प्रयत्नके भी निधिका लाभ हो जाता है उसी प्रकार यह उसकी समाधिमरणकी प्राप्ति समझना चाहिये। तीव्रकर्मके उदयसे समाधिसे च्युत होता देखकर तथा योगायोगसे बिना प्रयत्नके भी समाधिमरण प्राप्त होता देखकर आश्चर्यमें नहीं पड़ना चाहिये और केवल दैवाधीन धर्माराधनाकी सिद्धिका आग्रह भी नही करना चाहिये। किन्तु जिनवचनको मानकर मृत्युसमयमे समाधिके लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। क्योंकि दैवयोगसे प्राप्त अचलसिद्ध समाधि आदर्श नही मानी जा सकती। जिसने पहले आराधनाका अभ्यास नहीं किया किन्तु अन्त समयमें जिसको समाधिमरणकी प्राप्ति हो उसको वृक्षके सूखे ठूंठसे निधिका लाभ समझाना चाहिये। दूसरोंके लिए यह उदाहरण नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध है कि यदि अन्तसमयमें किसी तीव्रकर्मका उदय नही आवे तो आराधना-का अभ्यास करनेवालोंको अन्तसमयमें आराधनाकी सिद्धि अवश्य होती है ॥१८॥ मुक्तिके अतिदूर रहनेपर भी सर्वदा व्रताचरणके विषयमें प्रयत्न करना ही चाहिये। क्योंकि व्रताचरणके निमित्तसे स्वर्गमें अपना लम्बा समय व्यतीत करना अच्छा है। किन्तु व्रताचरणके अभावसे

धर्माय व्याधिदुर्भिक्षजरादौ निष्प्रतिक्रिये । त्यक्तुं वपुः स्वपाकेन तच्च्युतौ वाशनं त्यजेत् ॥२०
अन्नैः पुष्टो मलैर्दुष्टो देहो नान्ते समाधये । तत्कर्श्यो विधिना साधोः शोध्यश्चायं तदीप्सया ॥२१
सल्लेखनाऽसंलिखतः कषायान्निष्फला तनोः । कायोऽजडैर्दण्डयितुं कषायानेव दण्ड्यते ॥२२
अन्धोमदान्धैः प्रायेण कषायाः सन्ति दुर्जयाः ।
ये तु स्वाङ्गान्तरज्ञानात् तान् जयन्ति जयन्ति ते ॥२३
गहनं न तनोर्हानं पुंसः किन्त्वत्र संयमः । योगानुवृत्तेर्व्यावर्त्य तदाऽऽत्माऽऽत्मनि युज्यताम् ॥२४

नरकमें लम्बा समय व्यतीत करना अच्छा नहीं है। भावार्थ—दूरभव्यपनेकी परिस्थितिमें मुक्ति कदाचित् दूर भी हो, तो भी उसके पहले संसारमें रहनेका जो लम्बा काल है वह हिंसादिकसे उपार्जित पापोंके निमित्तसे नरकमें रहकर व्यतीत करनेकी अपेक्षा अहिंसादिक व्रतोंके आचरणसे उपार्जित पुण्यके निमित्तसे स्वर्गमें व्यतीत करना बहुत अच्छा है। इसलिए मुक्तिके दूर रहनेपर भी जिन-भक्तोंको व्रतोंके आचरणमें सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए।॥१९॥ रोग, अकाल और बुढ़ापा आदिकके दुर्निवार होनेपर आयुके नाशके कारण शरीरके नाशका समय आनेपर, अथवा घोर उपसर्गके उपस्थित होनेपर धर्मके लिए या भवान्तरमें धर्मको सहचर बनानेके लिये शरीरको छोड़नेके हेतु भोजनको त्याग देवे। भावार्थ—धर्मभ्रंशकी सम्भावनाके लिये कारणभूत और जिनका प्रतिकार नहीं किया जा सकता ऐसे रोग, दुर्भिक्ष और बुढ़ापा आदिकके उपस्थित होनेपर धर्मकी रक्षाके हेतु शरीर छोड़नेके लिये समाधिमरणार्थी श्रावक या मुनि भक्तप्रत्याख्यान (अनशन) करे। तथा अपने परिपाकसे आयुका स्वयं क्षय होनेके कारण शरीर छूटनेके समयपर और घोर उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी अनशन करे। इस प्रकार शरीरत्यजन, शरीरच्यवन और शरीरच्यावनके भेदसे भक्तप्रत्याख्यान तीन प्रकारका होता है ॥२०॥ तरह तरहके अन्नोंसे पुष्ट और विकृत वात पित्त कफ आदिसे दूषित शरीर मरणसमयमें समाधिके लिये नहीं होता, इसलिये समाधिकी इच्छासे सल्लेखनापूर्वक यह शरीर क्षपकके कृश करने योग्य तथा योग्य विरेचन वा वस्तिकर्म आदिकसे जठरगतमलको शुद्धि करने योग्य है। भावार्थ—नाना प्रकारके अन्नोंसे पुष्ट तथा वात पित्त और कफमेंसे किसी एक या अनेक मलोंसे दूषित शरीर समाधिमरणके लिये उपयोगी नहीं होता, इसलिये समाधिके इच्छुकोंको विधिपूर्वक शरीरको कृश करना चाहिये। और व्याधिके कारणभूत जठराशयके मलको योग्य विरेचन वा वस्तिकर्म आदिक द्वारा शुद्ध करना चाहिये ॥२१॥

कषायोंको नहीं घटानेवालेके शरीरका कृश करना निष्फल है। क्योंकि विवेकियोंके द्वारा कषायोंको ही निग्रह करनेके लिए शरीर निग्रह किया जाता है। भावार्थ—काम क्रोध आदिक कषायोंको कृश नहीं करनेवालोंका उपवासादिक द्वारा अपने शरीरका कृश करना व्यर्थ है। क्योंकि ज्ञानीजन कषाय कम करनेके प्रयोजनसे ही शरीरको उपवासादिकसे कृश करते हैं ॥२२॥ बहुधा आहारसे उत्पन्न मानसिक हर्षसे स्व-पर भेदविज्ञानरहित व्यक्तियोंके द्वारा कषाय दुर्जय होते हैं और जो व्यक्ति आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानसे उन कषायोंको जीतते हैं वे विजयी होते हैं ॥२३॥ मनुष्यको शरीरका त्याग करना कठिन नहीं है। परन्तु शरीरपरित्यागके समयमें संयमका होना अतिकठिन है। इसलिये क्षपकके द्वारा अपना आत्मा मन वचन कायके व्यापारसे पृथक् करके अपने आत्मामें लीन किया जाना चाहिये ॥२४॥ श्रावक अथवा मुनि

**श्रावकः श्रमणो वान्ते कृत्वा योग्यां स्थिराशयः। शुद्धस्वान्तरतः प्राणान् मुक्त्वा स्यादुदितोदयः ॥२५
समाधिसाधनचणे गणेशे च गणे च न। दुर्दैवेनापि सुकरः प्रत्यूहो भावितात्मनः ॥२६
प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः। समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥२७
परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे। यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ॥२८
प्रायार्थी जिनजन्मादिस्थानं परमपावनम्। आश्रयेत्तदलाभे तु योग्यमर्हद्गृहादिकम् ॥२९
प्रस्थितो यदि तीर्थाय म्रियतेऽवान्तरे यदा। अस्त्येवाराधको यस्माद् भावना भवनाशिनी ॥३०
रागाद् द्वेषान्ममत्वाद्वा यो विराद्धो विराधकः। यश्च तं क्षमयेत्तस्मै क्षाम्येच्च त्रिविधेन सः ॥३१
तीर्णो भवार्णवस्तैर्ये क्षाम्यन्ति क्षमयन्ति च। क्षाम्यन्ति क्षमयतां ये ते दीर्घाजवञ्जवाः ॥३२
योग्यायां वसतौ काले स्वागः सर्वं स सूरये। निवेद्य शोधितस्तेन निःशल्यो विहरेत्पथि ॥३३
विशुद्धिसुधया सिक्तः सः यथोक्तं समाधये। प्रागुदग्वा शिरः कृत्वा स्वस्थः संस्तरमाश्रयेत् ॥३४
त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यापवादिकलिङ्गिने। महाव्रतार्थिने दद्याल्लिङ्गमौत्सर्गिकं तदा ॥३५**

मरणसमयमें पूर्ववर्णित परिकर्मको करके निश्चलचित्त तथा निर्मल निज चिद्रूपलीन होता हुआ प्राणोंको छोड़कर विविध अभ्युदयोंको भोगकर मोक्षका अधिकारी होता है ॥२५॥ निर्यापकाचार्यके तथा संघके समाधिके साधनमें तत्पर रहनेपर आत्मचिन्तवनकारी समाधिकर्त्ता के पूर्वकृत अशुभकर्मके द्वारा भी विघ्न करना सरल नही होता ॥२६॥ इस प्राणीने इस भवके पहले अनन्त तद्भवमरण प्राप्त किये, किन्तु समाधिसे पवित्र इतर सर्वक्षणोंसे उत्कृष्ट अन्तिम क्षण प्राप्त नही किया। अर्थात् पहले कभी भी समाधिसहित मरण नहीं पाया ॥२७॥ सर्वज्ञ मरणके उस अन्तिम समयमें उत्कृष्ट माहात्म्यको बताते है जिसमे रत्नत्रयकी आराधनामे सावधान भव्य संसाररूपी पिंजरेको तोड़ते है ॥२८॥ संन्यासमरणका इच्छुक क्षपक परमपवित्र जिनेन्द्रदेवके जन्मकल्याणक आदि स्थानको आश्रय करे, किन्तु उस स्थानका लाभ नही होनेपर योग्य जिनमन्दिर आदिको आश्रय करे ॥२९॥ समाधिमरणके हेतु तीर्थस्थानके लिये अथवा निर्यापकाचार्यके निकट जानेके लिये जाता हुआ व्यक्ति यदि बीचमे मर जाता है तो आराधक है ही। क्योंकि हार्दिक इच्छा ससारकी नाशक होता है ॥३०॥ समाधिके हेतु तीर्थस्थानको प्रस्थित वह क्षपक स्नेहसे, क्रोधसे, अथवा मोहसे जो अपने द्वारा दुखित किया गया है उससे मन वचन काय द्वारा क्षमा माँगे और जो अपने प्रति वैमनस्य करनेवाला है उसको मन वचन कायसे क्षमा करे ॥३१॥ जो क्षपक क्षमा करते है और क्षमा माँगते है उन्होंने संसाररूपी समुद्र पार किया। किन्तु जो क्षमा माँगनेवालोंको क्षमाप्रदान नही करते हैं वे दीर्घसंसारी है ॥३२॥ वह क्षपक आलोचना की विधिके योग्य स्थानमें और समयमें समस्त अपने अपराधोंको निर्यापकाचार्यके लिये निवेदन करके उस निर्यापकाचार्यके द्वारा प्रायश्चित्तविधिके अनुसार शुद्ध और तीनों शल्यों रहित होता हुआ समाधिके मार्गमें प्रवृत्ति करे ॥३३॥ वह क्षपक शारीरिक पवित्रता अथवा प्रायश्चित्तविधान सम्बन्धी विशुद्धिरूपी अमृतसे अभिषिक्त होता हुआ आगमानुकूल समाधिके लिये पूर्व की ओर अथवा उत्तर की ओर शिरको करके अनाकुल होता हुआ समाधिके हेतु चटाई या पाटा आदि आसनपर आरूढ़ होवे ॥३४॥

मुष्कद्वय और लिङ्ग सम्बन्धी दोषोंसे सहित आपवादिकलिङ्ग अर्थात् सग्रन्थ चिह्नके धारक भी महाव्रतोंकी याचना करनेवाले क्षपकके लिये निर्यापकाचार्य उस समय मुनिवेष अर्थात् मुनिदीक्षा देवे। भावार्थ—मुष्कद्वय (अण्डकोश) और लिङ्गसम्बन्धी दोषसहितके लिये यद्यपि

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम् । अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकाऽर्हति ॥३६
ह्रीमान्महर्द्धिको यो वा मिथ्यात्वप्रायबान्धवः । सोऽविविक्ते पदे नाग्न्यं शस्तलिङ्गोऽपि नार्हति ॥३७
यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गमुक्तं जिनैः स्त्रियाः । पुंवत्तदिष्यते मृत्यु-काले स्वल्पीकृतोपधेः ॥३८
देह एव भवो जन्तोर्यल्लिङ्गं च तदाश्रितम् । जातिवत्तद्ग्रहं तत्र त्यक्त्वा स्वात्मग्रहं विशेत् ॥३९
परद्रव्यग्रहेणैव यद् बद्धोऽनादिचेतनः । तत्स्वद्रव्यग्रहेणैव मोक्ष्यतेऽतस्तमावहेत् ॥४०
अलब्धपूर्वं किं तेन न लब्धं येन जीवितम् । त्यक्तं समाधिना शुद्धिं विवेकं चाप्य पञ्चधा ॥४१
शय्योपध्यालोचान्नवैयावृत्येषु पञ्चधा । शुद्धिः स्यात् दृष्टिधीवृत्त-विनयावश्यकेषु वा ॥४२
विवेकोऽक्षकषायाङ्ग-भक्तोपधिषु पञ्चधा । स्याच्छय्योपधिकायान्न-वैयावृत्यकरेषु वा ॥४३

मुनिदीक्षा निषिद्ध है तथापि संस्तरारोहणके समय समाधिमरणार्थी श्रावकके इन दोषोंसे सहित होनेपर भी यदि वह मुनिदीक्षा की याचना करे तो उस समय निर्यापकाचार्य उसे मुनिदीक्षा देवे ॥३५॥ आश्चर्य है कि ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावक लंगोटीमें ममता या परिग्रह सहित होनेसे उपचरित भी महाव्रतके योग्य नही है। किन्तु आर्यिका साड़ीमें भी आसक्त न होनेसे उपचरित महाव्रतकी योग्य है ॥३६॥ मुष्क और लिङ्ग दोषरहित भी जो लज्जावान् अधिकांश मिथ्यादृष्टि बन्धुवाला है वह बहुजनव्याप्त स्थानमें दिगम्बर दीक्षा धारणको योग्य नहीं है ॥३७॥ जिनेन्द्र भगवान्ने जो औत्सर्गिक अथवा दूसरा आपवादिक लिङ्ग कहा है वह मुनिलिङ्गका ग्रहण आदि मृत्यु समयमें अत्यल्प परिग्रह धारण करनेवाली आर्यिकाके लिये पुरुषकी तरह इष्ट है ॥३८॥ प्राणीका शरीर ही संसार है इसलिये देहाश्रित जो नग्नत्वादिक लिङ्ग या पद है उसके विषयमें भी ब्राह्मणत्वादि जातिकी तरह नग्नत्वादि लिंगकी आसक्तिको भी छोड़कर क्षपक शुद्ध स्वकीय चिद्रूप चिन्तवनमें प्रवेश करे ॥३९॥ यतः यह जीव शरीरादिक परद्रव्यकी ममतासे ही अनादि-कालसे कर्माधीन हुआ है, अतः आत्मलीनतासे ही मुक्त हो सकता है। इसलिये मुमुक्षु उस आत्मलीनताको धारण करे ॥४०॥ जिस क्षपकने पाँच प्रकारकी शुद्धिको और विवेकको प्राप्त करके समाधिसे जीवन छोड़ा उसने कौन पहिले कभी नहीं प्राप्त हुआ महाभ्युदय नहीं पाया ? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त करने योग्यको पा लिया है ॥४१॥ शय्या, उपधि, आलोचना, अन्न और वैयावृत्यके विषयमें तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, विनय और आवश्यकके विषयमें शुद्धि पाँच प्रकार होती है। भावार्थ—बहिरंग शुद्धिके पाँच भेद हैं—शय्याशुद्धि, उपधिशुद्धि, आलोचनाशुद्धि, अन्नशुद्धि और वैयावृत्यशुद्धि। तथा अन्तरंग शुद्धिके भी पाँच भेद हैं—सम्यग्दर्शन शुद्धि, सम्यग्ज्ञान शुद्धि, सम्यक्चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और आवश्यक शुद्धि। वसतिस्थान और संस्तरको शय्या कहते हैं। संयमके उपकरण पीछी कमण्डलु आदिको उपधि कहते हैं। गुरुके सामने अपने दोषोंके निवेदनको आलोचना कहते हैं। परिचारकों द्वारा किये जानेवाले पादमर्दन आदिको वैयावृत्य कहते हैं। इन शय्या आदिक विषयोंमें प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम सहित जो प्रवृत्ति होती है उसे बहिरंगशुद्धि कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन आदिकमें अतिचाररहित प्रवृत्तिको अन्तरंगशुद्धि कहते हैं ॥४२॥ इन्द्रिय, कषाय, अंग, भक्त और उपधिके विषयमें तथा शय्या, उपधि, काय, अन्न और परिचारकके विषयमें विवेक पाँच प्रकार है। भावार्थ—अन्तरंगविवेकके पाँच भेद हैं। इन्द्रियविवेक, कषायविवेक, अंगविवेक, भक्तविवेक और उपधिविवेक तथा बहिरंग-विवेकके भी पाँच भेद हैं—शय्याविवेक, उपधिविवेक, कायविवेक, अन्नविवेक और परिचारक-

निर्यापके समर्प्य स्वं भक्त्यारोप्य महाव्रतम् । निश्चेलो भावयेदन्यस्त्वनारोपितमेव तत् ॥४४

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागं सुखानुबन्धमजन् ।
सनिदानं संस्तरगश्चरेच्च सल्लेखनां विधिना ॥४५

यतीन्नियुज्य तत्कृत्ये यथार्हं गुणवत्तमान् । सूरिस्तं भूरि संस्कुर्यात् स ह्यार्याणां महाक्रतुः ॥४६
योग्यं विचित्रमाहारं प्रकाश्येष्टं तमाशयेत् । तत्रासजन्तमज्ञानात् ज्ञानाख्यानैर्निवर्तयेत् ॥४७

विवेक । मेरा चिद्रूप सबसे भिन्न है इस प्रकार अपने भिन्नरूप सिद्ध करने योग्य अध्यवसायको विवेक कहते हैं । इन्द्रियादिकोंसे अपने पृथग्भावका चिन्तवन भावविवेक या अन्तरविवेक कहलाता है । तथा शय्या आदिकसे अपने पृथग्भावका चिन्तवन द्रव्यविवेक या बहिरंगविवेक कहलाता है ॥४३॥

समाधिकर्ता मुनि अपनेको निर्यापकाचार्यके ऊपर समर्पित करके भक्तिसे महाव्रतोंको धारण करके पुनः भावना भावे, तथा मुनिसे भिन्न श्रावक धारण नहीं किये गये ही महाव्रतोंको भावना भावे । भावार्थ—महाव्रती मुनि, क्षपक अवस्थामें अपनेको निर्यापकाचार्यके लिये सौंपकर भक्तिपूर्वक ग्रहण किये हुए महाव्रतोंकी पुनः पुनः भावना भावे । और अणुव्रती सग्रन्थ श्रावक क्षपक, महाव्रतोंको धारण करनेकी भावना भावे । महाव्रतोंकी भावनाके सम्बन्धमें सचेल और अचेल क्षपकोंमें यही अन्तर है ॥४४॥ संस्तर पर आरूढ क्षपक जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रोंमें प्रेम, निदानसहित सुखानुबन्धको छोड़ता हुआ शास्त्रोक्त विधिसे सल्लेखनाको करे । विशेषार्थ—जीविताशंसा, मरणाशंसा, सुहृदनुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पाँच सल्लेखनाके अतिचार हैं । जीविताशंसा—यह शरीर अवश्य हेय है और जलबुद्बुदके समान अनित्य है इत्यादि बातका स्मरण नहीं करते हुए इस शरीरकी स्थिति कैसे रहेगी, इस प्रकार शरीरके प्रति आदर भावको जीविताशंसा कहते हैं । अथवा अपना सत्कार विशेष देखनेसे तथा अनेक व्यक्तियोंके द्वारा अपनी प्रशंसा सुननेसे ऐसा विचार करना कि चार प्रकारके आहारका त्याग करके भी मेरा जीवन कायम रहे तो बहुत अच्छा है, क्योंकि यह सब उपरोक्त विभूति मेरे जीवनके निमित्तसे ही हो रही है इस प्रकार जीवनकी आकांक्षाको जीविताशंसा कहते हैं । अथवा अपनेको स्वस्थ होता हुआ देखकर जीनेकी इच्छा करना भी जीविताशंसा कहलाती है । मरणाशंसा—प्राप्त जीवनमें रोगोंके उपद्रवकी आकुलतासे संक्लिष्ट क्षपकको 'मेरा शीघ्र मरण हो जावे तो बहुत अच्छा हो' इस प्रकार परिणामोंके होनेको मरणाशंसा कहते है । सुहृदनुराग—बाल्यकालमें अपने मित्रोंके साथ हमने ऐसे खेल खेले हैं, हमारे अमुक मित्र विपत्ति पड़ने पर सहायता करते थे और हमारे मित्र उत्सवोंमें तत्काल उपस्थित होते थे इस प्रकार बालमित्रोंके प्रति अनुराग भावोंको पुनः पुनः स्मरण करना सुहृदनुराग कहलाता है । सुखानुबन्ध—मैंने ऐसे भोग भोगे हैं, मैं ऐसी शय्याओं पर सोता था, मैं इस प्रकार खेलता था इत्यादि प्रकारसे पूर्व कालीन सुख-भोगका पुनः पुनः स्मरण करना सुखानुबन्ध कहलाता है । निदान—इस दुस्तर तपके प्रभावसे मुझे जन्मान्तरमें इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती इत्यादि पदकी प्राप्ति होवे इस प्रकार भविष्यमें अभ्युदयकी वाञ्छाको निदान कहते हैं ॥४५॥ निर्यापकाचार्य क्षपककी परिचर्याके विषयमें यथायोग्य सम्यग्दर्शनादिक उत्तमगुणोंके धारक यतियोंको नियुक्त करके उस क्षपकको विशेष संस्कृत करे । क्योंकि वह समाधि-साधनाविधि यतियोंका परमयज्ञ है ॥४६॥ निर्यापकाचार्य उस क्षपकको उचित या भक्ष्य तथा नानाप्रकारके

भो निर्जिताक्ष ! विज्ञात-परमार्थ ! महायशः । किमद्य प्रतिभान्तीमे पुद्गलाः स्वहितास्तव ॥४८
किं कोऽपि पुद्गलः सोऽस्ति यो भुक्त्वा नोज्झितस्त्वया । न चैष मूर्तोऽमूर्तस्ते कथमप्युपयुज्यते ॥४९
केवलं करणैरेनमलं ह्यनुभवन्भवान् । स्वभावमेवेष्टमिदं भुञ्जेऽहमिति मन्यते ॥५०
तदिदानीमिमां भ्रान्तिमभ्याजोन्मिषतीं हृदि । स एष समयो यत्र जाग्रति स्वहिते बुधाः ॥५१
अन्योऽहं पुद्गलश्चान्यः इत्येकान्तेन चिन्तय । येनापास्य परद्रव्यग्रहवेशं स्वमाविशेः ॥५२
क्वापि चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तद् ध्रुवं चरेः । तं कृमीभूय सुस्वादुचिर्भटिकासक्तभिक्षुवत् ॥५३
किञ्चाङ्गस्योपकार्यन्नं न चैतत्तत्प्रतीच्छति । तच्छिन्धि तृष्णां भिन्धि त्वं देहाद्रुन्धि दुरास्रवम् ॥५४
इत्थं पथ्यप्रथासारैर्वितृष्णीकृत्य तं क्रमात् । त्याजयित्वाऽशनं सूरिः स्निग्धपानं विवर्धयेत् ॥५५

भोजनको दिखाकर क्षपकके प्रिय भोजनको जिमावे और अज्ञानसे उस इष्ट भोजनमें आसक्त होने वाले क्षपकको बोधप्रद कथानकों द्वारा व्यावृत्त करे। भावार्थ—निर्यापकाचार्य क्षपकको योग्य और नानाप्रकारके आहार दिखा कर उसके इच्छित पदार्थ उसे खिलावे। कोई विवेकी क्षपक तो उन भोज्य पदार्थोंको देखकर इस प्रकार वैराग्य और संवेग भावना भाता है कि मैं भवसमुद्रके किनारे आ चुका हूँ। अब मुझे इन भोज्योंसे क्या प्रयोजन है। कोई क्षपक उन इष्ट भोज्य पदार्थों-में से कुछको ग्रहण कर शेषका परित्याग कर देता है। और कोई क्षपक उनका आस्वादन करके आसक्त भी हो जाता है। क्योंकि मोहकी लीला विचित्र है। इसलिये निर्यापकाचार्य इष्ट भोजनमें तत्त्वज्ञानके अभावसे आसक्ति रखने वाले क्षपकको समाधिपूर्वक मरने वालोंके बोधप्रद आख्यानों द्वारा विरक्त करे।।४७।। हे जितेन्द्रिय, परमार्थ तत्त्वके जानकार, यशस्विन् क्षपक, ये भोजन-शयन-आसन आदिक पुद्गल तुझे आज क्या आत्माके उपकारक मालूम होते हैं।।४८।। वह कोई भी पुद्गल है क्या? जो तूने भोग कर नहीं छोड़ दिया है, यह मूर्तिक पुद्गल अमूर्तिक तेरे किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं है। भावार्थ—अनादिकालसे संसारमें बसने वाले जीवके ऐसा कोई भी पुद्गल बाकी नहीं है जिसको जीवने इन्द्रियों द्वारा भोग कर छोड़ नही दिया हो। अतएव हे क्षपक, तुझे इन पुद्गलोंमें आसक्ति नहीं करना चाहिये। क्योंकि तू अमूर्तिक है और पुद्गल मूर्तिक। इसलिये आत्मासे सर्वथा भिन्नस्वभाव पुद्गल अमूर्तिक आत्माके लिये किसी भी प्रकारसे उपकारक नहीं हो सकता।।४९।। इन्द्रियोंके द्वारा इस पुद्गलको विषय करके निश्चयसे स्वभावको ही अनुभव करने वाला तूँ इस इष्ट वस्तुको मैं भोग कर रहा हूँ इस प्रकार केवल मानता है, यह तेरा अज्ञान है।।५०।। इसलिये इस समय हृदयमें उठती हुई इस अभोग्य पुद्गलमें भोग्यताके भ्रमको छोड़ क्योंकि प्रसिद्ध यह वह समय है जिसमें तत्त्वज्ञानी अपने हितके विषयमें सावधान होते हैं।।५१।। मै भिन्न हूँ और पुद्गल भिन्न हैं, इस प्रकार सर्वथा अटलरूपसे भावना कर जिस भेदज्ञानसे परद्रव्यमें आसक्तिको छोड़ कर अपने आत्मद्रव्यके उपयोगमें तत्पर हो सको।।५२।। यदि तूँ किसी पुद्गलमें आसक्त होता हुआ मरेगा तो निश्चयसे स्वादिष्ट कचरियामें आसक्त हुए भिक्षुकके समान उसी पुद्गलका कीड़ा होकर उस पुद्गलको खावेगा। अर्थात् मरकर उसीमें कीड़ा रूपसे पैदा हो जायगा।।५३।। तथा अन्न शरीरका उपकारक है और यह शरीर उस अन्नको अपने उपकार रूपसे नहीं चाहता है। इसलिये तू अन्नकी तृष्णाको छोड़ और अपनेको शरीरसे भिन्न समझ। तथा अशुभास्रवको रोक।।५४।।

निर्यापकाचार्य पूर्वोक्त प्रकारसे हितोपदेशरूपी धाराप्रवाही मेघ-वृष्टिसे उस क्षपकको तृष्णारहित करके क्रमसे कवलाहारको त्याग कराकर दुग्धादि स्निग्ध पेय-पदार्थके आहारको

पानं षोढा घनं लेपि ससिक्थं सविपर्ययम् । प्रयोज्य हापयित्वा तत् खरपानं च पूरयेत् ॥५६
शिक्षयेच्चेति तं सेयमन्त्या सल्लेखनार्य ते । अतिचारपिशाचेभ्यो रक्षैनामतिदुर्लभाम् ॥५७
प्रतिपत्तौ सजन्नस्यां मा शंस स्थास्नु जीवितम् । भ्रान्त्या रम्यं बहिर्वस्तु हास्यः को नायुराशिषा॥५८
परीषहभयादाशु मरणे मा मतिं कृथाः । दुःखं सोढा निहन्त्यंहो ब्रह्म हन्ति मुमूर्षुकः ॥५९
सहपांसुक्रीडितेन स्वं सख्या मानुरञ्जय । ईदृशैर्बहुशो भुक्तैर्मोहदुर्ललितैरलम् ॥६०
मा समन्वाहर प्रीतिविशिष्टे कुत्रचित्स्मृतिम् । वासितोऽक्षसुखैरेव बम्भ्रमीति भवे भवी ॥६१
मा कांक्षीर्भाविभोगादीन् रोगादीनिव दुःखदान् । वृणीते कालकूटं हि कः प्रसाद्येष्टदेवताम् ॥६२
इति व्रतशिरोरत्नं कृतसंस्कारमुद्वहन् । खरपानक्रमत्यागात् प्रायेऽयमुपवेक्ष्यति ॥६३
एवं निवेद्य संघाय सूरिणा निपुणेक्षिणा । सोऽनुज्ञातोऽखिलाहारं यावज्जीवं त्यजेत्त्रिधा ॥६४

बढ़ावे ॥५५॥ पेयपदार्थ छह प्रकार हैं अपने विपरीतसे सहित घन, लेपि, तथा ससिक्थ। निर्यापकाचार्य उस पेयाहारको खिलवाकर और त्याग कराकर खरपानको बढ़ावे। विशेषार्थ—पेयाहार (स्निग्धपान) के छह भेद है—घन, अघन, लेपि, अलेपि, ससिक्थ और असिक्थ। निर्यापकाचार्य परिचारकोंके द्वारा क्षपकके लिये इन छह प्रकारके स्निग्धपानोंको खिलवाकर क्रम क्रमसे उनका भी त्याग कराकर खरपानकी वृद्धि करे। घनपेय—दही आदि पीने योग्य गाढ़ी वस्तु। अघनपेय—इमली आदिक फलोंका रस तथा कांजी आदि पतली वस्तु। लेपि—हाथोसे चिपकनेवाली पेय वस्तु। ससिक्थ—कणसहित पेयवस्तु, जैसे छाँछ आदिक। असिक्थ—स्वयमेव पतली पेयवस्तु, जैसे दहीके ऊपरका पानी। खरपान = शुद्ध काँजी और गरमजल ॥५६॥ निर्यापकाचार्य उस क्षपकको वक्ष्यमाण प्रकारसे शिक्षा देवें कि हे क्षपक! तेरी प्रसिद्ध यह सल्लेखना मारणान्तिकी है। अतएव अत्यन्त दुर्लभ इस सल्लेखनाको अतिचार रूपी पिशाचोंसे रक्षा कर ॥५७॥ हे क्षपक! इस आचार्यादिको द्वारा की जानेवाली परिचर्याकी विधिमें अथवा महापुरुषो द्वारा प्राप्त गौरव या आदरमे आसक्त होता हुआ तूं जीवनको स्थिरतर इच्छा मत कर क्योंकि बाह्य वस्तु भ्रमसे ही सुन्दर होती है तथा चिरजीवी होनेकी आकाक्षासे कौन हँसीका पात्र नही होता? ॥५८॥ हे क्षपक! असह्य क्षुधा आदिकी वेदनाके भयसे शीघ्र मृत्युके विषयमें इच्छाको मत कर, क्योंकि परीषहोंको बिना संक्लेशके सहन करनेवाला व्यक्ति पूर्वोपार्जित कर्मोको नष्ट करता है, तथा कुत्सितविधिसे मरनेका इच्छुक व्यक्ति अपने सम्यग्ज्ञान या मोक्षको नष्ट करता है ॥५९॥ हे क्षपक! बाल्यकालमें जिनके साथ धूलिमें खेल खेले हैं उन मित्रोंसे अपनेको अनुरागयुक्त मत कर। क्योंकि अनेक बार भोगे हुए इस प्रकार मित्रानुरागके स्मरण सम्बन्धी मोहनीय कर्मके परिपाकसे उत्पन्न अनुरागमय परिणामोंसे क्या लाभ है? ॥६०॥ हे क्षपक! पूर्वानुभूत किसी अपने प्रिय इन्द्रियविषयमें स्मृतिको बार बार मत कर, क्योंकि इन्द्रियविषयजन्य सुखोंसे ही आसक्त होता हुआ संसारी संसारमें पुन. पुनः जन्मधारण कर रहा है ॥६१॥ हे उपासक! रोगादिकके समान दुःखदायक भावी भोगादिक इष्ट विषयोंकी इच्छा मत कर, क्योंकि इष्टदेव या देवीको प्रसन्न करके हालाहल विषको कौन माँगेगा? ॥६२॥ इस प्रकारसे निरतिचारपालनसे अतिशयरूप संस्कारको प्राप्त सल्लेखनाव्रतरूपी चूड़ामणि रत्नको धारण करनेवाला यह क्षपक क्रमशः गरम जलका भी त्याग कर देनेसे उपवासके विषयमें प्रवेश करेगा। इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेवाले निर्यापकाचार्यके द्वारा संघके लिये सूचित करके अनुमतिको प्राप्त हुआ वह क्षपक

व्याध्याद्यपेक्षयाम्भो वा समाध्यर्थं विकल्पयेत् । भृशं शक्तिक्षये जह्यात् तदप्यासन्नमृत्युकः ॥६५
तदाखिलो वर्णिमुखग्राहितक्षामणो गणः । तस्याविघ्नसमाधान-सिद्ध्यै तन्यात्तनूत्सृतिम् ॥६६
ततो निर्यापकाः कर्णे जपं प्रायोपवेशिनः । दद्युः संसारभयदं प्रीणयन्तो वचोऽमृतैः ॥६७
मिथ्यात्वं वम सम्यक्त्वं भजोर्जय जिनादिषु । भक्ति भावनमस्कारे रमस्व ज्ञानमाविश ॥६८
महाव्रतानि रक्षोच्चैः कषायाञ्जय यन्त्रय । अक्षाणि पश्य चात्मानमात्मनात्मनि मुक्तये ॥६९
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा । तद्दुःखं यन्न दीयेत मिथ्यात्वेन महारिणा ॥७०
सङ्घश्रीर्भावयन्भूयो मिथ्यात्वं वन्दकाहितम् । धनदत्तसभायां द्राक् स्फुटिताक्षोऽभ्रमद् भवम् ॥७१
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा । तत्सुखं यन्न दीयेत सम्यक्त्वेन सुबन्धुना ॥७२

चतुर्विधाहारको जीवनपर्यन्तके हेतु छोड़ देवे ॥६३-६४॥ अथवा व्याधि आदिककी अपेक्षासे समाधिकी सिद्धिके लिये जलको गुरुकी सम्मतिसे ग्रहण करे तथा अत्यन्त शक्तिके क्षीण होनेपर निकट मृत्युवाला होता हुआ क्षपक उस पानीको भी छोड़े। भावार्थ—पैत्तिकव्याधि, ग्रीष्मकाल, मरुस्थलादिकदेश; पित्तप्रकृति आदिक कारणोंसे जो क्षपक परीषहोंके वेगको नही सह सकता वह समाधिके लिये गुरुकी आज्ञासे जलमात्रका ग्रहण करे, शेष तीन प्रकारके भोजनोंका सर्वथा त्याग कर देवे। किन्तु जिस समय शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जावे तथा मृत्यु अतिशय निकट आ जावे उस समय पानीका भी त्याग अवश्य कर देवे ॥६५॥ क्षपककी मृत्युका समय उपस्थित होनेपर किसी ब्रह्मचारीके द्वारा बुलाई है क्षपकके प्रति क्षमा जिसने ऐसा समस्त संघ उस क्षपककी निर्विघ्न समाधिकी सिद्धिके लिए कायोत्सर्गको करे ॥६६॥

इस विधिके बाद समाधिकी सिद्धि करानेमें तत्पर आचार्य अपने वचनरूपी अमृतसे क्षपकको सन्तुष्ट करते हुए क्षपकके कानमें संसारसे भयोत्पादक उपदेशको देवें ॥६७॥ हे क्षपक ! मिथ्यात्वको निकाल दे, सम्यक्त्वको सेवन कर, अरिहन्त आदिकमें भक्तिको बढ़ा, अरिहन्तादिकके गुणानुरागमें रमण चिन्तवन कर, तथा अन्तरंग तत्त्वावबोधमें लवलीन हो ॥६८॥ हे क्षपक ! मुक्तिके लिये अपने महाव्रतोंको रक्षा कर, कषायोंको भलीप्रकार जीत, इन्द्रियोंको वशमें कर, और आत्मामें आत्माके द्वारा आत्माको देख ॥६९॥ अधोलोक, मध्य-लोक और ऊर्ध्वलोकमें वह दुःख न था न है और न होगा जो दुःख महान् शत्रु मिथ्यात्वके द्वारा नहीं दिया जाता है ॥७०॥ वन्दकके निमित्तसे प्राप्त मिथ्यात्वको पुनः भाता हुआ धनदत्त राजाका मंत्री संघश्री धनदत्तकी सभामें जल्दी फूट गई हैं आँखें जिसकी ऐसा होता हुआ मरकर संसारमें भटका। भावार्थ—धनदत्त राजाका मंत्री संघश्री पहले सम्यग्दृष्टि था परन्तु उसने धनदत्त राजाकी सभामें वन्दकके निमित्तसे अन्तरंगमें पुनः मिथ्यात्वकी प्राप्ति की। उसके प्रभावसे उसकी आँखें फूटीं और वह संसारचक्रमें भटक गया ॥७१॥ लोकत्रयमें वह सुख न था न है और न होगा जो सुख सच्चे बन्धु सम्यक्त्वके द्वारा न दिया जाता हो ॥७२॥ हे क्षपक ! देखो केवल एक दर्शनविशुद्धिके प्रभावसे महाराज श्रेणिक मिथ्यात्वकी अवस्थामें बाँधी हुई तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुकी स्थितिको कम करके रत्नप्रभा पृथिवीकी चौरासी हजार वर्षकी की है जिसने ऐसा होता हुआ आगेके भवमें तीर्थङ्कर होगा ॥७३॥ एक ही जिनदेवमें आन्तरिक अनुराग हो इष्टसिद्धि साधक और पुरुषार्थोंसे क्या प्रयोजन है जो जिनभक्ति समस्त अभ्युदय घातक विघ्नोंको नष्ट कर मनोरथोंको पूर्ण करती

प्रह्लासितकुदृग्बद्धश्वभ्रायुःस्थितिरेकया। दृग्विशुद्ध्यापि भविता श्रेणिकः किल तीर्थकृत् ॥७३
एकैवास्तु जिने भक्तिः किमन्यैः स्वेष्टसाधनैः। या दोग्धि कामानुच्छिद्य सद्योऽपायानशेषतः ॥७४
वासुपूज्याय नम इत्युक्त्वा तत्संसदं गतः। द्विदेवारब्धविघ्नोऽभूत् पद्मः शक्रार्चितो गणी ॥७५
एकोऽप्यर्हन्नमस्कारश्चेद्विशेन्मरणे मनः। सम्पाद्याभ्युदयं मुक्तिश्रियमुत्कयति द्रुतम् ॥७६
स णमो अरिहंताणमित्युच्चारणतत्परः। गोपः सुदर्शनोभूय सुभगाह्वः शिवं गतः ॥७७
स्वाध्यायादि यथाशक्ति भक्तिपीतमनाश्चरन्। तात्कालिकाद्भुतफलादुदर्के तर्कमस्यति ॥७८
शूले प्रोतो महामन्त्रं धनदत्तार्पितं स्मरन्। दृढशूर्पो मृतोऽभ्येत्य सौधर्मात्तमुपाकरोत् ॥७९
खण्डश्लोकैस्त्रिभिः कुर्वन् स्वाध्यायादि स्वयंकृतैः। मुनिनिन्दाप्तमौग्ध्योऽपि यमः सप्तर्धिभूरभूत्॥८०

है ॥७४॥ वासुपूज्य भगवान्के लिये नमस्कार हो इसप्रकार उच्चारण कर दो देवोंके द्वारा किया गया है विघ्न जिसके ऐसा भी वासुपूज्य भगवान्के समवसरणको प्राप्त पद्मरथ राजा इन्द्रादिकसे पूज्य गणधर हुआ। भावार्थ—पद्मरथ राजाने वासुपूज्य भगवान्के समवसरणको प्रस्थान किया। उस समय उसके पूर्वभवके वैरी दो देवोंने अनेक विघ्न किये। परन्तु राजाने 'वासुपूज्यके लिये नमस्कार हो' इसप्रकार मंत्रका उच्चारण किया। जिससे उन देवोंके विहित विघ्न विफल हुए। और राजा पद्मरथ भगवान्के समवसरणमें निर्विघ्न पहुँच गया ॥७५॥ यदि मरणसमयमें एक भो• अरिहन्त भगवान्को भक्तिपूर्वक किया गया नमस्कार मनमें प्रवेश करे तो वह महान् वृद्धिको सम्पादन करके शीघ्र मुक्तिलक्ष्मीको उत्कण्ठित करता है ॥७६॥ 'णमो अरिहंताणं' इसप्रकार उच्चारणमें तत्पर वह जिनागमप्रसिद्ध सुभगनामक ग्वाल सुदर्शन सेठ होकर मोक्षको प्राप्त हुआ। भावार्थ—सुभग नामका ग्वाल 'णमो अरिहंताणं' पदका उच्चारणकर मरनेपर वृषभदास सेठके यहाँ सुन्दर और सम्यग्दृष्टि सुदर्शन नामक पुत्र होकर मोक्षको प्राप्त हुआ ॥७७॥

भक्तिसे अनुरक्त चित्त वाला और शक्तिके अनुसार स्वाध्याय आदिकको करने वाला व्यक्ति तत्काल प्राप्त होने वाले अद्भुत फलकी प्राप्तिके योगसे उत्तर कालमें संशयको नष्ट करता है। भावार्थ—भक्तिसे; मन लगा कर और अपने बल वीर्यको नहीं छिपा कर जो मुनियोंके स्वाध्याय, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि षट्कर्म करता है वह अपने आवश्यक कर्मोंके करनेसे प्राप्त होने वाले चिदानन्दमय फलके द्वारा आगममें वर्णित स्वाध्यायादिके फलके विषयमें किसीको संदेह नहीं रहने देता ॥७८॥ शूली पर चढ़ाया गया दृढ़शूर्प चोर धनदत्तसेठके द्वारा दिये गये महामन्त्र-को स्मरण करता हुआ मरा और सौधर्म स्वर्गसे आकर उस धनदत्तको उपकृत करता हुआ। भावार्थ—शूली पर चढ़े हुए दृढशूर्प चोरको धनदत्त सेठने महामन्त्र दिया था। उसका स्मरण करते हुए मरणको प्राप्त दृढ़शूर्प चोर सौधर्म स्वर्गमें ऋद्धिधारक देव हुआ। वहाँसे आकर उसने उस धनदत्त सेठका उपसर्ग निवारण कर अनेक उपकार किये ॥७९॥ मुनिनिन्दासे प्राप्त हुई है मूढ़ता जिसको ऐसा भी यमनामक राजा मुनि होकर स्वरचित तीन खण्डश्लोकों द्वारा स्वाध्याय आदिक करता हुआ सात ऋद्धियोंका धारक महामुनि हुआ। विशेषार्थ—मुनिकी निन्दासे मूढ़ता को प्राप्त भी यम नामका राजा स्वनिर्मित इन 'कंडसि पुणुणं स्वेवसि रेगंदहा। जवं पत्थेसि खाविदुं ॥१॥ अंणत्थ किं फलो वहां तुम्ही इत्थ बुधिया छिंदे। अंके ज्छेद इको णिया ॥२॥ अह्या दोणं दि भयं दिहादोदिसराभय तुह्म ॥३॥ तीन खण्डश्लोकों द्वारा स्वाध्याय आदि करनेके प्रभावसे सप्त ऋद्धियों का धारक मुनि हुआ था। बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण ये सात ऋद्धियाँ

अहिंसाप्रत्यपि दृढं भजन्नोजायते रुजि। यस्त्वध्यहिंसासर्वस्वे स सर्वाः क्षिपते रुजः ॥८१
यमपालो ह्रदेऽहिंसन्नेकाहं पूजितोऽप्सुरैः। धर्मस्तत्रैव मेण्ढघ्नः शिशुमारैस्तु भक्षितः ॥८२
मा गां कामदुघां मिथ्यावादव्याघ्रोन्मुखीं कृथाः। अल्पोऽपि हि मृषावादः श्वभ्रदुःखाय कल्पते ॥८३
अजैर्यष्टव्यमित्यत्र धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति। व्याख्यां छागैरिति परावर्त्यागान्नरकं वसुः ॥८४

आस्तां स्तेयमभिध्यापि विध्याप्याऽग्निरिव त्वया।
हरन् परस्वं तदसून् जिहीर्षन्स्वं हिनस्ति हि ॥८५

रात्रौ मुषित्वा कौशाम्बीं दिवा पञ्चतपश्चरन्। शिक्यस्थस्तापसोऽधोऽगात् तलारकृतदुर्मृतिः ॥८६

हैं ॥८०॥ थोड़ी सी अहिंसाके प्रति भी दृढ़ताको धारण करनेवाला व्यक्ति उपसर्गके समय दुःखाभिभूत नहीं होता तथा जो सम्पूर्ण अहिंसाके विषयमें अधिकारी होता है वह सम्पूर्ण दुःखोंको नष्ट करता है। भावार्थ—जो थोड़ी भी अहिंसाके पालनमें दृढ़ता धारण करता है वह उपसर्गके उपस्थित होनेपर दुःखाभिभूत नहीं होता, तथा जो अहिंसापर पूर्णरीतिसे आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, वह समस्त उपसर्गों पर विजय प्राप्त करता है ॥८१॥ केवल एक दिन अहिंसाव्रत पालनेवाला यमपाल चाण्डाल शिशुमार सरोवरमें जल-देवताओं-के द्वारा पूजा गया और राजाके मेंढेका घातक सेठका पुत्र धर्म उस सरोवरमें ही शिशुमार जन्तुओंके द्वारा खाया गया। भावार्थ—बनारस नगरमें चतुर्दशीके दिन एकदेश अहिंसाव्रतकी प्रतिज्ञाका पालक यमपाल चाण्डाल वहाँके शिशुमार सरोवरमें जलदेवों द्वारा पूजा गया और वहीं पर राजाके मेंढ़ेका वध करनेवाला एक सेठका पुत्र धर्म शिशुमारोंके द्वारा भक्षण किया गया ॥८२॥ हे क्षपक ! इच्छित पदार्थदायक वाणीको असत्यवादनरूप व्याघ्रके सन्मुख मत कर, क्योंकि थोड़ा भी मिथ्या-भाषण नरकोंके दुःखोंके सम्पादनके लिये समर्थ होता है। विशेषार्थ—इच्छितपदार्थदायक होनेसे वाणी एकप्रकार की कामधेनु है। और जैसे व्याघ्र गायका भक्षक प्रसिद्ध है उसीप्रकार मिथ्याभाषण सत्यका घातक है ॥८३॥ 'तीन वर्षके अजोंद्वारा यज्ञ करना चाहिये' इस आगमवचनके विषयमें तीन वर्ष पुराने धान्यके द्वारा इस अर्थको तीन वर्षके बकरों द्वारा इसप्रकार बदलकर वसु राजा नरकको गया। विशेषार्थ—अजशब्दके दो अर्थ हैं। पुराना धान और बकरा। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस आगम उपदेशके समय अजशब्दका अर्थ पुराना धान है किन्तु वसु राजाने वहाँ वह अर्थ बदलकर तीन वर्षकी उम्रवाला बकरा अर्थ कर दिया था। जिससे यज्ञादिकोंमें हिंसाकी प्रवृत्ति हुई और उसके फलस्वरूप वसु राजा नरकको गया। 'न जायन्ते इति अजाः' जो अंकुरित नहीं हो सकते है उन्हें अज कहते है। ऐसे तीन वर्ष पुराने जौ आदि धान्योंके द्वारा शान्ति वा पौष्टिक कार्य करना चाहिये यह क्षीरकदम्बकाचार्यका व्याख्यान था। परन्तु पर्वत और नारदके विवादके समयपर राजा वसु ने अजका अर्थ बकरा कर दिया था। तब से यज्ञादिकमें हिंसाकी प्रवृत्ति हुई। इस झूठके कारण राजा वसु नरकको गया ॥८४॥

भो समाधिमरणार्थिन्, चोरी दूर रहे, परधनकी इच्छा भी तेरे द्वारा अग्निके समान दूर की जानी चाहिए, क्योंकि परधनको हरनेवाला धनीके प्राणोंको हरनेकी इच्छा करता हुआ अपने आत्माकी हिंसा करता है। भावार्थ—हे क्षपक ! तूँ चोरी की तो बात ही क्या ? अपने अन्तः-करणमें परधनकी इच्छाको भी स्थान मत दे। क्योंकि जो परधनको हरनेकी इच्छा करता है उसके परके प्राणोंके घातकी इच्छा अवश्य रहती है और परघातकी इच्छा वास्तवमें आत्म-हिंसा ही है ॥८५॥ रात्रिमें कौशाम्बी नगरीकी जनताको मूषकर (लूटकर) और दिनमें पञ्चाग्नितपको

पूर्वेऽपि बहवो यत्र स्खलित्वा नोद्गताः पुनः। तत्परं ब्रह्म चरितुं ब्रह्मचर्यं परं चरेः ॥८७
मिथ्येष्टस्य स्मरन् श्मश्रुनवनीतस्य दुर्मृतेः। मोपेक्षिष्ठाः क्वचिद्ग्रन्थे मनो मूर्च्छन्मनागपि ॥८८
बाह्यो ग्रन्थोऽङ्गमक्षाणामान्तरो विषयैषिता। निर्मोहस्तत्र निर्ग्रन्थः पान्थः शिवपुरेऽर्थतः ॥८९
कषायेन्द्रियतन्त्राणां तत्तादृग्दुःखभागिताम्। परामृशन्मा स्म भवः शंसितव्रत ! तद्वशः ॥९०
श्रुतस्कन्धस्य वाक्यं वा पदं वाक्षरमेव वा। यत्किञ्चिद्रोचते तत्रालम्ब्य चित्तलयं नय ॥९१
शुद्धं श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वार्य ! स्वसंविदा। भावयंस्तल्लयापास्तचिन्तो मृत्वैहि निर्वृतिम् ॥९२

तपता हुआ लटकते हुए सींकेपर रहनेवाला भौतिक तापस कोतवालके द्वारा कृत आर्त रौद्र ध्यानसे कुमरणको प्राप्त होता हुआ नरकको गया। भावार्थ—भौतिक तापस दिनमें पञ्चाग्नि तप तपता था तथा "मै परधनका ऊँचा त्यागी हूँ, परायी भूमिका भी मै स्पर्श नही करता हूँ" इस बातको घोषित करनेके लिये जो सदैव सींकेके ऊपर रहता था। वही साधु रात्रिमे कोशाम्बीकी जनताको लूटता था। इसलिये समय पाकर कोतवालके द्वारा पकड़ा गया और आर्तरौद्रपूर्वक मरण होनेसे नरक गया ॥८६॥ जिस ब्रह्मचर्य व्रतसे प्राचीन बहुतसे रुद्रादिक पतित होकर फिर अपनेको नही सम्हाल सके उस शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आत्माको उत्कृष्ट या निर्विकल्पक अनुभव करनेको उस निरतिचार ब्रह्मचर्य महाव्रतको पालन कर। भावार्थ—जिस ब्रह्मचर्यसे स्खलित होकर वर्तमान मुनियोंकी तो बात ही क्या ? प्राचीन रुद्रादिक भी स्खलित होकर फिर अपनेको नही सम्हाल सके। अतः हे क्षपक ! शुद्धज्ञान और शुद्धात्माके उत्कृष्ट अनुभवके लिये तूं उस निरतिचार ब्रह्मचर्य महाव्रतका पालन कर ॥८७॥ हे क्षपक ! अनुचित मनोरथवाले श्मश्रुनवनीतके कुमरणका स्मरण करनेवाला तूँ किसी परिग्रहमें थोड़ा भी ममत्वकारी मनको उपेक्षा मत कर अर्थात् वशमें कर। भावार्थ—हे क्षपक ! केवल परिग्रहकी वाञ्छाके कारण ही श्मश्रुनवनीतका दुर्मरण हुआ है इसको ध्यानमें रखकर "वह मेरा है, मै इसका हूँ" इस प्रकार सकल्परूप भाव-परिग्रहकी ओर यदि तेरे मनका झुकाव होवे तो तूं उसकी ओरसे अपने मनको रोक ॥८८॥ बाह्य परिग्रह शरीर है और इन्द्रियोंका अभिलाषीपना अन्तरग परिग्रह है इन दोनो प्रकारके परिग्रहोंमें ममत्वरहित व्यक्ति वास्तवमे मोक्षमार्गमे प्रस्थानकर्त्ता है। भावार्थ—शरीरको बाह्य और इन्द्रियोंके विषयोके प्रति अभिलाषीपनको अन्तरंग परिग्रह कहते है। इन दोनों प्रकारके परिग्रहका ही नाम ग्रन्थ है। जो इस ग्रन्थसे रहित है उसे निर्ग्रन्थ कहते है। अर्थात् शरीर और इन्द्रियविषयोंसे ममताका त्यागी ही निर्ग्रन्थ है और ऐसे निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गमें प्रस्थान करते है ॥८९॥ भो प्रशस्तव्रतधारक, कषाय और इन्द्रियोंके परतन्त्र व्यक्तियोंके उस अवर्णनीय दुःखानुभवनको विचारता हुआ तूँ इन कषाय और इन्द्रियोंके वश मत हो। भावार्थ—प्रशस्तरीतिसे व्रतधारक हे क्षपक ! कषाय और इन्द्रियोंके वश हो जानेवाले व्यक्तियोंके आगमोक्त दुःखानुभवनका विचारकर तू इन कषाय और इन्द्रियोंके वशमें मत हो ॥९०॥ हे क्षपक ! श्रुतस्कन्धका वाक्य अथवा पद अथवा अक्षर ही जो कुछ तेरे लिये रुचता हो उसमें आसक्त होकर चित्तकी तन्मयताको कर। भावार्थ—हे क्षपक ! अब तुम्हारी शक्ति क्षीण है। इसलिये श्रुतस्कन्धका आध्यात्मिक या बाह्य वाक्य, 'णमो अरिहन्ताण' इत्यादिक पद अथवा 'अ सि आ उ सा' इनमेंसे कोई एक अक्षर जो कुछ तुम्हें रुचता हो उसका अवलम्बन कर उसीमें अपने चित्तको तन्मय करो। क्योंकि श्रुतज्ञान सम्बन्धी वाक्य, पद या अक्षरका अवलम्बन निश्चय आराधनाका साधन है ॥९१॥ हे क्षपक ! श्रुतसे राग, द्वेष और मोह रहित शुद्ध अपने चिद्रूप आत्माको ग्रहणकर स्वसंवेदनसे

संन्यासो निश्चयेनोक्तः स हि निश्चयवेदिभिः । यः स्वस्वभावे विन्यासो निर्विकल्पस्य योगिनः ॥९३
परीषहोऽथवा कश्चिदुपसर्गो यदा मनः । क्षपकस्य क्षिपेज्ज्ञानसारैः प्रत्याहरेत्तदा ॥९४
दुःखाग्निकीलैराभीलैर्नरकादिगतिष्वहो । तप्तस्त्वमङ्गसंयोगाज्ज्ञानामृतसरोऽविशन् ॥९५
इदानीमुपलब्धात्मदेहभेदाय साधुभिः । सदानुगृह्यमाणाय दुःखं ते प्रभवेत् कथम् ॥९६
दुःखं सङ्कल्पयन्ते ते समारोप्य वपुर्जडाः । स्वतो वपुः पृथक्कृत्य भेदज्ञाः सुखमासते ॥९७
परायत्तेन दुःखानि बाढं सोढानि संसृतौ । त्वयाद्य स्ववशः किञ्चित् सहेच्छन्निर्जरां पराम् ॥९८
यावद् गृहीतसंन्यासः स्वं ध्यायन् संस्तरे वसेः । तावन्निहन्याः कर्माणि प्रचुराणि क्षणे क्षणे ॥९९
पुरुप्रायान् बुभुक्षादिपरीषहजये स्मर । घोरोपसर्गसहने शिवभूतिपुरःसरान् ॥१००

अनुभव करता हुआ शुद्ध स्वात्माकी तन्मयतासे सर्व सङ्कल्पोंसे दूर होते हुए प्राण छोड़कर मोक्षको प्राप्त कर। भावार्थ—हे क्षपक ! श्रुतके अवलम्बनसे आत्माके स्वरूपको ज्ञान दर्शन मय समझ स्वसंवेदनके द्वारा तदनुसार अनुभव करते हुए सब विकल्पोंका त्याग करके निर्विकल्पक होकर प्राणोंको छोड़कर मुक्तिको प्राप्त हो ॥९२॥ निर्विकल्पक योगीका जो अपने स्वभाव में स्थिरता है वह ही निश्चयवादियोंके द्वारा निश्चयनयसे समाधिमरण कहा गया है। भावार्थ—व्यवहार-सापेक्ष निश्चयवादी आचार्य निर्विकल्पक योगीकी आत्माके स्वभावमें स्थापनको निश्चय समाधि कहते है ॥९३॥ जब कोई परीषह अथवा उपसर्ग क्षपकके मनको चलायमान करे उस समय निर्यापकाचार्य ज्ञानके उपदेशोसे उस क्षपकके मनको शुद्धोपयोगके सन्मुख करे। भावार्थ—समाधिके समय किसी परीषह या उपसर्गके निमित्तसे क्षपकका मन शुद्धोपयोगसे चलायमान होवे तो निर्यापकाचार्य सारभूत व्याख्यानों द्वारा उसके मनको शुद्धोपयोगके सन्मुख करे ॥९४॥ हे क्षपक ! ज्ञानामृतरूपी सरोवरमें अवगाहन नहीं करनेवाला तू शरीरके सम्बन्धसे नरकादिक गतियोंमें अनिवार्य शारीरिक-व्याधि और मानसिक आधिरूपी दुःखकी ज्वालाओंसे सन्तापको प्राप्त हुआ ॥९५॥

अब प्राप्त हुआ है आत्मा और देहका भेदविज्ञान जिसके ऐसे तथा परिचारक साधुओंके द्वारा सर्वदा अनुग्रहको प्राप्त तेरे लिए दुःख कैसे आक्रमण कर सकता है ? भावार्थ—भेदविज्ञान होने पर चतुर्गतिका दुःख नहीं होता। और इस समय तुमने भेदज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा साधुजन सदा साधकरूपसे तुम्हारा अनुग्रह करनेमें उद्यत हैं। फिर तुम्हारे ऊपर किसी प्रकारका दुःख अपना प्रभाव कैसे डाल सकता है ? अर्थात् नहीं डाल सकता है ॥॥९६॥ जो शरीरको आत्मा मानकर दुःख अनुभव करते हैं वे बहिरात्मा कहलाते हैं। परन्तु जो शरीरको आत्मासे भिन्न अनुभव करके स्वात्मोत्थ आनन्दको अनुभव करते हैं वे अन्तरात्मा हैं ॥९७॥ संसारमें पराधीन तूने बहुत ही दुःख सहे इस समय उत्कृष्ट निर्जराकी इच्छा करता हुआ स्वाधीन होता हुआ भी कुछ सहन कर। भावार्थ—हे क्षपक ! इस संसारमें अनादि कालसे पराधीन होकर तूने बहुत दुःख सहे हैं। अब तू आसन्नमृत्यु है। पूर्वमें कभी नहीं मिली ऐसी सल्लेखना कर रहा है। यदि इस समय परीषह तथा उपसर्ग जनित थोड़े भी दुःखको सहन कर लेगा तो तेरे उत्कृष्ट निर्जरा होगी। इसलिये स्वाधीन होकर इन परीषह वा उपसर्गोंको किञ्चित्काल शान्त परिणामसे सहन कर ॥९८॥ जब तक समाधिपरायण तथा आत्माको ध्याता हुआ तू समाधिशय्या पर आरूढ़ है तब तक प्रतिक्षण असंख्यात कर्मोंकी निर्जरा कर ॥९९॥ भूख आदिक परीषहको जीतनेके विषयमें वृषभदेव आदिक-

तृणपूलबृहत्पुञ्जे संक्षोभ्योपरि पातिते । वायुभिः शिवभूतिः स्वं ध्यात्वाभूदाशु केवली ॥१०१
न्यस्य भूषाधियाङ्गेषु सन्तप्ता लोहशृङ्खलाः । छिद्पक्षैः कोलितपदाः सिद्धाः ध्यानेन पाण्डवाः ॥१०२
शिरीषसुकुमाराङ्गः खाद्यमानोऽतिनिर्दयम् । शृगाल्या सुकुमारोऽसून् विससर्ज न सत्पथम् ॥१०३
तीव्रदुःखैरतिक्रुद्धैः भूतारब्धैरितस्ततः । भग्नेषु मुनिषु प्राणानौज्झद्विद्युच्चरः स्वयुक् ॥१०४
अचेन्नृतिर्यग्देवोपसृष्टासंक्लिष्टमानसाः । सुसत्त्वा बहवोऽन्येऽपि किल स्वार्थमसाधयन् ॥१०५
तत्त्वमप्यङ्ग ! सङ्गस्य निःसङ्गेन निजात्मना । त्यजाङ्गमन्यथा भूरिभवक्लेशैर्ग्लपिष्यसे ॥१०६

को तथा घोर उपसर्ग सहन करनेके विषयमें शिवभूति आदिक महामुनियोंको स्मरण कर ॥१००॥ आंधीके द्वारा चलायमान करके घासकी गंजीके ऊपर गिराये जाने पर शीघ्र अपने आत्माको ध्यान कर शिवभूति महामुनि शीघ्र केवलज्ञानी हुए। भावार्थ—शिवभूति महामुनिके ऊपर घासकी गंजी हवासे उड़ कर आ पड़ी थी। उस समय उन्होंने निर्विकल्प वृत्तिसे शुद्ध आत्माका ध्यान किया था। इसलिये वे तत्काल ही निर्वाणको प्राप्त हुए थे। यह अचेतनकृत उपसर्ग सहन करनेका उदाहरण है ॥१०१॥ शत्रुपक्षीय कौरवोंके भानजा आदिके द्वारा तुम्हारे लिए ये स्वर्णाभूषण हैं, ऐसा कथन करके अङ्गोंमें जाज्वल्यमान लोहेकी सांकलें पहना कर जमीनमें लोहेकी कीलोंसे जिनके पैर ठोक दिये हैं ऐसे पाण्डव आत्मध्यानमात्रसे सिद्ध हुए। भावार्थ—हे क्षपक! पाँचों पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे तब कौरवोंके भानजे आदिने पुरातन वैर वश 'तुम्हारे लिए ये स्वर्णके आभूषण हैं' इस प्रकार, कषायपूर्वक दुष्टबुद्धिसे लोहेकी जाज्वल्यमान सांकलें पहना कर जमीनमें लोहेके कीलों-से उनके पैर ठोक दिये थे परन्तु उन्होंने इस घोर उपसर्ग पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और आत्मध्यानमें ही लीन रहे। इस कारण, युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन मुक्तिको प्राप्त हुए तथा नकुल वा सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए। यह मनुष्यकृत घोरोपसर्ग सहनका उदाहरण है ॥१०२॥ शिरीषके फूलके समान सुकोमल शरीर वाला सुकुमार मुनि शृगालिनीके द्वारा अत्यन्तनिर्दयता-पूर्वक खाया जाता हुआ प्राणोंको छोड़ता हुआ। किन्तु शुद्धात्मध्यानको नहीं छोड़ा। भावार्थ—सुकुमाल महामुनि अति सुकुमार थे। जब वे तपके हेतु वन गये तब वहाँ उनकी पूर्वभवकी वैरिन माँके जीवने (जो उसी वनमें शृगालिनी हुई थी) अतिशय निर्दयतापूर्वक उनका भक्षण किया, परन्तु सुकुमाल महामुनि आत्मध्यानरूपी सिद्धिमार्गसे तनिक भी विचलित नही हुए। यह तिर्यक्कृत घोरोपसर्ग सहनका उदाहरण है ॥१०३॥ अत्यन्त क्रुद्ध अधम व्यंतरदेवोंके द्वारा प्रदत्त असह्य बाधाओंसे बहुतसे मुनियोंके इधर उधर भाग जाने पर भी विद्युच्चर महामुनिने आत्मलीन रहते हुए प्राणोंको छोड़ा। भावार्थ—अतिक्रुद्ध अधम व्यन्तरोंके द्वारा प्रारब्ध अत्यन्त असह्य और भयङ्कर बाधाओंसे इतर मुनिजनोंके इधर उधर चले जाने पर भी विद्युच्चर महामुनि इस घोर उपसर्गसे विचलित नहीं हुए, किन्तु आत्मलीन रहकर मुक्त हुए। यह देवकृत उपसर्ग सहनका उदाहरण है ॥१०४॥ जिनागममें कहा गया है कि भिन्न भी बहुतसे महापुरुष अचेतन, मनुष्य, तिर्यञ्च और देवों द्वारा उपसर्गको प्राप्त होकर भी मनमें संक्लेशको प्राप्त नहीं होते हुए अपने इष्ट मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध कर चुके। भावार्थ—अचेतन, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा देव कृत घोरोपसर्गसहन करनेका एक एक दृष्टान्त बताया जा चुका है। इनके सिवाय और भी अन्य महामुनियोंने चारों ही प्रकारके उपसर्गोंमें से किसी एकके आने पर उसको बिना संक्लेशके सहन किया है तथा मोक्ष पाया है ॥१०५॥ हे क्षपक! इसलिये तूँ कर्मसे व्यतिरिक्त चिद्रूप अपने आत्मासे संयुक्त होकर

श्रद्धा स्वात्मैव शुद्धः प्रमदवपुरुपादेय इत्याञ्जसी दृक्,
तस्यैव स्वानुभूत्या पृथगनुभवनं विग्रहादेश्च संवित् ।
तत्रैवात्यन्ततृप्त्या मनसि लयमितेऽवस्थितिः स्वस्य चर्या,
स्वात्मानं भेदरत्न-त्रयपर परमं तन्मयं विद्धि शुद्धम् ॥१०७
मुहुरिच्छामणुशोऽपि प्रणिहत्य श्रुतपरः परद्रव्ये ।
स्वात्मनि यदि निर्विघ्नं प्रतपसि तपसि ध्रुवं तपसि ॥१०८
नैराश्यारब्धनैःसङ्ग्यसिद्धसाम्यपरिग्रहः । निरुपाधिसमाधिस्थः पिबानन्दसुधारसम् ॥१०९
संलिख्येति वपुः कषायवदलङ्कर्मीणनिर्यापक-
न्यस्तात्मा श्रमणस्तदेव कलयँल्लिङ्गं तदीयं परः ।
सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः प्राणान् शिवाशाधर-
स्त्यक्त्वा पञ्चनमस्क्रियास्मृति शिवी स्यादष्टजन्मान्तरे ॥११०

शरीरको छोड़, सङ्क्लेशावेशसे शरीरका परित्याग करनेपर सांसारिक विशाल दुःखोंसे अपने आत्माको आकुलित करेगा। भावार्थ—भो क्षपक ! तूं भी उन शिवभूति आदिक मुमुक्षुओंके समान अपने शुद्ध आत्मामें उपयुक्त होकर परीषह और उपसर्गोंको जीतके शरीरका परित्याग कर मोक्ष-का साधन कर। यदि इस समय तूने अपने परिणामोंमें संक्लेशको स्थान दिया तो तुझे संसारके प्रचुर दुःखोंसे दुखी होना पड़ेगा ॥१०६॥ हे भेदरत्नत्रयमें तत्पर आराधकराज, आनन्दमय द्रव्य और भाव कर्मोंसे रहित केवल निज आत्मा ही उपादेय है इस प्रकार शुद्धात्मरूप अभिनिवेश निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। स्वानुभूतिके द्वारा त्रियोगसे उस शुद्ध स्वात्माका पृथक् चिन्तवन करना परमार्थ सम्यग्ज्ञान कहलाता है तथा उस शुद्ध निजस्वरूपमें अतिशय वैतृष्ण्यभावसे मनके तन्मयीभावको प्राप्त होने पर आत्माका अवस्थान करना निश्चय सम्यक्चारित्र कहलाता है। अतएव तूं अतिशय शुद्ध अपने आत्माको सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय समझ। भावार्थ—हे क्षपकराज ! आनन्दमय शुद्ध आत्मा ही उपादेय है इस प्रकार परमार्थ श्रद्धा निश्चयसम्यक्त्व है। शुद्ध आत्माका त्रियोगसे पृथक् चिन्तवन करना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें अतिशय तृप्तिपूर्वक लीन होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। इसलिये तूं अपने आत्माको निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय समझ ॥१०७॥ हे क्षपक, वार वार श्रुतज्ञानकी भावनामें तत्पर होता हुआ तूं परद्रव्यमें अणु बराबर थोड़ी भी इच्छाको नाश करके यदि निर्विघ्न रूपसे अपने आत्मामें देदीप्यमान होगा तो अवश्य ही तप आराधनाके विषयमें स्फुरायमान होगा ॥१०८॥ भो क्षपक ! परद्रव्यकी आशाके परित्यागसे आरब्ध बहिरंग अन्तरंग परिग्रहके त्यागसे सिद्ध परमेष्ठीके समान और ध्यान, ध्याता और ध्येयके विकल्पसे रहित निर्विकल्प समाधिमें लीन होता हुआ तूं आनन्दरूपी सुधारसका पान कर। भावार्थ—हे क्षपकराज, अब तुम जीवन और धनादिककी आकांक्षाओंके त्यागसे प्रारब्ध अपरिग्रहपने-से सिद्धके समान और ध्यान, ध्याता तथा ध्येयके विकल्पसे रहित निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर चिदानन्दमय सुधारसके पानकर्ता होओ ॥१०९॥ मोक्षाभिलाषी क्षपक मुनि निश्चयनयसे संसार-समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ और शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप परिणाममें संमुख अपने आत्माके प्रति अर्पण किया है अपने आत्माको जिसने अर्थात् स्वयं निर्यापकाचार्यरूप तथा व्यवहारनयसे—संसारसमुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ निर्यापकाचार्यके लिये सौंप दिया है अपना आत्मा जिसने ऐसा होता हुआ पूर्वोक्त प्रकारसे कषायके समान शरीरको कृश करके उस पूर्वगृहीत औत्सर्गिक मुनिलिंग-

दोषाभावात्कुतोऽसत्यं ब्रूतेऽयं परमेश्वरः। अतस्तेनोदितो धर्मः प्रमाणं क्रियते बुधैः ॥१०
दोषवल्लोकदेवानां ब्रह्मादीनामुदाहृतम्। हिंसाविलक्षणं धर्मं तेन यः कुरुते समम् ॥११
बब्बूलं कल्पवृक्षेण शूकरं मत्तदन्तिना। मूढः स तुलयेत्क्षिप्रं वल्मीकं च सुराद्रिणा ॥१२
कुतस्ते दोषवद्देवाः प्रत्यक्षादनुमानतः। कंकणं दृश्यते पाणौ साध्यं सद्दर्पणेन किम् ॥१३
पितामहे समाचष्टे जपमालाऽन्यचिन्तनम्। कमंडलुजलापूर्णं तृषं विण्मूत्रजं मलम् ॥१४
आह स्त्रीजनसंसर्गो रतिरागो महेश्वरे। शूलादिश्च भयं द्वेषं मुकुटं मोहमूर्च्छनाम् ॥१५
विष्णौ चक्रगदा ब्रूते चापश्चारिगणाद्भयम्। पाञ्चजन्यश्च लोकानां विस्मयं वावदीति च ॥१६
बौद्धे रक्तपटोसंगः स्वापं रागं च जल्पति। साक्षसूत्रोर्द्ध्वहस्तश्च चिन्ताखेदमदादिकान् ॥१७
यद्येत एव देवाः स्युः केऽन्ये भिल्लाश्च कामुकाः। देवत्वं भवतीत्थं चेत्तदा देवमयं जगत् ॥१८
अतः संसारिणो जीवा यादृशास्तादृशा अमी। वाक्यं प्रमाणमेतेषां कुतः स्वपरवञ्चकम् ॥१९
दृग्मोहवशतः कश्चित्प्रमाणयति तद्वचः। विषकुंभादसौ मूढः सुधां पातुं समीहते ॥२०
आप्तस्य वपुषः शान्ताद् बुध्यतेऽन्तरदोषता। धूमाभावात्कुतो वह्निर्मर्हतः कोटरे तरोः ॥२१

झूँठी बात बोल भी नहीं सकता। इसीलिये बुद्धिमान् लोग निर्दोष देवके कहे हुए धर्मको स्वीकार करते हैं ॥१०॥ ब्रह्मादि लौकिक देवोंने जो दोषयुक्त और जीवोंकी हिंसा करनेको धर्म बताया है उसे, और जो धर्म निर्दोष देवोंके द्वारा कहा गया है उन दोनोंको जो समान समझते हैं कहना चाहिये कि योग्यायोग्यके विचारसे रहित उन मूर्खोंने बबूलकी कल्पवृक्षके साथ तुलना की है। शूकरकी बड़े भारी मत्तगजराजके साथ समानता की है और वल्मीकको सुमेरु पर्वत समझा है ॥११-१२॥ जो लोग दोषयुक्त ब्रह्मादि देवोंको देव कहते हैं उनका कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सर्वथा बाधित है। इस विषयमें विशेष क्या कहा जाय जब हाथमें कंकण विद्यमान है तो वहाँ काचका उपयोग ही क्या होगा? ॥१३॥ ब्रह्मदेव हाथमें तो माला फेरते थे और अन्तरंगमें स्वर्गकी उर्वशी नामकी देवांगनाको बसा रक्खी थी। और कमंडलुके जलसे जब तृषा पूर्ण नहीं हुई तब उन्हें अपवित्र पदार्थका सम्बन्ध रुचिकर हुआ था। यह तो ब्रह्मदेवकी जन्मपत्री है ॥१४॥ इसी तरह महादेव भी स्त्रीके संगमें लीन हो रहे है इसीसे उन्हे भवानीको अपना आधा शरीर बनाना पड़ा है इस कर्मसे उनमें राग और प्रीति कितनी थी इसका अनुभव हो जाता है। और उनके हाथमें त्रिशूल भी है इससे जाना जाता है कि वे द्वेषकी मूर्ति हैं। उनके मस्तक पर मुकुट भी है उससे उनके मोहका पता लगता है ॥१५॥ यही दशा विष्णुकी भी है। मालूम होता है उन्हें शत्रु लोगोंसे बहुत भय रहता है इसीलिये तो चक्र, गदा और धनुष धारण करना पड़े है। और उनके हाथका शंख लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता है ॥१६॥ बुद्धदेव भी अपने आत्माको इन्हीं लोगोंके समान बताते हैं। उनमें रक्तवस्त्रका सगम शयन और रागको बताता है तथा अक्षसूत्रसे युक्त ऊँचा उठा हुआ हाथ उनमें चिन्ता, दुःख, मद आदिका प्रादुर्भाव सूचन करता है ॥१७॥ यदि यही लोग देवता गिने जाने लगें तो फिर भील कामी आदि कौन कहे जावेंगे। और यदि ऐसे ही लोग देवता हैं तो फिर सारे जगत्को देवमय कहना चाहिये ॥१८॥ इस कारण जैसे ससारी जीव हैं उन्हींके समान ये भी है फिर अपने दूसरे जीवोंके ठगने वाले इनके वचनोंको कौन प्रमाण मानेगा? ॥१९॥ यदि कोई दर्शन मोहके अधीन होकर कुदेवोंके वचनोंको प्रमाण मानता है तो समझना चाहिए वह मूर्खात्मा विषके घटसे अमृतके पीनेकी इच्छा करता है ॥२०॥ देवताओंके

आप्तेन विशदो धर्मः परोपकृतये सताम् । गम्भीरध्वनिनाऽभाषि वर्णमुक्तेन निःस्पृहम् ॥२२
अनागारश्च सागारो मूलोत्तरगुणैर्युतः । अनागारो मुनेर्धर्मस्तावदास्तां परं शृणु ॥२३
भव्यपर्याप्तिवान्संज्ञी लब्धकालादिलब्धिकः । सद्धर्मग्रहणे सोऽर्हो नान्यो जीवः कदाचन ॥२४
आसन्नभव्यता कर्महानिः संज्ञित्वशुद्धिभाक् । देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥२५
दृष्टिव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभुक्तयाख्याः । ब्रह्मारंभपरिग्रहमनुमतिरुद्दिष्ट इति धर्मः ॥२६
दर्शनेन समं मूलगुणाष्टकं व्रतव्रजम् । सामायिकं प्रोषधं च सचित्ताहारवर्जनम् ॥२७
दिवामैथुननार्यङ्गारंभसंगेभ्य उज्झनम् । अनुमतोद्दिष्टाभ्यां च प्राप्तास्ते प्राग्गुणप्रौढया ॥२८
आप्तात्परो न देवोऽस्ति धर्मात्तद्भाषिताद्य हि । निर्ग्रन्थाद्गुरुरन्यो न सम्यक्त्वमिति रोचनम् ॥२९
जीवाऽजीवास्त्रवा बन्ध. संवरो निर्जरा तथा । मोक्षश्च सप्त तत्त्वानि श्रद्धीयन्तेऽर्हदाज्ञया ॥३०

बाहर शरीर मात्रसे यह बात जानी जा सकती है कि ये देवता शान्त स्वरूप है या नही ? जो देवता बाहर शस्त्रादि रहित होंगे वे स्वयं शान्त स्वरूप होंगे। शस्त्र, अलंकार, वस्त्रादिकोंकी उनके लिये आवश्यकता ही क्या है ? ये तो जिन लोगोंको किसीसे भय होता है अथवा जिनका ससारके साथ सम्बन्ध है उन्हीके पास देखे जाते है। परमात्मामे तो इनका अंश मात्र भी सम्भव नहीं है क्योंकि उनका स्वरूप कृतकृत्य कहा जाता है। यह बात ठीक भी है कि जब धूमका अभाव है तो वृक्षके कोटरमें अग्निका भी सम्भव नही होता ॥२१॥

उपर्युक्त स्वरूप वाले आप्तने अपनी गम्भीर वर्णमुक्त (निरक्षरी) वाणीसे निर्मल और जीवोंके कल्याणके करनेवाले धर्मका स्वरूप वर्णन किया है। इससे उस परमात्माको कुछ प्रयोजन नही है किन्तु केवल भव्यपुरुषोंके उपकारके लिए किया है ॥२२॥ मूल गुण और उत्तर गुणसे युक्त मुनि धर्म तथा गृहस्थ धर्म है। ये धर्मके दो भेद हैं। अनगार (मुनि धर्म) तो इस समय रहे किन्तु गृहस्थ धर्मका हम वर्णन करते हैं उसे सुनो ॥२३॥ धर्मके ग्रहण करनेके योग्य वही जीव हो सकता है जो भव्य, पर्याप्तिवान्, संज्ञी और जिसे कालादि लब्धियाँ प्राप्त हो गई है। इनसे रहित जीव धर्मके ग्रहण योग्य कभी नहीं हो सकता ॥२४॥ निकट भव्यता, कर्महानि, संज्ञित्व और शुद्धि और जिसका उपदेशादिसे मिथ्यात्वका नाश हो गया है वही जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥२५॥ दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त त्याग प्रतिमा, रात्रि-भुक्ति त्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भ त्याग प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा और उद्दिष्ट व्रत प्रतिमा, इस तरह ये ग्यारह प्रतिमायें गृहस्थोका धम है ॥२६॥ सम्यग्दर्शनके साथ आठ मूल गुणोंका धारण करना, बारह व्रतोंका पालना, सामायिक, प्रोषध, सचित्त आहारका त्याग, दिनमें मैथुनका त्याग, स्त्रियोंके शरीरका त्याग, आरम्भका त्याग, तथा परिग्रहका त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग, ये क्रमसे उत्तरोत्तर एक एक करके धारण की जाती हैं। ये प्रकारान्तरसे ग्यारह प्रतिमाओंके नाम कहे हैं ॥२७-२८॥ जिस देवका ऊपर यथार्थ लक्षण कहा गया है उससे अन्य तो कोई देव नहीं है। इन्हीं आप्तसे कहे हुए धर्मको छोड़कर और दूसरा धर्म जीवोंके कल्याणका करनेवाला नहीं है। और सर्व तरहके परिग्रहसे रहित गुरुओंको छोड़कर कोई गुरु नहीं है। इन तीनोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है ॥२९॥ जिसप्रकार श्री अर्हन्त भगवान्ने जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वोंका वर्णन किया है उसी तरह उनका श्रद्धान करना चाहिये ॥३०॥ जिन भगवान्की आज्ञाके

तत्त्वार्थान् श्रद्धधानस्य निर्देशाद्यैः सदादिभिः । प्रमाणैर्नयभंगैश्च दर्शनं सुदृढं भवेत् ॥३१
गृहीतमगृहीतं च परं सांशयिकं मतम् । मिथ्यात्वं न त्रिधा यत्र तच्च सम्यक्त्वमुच्यते ॥३२
संसर्गाज्जायते यच्च गृहीतं तच्चतुर्विधम् । अज्ञानं विपरीतं हि एकान्तो विनयस्तथा ॥३३
एतदस्तीति येषां ते प्रोक्ता अज्ञानिकादयः । तेषां कुवादिनो भेदास्त्रिषष्टया त्रिशती मताः ॥३४
सप्तषष्टिरशीत्याग्रा शतं चतुरशीतिका । द्वात्रिंशत्क्रमशोऽज्ञानिकादीनां च विशेषतः ॥३५
असियसयकिरियाणं अक्किरिया हुंति चुलसीदो । सत्तट्ठी अण्णाणी वेनइया हुंति बत्तीसा ॥३६
अगृहीतं स्वभावोत्थमतत्त्वरुचिलक्षणम् । तन्निगोतादिजीवेषु गाढं चानादिसम्भवम् ॥३७
संशयो जैनसिद्धान्ते सूक्ष्मे सन्देहलक्षणः । इत्थमेतदथेत्थं वा को वेत्तीति कुहेतुतः ॥३८
त्रिमूढं च मदा अष्टौ षडेवाऽऽयतनानि च । शङ्कादयोऽष्टसम्यक्त्वे दोषाः स्युः पञ्चविंशति ॥३९
सदोषा देवता लक्ष्म्याद्यर्थं सेवेत यन्नराः । अवादि देवतामूढमरागैर्विश्ववेदिभिः ॥४०
नद्यादेः स्नानमह्याद्रेरर्चाश्मादेः समुच्चयः । गिरिपातादि लोकज्ञैर्लोकमूढं निगद्यते ॥४१
सग्रन्था हिंसनारंभकृतो ये भववश्यगाः । तेषां भक्त्या परोष्टिर्यद्बोध्या पाखंडमूढता ॥४२

अनुसार निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानसे तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वसे, प्रत्यक्ष प्रमाण, परोक्षप्रमाणसे और नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इस तरह सात नयोंसे पदार्थोंके स्वरूपको ठीक ठीक समझकर तत्त्वोंका श्रद्धान करनेवालेका सम्यग्दर्शन अत्यन्त गाढ़ होता है ॥३१॥ जिस तत्त्व श्रद्धानमें गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यात्व और संशय मिथ्यात्व ये तीन प्रकारके मिथ्यात्व नहीं है उसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥३२॥ जो मिथ्यात्व दूसरोंकी संगतिसे होता है उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते है। वह अज्ञान, विपरीत, एकान्त और विनयके भेदसे चार प्रकारका है ॥३३॥ ये मिथ्यात्व जिन लोगोंके होते हैं वे अज्ञानिक, साशयिक, वैनयिक आदि कहे जाते हैं। ऐसे लोगोंके तीन सौ त्रेसठ भेद होते है ॥३४॥ अज्ञानिक मिथ्यात्वीके सरसठ (६७), वैपरीत्य मिथ्यात्वीके एकसौ अस्सी (१८०), एकान्त मिथ्यात्वीके चौरासी (८४) और वैनयिक मिथ्यात्वीके बत्तीस (३२) ये क्रमसे भेद है ॥३५॥ इस गाथाका तात्पर्य ऊपरके श्लोकके ही अनुसार है ॥३६॥ स्वभावसे जिन भगवान्के कहे हुए तत्त्वोंमें अप्रीतिके उत्पन्न होनेको अगृहीत मिथ्यात्व कहते है। और वह निगोदादि जीवोंमें अनादिसे गाढ होता है ॥३७॥ अतिशय सूक्ष्म और गहन जैन सिद्धान्तमें खोटे कारणोसे, यह पदार्थ ऐसे है ? अथवा ऐसे है ? इसे कौन जानता है ? इत्यादि रूप सन्देह होनेको संशय मिथ्यात्व कहते है ॥३८॥ तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन तथा शङ्कादि आठ दोष इस तरह ये पच्चीस दोष सम्यक्त्वको मलिन करनेके कारण है। सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको इन दोषोंका सम्पर्क भी नही होने देना चाहिये ॥३९॥ धन, पुत्र, कलत्रादिके लिये दोष युक्त देवोंका जो लोग सेवन करते हैं उसे ही सारे ससारके जाननेवाले श्री वीतराग भगवान् देवमूढता कहते हैं ॥४०॥ नदी समुद्रादिमें स्नान करनेको धर्म मानना, पृथ्वी आदिके पूजनमे धर्म मानना, पत्थरोंका ढेर करनेमें धर्म समझना, तथा पर्वतादिके ऊपरसे गिरकर आत्महत्या करनेमें धर्म मानना, इत्यादि मिथ्यात्वके कारणोंको लोकोंके देखादेखी करना ये सब लोकमूढता है ॥४१॥ अनेक प्रकारके परिग्रहको रखनेवाले, जीवोंकी हिंसा रूप आरंभके करनेवाले और जो पूर्णरूपसे इस संसारके वश हो रहे है ऐसे पाखंडियोंकी भक्तिपूर्वक सेवा पूजन

ज्ञानं पूजा तपो लक्ष्मी रूपं जातिर्बलं कुलम् । यादृग् मेऽन्यस्य नास्तीति मानो ज्ञेयं मदाष्टकम् ॥४३
कुदेवलिङ्गिशास्त्राणां तच्छ्रितां च भयादित. । षण्णां समाश्रयो यत्स्यात्तान्यनायतनानि षट् ॥४४
नैर्ग्रन्थ्यं मोक्षमार्गोऽयं तत्त्वं जीवादिदेशितम् । को वेत्तीत्थं भवेन्नो वा भावः शङ्कृति कथ्यते ॥४५

राजा स्यां पुत्रवान्स्यां वा रूपी स्यां भोगवान्तथा ।
शीलादितोऽभिलाषो यत्कांक्षादोषः स उच्यते ॥४६

रत्नत्रयपवित्राणां पात्राणां रोगपीडिते । दुर्गन्धादौ तनौ निन्दा विचिकित्सा मलं हि तत् ॥४७
कुमार्गे पथ्यशर्मणां तत्रस्थेप्यति संगतिः । त्रियोगैः क्रियते यत्र मूढदृष्टिरितीरिता ॥४८
प्रमादाज्जातबोषस्य जिनमार्गरतस्य तु । ईर्ष्ययोद्भासनं लोके तत्स्यादनुपगूहनम् ॥४९
परीषहोपसर्गाभ्यां सन्मार्गाद्भ्रश्यतां नृणाम् । स्वशक्तौ न स्थितिं कुर्याद्वस्थितीकरणं मतम् ॥५०
साधर्मिकस्य संघस्य पीडितस्य कुतश्चन । न कुर्याद्यत्समाधानं तदवात्सल्यमीरितम् ॥५१
कुदर्शनस्य माहात्म्यं दूरीकृत्य बलादितः । द्योतते न यदार्हन्त्यमसौ स्यादप्रभावना ॥५२
मलैर्मुक्तं भवेच्छुद्धं सम्यक्त्वं शातकुम्भवत् । तेनाऽलङ्कृत आत्माऽयं महार्घ्यः स्याज्जगत्त्रये ॥५३

करनेको पाखंडमूढ़ता कहते हैं ॥४२॥ ज्ञान, पूजा (प्रतिष्ठा), तपश्चरण, ऐश्वर्य, रूप (सौन्दर्य), जाति, बल और कुल ये जैसे हमारे है वैसे किसीके नही हैं इस तरहके खोटे अभिमानको मद कहते हैं ॥४३॥ कुदेव कुगुरु और खोटे शास्त्रोंके तथा इनके सेवन करनेवालोके भयादिसे इनके सेवनको छह अनायतन कहते हैं ॥४४॥ सर्व परिग्रहको छोड़कर मुनिमार्गके धारण करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होगी या नही ? तथा जीवादि तत्त्व ठीक है या नहीं ? इसे कौन जानता है इत्यादि सन्देह रूप आत्माके भावोंके होनेको शंका कहते हैं ॥४५॥ जो व्रत-शीलादि पालन करके, मैं राजा होऊँ, मैं पुत्रवान् होउँ, मै सुन्दर रूपका धारण करनेवाला होऊँ, मुझे अच्छी भोग सामग्रीकी प्राप्ति हो इत्यादि संसारीक विषयोंमें जो अभिलाषा (गृध्नता) रखता है उसे आकांक्षा दोष कहते हैं ॥४६॥ सम्यग्दर्शनादिसे पवित्र मुनि आदि उत्तम पात्रोंके रोगादिसे पीड़ित तथा दुर्गन्धयुक्त शरीरको देखकर ग्लानि करनेको तथा निन्दा करनेको विचिकित्सा दोष कहते है ॥४७॥ दुःखोंके देनेवाले खोटे मार्गमें तथा खोटे मार्गमें चलनेवालोंके साथ मन, वचन और शरीरसे सम्बन्ध रखनेको मूढदृष्टि नाम दोष कहते हैं ॥४८॥ किसी धर्मात्मा पुरुषके असावधानीसे कोई दोष उत्पन्न हो जाय उसे ईर्ष्या बुद्धिसे लोगोंके सामने प्रकट करना यह अनुपगूहन दोष है ॥४९॥ अर्थात्—कोई धर्मात्मा पुरुष यदि परीषह अथवा उपसर्गादिके आनेसे अपने दर्शन ज्ञान चारित्रादिसे च्युत होता हो उसे अपनी शक्तिके होने पर भी धर्ममें दृढ़ नहीं करनेको अस्थितीकरण दोष कहते हैं ॥५०॥

किसी कारणसे धर्मात्मा पुरुषों पर किसी तरहकी विपत्ति आ जाय उस समयमें उनके चित्तको किसी तरह समाधान न करनेको अवात्सल्य नामक दोष कहते हैं ॥५१॥ मिथ्या मतोंके प्रचारको बल, प्रभाव आदिसे दूर करके जैनमतके माहात्म्यका प्रचार नहीं करनेको अप्रभावना कहते हैं ॥५२॥ जिस तरह सुवर्णका ऊपरी मैल दूर होनेसे वह अत्यन्त शुद्ध हो जाता है उसी तरह अनादि कालसे कर्मोंके जालमें फँसा हुआ यह आत्मा अपने आगामी अच्छे होनहारसे सम्यक्त्व रूप भूषणसे अलंकृत हो जाता है। उस समय तीनों लोकमें ऐसा कोई बहुमूल्य पदार्थ नहीं रहता जो आत्माके समान कहा जा सके ॥५३॥ जिस तरह रोग युक्त मनुष्योंको पथ्य सहित औषध

सम्यक्त्वं समलं चेत्स्यान्न तदा कर्मशान्तये । सापथ्यमिह रोगाणां सदौषधमिवाङ्गिनाम् ॥५४
दोषा शङ्कादयो ध्वस्तास्तदङ्गानि भवन्ति ते । विषश्चेन्मारितो युक्तया तदा किं न सुधायते ॥५५
स्तेनो राजगृहे जातो निःशङ्कोऽञ्जनसंज्ञकः । नि कांक्षाऽनन्तमत्याख्या चम्पायां वणिजः सुतः ॥५६
राजा निर्विचिकित्सोऽभूदुद्दायनोऽत्र रोरवे । अमूढदृष्टिका राज्ञी रेवती मथुरापुरे ॥५७
जिनदत्तस्ताम्रलिप्ते श्रेष्ठ्यभूत्सोपगूहनः । सस्थितीकरणो वारिषेणो राजगृहे मतः ॥५८
हस्तिनानगरे चक्रे वात्सल्यं विष्णुना हितम् । कृता वज्रकुमारेण मथुरायां प्रभावना ॥५९
दर्शनं नाङ्गहीनं स्यादलं छेत्तुं भवावलिम् । मात्राहीनस्तु किं मंत्रो विषमूर्च्छां निरस्यति ॥६०
सम्यक्त्वसममात्मीनं किमन्यद्भुवनोदरे । न मिथ्यात्वसमं किंचिदनात्मीनमिहात्मनाम् ॥६१
श्वाभ्रत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वेन हि मण्डिताः । सुरत्वे नरकायन्ते मिथ्यात्वेन च दण्डिताः ॥६२
तिर्यक्त्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वेन समायुताः । नृत्वेऽपि तिर्यगायन्ते मिथ्यात्वेन हि वासिताः ॥६३
मुहूर्त्तं येन सम्यक्त्वं संप्राप्य पुनरुज्झितम् । भ्रान्त्वाऽपि दीर्घकालेन स सेत्स्यति मरीचिवत् ॥६४

रोगोंके दूर करनेमें समर्थ होती है उसी तरह दुर्निवार कर्म रूप रोगोंके शान्त करनेके लिए दोष रहित सम्यक्त्व जैसा उपकारक है वैसा दूसरा कोई हितकारी उपाय नही है ॥५४॥ ऊपर कहे हुए शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़ दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना इन दोषोंके नाश कर देनेसे ये ही सम्यक्त्वके आठ गुण हो जाते हैं। यह बात ठीक भी है कि जो विष प्राणोंका क्षण मात्रमें नाश कर देता है वही विष यदि शुद्ध किया हुआ हो तो अमृतके समान हो जाता है और अनेक प्रकारके रोगोंको दूर कर देता है ॥५५॥ अब क्रमसे आठों अङ्गोंमें प्रसिद्ध होने वालोंके नाम कहते हैं। राजगृह नगरमें अंजन चोरने निःशङ्क अङ्गका पालन किया था। किसी वैश्य श्रेष्ठीकी अनन्तमती बालिकाने चम्पापुरीमें निःकांक्षित अङ्गका पालन किया था। रोरव देशमें उद्दायन राजाने निर्विचिकित्सा अङ्गको धारण किया था। रेवती नामकी रानीने मथुरामें अमूढदृष्टि अंगका यथोक्त पालन किया था। उपगूहन अंगमें श्रीजिनदत्त सेठ प्रसिद्ध हुए है। स्थितीकरण अंगके पालन करनेवाले श्रीवारिषेण मुनि राजगृह नगरमें प्रसिद्ध हुए है। हस्तिनापुरमें श्रीविष्णुकुमार मुनिने वात्सल्य अंगका पालन किया है। और प्रभावना अंगमें श्रीवज्रकुमार मथुरा नगरीमें प्रसिद्ध हुए हैं। इस कहनेका यह तात्पर्य समझना चाहिये कि यद्यपि ये पुरुष रत्न प्राचीन कालमें हुए हैं तथापि केवल एक एक अंगके धारण करनेसे आज तक उनका यशोगान होता चला आता है। इसी तरह जो भव्य जीव शुद्ध सम्यक्त्व सहित इन अंगोंको धारण करेंगे वे भी इसी प्रकार संसारमें प्रसिद्ध होंगे ॥५६–५९॥ जिस तरह अक्षर अथवा मात्रासे हीन मंत्र विषसे उत्पन्न होने वाली मूर्छाको दूर नहीं कर सकता, उसी तरह अंगहीन सम्यग्दर्शन भी इस अपार भवावलीके नाश करनेको समर्थ नहीं हो सकता ॥६०॥ इस जीवका तीनों लोकमें सम्यक्त्वके समान कोई आत्मबन्धु नही है और मिथ्यात्वके समान दूसरा दुःखोंका देनेवाला शत्रु नहीं है। इसलिये मिथ्यात्वका त्याग करके सम्यक्त्वको अगोकार करो। यही आत्माको कुमार्गसे बचाने वाला है ॥६१॥ यदि यह जीव नरकमें भी गया हो और वहाँ सम्यक्त्वसे भूषित हो तो समझना चाहिये कि वह देव ही है। और यदि सम्यक्त्व-रहित देव भी हुआ हो तो समझना चाहिये वह नरक ही में गया है ॥६२॥ पशु होकर भी यदि सम्यक्त्व-युक्त है तो वह मनुष्य ही है और मनुष्य होकर यदि मिथ्यात्वसे युक्त है तो उसे पशु कहना चाहिये ॥६३॥ जो पुरुष एक मुहूर्त

निसर्गात्तद्भवेज्जन्तोः स्वयं तीर्थंकृतादिवत् । तच्चाधिगमतोऽन्येषां कृष्णादीनां निमित्ततः ॥६५
मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वं प्राक्कषायचतुष्टयम् । तेषामुपशमाज्जातं तदौपशमिकं मतम् ॥६६
षण्णामनुदयादेकसम्यक्त्वस्योदयाच्च यत् । क्षायोपशमिकं नाम सम्यक्त्वं तन्निगद्यते ॥६७
सप्तानां प्रकृतीनां तत्क्षयात्क्षायिकमुच्यते । आदौ केवलिमूले स्यान्नृत्वे तदनुसर्वतः ॥६८
चञ्चलं निर्मलं गाढं शान्तमोहान्तमादिमम् । सप्तमान्तं चलागाढं समलं वेदकं मतम् ॥६९
क्षायिकं निर्मलं गाढमचलं स्यादनन्तकम् । चतुर्थं गुणमारभ्य दर्शनानीह त्रीण्यपि ॥७०
सम्यक्त्वसंयुतो जीवो मृत्वा देवगतिं व्रजेत् । बद्धायुष्कस्त्वतः कश्चिच्छ्वभ्रं भोगभुवं परः ॥७१
असंज्ञी स्थावराः पञ्च पर्याप्तेतरभेदतः । तिस्रः स्त्रियस्त्रयो देवा. षट्श्वभ्राण्येषु नैति सः ॥७२
द्वे सम्यक्त्वेऽसंख्यातान्वारान्गृह्णाति मुञ्चति । भवे भ्रमन्नयं जीवः क्षायिकं तु न मुञ्चति ॥७३
क्षायिकी तद्भवे सिध्येत्कश्चित्कश्चित्तृतीयके । नृपश्वोः पतितायुष्कः कश्चित्तुर्ये न संशयः ॥७४

मात्र भी सम्यक्त्वको प्राप्त होकर फिर उसे छोड़ देते हैं वे बहुत काल पर्यन्त संसारमें भ्रमण करनेके बाद भी मरीचिके समान मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥६४॥ उस सम्यक्त्वके निसर्गज (स्वतः स्वभावसे होने वाला) और अधिगमज (दूसरोंके निमित्तसे होने वाला) इस तरह दो भेद हैं। निसर्गज सम्यग्दर्शन जिस तरह तीर्थंकरादिकोंके होता है उसी तरह संसारी जीवोंके भी होता है और कृष्ण आदिके समान अधिगमसे होने वाला सम्यग्दर्शन जातिस्मरण, जिनबिम्बके दर्शनादिसे होता है ॥६५॥ मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व, और सम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, और लोभ इन सातों प्रकृतिके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है ॥६६॥ मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व, तथा अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, इन छह प्रकृतियोंका उदय न होनेसे और सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेसे होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं ॥६७॥ ऊपर कही हुई सातों प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। क्षायिक सम्यक्त्व जब होता है तब तो वह श्रीकेवली भगवान्के समीपमें और मनुष्य पर्यायके होने पर ही होता है। और होनेके बाद दूसरी गतियोंमें भी साथ रहता है ॥६८॥ उपशम सम्यक्त्व चञ्चल, निर्मल, गाढ़, तथा उपशान्त मोह गुणस्थान पर्यन्त रहता है। और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सप्तमगुणस्थान पर्यन्त होता है तथा चलायमान, अगाढ़ और मल-सहित होता है। इसीका दूसरा नाम वेदक भी है ॥६९॥ क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल, गाढ़, अचल, और अनंत होता है। इन तीनों सम्यक्त्वका चतुर्थ गुणस्थानसे आरंभ होता है ॥७०॥ सम्यग्दृष्टि जीव नियमसे देवगतिमें जाता है। परन्तु यदि पहले आयुका बन्ध हो गया हो तो कोई नरकमें अथवा भोगभूमिमें जाता है ॥७१॥ सम्यक्त्वसे जो जीव विभूषित होता है उसे असज्ञी पाँच प्रकारके स्थावर, अपर्याप्त, स्त्रीपर्याय, तीन प्रकारकी देव पर्याय और छह नरक इतनी गतियोंमें जन्म धारण नहीं करना पड़ता है ॥७२॥ इस संसारमें भ्रमण करते हुए इस जीवने उपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्वका असख्यात वार ग्रहण किये और छोड़े हैं। अर्थात् ये दोनों सम्यक्त्व होकर भी छूट जाते हैं और क्षायिक सम्यक्त्व हुए बाद नहीं छूटता है। अर्थात् मोक्षमें भी बना रहता है ॥७३॥ जिसे क्षायिक सम्यक्त्व हो गया है वह उसी भवमें अथवा तृतीय भवमें नियमसे मोक्षमें जाता है। परन्तु यदि मनुष्य और पशु पर्यायमें जिसकी आयुका बन्ध हो गया है तो वह चौथे भवमें नियमसे मोक्षमें जायगा। इसमें किसी तरहका सन्देह नहीं समझना चाहिये ॥७४॥ जिन भगवान्के कहे हुए तत्त्वोंमें संशयका करना,

**शङ्का कांक्षा विचिकित्सा पराशंसनसंस्तवाः । सम्यक्त्वस्य त्वतीचाराः पञ्चेत्युक्ता जिनेश्वरैः ॥७५
मन्दिराणामधिष्ठानं तरूणां सुदृढं जडम् । यथा मूलं व्रतादीनां सम्यक्त्वमुदितं तथा ॥७६
सम्यक्त्वे सति सर्वाणि फलवन्ति व्रतानि च । शून्यानि च बहून्यादौ यथैकाङ्के सति ध्रुवम् ॥७७
सम्यक्त्वेन हि सम्पन्नः सम्यग्दृष्टिरुदाहृतः । सोऽस्ति तुर्यगुणस्थाने प्रसन्नान्तर्मुखः सदा ॥७८
गुणास्तस्याष्ट संवेगो निर्वेदो निन्दनं तथा । गर्होपशमभक्ती च वात्सल्यमनुकम्पनम् ॥७९
संवेगप्रशमास्तिक्यदयाभिः स परोक्ष्यते । सम्यग्दृष्टिर्बहिर्भागे व्रतवाञ्छापरायणः ॥८०**

**भूराज्यादिसदृक्क्रुधादिवशगो यः सर्वदृग्वाऽऽज्ञया
त्याज्यं शं करणोद्भवं स्वजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत् ।
स्तेनः खण्डयितुं धृतस्तलवरेणेव स्वनिन्दादिकृ-
दाक्षं संश्रयते वधत्यपि परं नो क्लिश्यते सोऽप्यघैः ॥८१**

संसार सम्बन्धी भोगोंकी अभिलाषा रखना, धर्मात्मा पुरुषोंके रोगादिसे पीड़ित शरीरादिको देख कर उसमें ग्लानि करना, मिथ्या दृष्टियोंकी प्रशंसा करना तथा उनकी स्तुति करना ये सम्यक्त्व व्रतके पाँच अतीचार है ॥७५॥ जिस तरह मकानोंकी नींव जबतक अच्छी तरह मजबूत न होगी तब तक मकान चिरकाल पर्यन्त ठहर नही सकता। तथा वृक्षोंके सुदृढ़ रहनेका मूल कारण जड़ है, उसी तरह कितने भी व्रत नियमादि धारण किये जायँ किन्तु जब तक सम्यक्त्व न होगा तब तक वे एक तरहसे व्यर्थ ही है। इसलिये व्रतादिकोंका मूल कारण सम्यक्त्वको समझ कर पहले उसीके धारण करनेमे प्रयत्न करना चाहिये ॥७६॥ व्रत नियमादि सब सम्यक्त्वके होने पर ही सफल होते हैं और सम्यक्त्वसे रहित जीवके व्रतादि उसी तरह निष्फल है जिस तरह अंकके विना बिन्दुएँ निष्फल होती हैं ॥७७॥

जो सम्यक्त्व रत्नसे विभूषित होता है वही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है और वह चौथे गुणस्थानमे होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष निरन्तर प्रसन्न चित्त होता है। उसे किसी तरहकी चिन्ता आधि व्याधि आदि नहीं दबाती है ॥७८॥ निरन्तर संसारके दुःखोंसे डरना, संसार भोगादिकोंसे वैराग्य भाव होना, अपने दोषोंकी निन्दा करना, अपने किये हुए पाप कर्मोंकी आलोचना करना, परिणामोंका हर समय शान्त रहना, देव गुरु शास्त्रादिमें अखंड भक्तिका होना, धर्मात्मा पुरुषों पर वात्सल्यका रखना तथा प्रत्येक जीवों पर दया बुद्धिका रहना, ये आठ गुण सम्यग्दृष्टि पुरुषोंमें रहते हैं ॥७९॥ व्रत-धारण करनेकी इच्छामें तत्पर सम्यग्दृष्टि पुरुष बाहरसे संवेग, प्रशम, आस्तिक्य तथा दया बुद्धि इन चार गुणोंसे परीक्षा किया जाता है ॥८०॥ श्री जिनदेव कभी असत्यके बोलने वाले नही हैं ऐसा हृदयमें निश्चय करके उनकी आज्ञासे इन्द्रियोंसे होने वाले सुखोंको छोड़ने योग्य और अपने आत्मीय सुखको ग्रहण करने योग्य श्रद्धान करता हुआ, जिस तरह कोतवाल जिसे मारना चाहता है वह चोर पुरुष अपने पाप कर्मोंकी निन्दा करता है, उसी तरह विषय सुखोंसे विरक्त न होनेके कारण अपने आत्माकी निन्दाको करनेवाला होकर यदि अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ, की पराधीनतासे हिंसादि पञ्च पापोंका तथा विषयादिकोंका सेवन करता है तो भी वह दुखोंको नही पावेगा। ऐसे ही पुरुष अविरतसम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं ॥८१॥ इस अपार संसारमें अनादि कालसे भ्रमण करते हुए जिन जीवोंने सात कर्मोंके उदयसे

य· सप्तकर्मोदयजातदुःखं समन्वभूदादिविवर्जिते भ्रमन् ।
जिनेन्दुवाक्यामृतपाः सुमेधास्तद्धानितोऽनाकुलसौख्यमाप सः ॥८२

उत्पन्न होने वाले दुःखोंको भोगे हैं, जिन भगवान्के वचन रूपी अमृतके पीने वाले और बुद्धि मान् उन्हीं भव्यात्माओंने उन कर्मोंके नाश हो जानेसे आकुलता रहित सुखको अपने हस्त गत किया है। तात्पर्य यह है कि—जो पुरुष श्री वीतराग भगवान्के वचनोंका अपने हृदयमें धारण करेगा वह नियमसे मोक्षको प्राप्त होगा इसलिये आत्महितके अभिलाषी पुरुषोंको जिन भगवान्के बचनोंके ग्रहण करनेमें प्रयत्नशील होना चाहिये ॥८२॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पंडितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे
सम्यग्दर्शनस्वरूपवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः ॥ १ ॥

●

द्वितीयोऽधिकारः

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः प्रत्यासन्नामृतः प्रभुः । स स्याच्छ्रावकधर्मार्हो धर्मः स त्रिविधो भवेत् ॥१
पक्षश्चर्या साधनञ्च त्रिधा धर्मं विदुर्बुधाः । तद्योगात्पाक्षिकः श्राद्धो नैष्ठिकः साधकस्तथा ॥२
मैत्र्यादिभावनावृद्धं त्रसप्राणिवधोज्झनम् । हिंस्यामहं न धर्मादौ पक्षः स्यादिति तेषु च ॥३
सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतपालकः । अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदकांक्षीह पाक्षिकः ॥४
दोषं संशोध्य संजातं पुत्रेऽन्यस्य निजान्वयम् । त्यजतः सद्मचर्या स्यान्निष्ठावान्नामभेदतः ॥५
दृष्ट्यादिदशधर्माणां निष्ठा निर्वहणं मता । तया चरति यः स स्यान्नैष्ठिकः साधकोत्सुकः ॥६
स्यादन्तेऽन्नेहकायायानामुज्झनाद्ध्यानशुद्धिता । आत्मनः शोधनं ज्ञेयं साधनं धर्ममुत्तमम् ॥७
ज्ञानानन्दमयात्मानं साधयत्येष साधकः । श्रितापवादलिङ्गेन रागादिक्षयतः स्वयुक् ॥८
देशयमघ्नकोपादिक्षयोपशमभावतः । श्राद्धो दर्शनिकादिस्तु नैष्ठिकः स्यात्सुलेश्यकः ॥९
प्रारब्धो घटमानश्च निष्पन्नो योगधर्मः । यस्याऽऽर्हतस्य स त्रेधा योगीव देशसंयमी ॥१०

जो सम्यग्दर्शनसे युक्त होता है और जिसकी संसार स्थिति बहुत निकट है वही पुरुष श्रावक धर्मके ग्रहण करनेके योग्य है। उस श्रावक धर्मके तीन भेद हैं ॥१॥ पक्ष, चर्या और साधन इन भेदोंसे धर्मके तीन भेद महर्षि लोगोंने कहे है। इन तीनों धर्मोंके धारण करनेसे पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक इस तरह श्रावकके भी तीन भेद होते है ॥२॥ मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार प्रकारकी भावनाओंसे वृद्धिको प्राप्त और दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रियादि जीवोके वधके छोड़नेको, तथा धर्मके लिये भी कभी जीवोंके नही मारनेको पक्ष कहते हैं ॥३॥ सम्यग्दृष्टि, अतिचार सहित मूल गुण और अणुव्रतका पालन करनेवाला, जिन भगवान्‌के पूजनादिमें अनुरागी तथा आगेके व्रतोंके धारण करनेकी इच्छा करनेवाला पाक्षिक श्रावक कहा जाता है ॥४॥ पहले कृषि आदिके आरम्भसे जो-जो दोष उत्पन्न हुए हैं उन्हे प्रायश्चित्तादिसे शोधन करके अपने घरके छोड़ने वालेको चर्या नामक धर्म होता हैं। नाम भेदसे उसे निष्ठावान् भी कहते हैं ॥५॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र और उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य इनके पालन करनेको निष्ठा (श्रद्धा) कहते है। जो साधन करनेकी उत्कण्ठासे युक्त होता है वह नैष्ठिक कहा जाता है ॥६॥ मरण समयमे अन्न और शरीरादिकोंमें ममत्वको छोड़कर और ध्यानकी शुद्धिसे अपने आत्माको शुद्ध करनेको साधन नामक उत्तम धर्म कहते है ॥७॥ जो राग द्वेषादिकोंका नाश हो जानेसे अपवादलिङ्गको धारण करके समाधिमरण करनेवाले अपने ज्ञानानन्द स्वरूप आत्माका साधन करते हैं वे साधक श्रावक कहे जाते हैं ॥८॥ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभके क्षयोपशम होनेसे दर्शन प्रतिमा आदिको धारण करने वाला नैष्ठिक श्रावक कहा जाता है, उसके पीत पद्म और शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओंमेंसे कोई लेश्या होती है ॥९॥ जिस तरह साधु पुरुषोंके प्रारब्ध योग, घटमान योग और निष्पन्न योग ये तीन योग होते हैं उसी तरह अर्हन्त भगवान्‌को ही देव मानने वालेके प्रारब्ध (आरंभ किया हुआ) देशसंयम, घटमान (सम्पादन किया जाने वाला) देशसंयम और निष्पन्न (पूर्णताको प्राप्त हुआ) देश संयम ये तीन

आद्यो दर्शनिकः श्राद्धो द्वितीयो व्रतिको मतः। सामायिकी प्रोषधोपवासकृत्स्याच्चतुर्थकः ॥११
सचित्तदिवामैथुनविरतौ ब्रह्मचारिकः। आरंभपरिग्रहानुमतान्मुक्तास्तथोद्दिष्टात् ॥१२
एकादशोपासकेषु षडाद्या गृहिणोऽधमाः। वर्णिनोऽन्ये त्रयो मध्या उत्कृष्टौ भिक्षुकौ परौ ॥१३
पाक्षिकाचारसम्पत्त्या निर्मलीकृतदर्शनः। विरक्तो भवभोगाभ्यामर्हदादिपदार्च्चकः ॥१४
मलान्मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुकः। न्याय्यां वार्त्तां वपुःस्थित्यै दधद्दर्शनिको मतः ॥१५
विषयानजस्त्रं हेयाञ्जानतोऽप्यर्हदाज्ञया। मोक्तुं मोहादशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥१६
तावदाज्ञां जिनेन्द्रस्य श्रद्दधद्धमुज्झितुम्। अष्टौ मूलगुणान्याति य पीठं धर्मपादपे ॥१७
मद्यमांसमधुत्यागं पञ्चोदुम्बरवर्जनम्। सातिचारं बुधा आहुरष्टौ मूलगुणानिति ॥१८
मद्यद्रवमया जीवा म्रियन्ते स्थावरास्त्रसाः। अनेके मद्यपानेन तस्मान्मद्यं परित्यजेत् ॥१९
दैवाद्यदि समुद्भूता मद्यबिन्दुलवेऽङ्गिनः। प्रसरन्ति तदा नूनं पूरयन्त्यखिलं जगत् ॥२०
मूर्च्छा कम्पः श्रमः खेदो वैमुख्यं रक्तदृष्टिता। गतिभङ्गादयोऽन्येऽपि दोषाः स्युर्मद्यपानतः ॥२१

देशसंयम होते है। उसे देशसंयमी कहते हैं ॥१०॥ पहली प्रतिमाको धारण करनेवाला दर्शनिक श्रावक कहा जाता है। दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रतिक कहा जाता है। इसी तरह तीसरी प्रतिमाके धारण करनेवालेको सामायिकी कहते है। प्रोषधोपवासका करने वाला चौथा श्रावक कहा जाता है। सचित्तविरत पाँचवी प्रतिमाका धारण करनेवाला होता है। छठी प्रतिमाका धारण करनेवाला दिनमें मैथुनका त्यागी होता है। सातवा प्रतिमाको धारण करने वाला ब्रह्मचारी कहा जाता है। आठवी प्रतिमा वाला आरम्भका त्यागी होता है। नवमीं प्रतिमा-का धारक परिग्रहका त्यागी होता है। दशमी प्रतिमाका धारक संसार सम्बन्धी कृषि विवाहादि-कार्योंमें मन, वचन, कायसे सम्मति देनेका त्यागी होता है। ग्यारहवी प्रतिमाका धारक अपने निमित्तसे बनाये हुए भोजनका त्यागी होता है ॥११-१२॥ इन ग्यारह प्रतिमाओंके धारण करनेवालोंमें आदिके छह जघन्य श्रावक कहे जाते है। ब्रह्मचारी आरंभत्यागी और परिग्रहत्यागी ये तीन मध्यम श्रावक कहे जाते है और बाकी दो प्रतिमाओंके धारण करनेवाले उत्कृष्ट श्रावक कहे जाते है। इन्हें सामान्यतासे उत्कृष्ट भिक्षुक भी कहते है ॥१३॥ पाक्षिक श्रावक सम्बन्धी आचारादिकोंसे जिसने अपने सम्यग्दर्शनको शुद्ध कर लिया है, जो संसार और विषयादिसे विरक्त है, सदा अर्हन्त भगवान्के पूजनादि करनेवाला है, मूल गुणोके दोषोंका सर्वथा नाश करके आगे-की प्रतिमाओंके धारण करनेमे उत्कठित तथा अपने शरीरकी स्थितिके लिए न्याय युक्त आजीविका-का करनेवाला है वही दर्शनिक (दर्शन प्रतिमाका धारक) कहा जाता है ॥१४-१५॥ जिन भगवान्-की आज्ञासे विषयादि निरन्तर छोड़ने योग्य है ऐसा जानता हुआ भी जो चारित्रमोहके उदय से उनके छोड़नेको असमर्थ है उसीके गृहस्थ धर्मकी अनुमति दी गई है ॥१६॥ जिन भगवान्की आज्ञाका श्रद्धान करता हुआ हिंसाके छोड़नेके लिये जो आठ मूल गुणोंको धारण करता है समझना चाहिये उस पुरुषने धर्म रूप वृक्षके ऊपर चढ़नेके लिए मूल पीठको प्राप्त कर लिया है ॥१७॥ अतिचारसे युक्त मद्य, मांस, मधु, तथा पञ्च उदुम्बर फलके त्यागनेको महर्षि लोग आठ मूल गुण कहते हैं ॥१८॥ मद्यके पीनेसे मद्यमें उत्पन्न होने वाले स्थावर और त्रस जीवोंका घात होता है, इसलिये मदिराका परित्याग करना चाहिए ॥१९॥ यदि मद्यके उत्पन्न होने वाले जीव फैलने लगें तो सारे संसारको निश्चयसे पूर्ण कर देंगे ॥२०॥ मद्यके पीनेसे केवल जीवोंका ही घात नहीं

रथ्यायां पतितो मत्त आगत्य श्वा तदानने । प्रवेशयदि बिलभ्रान्त्या ब्रूतेऽन्यद्देहि मे ॥२२
मद्यपो मातरं ब्रूते त्वमेहि त्वां रमे भृशम् । भार्याञ्च तव पुत्रोऽहं स्तनपानेन पालय ॥२३
सज्जनानङ्गजान्बन्धून् शत्रूनिव सुमारयेत् । क्रुद्धः सन् गृहभांडानि स्फोटयत्याशु यष्टिना ॥२४
मृत्वैति नरकं घोरं मद्यपानेन पापधी. । चक्षुःस्पन्दमिति यत्र न सुखं जायतेऽङ्गिनाम् ॥२५
तन्मुखेऽन्ये ज्वलत्ताम्रद्रवं क्षिप्त्वा वदन्ति च । पिब मद्यमिदं पाप रोचतेऽद्यापि ते भृशम् ॥२६
ततो निर्गत्य तिर्यक्षु पीडितेषु क्षुदादिभि. । परस्परविरुद्धेषु सहते वेदनामसौ ॥२७
कश्चिन्मत्तेन भिल्लेन रुद्धो गङ्गां व्रजन्द्विजः । मद्यमांसाङ्गनास्वेकतमं चेद्भोक्ष्यसे तदा ॥२८

मुञ्चे नो चेन्निहन्मि त्वां श्रुत्वाऽसावित्यचिन्तयत् ।
भक्ष्यं मांसं न जीवाङ्गाद्भिल्ली सेव्याऽधमा च नो ॥२९

तस्माद्गुडोदकाद्युत्थं मद्यं पीत्वा व्रजाम्यतः । पीतं तेन ततो भ्रान्त्या तद्द्वयं चाऽभजत्त्वसौ ॥३०
मत्वेति दोषवत्त्याज्यं मद्यं चित्तभ्रमप्रदम् । चित्तभ्रमेण मत्तोऽसौ कान्यकार्याणि नाऽऽदरेत् ॥३१

होता, किन्तु मूर्च्छा, कम्पन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रोंका लाल होना, तथा गमन करनेके समय पाँवोंका इधर उधर गिरना इत्यादि अनेक दोष होते हैं ॥२१॥ मदिराके पीनेसे उन्मत्त होकर मनुष्य जब कहीं गलियोमे गिर पड़ता है, तब बिलकी शङ्कासे कुत्ता उसके मुँहमे मूतने लगता है तो वह उन्मत्त कहता है कि मुझे और देओ ॥२२॥ मदिराका पीने वाला अपनी मातासे कहता है कि तुम इधर आओ तुम्हारे साथ मै विषय सेवन करूँ । और अपनी स्त्रीसे कहता है कि अयि जननि ! मैं तुम्हारा पुत्र हूँ मुझे अपने स्तनोका दूध पिला कर पालो ॥२३॥ मद्यका पीने वाला सज्जन पुरुषोंको, अपने लड़के लड़कीको, और अपने बन्धु लोगोंको शत्रुकी तरह मारता है । तथा क्रोधी होकर अपने ही घरके बर्तन वगैरहको शीघ्र ही लकड़ीसे फोड़ डालता है ॥२४॥ मदिराका पीने वाला वह पापात्मा अपने दुष्कर्मोके फलसे मर कर घोर दुःखोके प्रधान स्थान नरकमें जाता है । जहाँ नेत्रोंके निमेष लगने मात्र भी जीवोंको सुख नही होता है ॥२५॥ नरकोंमें मद्य पीने वाले जीवोंके मुखमं नारकी लोग जलते हुए ताँबेको डाल कर कहते हैं कि रे पापी ! इस मद्यको पी, तुझे तो मद्य बहुत रुचिकर लगता है ॥२६॥ वह जीव नरकोंमें अनेक तरहके दुःखोंको भोग कर आयुके अन्तमें नरकोंसे निकल कर तिर्यञ्च योनिमे पशु पर्याय-को धारण करता है जिस पर्यायमें क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, ताड़न, छेदन, भेदन आदि अनेक प्रकार-की बाधाएँ निरन्तर बनी रहती हैं । इतने पर भी परस्पर विरुद्ध पर्यायमे और भी दुष्कर दुःखों-की वेदनाएँ सहन करनी पड़ती है ॥२७॥ किसी समय एक ब्राह्मण गंगा स्नानके लिये जाता था, रास्तेमें उसे एक उन्मत्त भील मिला, भीलने ब्राह्मणसे कहा कि यदि तुम मद्य मांस अथवा स्त्री इन तीन वस्तुओंमेंसे किसी एकका उपभोग करोगे तो मै तुम्हे आगे जानेके लिए छोडूंगा । यदि मेरा कहना नहीं करोगे तो मै इसी समय तुम्हें मार दूँगा । इस बातको सुन कर ब्राह्मण विचारमें पड़ गया । उसने सोचा अब क्या करना चाहिये । अन्तमें उसने निश्चय किया कि—मांस तो जीवों-के मारनेसे उत्पन्न होता है इसलिये खानेके योग्य नही है और यह भिल्लनी नीच जाति है इसलिये यह भी ब्राह्मणोंके सेवन करनेके योग्य नहीं है । हाँ बचा मद्य, सो यह तो गुड़ जलादिसे बनाया जाता है । इससे इसके पीनेमें कोई हानि नही है । इसी भ्रान्तिसे उसने मद्यको पी लिया । मद्यके पीते ही उसने मांस तथा उस भिल्लनीका भी उपभोग किया ॥२८–३०॥ इस तरह अनेक प्रकारके दोषोंके स्थानभूत और चित्तमें भ्रान्तिको पैदा करनेवाले मद्यको छोड़ देना चाहिये । क्योंकि उन्मत्त

इहाऽमुत्रेति तन्मत्वा दुःखदं यस्त्यजेत्त्रिधा। तत्सम्बन्धमकुर्वाणः स स्यान्मद्यव्रती जनः ॥३२
बीभत्सु प्राणिघातोत्थं कृमिमूत्रमलाविलम्। स्प्रष्टुं द्रष्टुं सतां नार्हं तन्मांसं भक्ष्यते कथम् ॥३३
पाषाणाज्जायते नैवं न काष्ठान्न मृदादितः। पशुघातोद्भवं सद्भिस्तन्मांसं कथमश्यते ॥३४
यस्याऽहं मांसमद्म्यत्र प्रेत्य मां स समत्स्यति। एतां मांसस्य निर्युक्तिमाहुः सूरिमतल्लिकाः ॥३५
फलसस्यादिवद्भक्ष्यं मांसं नो दोषवद्वदेत्। कश्चिदेवं तमाहार्यो नेत्थं भेदं निशामय ॥३६
द्विधा जीवा विनिर्दिष्टा जङ्गमस्थावरा बुधैः। जङ्गमेष्वस्ति मांसत्वं फलत्वमितरेषु च ॥३७
यद्यन्मांसमिह प्रोक्तं स स जीवोऽस्त्यसंशयम्। यो यो जीवो न तत्तद्धि मांसं सर्वं इति श्रुतम् ॥३८
यद्वत्पितास्ति गोत्रोऽत्र स सर्वः पितृको न हि। आम्रवृक्षोऽस्ति वृक्षो न सर्वोऽप्याम्रमयः किल ॥३९
पेश्यां मांसस्य पक्वायामपक्वायां निगोतजाः। उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते सद्यः सम्मूर्च्छिनो नराः ॥४०
उत्पत्तिस्थानसाम्यत्वाद्भक्ष्यं मांसं तु दुग्धवत्। यो वक्तीत्थं संसोध्य एभिर्वाक्यैर्जिनोदितैः ॥४१

पुरुष चित्तकी भ्रान्तिसे किन-किन अनर्थोंको नही करते हैं ? अर्थात् सभी अनर्थोंको करते हैं ॥३१॥ इस तरह मद्यको दोनों लोकोमें दुःखका देनेवाला समझ कर जो मद्यको छोड़ते हैं अथवा मन, वचन और कायसे मद्यका सम्बन्ध तक भी नहीं होने देते है वे हो मद्य व्रती (मदिराके छोड़ने वाले) कहे जाते है ॥३२॥ जिसके देखने मात्रसे आत्मामें ग्लानि पैदा होती है, जो जीवोंके मारनेके बिना उत्पन्न ही नही होता तथा कीड़े, मूत, पुरीष (विष्टा) इत्यादि महा अपवित्र पदार्थोंसे युक्त होता है, जिसे सज्जन पुरुष देखना तक अच्छा नहीं समझते उसका स्पर्श तो दूर रहे, वही मांस खानेके योग्य कैसे हो सकता है ? दुष्ट लोग उसे भी खा जाते हैं यह बड़े आश्चर्यको बात है ॥३३॥ मांस न तो पाषाणसे उत्पन्न होता है और न काष्ठसे तथा मिट्टी आदिसे पैदा होता है, जिससे वह पवित्र और खानेके योग्य समझा जाय ? किन्तु बिचारे निरपराध जीवोंके वध करनेसे होता है। इसलिये सज्जन पुरुष उसके भक्षण करनेको कैसे उत्तम समझ सकते हैं ॥३४॥ इस लोकमें जिन जीवोंका मै मांस खाता हूँ पर लोकमें वे भी मेरे मांसको खावेंगे, बड़े बड़े महर्षि लोग मांस शब्दकी इस तरह निर्युक्ति करते हैं ॥३५॥ कदाचित् कोई मासके विषयमें यों कहने लगे कि फल तथा धान्य वगैरह जिस तरह खानेके योग्य है उसी तरह मांस भी खानेके योग्य है। उसमें किसी तरहका दोष नहीं। ऐसे लोगोंके प्रति बुद्धिमान् पुरुषोंको उत्तर देना चाहिये कि यह कहना तुम्हारा ठीक नही है उसे सुनो ॥३६॥ बुद्धिमान् लोगोंका कहना है कि जंगम (चलने फिरने वाले) और स्थावर इस तरह जीवोंके दो भेद हैं। उनमें जंगम जीवोंका मांस होता है और स्थावरोंमें फल होते हैं ॥३७॥ इस संसारमें जो मांस कहा जाता है वह निश्चयसे जीव है और जो जीव है वह मांस नहीं है। ऐसा सर्व जगह सुना जाता है ॥३८॥ जिस तरह पिता गोत्र हो सकता है परन्तु गोत्र मात्र पिता नहीं हो सकता। उसी तरह आम्रके वृक्षको तो वृक्ष कह सकते हैं परन्तु वृक्ष मात्रको आम्र वृक्ष नहीं कह सकते। इसी तरह मांसको जीव कह सकते हैं परन्तु जीव मात्रको मांस नहीं कह सकते। यही कारण है कि स्थावर यद्यपि जीव कहे जाते हैं परन्तु उनमें मांसका व्यवहार नहीं होता ॥३९॥ मांस पिंड चाहे पका हुआ हो अथवा अपका, उसमें निरन्तर निगोदिये जीव तथा सम्मूर्च्छन (अपने आप पैदा होने वाले) जीव उत्पन्न होते हैं और मृत्युको प्राप्त होते रहते हैं। इससे मांस सत्पुरुषोंके खाने योग्य नहीं है ॥४०॥ कदाचित् मांसके सम्बन्धमें कोई यों कहने लगे कि—जिस तरह दुग्ध जीवसे उत्पन्न होता है उसी तरह मांसकी भी उत्पत्ति है। ऐसे

ग्राह्यं दुग्धं पलं नैव वस्तुनो गतिरीदृशी । विषद्रोः पत्रमारोग्यकृन्मूलं मृतिकृद्भवेत् ॥४२
पशुर्न हन्यते नैव हान्यते नैव दृश्यते । अन्यथा भक्षणे नैव दोषो मांसस्य विद्यते ॥४३
यो वक्तीति तमाहार्यो मृतस्यापि स्वयं पले । स्पृष्टे स्याद्धिंसको यत्र भक्षिते तत्र किं न हि ॥४४
योऽत्ति मांसं स्वपुष्टयर्थं तस्मिन्निह पलाशिनि । दयाधर्मः कुतो वह्निदग्धवृक्षे फलादिवत् ॥४५
मातापित्रादिसम्बन्धो भवे जातोऽङ्गिभिः सह । तेन ते मारिताः सर्वे पशून्मारयितामिषे ॥४६
तृणांशः पतितश्चाक्षिण यस्य दुःखायते तराम् । ज्ञातदुःखोऽपि हा हन्ति शस्त्रेण श्वापदान्स किम् ॥४७
यः स्वमांसस्य वृद्धयर्थं परमांसानि भक्षति । जिह्वारसग्रहग्रस्तस्तच्चरित्रेण पूर्यताम् ॥४८
सोऽधमो नरकं गत्वा भुक्त्वा दुःसहवेदनाम् । तिर्यग्गतौ ततः पापाद्बंभ्रमीति भवार्णवे ॥४९
बुद्ध्वेति दोषवद्धीमान्मुञ्चेद्योगैः कृतादिभिः । तत्संगमपि यः सोऽत्र मांसत्यागव्रती भवेत् ॥५०
अत्रान्तरे शृणु श्रीमन् श्रेणिकं गौतमोऽवदत् । येन प्राप्तं जिनोद्दिष्टं मांसनिर्वृत्तितः फलम् ॥५१

पुरुषोंके प्रति जिन भगवान्के वचनोंका आश्रय लेकर यों उत्तर देना चाहिये ॥४१॥

दुग्ध तो ग्रहण करनेके योग्य है परन्तु मांस ग्रहणके योग्य नही है इसमे हम क्या कहे वस्तुकी गति ही अनादिसे इस प्रकार है। यही बात इस उदाहरणसे स्पष्ट की जाती है—विषके वृक्षका पत्र तो रोगोंको दूर करनेवाला होता है और उसका मूल (जड़) मृत्युका देने वाला होता है। जिस तरह एक ही वृक्षसे पत्र और मूलकी उत्पत्ति होने पर भी दोनोंकी गति विचित्र है उसी तरह मांस और दुग्धके विषयमें भी समझना चाहिये ॥४२॥ हम पशुको न तो स्वय मारते है न उसे दूसरे लोगोंके द्वारा मरवाते है और न मरा हुआ देखते है जब ये तीनों बाते नही देखी जाती है फिर मांसके खानेमें कोई दोष नही है, जो लोग ऐसा कहते है, बुद्धिमान् पुरुषोंको उन लोगोंके लिए यों उत्तर देना चाहिये—यदि तुम्हारे कहनेको माना जाय तो अपने आप से मरे हुए जीवके मांसका स्पर्श करने मात्रसे जब हिंसक हो जाता है तो उसके भक्षणमे क्या हिंसक नही कहा जायगा ? अर्थात् अवश्य कहा जायगा ॥४३–४४॥ जो अपने शरीरकी पुष्टिके लिये जीवोंके मांसका भक्षण करते हैं उन पुरुषोंमे दयाधर्मका अङ्कुर भी नही हो सकता। जैसे अग्निसे जले हुए वृक्षमे फल पुष्पकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ॥४५॥ इस संसारमे इस जीवके जीवोंके साथ अनेक बार माता पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, पुत्री, आदि अनेक सम्बन्ध हुए है। इसलिये जिसने मांसकी लोलुपतासे बिचारे निरपराध दीन पशुओंको मारा है समझना चाहिये उसने अपने माता, पिता, आदिको ही मारा है ॥४६॥ नेत्रोंमें गिरे तृणकी वेदनाको जानते हुए भी दुष्ट लोग बिचारे निरपराध पशुओंके गले पर छुरी क्यों चलाते हैं ? इस बातका बहुत खेद है ॥४७॥ जो लोग जिह्वाके रसकी लालसामें फँसकर अपने मांसकी वृद्धिके लिए दूसरे जीवोंके मांसको खाते है, उन दुष्ट पुरुषोंके दुश्चरित्रोंका वर्णन हम नही कर सकते। उनके इतने ही चारित्रोंसे पूरा पड़े ॥४८॥ मांसके खाने वाले नीच पुरुष नरकमें जाकर और वहाँ नाना तरहकी दुःसह वेदनाओंको भोग कर नरकसे निकलते हैं फिर उसी पापसे तिर्यञ्च गतिमें भ्रमण करते रहते हैं। उन पापी पुरुषोंके लिए यह भव समुद्र बहुत गहन है ॥४९॥ इस तरह मांसको दुःख और पापका मूल कारण समझ कर जो बुद्धिमान् मन, वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदनासे मांसके स्पर्श तकको छोड़ देते हैं, वे ही लोग मांस त्याग व्रती कहे जाते हैं ॥५०॥ इसी अवसरमें भगवान् गौतम स्वामीने महाराज श्रेणिकसे कहा—हे श्रीमन् ! जिसने मांसके छोड़नेसे जिन भगवान्के कहनेके अनुसार फल पाया

आसीत्खदिरसाराख्यः किरातो विन्ध्यकानने । समाधिगुप्तिनामानं मुनिं दृष्ट्वा ननाम सः ॥५२
मुनिनोचे तदा भिल्लो धर्मलाभोऽस्तु ते वर । को धर्मस्तस्य लाभः कः पृष्टस्तेन पुनर्मुनिः ॥५३
धर्मो मांसादिनिर्वृत्तिस्तत्प्राप्तिर्लाभ उच्यते । ततः स्वर्गादिजं सौख्यं प्राप्यते हेलया नरैः ॥५४
निशम्याचिन्तयद् भिल्लो नालं तन्मोक्तुमस्म्यहम् । क्रियते किं ? तदाऽऽकूतं मत्वेत्यूचे स भिक्षुणा ॥५५
काकमांसं त्वया पूर्वं भक्षितं वत्स ! वा न वा । अद्य यावन्न मे भुक्तं तद्व्रतं तर्हि गृह्यताम् ॥५६
यत्किञ्चिन्मुच्यते वस्तु तत्तन्नियमपूर्वकम् । यदा तदा भवेद्धर्मो न धर्मो नियमं विना ॥५७
अनुक्ता नैव लभ्येत धने दत्तेऽपि कस्यचित् । धनं दत्वा निजं वृद्धिर्वणिग्भिः किन्न तूच्यते ॥५८
इति लात्वा व्रतं तस्य प्रणम्य स्वगृहं गतः । कालान्तरे समुत्पन्नस्तस्य रोगोऽतिदुःसहः ॥५९
कुटुम्बेन तदाऽऽहूतो भिषग्विज्ञाय तद्रुजम् । तेनोक्तं काकमांसेन विना रोगो न शाम्यति ॥६०
प्राणा यान्तु न भक्षामि तत्क्वापीत्यवदद्‌गदी । व्रतभङ्गोऽत्र दुःखाय प्राणा जन्मनि जन्मनि ॥६१

है उसकी कथाको तुम सुनो ॥५१॥ विन्ध्याटवीमें खदिरसार नामक एक भील रहता था। एक दिन उसने श्री समाधिगुप्त मुनिराजको देखा और उन्हें प्रणाम किया ॥५२॥ उस समय मुनिराजने उस भीलसे कहा कि—'तुझे धर्म लाभ हो'। 'तुझे धर्म लाभ हो' इन वचनोको जब भीलने सुना तब मुनिराजसे पूछा—महाराज ! आपने जो धर्म लाभ कहा, वह धर्म क्या है ? और उसका लाभ क्या है ॥५३॥ तब मुनिराजने कहा—मांस, मदिरा, मधु आदि अपवित्र पदार्थोके त्यागनेको धर्म कहते है और इनके त्याग रूप धर्मकी प्राप्ति होनेको लाभ कहते है। इस धर्मको जो पुरुष धारण करते हैं उन्हे स्वर्गादिकोंके उत्तम सुख संकल्प मात्रसे मिलते है ॥५४॥

मांसके छुड़ाने रूप मुनिराजके वचनोंको सुनकर भील विचारमें पड़ गया कि मांसके छोड़नेको तो मैं समर्थ नही हूँ अब क्या करना चाहिये ? मुनिराजने उसके अभिप्रायोंको समझकर भीलसे कहा ॥५५॥ हे वत्स ! तूने पहले कभी काकका मांस खाया है वा नही ? इन वचनोंको सुनकर भीलने कहा—महाराज ! मैने अभी तक काकका मांस नही खाया। यह सुनकर मुनिराजने कहा—यदि तूने काकका मांस नही खाया है तो अबसे काकके मांसको छोड़ दे ॥५६॥ यद्यपि तूने काकका मांस नहीं खाया है परन्तु इससे तेरे व्रत नही हो सकता। क्योंकि किसी वस्तुका जो त्याग होता है वह नियम पूर्वक होता है और जब नियम होता है तब ही धर्म होता है क्योंकि नियमके विना धर्म हो ही नही सकता ॥५७॥ किसीको धनके देनेपर भी जब तक उससे व्याज आदिका निर्द्धार नहीं किया जाता, तब तक दिये हुए धनकी वृद्धि नही होती। यही कारण है कि धनवान् लोग द्रव्यके उधार देते समय व्याज वगैरहका निश्चय कर लेते है। उसी तरह नियमके बिना वस्तुका छोड़ना लाभकारी नहीं हो सकता, इसलिये किसी वस्तुका त्याग नियमपूर्वक करना चाहिये ॥५८॥ इस तरह मुनिराजके वचनोंको सुनकर उस भीलने व्रतको ग्रहण किया और मुनिराजको नमस्कार करके अपने घर गया। कुछ समयके बाद उस भीलके अत्यन्त दुःसह रोग उत्पन्न हुआ ॥५९॥ भीलके रोगको दिनोंदिन बढता हुआ देखकर उसके घरवालोंने रोगकी शान्तिके लिये वैद्यको बुलाया। वैद्यने रोगकी परीक्षा करके कहा कि यह रोग जब तक इसे काकका मांस न खिलाया जायगा तब तक कभी शान्त नहीं होगा ॥६०॥ जब भीलने सुना कि काकके मांसके विना रोग नहीं जायगा, तब वह बोला कि—चाहे मेरे प्राण भले ही चले जायँ, परन्तु मैं काकका मांस कभी नहीं खाऊँगा। क्योंकि प्राणोंका नाश तो केवल यहीं दुःखके लिये होगा और व्रतभंग तो जन्म जन्ममें दुःखोका देनेवाला है ॥६१॥ मुनिराजके पास जो मैने व्रत लिया है

तपोधनसमीपे यद्गृहीतं तद्व्रतं मया । प्राणान्तेऽपि न तत्याज्यं त्यागे पुरुषता कुतः ॥६२
श्रुत्वेति तैः कृतो मन्त्रः कथमप्यत्त्यसौ पलम् । विना मित्रोपदेशेन किं भक्षति कृतव्रतः ॥६३
तदा तत्स्वसृनाथाय श्रीसौरपुरवासिने । सूरवीराय तैर्लेखोऽदाय्यैतव्यं लघु त्वया ॥६४
लेखनदर्शनमात्रेण स चचाल निजात्पुरात् । पथाऽयान्दृष्टवान्यक्षीं रुदन्तीं वटपादपे ॥६५
तेन पृष्टा तदा का त्वं कथं रोदिषि सुन्दरि । अहं यक्षी स ते श्यालो भर्त्ता मे भविता व्रतात् ॥६६
गत्वाऽधुना तकं मांसं भोजयित्वा नयिष्यसि । नरकं रोदिमीत्येवं श्रुत्वेति निजगाद सः ॥६७

श्रद्धेहि यक्षि ! नो तस्य भोजयामीति मे वचः ।
तामाश्वास्य क्रमेणाऽयाद् भिल्लपल्लीं च तद्गृहम् ॥६८

प्रियश्यालक ! काकस्य मांसं भुङ्क्ष्वाऽऽमयापहम् । तत्परीक्षार्थमेतत्स उक्तवान् तं वचो मुहुः ॥६९॥
उवाच त गदी मे त्वं सुहृत्प्राणसमोऽसमः । निन्द्यवाक्यन्तु वा वक्तुं युक्तं स्यादिति किं तव ॥७०
ज्ञात्वा दृढतरं मार्गवृत्तान्तं स तदाऽऽह तम् । श्रुत्वा जग्राह सर्वं स श्रावकव्रतमुत्तमम् ॥७१
जीवितान्ते स सौधर्मे देवोऽभूत्सुरसत्तम. । व्रतप्रभावत. किं किं प्राणिनां नोपजायते ॥७२
सूरवीरः क्रियाप्रान्ते परलोकस्य तस्य तु । व्याघुटन्तेन मार्गेण तद्यक्षीमूचिषामिति ॥७३

उसे प्राणोके चले जानेपर भी नही छोड़ूँगा । अरे, ग्रहण किये व्रतको छोड़ देनेमें क्या पुरुषत्व कहा जा सकता है ? ॥६२॥ घर वालोंने समझा कि यह किसी तरह काकका मास नही खायगा, इसलिये उन्होंने विचार किया कि यह किसी मित्रके कहे विना काकका मांस नही खायगा. इसलिये इसके मित्रको बुलाना चाहिये ॥६३॥ उस समय घरवालोंने श्रीसौरपुरके रहनेवाले उसकी बहनके पति सूरवीरके बुलानेके लिये पत्र भेजा और उसमें लिखा कि तुम जल्दी आओ ॥६४॥ सूरवीर भी पत्रके देखने मात्रसे अपने नगरसे चला । मार्गमे आते समय उसने किसी वट वृक्षके नीचे किसी यक्षीको रोती हुई देखा ॥६५॥ उसने उस रोती हुई यक्षीसे पूछा कि हे सुन्दरि ! तू कौन है और यहां क्यों रोती है ? सूरवीरके वचनोको सुनकर यक्षी बोली कि मै तो यक्षी हूँ और वह तुम्हारा साला खदिर व्रतके प्रभावसे मेरा स्वामी होगा ॥६६॥ तुम वहाँ जाकर और उसे काकका मांस खिला दोगे तो उसके व्रतभंगके पापसे वह नरक चला जायगा फिर मेरा पति नही होने पावेगा। इसलिये रोती हूँ । इस प्रकार उस यक्षीके वचनको सुनकर सूरवीरने कहा ॥६७॥ हे यक्षि ! तुम हमारे वचनोंपर विश्वास करो, मै कभी उसे काकका मास नही खिलाऊँगा । इस तरह उस यक्षीको विश्वास दिलाकर वह सूरवीर क्रमसे उस भीलके ग्राममे जाकर उसके घर पर पहुँचा ॥६८॥ हे प्रियश्याल ! अनेक तरहके रोगोंको दूर करनेवाले काकके मांसको क्यों नही खाते हो ? तुम्हें अवश्य खाना चाहिये । इसके बाद सूरवीरने फिर उसकी परीक्षा करनेके लिए बराबर काकके मांसको खानेके लिये आग्रह किया ॥६९॥ इस तरह सूरवीरके वचनोंको सुनकर वह भील बोला— तुम मेरे प्राणोंके समान अत्यन्त प्रिय मित्र हो, तुम्हें ऐसे निन्द्य वचन कहना क्या योग्य है ? ॥७०॥

जब सूरवीरने समझा कि यह अपने धारण किये हुए व्रतसे कभी च्युत नहीं होगा तो मार्गमें यक्षी सम्बन्धी जो वृत्तान्त बीता था उसे कह सुनाया । उस वृत्तान्तको सुनकर भीलको और दृढ़ श्रद्धान हो गया । उसीसे उसने शेष सब श्रावकके व्रतको ग्रहण कर लिये ॥७१॥ मरणके अन्तमें वह भील सौधर्म स्वर्गमें उत्तम देव हुआ । इस संसारमें और कौन ऐसा पदार्थ है जो व्रतके प्रभावसे प्राप्त नहीं होता है ॥७२॥ वह सूरवीर भी अपने साले की पारलौकिक सम्बन्धी

सुभगे किं स ते भर्त्ता जातो वा नाऽभिधेहि तत् । सोवाच व्रतमाहात्म्यात्सौधर्मे न च मे पतिः ॥७४
दिव्यान्भोगानिदानीं स स्वप्सरोभिर्भुनक्त्यलम् । अविच्छिन्नाञ्जरातङ्कभयचिन्तादिवर्जितान् ॥७५
यक्षीवाक्यात्स सद्धर्मे श्रद्धावान्संगृहीतवान् । समाधिगुप्तिसंज्ञस्य मुनेरन्ते गृहिव्रतम् ॥७६
अनुभूय सुरः सौख्यं सागरद्वयमैन्द्रियम् । अभूः कुणिकभूपस्य श्रीमत्याः श्रेणिकः सुतः ॥७७
सोऽपि कालेन तत्रैव स्वर्गेऽभूदृद्धिनायकः । व्रतप्रभावतो राजन्वांछितार्थप्रदायिनि ॥७८
बुभुजाते सुखं दिव्यं द्वावपि स्नेहनिर्भरौ । अप्सरोभिर्मनोऽभीष्टं स्वेच्छया सागरद्वयम् ॥७९
इह जम्ब्वन्तरीपेऽस्मिन्क्षेत्रे भरतनामनि । सूरकान्ताभिधो देशः श्रिया देवकुरूपमः ॥८०
प्रत्यन्तनगरं तत्र चतुर्वर्णसमाश्रितम् । नीत्यादिगुणसम्पन्नस्तत्रेशो मित्रसंज्ञकः ॥८१
खदिरादिचरः स्वर्गादेत्य तस्याऽभवत्सुतः । समित्राम्भोरुहां मित्रो यः सुमित्रो निजाख्यया ॥८२
रूपेण हृदयोद्भूत कान्त्येन्दुः स्वधिया गुरु । विद्याभ्यासं प्रकुर्वन्स चिक्रीड पितृमन्दिरे ॥८३
अमात्यनन्दनोऽन्योऽपि सुरस्तत्रैव जातवान् । सुषेणाख्योऽतिसौन्दर्यकलाविज्ञानपारगः ॥८४
राजमन्त्रिसुतौ स्नेहनिर्भरत्वमुपागतौ । अतिष्ठतां सदैकत्र स्नानाऽऽसनक्रियादिषु ॥८५

क्रियाके अन्तमें, जिस मार्गसे वह आया था उसी मार्गसे जाता हुआ उस यक्षीसे बोला ॥७३॥ हे सुभगे ! वह भील तुम्हारा प्राणनाथ हुआ या नहीं, तुम ठीक कहो ? सूरवीरके वचनको सुनकर यक्षीने कहा—वह व्रतके माहात्म्यसे सौधर्म स्वर्गका देव हुआ है। मेरा स्वामी नहीं हुआ ॥७४॥ वह सौधर्म स्वर्गका देव इस समय अपनी देवांगनाओंके साथ रोग, भय, चिन्ता आदि व्याधियोंसे रहित स्वर्गके भोगोंको निरन्तर भोग रहा है ॥७५॥ यक्षीके वचनोंको सुनकरके सूरवीरने अपनी बुद्धिको जिनधर्ममें दृढ़ करके उन्हीं समाधिगुप्ति मुनिके पास गृहस्थ धर्मको अंगीकार किया ॥७६॥ इसके बाद दो सागर पर्यन्त स्वर्ग-जनित उत्तम सुखोंको भोगकर वह देव कुणिक नामक राजा और श्रीमती महारानीके श्रेणिक नामक पुत्र हुआ है ॥७७॥ ग्रन्थान्तरके अनुसार यह कथानक इस प्रकार है—कुछ कालके बाद वह सूरवीर भी मनोवांछित सुखादिके देनेवाले उसी स्वर्गमें व्रतके प्रभावसे ऐश्वर्यका स्वामी देव हुआ ॥७८॥ परस्पर अत्यन्त स्नेहसे युक्त वे दोनों देव अपनी-अपनी देवांगनाओंके साथ इच्छापूर्वक मनोवांछित स्वर्गके सुखोंका उपभोग करने लगे ॥७९॥ इस जम्बू-द्वीपके भरत क्षेत्रमें सूरकान्त नामका देश है। वह अपनी बढ़ी हुई शोभासे देवगुरु भोगभूमिसे किसी भी तरह कम नहीं है ॥८०॥ उस सूरकान्त देशमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदिसे शोभित प्रत्यन्त नामका नगर है। उस नगरमें राजनीति आदि अनेक प्रकारकी राजविद्याको जाननेवाला मित्रसंज्ञक नामका राजा राज्य करता था ॥८१॥ वह खदिरसार भीलका जीव सौधर्म स्वर्गसे आकर मित्र राजाके सुमित्र नामक पुत्र हुआ। वह सुमित्र अपने सुमित्ररूप कमलोंके प्रफुल्लित करनेके लिये वास्तवमें मित्र (सूर्यके समान) था ॥८२॥ लोकोंको आश्चर्यके करनेवाले अपने रूपसे कामदेवके समान, मनोहर शरीरकी कान्तिसे चन्द्रमाके समान और अप्रतिम (असाधारण) बुद्धिसे बृहस्पतिके समान वह बालक सुमित्र विद्याभ्यासको करता हुआ अपने जनकके मन्दिर (गृह) में क्रीडा करता था ॥८३॥ उसी प्रत्यन्त नगरमें वह सूरवीरका जीव अत्यन्त सुन्दरता, कला, विज्ञान, आदि अनेक गुणोंका जाननेवाला सुषेण नामक मन्त्री-पुत्र हुआ ॥८४॥ उन दोनों राजपुत्र और मन्त्रिपुत्रोंका परस्पर अत्यन्त अनुराग हो गया। यहाँ तक कि उन दोनोंका बैठना, उठना, स्नान करना, भोजन करना आदि सब साथमें होता था ॥८५॥ एक दिन वे दोनों मित्र

जग्मतुः केलिवाप्यांतौ जलक्रीडार्थमेकदा । राजन्यैर्बहुनेपथ्यैः सवयोभिः समं परैः ॥८६
मज्जनोन्मज्जनाभ्यां तौ प्लवनैरब्जताडनैः । व्यधत्तां खेलनं वाप्यामन्योन्यं कलभाविव ॥८७
ईर्ष्ययाऽसौ सुषेणेन न्यक्षेपि क्वचिदंभसि । अगाधे दैवतो भीत्या निर्गत्य स पलायितः ॥८८
एकमेकं सहन्ते नो तिष्ठन्त्येकाकिनोऽपि नो । गर्दभा वृषभा अश्वाः कितवाः सुधियोऽर्भकाः ॥८९
इतः पुण्यात्स पानीयान्निर्गतो राजनन्दनः । समागत्य निजं धाम्नि क्रीडां कुर्वन्न्यवस्थितः ॥९०
महत्काले व्यतिक्रान्ते दधौ राज्यं सुमित्रकः । गृहीतवांस्तपो जैनं सुषेणश्चिरशङ्कया ॥९१
निर्ग्रन्थवृत्तिमादाय धृतपञ्चमहाव्रतः । परीषहसहस्तेपे घोरं मध्याह्नभानुवत् ॥९२
आसनस्थेन भूपेन मुनिर्दृष्टः परिभ्रमन् । अन्यदा पुरि भिक्षार्थं मध्याह्ने क्षीणविग्रहः ॥९३
पप्रच्छ स्वाङ्गरक्षं स कश्चित्कोऽसौ मुनीश्वरः । श्रुत्वेति निजगादेशं भटो देव निशम्यताम् ॥९४
सुषेणो मन्त्रिपुत्रोऽयं तव प्राणसमः सुहृत् । त्यक्त्वा मोहमृषिर्जातो राजन्मासोपवासकृत् ॥९५
गाम्भीर्येण सरिन्नाथं यो धैर्येण सुरालयम् । जिगाय तपसा सूरं निसङ्गत्वेन मारुतम् ॥९६
जगत्सूरोऽपि यं दृष्ट्वा शङ्कते निजचेतसि । एतादृशं तपः कर्त्तुं कोऽलं स्यादिह तं विना ॥९७

अपने समान आयु आदिमे मनोहर अनेक क्षत्रियपुत्रोंके साथ जलक्रीडा करनेके लिए क्रीडा करनेकी वापिकाके ऊपर गये ॥८६॥ वे दोनों मित्र वापिकामें डूबना, निकलना, तैरना एकके ऊपर एकका कमलोंका फेंकना इसी तरह अनेक प्रकारकी क्रीडायें, जैसे हस्ति-बालक परस्परमें करते हैं उसी तरह परस्परमें करने लगे ॥८७॥ इतनेमें मंत्रीके पुत्र सुषेणने द्वेष बुद्धिसे सुमित्रको कहीं बहुत गहरे जलके भीतर डाल दिया। और आप इस कुकर्मके भयसे वहाँसे झट निकलकर कहींपर भाग गया ॥८८॥ गधे, बैल, घोड़े, धूर्तलोग, बुद्धिमान् और बालक ये एकको एक नहीं देखते हैं और न एकके पास एक बैठते है ॥८९॥ इधर वह राजपुत्र सुमित्र अपने भवान्तरमें कमाये हुए किसी बड़े भारी पुण्य कर्मके उदयसे उस अगाध जलसे ज्यो त्यों निकलकर अपने मकानपर आया और फिर भी पहलेके समान क्रीड़ा करने लगा ॥९०॥ इसी तरह उन दोनों मित्रोंका बहुत काल व्यतीत हुआ। फिर सुमित्रको जब राज्य भार मिला तब सुषेणने सोचा कि अब इसे राज्य प्राप्त हो गया है यह मुझे मारकर अवश्य अपना वैर निकालेगा इसी शङ्कासे सुषेण जिनदीक्षाको ग्रहण करके मुनि हो गया ॥९१॥ परिग्रह-रहित मुनिव्रतको धारण करके जिसने पञ्च महाव्रतोंको धारण किये हैं ऐसा वह सुषेण मुनि नाना प्रकारके कठिनसे कठिन परीषहोंको सहन करता हुआ अत्यन्त दुर्धर तप करने लगा। जैसे मध्याह्न कालमें सूर्य दुष्कर रूपसे तपता है ॥९२॥ किसी समय राजसिंहासनस्थ महाराज सुमित्रने अपने नगरमें आहारके लिये मध्याह्नकालमें घूमते हुए उन्हीं सुषेण मुनिको देखे। जिनका शरीर अनेक प्रकारके तपश्चरणादिके करनेसे अत्यन्त क्षीण (कृश) हो गया है ॥९३॥ महाराज सुमित्रने मुनिको देखकर अपने किसी शरीर-रक्षक नौकरसे पूछा कि यह कौन मुनिनाथ है? महाराजके वचनोंको सुनकर वह अङ्ग-रक्षक बोला—महाराज इन मुनिके सम्बन्धकी सब बातें कहता हूँ आप सुनो ॥९४॥ हे देव! जिस मुनिको आप अपने नयनोंमें देख रहे हैं वह और कोई नहीं हैं किन्तु तुम्हारे प्राणोंके समान परम मित्र आपके मन्त्रीके पुत्र सुषेण हैं। इस समय संसारके मूल कारण मोहको छोड़कर एक एक महीनेके उपवासोंको करनेवाले मुनि हुए हैं ॥९५॥ महाराज! ये कोई ऐसे साधारण मुनि नहीं हैं किन्तु अपनी गम्भीरतासे समुद्रको, धैर्यसे सुमेरु पर्वतको, अपने घोर तपसे सूर्यको और निसंगपनेसे वायुको जीत

पारणार्थं समायातो विपिनादधुना मुनिः । प्राणाः स्युर्न विनाऽऽहारं स्थिराः कर्त्तुं तपोविधिम् ॥९८
तद्गीःसुधां निपीयाऽसौ भूपोऽमुञ्चन्मुदश्रुणी । उत्थायासनतः पादौ तस्य भक्त्याऽनमत्तदा ॥९९
भो ! मित्र ! दर्शनात्तेऽहं ववृधेऽब्धिरिवेन्दुतः । कृत्वा प्रसादमेहि त्वं गृहं राज्यं विधेहि मे ॥१००
एष देशः श्रियां देशः पूरियन्त्यलकोपमा । अमी गजा अमी अश्वाः कान्ता कान्ता अमूस्तव ॥१०१
अहं राज्यधुरं धर्त्तुमसमर्थोऽतिदुर्द्धराम् । अतो गृहाण भोमित्र ! राज्यं राजशतानतम् ॥१०२
निर्भारोऽस्मि प्रसादात्ते तथा कुरु सुनिश्चितम् । तच्छ्रुत्वा मुनिनोचेऽसाविति स्नेहपरायणः ॥१०३

भो ! भो ! कुवलयेन्दो ! त्वं स्वराज्यं कुरु निश्चलम् ।
तपः कुर्वन्नहं क्षीणो नालं जेतुमरीनिमान् ॥१०४

आदौ स्वादूनि राजेन्द्र ! विरामे कटुकानि च । इन्द्रियाणां सुखानीह विषाश्लिष्टाशनानि वा ॥१०५
चेत्तृप्यन्तो धनैर्वह्निर्नदीपूरैः पयोनिधिः । सन्तुष्यति तदा जीवः पञ्चाक्षविषयाऽऽमिषैः ॥१०६
भोगिभोगोपमान्भोगान् राज्यं पादरजःसमम् । धनञ्च निधनं प्रायं ज्ञात्वा कोऽज्ञो विमुह्यति ॥१०७

लिया है ॥९६॥ जिन मुनिके तपश्चरणको देखकर जगत्का सूर्य भी मनमें यह सन्देह करता है कि अहो ! इस जगत्में इस प्रकार तप करनेको इन्हे छोड़कर और कौन समर्थ हो सकता है ॥९७॥

वे ही श्री सुषेण मुनिराज आज एक महीनेके उपवासके अनन्तर पारणा करनेके लिये नगरमें पधारे है। क्योंकि जब तक प्राणोंको आहारका अवलम्बन न मिलेगा तब तक वे तप करनेके लिये स्थिर कभी नहीं हो सकते ॥९८॥ महाराज सुमित्रने जब उस शरीर-रक्षकके अमृतके समान वचनोंको सुना उनके लोचनोंसे आनन्दाश्रु गिरने लगे। और उसी समय अपने सिंहासनसे उठकर भक्तिपूर्वक मुनिराजके चरण कमलोंको नमस्कार किया ॥९९॥ अय मित्र ! आज मै तुम्हारे पवित्र दर्शनोंसे चन्द्रमाके उदय होनेसे जैसे समुद्र बढ़ता है उसी तरह वृद्धिको प्राप्त हुआ हूँ। इसलिये मेरे पर प्रसन्न होओ और इस सम्पत्तिशाली राज्यलक्ष्मीको तथा इस गृहको स्वीकार करो ॥१००॥ देखो ! यह देश तो एक तरह लक्ष्मीका देश (स्थान) है और यह पुरी कुबेरकी अलकावली (अमरावती) नगरीके समान है। ये हाथी है, ये घोड़े है और ये अतिशय सुन्दरी स्त्रियाँ है। यह सब साम्राज्य आप ही का है ॥१०१॥ हे मित्र, मै अकेला अत्यन्त दुर्द्धर इस राज भारके धारण करनेको समर्थ नहीं हूँ। इसलिये सैकड़ों राजा लोग जिसकी आज्ञाको धारण करते है एसे इस राज्यको आप मेरी प्रार्थनासे स्वीकार करो ॥१०२॥ हे भगवन् ! अब आपके अनुग्रहसे इस राज्यके भारसे सर्वथा भार-रहित हूँ। इसलिये मेरी प्रार्थनाके अनुसार इस राज्यको ग्रहण करो। अपने मित्र सुमित्रके ऐसे वचनोंको सुनकर सुषेण मुनिराज अत्यन्त प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोले ॥१०३॥ हे इस पृथ्वी मंडलको चन्द्रमाके समान आह्लादके देने वाले सुमित्र ! इस राज्यका निश्चलता-पूर्वक तुम ही पालन करो, क्योंकि मैं तो दुष्कर तपके करनेसे बिल्कुल असक्त हो गया हूँ इसलिये इन शत्रु लोगोंको नहीं जीत सकूँगा ॥१०४॥ हे राजन् ! ये इन्द्रियोंके सुख पहले तो कुछ अच्छेसे मालूम पड़ते हैं परन्तु अन्त समयमें बिल्कुल कड़वे हैं। अथवा यों कहो कि विषसे युक्त जैसा भोजन ऊपरसे मनोहर सा दीखता है परन्तु वास्तवमें प्राणोंका घातक है वैसे ही ये इन्द्रियोंसे उत्पन्न होने वाले सुख हैं ॥१०५॥ हे राजन् ! यदि अग्निकी इन्धन (काष्ठ) से अथवा समुद्रकी अनेक नदियोंसे पूर्त्ति हो जावे तभी इन पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय रूपी मांससे इस जीवकी तृप्ति मान सकता हूँ ॥१०६॥ भावार्थ—अग्नि आदिकी काष्ठादिकोंसे न कभी तृप्ति हुई सुनी है और न होगी उसी

तरामि भववाराशिं प्रसादात्ते नरेश्वर ! निरास्रवतपोवाहं समारुह्यातिदुस्तरम् ॥१०८
उक्त्वेति मौनमालम्ब्य यावत्तिष्ठति भिक्षुकः । तावन्नृपो जगादेति सस्नेहं भक्तितो मुनिम् ॥१०९
त्वं मे प्राणसमो मित्रः पात्रं मामद्य कृतार्थय । फलवत्स्याच्च राज्यं भुक्त्यर्थं गृहमाव्रज ॥११०
मुनिराह पुनश्चारु यदुक्तं जिनशासने । उद्दिष्टं भोजनं नार्हं महाव्रतभृतां प्रभो ॥१११
अलाभो मेऽद्य सञ्जात इति बुध्यन्मुनीश्वरः । क्षमयित्वा धरानाथं गच्छति स्म वनं लघु ॥११२
तदा पौरजनानाह राजेति श्रृणुत प्रजाः । अयं यतीश्वरः साधु पात्रं मे सज्जनस्तथा ॥११३
दत्ते योऽस्मै गृही भुक्तिं तज्जन्म सफलं भवेत् । पारणाहेऽतएवाऽस्मै दाताऽस्म्यन्यो न कश्चन ॥११४
मासे गते पुनर्भुक्त्यै प्रविवेश पुरीं यदि । तदा राज्ञा न दृष्टोऽसौ लोकैर्दृष्टोऽप्यनादृतः ॥११५
मन्यमानो महालाभं पापकर्मनिवर्हणम् । व्याघुट्य स वनं गत्वा पुनर्मासतपोऽग्रहीत् ॥११६
एवं तृतीयवेलायां प्रमत्तं राजवारणम् । उपद्रवन्तं लोकानां दृष्ट्वा व्याघुटितो मुनिः ॥११७

तरह इन विषयोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। हे राजेन्द्र ! सर्पके शरीरके समान विषयादिकोंको, चरणोंकी धूलके समान राज्यको और धनको बहुधा निधन (मरण) रूप समझकर कौन ऐसा मूर्ख होगा जो इन विषयादिमे मोह करेगा ? ॥१०७॥ हे नरेश्वर ! मै तेरे प्रसादसे छिद्र रहित तपरूपी नावमें बैठकर अत्यन्त दुर्ल्लंघ्य इस संसार समुद्रके पारको प्राप्त होऊंगा ॥१०८॥ इतना कहकर जब मुनिराज चुप हो रहे उसी समय महाराज सुमित्र स्नेह-पूर्वक मुनिराजसे इस तरह प्रार्थना करने लगे ॥१०९॥ हे मुनिराज ! आप मेरे प्राणोंके समान मित्र हैं इसलिये मुझ सरीखे दीन पात्रको कृतार्थ करो। और तब ही यह मेरा राज्य सफल होगा इस कारण भोजनार्थ मेरे घरको चलो ॥११०॥ सुमित्रके इस तरहके वचनोंको सुनकर मुनिराज फिर बोले—हे राजन् ! जिन भगवान्ने महाव्रतके धारण करनेवाले यतीश्वरोंके लिये उद्दिष्ट भोजन अयोग्य बताया है ॥१११॥ इसी कारण आज हमारे लिये भोजनका अलाभ है, ऐसा जानकर राजाको क्षमा करके वे मुनि शीघ्रतासे वनको चले गये ॥११२॥ जब राजाने देखा कि मुनिराज चले गये तब सम्पूर्ण पुरवासी लोगोंको राजाने कहा। हे प्रजाके लोगो ! मै कुछ कहना चाहता हूँ उसे तुम सुनो। ये मुनिराज सुषेण अत्यन्त उत्कृष्ट पात्र है तथा मेरे प्राणोंके समान मित्र है ॥११३॥ इसलिये जो गृहस्थ इनके लिये आहार दान देता है उसका जन्म सफल होता है। इस कारण आपसे मै प्रार्थना करता हूँ कि इनके पारणाके समय मै ही दाता हूँ और कोई इन्हें दान न दे। अर्थात्—ये मेरे अत्यन्त प्राणप्रिय मित्र हैं इसलिये इन्हें आहार मैं ही देऊँगा आप लोग न दें ॥११४॥

जब मुनिराज राजाके पाससे लौटकर वनमें चले गये वहाँ फिर एक महीनेके उपवासकी प्रतिज्ञा ले ली। जब मास पूर्ण हुआ तब फिर मुनिराज आहारके लिये नगरमें आये। उस समय राजाने मुनिराजको नहीं देखे और पुरके लोगोंने देखे भी थे परन्तु उन्होंने आहार नही दिया क्योंकि राजाकी आज्ञा ही ऐसी थी ॥११५॥ यद्यपि मुनिराजको आहार नहीं मिला तो भी परिणामोंको किसी प्रकार विचलित न करके उल्टी पापकर्मोंकी निर्जरा होनेसे बड़ा भारी लाभ समझकर वे वनमें चले गये और फिर भी एक महीनेके उपवासकी प्रतिज्ञा ले ली ॥११६॥ इसीतरह एक महीनेके पूर्ण होनेपर मुनिराज फिर भी आहारके लिये नगरमें आये। परन्तु अबकी बार उन्होंने देखा कि राजाका एक उन्मत्त हाथी पुरके लोगोंको त्रास दे रहा है इसे देखकर फिर भी मुनि वनको जाने लगे ॥११७॥ जब लोगोंने देखा कि मुनिराज आहारके विना ही फिर वनको

व्याघुटन्तं तमालोक्य प्रोवाचाऽध्वनि कश्चन । हा हा किं कृतमेतेन राज्ञा नाऽस्येदृशं हितम् ॥११८

राज्यचिन्ताऽऽकुलो राजा स्वयं दत्ते न भोजनम् ।
अस्मै निवारिताः सर्वे नागरा ददतोऽपि च ॥११९

इति श्रुत्वा वचस्तस्य तपःक्षीणो व्रती पथि । क्रोधेन कम्पमानाङ्गः सहसा स्खलितस्तदा ॥१२०
मारयेयं पुरो भूपं यद्यस्ति तपसः फलम् । कृत्वा निदानमीदृक्षं मृत्वाऽसौ व्यन्तरोऽभवत् ॥१२१
महाफलं तपः कृत्वा निदानं योऽकरोन्मुनिः । तुषखण्डेन विक्रीतं रत्नं तेन जडात्मना ॥१२२
श्रुत्वा कोलाहलं राजा तदा नागरिकैः कृतम् । मुमुक्षोर्मृतिमाबुध्येत्यात्मानं निन्दति स्म सः ॥१२३

मुनिदानं मया हा ! हा ! विस्मृतं राज्यचिन्तया ।
पापात्मना जना अन्ये निषिद्धा हन्त किं कृतम् ॥१२४

तपो विना कथं पापं क्षपाम्येतद्विचिन्तयन् । राज्यं त्यक्त्वा तपोऽग्राहि तेन जैनं महात्मना ॥१२५
कियत्कालं तपः कृत्वा सोढ्वाऽनेकपरीषहान् । मृत्वा व्यन्तरराजोऽभूत्पाकतो निजकर्मण. ॥१२६
आयुरन्ते ततश्च्युत्वा ह्युपश्रेणिकभूपतेः । इन्द्राण्याश्च सुतोऽभूस्त्वं श्रेणिकः साम्प्रतं नृपः ॥१२७
सूरवीरेण या दृष्टा रुदन्ती यक्षिका वटे । क्रमशश्चेलनां विद्धि तां जातां निजभामिनीम् ॥१२८

लौट रहे हैं तब कितने लोग मार्गमें यों कहने लगे । हाय ! हाय ! इस राजाने क्या अनर्थ किया जो ऐसे कठिन तप करनेवाले मुनिके लिए न तो आप आहार देता है और न दूसरे लोगोंको देने देता है । क्या यह बात इसके लिए योग्य है ? ॥११८॥ राज्यकी चिन्ताओंसे आकुल होकर न तो आप मुनिराजको आहार देता है और जो विचारे पुरवासी लोग देना चाहते हैं उन्हें भी मना कर दिया है ॥११९॥ तपसे अत्यन्त कृश शरीरको धारण करनेवाले उन मुनिने जब मार्गमें लोगोंके ऐसे वचनोंको सुना, तब उसी समय उनका शरीर क्रोधसे धूजने लगा और वे शीघ्र ही पृथ्वी पर गिर पड़े ॥१२०॥ पृथ्वीपर गिरते ही मुनि बोले कि यदि तपका कुछ भी फल है तो अगले भवमें इस राजाको मारूँ । इस प्रकार अपने आत्मस्वभावको घात करनेवाले निदानको करके मरे और मरकर व्यन्तर देव हुए ॥१२१॥ बहुत फलको देनेवाले तपको करके सुषेण मुनिने जो निदान किया, समझो कि उस दुर्बुद्धिने तुषखंडको लेकर रत्नको बेंच दिया ॥१२२॥ मुनिके मरनेका पुरवासी लोगोंमें बड़ा कोलाहल हुआ । उसके सुननेसे राजाको मालूम हुआ कि मेरे आहारके न देनेसे मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनिराजकी मृत्यु हो गई है । ऐसा समझकर राजाने अपने आत्माकी बहुत निन्दा की ॥१२३॥ हाय ! हाय !! मुझ पापीने बड़ा अनर्थ किया जो राज्य सम्बन्धी कार्यमें फँसकर मुनिराजको दान देना भूल गया । इतना ही नहीं, किन्तु जो लोग बिचारे आहार देना चाहते थे उन्हें भी मैने मना कर दिया । हाय ! हाय ! यह मैंने क्या अनर्थ किया है ॥१२४॥ महाराज सुमित्रने इस महापापके घोर फलसे भयभीत होकर सोचा कि इस पापको तपके विना कभी नाश नहीं कर सकता, ऐसा विचार करके उसी समय महात्मा सुमित्रने सम्पूर्ण राज्यभारको छोड़कर जिन भगवान्‌के शासनके अनुसार तपको ग्रहण किया ॥१२५॥ मुनिराज सुमित्र कितने काल पर्यन्त घोर तपश्चरण करके और अनेक दु.सह परीषहोंको शान्त भावसे सहन करके इस विनश्वर शरीरको छोड़कर अपने किये हुए कर्मोंके फलसे व्यन्तर देवोंके इन्द्र हुए ॥१२६॥ आयुके पूर्ण होनेपर व्यन्तर पर्यायसे निकलकर उपश्रेणिक राजा और उसकी इन्द्राणी नामकी राणीके श्रेणिक नामक तूँ पुत्र हुआ है और इस समय राजा है ॥१२७॥ और

यः सुषेणचरो भौमो निदानी वर्ततेऽमरः । कोणिकाख्याङ्गजस्ते द्विट् चेलनाया भविष्यति ॥१२९
सामर्थ्यं प्राप्य राज्यं ते स ग्रहीता प्रतापिकः । शस्त्रपञ्जरमध्ये च क्षिप्त्वा त्वां मारयिष्यति ॥१३०
ततस्त्वं यास्यसि श्वभ्रमाद्यं सीमन्तसंज्ञकम् । भुक्त्वा दुःखं कियत्कालमत्राद्यो भविता जिनः ॥१३१
इति श्रुत्वा नराधीशो भूतभाविभवावलीम् । आत्मीयां सम्मदाश्रूणि मुमोचेति वितर्कयन् ॥१३२
जीवस्त्वनाद्यपेक्षातो नरकेऽनन्तशो गतः । बहुदुःखप्रदे पापान्महारौरवनामनि ॥१३३
स धन्यो नरकावासो यस्मान्निर्गत्य तीर्थकृत् । भविष्यामि शिरोघात इवाऽन्धस्य निधानदृक् ॥१३४
भिल्लः खदिरसाराख्यः सौधर्मे विबुधस्ततः । सुमित्रनृपतिर्भौमः श्रेणिको नारको जिनः ॥१३५
सूरवीराभिधानेशः सौधर्मप्रभवोऽमरः । मंत्रिपुत्रः सुषेणाऽऽख्यो व्यन्तरः कोणिको नृपः ॥१३६

इति पिशितनिवृत्तिफलं निवेदितं तव पुरः समासेन ।
अधुना मधुनाहृत्यं यथा तथा श्रृणु नराधीश ॥१३७

मक्षिकाबालकाण्डोत्थमत्युच्छिष्टं मलाविलम् । सूक्ष्मजन्तुगणाकीर्णं तन्मधु स्यात्कथं वरम् ॥१३८
ग्रामान्द्वादश कोपेन यो दहेदिति लौकिकम् । ततोऽधिकतरः पापः स यो हन्त्यत्र माक्षिकम् ॥१३९

सूरवीरने वटवृक्षके नीचे जो रोती हुई उस यक्षिणीको देखी थी । हे राजन् ! उसे क्रमसे यहाँ उत्पन्न हुई चेलना नामकी अपनी रानी समझो ॥१२८॥ और निदानका करनेवाला वह सुषेण मुनि जो इस समय व्यन्तर देव है वही तुम्हारा कोणिक नामक पुत्र होगा । परन्तु वास्तवमें उसे तुम अपना शत्रु समझो ॥१२९॥ तुम्हारे राज्यका ग्रहण करनेवाला और प्रतापवान् वह कोणिक, राज्य सामर्थ्यको पाकर तुम्हे शस्त्रोंके पीजरेमें बन्द करके मारेगा ॥१३०॥ इसके बाद मरकर तुम सीमन्त नामक पहले नरकमें जाओगे । कितने काल पर्यन्त नरकोंके दुःखोको भोगकर इसी भरत क्षेत्रमें पहले महापद्म नामक तीर्थकर होओगे ॥१३१॥ महाराज श्रेणिक इस तरह अपनी बीती हुई और आगे होनेवाली संसार परम्पराको सुनकर नेत्रोंसे आनन्दाश्रु छोड़ते हुए यो विचारने लगे ॥१३२॥ यह जीव अनादि कालकी अपेक्षासे पाप कर्मोके उदयसे घोर दुःखोंके देनेवाले नरकमें अनन्त बार गया है । और वहाँ असह्य दुःखोको भोगे है ॥१३३॥ वह नरकमे भी जाना अच्छा है जहाँसे निकल कर तीर्थकर होऊँगा । यह तो यों समझना चाहिये कि किसी अन्धेके मस्तकमे एक ओरसे चोट लगी और दूसरी ओर उसे खजाना दीख गया ॥१३४॥

जो खदिरसार भिल्ल था वह सोधर्म स्वर्गमे देव हुआ, इसके बाद सुमित्र नामक राजा हुआ, पश्चात् व्यन्तर देव हुआ फिर तुम श्रेणिक हुए हो । अब यहाँसे प्रथम नरकमे उत्पन्न होओगे और वहाँसे प्रथम तीर्थकर होओगे ॥१३५॥ जो सूरवीर था वह पहले तो व्रतके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ वहाँसे निकल कर सुषेण नाम मन्त्रिपुत्र हुआ । सुषेण इसी पर्यायमे मुनि होकर निदानके फलसे व्यन्तर देव हुआ । वहाँसे आकर कोणिक राजा हुआ है ॥१३६॥ हे राजन् । इस प्रकार मासके त्यागनेसे जो फल हुआ उसे संक्षेपसे तुम्हारे सामने हमने कहा । इस समय जिस प्रकार मधुके छोड़नेमें प्रवृत्ति हो उसी प्रकार मधुके दोषोंका वर्णन किया जाता है ॥१३७॥ जो मधु मक्खियोंके छोटे-छोटे बच्चोंसे उत्पन्न होता है, जो एक तरहसे जीवोंका उच्छिष्ट है, जो मलादि अपवित्र पदार्थोसे युक्त होता है, और जिसमें जन्तुओंके समूहके समूह रहते हैं वह मधु भक्षणके योग्य कैसे हो सकता है ? ॥१३८॥ यह लौकिक कहावत है—जो क्रोधसे बारह ग्रामोंको जलावे, कहीं उससे भी अधिक पाप उन्हे लगता है जो पुरुष मक्षिकाओंके स्थानका घात करने

मक्षिका कुरुते यत्र विष्टां तत्स्याद्घृणास्पदम् । तन्मयं मधु यस्यात्र लेह्यं तच्चरितं महत् ॥१४०
तदेकबिन्दुशः खादन्नघं बध्नाति यो नर. । सप्तग्रामीं दहन्पापं यत्ततोऽप्यधिकं हि तत् ॥१४१
यत्र सम्मूर्च्छिनः सूक्ष्मास्त्रसाः स्थावरका अपि । जायन्तेऽन्तर्मुहूर्त्तेन म्रियन्ते तत्कथं हितम् ॥१४२
मधुभक्षणतो हिंसा हिंसातः पापसम्भवः । ततः श्वभ्रादिजं दुःखं हेतोस्तत्त्यजताद् गुणी ॥१४३
मधुवन्नवनीतं च वर्जनीयं जिनागमे । यत्राऽर्द्धप्रहरादूर्ध्वं जायन्ते भूरिशस्त्रसाः ॥१४४
उदुम्बरवटप्लक्षफल्गुपिप्पलजानि च । फलानि पञ्चबोध्यान्युदुम्बराख्यानि धीमताम् ॥१४५
प्रत्यक्षं यत्र दृश्यन्ते वादरा बहवस्त्रसाः । स्थावराः सन्ति सूत्रोक्तास्तत्त्याज्यं फलपञ्चकम् ॥१४६
पलभुक्षु दया नास्ति न शौचं मद्यपायिषु । उदुम्बराशिषु प्रोक्तो न धर्मः सौख्यदो नृषु ॥१४७
मद्यत्यागव्रती सर्वं त्यजेत्सन्धानकं त्रिधा । पुष्पितं काञ्जिकं चासौ मथितादि द्व्यहोषितम् ॥१४८
दृतिप्रायेषु भाण्डेषु गतं स्नेहजलादिकम् । हिंगुक्वथितमन्नादि वोधा मांसव्रते मताः ॥१४९
प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्नाञ्जनाय मधु स्पृशेत् । मधत्यागव्रती सोऽयं प्रोक्तस्तु परमागमे ॥१५०

हैं ॥१३९॥ मक्खियाँ जहाँ विष्टा करती है वह जगह वास्तवमें ग्लानिके पैदा करनेका स्थान होती है तो उसी विष्टा स्वरूप मधुको जो लोग अच्छा और सेवनके योग्य बताते है उन पापी पुरुषोंका चरित्र हम कहाँ तक वर्णन करें ॥१४०॥ ऐसे अपवित्र मधुकी एक बिन्दुमात्रका खाने वाला पुरुष जितना पाप उपार्जन करता है वह पाप सात ग्रामोंके जलाने वालेके पापसे भी अधिक पाप है ॥१४१॥ जिस मधुमें सम्मूर्च्छन (अपने आप उत्पन्न होने वाले) सूक्ष्म, त्रस तथा स्थावर जीव उत्पन्न हो जाते हैं और अन्तर्मुहूर्तमें मर जाते है वह मधु कैसे उत्तम समझा जाय ? ॥१४२॥ मधुके भक्षण करनेसे पहले तो जीवोंकी हिंसा होती है, हिंसासे पाप कर्मोका बन्ध होता है और पापके फलसे नरकोंमे घोर दुखोंकी वेदनाएँ सहन करनी पड़ती है। इसलिये इस मधुके भक्षणको उत्तरोत्तर दुखोंका कारण समझ कर उसके छोड़नेमें विलम्ब नही करना चाहिये ॥१४३॥ महर्षि लोगोंका उपदेश है कि जैन शास्त्रोंमें जिस तरह मधुके त्यागनेका उपदेश है उसी तरह नवनीत (मक्खन) के भी छोड़नेका उपदेश है। क्योंकि नवनीतमे आधे प्रहरके ऊपर अनेक त्रस जीव पैदा हो जाते हैं ॥१४४॥ उदुम्बर वृक्ष, वटवृक्ष, प्लक्षवृक्ष, कठूमर वृक्ष और पिप्पल वृक्ष इनसे उत्पन्न होनेवाले पाँच उदुम्बर फल है। ऐसा बुद्धिमानोको जानना चाहिए ॥१४५॥ जिन पञ्च उदुम्बर फलोंमें आँखोंके सामने असंख्याते बादर और त्रस जीव देखे जाते है तथा स्थावर तो कितने हैं उनकी तो हम गणना ही नहीं कर सकते, उनका जिस तरह जिन भगवान्के शास्त्रों- में वर्णन किया है उसी तरह श्रद्धान करना चाहिये। ये पञ्चोदुम्बर फल जीवोंकी राशि है इसलिये इन्हे छोड़ना चाहिये ॥१४६॥ जो लोग मासके खाने वाले है उनमे कभी दयाका लेश भी नही हो सकता। जो लोग मदिराके पीने वाले हैं उनमे शौच (पवित्रता) की कभी स्वप्नमें भी संभावना नहीं कर सकते। तथा जो लोग पञ्चोदुम्बर फलके खाने वाले है उन पुरुषोंमें सुखको देनेवाला धर्म कभी देखनेमें नही आवेगा ॥१४७॥ मदिराके त्यागी पुरुषोंको मन वचन कायसे सन्धानक (सर्व प्रकारके अचार वगैरह), पुष्पित (जिन पदार्थों पर फूलन चढ़ गई हो), काञ्जी, तथा दो दिनके बादका तक्र (छाछ) दही इत्यादि पदार्थो नहीं खाना चाहिये ॥१४८॥ जो लोग मांसके त्यागी है उन्हें चमड़ेके भाजनादिकोंमें रखे हुए तैल, जल, हींग, काढा, अन्न आदि पदार्थों- का सेवन नहीं करना चाहिये ॥१४९॥ जो लोग मधुके त्यागी हैं उन्हे बहुधा करके पुष्प नहीं खाने चाहिये तथा अञ्जनके लिये मधुका स्पर्श तक भी नही करना चाहिये ॥१५०॥ जो लोग पञ्चो-

अज्ञातफलमद्यान्नो नाऽशोधितफलानि च । शिम्बीवल्लादिकान्येषु नो पञ्चोदुम्बरव्रती ॥१५१
मद्यादिस्पृष्टभाण्डेषु पतितं भोजनादिकम् । नाऽद्यात्तद्विक्रियादीनि न कुर्यात्सद्व्रतान्वितः ॥१५२
मद्यादिभक्षिकानारीर्न रमेत च तद्व्रती । तद्भक्ष्यकृन्नरादीनां स्पर्शने भोजनं त्यजेत् ॥१५३
अन्येऽपि ये त्वतीचारा मद्यादीनां जिनागमे । गुरूपदेशतो ज्ञात्वा त्याज्यास्तेऽपि मनीषिभिः ॥१५४
आप्तपञ्चनुतिर्जीवदया सलिलगालनम् । त्रिमद्यादिनिशाहारोदुम्बराणां च वर्जनम् ॥१५५
अष्टौ मूलगुणानेतान्केचिदाहुर्मुनीश्वराः । तत्पालने भवत्येष मूलगुणव्रतान्वितः ॥१५६
द्विमुहूर्तात्परं वार्यगालनं गालनव्रते । कुवस्त्रगालनं नाऽचर्यः शिष्टन्यासोऽपरत्र च ॥१५७
दिवाद्यन्त्ये मुहूर्तेऽपि रात्रिभोजनवर्जिनः । रोगच्छेदे घृताम्रादिभक्षणे तस्य दुष्यति ॥१५८
द्यूतक्रीडा पलं मद्याऽऽखेटस्तेयपर स्त्रियः । वेश्येति व्यसनान्याहुर्दुःखदानीह योगिनः ॥१५९
द्यूताद्राज्यविमुक्तोऽभूद्विख्यातो धर्मनन्दन. । पलाद्बकनृपोऽधोऽगाद्यादवा मद्यतः क्षताः ॥१६०
ब्रह्मदत्तोऽभवद् दु खी मज्जित्वाऽऽखेटतोऽर्णवे । भूत्वाहि. पतितो वह्नौ स्तेयाच्छ्रीभूतिवाडवः ॥१६१

दुम्वर फलके त्यागी है उन्हें अजान फल नही खाने चाहिये । तथा उसी तरह नहीं शोधे हुए (नही बिदारे हुए) सुपारी आदि फल, शिम्बीफल, वल्ला आदि फल नही खाने चाहिये ॥१५१॥ जिन पुरुषोंको मदिरा, मांस, मधु आदि पदार्थोंका त्याग है उन्हे मदिरा आदि अपवित्र पदार्थोंके स्पर्श वाले बरतनोंमें रखा हुआ भोजन नही करना चाहिये और न इन वस्तुओंका व्यापार करना चाहिये ॥१५२॥ मद्य मांसादिकी खाने वाली स्त्रियोंके साथ मदिरा आदि पदार्थोंके छोड़ने वाले पुरुषोंको विषय सेवन नहीं करना चाहिये । तथा मदिरा मांसादि खाने वाले पुरुष यदि भोजनका स्पर्श कर ले तो उसी समय भोजन छोड़ देना चाहिये ॥१५३॥ मद्य मांसादिके इनके सिवाय और भी अतिचार जिन भगवान्ने कहे है उन्हे गुरुपरम्पराके उपदेशसे समझ कर त्यागना चाहिये ॥१५४॥ देववन्दना, जीवोंकी दया पालना, जलका छानना, मदिराका त्याग, मांसका त्याग, मधुका त्याग, रात्रि भोजनका त्याग तथा पाँच उदुम्बर फलका त्याग ये भी आठ मूल गुण है ॥१५५॥ कितने ही मुनीश्वर ये उक्त आठ मूल गुण कहते है और इन्हीका पालन करनेवाला मूल गुणोसे युक्त कहा जाता है ॥१५६॥ दो मुहूर्त्तके बाद जलका नही छानना, मलिन वस्त्रसे जलका छानना, जिस छन्नेसे जल छाना गया था उसके बाकीके जल (जिवाणी) को पृथ्वी आदिके ऊपर डाल देना अथवा जिस जलाशयका वह जल है उसकी जिवाणीको उसी जलाशयमें न डाल कर किसी दूसरे स्थान पर डाल देना ये जल गालनव्रतके अतीचार है ॥१५७॥ जिन पुरुषोके रातमें भोजन करनेका त्याग है उन्हे दिनके पहले मुहूर्त्तमे और अन्तके मुहूर्त्तमें रोगादिकोके दूर करनेके लिये भी घृत आम आदि वस्तुओंका भक्षण नही करना चाहिये क्योंकि उस समय इन वस्तुओंका भक्षण रात्रिभोजन त्याग व्रतमें दोषका उत्पन्न करनेवाला है ॥१५८॥

जूआका खेलना, मांसका खाना, मद्यका पीना, शिकारका खेलना, चोरीका करना, परस्त्री-का सेवन करना और वेश्याका सेवन करना ये सातों व्यसन दुःखोंके देनेवाले हैं ऐसा मुनिलोग कहते हैं ॥१५९॥ जूआके खेलनेसे युधिष्ठिर महाराजको अपने राज्यसे भ्रष्ट होना पड़ा । मांसके खानेसे बक नामक राजाको नरकका वास भोगना पड़ा । मदिराके पीनेसे यादव लोग नष्ट हुए ॥१६०॥ शिकारके खेलनेसे ब्रह्मदत्त समुद्रमें डूबकर अनेक प्रकारके दु.खोंको भोगने वाला बना । चोरीके करनेसे शिवभूति ब्राह्मण सर्प होकर अग्निमें गिरा ॥१६१॥ परस्त्रीके दोषसे तीन

वशास्योऽङ्गनादोषान्मृत्वाऽगाद्वालुकाप्रभाम् । धनं भुक्त्वाऽन्वभूद्दुःखं वेश्यातश्चारुदत्तकः ॥१६२
एकैकव्यसनेनेत्थं जीवोऽमुत्रेह दुःखितः । सर्वाणि सेवमानः को दुःखी स्यान्न महानपि ॥१६३
होडाद्यपि विनोदार्थं मनसो द्यूतवर्जिनः । दूषणं द्वेषरागौ हि भवन्तौ पापकारणम् ॥१६४
मुद्राचित्राम्बराद्येषु न्यस्तपाणिभिवाविकम् । कुर्यान्न मुक्तपापर्द्धिस्तज्जनेऽपि हि निन्दितम् ॥१६५
न गृह्णीयाद्धनं जोवदायादाद्राजतेजसा । नापह्नुवीत दायं वा चौर्यव्यसनशुद्धिभाक् ॥१६६
अन्यस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिसमीहकः । कुमारीरमणं मुञ्चेद्गान्धर्वादिविवाहकम् ॥१६७
वेश्यात्यागी त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं कुसङ्गतिम् । वृथा भ्रमणमेतस्याः सद्मादिगमनादि च ॥१६८
योऽयं दर्शनिकः प्रोक्तः स चातीचारगः स्थिरः । स्वाचारे क्वचन स्यात्तत्पाक्षिकः परमार्थतः ॥१६९
तद्वत्सव्रतिकादिश्च दाढर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन् । प्राप्नोति पूर्वमेवार्थात्पदं नैव तदुत्तरम् ॥१७०
अनारम्भं वधं चोज्झेदारम्भं नोत्कटं चरेत् । स्वाचाराऽप्रातिकूल्येन लोकाचारे प्रवर्त्तयेत् ॥१७१
निःपादेयत्तमां भार्यां धर्मे स्नेहं परं नयन् । सा जडा विपरीता वा धर्मात्पातयते नृणाम् ॥१७२

खंडका स्वामी रावण मर करके बालुकाप्रभा नाम तीसरे नरकमें गया। वेश्याके सेवन करनेसे बत्तीस करोड़ दीनारके स्वामी चारुदत्तने अनेक दुःखोंको भोगा ॥१६२॥ देखो ! एक एक व्यसनोंके सेवनसे जो-जो दुःखी हुए है उनके उदाहरण नेत्रोंके सामने हैं। जो सातों व्यसनोंके सेवन करनेवाले हैं उनकी क्या दशा होगी यह हम नहीं कह सकते ॥१६३॥ जो लोग जूआके खेलनेका त्याग किये हुए हैं उनके लिये अपने मनके विनोदके अर्थ शर्त्त आदिका लगाना भी दूषणका स्थान है। क्योंकि इससे होने वाले जो रागद्वेष हैं वे केवल पाप बन्धके ही कारण होते हैं ॥१६४॥ जिन पुरुषोंको शिकारके खेलनेका त्याग है उन्हें मुद्रा (सिक्का), वस्त्र, भित्ति, काष्ठ आदिके ऊपर लिखे हुए चित्रोंके हाथ पाँव आदि नही तोड़ने चाहिये। क्योंकि उनको विनष्ट करना भी लोक निन्दित है ॥१६५॥ जिन लोगोंको चोरीका त्याग है उन्हे चाहिये कि वे अपने कुटुम्बमें भाई बन्धु आदि जो लोग हैं उनसे राज्यादिके तेजसे धनको नही छीने और न धनको छिपावे ॥१६६॥ जो दूसरोंकी स्त्रियोंके साथ विषयादिके करनेका त्याग किये हुए है उन्हें चाहिये कि वे बालिका (अविवाहिता) के साथ रमण न करें तथा गान्धर्व विवाहादिक भी उन्हें नहीं करना चाहिये ॥१६७॥ वेश्या त्याग व्रतीको गीत, वाद्य और नृत्य इनमें आसक्ति तथा खोटे पुरुषोंकी संगति नही करनी चाहिये। तथा व्यर्थ भ्रमण और वेश्याओंके यहाँ गमन भी नही करना चाहिये ॥१६८॥ दर्शन प्रतिमाके धारण करनेवालेके व्रतोंमें कभी-कभी अतिचार लगता रहता है इसलिये वास्तवमें उसे पाक्षिक श्रावक ही कहना चाहिये ॥१६९॥ जिस तरह दर्शन प्रतिमाके धारण करनेवालोंके व्रतोंमें कभी-कभी अतीचार लगते हैं उसी तरह व्रतप्रतिमा आदि प्रतिमाओंके धारण करनेवालोंके व्रतोंमें अतीचार लगनेसे उन्हें भी जिस प्रतिमामें अतीचार लगा है उसके पूर्वकी प्रतिमाके धारण करने-वाले कहना चाहिये। वे लोग उत्तर प्रतिमाके धारक कभी नहीं कहे जा सकते ॥१७०॥ कृषि आदिक जिन कार्योंमें जीवोंकी बहुत हिंसा होती है उन्हें छोड़ना चाहिये और ऐसा कोई प्रचुर आरंभ भी नहीं करना चाहिये जिसमें जीवोंकी बहुत हिंसा होती हो। तथा लोकाचार (स्वामीसेवा, क्रय, विक्रय आदि) इस तरहसे करना चाहिये जिसमें अपने व्रतादिमें किसी तरहकी बाधा न आवे ॥१७१॥ अपनी स्त्रीके साथ बहुत प्रेम करता हुआ उसे धर्ममें अत्यन्त दृढ़ करे। क्योंकि यदि स्त्री निरी मूर्खा होगी अथवा अपने विचारोंसे विरुद्ध होगी तो समझिये कि निश्चयसे मनुष्यको

पत्युः स्त्रीणामुपेक्षैव वैरभावस्य कारणम् । लोकद्वयं हितं वाञ्छंस्तदपेक्षेत तां सदा ॥१७३
नित्यं पतिमनीभूय स्थातव्यं कुलस्त्रिया । श्रीधर्मशर्मकीर्त्तीनां निलयो हि पतिव्रता ॥१७४
अयेत्कायमनस्तापशमान्तं भुक्तिवत्स्त्रियम् । नश्यन्ति धर्मकामार्थास्तस्याः खल्वतिसेवया ॥१७५
यत्नं कुर्वीत तत्पत्न्यां पुत्रं जनयितुं सदा । स्थापयितुं सदाचारे त्रातुं च स्वमिवापथात् ॥१७६
सदपत्ये गृही स्वीयं भार दत्वा निराकुलः । सुशिष्ये सूरिवत्प्रीत्या प्रोद्यमेत परे पदे ॥१७७

तापापहान् श्रीजिनचन्द्रपादानाश्रित्य धर्मे प्रथमे कियन्तम् ।
कालं स्थिरीभूय विरज्य भोगान्मेधाविकोऽयं व्रतिकः पुनः स्यात् ॥१७८

वह धर्मसे च्युत कर देगी ॥१७२॥ पति द्वारा स्त्रियोंकी उपेक्षा ही तो आपसमें वैरका कारण हो जाती है इसलिये जिन्हे अपने दोनों लोक सुधारना है उन्हे चाहिये कि वे सदा स्त्रियोंकी अपेक्षा करें ॥१७३॥ जो अच्छे कुलकी स्त्रियाँ है उन्हे चाहिये कि वे निरन्तर अपने स्वामीके अनुसार चलें, क्योंकि जो पतिव्रता स्त्रियाँ होती है वे धर्म, सुख और कीर्त्ति इनका प्रधान स्थान होती हैं ॥१७४॥ जब तक क्षुधाकी बाधा शान्त नही होती है तभी तक भोजन किया जाता है। क्षुधाकी बाधाके मिट जाने पर भी जो लोग लोलुपतासे अधिक भोजन कर लेते है उन्हे सिवाय दुःखके और कुछ नही होता। उसी तरह जब तक शरीर और मनका ताप न मिटे तभी तक स्त्रीका सेवन करना चाहिये। क्योंकि इस नियमको छोड़ कर जो लोग निरन्तर स्त्रीका सेवन करते हैं उन लोगोंके धर्म अर्थ काम सभी नष्ट हो जाते है ॥१७५॥ श्रावकको चाहिये कि स्त्रीमें पुत्र होनेकी सदा चेष्टा करता रहे। तथा उस पुत्रको सदाचारमे लगानेके लिये तथा अपने समान कुमार्गसे रक्षण करनेके लिये भी प्रयत्न करना चाहिये ॥१७६॥ जिस तरह आचार्य अपने पट्टका भार किसी उत्तम शिष्यको देकर आप निराकुल हो जाते है उसी तरह गृहस्थ भी अपने सद्गुणी पुत्रको गृह सम्बन्धी सब भार प्रीति-पूर्वक देकर और सर्व तरहसे निराकुल होकर उत्कृष्ट पदकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील (उद्यमी) होवे ॥१७७॥ जो पुरुष इस संसार रूप भयकर तापके नाश करनेवाले श्री जिनदेवके चरण कमलोंका आश्रय लेकर और कितने काल पर्यन्त प्रथम धर्म (दर्शनप्रतिमा) में स्थिर रहकर पश्चात् विषय भोगादिसे विरक्त होता है मेधावी वह पुरुष इसके बाद व्रत-प्रतिमाका धारक कहा जाता है ॥१७८॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पंडितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे
दर्शनप्रतिमावर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकारः ॥ २ ॥

●

तृतीयोऽधिकारः

सदृग्मूलगुणः साम्यकाम्यया शल्यवर्जितः । पालयन्नुत्तरगुणान्निर्मलान्व्रतिको भवेत् ॥१
यैर्युक्तान्यव्रतानीव दुःखदानि व्रतान्यपि । सशल्यानि व्रती तानि हृदो निष्काशयेत्ततः ॥२
गोरसाभावतो नैव गोमान्गोभिर्यथा भुवि । तथा निःशल्यत्वाभावाद्व्रतैः स्यान्न व्रती जनः ॥३
निःशल्योऽस्ति व्रती सूत्रे सशल्यो व्रतघातकः । मायामिथ्यानिदानाख्यं त्रयं तत्त्यजतु त्रिधा ॥४
तत्राऽणुव्रतसंज्ञानि गुणशिक्षाव्रतानि च । पञ्चत्रिचतुराणीति स्युर्गुणा द्वादशोत्तरे ॥५
विरतिः स्थूलवधादेस्त्रियोगैः करणैस्त्रिधा । अननुमतैर्वा पञ्चाऽहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥६
अहिंसा सत्यकं स्तेयत्यागमब्रह्मवर्जनम् । परिग्रहपरीमाणं पञ्चधाणुव्रतं भवेत् ॥७
त्रसानां रक्षणं स्थूलदृष्टसंकल्पनागसाम् । निःस्वार्थं स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम् ॥८

सम्यग्दर्शन सहित मूलगुणोंका धारण करनेवाला, माया, मिथ्या और निदान इन तीन प्रकारकी शल्यसे रहित तथा रागद्वेषके नाशकी इच्छासे जो अतीचार रहित उत्तर गुणोंको पालन करता है उसे व्रतिक अर्थात् व्रत प्रतिमाका धारण करनेवाला होता है ॥१॥ जिस तरह अव्रत दुःखके देनेवाले हैं उसी तरह शल्य-सहित व्रत भी दुःखोंको देनेवाले होते हैं अतः उन्हें भी हृदयसे निकाल देना चाहिए ॥२॥ जिसके यहाँ दूध दही वगैरह तो नहीं है और गाएँ सैकड़ों बँधी हैं परन्तु वह केवल गायमात्रके होनेसे इस संसारमें गोवाला नहीं कहला सकता, उसी तरह जबतक माया मिथ्या आदि शल्यका अभाव न होगा तबतक चाहे उसके व्रत भले ही हो परन्तु वह व्रती नहीं कहला सकता। इसलिये व्रती पुरुषोंको शल्यके छोड़नेमे प्रयत्न करना चाहिए ॥३॥ जैन शास्त्रोमे शल्य-रहित पुरुषको 'निशल्यो व्रती' इस लक्षणके अनुसार व्रती (व्रतका धारण करनेवाला) कहा है। और शल्य-सहित पुरुषको व्रतका घात करनेवाला कहा है। इसलिये माया, मिथ्या और निदान इन शल्योंको मन, वचन और कायसे छोड़ना चाहिये ॥४॥ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह ये बाहर उत्तर गुण समझना चाहिए ॥५॥ स्थूलहिंसा, स्थूलअसत्य, स्थूलचोरी, स्थूलअब्रह्म, स्थूलपरिग्रह इनसे, मन वचन और कायसे न करना, न कराना तथा करनेको अच्छा न कहना, इस तरह विरक्त होनेको पाँच अणुव्रत कहते हैं। तथा सम्मतिको छोड़कर भी अणुव्रत होते हैं। भावार्थ—यह है जो गृहवाससे सर्वथा विरक्त हो गये है वे तो किसी कार्यमें भी अपनी सम्मति नहीं देते हैं। परन्तु जो गृहादिसे सर्वथा विरक्त नहीं है उन्हें पुत्रादिके विवाहादिमें अथवा किसी और गृहकार्यमें सम्मति देनी पड़ती है। जिनका सम्मतिके विना काम ही नहीं चलता उनके सम्मतिके रहनेपर भी अणुव्रत होते ही है। अर्थात् नवकोटिसे स्थूल पंच पापोंका त्याग उत्कृष्ट अणुव्रत हैं और छह कोटिसे त्याग मध्यम अणुव्रत है। हिंसादि एक पापका स्थूल त्याग जघन्य कोटिमें परिगणित है ॥६॥ स्थूल अहिंसा, सत्यका पालना, स्थूल चोरीका त्याग, स्थूल अब्रह्म (परस्त्री) का त्याग और क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, सोना, चाँदी आदि दश प्रकारके परिग्रहका प्रमाण करना ये पाँच अणुव्रत कहे जाते हैं ॥७॥ स्थूल-दृष्टि-गोचर होनेवाले और संकल्पपूर्वक अपराध नहीं करनेवाले त्रस जीवोंकी, तथा विना प्रयोजन

**यो मित्रेऽस्तंगते रक्ते विदध्याद्भोजनं जनः । तद्द्रोही स भवेत्पापः शवस्योपरि चाशनम् ॥२६
रात्रिभोजनपापेन दुर्गतिं यान्ति जन्तवः । रोगा दरिद्रिणः क्रूरा दृश्यन्ते तेऽपि तेन वै ॥२७
स्ववधं लक्ष्मणः प्राह मुञ्च मां वनमालिके । कार्ये त्वां लातुमेष्यामि देवादिशपथोऽस्तु मे ॥२८
पुनरुचे तयेतीशः कथमप्यप्रतीतया । ब्रूहि चेन्नैमि लिप्येऽहं रात्रिभुक्तेरघैस्तदा ॥२९
मातङ्गी चित्रकूटेऽभूद्रात्रिभुक्तिनिवृत्तितः । स्वभर्त्रा मारितोत्पन्ना नागश्री सागरात्मभूः ॥३०
पूर्वाह्णे भुज्यते देवैर्मध्याह्ने ऋषिपुङ्गवैः । अधमैर्दानवैः सायं निशायां राक्षसादिभिः ॥३१
वर्या भुञ्जन्त्येकशोऽह्नि मध्या द्विः पशवोऽपरे । ब्रह्मोद्यास्तद्व्रतगुणा न जानाना अहर्निशम् ॥३२**

समझना चाहिये। तथा उन लोगोको मुर्दोंके मृतक शरीरके ऊपर भोजन करनेवाला कहना चाहिये ॥२६॥ रात्रिमें भोजन करनेके पापसे जीव परभवमें दुर्गतिको जाते है। इस भवमें कितने रोगी, कितने दरिद्री, कितने महाभयंकर आकृतिको धारण करनेवाले क्रूर इत्यादि अनेक तरहके दु.खोंसे पीड़ित देखे जाते है ॥२७॥ जिस समय वनमाला नामकी कोई राजकुमारी लक्ष्मणके गुण तथा रूप सौन्दर्यादिके सुननेसे उनका मनमे पतिरूपसे अंगीकार कर लिया था। परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि अब लक्ष्मणका दर्शन मुझे न होगा तो उसने सोचा कि फिर मेरा भी इस जगमे जीना निस्सार है। ऐसा विचार कर उसने अपने मनमें मरणका निश्चय किया। एक दिन घरके लोगोकी वन-क्रीडाके बहानेसे आज्ञा लेकर वनमें गई। वहाँ रात्रिके समय और लोगोको निद्रामें अचेत छोड़कर आप किसी वृक्षकी शाखा पर अपने अन्तरीय वस्त्रकी फाँसी लटका कर मरना चाहा। यह सब चरित्र वहाँ आये हुए लक्ष्मणने देखा और सोचा कि यह मेरे ही विरहमे अपने प्यारे प्राणोंको शरीरसे जुदा करना चाहती है। ऐसा समझकर करुणा बुद्धिसे उसके पास आकर कहा—वनमाले ! यह अनर्थ मत कर, देख यह मै लक्ष्मण हूँ। वनमाला जैसा लक्ष्मणका कीर्त्तन सुना था उसीतरह उन्हें देख बहुत प्रसन्न हुई। क्रमसे यही बात उसके पिताको मालूम हुई। पिताने लक्ष्मणका सादर शहरमें प्रवेश कराकर उसके साथमे वनमालाका विवाह कर दिया। विवाहके कितने दिनों बाद जब रामचन्द्र लक्ष्मणने उस नगरसे जाना चाहा उसी समय वनमाला लक्ष्मणसे कहती है—हे प्राणनाथ ! मुझ अनाथिनीको यही अकेली छोडकर जो आप जानेका विचार करते हों तो मुझ विरहिणीका क्या हाल होगा ? मै आपको नही जाने दूँगी। तब लक्ष्मण ने कहा—हे वनमाले ! तुम मुझे छोडो, जाने दो, हमारे अभीष्ट कार्यके हो जानेपर मै तुम्हे लेनेके लिये अवश्य आऊँगा। यदि मै अपने वचनोंको पूरा न करूँ तो जो दोष हिंसादिके करनेसे लगता है उसी दोषका मै भागी होऊँ। इस बातको सुनकर वनमाला लक्ष्मणसे बोली—मुझे आपके आनेमे कुछ सन्देह है इसलिये आप यह प्रतिज्ञा करें कि यदि मै न आऊँ तो रात्रिभोजनके पापका भोगनेवाला होऊँ। इससे ज्ञात होता है कि रात्रि-भोजनमें कितना बड़ा पाप है ॥२८-२९॥

चित्रकूट पर्वत पर अपनी स्त्रीको किसी चंडालने रात्रिमे भोजनका त्याग कर देनेसे मार दिया, इसी रात्रि भोजनके त्यागके फलसे वह मातंगी सागरदत्त सेठकी नागश्री नामकी पुत्री हुई थी ॥३०॥ देवता लोग तो प्रात कालमे भोजन करते है, मध्याह्न कालमे साधुलोग आहार लेते हैं, नीचदानव लोग सायकालमे भोजन करते है और राक्षसादि रात्रिमे भोजन करते है ॥३१॥ उत्तम लोग तो दिनमें एक बार ही भोजन करते है, मध्यम श्रेणीके पुरुष दिनमें दो बार भोजन करते हैं और पशु तथा राक्षसादि लोग रात्रिभोजन त्याग व्रतके माहात्म्यको नही जानते हुए दिन

विवाद्यन्तमुहूर्त्तौ योऽस्ति त्यक्त्वा रात्रिवत्सदा । स्वजन्मार्द्धं नयन्सोऽत्रोपवासैर्वर्ण्यते कियत् ॥३३
वस्त्रेणातिसुपीनेन गालितं तत्पिबेज्जलम् । अहिंसाव्रतरक्षायै मांसदोषापनोदने ॥३४
अम्बुगालितशेषं तन्न क्षिपेत्क्वचिदन्यतः । तथा कूपजलं नद्यां तज्जलं कूपवारिणि ॥३५
तदर्द्धप्रहराद्दूर्ध्वं पुनर्गालितमाचमेत् । शौचस्नानादिकुर्याच्च पयसा गालितं विना ॥३६
अतिप्रसंगनिक्षेप्तुं वृद्धिं नेतुं तपस्तथा । व्रतसस्यव्रती भुक्तेरन्तरायानवेद्गृही ॥३७
बहुभिः कीटकाद्यैः संश्लिष्टमन्नं परित्यजेत् । मृतजीवैश्च जीवद्भिर्विवेक्तुं यन्न शक्यते ॥३८
आर्द्रचर्मास्थिमांसासृक्सुराविष्टाङ्गिहिंसनाम् । दृष्ट्वाऽऽहारं न भुञ्जीत व्रतशुद्धः कदाचन ॥३९
चर्मादिपशुपञ्चाक्षव्रतमुक्तरजस्वला-रोमपक्षनखादीनां स्पर्शनाद्भोजनं त्यजेत् ॥४०
श्रुत्वा मांसादिनिन्द्याह्वां मरणाक्रन्दनस्वरम् । वह्निदाहादिकोत्पातं न जिमेद्व्रतशुद्धये ॥४१
पलं रुधिरमित्यादीदृक्षं स्यादिति चिन्तनात् । व्रतिनो भोक्तुमर्हन्नो प्रत्याख्यातादनात्तथा ॥४२
तथा मौनं विधातव्यं व्रतिना मानवर्द्धनम् । वाग्दोषहानये द्वेधा कादाचित्कं सदातनम् ॥४३
भोजनं पूजनं स्नानं हवनं मूत्रणं तथा । आवश्यकं रतिं नार्या कुर्यान्मौनेन तद्व्रती ॥४४
हुंकारो हस्तसंज्ञा च भुक्तो भ्रूचापचालनम् । गृद्ध्यै पुरोऽनु च क्लेशो न कार्यो मौनधारिणा ॥४५

रात भोजन करते रहते है ॥३२॥ जो पुरुष रात्रि भोजनके समान दिनके आदि मुहूर्त तथा अन्तिम मुहूर्तको छोड़ कर भोजन करता है वह इस प्रकार अपने आधे जन्मको उपवाससे व्यतीत करता है, उस भव्यात्मा दयालुका हम कहाँ तक वर्णन करें ॥३३॥ अपने अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिये तथा मांसके दोषको नाश करनेके अर्थ अत्यन्त गाढे वस्त्रसे छाना हुआ जल पीना चाहिये ॥३४॥ जल छाननेके बाद जो उस छन्नेमें बाकी जल बचता है उसे जमीन वगैरह पर न डाले तथा कुँए-का जल नदीमें और नदीका जल कुँएमें भी न डाले ॥३५॥ तथा आधे प्रहरके बाद फिर जल छान कर पीने और शौच तथा स्नानादि विना छाने जलसे न करें ॥३६॥ आगे होने वाली दुरवस्थाके दूर करनेको, तथा तप बढ़ानेके अर्थ गृहस्थोंको चाहिये कि—व्रतरूप धान्यके ऊपर छिलकेके समान भोजनमें आने वाले अन्तरायोंको छोड़े ॥३७॥ अनेक मरे हुए तथा जीते हुए जीवोंसे युक्त जो अन्न हो और जिन्हें दूर करना शक्य न हो उस भोजनको कभी नहीं खाना चाहिये ॥३८॥ जो लोग व्रत करके शुद्ध हैं अर्थात् व्रतोंके धारण करनेवाले हैं उन्हें चाहिये कि—गीला चर्म, हड्डी, मांस, खून, मदिरा, विष्टा तथा जीव हिसा देखने पर आहार न करें ॥३९॥ चर्म आदि अपवित्र पदार्थ, पञ्चेन्द्री पशु, व्रत-रहित पुरुष, रजस्वला स्त्री तथा रोम, पक्ष, नख आदि पदार्थोंका स्पर्श होनेसे भोजन छोड़ देना चाहिये ॥४०॥ मांस, मदिरा, अस्थि, मरण, रोनेकी आवाज, वह्निदाह तथा उत्पात आदि सुननेके बाद, व्रतशुद्धि चाहने वालोको भोजन नही करना चाहिये ॥४१॥ भोजन करते समय यह अमुक भोज्य वस्तु मॉस, रुधिर, मदिरा, अस्थि आदिके सदृश है ऐसा स्मरण होते ही , व्रती लोगोंको भोजन नहीं करना चाहिये तथा त्यागी वस्तुके खाते समय उसके याद आते ही उसे तुरन्त छोड़ देना चाहिए ॥४२॥ व्रती पुरुषोको अपने वचन दोष दूर करनेके लिये कालकी अवधि तक अथवा जीवन-पर्यन्त इस तरह दो प्रकार मौन धारण करना चाहिये ॥४३॥ मौनव्रत धारण करनेवालोंको भोजन, जिन भगवान्का पूजन, स्नान, शौच, मूत्र आवश्यक (सामायिकादि षट्कर्म) और स्त्रियोंके साथ रमण ये सब कार्य मौन पूर्वक करना चाहिये ॥४४॥ मौनव्रतके धारण करने वालोंको भोजन करते समय लोलुपताके अर्थ हुँकार, हाथसे किसी प्रकारका संकेत, भ्रू आदि-को चलाना तथा क्लेश आदि नहीं करना चाहिये ॥४५॥ साधु पुरुष (मुनि) इसी मौन व्रतके

साधुर्मौनान्मनःशुद्धिं लभते शुक्लदायिनीम् । युगपद्वाक्यसिद्धिं च त्रैलोक्याणुगृहानुगाम् ॥४६
मौने कृते कृतस्तेन श्रुतस्य विनयो ह्यतः । तेन सम्प्राप्यते ज्ञानं केवलं केवलाच्छिवः ॥४७
उद्योतनं मखेनैकघंटादानं जिनालये । कादाचित्कालिके मौने निर्वाहः सर्वदातने ॥४८
सभ्यैः पृष्टोऽपि न ब्रूयाद्विवादे ह्यलीकं वचः । भयाद्द्वेषाद्गुरुस्नेहात्स्थूलं सत्यमिदं व्रतम् ॥४९
कुमारीभूगवालीकं वित्तन्यासापलापवत् । न सत्याणुव्रती ब्रूयाद्धिंसावत्प्राणिबाधनम् ॥५०
धर्मेण दूषितं वाक्यं स्वान्यापदि च यद्भवेत् । तत्सत्यमपि न ब्रूयात्सत्याणुव्रतधारकः ॥५१
धार्मिकोद्धरणे जैनशासनोद्धरणे तथा । कदाचित्प्राणिरक्षार्थमसत्यं सत्यवद्वदेत् ॥५२
तद्दोषाः पञ्च मिथ्योपदेशैकान्ताभिवादनम् । कूटलेखक्रियान्यासाहृती साकारमंत्रभित् ॥५३

प्रभावसे शुक्ल ध्यानको प्राप्त करानेवाली मन शुद्धि तथा तीन लोकमें अनुग्रह करनेवाली वचन शुद्धिको एक साथ प्राप्त होते है ॥४६॥ जिस पुरुषने मौनव्रत धारण किया है उसने मौनव्रत ही धारण नहीं किया है किन्तु इसके साथ ही श्रुत (शास्त्र) का भी विनय किया है। इसलिये मौनव्रत धारण करनेवाले नियमसे पहले लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानको प्राप्त करके फिर मोक्षको प्राप्त करते है ॥४७॥ जिन पुरुषोंने कालकी मर्यादा लिये मौनव्रत धारण किया है उन्हे जिन-पूजनादि उत्सव करके मौनव्रतका उद्योतन (उद्यापन) करना चाहिये। तथा जिनालयमें एक घंटा दान देना चाहिये। और जिन महात्मा पुरुषोंने आजीवनके लिये मौनव्रत धारण किया है उन्हें तो बस आजीवन पर्यन्त ठीक रीतिसे उसका पालन करना चाहिये उनके लिये यही उद्यापन है ॥४८॥ सभ्य पुरुषोंके पूछने पर भी विवादमें किसीके भयसे द्वेषसे तथा अपने पिता आदिके स्नेहसे झूँठ वचन नही बोलनेको स्थूल सत्य व्रत कहते हैं ॥४९॥ सत्याणुव्रती पुरुषोको—हिंसाके समान जीवोंको दुःख देनेवाली कुमारी-अलीक (कन्या सम्बन्धी झूँठ) भूअलीक (पृथ्वी सम्बन्धी झूँठ) गवालीक (गाय सम्बन्धी झूँठ) नहीं बोलना चाहिये। तथा दूसरेकी रखी हुई धरोहरके सम्बन्धमें भी भूलसे झूँठ नही बोलना चाहिये। विशेषार्थ—कुमारी अलीक—यह कन्या दूसरी जातिकी होनेपर भी हमारी जातिकी है, अथवा सजातीय होने पर भी हमारी जातिकी नहीं है। इसी तरह कन्यामें जो गुण दोष है उनका नही बताना, अथवा न होने पर भी बताना इत्यादि। कुमारी अलीक इस शब्दसे केवल कुमारी, का ही ग्रहण नहीं करना चाहिये यह तो उपलक्षण मात्र है किन्तु कुमारी, कुमार (बालक) तथा और कोई द्विपद मनुष्यादि इन सबका ग्रहण समझना चाहिये। भूअलीक—जमीन, वृक्ष, अथवा और कोई स्थावर पदार्थ जो दूसरेके हैं उन्हें अपने कहना अथवा अपने होने पर भी अपने नहीं कहना इत्यादि यहाँ भी भू यह शब्द उपलक्षण है इससे स्थावर पदार्थ मात्रका ग्रहण है। गवालीक—गाय आदि चतुष्पाद जीवोमे गुण अथवा दोष रहने पर भी कहना कि नही है अथवा न रहने पर उनका अस्तित्व बताना इत्यादि—यहाँ भी गाय शब्दसे सर्व चतुष्पद जीवोंका ग्रहण समझना चाहिये। लोकमें ये तीनों अलीक प्रसिद्ध है इसलिये इन तीनोंके त्यागनेका उपदेश है ॥५०॥ सत्याणुव्रतके धारक पुरुषोंको चाहिये कि जो वचन धर्मसे विरुद्ध हो तथा जिसके बोलने-से अपने ऊपर तथा दूसरोंके ऊपर आपत्ति आती हो ऐसे सत्य वचनको भी न बोले ॥५१॥ किसी धर्मात्मा पुरुषके ऊपर किसी तरहकी आपत्ति अथवा और कोई बाधा आती हो तो उसके दूर करनेके अर्थ, जिन धर्मके उद्धारके अर्थ तथा प्राणियोंकी जीव रक्षाके लिये असत्यको भी सत्यके समान बोलना चाहिये ॥५२॥ सत्याणुव्रतके, मिथ्या उपदेश देना, स्त्री पुरुषोंके गुप्त कृत्यका—

ग्रामादौ वस्तु चान्यस्य पतितं विस्मृतं धृतम् । गृह्यते यन्न लोभात्तत्स्तेयत्यागमणुव्रतम् ॥५४
यतोऽपहरता द्रव्यं प्राणास्तत्स्वामिनो हृताः । द्रव्यमेव जने प्राणा हिंसावत्तत्त्यजेत्ततः ॥५५
सर्वभोग्यतृणाम्ब्वादेर्नाददीत ददीत नो । संक्लेशाभिनिवेशेन तृतीयाणुव्रती परम् ॥५६
निधानादिधनं ग्राह्यं नास्वामिकमितीच्छया । अनाथं हि धनं लोके देशपालस्य भूपतेः ॥५७
निधानादिधनग्राही सदोषश्चौरवद्ध्रुवम् । भूपेन विहितं दण्डं सहतेऽध्यक्षमीक्ष्यते ॥५८
मम स्याद्वा न वेति स्वं स्वमपि द्वापरावहम् । यदा तदा गृह्यमाणं जायते व्रतहानये ॥५९
अतीचारा व्रते चाऽस्मिन् कर्दमा इव वारिणि । कथ्यमाना निवार्यन्तां तृतीयव्रतधारिणा ॥६०
स्तेनसंगाहृतादानविरुद्धराज्यलङ्घनम् । हीनाधिकतुलामानं व्यापारप्रतिरूपकः ॥६१
स्मरपीडाप्रतीकारो ब्रह्मैव न रतिः स्त्रिया । इत्यविश्वस्तचित्तोऽसौ श्रयेत निजभामिनीम् ॥६२
परस्त्रीरमणं यत्र न कुर्यान्न च कारयेत् । अब्रह्मवर्जनं नाम स्थूलं तुर्यं च तद्व्रतम् ॥६३

प्रकट करना, खोटा लेख करना, रखे हुए द्रव्यका हरण कर लेना, तथा संकेत आकारादिसे दूसरोंके अभिप्रायको जानकर उसे दूसरोंको कह देना तथा अपने मित्रादिकी गुप्त वार्ता प्रगट कर देना— ये पाँच दोष (अतीचार) है इन्हें सत्याणुव्रतके धारक पुरुषोंको छोड़ना चाहिये ॥५३॥ लोभके वशीभूत होकर ग्राम, मार्गादिमें दूसरोंकी गिरी हुई, भूली हुई तथा धरी हुई वस्तुके नही ग्रहण करनेको स्तेयत्याग नाम तीसरा अणुव्रत कहते हैं ॥५४॥ जिस पुरुषने दूसरोका धन हरण किया है उसने केवल धन ही नही हरण किया है, किन्तु धनके साथ ही उसने धनके मालिकके प्राणोंको भी हर लिया है। क्योकि लोकमें द्रव्य प्राणस्वरूप है। इसलिये उत्तम पुरुषोंको चाहिये कि हिंसाके समान दुःख देनेवाली चोरीका त्याग करे ॥५५॥ सर्व साधारणके उपभोग करने योग्य ऐसे तृण तथा जल आदि जो वस्तुएँ हैं उन्हें भी स्वामीकी आज्ञाके विना स्तेयत्यागव्रतके धारक पुरुषोंको न स्वयं लेना चाहिये और न लेकर दूसरोंको देना चाहिये ॥५६॥ इस धनका कोई मालिक नहीं है ऐसा समझ कर जमीनमें गड़ा हुआ धन आदि नही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जो धन अनाथ होता है अर्थात् जिस धनका कोई स्वामी नहीं होता है वह धन उस देशके राजाका होता है ॥५७॥ निधानादिके धनको ग्रहण करनेवाला पुरुष नियमसे चोरके समान दोष करके सहित है और उसे राजाका दिया हुआ दंड भोगना पड़ता है तथा कारागृहमें जाना पड़ता है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है ॥५८॥ यह धन मेरा है अथवा नही है, इस प्रकार सन्देह करानेवाला खास अपना भी धन जिस किसी समय ग्रहण किया जाता है तभी वह स्तेयत्यागव्रतकी हानिके लिये होता है ॥५९॥ जिस प्रकार जलमें कीचड़ होता है उसी तरह अचौर्य व्रतमें मलीनताके कारण ऐसे जो अतीचार हैं स्तेयत्यागव्रतके धारक पुरुषोंको उन्हें छोड़ना चाहिये ॥६०॥ चोरी करनेका उपाय बतलाना, चोरीका द्रव्य लेना, राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करना, तोलनेके परिमाण (बाट) को हीनाधिक रखना। और अधिक कीमतकी वस्तुमें थोड़ी कीमतकी वस्तु मिलाना ये पाँच स्तेयत्यागव्रतके अतीचार हैं। चोरीके त्याग करनेवालोको इन्हें छोड़ देना चाहिये ॥६१॥ कामकी पीडाके दूर करनेका उपाय ब्रह्मचर्यका धारण करना है, किन्तु स्त्रियोंके साथ रमण नही। इस तरह जिस पुरुषका चित्त विश्वासको प्राप्त नहीं है उसे चाहिये कि वह अपनी स्त्रीका ही सेवन करे ॥६२॥ परवनिताओंके साथ न रमण करना चाहिये और न दूसरोंको कराना चाहिये। इसे ही स्थूल परस्त्रीत्याग नाम चौथा अणुव्रत कहते है ॥६३॥ परस्त्री-त्यागव्रतके धारण करनेवाले पुरुषोंको चाहिये

परदारकुचस्यादौ न चक्षुर्निक्षिपेदसौ। क्षुब्धं चेन्नालमाक्रष्टुं कर्दमे जरदुक्षवत् ॥६४
स्वनार्यामपि निर्विण्णः सन्ततौ कुरुते रतिम्। शीतं नुनुत्सुर्वा बह्नौ ब्रह्मचारी न पर्वणि ॥६५
स्वस्त्रियं रममाणोऽपि रागद्वेषौ भजत्यहो। सूक्ष्मान्योन्यङ्गिनोऽनेकान्हिनस्तीति स हिंसकः ॥६६
मूर्च्छातृष्णाङ्गपीडानुबन्धकृत्तापकारकः। स्त्रीसंभोगः सुखं चेत्स्यात्कामिनां न ज्वरः कथम् ॥६७
परस्त्रीं रममाणस्य क्रिया काचिन्न शर्मणे। दृश्यतेऽसमरङ्गत्वादनवस्थितचित्ततः ॥६८
परदारनिवृत्तो यो यावज्जीवं त्रिधा नरः। अद्भुतातिशयः सोऽपि किं वर्ण्यं ब्रह्मचारिणः ॥६९
सीतेव रावणं या स्त्री परभर्त्तारमुज्झति। रूपैश्वर्यादिवर्यं च सा गीर्वाणैरपीज्यते ॥७०
परविवाहकरणानङ्गक्रीडास्मरागमाः। परिगृहीतेत्वरिकागमनं सेतरं मलाः ॥७१
चेतनेतरवस्तूनां यत्प्रमाणं जिनेच्छया। कुर्यात्परिग्रहत्यागं स्थूलं तत्पञ्चमं व्रतम् ॥७२
क्रोधाद्यभ्यन्तरग्रन्थानुद्यतोऽपि निवारयेत्। क्षमाद्यैः क्षेत्रवास्त्वादीनल्पीकृत्य शनैः शनैः ॥७३

कि—दूसरोंकी स्त्रीके स्तन, मुख अथवा और किसी अङ्गमें अपने नेत्रोंको कभी नहीं डाले। क्योंकि क्षोभित (विकारयुक्त) नेत्रोंका स्त्रियोंकी ओरसे हटाना बहुत दुष्कर हो जाता है। जिस तरह कीचड़में फँसे हुए वृद्ध बैलका निकलना कठिन हो जाता है ॥६४॥ स्वदार सन्तोषव्रत पालने वाले ब्रह्मचारी पुरुषोंको अपनी स्त्रीमें भी विरक्त होकर केवल सन्ततिके लिये रति करना चाहिये। जिस तरह शीतकी बाधाके दूर करनेके लिये अग्निका सेवन किया जाता है। अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वोंमें तो कभी विषय सेवन नहीं करना चाहिये ॥६५॥ अपनी स्त्रीके साथमें विषय सेवन करता हुआ भी राग और द्वेषको प्राप्त होता ही है। तथा योनिस्थानमें उत्पन्न होनेवाले अनेक सूक्ष्म जीवोंको मारता है इसलिये वह हिंसक भी है ॥६६॥ मूर्च्छा, तृष्णा तथा शरीर पीड़ा करनेवाला और सन्ताप बढ़ाने वाला, स्त्रियोंके साथमें किया हुआ विषय ही यदि कामी पुरुषोंको सुख देने वाला हो तो फिर ज्वर क्यों नहीं सुख देनेवाला माना जावे ? ॥६७॥

समान रतिके न होनेसे तथा चित्तके आकुलित रहनेसे दूसरोंकी स्त्रियोंके साथमें विषय सेवन करनेवाले पुरुषोंकी कोई क्रिया सुखकी कारण नहीं होता है ॥६८॥ जो पुरुष मन वचन कायसे जीवन पर्यन्त परस्त्रीसे निवृत्त रहता है वह भी आश्चर्यके करनेवाले अतिशय (महिमा) से युक्त होता है फिर जो भव्य पुरुष सर्वथा ब्रह्मचारी (स्वस्त्री और परस्त्रीसे विरक्त) रहते है उनका तो हम वर्णन ही क्या करें ॥६९॥ जिस तरह सीताने रावणको मन वचन कायसे छोड़ा था उसी तरह जो स्त्री रूप लावण्य करके अत्यन्त सुन्दर भी पर पुरुषको छोड़ देती है—उसकी स्वप्नमें भी कभी वाञ्छा नहीं करती है उसे देवता लोग भी पूजते हैं ॥७०॥ पर विवाह—दूसरोंके पुत्र पुत्रीका विवाह कराना, अनङ्गक्रीड़ा—जो विषय सेवनका अङ्ग है उसे छोड़ कर और दूसरे अवयवोंसे क्रीड़ा करना, स्मरागम—हर समय स्त्रियोंके साथ विषय सेवनकी अभिलाषा रखना, परिगृहीतेत्वरिकागमन—जो स्त्री विवाहिता है परन्तु उसका पति पिता अथवा और कोई नहीं है और वह गुप्तरूपसे अथवा प्रगट रूपसे दूसरे पुरुषोंकी इच्छा करती है उसे परिगृहीत इत्वरिका कहते हैं ऐसी स्त्रीके यहाँ जाना, अथवा—अपरिगृहीत इत्वरिकागमन—वैश्यादिकोंके यहाँ जाना ये पाँच स्वदार सन्तोष व्रतके अतीचार हैं। इन्हें परस्त्रीत्यागव्रतके धारण करनेवालोंको छोड़ना चाहिये॥७१॥ धन धान्यादि अचेतन और दासी दास आदि सचेतन वस्तुओंका अपनी इच्छासे जो प्रमाण करना है उसे स्थूलपरिग्रहत्याग नाम पांचमा अणुव्रत कहते है ॥७२॥ क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दासी, दास

देशकालात्मजात्याद्यपेक्षया परिमाणयेत् । वास्त्वाद्यामृति कृशयेत्तदपि स्वेच्छया पुनः ॥७४
अप्रत्ययतमोरात्रिर्लोभाग्निसमिधाहुतिः । सावद्यग्राहवाराशिस्तथापीष्टः परिग्रहः ॥७५
यः परिग्रहसंख्यं ना निर्मलं रक्षति व्रतम् । लोभजिज्जयवत्पूजातिशयं लभते त्वसौ ॥७६
परिग्रहाभिलाषाग्नि ज्वलन्तं चित्तकानने । विध्यापयेदसौ क्षिप्रं सन्तोषघनधारया ॥७७
प्रमाणातिक्रमो वास्तुक्षेत्रयोर्धनधान्ययोः । हिरण्यस्वर्णयोर्द्व्यर्चाद्विपादयोः कुप्यभाण्डयोः ॥७८

वास्तुक्षेत्रादियुग्मानां पञ्चानां प्रमितिं क्रमात् ।
योगाद्बन्धनतो दानाद्गर्भाद्भावान्न लंघयेत् ॥७९

व्रतान्यमून्यस्मिन्विद्यन्ते चेत्यणुव्रती । याति मृत्वा सहस्रारपर्यन्तममरालयम् ॥८०
देवायुष्कमयं मुक्त्वा बद्धान्यायुष्कमानवः । प्राप्नोत्यणुव्रतं नैव नो महाव्रतमुत्तमम् ॥८१

बद्धायुष्को निजां मुक्त्वा गतिं नान्यत्र गच्छति ।
द्विधा व्रतप्रभावेन दैवीमेव गतिं यतः ॥८२

आदि बाह्य परिग्रहको धीरे धीरे घटा करके—उत्पन्न होने वाले-क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, आदि चौदह प्रकारके अभ्यन्तर परिग्रहको भी क्षमादिकोंके द्वारा दूर करे ॥७३॥ धन-धान्य, वास्तु आदि बाह्य परिग्रहका स्वेच्छासे देश, काल, आत्मा तथा जाति आदिकी अपेक्षासे आजन्म पर्यन्त परिमाण करे। पुनः वह परिमाण भी क्रमसे घटाते जाना चाहिये ॥७४॥ ग्रन्थकार कहते है कि—यद्यपि यह परिग्रह अविश्वास रूप अन्धकारकी रात्रि है, लोभ रूप धग धग जलने वाली अग्निके लिये ईन्धन (काष्ठ) की आहुति है तथा सावद्य (पाप) ग्राह (मगरमच्छादिक) के लिये जलराशि (समुद्र) के समान है। तो भी संसारी लोगोंके लिये इष्ट (अभिलषित) है ॥७५॥ लोभको जीतने वाला जो पुरुष परिग्रह प्रमाण रूप पवित्र व्रतका पालन करता है वह जयकुमारके समान लोकमें पूजाके अतिशयका भागी होता है ॥७६॥ परिग्रह-प्रमाणव्रत धारण करनेवाले पुरुषोंको अपने चित्त रूप वनमें जलती हुई परिग्रहकी अभिलाषा रूप अग्निको सन्तोष रूप मेघकी धारासे बहुत जल्दी बुझाना चाहिये ॥७७॥ वास्तु-क्षेत्र, धन-धान्य, चाँदी-सुवर्ण, द्विपद-चतुष्पद तथा कुप्य-भाण्ड इनके प्रमाणके उल्लंघन करनेको अतीचार कहते हैं ॥७८॥ वास्तु और क्षेत्रका योगसे अपने परिमाण किये हुए वास्तु (घर) और क्षेत्रमें दूसरे स्थानको मिला लेना, धन और धान्यका बन्धन—बेचनेके प्रतिबन्धसे, चाँदी और सोनेका दान-दूसरोंको देनेसे, द्विपद और चतुष्पदका गर्भसे, कुप्य और भाण्डका भाव (परिणाम) अपनी की हुई परिमाण संख्याकी अधिक वृद्धि करनेसे अतिक्रमण नही करना चाहिये। ये ही क्रमसे परिग्रह परिमाणव्रतके पाँच अतीचार कहे जाते है। इन्हींके छोड़नेका उपदेश है ॥७९॥ ऊपर कहे हुए अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ये पाँच अणुव्रत, जिस पुरुषमें पाये जावें उसे ही अणुव्रती कहना चाहिये। अणुव्रतका धारण करनेवाला पुरुष सहस्रार स्वर्ग पयन्त जाता है। आगममें अच्युत स्वर्ग तक जानेका विधान है ॥८०॥ अणुव्रत धारण करनेके पहले देवायुको छोड़ कर जिसके दूसरी गतिकी आयुका बन्ध हो गया है वह पुरुष कभी अणुव्रत तथा उत्तम महाव्रतको प्राप्त नहीं हो सकता ॥८१॥ जिसके अणुव्रत धारण करनेके पहले दूसरी गतिका बन्ध हो गया है वह पुरुष उस गतिको छोड़ कर दूसरी गतिमें नहीं जाता। यही कारण है कि—अणुव्रत तथा महाव्रतके प्रभावसे देवगति ही को प्राप्त होता है ॥८२॥ जिन भगवान्‌की सभामें बैठे हुए

जिनेन्दुपर्षज्जनमन्यमाना मेधाविनो ये व्रतपञ्चकं तत् ।
प्रपाल्य संन्यासविधिप्रमुक्तप्राणाः श्रियस्ते द्युभवा लभन्ते ॥८३

लोगोंसे माननीय जो मेधावी पुरुष ऊपर कहे हुए पाँच प्रकारके अणुव्रतोंका पालन करके संन्यास विधि पूर्वक अपने प्राणोंका परित्याग करते हैं वे पुरुष स्वर्गकी लक्ष्मीके भोगनेके अधिकारी होते हैं ॥८३॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पंडितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे
व्रतस्वरूपवर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः ॥ ३ ॥

●

चतुर्थोऽधिकारः

पञ्चाणुव्रतरक्षार्थं पाल्यते शीलसप्तकम् । शस्यवत्क्षेत्रवृद्ध्यर्थं क्रियते महती वृतिः ॥१
गुणाय चोपकारायाऽहिंसादीनां व्रतानि तत् । गुणव्रतानि त्रीण्याहुर्दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥२
दशदिक्ष्वपि संख्यानं कृत्वा यास्यामि नो बहिः । तिष्ठेदित्याऽऽमृतेर्यत्र तत्स्याद्दिग्विरतिव्रतम् ॥३
वार्धिनद्यटवीभूध्रमर्यादा योजनानि च । विधाय तदविस्मृत्यै सीमां नात्येति कर्हिचित् ॥४
तद्बहिः सूक्ष्मपापानां विनिवृत्तेर्महाव्रतम् । फलत्यणुव्रतं तस्मात्कुर्यादेतदणुव्रती ॥५
नियमात्तद्बहिस्थानां त्रसस्थावरदेहिनाम् । रक्षणं कृतमेतेन ततोऽदोऽर्हमिहोदितम् ॥६
मलपञ्चकमूर्द्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः । क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधाने मोक्तव्यमेव तत् ॥७
अर्थः प्रयोजनं तस्याभावोऽनर्थः स पञ्चधा । दण्डः पापाश्रवस्तस्य त्यागस्तद्व्रतमुच्यते ॥८
वधो बन्धोऽङ्गच्छेदस्वहृती जयपराजयौ । कथं स्यादस्य चिन्तेत्यपधानं तन्निगद्यते ॥९

अहिंसादिक पाँच अणुव्रतोंके संरक्षणके लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार सात शील पालन किये जाते हैं। जिस तरह धान्य-युक्त क्षेत्र (खेत) की वृद्धिके लिये उसके चारों ओर काँटेकी बाढ़ लगाई जाती है ॥१॥ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्यादिकी वृद्धिके लिये तथा उपकारके लिये जो व्रत है उन्हें गुणव्रत कहते है। वे गुणव्रत दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत इस तरह तीन प्रकारके है ॥२॥ दशोंदिशामें जानेकी अवधिकी संख्या करके उसके बाहर मैं नहीं जाऊँगा ऐसी प्रतिज्ञा करके मरण-पर्यन्त उसी मर्यादाके भीतर ही रहना दिग्विरति व्रत कहा जाता है ॥३॥ किया हुआ दिग्विरति व्रत कभी विस्मरण न हो इसलिये समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत तककी मर्यादा तथा योजन तक, की हुई सीमाका कभी भी उल्लंघन न करे ॥४॥ की हुई मर्यादाके बाहर—सूक्ष्म पापोंकी सर्वथा निवृत्ति हो जानेसे दिग्विरति व्रतके धारण करनेवाले पुरुषोंको महाव्रतका लाभ होता है। इसलिये अणुव्रत धारण करनेवाले पुरुषोंको यह दिग्विरतिव्रत धारण करना चाहिये ॥५॥ दिग्विरतिव्रतके धारण करनेवालोंने—की हुई मर्यादाके बाहर रहनेवाले द्वीन्द्रियादि पञ्चेन्द्री पर्यन्त त्रस तथा पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पञ्च प्रकारके स्थावर जीवोंकी नियमसे रक्षा की है इसलिये यह दिग्विरतिव्रत महाव्रतके योग्य कहा है। ६॥ ऊर्ध्वभागव्यतिक्रम—ऊपर जानेकी जहाँ तक मर्यादा की है उससे अधिक ऊपर चढ़ना, अधोभागव्यतिक्रम—नीचे जहाँ तक जानेको अवधि की है उससे अधिक नीचे जाना, तिर्यग्भागव्यतिक्रम—इसी तरह तिर्यग्दिशाकी जितनी मर्यादा की है उससे अधिक जाना, की हुई मर्यादाके बाहरके क्षेत्रमें जाने लगना, तथा की हुई मर्यादा भूल जाना ये पाँच दिग्विरतिव्रतके अतीचार है। दिग्विरतिव्रत धारक पुरुषोंको छोड़ने चाहिये ॥७॥ प्रयोजनको अर्थ कहते हैं और जिस कार्यके करनेमें अर्थ (प्रयोजन) का अभाव हो उसे अनर्थ कहते हैं। वह अनर्थ पाँच विकल्पमें विभाजित है। उस अनर्थका जो दण्ड (पापाश्रव) उसे अनर्थदंड कहते हैं। और अनर्थदंडका जो त्याग (छोड़ना) वह अनर्थदंडत्यागव्रत कहलाता है ॥८॥ अमुकका मरण, बन्धन, शरीर छेद, धनका हरण, जय अथवा पराजय कैसे हो इस प्रकारका चिन्तन करनेको अपध्यान नाम अनर्थदंड कहते

वधकारंभकादेशौ वाणिज्यतिर्यक्क्लेशयोः । एभिश्चतुर्विधैर्योगैर्मतः पापोपदेशकः ॥१०
शस्त्रपाशविषालाक्षानीलीलोहमनःशिला. । चर्माद्यं नखिपक्ष्याद्या दानं हिंसाप्रदानकम् ॥११
भूमिकुट्टनदावाग्निवृक्षमोटनसिञ्चनम् । स्वार्थं विनाऽपि तज्ज्ञेयं प्रमादचरितं बुधैः ॥१२
यत्राऽधीते श्रुते कामोच्चाटनक्लेशमूर्च्छनैः । अशुभं जायते पुंसामशुभश्रुतिरिष्यते ॥१३
एतत्पञ्चविधस्यास्य विरतिः क्रियतेऽत्र यत् । अनर्थदण्डविरतिस्तद्द्वितीयं गुणव्रतम् ॥१४
तत्र कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यं वर्ज्यमुत्तमैः । भोगोपभोगानर्थक्यासमीक्ष्याधिकृती मलम् ॥१५
इयन्तं समयं सेव्यौ मया भोगोपभोगकौ । इयन्तौ नाधिकाविच्छन्स श्रयेत्तत्प्रमाव्रतम् ॥१६
एकशो भुज्यते यो हि भोगः स परिकथ्यते । मुहुर्यो भुज्यते लोके परिभोग स उच्यते ॥१७
तयोर्यत्क्रियते मानं तत्तृतीयं गुणव्रतम् । ज्ञेयं भोगपरिभोगपरिमाणं जिनेरितम् ॥१८
त्याज्यवस्तुनि तु प्रोक्तो यमस्तु नियमस्तथा । यावज्जीवं यमो ज्ञेयो नियमः कालसीमकृत् ॥१९
भोगे त्रसबहुप्रज्ञाघातके यम एव हि । भोगोपभोगकेऽन्यत्र यमो नियमकोऽथवा ॥२०
द्विदलं मिश्रितं त्याज्यमामैर्दध्यादिभिः सदा । यतः तत्र त्रसा जीवा विविधाः संभवन्त्यहो ॥२१

हैं ॥९॥ जीवोंके मारनेका और आरम्भका उपदेश देना तिर्यञ्चोंके व्यापारका और कोई क्लेश जनक व्यापार करनेका उपदेश देना इन चारोंके सम्बन्धसे पापोपदेश नाम अनर्थदंड होता है ॥१०॥ तलवार आदि शस्त्र, जाल, विष, लाक्षा (लाख), नील, लोह, मन शिल (मैनशल), चर्म आदि वस्तु अथवा नखवाले पक्षी आदि जीव इनके देनेको हिंसादान नाम अनर्थदंड कहते है ॥११॥ अपने प्रयोजनके बिना पृथ्वीका खोदना, वनमें तथा पर्वतोंमे अग्नि लगाना, वृक्षोंका तोड़ना तथा सिञ्चन करना ये सब प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड कहे जाते हैं ॥१२॥ जिन शास्त्रोंको सुननेसे अथवा पढ़नेसे काम, उच्चाटन, क्लेश तथा मूर्च्छादि होते है और जिनसे जीवोंको पाप बन्ध होता है उन खोटे शास्त्रोंके श्रवण तथा पढनेको अशुभश्रुति नामक अनर्थदण्ड कहते है। इसीका दुःश्रुति अनर्थदण्ड भी नाम है ॥१३॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए पाँच प्रकारके अनर्थदण्डसे जो विरक्त होना है उसे अनर्थदण्डविरति नामक दूसरा गुणव्रत कहते हैं ॥१४॥ कन्दर्प—स्त्रियोके साथ विषय सेवनकी अभिलाषासे युक्त हास्य वचनोंका बोलना, कौत्कुच्य—शरीरकी खोटी चेष्टाएँ करना, मौखर्य्य—उन्मत्तपनेमे असम्बद्ध बहुत बोलना, भोगोपभोगानर्थक्य—अपने कार्यसे भी अधिक भोगोपभोग वस्तुओंका सग्रह करना, असमीक्ष्याधिकृति—अपने उपयोगका विचार न करके किसी कार्यको आवश्यकताकी अपेक्षासे भी अधिक करना ये पाँच अनर्थदण्ड त्यागव्रतके अतीचार है। अनर्थदण्डके छोड़नेवाले भव्य पुरुषोंको छोड़ना चाहिये ॥१५॥ इतने काल-पर्यन्त इतने भोग और उपभोग मेरे सेवनके योग्य है इस प्रकारसे नियम करके अधिकको अभिलाषा नही करनेवाले पुरुषके भोगोपभोगपरिमाण व्रत होता है ॥१६॥ इस संसारमें जो पदार्थ एक ही बार भोगनेमे आता है वह भोग कहलाता है और जो बार-बार भोग किया जाता है उसे परिभोग (उपभोग) कहते है ॥१७॥ भोग और उपभोगके प्रमाण करनेको जिन भगवान् भोगपरिभोगपरिमाण नामक तीसरा गुणव्रत कहते है ऐसा जानना चाहिए ॥१८॥ छोड़नेके योग्य वस्तुओंमे यम तथा नियम होता है। जीवन-पर्यन्त त्यागनेको यम कहते है और नियम कालकी मर्यादा लिये होता है ॥१९॥ त्रसजीव तथा बुद्धिके नाश करनेवाले जो भोग है उनमें तो यम ही होता है और जो भोगोपभोग है उनमें यम भी होता है तथा नियम भी होता है ॥२०॥ कच्चे दही दूध तथा छाछके साथ जिस

प्रावृषि द्विदलं त्याज्यं सकलं च पुरातनम् । प्रायशः शाकपत्रं च नाहरेत्सूक्ष्मजन्तुमत् ॥२२
हरिद्राशृङ्गवेरादिकन्दमार्द्रं त्यजेद्बुधः । मूलं च विशमूल्यादि पत्रं नालीदलादिकम् ॥२३
निम्बकेतकिमुख्यानि कुसुमानि न भक्षयेत् । यतस्तेषु प्रजायन्ते त्रसस्थावरजन्तवः ॥२४
शिम्बयोऽपि न हि ग्राह्यास्ता यतस्त्रसयोनयः । बहुशोऽमृतवल्ल्याद्यास्त्याज्याश्चानन्तकायकाः ॥२५
अनिष्टानुपसेव्ये ये ते चात्र व्रतयेत्सदा । अग्राह्यवस्तुनि त्यागो यतो हि भवति व्रतम् ॥२६
भोगोपभोगसम्बन्धे स्थावराणां वधो भवेत् । तस्मादल्पीकृते तस्मिन्नल्पस्थावरहिंसनम् ॥२७
स्नानसद्गन्धमाल्यादावाहारे बहुभेदजे । प्रमाणं क्रियते यत्तु तद्भोगपरिमाणकम् ॥२८
वस्त्राभरणयानादौ वनिताशयनासने । विधीयते प्रमाणं तत्परिमाणप्रमाणकम् ॥२९
सचित्तं तस्य सम्बन्धं सन्मिश्राभिषवौ तथा । दुःपक्वभोजनं चैते मलाः पञ्च भवन्ति हि ॥३०
गुणैर्युक्तं व्रतं विद्धि गुणव्रतमितित्रयम् । इदानीं शृणु भव्याग्र ! शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ॥३१
यस्माच्छिक्षाप्रधानानि तानि शिक्षाव्रतानि वै । चत्वार्याश्रयतात्पौरप्रतिमाभ्यासहेतवे ॥३२
देशावकाशिकं नाम ततः सामायिकं व्रतम् । तत्प्रोषधोपवासोऽन्यदतिथेः संविभागकम् ॥३३

धान्यकी दो दाले होती है उसे नहीं खाना चाहिये, क्योंकि इसमे अनेक त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥२१॥ वर्षा कालमें सम्पूर्ण द्विदल धान्य मूँग, चना, उड़द, अरहर, आदि तथा पुराना धान्य नही खाना चाहिये। क्योकि वर्षा समयमें बहुधा करके इनमें जीव पैदा हो जाते है। इसी तरह पत्रों वाला शाक भी नही खाना चाहिये। क्योंकि इसमें भी त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥२२॥ बुद्धिमान् पुरुषोको हल्दी, अर्द्रक आदि गीला कन्द, पृथ्वीके भीतर होनेवासे सकरकन्द, गाजर तथा कन्द-मूली आदि मूल तथा, पत्र कमल नाल आदि जो अभक्ष्य वस्तुएँ हैं उन्हें सर्वथा छोड़ना चाहिये ॥२३॥ नीम, केतकी (केवड़ा) आदिके फूल भी नहीं खाना चाहिये। क्योंकि इन फूलोंमे अनेक त्रस तथा स्थावर जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥२४॥ शिम्बी भी नहीं खाना चाहिये क्योंकि ये द्वीन्द्रियादित्रस जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है और बहुधा करके अमृतवेल आदि वस्तुएँ भी नहो खानी चाहिये क्योंकि ये भी अनन्तकाय होती है ॥२५॥ जो वस्तु अनिष्ट है तथा सेवन करनेके योग्य नहीं है उन्हें भी छोड़ना चाहिये। क्योंकि जो वस्तु सर्वथा अग्राह्य है उसके त्याग करनेसे व्रत होता है ॥२६॥ भोगोपभोग वस्तुओंके सेवनसे स्थावर जीवोका घात होता है इसलिये भोगोपभोग वस्तु कम करनी चाहिये। क्योंकि इसे कम करनेसे जीवोंकी हिंसा भी कम होगी ॥२७॥ स्नान, गन्ध, माल्य, आहार आदि भेदसे अनेक प्रकार जो भोग्य वस्तु है उनमें प्रमाण करनेको भोगपरिमाणव्रत कहते है ॥२८॥ वस्त्र, आभरण, वाहन, स्त्री, शय्या, आसन आदि जो उपभोग वस्तु है उनमें प्रमाण करनेको परिभोग (उपभोग) परिमाण व्रत कहते हैं ॥२९॥ सचित्त भोजन करना, सचित्त पदार्थसे सम्बद्ध भोजन करना, सचित्त वस्तु मिला हुआ भोजन करना, दुःपक्व भोजन करना, अभिषव (गरिष्ठ या पौष्टिक) भोजन करना ये पाँच भोगोपभोग परिमाणव्रतके अतीचार भोगपरिभोगव्रती पुरुषको त्यागने चाहिये ॥३०॥

गुण-सहित जो व्रत होते हैं वे गुणव्रत कहलाते हैं। गुणव्रत तीन प्रकार के होते हैं। हे भव्यश्रेष्ठ श्रेणिक ! अब चार प्रकार जो शिक्षाव्रत हैं उसका वर्णन करते है उसे तुम सुनो ॥३१॥ शिक्षा जिनमें प्रधान है वे शिक्षाव्रत कहलाते हैं। उनके चार विकल्प है। आगेकी प्रतिमाओंका अभ्यास बढ़ाने के अर्थ इन्हें धारण करना चाहिए ॥३२॥ देशावकाशिक शिक्षाव्रत, सामायिक शिक्षाव्रत, प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत, अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रतके भेद

दिग्व्रताद् वृतदेशस्य यत्संहारो घनस्य च । क्रियते सावधि सीम्नां तत्स्याद्देशावकाशिकम् ॥३४
अद्य रात्रिर्दिवा वापि पक्षो मासस्तथा ऋतुः । अयनं वत्सरः कालावधिमाहुस्तपोधनाः ॥३५
मठहारिगृहक्षेत्रयोजनानां वनस्य च । सीम्नां स्मरन्ति देशावकाशिकस्यान्वहं बुधाः ॥३६
देशावकाशिकेनासौ सीमाबाह्ये निवृत्तितः । सूक्ष्मानामपि पापानां तदा महाव्रतीयते ॥३७
व्रतभङ्गोऽथवा यत्र देशे न जिनशासनम् । क्वचित्तत्र न गन्तव्यं तदपीदं व्रतं भवेत् ॥३८
तेन तद्गमनाभावे व्रतरक्षा कृता निजा । मिथ्यात्वाऽसङ्गतिश्चातः साध्वेतद्व्रतपालनम् ॥३९
यत्र देशे जिनावासः सदाचारा उपासकाः । भूरिवारीन्धनं तत्र स्थातव्यं व्रतधारिणा ॥४०
तत्र त्याज्या आनयनप्रेष्यप्रयोगकाख्यकौ । शब्दरूपानुपातौ च पुद्गलक्षेपको मलाः ॥४१
सर्वभूतेषु यत्साम्यमार्त्तरौद्रविवर्जनम् । संयमेऽतीव भावश्च विद्धि सामायिकं हि तत् ॥४२
चैत्यादौ सन्मुखः प्राच्यामुदीच्यां वा क्वचित्स्थितः । शुचिर्भूत्वा विदध्यात्स वन्दनां प्राच्यमार्गतः ॥४३
प्रत्यहं क्रियते देववन्दना तत्र शुद्धयः । क्षेत्रकालासनान्तर्वाक्छरीरविनयाभिधाः ॥४४

हैं ॥३३॥ दिग्व्रतमें जो जीवन-पर्यन्तके लिए देशका प्रमाण किया है उसकी सीमाका, कालकी अवधिपर्यन्त संकोच करनेको देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते है ॥३४॥ आज, रात्रि, दिन, पक्ष, महीना, दो महीना, छह महीना तथा एक वर्ष इत्यादि भेदको मुनि लोग कालकी अवधि कहते हैं ॥३५॥ बुद्धिमान् लोग मठ, वीथिका (गली), घर, क्षेत्र तथा योजन, वन पर्यन्त देशावकाशिक शिक्षाव्रतकी सीमा कहते है ॥३६॥ देशावकाशिकव्रतके धारण करनेसे सीमाके बाहर सूक्ष्म पापोंकी भी निवृत्ति होनेसे वह श्रावक महाव्रती मुनिके समान समझा जाता है ॥३७॥ जहाँ अपना व्रतभङ्ग होता हो तथा जिस देशमें जिनधर्म न हो उस देशमें कभी नही जाना चाहिये । इसे भी देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते है ॥३८॥ देशावकाशिक व्रतमें की हुई मर्यादाके बाहर जानेका अभाव होजाने पर देशावकाशिक व्रतके धारण करनेवालोने अपने धारण किये हुए व्रतकी रक्षा की तथा मिथ्यात्व भी छोड़ा इसलिए देशावकाशिक व्रतको पालन करना योग्य है ॥३९॥ जिस देशमें जिनालय हो, उत्तम आचरणके धारक श्रावक लोग हो तथा जल ईन्धनकी जहाँ प्रचुरता हो उसी देशमें व्रती पुरुषोंको रहना चाहिए ॥४०॥ आनयन—अपनी की हुई मर्यादाके बाहरसे कोई वस्तु किसीसे मंगाना, प्रेष्यप्रयोग—स्वय की हुई मर्यादाके भीतर रहकर किसी कामके लिये दूसरेको सीमाके बाहर भेजना, शब्दानुपात—अपनी मर्यादाके बाहर रहनेवाले पुरुषको अपने समीप बुलानेके लिये चुटकी अथवा ताली आदि बजाना, रूपानुपात मर्यादाके बाहरसे बुलानेके लिये शब्दसे न बुलाकर अपना रूप शरीरावयव दिखाना और पुद्गल-क्षेपक—की हुई मर्यादाके बाहर किसी कामके करानेकी सूचनाके लिये सीमा बाहरवाले पुरुषके पास, पत्थर वगैरह फेंकना ये पाँच देशावकाशिक व्रतके मल (अतीचार) है। देशावकाशिकव्रतके धारक पुरुषोंको त्यागने चाहिये ॥४१॥ सर्व जीवमात्रमें साम्य (समता) भावका होना, आर्त्त परिणामका छोड़ना तथा संयममें विशेष प्रवृत्तिका होना इसे सामायिक कहते है ॥४२॥ जिनालय, वन, तथा और कोई बाधा रहित एकान्त स्थानमें पूर्व दिशा या उत्तर दिशामें मुख करके स्थिर होकर तथा पवित्र होकर प्राचीनमार्गके अनुसार वन्दना (सामायिक) करनी चाहिये ॥४३॥ सामायिकके समयमें जो प्रतिदिन देववन्दना की जाती है उसमें क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि, आसनशुद्धि, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, शरीरशुद्धि तथा विनय शुद्धि इस तरह सात प्रकार शुद्धि होनी चाहिये ॥४४॥

एकान्ते निर्मले स्वास्थ्यकरे शीतादिवर्जिते । वन्दनां कुर्वतो देशे क्षेत्रशुद्धिश्च सा मता ॥४५
उदयास्तात्प्राक्पश्चात्य त्रित्रिनाडीषु यः सुधीः । मध्याह्ने तां च यः कुर्यात्कालशुद्धिश्च तस्य सा ॥४६
पर्यङ्काद्यासनस्थायी बद्ध्वा केशादि यो मनाक् । कुर्वंस्तां न चलत्यस्याऽऽसनशुद्धिर्भवेदियम् ॥४७
ममेदमहमस्येति संकल्पो जायते न चेत् । चेतनेतरभावेषु सान्तःशुद्धिर्जिनोदिता ॥४८
हुँकारो ध्वनिनोच्चारः शीघ्रपाठो विलम्बनम् । यत्र सामायिके न स्यादेषा वाक्छुद्धिरिष्यते ॥४९
हस्तपादशिरःकम्पावष्टम्भादिर्न यत्र वै । कायदोषो भवेदेषा कायशुद्धिरिहागमे ॥५०
द्विनतिद्वादशावर्त्तशिरोनतिचतुष्टये । तत्र योऽनादराभावः सा स्याद्विनयशुद्धिका ॥५१
स्तुतिर्नतिस्तनूत्सर्गः प्रत्याख्यानं प्रतिक्रमः । सामायिके भवन्त्येते षडावश्यकमेकतः ॥५२
अथवा वीतरागाणां मुनीनां स्वात्मचिन्मनम् । यदा यदा भवेत्तेषां सदा सामायिकं तदा ॥५३
यत्र ग्रैवेयकं यात्यभव्यः सामायिके रतः । सम्यग्दर्शनसंशुद्धो भव्यस्तत्र शिवं न किम् ॥५४
एतदेवात्मनो मोक्षसाधनं चेत्यतन्द्रितः । अवश्यं सन्ध्ययोः कुर्याच्छक्तिश्चेदन्यदापि तत् ॥५५
मोक्षः स्वः शर्म्म नित्यश्च शरणं चान्यथा भवः । तत्र मे वसतोऽन्यत्किं स्यादित्यापदि चिन्तयेत् ॥५६

अर्थात्—एकान्त, पवित्र, स्वास्थ्य करनेवाला तथा शीतउष्ण दंश-मशकादिकी बाधासे रहित प्रदेशमें वन्दना (सामायिक) करनेवाले पुरुषके क्षेत्रशुद्धि होती है ॥४५॥ जो बुद्धिमान् सूर्योदयसे पहले तथा अस्त होनेके पश्चात् तथा मध्याह्न कालमे इस तरह तीनों समयमे तीन-तीन नाडी पर्यन्त सामायिक करते हैं उनके काल शुद्धि होती है ॥४६॥ पद्मासन अथवा खड्गासनादिसे स्थित होकर और कुछ केशादिको बाँधकर सामायिक करता हुआ किसी तरह चलायमान न होकर निश्चल रहता है उसके आसन शुद्धि होती है ॥४७॥ चेतन और अचेतन वस्तुओंमें यह मेरी है अथवा मैं इसका हूँ, इस प्रकारकी कल्पनाके छोड़नेको जिनदेवने मनशुद्धि कहा है ॥४८॥ सामायिक करनेके समय हुँकार करना, शब्दसे उच्चारण करना, जल्दी जल्दी पाठ बोलना तथा बहुत धीरे-धीरे पाठ बोलना आदि जिस सामायिकमें नहीं हों उसे महर्षि लोग वचनशुद्धि कहते हैं ॥४९॥ सामायिक करनेके समय हस्त-कम्पन, शिरः-कम्पन तथा अवष्टंभ (भित्ति आदिका सहारा लेना) आदि जो शरीर दोष है उनके न होनेको शास्त्रोंमें कायशुद्धि कहा है ॥५०॥ दो नमस्कार, बारह आवर्त्त और चार शिरोनति जिसमें होते हैं ऐसे सामायिक शिक्षाव्रतमें जो अनादरका अभाव होना उसे महर्षि लोग विनयशुद्धि कहते है ॥५१॥ सामायिकमें—स्तुति, नमस्कार, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और ममता ये क्रमसे षडावश्यक होते है ॥५२॥ अथवा वीतरागी मुनियोके जिस जिस समय अपने आत्माका चिन्तवन होता है उस उस समय उनके निरन्तर सामायिक होता है ॥५३॥ जिस सामायिकव्रतके धारण करनेसे अभव्य पुरुष भी ग्रैवेयक पर्यन्त चला जाता है तो सम्यग्दर्शनसे पवित्र भव्य पुरुष उस व्रतके माहात्म्यसे मोक्ष नहीं जायगा ? अवश्य जायगा ॥५४॥ यही सामायिक इस आत्माको मोक्ष प्राप्त करानेवाला है ऐसा हृदयमे निश्चय करके आलस रहित हो प्रातःकाल तथा सायंकालमें तो अवश्य ही सामायिक करना चाहिये। यदि इसके अतिरिक्त और भी सामर्थ्य हो तो अन्य मध्याह्न आदि कालमें भी करना चाहिये ॥५५॥

मोक्ष अनन्त ज्ञानादिस्वरूप है इसलिये आत्मस्वरूप है, उपाधि-रहित चित्स्वरूप है इस लिये सुख-स्वरूप है, कभी विनाश नहीं होगा, इसलिये नित्य स्वरूप है तथा किसी प्रकारकी विपत्तिका मोक्षमें गम्य न होनेसे विपत्तियोंसे रक्षा करनेवाला है इसलिये शरण है। और संसार इसके

स्नानादिजिनबिम्बेऽसौ साम्यार्थं कुरुतादगृही । यथाम्नायं प्रयुञ्ज्यात्तद्विना संकल्पितेऽर्हति ॥५७
व्रतमेतत्सुदु:साध्यमपि सिद्धयति शीलनात् । किं निम्नीक्रियते नाश्मा पतद्वार्बिन्दुना मुहु: ।५८
तस्य पञ्चव्यतीचारा वागदु:प्रणिधानकम् । अनादर: स्मृत्यनुपस्थाने वर्ज्या: प्रयत्नत: ॥५९
प्रोषध: पर्ववाचीह चतुर्द्धाहारवर्जनम् । तत्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं साम्यस्य सिद्धये ॥६०
पर्वाष्टमीचतुर्दश्यौ मासे मासे चतुष्टयम् । तस्य पूर्वाह्नमध्याह्ने भोजयेदतिथिं तत: ॥६१
भुक्त्वा शुद्धं विधायास्यं प्रक्षाल्य करपादकौ । तत्रैव नियमं कृत्वा युक्त्या गच्छेज्जिनालयम् ॥६२
जिनान्स्तुत्वा तथा नत्वा कृतेर्यापथशोधन । प्रत्याख्यानं प्रगृह्णीयाद्देवतासाक्षिकं तत: ॥६३
द्वादशाङ्गं नमस्कृत्य तथा गुणगुरून्गुरून् । प्रत्याख्यानं प्रयाचेत गुरुं तद्वत्तमाचरेत् ॥६४
तत्र वान्यत्र चैकान्ते क्वचित्साधर्मिकै: सह । कालक्षेपं प्रकुर्वीत पठन् शृण्वन् श्रुतं तत: ॥६५
सन्ध्यायां कुरुतात्तत्र कृतकर्मोल्लसन्मना: । तत: स्वाध्यायमादाय जपेत्पञ्चनमस्कृती: ॥६६

विपरीत—अनात्म, अशर्म, अनित्य तथा अशरण है ऐसे संसारमें रहनेवाले मुझे दु:खके सिवाय और क्या होगा ! ऐसा बारंबार आपत्तिके समयमें विचार करना चाहिये ॥५६॥ गृहस्थोंको राग द्वेषकी हानिके लिये जिनप्रतिबिम्बमें अभिषेक, पूजन, स्तुति तथा जप ये सब आम्नायपूर्वक करना चाहिये। और संकल्पित (निराकार) अर्हन्त भगवान् में स्नानको छोड़कर शेष पूजन, स्तवन, जप करना चाहिये ॥५७॥ यद्यपि यह सामायिक व्रत अत्यन्त कठिन है तथापि परिशीलन (अभ्यास) करनेसे सिद्ध हो ही जाता है। यही बात दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—यद्यपि पाषाण स्वभावसे अतिशय कठोर होता है तो भी बार-बार गिरनेवाला जल बिन्दु क्या उसमें गर्त्त (खड्डा) नही बना देता है अर्थात् बना ही देता है ॥५८॥ मनोदुष्प्रणिधान—क्रोध, लोभ, अभिमान, द्रोह, ईर्ष्या आदिका उत्पन्न होना, अथवा अन्त:करणकी व्यग्रता होना, वचन दुष्प्रणिधान—धीरे उच्चारण करना, अस्पष्ट उच्चारण करना अथवा जल्दी उच्चारण करना, कायदुष्प्रणिधान—हस्त पादादि शरीरावयवोंका निश्चल न रहना, अनादर—सामायिक विधिमें अनादर (अनुत्साह) होना, नियमित समय सामायिक न करना अथवा शीघ्रतासे किसी तरह करना, स्मृत्यनुस्थापन—प्रमादादिसे सामायिक करना भूल जाना ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतीचार हैं इस व्रतके धारक पुरुषोंको त्यागने चाहिये ॥५९॥ प्रोषध यह शब्द पर्व वाची है और खाद्य, स्वाद्य, लेह्य तथा पेय इन चार प्रकारके आहारके छोड़नेको प्रोषधोपवास कहते हैं वह राग द्वेषकी हानिके लिये किया जाता है ॥६०॥ अष्टमी और चतुर्दशी ये पर्व माने जाते है। एक महीनेमें दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी इस तरह चार पर्व होते है। इनके पहले दिन अर्थात् सप्तमी और त्रयोदशीके दिन मध्याह्न समयमें अतिथियों (मुनि आदि) का आहार कराना चाहिये ॥६१॥ मुनि आदि उत्तम पुरुषको आहार करानेके अनन्तर स्वयं भोजन करके मुख शुद्ध करे। इसके बाद हाथ पाँव धोकर और अपने घर पर ही नियम करके युक्ति पूर्वक जिन मन्दिर जावै ॥६२॥ धीरे धीरे मार्गको देखता हुआ जिन मन्दिर जाकर ईर्यापथ शुद्धिकर जिन भगवान्का स्तवन करे तथा नमस्कार करके जिन देवकी साक्षीसे प्रत्याख्यान ग्रहण करे ॥६३॥ पश्चात् द्वादश अङ्ग स्वरूप जिनवाणीको तथा जो गुणोंसे महत्त्व युक्त है ऐसे गुरुओंको नमस्कार करके उनसे प्रत्याख्यानकी याचना करे और जिस प्रकार वे प्रत्याख्यान दें उसे उसी तरह पालन करे ॥६४॥ जिनालयमें अथवा और किसी एकान्त स्थानमें अन्य धर्मात्माओंके साथ शास्त्र सुनता हुआ तथा स्वयं शास्त्रपठन करता हुआ काल व्यतीत करे ॥६५॥ इसके बाद

कालस्य यापनां कृत्वा स्वाध्यायं तं विसर्जयेत् । ततः प्रमृज्य भूभागं शयीत तृणसंस्तरे ॥६७
प्रबुद्धः पुनरुत्थाय लात्वा स्वाध्यायमुत्तमम् । कायोत्सर्गादिकं कुर्यात्स्मरन्द्वादशभावनाः ॥६८
स्वाध्यायं तं च निष्ठाप्य पश्चात्सूर्योदये सति । कायशुद्धयादिकं कृत्वा ततः सामायिकं भजेत् ॥६९
द्रव्यपूजामसौ कुर्याज्जिनस्य गुरुशास्त्रयोः । अन्ये चार्हद्दिने तस्मिंस्तस्य भावार्च्चनं मतम् ॥७०
स्नानमाल्यादिनिर्विण्णो धर्मध्यानेन सन्मतिः । तद्दिनं रजनीं तां च नयेत्पूर्वोक्तरात्रिवत् ॥७१
प्रातर्जिनालयं गत्वा स्तुत्वा चेष्ट्वा जिनादिकान् । तत्र स्थित्वा कियत्कालं प्रगच्छेन्निजमन्दिरम् ॥७२
एवमुत्कृष्टभागेन मयोक्तं प्रोषधव्रतम् । षोडशप्रहरस्यैवं यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥७३
यदुत्कृष्टं मतं सर्वं मध्यमं च तथैव च । परं जलं विमुच्यान्यां भुक्ति च परिवर्जयेत् ॥७४
तद्दिने काञ्जिकाहारमेकभक्तं विधाय वा । धर्मध्यानेन संतिष्ठेद्रूवेत्तद्धि जघन्यकम् ॥७५
भेदा अन्येऽपि विज्ञेयाः प्रोक्ताः सन्ति जिनागमे । मध्यमस्य जघन्यस्य प्रोषधस्य तपोधनैः । ७६
आरम्भसंभवं पापं क्षीयते किं तपो विना । तस्मात्पर्वणि तत्कर्तुं युक्तं श्रावकपुङ्गवैः ॥७७
आरम्भकर्म्मणा क्वापि न भवेत्प्रोषधव्रतम् । कुर्वतोऽप्युपवासादि फलायापथ्यभुक्तिवत् ॥७८

आल्हादित मन होकर सन्ध्या समयमें करने योग्य कर्म्म करे। फिर स्वाध्यायको स्वीकार करके पञ्च नमस्कार मन्त्रका भाव पूर्वक जप करे ॥६६॥ पञ्च नमस्कार रूप महामन्त्रका जप करता हुआ कुछ समय व्यतीत करके ग्रहण किये हुए स्वाध्यायका विसर्जन करे। इसके बाद पृथ्वीके किसी प्रदेशको मार्जन (झाड़) करके जन्तुरहित भूमिमें तृणशय्या पर शयन करे ॥६७॥ निद्राके खुलने पर उठकर उत्तम प्रकार स्वाध्यायको स्वीकार करके बारह प्रकार अनित्यादि भावनाओंका स्मरण करता हुआ कायोत्सर्ग आदि करे ॥६८॥ उस स्वाध्यायको पूर्ण करके जब सूर्योदय हो जाय तब शरीर शुद्धि आदि करनेके बाद फिर सामायिक करे ॥६९॥ प्रोषधोपवासका धारक श्रावक देव गुरु और जिनवाणीका जलादि आठ द्रव्योंसे पूजन करे। इस विषयमें कितने महर्षियोंकी यह भी सम्मति है कि प्रोषधोपवासी श्रावकको केवल भाव पूजन करना चाहिये ॥७०॥ स्नान, माल्य, भूषणादिसे विरक्त होकर उत्तम बुद्धिका धारक वह प्रोषधोपवासी श्रावक धर्मध्यानादिसे उस दिनको तथा रात्रिको पहिलेके समान व्यतीत करे ॥७१॥ पुनः प्रातः काल जिनालय जाकर और वहाँ देव, गुरु तथा शास्त्रादिकी स्तुति करके तथा पूजन करके और कुछ समय तक वहीं पर रहकर इसके बाद फिर अपने मकान पर आवे ॥७२॥ इस प्रकार उत्कृष्ट विभागसे जो मैने यह सालह प्रहरका प्रोषधव्रत कहा है यह प्राचीन मुनियोंके अनुसार कहा है ॥७३॥ जिस तरह उत्कृष्ट प्रोषधोपवास किया जाता है उसी तरह मध्यम प्रोषधोपवासको भी समझना चाहिये। परन्तु विशेष इतना है कि मध्यम प्रोषधोपवासमें जल रख कर और शेष भोजनका त्याग किया जाता है ॥७४॥ पर्वके दिन काञ्जिकाहार अथवा एक भुक्त करके जो धर्मध्यान सेवन करता है उसे जघन्य प्रोषधोपवास कहते हैं ॥७५॥ उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य प्रोषधोपवासके और भी कितने भेद मुनि लोगोने जिन आगममें कहे हैं उन्हें शास्त्रावलोकन करके जानना चाहिये ॥७६॥ आरंभसे उत्पन्न होनेवाला पाप तपके विना कभी नाश नहीं हो सकता। इसलिये उस पापको नाश करनेके अर्थ अष्टमी तथा चतुर्दशीके दिन उत्तम श्रावकोंको प्रोषधोपवास करना योग्य है ॥७७॥ आरंभ करनेसे कभी प्रोषधोपवास नहीं हो सकता, आरंभ करनेवाला कितने भी उपवासादि क्यों न करे उसके अपथ्य भोजनके समान वह फलके लिये समझना चाहिये ॥७८॥ अनवेक्षितप्रमार्जितोत्सर्ग—बिना देखे अथवा

अनवेक्षितप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तराः । अनादृतिस्मृत्यनुपस्थाने तस्यातिचारकाः ॥७९
अततीत्यतिथिर्ज्ञेयः समयं त्वविराधयन् । तस्ययत्संविभजनं सोऽतिथिसंविभागकः ॥८०
अथवा न विद्यते यस्य तिथिः सोऽतिथिः कथ्यते । तस्मै दानं व्रतं तत्स्यादतिथे संविभागकम् ॥८१
अतिथिः प्रोच्यते पात्रं दर्शनव्रतसंयुतम् । स्वानुग्रहार्थमुत्सर्गो दानं तस्मै प्रदीयताम् ॥८२
आहारौषधवासोपकरणं तच्चतुर्विधम् । भुक्त्यादौ सद्विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषतः ॥८३
प्रतिग्रहोच्चकैः पीठपादप्रक्षालनार्च्चनम् । प्रणामो योगशुद्धिश्चैषणाशुद्धिर्विधेर्भिदाः ॥८४
गृही देवार्च्चनं कृत्वा मध्याह्ने साम्बुभाजनः । पात्रावलोकनं द्वास्थः कुर्याद्भक्त्या सुधौतभृत् ॥८५
नरलोके विदेहादौ पात्रेभ्यो वितरन्ति ये । भक्त्याऽऽहारं तु ते धन्याश्चिन्तयेदित्यसौ तदा ॥८६
आयान्तमवीक्ष्य सत्पात्रं भ्रमद्वा चन्द्रचर्यया । गत्वा नमोऽस्तु भगवंस्तिष्ठ तिष्ठेति त्रिर्वदेत् ॥८७
नीत्वा गृहं तदर्हं यदुच्चपीठं प्रदाय च । पादौ प्रक्षाल्य तद्वारि वन्दित्वा चाष्टधार्च्चयेत् ॥८८
नमस्कृत्य त्रियोगेन पूतश्चन्द्रोपकोद्र्ध्वगाम् । शुद्धां भोजनशालां तन्नीत्वा संशोध्य भोजयेत् ॥८९

बिना मार्जनके किये मल-मूत्रादिका क्षेपण करना, अनवेक्षितप्रमार्जित आदान—बिना देखे अथवा विना मार्जन किये शास्त्रादि उपकरणोंका ग्रहण करना, अनवेक्षितप्रमार्जितसम्स्तर—बिना देखे और विना मार्जन किये शय्या आदि बिछाना, अनादर—उपवासमें अनादर करना तथा स्मृत्यनुपस्थान—उपवासकी तिथि आदि भूल जाना ये पांच प्रोषधोपवासके अतीचार प्रोषधोपवासव्रती श्रावकको छोड़ने चाहिये ॥७९॥ जो संयमकी विराधना न करके गमन करता है वह अतिथि कहा जाता है। उस संयम-पालक अतिथिका जो विभाग करना है अर्थात् भक्ति पूर्वक आहारादि देना है उसे अतिथि संविभाग नाम चौथा शिक्षाव्रत कहते है ॥८०॥ अथवा जिसका तिथि (स्वामी) संसारमें कोई नहीं है उसे अतिथि कहते है उसके लिये जो दान देना है उसे अतिथि संविभाग नाम शिक्षाव्रत कहते हैं ॥८१॥ अतिथि वे कहे जाते है जो सम्यग्दर्शन तथा व्रतादिसे युक्त है और अपने कल्याण के अर्थ उत्सर्ग अर्थात् द्रव्यका पात्रोंमें सदुपयोग करनेका दान कहते हैं। वह दान उपर्युक्त अतिथियोंको देना चाहिये ॥८२॥ आहार दान, औषध दान, वसतिका दान तथा उपकरण दान इस तरह दानके ये चार भेद है। सद्विधि, सद्द्रव्य, सद्दाता तथा सत्पात्र इनके विशेषसे इन दानोंमें भी विशेषता होती है ॥८३॥ अतिथिका ग्रहण, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनःशुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि तथा एषणा शुद्धि ये सब विधिके भेद है ॥८४॥ गृहस्थोंको—जिन भगवान्का पूजन करने के बाद मध्याह्न समयमें जलका भाजन हाथमें लेकर अपने घरके द्वार पर स्थित होकर भक्ति पूर्वक पात्रोंका अवलोकन करना चाहिये ॥८५॥ पात्रावलोकनके समय गृहस्थोंको चिन्तवन करना चाहिये कि—इस मनुष्य लोकमें अथवा विदेह क्षेत्रादिमें जो पुण्यात्मा पुरुष भक्ति पूर्वक पात्रोंके लिये आहार देते है वे धन्य है ॥८६॥ सत्पात्रको आये हुए चन्द्रचर्यासे भ्रमण करते हुए देखकर उनके समीप जाकर हे भगवन्! आपके चरणोंमें नमस्कार है ऐसा कहकर तिष्ठ! तिष्ठ!! तिष्ठ!!! ऐसा तीन बार कहे। छोटे-बड़े या सधन-निर्धनका विचार न करके चन्द्रमाके सदृश सबके घर पर अपना प्रकाश फैलाने वाले साधुकी गोचरी वृत्तिको चन्द्रचर्या कहते है ॥८७॥ इसके बाद उन्हें अपने गृह पर ले जाकर और उनके योग्य ऊँचा स्थान देकर उनके चरण कमलोंका पवित्र जलसे प्रक्षालन करे। पश्चात् उस जलको मस्तक पर लगाकर जलादि अष्ट द्रव्योंसे पूजन करना चाहिये ॥८८॥ अनन्तर मन वचन कायसे उन्हें प्रणाम करके जिसके ऊपर चन्द्रोपक (चन्दोवा) लग रहा है ऐसी शुद्ध भोजनशालामें मुनिको ले जाकर शुद्धि पूर्वक आहार करावे ॥८९॥

एवं विधिं विधायासौ यत्क्षिप्तं शुद्धभोजनम् । चर्मादिसंगनिर्मुक्तं प्रासुकं कोमलं हितम् ॥९०
नानीतं कन्दुकादिभ्यो नायातं न चिरोद्भवम् । न विद्धं देवसंकल्प्यं न हीनादिकृते कृतम् ॥९१
रात्रौ च नोषितं स्वादचलितं पुष्पितं न यत् । नवकोटिविशुद्धं यत्पिण्डशुद्ध्युक्तदोषमुक् ॥९२
चतुर्दशमलैर्मुक्तमन्तरायातिगं च यत् । तस्मै तद्भोजनं देयं ज्ञात्वाऽवस्थां मुनेर्मुदा ॥९३
श्रद्धालुर्भक्तिमांस्तुष्टः क्षमावान्शक्त्यलोपकः । निर्लोभः कालविज्ञानी दाता सप्तगुणो भवेत् ॥९४
पात्रं सम्यक्त्वसम्पन्नं मूलोत्तरगुणान्वितम् । स्वं तरच्च परान्दातृंस्तारयेच्च सुपोतवत् ॥९५
गोचरीभ्रमरीदाहप्रशामन्नाक्षमृक्षवत् । गर्त्तापूरणवद्भुङ्क्ते यत्तत्पात्रं प्रशस्यते ॥९६
अद्याहं सफलो जातः फलितो मे शुभद्रुमः । कल्पवृक्षादयो लब्धाः प्राप्तं पात्रं यदीदृशम् ॥९७
एवमानन्दपूर्वो यो निदानादि-विवर्जितः । दत्ते पात्राय सद्भक्ति तत्पुण्यं केन वर्ण्यते ॥९८
पात्राय वित्तिना द्रव्यं दाता सप्तगुणैर्युतः । यो दत्ते किल तत्पुण्यं कथं मोक्षाय नो भवेत् ॥९९

इस प्रकार मुनियोंके योग्य सत्कारादि करके और उस समय मुनिराजकी अवस्था पर ध्यान देकर उनके योग्य हर्ष पूर्वक पवित्र भाजन (पात्र) में रखा हुआ, चर्मादि अपवित्र वस्तुओंके सम्बन्धसे रहित, पवित्र प्रासुक (जीवादिरहित), कोमल, जिसके खानेसे शरीरमें किसी प्रकारकी बाधा न हो, ग्रामान्तरसे लाया हुआ न हो, विद्ध न हो, देवादिकोंके अर्थ सकल्प किया हुआ न हो, नीच लोगोंके लिये बनाया हुआ न हो, रात्रिमें बना हुआ न हो, स्वादसे विचलित चलित रस न हो गया हो, जिस पर फूलन वगैरह न चढ़ गई हो, मन, वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदना रूप इस तरह नव कोटीसे शुद्ध हो, पिण्ड शुद्धि नाम अधिकारमे वर्णन किये हुए दोषोसे रहित हो तथा अन्तरायरहित हो, ऐसा पवित्र आहार मुनिराजके लिये देना चाहिये ॥९०–९३॥ पात्रोंमें श्रद्धा युक्त हो, भक्ति करके युक्त हो, सन्तोषी हो, क्षमावान हो, अपनी शक्तिके अनुसार सद्व्ययी हो, अर्थात् कृपण न हो, लोभ-रहित हो, और समयको जानने वाला हो, ये दान देने वाले दाताके सात गुण है । इन्हींसे युक्त दाता कहा जाता है । जिनमें ये गुण नही हैं वे साधु लोगोंके दान देनेके पात्र भी नही हैं ॥९४॥ जो पवित्र सम्यग्दर्शनसे युक्त हो, मूल गुण तथा उत्तर गुणोंसे युक्त हो, अपने आप भव समुद्रसे तिरने वाला तथा जहाजके समान दूसरे लोगोंको ससार सागरसे पार करनेवाला हो, वह पात्र कहलाता है ॥९५॥ जो गोचरी वृत्ति या भ्रामरी वृत्तिसे, दाह-प्रशमनके समान, या अक्षम्रक्षणके समान, या गर्तपूरणके समान राग-रहित होकर यथा लब्ध भोज्य वस्तुको खाता है वह पात्र प्रशंसनीय कहा जाता है ॥९६॥

आज मेरा जीवन सार्थक हुआ । आज मेरा पुण्यरूप वृक्ष फलयुक्त हुआ । अहो ! आज मुझें कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, कामधेनु आदि मनोऽभिलषित उत्तम उत्तम वस्तुएँ प्राप्त हुईं जो आज मेरे अहो भाग्यसे ये बड़े भारी तपस्वी रत्न मेरे गृहमें आहारके लिये पधारकर मुझ मन्द-भागीके घरको अपने चरण कमलोंकी रजसे पवित्र किया ! ॥९७॥ इस प्रकार आनन्दपूर्वक निदानादि (आगामी सुखोंकी अभिलाषा) से रहित जो भव्य पुरुष भक्ति सहित उत्तम पात्रोंके अर्थ पवित्र आहार देता है ग्रन्थकारका कहना है कि उस महादानके प्रभावसे होनेवाले पुण्य राशिका कहाँ तक वर्णन करें ॥९८॥ सात गुणोंसे युक्त जो दाता पात्रोंके अर्थ अपने द्रव्यका सदुपयोग करते हैं उन भव्य पुरुषोंका वह पवित्र पुण्य क्या मोक्षको प्राप्ति करानेवाला नहीं होगा ? किन्तु अवश्य होगा । भावार्थ—पात्र दान मोक्षका कारण है इसलिये भव्य गृहस्थोंको दान देनेमें

**भुक्तेः कायस्ततो धातुस्थितिस्तस्यां मनः स्थिरम् । तस्मिन्ध्यानं ततः कर्मक्षयो मोक्षः स एव हि ॥१००
दाता पात्रं स्थिरं कुर्वन्मोक्षाय स न किं स्थिरम् । शिल्पी प्रासादमुच्चायन्स्वयमुच्चैर्न जायते ॥१०१
श्रीषेणवज्रजङ्घाद्याः पात्रदानोत्थपुण्यतः । भोगभूस्वःसुखं भुक्त्वा तीर्थकृत्त्वं च लेभिरे ॥१०२
मेघेश्वरचरित्रेऽस्ति रत्यादिवरवेगिका । कपोतयुगलं यत्र पात्रदानानुमोदतः ॥१०३
हिरण्यवर्मणो नाम्ना प्रभावत्या युतस्य तु । विद्याधरपतेः सौख्यं प्राप्तवत्तत्र किं न ना ॥१०४
कर्मोदयवशाज्जातरोगाय मुनये भृशम् । युक्त्या सदौषधं दानं दीयतां रोगशान्तये ॥१०५
द्वारावत्यां मुनीन्द्राय ददौ विष्णुः सदौषधम् । तत्पुण्यतीर्थकृन्नाम सद्गोत्रेण बबन्ध सः ॥१०६
वासो मठादिकावासस्तद्दानमपि दीयताम् । मुनिभ्यो गृहिणा शुद्धधर्मतीर्थप्रवर्तने ॥१०७
ज्ञानसंयमशौचोपकरणं दानमुत्तमम् । ज्ञानसंयमवृद्ध्यर्थं दद्यान्मुनिवराय सः ॥१०८
ज्ञानोपकरणं शास्त्रं पिच्छः संयमसाधनम् । शौचोपकरणं कायमलहारि कमण्डलु ॥१०९**

सदैव प्रयत्नतत्पर होना चाहिये ॥९९॥ भोजनसे शरीरकी स्थिति रहती है, शरीरकी स्थितिसे धातुओंकी स्थिति होती है, धातुओंके स्थिर रहनेसे मनकी स्थिरता होती है, मनकी स्थिरतासे ध्यान अच्छी तरह होता है, उसी ध्यानसे कर्मोका नाश होता है और कर्मोका नाश ही मोक्ष कहलाता है। दान उत्तरोत्तर मोक्षका कारण है इसलिए गृहस्थोंको दानमें निरन्तर उद्यमशील होना चाहिये ॥१००॥ जो दाता दानादिसे मुनियोंको मोक्षमार्गादिमें स्थिर करता है क्या वह मोक्ष जानेका पात्र न होगा ? अरे ! मकानका निर्माण करनेवाला शिल्पीकार मकानको ऊँचा बनाता हुआ क्या स्वयं ऊँचा न जाता ? अवश्य ही ऊँचा जाता है। भावार्थ—जैसे शिल्पकार ज्यों ज्यों उन्नत प्रासादोंका विनिर्माण करता है त्यों त्यों वह भी ऊँचे चढ़ता जाता है उसी प्रकार जो दाता मुनियोंको आहारादिसे रत्नत्रयके साधनमे निश्चल करेगा वह भी नियमसे मोक्षका अधिकारी होगा इसलिए दान देनेमें प्रयत्न करना चाहिये ॥१०१॥ इसी पात्रदानसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यकर्मके प्रभावसे प्राचीन समयमें श्रीषेण तथा वज्रजङ्घ आदि कितने महापुरुष भोगभूमि तथा स्वर्ग-जनित सुखोंको भोगकर इसके बाद जगत्पूजनीय तीर्थंकर पदको प्राप्त हुए हैं ॥१०२॥ मेघेश्वर (जयकुमार) के चरित्रमे रतिवर और रतिवेगा नाम कपोत युगलका वर्णन है। केवल पात्रदानके अनुमोदन मात्रमे यह कपोत युगल प्रभावती स्त्री सहित हिरण्य नाम विद्याधरपतिके सुखको प्राप्त हुआ था तो पात्रदानके फलसे मनुष्य क्या स्वर्गादि सुखोंको नहीं पावेगा ? अर्थात् अवश्य पावेगा। भावार्थ—पात्रदानके अनुमोदन (प्रशंसा) मात्रसे कपोत युगलने विद्याधरोंकी पर्याय पाई थी तो दानके देनेसे मनुष्य स्वर्गादि सुख नहीं पा सकेगा क्या ? किन्तु अवश्य पा सकेगा इसलिये पात्रदानमें गृहस्थोंको अग्रसर होना चाहिये ॥१०३-१०४॥ यदि कर्मोदयके वशसे मुनियोंको किसी प्रकार शरीरमें व्याधियाँ हो जावें तो उनकी शान्ति करनेके लिए उत्तम उत्तम औषधियोंका दान मुनियोंके अर्थ देना चाहिए ॥१०५॥ द्वारका नगरीमें किसी मुनिराजके लिये विष्णु (श्रीकृष्ण) ने उत्तम औषध दान दिया था उस दानके पुण्यसे उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध किया ॥१०६॥ वसतिका, मठ आदिका भी दान मुनियोंके लिये शुद्ध धर्म तीर्थकी वृद्धिके अर्थ गृहस्थोंको देना चाहिये ॥१०७॥ ज्ञान, संयम तथा शौचोपकरण, शास्त्र, कमण्डलु, पिच्छी आदि वस्तुओंका दान मुनिराजोंके लिये ज्ञान तथा संयमकी वृद्धिके अर्थ देना चाहिए ॥१०८॥ ज्ञानका उपकरण शास्त्र है, संयमका साधन करनेवाली पिच्छी है, और

यत्सूनायोगतः पापं संचिनोति गृही घनम् । स तत्प्रक्षालयत्येव पात्रदानाम्बुपूरतः ॥११०
साधुः स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं देशसंयमी । सम्यग्दर्शनसंशुद्धो व्रतहीनो जघन्यकम् ॥१११
उत्तमादिसुपात्राणां दानाद्भोगभुवस्त्रिधा । लभ्यन्ते गृहिणा मिथ्यादृशा सम्यग्दृशाऽव्ययः ॥११२
यत्रैकद्वित्रिपल्यायुर्जीवन्ति युगलान्यहो । एकद्वित्रिकगव्यूतिकायानि द्युतिमन्ति च ॥११३
भोजनवस्त्रमाल्यादिदशधाकल्पभूरुहैः । दत्तान्भोगान्मनोभीष्टान्भुक्त्वा यान्त्यमरालयम् ॥११४
पात्रे स्वल्पव्ययं पुंसामनन्तफलभारभवेत् । भुक्त्वा दत्तं यथायुक्ति शुद्धक्षेत्रोप्तबीजवत् ॥११५
भोक्तुं रत्नत्रयोच्छ्रायो दातुः पुण्यचयः फलम् । शिवान्तनानाभ्युदयदातृत्वं तद्विशिष्टता ॥११६
अणुव्रतादिसम्पन्नं कुपात्रं दर्शनोज्झितम् । तद्दानेनाश्नुते दाता कुभोगभूभवं सुखम् ॥११७
अपात्रमाहुराचार्याः सम्यक्त्वव्रतवर्जितम् । तद्दानं निष्फलं प्रोक्तमुषरक्षेत्रबीजवत् ॥११८
सावद्यकर्ममुक्तानां दानं सावद्यसंभवम् । पापं शोधयेत्क्षिप्तं मलं वारीव निर्मलम् ॥११९

शरीरके बाह्य मलादिको दूर करनेवाला शौचोपकरण कमण्डलु है ॥१०९॥ गृहस्थ लोग पञ्च सूना (पीसना, खांडना, चूल्हा सुलगाना, पानी भरना, और झाड़ना) के सम्बन्धसे जिस पाप समूहका संग्रह करते है उसे पात्रदानरूप जल प्रवाहसे नियमसे धो डालते हैं ॥११०॥ मुनिलोग उत्तम पात्र कहे जाते हैं, देशसंयमी (एकदेशव्रती) मध्यम पात्र कहे जाते हैं और जो सम्यग्दर्शन करके युक्त हैं परन्तु व्रत-रहित (अव्रत सम्यग्दृष्टि) हैं वे जघन्य पात्र कहे जाते हैं ॥१११॥ मिथ्यादृष्टि गृहस्थ उत्तम, मध्यम तथा जघन्य पात्रोंके दानसे क्रमसे उत्तम भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि तथा जघन्य भोगभूमिमें जाते है और सम्यग्दष्टि पुरुष अव्यय पदको प्राप्त होते हैं ॥११२॥ उन तीनों भोगभूमिमें मनुष्य क्रमसे एक पल्य, दो पल्य तथा तीन पल्य पर्यन्त आयुके धारक होते हे तथा कान्ति युक्त एक कोश, दो कोश और तीन कोश ऊँचे शरीरके धारक होते हैं ॥११३॥ उन भोगभूमियोंमें—भोजनाङ्ग, वस्त्राङ्ग, माल्याङ्ग, ज्योतिषाङ्ग, भूषणाङ्ग, पानाङ्ग आदि दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हुए मनोभिलषित अनेक प्रकारके उत्तम भोगोंको भोगकर इसके बाद वे स्वर्गमें जाते है ॥११४॥

उत्तमादिपात्रोंमें भोजनके द्वारा किया हुआ थोड़ा भी दान भव्य पुरुषोंको—यथा युक्ति पवित्र क्षेत्र (खेत) में बोये हुए बीजकी तरह अनन्त गुणा फलका देनेवाला होता है। भावार्थ—जिस तरह खेतमें थोड़ा भी धान्य बहुत फलको देनेवाला होता है उसी तरह पात्रोंके लिये थोड़ा भी भी व्यय किया हुआ द्रव्य अनन्त गुणा होकर फलता है इसलिये आत्महितके जिज्ञासु पुरुषोंको पात्र सरीखे सत्कार्यमें अपनी पाई हुई लक्ष्मीका सदुपयोग करना चाहिये ॥११५॥ भोजन करनेवाले पात्रके तो रत्नत्रयकी उन्नति, दान देनेवाले दाताके पुण्यका संचयरूप फल और मोक्ष पर्यन्त अनेक प्रकारके अभ्युदयको देनेवाला दातृत्व ये दानमें विशेष होते हैं। भावार्थ—उत्तम पात्र, दाता तथा द्रव्य इनके विशेषसे दानमें भी विशेषता होती है ॥११६॥ अणुव्रतादिसे युक्त परन्तु यदि सम्यग्दर्शनसे रहित है तो उसे कुपात्र समझना चाहिए। कुपात्रोंको दान देनेसे दाता कुभोग-भूमिसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंको भोगनेवाला होता है ॥११७॥ जो सम्यग्दर्शन और व्रतसे सर्वथा रहित हैं उन्हें महर्षि लोग अपात्र कहते है। अपात्रमें दिया हुआ दान ऊषर भूमिमें बीज बोनेके तुल्य निष्फल है। भावार्थ—जैसे ऊषर भूमिमें बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है उसी तरह अपात्रोंको दान देनेसे द्रव्यका केवल दुरुपयोग होता है उससे फल कुछ भी नहीं होता ॥११८॥ सावद्य

अतिथिसंविभागोऽयं व्रतं व्यावर्णितं मया । अतिचारास्तु पञ्चास्य मोक्तव्यास्ते महात्मभिः ॥१२०
आद्यः सचित्तनिक्षेपोऽन्यः सचित्तपिधानकः । परव्यादेशमात्सर्यं कालातिक्रम इत्यमी ॥१२१
व्रतस्यास्य परं नाम केचिदाहुर्मुनीश्वराः । वैय्यावृत्यं न चार्थस्य भेदः कोऽप्यत्र विद्यते ॥१२२
वैय्यावृत्यस्य भुक्त्यादेश्चतुर्धास्य निदर्शनाः । श्रीषेणो वृषभसेना कौंडेशः सूकरो ज्ञेयाः ॥१२३
मुनीनां प्रणतेरुच्चैर्गोत्रं भोगस्तु दानतः । लभ्यते सेवनात्पूजा भक्ते रूपं स्तुतेर्यशः ॥१२४
व्रतमेतत्सदा रक्षन्पात्रान्वेषणतत्परः । यस्तिष्ठेत्तदलाभेऽपि स स्यात्तत्फलभाग्नरः ॥१२५
भावो हि पुण्यकार्यत्र पापाय च भवेन्नृणाम् । तस्मात्पुण्यार्थिना पुंसा निजः कार्यः शुभः स तु ॥१२६
सत्पात्रालाभतो देयं मध्यमाय यथाविधि । पात्राय तदलाभे तु जघन्याय स्वशक्तितः ॥१२७
रोगिणं च जराक्रान्तं पराधीनं गवादिकम् । पथ्यादिनोपचर्य्यासौ स्वयं भुञ्जीत बन्धुयुक् ॥१२८

(आरम्भ) कर्म-रहित मुनियोको दिया हुआ दान सावद्यसे उत्पन्न होनेवाले पापको नियमसे नाश करता है जैसे निर्मल जल लगे हुए कीचड़को दूर करता है ॥११९॥ यह अतिथि संविभाग नाम व्रतको मैंने अच्छी तरहसे वर्णन किया । इसके पाँच अतीचार है वे महात्मा पुरुषोंको छोड़ने चाहिये ॥१२०॥ सचित्त निक्षेप—सचित्त वस्तुओमे दान देनेकी वस्तुएँ रखना, सचित्तपिधान—दान योग्य आहारादिको सचित्त वस्तुओंसे ढकना, परव्यपदेश—दानके योग्य किसी अपनी वस्तुको दूसरोंकी कहना, मात्सर्य—दान देते हुए दूसरे पुरुषोंसे द्वेष करना, कालातिक्रम—मुनियोके भोजनके समयको उल्लंघन करके आहार देना ये पाँच अतिथि संविभागव्रतके अतिचार है अतिथि सविभागव्रतीको छोड़ने चाहिए ॥१२१॥ कितने आचार्य इसी अतिथि संविभागव्रतका दूसरा नाम वैय्यावृत्य कहते है परन्तु इस नाममें अर्थ-भेद कुछ नही है । केवल नाम भेद समझना चाहिए ॥१२२॥ इस वैय्यावृत्य (अतिथिसंविभाग) नाम व्रतके जो भोजन दान, औषध दान, शास्त्र दान तथा वसतिका दान इस तरह चार विकल्प है इन चारों के—श्रीषेण, वृपभसेना नाम सेठकी कन्या, कौण्डेश तथा सूकर ये चार उदाहरण (दृष्टान्त) समझने चाहिये । भावार्थ—चारों दानोंमें ये चारों प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये दानका फल देखकर भव्य पुरुषोंका अपना प्रवृत्ति दानमें करनी चाहिये ॥१२३॥ जो भव्य पुरुष मुनियोंको भक्ति पूर्वक नमस्कार करते हैं वे नमस्कारके पुण्यसे उत्तम गोत्रमें पैदा होते हैं । जो मुनि लोगोंको भक्ति पूर्वक दान देते है वे उत्तम स्वर्गादिके भोगोके भोगने वाले होते हैं । जो उनकी सेवा करते है वे संसारमें और लोगोके द्वारा सेवनीय होते है । जो लोग भक्ति करते है वे मनोहर रूपके धारी होते है । और जो भक्ति पूर्वक स्तुति करते है वे ससारमें पवित्र यशके भोगने वाले होते है । इसलिये आत्महितके अभिलाषी पुरुषाको भक्ति पूर्वक ये सर्व कार्य करने चाहिये ॥१२४॥ इस अतिथिसंविभाग (वैयावृत्य) व्रतकी रक्षा करता हुआ जो निरन्तर महनीय पात्रोंके ढूँढनेमें प्रयत्नपरायण रहता है वह पुरुष पात्रके अलाभमें भी अतिथि संविभाग व्रतके फलका भोगने वाला होता है ॥१२५॥ आत्माका परिणाम ही तो पुण्यका सम्पादन करनेवाला तथा पापका उत्पादक होता है इसलिये जो पुण्यकी इच्छा करनेवाले हैं उन्हें अपने परिणाम शुभरूप रखना चाहिये ॥१२६॥ यदि सत्पात्र (उत्तमपात्र) का संयोग न मिले तो उनके अभावमें यथा शास्त्रानुसार मध्यमपात्रोंको दान देना चाहिये, यदि मध्यम पात्रोंका भी संयोग न मिले तो उनके अभावमें शक्त्यनुसार जघन्यपात्रोंको दान देना चाहिये ॥१२७॥ रोगी पुरुषोंका अथवा वृद्ध पुरुषोंका तथा पराधीन गाय आदिका पथ्यादिसे उपचार करके अपने बन्धुलोगोंके साथ फिर आप भोजन

प्रत्यहं नियमात्किञ्चित्तपस्यन्ददत्र च। महीयसः परांल्लोकांल्लभते स ध्रुवं सुदृक् ॥१२९
पञ्चाणुव्रतपुष्ट्यर्थं पाति यः सप्तशीलकम्। व्यतीचारं सदृष्टिः स व्रतिकः श्रावको भवेत् ॥१३०
यदाहोरात्रिकाचारं बिभर्त्याशाधरोदितम्। तदा सामायिकाद्यर्हः स महाश्रावको भवेत् ॥१३१

एवं द्वादशधा व्रतं गतमलं ये धारयन्त्यादरा-
त्पञ्चाणुव्रतत्रिगुणव्रतचतुःशिक्षाव्रताख्यं सदा।
ते मेधाविन उत्तमार्थविधिना स्मृत्वा जिनेन्दोः पदं
प्राणान्स्वान्परिहृत्य सर्वसुखदा नाकश्रियो भुञ्जते ॥१३२

करे ॥१२८॥ नियम पूर्वक प्रतिदिन कुछ तपश्चरण करता हुआ तथा कुछ दान देता हुआ सम्यग्दृष्टि पुरुष निश्चयसे स्वर्गादि उत्तम स्थानोंको प्राप्त होता है ॥१२९॥ जो सम्यग्दृष्टि पुरुष अहिंसादि पञ्च अणुव्रतोंकी वृद्धिके लिये अतिचार-रहित तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह शीलसप्तकका पालन करता है वह व्रतप्रतिमाका धारक व्रतिक श्रावक कहा जाता है ॥१३०॥ जो पुरुष पण्डितवर्य्य आशाधरके कहे हुए दिन रात्रि सम्बन्धि आचारको जिस समय धारण करता है वह सामायिकादि प्रतिमाओके धारण करने योग्य महा श्रावक समझा जाता है ॥१३१॥ जो भव्यपुरुष—अतीचार-रहित अहिंसादि पाँच अणुव्रत, दिग्विरतादि तीन गुणव्रत, देशावकाशिकादि चार शिक्षा व्रत इस तरह बारह व्रतोको धारण करते है वे बुद्धिमान पुरुष—जिन भगवान्के पादारविन्दोंका स्मरण करते हुए अपने प्राणोंको छोड़कर अनेक तरहके उत्तम सुखोंको सम्पादन करनेवाली स्वर्गकी लक्ष्मीके भोगनेके स्वामी होते है ॥१३२॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे
व्रतप्रतिमास्वरूपवर्णनो नाम चतुर्थोऽधिकारः ॥४॥

●

पञ्चमोऽधिकारः

अथ सामायिकादीनां नवानां वच्मि लक्षणम् । प्रतिमानां नरेन्द्र ! त्वं सावधानमनाः शृणु ॥१
अहो सप्तकशीलेऽस्मिन्श्रावकावपरावपि । अन्तर्भूतौ च विज्ञेयौ केषांचिच्छास्त्रयुक्तितः ॥२
ते चैवं प्रविवदन्त्यार्या द्वयं भोगोपभोगयोः । कृत्वा निक्षिप्य संन्यासमेवं स्यात्सप्तशीलकम् ॥३
एतद्ग्रन्थानुसारेण समता प्रोषधव्रतम् । यच्छीलं तद्द्वयं स्यातां प्रतिमे व्रतरूपतः ॥४
मूलोत्तरगुणव्रातपूर्णः सम्यक्त्वपूतधीः । साम्यं त्रिसन्ध्यं कष्टेऽपि भजन्सामायिकी भवेत् ॥५
कुर्वन्यथोक्तं सन्ध्यासु कृतकर्माऽऽसमाप्तितः । समाधेर्जातु नापैति कृच्छ्रे सामायिकी हि सः ॥६
सामायिकव्रते सौधशिखरे कलशस्तदा । तेनारोपि यदैषा भूर्येनाश्रायि महात्मना ॥७
प्रागप्तसामायिकं शीलं तद्यथा प्रतिमाश्रिनः । व्रतं तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तगीः ॥८
यः प्राग्धर्मत्रयारूढः प्रोषधानशनव्रतम् । यावन्न च्यवते साम्यात्स भवेत्प्रोषधव्रती ॥९
मुक्तसावद्यभुक्त्यङ्गसंस्कारः प्रोषधोत्तमम् । आश्रितो वस्त्रसंगूढमुनिवद्भाति दूरतः ॥१०

व्रत प्रतिमाके वर्णनके अनन्तर सामायिकादि नव प्रतिमाओ के लक्षण कहता हूँ, हे नरेन्द्र ! तुम सावधान मन होकर सुनो ॥१॥ कितने ही आचार्योंके मतसे शास्त्रकी युक्तिके अनुसार शीलसप्तकमें सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक तथा प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक भी अन्तर्भूत हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥२॥ उन महर्षियोंका यह कहना है कि इस शील सप्तकमे भोगोपभोग व्रतके भोग और उपभोग ऐसे दो विकल्प करके और संन्यास अर्थात्—सल्लेखना और मिलाकर शीलसप्तक होता है। भावार्थ—कुछ आचार्य भोगपरिमाणव्रत, उपभोगपरिमाणव्रत, अतिथिसंविभाग और संन्यास (सल्लेखना) इन चार शिक्षा व्रतोंके साथ दिग्व्रत, देशावकाशिक व्रत और अनर्थदण्ड विरतिव्रत इन तीन गुणव्रतोंको मिलाकर शीलसप्तक कहते है। तथा सामायिक व्रतको तीसरी प्रतिमा और प्रोषधव्रतको चौथी प्रतिमा मानते है ॥३॥ किन्तु इस ग्रन्थके अनुसार तो सामायिक और प्रोषधव्रत जिस तरह शील स्वरूप वर्णित है वे दोनों अब व्रत रूपसे प्रतिमा है ॥४॥ मूलगुण और उत्तरगुणके समूहसे पूर्ण, और जिसकी बुद्धि सम्यक्त्वसे पवित्र है जो प्रातःकाल, मध्याह्न काल तथा सायंकाल इस तरह तीनो काल दुःखादिके होने पर भी समता भावका सेवन करता है वह सामायिक प्रतिमाका धारी श्रावक होता है ॥५॥ तीनों सन्ध्याओमे सामायिकमें करने योग्य कर्मको समाप्तिपर्यन्त करता हुआ नाना प्रकारके उपसर्गादिकोंके आने पर भी सामायिकसे कभी च्युत नहीं होता है वह नियमसे सामायिक प्रतिमाका धारी श्रावक होता है ॥६॥ उस भव्यपुरुषने सामायिक व्रत रूप प्रासादके शिखर ऊपर समझो कि—कलश चढाया है जिस महात्मा पुरुषने जो यह सामायिक प्रतिमारूप पृथ्वीका आश्रय किया है ॥७॥ पहले व्रतप्रतिमाके अनुष्ठानके समयमें शील रूप जो सामायिक था वह जैसे अब प्रतिमा रूप है उसी तरह जो प्रोषधोपवास पहले शील रूप था वही अब प्रतिमा रूप समझना चाहिये ॥८॥ जो पहली दर्शनादि तीन प्रतिमाओंका धारण करनेवाला प्रोषधव्रती सोलह पहर तक साम्य भावसे च्युत नहीं होता है वह प्रोषध व्रती कहा जाता है ॥९॥ जिसने आरम्भ कर्म, भोजन, तथा शरीर संस्कारादि सब छोड़ दिये है और उत्तम

प्रतिमायोगतो रात्रिं ये नयन्तोऽघविच्छिदे । क्षोभ्यन्ते नोपसर्गेण केनापि स्तौमि तानहम् ॥११
धन्यास्ते श्रावकाः प्राग्ये वारिषेणसुदर्शनौ । जिनदत्तादयोऽन्येऽपि निष्कम्पाः प्रोषधव्रते ॥१२
प्राक्चतुःप्रतिमासिद्धो यावज्जीवं त्यजेत्त्रिधा । सचित्तभोजनं स स्याद्दयावान्पञ्चमो गृही ॥१३
सह चित्तेन बोधेन वर्तते हि सचित्तकम् । यन्मलत्वेन प्रागुक्तं तदिदानीं व्रतात्मतः ॥१४
शाकबीजफलाम्बूनि लवणाद्यप्रासुकं त्यजन् । जाग्रद्दयोऽङ्गिपञ्चत्वभीतः संयमवान्भवेत् ॥१५
कालाग्नियन्त्रपक्वं यत्फलबीजानि भक्षितुम् । वर्णगन्धरसस्पर्शव्यावृत्तं जलमर्हति ॥१६
हरितेष्वङ्कुराद्येषु सन्त्येवानन्तशोऽङ्गिनः । निगोता इति सार्वज्ञं वचः प्रमाणयन्सुधीः ॥१७
पदापि संस्पृशंस्तानि कदाचिद्गाढतोऽर्थतः । योऽतिसंक्लिश्यते प्राणनाशेऽप्येष किमत्स्यति ॥१८
अहो तस्य जिनेन्द्रोक्तिनिर्णयोऽक्षजितिः सतः । अदृश्यजन्त्वपि हरिन्नात्ति यद्गदहानये ॥१९
प्राक्पञ्चक्रियानिष्ठः स्त्रीसंयोगविरक्तधीः । त्रिधा योऽह्नि श्रियेन्न स्त्रीं रात्रिभक्तव्रतः स तु ॥२०
एतद्युक्त्या किमायातं दिवा ब्रह्मव्रतं त्विति । रात्रौ भक्तश्च स्त्रीसेवां यः कुर्याद्रात्रिभक्तिकः ॥२१
अन्ये चाहुर्दिवा ब्रह्मचर्यं चानशनं निशि । पालयेत्स भवेत्षष्ठः श्रावको रात्रिभक्तिकः ॥२२
अहो सन्तोषिणां चित्रं संकल्पोच्छेदचातुरी । यन्नामापि मुदेऽप्येषा येन दृष्टा शिलायते । २३

प्रोषध व्रत धारण किया है वह भव्यात्मा दूसरे वस्त्रवेष्टित मुनिके समान शोभाको प्राप्त होता है ॥१०॥ जो आत्महिताभिलाषी प्रोषधव्रती अपने पूर्वकृत कर्मोंके नाशके लिये प्रतिमायोगसे रात्रिको व्यतीत करते हुए किसी प्रकारके दारुण उपसर्गादिसे भी क्षोभको प्राप्त नहीं होते हैं मैं उन महात्माओंका भक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥११॥ अहो ! प्राचीन कालमें वारिषेण, सुदर्शन तथा जिनदत्त आदि पुण्यशाली श्रावकोंको धन्य है जो उपसर्गादिके आनेपर भी प्रोषधव्रतमें निश्चल रहे ॥१२॥ पहली चार प्रतिमाओंके धारण करनेमें सिद्ध जो भव्य पुरुष मन वचन तथा कायसे यावज्जीवन सचित्त भोजनका त्याग करता है वह दयालु पुरुष नियमसे सचित्तत्यागप्रतिमाका धारी पंचम गृहस्थ कहलाने योग्य है ॥१३॥ जो वस्तु चित्त अथवा बोधके साथ रहनेवाली है उसे सचित्त कहते है। जो सचित्त वस्तु पहले (भोगोपभोग परिमाणव्रतके समय) अतीचार रूपमें छोड़ी गई थी वही छोड़ना इस समय प्रतिमाव्रत माना गया है ॥१४॥ जिसके हृदयमें दया है जो जीवोंकी हिंसासे भयभीत है उसे शाक, बीजफल, जल, लवण आदि अप्रासुक वस्तुओंका त्याग कर संयमवान् होना चाहिए ॥१५॥ समय, अग्नि तथा यन्त्र आदिसे पके हुए फल, बीज आदि सचित्त वस्तुएँ तथा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादिसे व्यावृत (प्रासुक) हुआ जल खाने और पीनेके योग्य है ॥१६॥ जो भव्यात्मा "हरित अंकुरादिमें निगोदिया अनन्ते जीव हैं" सर्वज्ञ भगवान्के इन वचनोंको प्रमाण करता हुआ अपने चरण मात्रसे भी उन अंकुरोंका स्पर्श करता हुआ अत्यन्त दुःखी होता है वह पुण्यशाली, पुरुष उन्हें कैसे भक्षण करेगा ? अर्थात् कभी नहीं करेगा ॥१७-१८॥ अहो ! यह बात आश्चर्यकी है—देखो। सज्जन पुरुषोंका जिनदेवके कथनमें विश्वास तथा इन्द्रिय दमन, जो जिस हरित वस्तुमें जीवोंके न दिखने पर भी उसे रोगके नाशके लिये भी नहीं खाते है ॥१९॥ पूर्वकी पाँच क्रिया (प्रतिमाओं) में तत्पर तथा स्त्रियोंके सम्बन्धसे विरक्त जो पुरुष मन, वचन, कायसे दिनमें स्त्रीका सेवन नहीं करता है वह रात्रि भक्त व्रती कहा जाता है ॥२०॥ जो रात्रिमें स्त्रीका सेवन करता है वह रात्रि भक्त व्रती है। ऐसा कहनेसे यही स्पष्ट अर्थ हुआ कि उसके दिनमें ब्रह्मचर्य व्रत होता है ॥२१॥ कितने महर्षियोंका कहना है—दिनमें ब्रह्मचर्यको और रात्रिमें भोजनके त्यागको जो पालन करता है वह छठी प्रतिमाका धारी रात्रिभक्तव्रती कहा जाता है ॥२२॥ अहो यह कितने

रात्रावपि ऋतौ सेवा सापि सन्तानहेतवे । क्रियतां वशिना नार्याः पर्वादिषु न जातुचित् ॥२४
एवं षट्प्रतिमा यावच्छ्रावका गृहिणोऽधमाः । निरुच्यन्तेऽधुना मध्यास्त्रयोऽन्ये वर्णिनोऽपि च ॥२५
सूक्ष्मजन्तुगणाकीर्णं योनिरन्ध्रं मलाविलम् । पश्यन्य संगतो नार्या कष्टादिमयतोऽपि च ॥२६
विरक्तो यो भवेत्प्राज्ञस्त्रियोगैस्त्रिकृतादिभि । पूर्वषड्व्रतनिर्वाही ब्रह्मचार्यत्र स स्मृत ॥२७
अस्त्यात्मानन्तशक्त्यात्मेति श्रुतिर्वस्तु न स्तुतिः । यत्स्ववीर्ययुगात्मैव जगन्मलं स्मरं जयेत् ॥२८

वर्ण्यते भूतले केन माहात्म्यं ब्रह्मचारिणाम् ।
रौद्राः शाम्यन्ति यन्नाम्ना विद्याः सिद्धयन्त्यनेकशः ॥२९

बुद्धिऋद्धयादयोऽनेका निर्म्मलब्रह्मचारिणाम् । मुनीनां किल जायन्ते परासां गणनापि का ॥३०
दुःखदं दुःखजं दुःखमहो नार्यङ्गसेवनम् । खेदाप्यत्वादघौघैकवर्द्धनाद्गात्रपीडनात् ॥३१
अग्निस्तृप्यति नो काष्ठैर्वारिधिर्न नदीचयैः । तथाऽयमेभिरात्मापि विषयैः सङ्गसम्भवैः ॥३२
विषं भुक्तं वरं लोके झम्पापातोऽग्निकुण्डके । रमणीरमणस्पर्शो रमणीयो नहि कर्हिचित् ॥३३

आश्चर्यकी बात है—देखो ! सन्तोषी पुरुषोंकी कामविकारके नाश करनेकी बुद्धिमानी, जो जिन स्त्रियोंका नाम मात्र आनन्दके लिये होता है वे स्त्रियाँ देखी हुई भी उन पुरुषोंको पत्थरके समान निस्सार मालूम पड़ती है ॥२३॥ इन्द्रिय विजयी पुरुषोंको, ऋतुमती (रजस्वला) होकर चतुर्थ दिन स्नान करने पर रात्रिमें भी स्त्रियोंका सेवन केवल सन्तानके लिये करना चाहिये और पर्वादिमें तो कभी नहीं करना चाहिये ॥२४॥ इस प्रकार छह प्रतिमा पर्यन्त गृहस्थ जघन्य श्रावक कहे जाते हैं। अब तीन प्रकारके मध्यम श्रावकोंका वर्णन किया जाता है जिन्हें वर्णी या ब्रह्मचारी भी कहते है ॥२५॥ पूर्वकी छह प्रतिमाओका भले प्रकार निर्वाह करनेवाला जो बुद्धिमान—स्त्रियोंके योनि-स्थानको सूक्ष्म जोवोंके समूहोंसे पूर्ण तथा मल सहित देखकर नाना प्रकारके दुःखादिको सहन करता हुआ भी मन वचन कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे स्त्रियोंमें विरक्त होता है उसी भव्यात्माको नियमसे ब्रह्मचारी समझना चाहिये ॥२६-२७॥ "आत्मा अनन्तशक्तिशाली है" यह जो शास्त्रोंकी श्रुति है वह वास्तवमें ठीक है यह केवल स्तुति हो सो नहीं है। यही कारण है कि—जगत्का जीतने वाले कामदेवको स्ववीर्य (पराक्रम) युक्त आत्मा (ब्रह्मचारी) ही जीतता है ॥२८॥

अहो ! इस पृथ्वीतलमें ऐसा कौन है जो ब्रह्मचारी पुरुषोंका माहात्म्य (प्रभाव) वर्णन कर सके ! जिनके नाममात्रका स्मरण करनेसे चाहे कितना ही कोई क्रूर क्यों न हो वह भी शान्त हो जाता है और जिन्हे अनेक उत्तम विद्याएँ स्वयं सिद्ध हो जाती है ॥२९॥ विशुद्ध ब्रह्मचर्यके धारण करनेवाले मुनियोंको बुद्धि, ऋद्धि आदि अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती है तो और साधारण वस्तुओंकी तो बात ही क्या है ? ॥३०॥ अहो ! स्त्रियोंके शरीरके सेवनमें अत्यन्त खेद होता है इसलिये तो दुःखको पैदा करनेवाला है, पाप समूहकी वृद्धि होनेसे दुःखोंका देने वाला है और शरीरको पीड़ा जनक होनेसे दुःख स्वरूप है इसलिये ब्रह्मचारी पुरुषोंको स्त्रियोंके शरीरका सेवन नहीं करना चाहिये ॥३१॥ अग्निमें कितना भी काष्ठ क्यों न होमा जावे वह कभी सन्तोष वृत्तिको धारण नहीं करनेकी, समुद्रमें नदियोंके समूहके समूह आकर क्यों न मिलें वह कभी पर्याप्त दशाको प्राप्त नहीं होनेका, उसी तरह यह आत्मा दिनों दिन स्त्रियोंके सङ्गतिसे होने वाले कितने ही विषयोंका क्यों न सेवन करे फिर भी विषयोंसे कभी तृप्ति नहीं होगी ॥३२॥ हलाहल विषका खाना बहुत अच्छा है तथा झंपापात लेकर अग्नि कुण्डमें कूद जाना अच्छा है परन्तु स्त्रियोंके साथमें रमण

सुखासनं च ताम्बूलं सूक्ष्मवस्त्रमलङ्कृतिः । मज्जनं दन्तकाष्ठं च मोक्तव्यं ब्रह्मचारिणा ॥३४
ब्रह्मचर्ये गुणानेकान्दोषान्मैथुनसेवने । ज्ञात्वाऽत्र दृढचित्तो यः स नन्द्याच्छ्रावकाग्रणीः ॥३५
निर्व्यूढसप्तधर्मोऽङ्गिवधहेतून्करोति न । न कारयति कृष्यादीनारम्भरहितस्त्रिधा ॥३६
कदाचिज्जीवनाभावे निःसावद्यं करोत्यपि । व्यापारं धर्मसापेक्षमारम्भविरतोऽपि वा ॥३७
पापाद्बिभ्यन्मुमुक्षुर्यो मोक्तुं भक्तमपोहते । प्रवर्त्तयेदसौ प्राणिसङ्घातघ्नीः कथं क्रियाः ॥३८
योऽष्टव्रतदृढो ग्रन्थान्मुञ्चतीमे न मेऽहकम् । नैतेषामिति बुद्ध्या स परिग्रहविरक्तधीः ॥३९
अथ योग्यं समाहूय सुतं वा गोत्रजं प्रशान् । वदेदिवंतकं साक्षाज्जातिमुख्यसधर्मणाम् ॥४०
अद्य यावन्मया वत्स ! रक्षितोऽयं गृहाश्रमः । जिहासोर्वै विरज्यैनं त्वमद्यार्हसि मे पदम् ॥४१
यः पुनाति निजाचारैः पितरः पूर्वजानिति । पुत्रः स गीयते वप्तुः सुतव्याजादरिः परः ॥४२
प्रपुपूर्षोर्निजात्मानं सुविधेरिव केशवः । उपस्करोति यो वप्तुः पुत्रः सोऽत्र प्रशस्यते ॥४३
तदेतन्मे धनं पोष्यं धर्म्यं चापि स्वसात्कुरु । श्रेयोऽर्थिनां परं पथ्या सेयं सकलदत्तिका ॥४४

करनेका स्पर्श कभी अच्छा नहीं हो सकता ॥३३॥ ब्रह्मचर्य प्रतिमाके धारक भव्य पुरुषोंको— सुखासन, ताम्बूल (पान), महीन वस्त्र, भूषण, मज्जन तथा काष्ठादिसे दतौन करना आदि त्यागना चाहिये ॥३४॥ ब्रह्मचर्यके धारण करनेसे अनेक गुणोंकी प्राप्ति होती है तथा मैथुन सेवनमें अनेक दोष हैं ऐसा समझ कर जो बुद्धिमान अपने चित्तको किसी प्रकार विकल न करके निश्चल चित्त है वह श्रावक श्रेष्ठ भव्यात्मा सदा वृद्धिको प्राप्त होवे यह हमारी आन्तरङ्गिक अभिलाषा है ॥३५॥ पूर्वकी सात प्रतिमाका पालन करनेवाला जो धर्मात्मा पुरुष मन वचन कायसे हिंसाके कारण कृषि आदिको नहीं करता है और न दूसरोंसे कराता है उसे आरम्भ-त्याग-प्रतिमाका धारक श्रावक कहना चाहिये ॥३६॥ आरम्भ-त्याग-प्रतिमाधारी श्रावक—किसी समय जीवन-निर्वाहका दूसरा उपाय न रहनेसे पाप-रहित और जिसके करनेसे धर्ममें किसी प्रकारकी बाधा न आवे ऐसे व्यापारको भी कर सकता है। भावार्थ—आरम्भ-त्यागी श्रावकको भी जीविकाके अभावमें धर्मसे अविरोधी और पाप रहित व्यापारके करनेमें किसी प्रकारकी हानि नहीं है ॥३७॥ जो मोक्षा-भिलाषी भव्य पुरुष पापसे भयभीत होता हुआ भोजनके भी त्यागनेकी इच्छा करता है वही दयालु पुरुष जीवोंके नाश करनेकी क्रियाओंको कैसे कर सकता है ? कदापि नहीं कर सकता ॥३८॥ पहलेकी आठ प्रतिमाओंके धारण करनेमें निश्चल चित्त जो भव्य पुरुष 'ये परिग्रह मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूँ' ऐसा समझकर परिग्रहका त्याग करता है उसे ही परिग्रह-त्याग-प्रतिमाका धारी श्रावक कहना चाहिये ॥३९॥ परिग्रह विरक्त भव्य पुरुषको चाहिये—अपने योग्य पुत्रको अथवा किसी योग्य गोत्रमें उत्पन्न होनेवालेको (दत्तक पुत्रको) बुलाकर अपनी जातिके प्रधान साधर्मी लोगोंके सामने उसे इस तरह कहे ॥४०॥ हे वत्स ! आज तक मैंने इस गृहस्थाश्रमका रक्षण किया, परन्तु अब वैराग्यको प्राप्त होकर इस गृहस्थाश्रमको छोड़नेवाले मेरे स्थानके तुम योग्य हो ॥४१॥ जो अपने पवित्र आचरण (कर्त्तव्य कर्म) से अपने माता पितादिको पवित्र करता है वही तो वास्तविक पुत्र है और जिसने अपना आचरण अपने पूर्व पुरुषोंके अनुसार पवित्र न रक्खा उनकी आज्ञाका पालन न किया वह पुत्र नहीं है किन्तु यों समझो कि पुत्र रूपमें वह पिताका शत्रु पैदा हुआ है ॥४२॥ सुविधिनाम राजाके केशव नामक पुत्रके समान अपनी आत्माका उत्कर्ष देनेवाले पिताको जो अपने सदाचारोंसे अलंकृत करता है वही पुत्र इस संसारमें प्रशंसा करनेके योग्य है ॥४३॥ हे वत्स ! मेरे ये धन, पोष्य—स्त्री, जननी आदि तथा धर्म्य—चैत्यालय आदि जो धर्म पदार्थ हैं उन्हें तुम अपने

विध्वस्तमोहपञ्चास्यपुनर्जीवनशङ्किनाम् । गृहत्यागक्रमः प्रोक्तः शक्त्यारम्भो हि सिद्धिकृत् ॥४५
चित्तमूर्च्छाकरं मायाक्रोधादिगूढपादबिलम् । तृष्णाग्निकाष्ठमाबुध्य दुर्ग्रहं च परिग्रहम् ॥४६
परित्यज्य त्रिशुद्धयाऽसौ सर्वं मोहारिघातये । तिष्ठेद्गृहे कियत्कालं वैराग्यं भावयन्सुधीः ॥४७
निराकुलतया देवपूजादौ कर्मणि स्थिरः । तद्दत्तं कशिपुं भुञ्जंस्तिष्ठेच्छान्तमनारहः ॥४८
इत्युक्ता वर्णिनो मध्याः श्रावकावधुनोच्यते । उत्कृष्टौ भिक्षुकौ तौ चानुमतोद्दिष्टवर्जिनौ ॥४९
यो नानुमन्यते ग्रन्थं सावद्यं कर्म चैहिकम् । नववृत्तधरः सोऽनुमतिमुक्तस्त्रिधा भवेत् ॥५०
स्वाध्यायं वसतौ कुर्याद्दूर्ध्वं द्वितयवन्दनात् । आकारितः स भुञ्जीत स्वगृहे वा परस्य वा ॥५१
यथालब्धमदन्कायस्थितये भोजनं खलु । कायश्च धर्मसिद्धयै स मोक्षार्थिभिरपेक्ष्यते ॥५२
सावद्योत्पन्नमाहारमुद्दिष्टं वर्जये कथम् । भैक्षामृतं कदा भोक्ष्ये वाञ्छेदिति वशी हि सः ॥५३
पञ्चाचारं जिघृक्षुश्च निष्क्रमिष्यन्गृहादसौ । पुत्रादीन्स्वगुरून्बन्धून्ब्रूयादिति यथोचितम् ॥५४
न मे शुद्धात्मनो यूयं भवेत किमपि ध्रुवम् । तन्मां मुञ्चत मोक्षाय प्रोद्यन्तं मोहपाशतः ॥५५

अधीन करो। ग्रन्थकार कहते हैं—आत्महितके चाहनेवाले भव्य पुरुषोंको यह सकल दत्ति (सम्पूर्ण वस्तुओंका देना) उत्कृष्ट पथ्य स्वरूप है ॥४४॥ पूर्व आठ प्रतिमा रूप खड्गसे घायल हुए मोहरूप सिंहके फिर भी जीनेका सन्देह करनेवाले गृहस्थाश्रमी श्रावकोंके लिये ही यह गृहत्यागका अनुक्रम कहा है। इसी अनुसार उन्हें त्याग करना चाहिये। क्योंकि शक्तिके अनुसार किया हुआ ही कार्य सिद्धिका देनेवाला होता है ॥४५॥

यह परिग्रह चित्तमें मूर्च्छाका करनेवाला है, कपट क्रोध मान लोभादिरूप सर्पका बिल है, आशारूप अग्निके लिये काष्ठ है, तथा दुष्टग्रह (पिशाच) है ऐसा समझकर मन वचन कायकी शुद्धिसे मोहरूप वैरीके नाश करनेके लिये सर्व परिग्रहको छोड़कर और वैराग्यका चिन्तवन करता हुआ कुछ समय तक घर ही में रहे ॥४६-४७॥ सर्व आकुलता रहित होकर निराकुलतासे देवपूजनादि शुभ कर्मोंमें स्थिर (निश्चल) होकर अपने पुत्रका दिया हुआ भोजन वस्त्रादिका भोग करता हुआ शान्तिपूर्वक एकान्त स्थानमें रहे ॥४८॥ इस प्रकार मध्यम तीन वर्णी श्रावकोंका वर्णन किया। अब इस समय उत्कृष्ट भिक्षुक श्रावकोंके अनुमतिविरति तथा उद्दिष्ट विरति इस प्रकार जो दो भेद हैं उनका वर्णन किया जाता है ॥४९॥ नव प्रतिमाओंको धारण करनेवाला जो भव्यपुरुष परिग्रहमें तथा इह लोक सम्बन्धी सावद्य (आरम्भ) कर्ममें मन वचन कायसे अपनी सम्मति नहीं देता है वह धर्मात्मा अनुमति त्यागी उत्कृष्ट श्रावक है ॥५०॥ दशमी प्रतिमाधारी श्रावकको जिनचैत्यालयमें स्वाध्याय करना चाहिये और मध्याह्नकालकी सामायिक करनेके बाद कोई बुलाने आवे तब अपने घर तथा दूसरोके घर भोजन करनेको जाना चाहिये ॥५१॥ उस समय जैसा कुछ भोजन मिले उसे केवल शरीरकी स्थितिके लिये करना चाहिये। क्योंकि यह शरीर मोक्षकी प्राप्तिका कारण है इसीलिये तो मोक्षाभिलाषी पुरुष इस शरीरकी अपेक्षा करते हैं ॥५२॥ वह इन्द्रियविजयी वशी पुरुष—अहो ! आरम्भसे उत्पन्न होनेवाले और उद्दिष्ट (मेरे उद्देश्यसे बनाये हुए) आहारको मैं कब छोड़ूंगा और कब वह सुदिन होगा जिस दिन भिक्षावृत्तिरूप अमृतका आस्वादन करूँगा ऐसी अभिलाषा करता रहे ॥५३॥ पञ्चाचार (ज्ञानाचार, तपाचार, दर्शनाचार, वीर्याचार चारित्राचार) के ग्रहण करनेकी इच्छा करता हुआ अपने गृहसे निकलते समय पुत्र, माता, पिता, भाई, बन्धु आदिको यथा योग्य यों बोले ॥५४॥ इस असार संसारमें शुद्धात्मस्वरूपको छोड़कर और कोई मेरा सम्बन्धी नहीं है इस कारण दारुण मोहजालसे छूटकर

भवद्भिर्मयि क्षन्तव्यं मया क्षान्तं भवत्सु च । तद्यत्किञ्चित्समुद्भूतं मिथो जल्पनमावयोः ॥५६
इत्युक्तैस्तैरनुज्ञातो गृहान्निर्गत्य सोत्कधीः । वनं गत्वा गुरोरन्ते याचेतोत्कृष्टतत्पदम् ॥५७
एवं चर्यां गृहत्यागावसानां नैष्ठिकोत्तमः । समाप्य साधकत्वाय पदं पौरस्त्यमाश्रयेत् ॥५८
दशधाधर्मास्त्रसंभिन्नश्वसन्मोहमृगाधिपः । पिण्डमुद्दिष्टमुज्झन्स्यादुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥५९
उत्कृष्टोऽसौ द्विधा ज्ञेयः प्रथमो द्वितीयस्तथा । प्रथमस्य स्वरूपं तु वच्म्यहं त्वं निशामय ॥६०
श्वेतैकपटकोपीनो वस्त्रादिप्रतिलेखनः । कर्त्तर्या वा क्षुरेणासौ कारयेत्केशमुण्डनम् ॥६१
एषोऽपि द्विविधो सूत्रे मतो गुरुपदाश्रितः । बहुभिक्षारतस्त्वेकः परः स्यादेकभिक्षकः ॥६२
आद्यः पात्रेऽथवा पाणौ भुङ्क्ते य उपविश्य वै । चतुर्विधोपवासं च कुर्यात्पर्वसु निश्चयात् ॥६३
पात्रं प्रक्षाल्य भिक्षायां प्रविशेद्दातृमन्दिरम् । स स्थित्वा प्राङ्गणे भिक्षां धर्मलाभेना मार्गयेत् ॥६४
लाभालाभे ततस्तुल्यो निर्गत्यैत्यन्यमन्दिरम् । पात्रं प्रदर्श्य मौनेन तिष्ठेत्तत्र क्षणं स्थिरः ॥६५
प्रार्थयेद्यदि दाता तं स्वामिन्नत्रैव भुङ्क्ष्व हि । तदा निजाशनं भुक्त्वा पश्चात्तस्य प्रसेद्रुचौ ॥६६
अथ न प्रार्थयेद्भिक्षां भ्रमेत्स्वोदरपूरणीम् । यावदेकगृहं गत्वा याचेत प्रासुकं जलम् ॥६७
यत्किञ्चित्पतितं पात्रे भुक्त्वा संशोध्य युक्तितः । स्वयं प्रमार्ज्य तत्पात्रं गच्छेदाराद्गुरोर्वनम् ॥६८

मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले मुझे आप लोग छोडें ॥५५॥ यदि आपमें और मेरेमें परस्पर कुछ बोलना हुआ हो तो उसके लिये मुझे आप क्षमा करें और मैंने भी आप लोगोंको क्षमा किया ॥५६॥ इस प्रकार प्रार्थना किये हुए अपने कुटुम्बी लोगोंकी आज्ञा लेकर गृहसे निकल-कर वनमें जाय और वहाँ गुरुओंके पास स्थित होकर उनसे उत्कृष्ट श्रावक पदकी याचना (प्रार्थना) करे ॥५७॥ नैष्ठिकाग्रणी श्रावक इस प्रकार गृहत्याग पर्यन्त क्रियाओंको पूर्ण करके साधक होनेके लिये आगेकी ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करे ॥५८॥ जिसका—उपर्युक्त दस प्रतिमारूप शस्त्रसे घायल हुआ मोह रूप मृगेन्द्र कुछ कुछ जीवित है और जिसने अपने निमित्तसे बनाये हुए आहारको छोड़ दिया है उसे अन्तिम उत्कृष्ट श्रावक समझना चाहिये ॥५९॥ प्रथम श्रावक और द्वितीय श्रावक इस तरह उत्कृष्ट श्रावकके दो विकल्प (भेद) है। हे महाराज श्रेणिक ! पहले प्रथम श्रावकका स्वरूप कहता हूँ उसे तुम सुनो ॥६०॥ प्रथम श्रावकको—श्वेत वस्त्रकी लंगोट तथा श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिये, वस्त्रादिकी पिच्छी रखना चाहिए और कतरनी तथा उस्तरेसे केशोंका मुण्डन करवाना चाहिये ॥६१॥ गुरुके चरण समीप रहनेवाला यह प्रथम श्रावक भी दो प्रकार है—एक तो बहुत घरोंसे भिक्षा लेनेवाला और दूसरा एक ही घरमें भिक्षा करनेवाला ॥६२॥ पहला श्रावक पात्र भोजन, बर्तनमें अथवा हाथमें बैठकर भोजन करे, तथा पर्वोमें चार प्रकारका उपवास करे ॥६३॥ उसे चाहिये कि वह पहले ही अपने पात्रको जलसे धोकर भिक्षाके लिये दाताके घरमें जावे और आंगणमें ठहरकर "धर्मलाभ" यह कहकर भिक्षाकी याचना करे ॥६४॥ लाभ तथा अलाभमें समान भाव रखकर अर्थात् - किसी तरहका विषाद न करके दूसरे दाताके घर जावे और अपना पात्र दिखाकर क्षणमात्र मौन-पूर्वक वहाँपर ठहरे ॥६५॥ यदि दाता उस समय प्रार्थना करे कि—हे नाथ ! यहींपर आप भोजन करें तो अपने लाये हुए भोजनको करके फिर भी यदि कुछ इच्छा हो तो उस दाताकी प्रार्थनासे उसका भी भोजन करे ॥६६॥ यदि दाता प्रार्थना न करे तो अपने उदरकी पूर्ति जबतक न हो तबतक भिक्षाके अर्थ भ्रमण करे और किसी एकके घरपर जाकर प्रासुक जलकी याचना करे ॥६७॥ उस समय जो कुछ पात्रमें भोजन मिले उसे देख-शोधकर भोजन करे और अपने हाथसे पात्रको शुद्ध करके गुरुके समीप वनमें जावे ॥६८॥

वन्दित्वा गुरुपादौ स प्रत्याख्यानं तदर्पितम् । गृहीत्वा विधिना सर्वमालोचेत प्रयत्नतः ॥६९
यस्त्वेकभिक्षो भुञ्जीत गत्वाऽसावनुमुन्यतः । तदलाभे विदध्यात्स उपवासमवश्यकम् ॥७०
स्थेयान्मुनिवनेऽजस्रं सुश्रूषेत गुरूंस्तथा । तपश्चरेद्द्विधा वैयावृत्यं कुर्याद्विशेषतः ॥७१
तथा द्वितीयः किन्त्वार्यनामोत्पाटयेत्कचान् । रक्तकोपीनसंग्राहो धत्ते पिच्छं तपस्विवत् ॥७२
संशोध्यान्येन निक्षिप्तं पाणिपात्रेऽत्ति युक्तितः । इच्छाकारं समाचारं सर्वेऽन्योन्यं प्रकुर्वते ॥७३
कल्पन्ते वीरचर्याह्प्रतिमातापनादयः । न श्रावकस्य सिद्धान्तरहस्याध्ययनादिकम् ॥७४
कदा मे मुनिवृत्तस्य साक्षाल्लाभो भविष्यति । निरवद्यस्य चित्तेऽसौ भावयेदिति भावनाम् ॥७५
यतो हि यतिधर्मस्याभिलाषी श्रावको मतः । तं विना न भवेत्तस्य धर्मश्च फलवान्कचित् ॥७६
वन्दना त्रितयं काले प्रतिक्रान्ते द्वयं तथा । स्वाध्यायानां चतुष्कं च योगभक्तिद्वयं पुनः ॥७७
उत्कृष्टश्रावकेनाऽमूः कर्त्तव्या यत्नतोऽन्वहम् । षडष्टौ द्वादश द्वे च क्रमशोऽमूषु भक्तयः ॥७८
अन्यैरपि दशधा श्राद्धैर्यथाशक्त्या यथाविधि । पापशुद्धयै विधातव्या भवभ्रमणभीरुभिः ॥७९
इत्येकादशधाऽऽख्यातो नैष्ठिकः श्रावकोऽधुना । अन्त्यस्य च यथासूत्रं साधकत्वं प्रवक्ष्यते ॥८०

वनमें जाकर अपने गुरुके चरण-कमलोंको नमस्कार करके और उसने दिया हुआ चार प्रकारके आहारका त्यागरूप प्रत्याख्यानको विधिपूर्वक ग्रहण करके दिन भरके अपने कर्त्तव्यकी उनके आगे आलोचना करे ॥६९॥ किन्तु जो श्रावक एक ही भिक्षाका नियमवाला है उसे चाहिये कि वह दाताके घर जाकर मुनियोंके भोजन किये बाद भोजन करे। यदि आहारका संयोग न मिले तो उस दिन उपवास करे ॥७०॥ उस श्रावकको निरन्तर मुनियोंके पास वनमें रहकर गुरुओंकी सेवा करनी चाहिये। तथा बाह्य और अभ्यन्तर इस तरह दो प्रकारका तप धारण करना चाहिये, उसमें भी वैयावृत्य विशेष करके करना चाहिए ॥७१॥ और द्वितीय रक्त कोपीन (लंगोट) मात्र धारण करनेवाले भिक्षुकको चाहिये कि अपने केशोंको अपने हाथसे उखाड़े और मुनियोंके समान पिच्छी धारण करे ॥७२॥ दूसरोंसे अपने हाथोंमें रखे हुए भाजनको देख-शोधकर करना चाहिये। तथा इन सम्पूर्ण एकादश प्रतिमाधारी श्रावकोंको परस्पर "इच्छामि" ऐसा करना चाहिए ॥७३॥ वीरचर्यासे भोजन करना, दिनमें प्रतिमा योग धारण करना, ग्रीष्मकालमें पर्वतोंके शिखरपर, शीतकालमें खुले हुए स्थानमें तथा वर्षा समयमें वृक्षोंके नीचे नग्न होकर ग्रीष्मबाधा शीतबाधादिका सहन करना तथा सिद्धान्त रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रोंका अध्ययन करना ये सब बात देशव्रती श्रावकके लिये मना हैं। अर्थात् गृहस्थोंको इन विषयोंमें प्रवृत्ति करनेका अधिकार नहीं है ॥७४॥ अहो ! वह सुदिन कब होगा जिस दिन निर्दोष (पवित्र) मुनिवृत्तकी मुझे साक्षात्प्राप्ति होगी, इस प्रकार चित्तमें निरन्तर ऐसी भावना भाते रहना चाहिए। यही कारण है—जो मुनि धर्मका इच्छुक होता है उसे ही वास्तवमें श्रावक कहते हैं क्योंकि यति धर्मकी भावनाके विना श्रावक धर्म कभी फल-दायक नहीं होता ॥७५-७६॥ तीनों कालमें तीन वक्त सामायिक, दो प्रतिक्रमण, चार स्वाध्याय तथा दो योग भक्ति ये सब क्रियाएँ—उत्कृष्ट श्रावकको प्रयत्न पूर्वक प्रति दिन करना चाहिये। इनमें क्रमसे छह, आठ, बारह और दो भक्ति होती हैं ॥७७-७८॥ संसारके भ्रमणसे भयभीत शेष दशप्रतिमाधारी श्रावकोंको भी ये उपर्युक्त क्रियाएँ शास्त्रानुसार अपनी शक्तिके माफिक पापकी शुद्धिके लिये अर्थात् पापके नाश करनेके अर्थ करनी चाहिए ॥७९॥ इस प्रकार ग्यारह प्रकारके नैष्ठिक श्रावकका वर्णन किया। अब शास्त्रानुसार अन्तिम श्रावकके साधकपनेका वर्णन किया जाता है ॥८०॥

सोऽन्ते सन्न्यासमादाय स्वात्मानं शोधयेद्यदि । तदा साधनमापन्नः साधकः श्रावको भवेत् ॥८१
अन्येऽपि प्रतिमानां ये भेदाः सन्ति जिनागमे । विबुधैस्तेऽपि विज्ञेया गुर्वादेशेन विस्तरात् ॥८२
आसां संज्ञां व्रतं निष्ठा धर्मो वृत्तं च संयमः । धर्मस्थानं च निश्रेणिश्चारित्रं च बुधैर्मताः ॥८३
त्रसहिंसादिनिर्विण्णोऽप्रत्याख्यानस्य हानितः । प्रत्याख्यानोदयादस्य स्थावराणां न रक्षणम् ॥८४
ततोऽमुष्यैकदेशेन संयमत्वान्महाव्रतम् । न कल्पते गुणस्थानं पञ्चमं नाधऊर्ध्वगम् ॥८५
रागादीनां क्षयादत्र तारतम्याद्यथोत्तरम् । दर्शनाद्येषु धर्मेषु नैर्मल्यं जायते तराम् ॥८६
धार्मिकः प्राणनाशेऽपि व्रतभङ्गं करोति न । प्राणनाशः क्षणे दुःखं व्रतभङ्गश्चिरं भवे ॥८७
यदि प्रमादतः क्वापि व्रतच्छेदोऽस्य जायते । गुरोरालोच्य तत्पापं शोधयेत्तस्य देशनात् ॥८८
एष निष्ठापरो भव्यो नियमेन सुरालयम् । गच्छत्यच्युतपर्यन्तं क्रमशः शिवमन्दिरम् ॥८९

इत्यापवादं विविधं चरित्रं समभ्य सन्तिष्ठति यः सुमेधाः ।
कालादिलब्धौ क्रमतां पुनः स उत्सर्गवृत्तं जिनचन्द्रदिष्टम् ॥९०

वही उत्कृष्ट श्रावक मरण समयमे सन्यास (सल्लेखना) को ग्रहण करके यदि अपने आत्मा-को शुद्ध करे तो उस समय साधनदशाको प्राप्त होता हुआ श्रावक साधक कहा जाता है ॥८१॥ जैनशास्त्रोंमें प्रतिमाओंके और भी जो भेद हे उन्हें गुरुओकी आज्ञासे विस्तार पूर्वक जानना चाहिये ॥८२॥ इन्ही प्रतिमाओंके व्रत, वृत्त, निष्ठा, धर्म, संयम, धर्मस्थान, निश्रेणि, तथा चारित्र इत्यादि भी नाम बुद्धिमान् लोग कहते है ॥८३॥ यह श्रावक अप्रत्याख्यानावरणीय कषायका नाश होनेसे द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोंकी हिंसासे विरक्त रहता है परन्तु प्रत्याख्यानावरणीय कषायका इसके उदय रहता है इसलिये स्थावर जीवोकी रक्षा नही कर पाता है ॥८४॥ इस श्रावकके एक देश संयमके होनेसे महाव्रत नहीं कहा जा सकता और न पञ्चम गुणस्थानसे नीचे तथा ऊपर इसके गुणस्थान होता है। अर्थात् यह पाँचवें ही गुणस्थान वाला रहता है ॥८५॥ इन दार्शनिक आदि ग्यारह ही प्रतिमाओंमें उत्तरोत्तर अधिक रागादिकोंका अभाव होनेसे अत्यन्त निर्मलता होती जाती है ॥८६॥ धर्मात्मा पुरुषोंको अपने ग्रहण किये हुए व्रतका भङ्ग कभी नहीं करना चाहिये, चाहे फिर प्राणोंका नाश (मरण) ही क्यों न हो जाय। क्योंकि—प्राणोंका नाश होनेसे तो उसी समय दुःख होता है परन्तु व्रत-भङ्ग होनेसे चिरकालपर्यन्त संसारमें असह्य दुःख उठाने पड़ते हैं ॥८७॥ यदि प्रमाद (असावधानीसे) ग्रहण किये हुए व्रतमें किसी प्रकारका दोष लग जाय तो उसे गुरुओंके सामने आलोचना करके उनके उपदेशानुसार उस पापकी शुद्धि करै ॥८८॥ इस प्रकार निष्ठा (प्रतिमाओंके पालन) में तत्पर यह भव्यात्मा नियमसे अच्युत विमानपर्यन्त जाता है और क्रमसे मोक्षको प्राप्त करता है ॥८९॥ इस तरह नाना प्रकारके चारित्र युक्त अपवाद लिङ्गका पहले सम्यक् प्रकार अभ्यास करके जो बुद्धिमान स्थिर रहता है वही भव्यात्मा फिर क्रमसे कालादिलब्धिको प्राप्ति होने पर जिन भगवान् करके उपदेशित उत्सर्गव्रतकी धारण करनेके लिए उत्साहित होवे ॥९०॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे
सामायिकादिप्रतिमानवकस्वरूपवर्णनो नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥५॥

●

षष्ठोऽधिकारः

समितीर्न्न विना स्यातां देशव्रतमहाव्रते । पुराधिपतिदेशाधिपतित्वे वाहिनीरिव ॥१
तस्मादणुव्रती पञ्च समितीः परिपालयेत् । अणुव्रतस्य रक्षार्थं बीजस्येव लसेद्व्रती: ॥२
सम्यगयनं तच्छुद्धि प्रतीति समितिर्मताः । ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गनामिकाः ॥३
मार्तण्डकिरणस्पृष्टे गच्छतो लोकवाहिते । मार्गे दृष्ट्वाऽङ्गिसङ्घातमीर्यादिसमितिर्मता ॥४
परबाधाकरं वाक्यं न ब्रूते धर्मदूषितम् । यस्तस्य समितिर्भाषा जायते वदतो हितम् ॥५
षट्चत्वारिंशतादोषैरन्तरायैर्मलैश्च्युतम् । आहारं गृह्णतः साधोरेषणा समितिर्भवेत् ॥६
पुस्तकाद्युपधिं वीक्ष्य प्रतिलेख्य च गृह्णतः । मुञ्चतो दाननिक्षेपः समितिः स्याद्यतेरियम् ॥७
विण्मूत्रश्लेष्मखिल्यादिमलमुज्झति यः शुचौ । दृष्ट्वा विशोध्य तस्य स्यादुत्सर्गसमितिर्हिता ॥८
कृष्यादिजीवनोपायैर्हिंसादेः पापमुद्भवम् । गृहिणा क्षिप्यते स्वामिन्कथमवदद्गणी ॥९
व्यापारैर्जायते हिंसा यद्यप्यस्य तथाप्यहो । हिंसादिकल्पनाभावः पक्षत्वमिदमीरितम् ॥१०
हिंसादिसम्भवं पापं प्रायश्चित्तेन शोधयन् । तपा विना न पापस्य मुक्तिश्चेति विनिश्चयन् ॥११

जब तक सेना नहीं होती है तब तक राजा होने पर भी पुराधीश तथा देशका स्वामी वह नहीं कहला सकता। उसी प्रकार जब तक समितियाँ न होंगी, तब तक देशव्रत तथा महाव्रतका रक्षण नहीं हो सकता ॥१॥ जिस तरह खेतमें बोये हुए बीजकी रक्षाके लिये चारों ओर कांटेकी बाढ लगाई जाती है उसी तरह अणुव्रती श्रावकको चाहिये कि अपने धारण किये हुए अणुव्रतकी रक्षाके लिये ईर्या, भाषा, एषणा आदि पाँच प्रकार जो समितियाँ हैं उन्हे अवश्य पालन करे ॥२॥ शुद्धिके लिये जो अच्छा मार्ग उसे समिति कहते है। वह ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेप-समिति तथा उत्सर्गसमिति इस तरह पाँच प्रकार है ॥३॥ जिसमें सूर्यका प्रकाश चारों ओर हो रहा है तथा जिसमें लोगोंका गमनागमन हो रहा है ऐसे मार्गमें जीवोंकी रक्षाके अर्थ देखकर चलने वाले धर्मात्मा पुरुषके ईर्यासमिति होती है ॥४॥ जिन वचनोंके बोलनेसे दूसरे जीवोंको दुःख होता है तथा जो वचन धर्मसे विरुद्ध है अर्थात् जिसके बोलनेसे धर्ममें दोष लगता है ऐसे वचनोंको न बोलकर और जो दूसरोंके हित करने वाले तथा धर्मसे अविरोधी वचन बोलते हैं उन महात्मा पुरुषोंके भाषासमिति होती है ॥५॥ छयालीस दोष, बत्तीस अन्तराय और चौदह मलोंसे रहित पवित्र आहारको लेनेवाले साधु पुरुषोंके एषणासमिति होती है ॥६॥ पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छी आदि उपकरण देखकर तथा शोध कर ग्रहण करनेवाले और रखनेवाले मुनि लोगोंके आदाननिक्षेपसमिति होती है ॥७॥ जो धर्मात्मा पुरुष—विष्टा, मूत्र तथा कफ आदि अपवित्र वस्तुओंको जीव-रहित पृथ्वीमें देखकर तथा शोधकर छोड़ते है उनके उत्सर्गसमिति होती है ॥८॥ राजा श्रेणिक गौतमगणधरसे पूछते है—हे स्वामिन्, कृषिकर्म आदि जीविकाके उपायोंसे जो गृहस्थ लोगोको हिंसा आदिका पापबन्ध होता है उसे वे लोग कैसे नाश करें ? इसपर गणधर ने कहा ॥९॥ यद्यपि गृहस्थ लोगोंके व्यापारादिसे हिंसा होती है परन्तु उसमे हिंसादिकी कल्पना-का अभाव है। इसे पक्ष कहते हैं ॥१०॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदिसे होनेवाले पापको प्रायश्चित्तादिसे शुद्ध करता हुआ तथा तप धारण किये बिना पापकर्मका कभी नाश नहीं होगा

यावत्त्यजति चाऽऽवासं धनं धर्म्यं सुताय वै । समर्प्य तावत्तस्याऽत्र चर्यात्वमिदमुच्यते ॥१२
भवाङ्गभोगनिर्विण्णः परमात्मस्थमानसः । यस्तस्याङ्गपरित्यागः साधकत्वं समाधिना ॥१३
एभिः पक्षादिभिर्योगैः क्षिप्यते श्रावकैरिदम् । कषायवासिताम्भोभिर्वस्त्रस्येव मलं लघु ॥१४
आश्रमाः सन्ति चत्वारो जैनानां परमागमे । ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च संज्ञया ॥१५
अदीक्षोपनयौ गूढावलम्बौ नैष्ठिकोऽभिधाः । सप्तमाङ्गे भिदाः सन्ति पञ्चैते ब्रह्मचारिणाम् ॥१६
वेषं विना समभ्यस्तसिद्धान्ता गृहधर्मिणः । ये ते जिनागमे प्रोक्ता अदीक्षा ब्रह्मचारिणः ॥१७
समभ्यस्तागमा नित्यं गणभृत्सूत्रधारिणः । गृहधर्मरतास्ते चोपनयब्रह्मचारिणः ॥१८
कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमविस्तराः । बान्धवैर्धरणीनाथैर्दुःसहैर्वा परीषहैः ॥१९
आत्मनैवाऽथवा त्यक्तपरमेश्वररूपकाः । गृहवासरता ये स्युस्ते गूढब्रह्मचारिणः ॥२०
पूर्वं क्षुल्लकरूपेण समभ्यस्याऽऽगमं पुनः । गृहीतगृहवासास्तेऽवलम्बब्रह्मचारिणः ॥२१
शिखायज्ञोपवीताङ्कास्त्यक्तारम्भपरिग्रहाः । भिक्षां चरन्ति देवार्चां कुर्वते कक्षपट्टकम् ॥२२
धवलारक्तयोरेकतरैकवस्त्रखण्डकम् । धरन्ति ये च ते प्रोक्ता नैष्ठिकब्रह्मचारिणः ॥२३

प्रायश्चित्तादिसे शुद्ध करता हुआ तथा तप धारण किये बिना पापकर्मका कभी नाश नहीं होगा ऐसा हृदयमें निश्चय करता हुआ जो भव्यात्मा पुरुष—धन, स्त्री, जननी तथा चैत्यालयादिक धर्म्यवस्तुओंको अपने पुत्रके अधीन करके जबतक गृहका त्याग करता है तब तक इसको चर्या होती है ॥११-१२॥ जो संसार, शरीर, भोगादिसे सर्वथा विरक्त-चित्त है, जिसका मन परमात्मामें लग रहा है, उस भव्य पुरुषके समाधि (सल्लेखना) पूर्वक जो शरीरका छोड़ना है उसे साधकत्व कहते हैं ॥१३॥ जिस तरह कषाय-वासित जलसे वस्त्रका मैल बहुत शीघ्र दूर हो जाता है उसी तरह इन पक्ष, चर्या तथा साधनादिके द्वारा हिंसादिसे उत्पन्न होनेवाले पापकर्मका गृहस्थ लोग नाश करते हैं ॥१४॥ जैन शास्त्रोंमें जैन लोगोंके ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षुक इस तरह चार आश्रम हैं ॥१५॥ उपासनाध्ययन नाम सप्तम अंगमें ब्रह्मचारियोंके अदीक्षा ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारो, उपनयब्रह्मचारी, गूढब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी इस तरह पाँच भेद कहे हैं ॥१६॥ ब्रह्मचारीका वेष धारण किये विना जिन्होंने सिद्धान्तका अध्ययन किया है ऐसे जो गृहस्थ लोग हैं उन्हें जिनागममें अदीक्षित ब्रह्मचारी कहते हैं ॥१७॥ जिन्होंने शास्त्रका अभ्यास किया है, जो गणधर सूत्रको धारण करनेवाले हैं और गृहस्थ धर्ममें तत्पर हैं उन्हें उपनय कहते हैं ॥१८॥ जिन्होंने कुमार कालमें ही मुनि वेष धारण करके सिद्धान्तका अध्ययन किया है वे फिर कभी अपने बन्धु लोगोंके तथा राजादिके आग्रहसे, दुःसह परीषहोपसर्गादिके न सहन होनेसे, अथवा अपने आप ही उस धारण किये हुए जिन रूप (मुनि वेष) को छोड़ कर गृह कार्यमें लगते हैं उन्हें जिनागममें गूढ ब्रह्मचारी कहा है ॥१९-२०॥ जो पहले क्षुल्लक रूप धारण करके और जैनागमका अध्ययन करके फिर गृहवासको स्वीकार करते हैं उन्हें अवलम्ब ब्रह्मचारी समझना चाहिये ॥२१॥ जो शिखा (चोटी), यज्ञोपवीतसे युक्त हैं, जिन्होंने आरंभ तथा परिग्रहका त्याग कर दिया है, जो भिक्षा करके आहार करते हैं जो जिनदेवका पूजन करते हैं तथा कौपीन और श्वेत वस्त्र तथा लाल वस्त्रमें से किसी एक तरहके वस्त्रखंडको धारण करते हैं वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं ॥२२-२३॥ नैष्ठिक ब्रह्मचारीको छोड़ कर बाकीके अदीक्षा ब्रह्मचारी, उप य ब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी, तथा गूढब्रह्मचारी ये चार ब्रह्मचारी शास्त्राभ्यासको समाप्त करके अन्तमें

नैष्ठिकेन विना चाऽन्ये चत्वारो ब्रह्मचारिणः । शास्त्राभ्यासं विधायाऽन्ते कुर्वते दारसंग्रहम् ॥२४
प्रथमाऽऽश्रमिणः प्रोक्ता वक्ष्यन्ते त्वधुना मया । द्वितीयाऽऽश्रमसंसक्ता गृहिणो धर्मवासिताः ॥२५
इज्या वार्त्ता तपो दानं स्वाध्यायः संयमस्तथा । ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वहं ते गृहिणो मताः ॥२६
जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम् । यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥२७
स्थापनं जिनबिम्बानां तद्गृहस्य विधापनम् । तस्मै ग्रामगृहादीनां शासनस्य यदर्पणम् ॥२८
देवार्चनं गृहे स्वस्य त्रिसन्ध्यं देववन्दनम् । मुनिपादार्चनं दाने साऽपि नित्यार्चना मता ॥२९
पूजा मुकुटबद्धैर्या क्रियते सा चतुर्मुखः । चक्रिभिः क्रियमाणा या कल्पवृक्ष इतीरिता ॥३०
नन्दीश्वरमहापर्वपूजैषाऽष्टाह्निकाऽभिधा । इन्द्राद्यैः क्रियते पूजा सेन्द्रध्वज उदाहृता ॥३१
चतुर्मुखादयः पूजा याश्च प्रोक्ता निमित्तजाः । तद्भेदा विस्तराज्ज्ञेया बहवोऽर्चादिकल्पतः ॥३२
पूज्यः पूजाफलं तस्याः पूजकश्च विशेषतः । अधिकाराः समादिष्टा पूजाकल्पे मुनीश्वरैः ॥३३
पूज्योऽर्हन्केवलज्ञानदृग्वीर्यसुखधारकः । निःस्वेदत्वादिनैर्मल्यमुख्यकैः संयुतो गुणै ॥३४
गर्भजन्मतपोज्ञानमोक्षकल्याणराजित । भाषाभामण्डलाद्यैश्च प्रातिहार्यैर्विभूषितः ॥३५
तद्बिम्बं लक्षणैर्युक्तं शिल्पिशास्त्रनिवेदितैः । साङ्गोपाङ्गं यथायुक्त्या पूजनीयं प्रतिष्ठितम् ॥३६

दार-संग्रह अर्थात् स्त्रीके साथ विवाह करते है ॥२४॥ प्रथम आश्रमके धारण करनेवालोंका मैंने वर्णन किया। अब इस समय धर्मयुक्त द्वितीय गृहस्थाश्रमके धारण करनेवालोका वर्णन करता हूँ ॥२५॥ इज्या (जिन पूजन), वार्त्ता, तप, दान, स्वाध्याय तथा संयम इन छह कर्मोंको जो प्रतिदिन करते है वे गृहस्थ कहे जाते है ॥२६॥ पवित्र शरीर होकर गृहस्थ लोग जो अपने गृहसे लाये हुए जल, चन्दन, अक्षत, पुष्पादि द्रव्योंसे जिन भगवान्‌का पूजन करते है वह नित्य पूजा कही गई है ॥२७॥ जिनबिम्बकी स्थापना (प्रतिष्ठा) करना, जिनालयका बनवाना, जिनशासनकी वृद्धिके लिये जिन मन्दिरमें ग्राम तथा गृहादिका देना, अपने गृहमे जिन भगवान्‌का पूजन करना, तीनों काल देववन्दना (सामायिक) करना तथा दान देनेके समय मुनियोंके चरणोंका पूजनादि करना ये सब नित्य पूजनके ही भेद है ॥२८-२९॥

मण्डलेश्वर, राजा, महाराजा जो पूजन करते हैं उसे चतुर्मुख पूजन कहते है और जो पूजन छह खंड वसुन्धराके अधिपति चक्रवर्ती करते है उस पूजनका नाम कल्पवृक्ष पूजन है ॥३०॥ जो नन्दीश्वरमहापर्वमे पूजा की जाती है उसे अष्टाह्निक पूजन कहते हैं और इन्द्रादि देवोंसे जो पूजा की जाती है उसे इन्द्रध्वज पूजन कहते है ॥३१॥ चतुर्मुख, कल्पवृक्ष, अष्टाह्निक तथा इन्द्रध्वज ये जो नैमित्तिक पूजन-विधानके चार भेद कहे है इनके और भी अनेक भेद हैं उन्हें विस्तारपूर्वक पूजाकल्प (पूजन-सम्बन्धी शास्त्रो) से जानना चाहिये ॥३२॥ पूज्य (पूजन योग्य), पूजा फल, तथा पूजक (पूजन करनेवाला) इनके विशेषसे पूजा सम्बन्धी शास्त्रोमें प्राचीन मुनियोंने अधिकार वर्णन किये हैं ॥३३॥ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख रूप अनन्तचतुष्टयसे विराजमान तथा पसेव-रहित आदि जो प्रधान निर्मल गुण है उनसे युक्त श्री अर्हन्त भगवान् पूज्य हैं ॥३४॥ गर्भकल्याण, जन्मकल्याण, तपःकल्याण, ज्ञानकल्याण तथा मोक्षकल्याण इन पाँच कल्याणोंसे विराजमान तथा दिव्यध्वनि, भामण्डल, अशोकवृक्ष, देवकृतपुष्पवृष्टि, चामर, सिंहासनादि, आठ प्रकारके प्रातिहार्योंसे शोभित श्री अर्हन्त भगवान् पूज्य हैं ॥३५॥ प्रतिमा बनानेके जो-जो लक्षण शिल्पिशास्त्रोंमें वर्णन किये हैं उनसे युक्त, अंग उपांग सहित तथा शास्त्रानुसार प्रतिष्ठा

जीर्णं चाऽतिशयोपेतं तद्व्यङ्गमपि पूज्यते । शिरोहीनं न पूज्यं स्यात्प्रक्षेप्यं तन्नदादिषु ॥३७
अचेतनार्ऽर्च्चता जैनी किं पुण्यं प्रतिमाऽङ्गिनाम् । करोत्येवं वदेत्कश्चिच्चस्तमित्थं प्रबोधयेत् ॥३८
शान्तां स्थिरासनां वीक्ष्य प्रतिमां मोक्षवेशिनीम् । जन्तोर्यः प्रशमो भावः स च पुण्याय जायते ॥३९
सिद्धाः सेत्स्यन्ति सिद्ध्यन्ति ये केचिन्नरपुङ्गवाः । ते सर्वेऽप्यनया स्थित्येति भावः पुण्यकृद्भवेत् ॥४०
एतद्वद्ग्रन्थमुज्झित्वा कदा शान्तः स्थिरासनः । भविष्यामीह मोक्षार्हः संकल्पोऽयं सुपुण्यकृत् ॥४१
भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्याऽकृत्रिमा कृत्रिमा सदा । यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥४२
सम्यक्त्वादिगुणः सिद्धः सूरिराचारपञ्चकः । पाठको द्वादशाङ्गज्ञः साधुश्चाऽर्च्यः स्वसाधकः ॥४३
सर्वज्ञभाषितं यद्ग्रथितं गणधरादिभिः । स्थापितं पुस्तकादौ तच्छ्रुतं पूज्यं च भक्तितः ॥४४
यथैते धर्मिणः पूज्यास्तथा धर्मोऽपि तन्मतः । स च दृग्बोधचारित्रलक्षणश्च क्षमादिकः ॥४५

किये हुए जो जिनबिम्ब (जिन प्रतिमा) हैं वे पूजने योग्य हैं ॥३६॥ यदि कोई जिनबिम्ब खंडित अर्थात् किसी अंगसे रहित हो जाय परन्तु यदि वह अत्यन्त जीर्ण (प्राचीन) है अथवा किसी प्रकारके अतिशयसे युक्त है तो पूजनीय है। परन्तु जो प्रतिमा मस्तक-रहित है और वह प्राचीन तथा अतिशय युक्त भी है तो पूजनीय नहीं है। ऐसी प्रतिमाओंको मन्दिरादिमें न रखकर नदी, समुद्रादि जहाँ कहीं बहुत गहरा जल हो वहाँ निक्षेपित (प्रवाहित) कर देना चाहिये ॥३७॥ यदि यहाँ पर कोई यह कहे कि—अरे ! ये प्रतिमा तो अचेतन (जड़) हैं क्या इनके पूजनेसे जीवोंको पुण्यका बन्ध होगा ? तो उन लोगोंको यों समझाना चाहिये ॥३८॥ शान्त (वीतरागस्वरूप), निश्चल विराजमान, तथा मोक्षके स्वरूपको बताने वाली जिन प्रतिमाको देखकर जीवोंका जो शान्तपरिणाम होता है वह परिणाम पुण्यके लिए कारण होता है ॥३९॥ पूर्वकालमें कितने भव्यात्मा सिद्ध हुए हैं, आगामी सिद्ध होंगे तथा वर्तमानमें होनेवाले है वे सब इसी स्थितिसे हुए हैं, होंगे तथा होनेवाले है ऐसा जो आत्माका परिणाम होता है वही पुण्यका उत्पादक होता है ॥४०॥ इस अपार संसारमें इन प्रतिमाओं के समान परिग्रह छोड़कर किस समय शान्त स्वभाव वाला, स्थिरासन तथा मोक्ष हो जाने योग्य मैं होऊँगा ? यह जो आत्मामें संकल्प (भावना) होना है वही पुण्यकी प्राप्तिका कारण है ॥४१॥ इन उपर्युक्त कारणोंसे प्रतिमाका पूजना पुण्यका हेतु है इसलिये श्रावक लोगोंको—भक्ति पूर्वक अकृत्रिम (अनादिकालसे चली आई) तथा कृत्रिम (शास्त्रानुसार शिल्पिकारोंसे निर्माण कराकर प्रतिष्ठा की हुई) प्रतिमाएँ निरन्तर पूजनी चाहिये। क्योंकि इन प्रतिमाओंमें साक्षाज्जिन भगवान्के गुणोंका संकल्प (निक्षेप) होता है इसलिये जिसने जिन प्रतिमाओंकी पूजा की है समझना चाहिये कि—उसने साक्षाज्जिन भगवान्की ही पूजा की है ॥४२॥ सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे युक्त सिद्ध भगवान्, दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पंचप्रकारके आचारसे युक्त सूरि (आचार्य), द्वादशांगशास्त्र-को जानने वाले उपाध्याय तथा अपनी आत्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले साधु (मुनि) ये सब पूजने योग्य हैं ॥४३॥ तीनों लोकके जानने वाले सर्वज्ञ भगवान्से प्रगट हुआ तथा गणधरादिसे गूंथा हुआ और वही इस समय पुस्तकादिमें स्थापित किया हुआ जो श्रुत है उसे भी भक्ति पूर्वक निरन्तर गृहस्थोंको पूजना चाहिये ॥४४॥ जैसे ये उपर्युक्त अर्हन्त, सिद्ध, आचार्यादि धर्मी पूजनीय हैं उसी तरह धर्म भी पूजने योग्य है। भावार्थ—इन अर्हन्तादिमें धर्म विद्यमान है इसीलिये ये पूजनीय समझे जाते हैं तो धर्म भी स्वतः स्वभाव पूजनीय है ही। वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप है। तथा उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसंयम, उत्तम तप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन, तथा उत्तमब्रह्मचर्य इन दश लक्षण स्वरूप

प्रतीकूलान्मुखीकृत्य यथास्वं दानमानतः । अनुकूलान्स्वसात्कृत्य यजतां सिद्धये जिनम् ॥४६
स्त्रीसङ्गाऽऽहारनीहाराऽऽरम्भादिषु रतो गृही । चर्मादिस्पर्शतो देवान्स्नात्वैवाऽर्चेत्सुधौतभृत् ॥४७
स्नानेन प्राणिघातः स्याद्य एवं वक्ति पूजने । स स्वेदादिमलोच्छित्यै स्नायन्मूढो न लज्जते ॥४८
अनेकजन्मजं पापं यद्धन्ति जिनपूजनम् । तदध्यक्षं न किं सिंहो योगजं स शशं न किम् ॥४९
मत्वेति चिकुरान्मृष्ट्वा दन्तानपि गृहव्रती । देशे निर्जन्तुके शुद्धे प्रमृष्टे प्रागुदङ्मुखः ॥५०
गालितैर्निर्मलैर्नीरैः सन्मन्त्रेण पवित्रितैः । प्रत्यहं जिनपूजार्थं स्नानं कुर्याद्यथाविधि ॥५१
सरितां सरसां वारि यदगाधं भवेत्क्वचित् । सुवातातापसंस्पृष्टं स्नानार्हं तदपि स्मृतम् ॥५२
नभस्वता हतं ग्रावघटीयन्त्राभिताडितम् । तप्तं सूर्यांशुभिर्वाप्यां मुनयः प्रासुकं विदुः ॥५३
यद्यप्यस्ति जलं प्रासु प्रोक्तलक्षणमागमे । तथाप्यतिप्रसङ्गाय स्नायात्तेनाऽद्य नो बुधः ॥५४
इत्थं स्नात्वाऽच्छवस्त्रे द्वे परिधाय च मन्त्रवित् । सकलीकरणाम्भोभिरनुस्नायाऽर्चयेत्सदा ॥५५
जिनानाहूय संस्थाप्य सन्निधीकृत्य पूजयेत् । पुनर्विसर्जयेन्मन्त्रैः संहितोक्तैर्गुरुक्रमात् ॥५६

भी है ॥४५॥ जिन भगवान्‌का पूजन करनेमें किसी तरहका विघ्न न आवे अतः अपने कार्यकी निर्विघ्न सिद्धिके लिये—पूजक पुरुषोंको चाहिये कि जो अपने प्रतिकूल हैं उनका यथा योग्य दान सन्मानादिसे सत्कार करके और जो अनुकूल है उन्हें अपने समान करके जिन भगवान्‌की पूजा करे ॥४६॥ स्त्रियोंके साथ सम्भोग, आहार, नीहार (शौच), आरम्भादिमें लगे हुए गृहस्थोंको तथा चर्म आदि अपवित्र वस्तुओंका स्पर्श करने पर स्नान करके और पवित्र वस्त्रको पहन कर जिनदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥४७॥ यदि कोई यह कहे कि—स्नानके करनेसे तो जीवोंकी हिंसा होती है वह कैसे ठीक कहा जा सकेगा ? ऐसे लोगोंके लिये ग्रन्थकार कहते हैं—पसीना आदि मलके दूर करनेके लिये स्नान करते हुए भी तुम्हें लज्जा नही आती ! जो स्नान करनेको सदोष कह रहे हो ॥४८॥ जो जिन भगवान्‌की पूजा अनेक जन्मोंके पापोंका नाश करनेवाली कही जाती है वही पूजा अपने ही निमित्तसे होनेवाले थोड़ेसे पापोंको नाश नही करेगा क्या ? अवश्य करेगी। जो सिंह बड़े बड़े गजराजोंको क्षणमात्रमें विध्वंस कर डालता है वह क्या शशक (खरगोश) को न हनेगा ? अवश्य हनेगा ॥४९॥ जिन पूजादिमें स्नान करनेको निर्बाध समझ कर—गृहस्थोंको चाहिये कि अपने केश तथा दाँतोंको धोकर पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके जीवरहित, पवित्र तथा मार्जन (झाड़े) हुए किसी स्थानमें—छाने हुए तथा शास्त्रोक्त मन्त्रोंसे पवित्र किये हुए निर्मल जलसे प्रतिदिन जिन पूजाके लिये स्नान करे ॥५०-५१॥ यदि कहीं पर नदी तथा सरोवर (तालाब) आदिका बहुत गहरा जल हो और वह वायु, आताप (सूर्य की किरणादि) से स्पर्श किया हुआ हो तो स्नान करनेके योग्य माना गया है ॥५२॥ वापिका (बावड़ी) का जल यदि वायुसे हत हो, पत्थर, घटीयन्त्रादिसे ताड़ित हो तथा सूर्यकी किरणोंसे तप्त हुआ हो तो उसे मुनि लोग प्रासुक कहते हैं ॥५३॥ यद्यपि जलके प्रासुक होनेका जो लक्षण कहा है उसी अनुसार वायु, घटीयन्त्र आदिसे हत तथा सूर्यकी किरणादिसे स्पर्श किया हुआ जल प्रासुक है परन्तु अति प्रसंग (दुर्व्यवस्था) न हो जाय इसलिये इस समय वैसे जलसे स्नान नहीं करना चाहिये ॥५४॥

मंत्र जानने वाला वह भव्य पुरुष इस प्रकार स्नान करके और स्वच्छ उत्तरीय तथा अन्तरीय वस्त्र पहन कर इसके बाद फिर सकलीकरणके जलसे स्नान कर सदा जिन भगवान्‌की पूजा करे ॥५५॥ पूजनके समय जिन भगवान्‌का आह्वानन, संस्थापन तथा सन्निधीकरण करके

स्वगृहे च जिनागारे भक्त्या युक्त्या जलादिभिः । पवित्रैरष्टभिर्द्रव्यैः श्रावकः पूजयेज्जिनान् ॥५७
भवसंतापभिद्वाक्यान्द्रव्यभावमलच्युतान् । जिनानर्चामि सद्वार्भिः शीतलैरतिनिर्मलैः ॥५८
स्वभावसौरभाङ्गानामिन्द्राद्यैर्विहितार्चने । अर्हतां पूजयाम्यङ्घ्री चन्दनैश्चन्द्रमिश्रितैः ॥५९
खण्डितारातिचक्राणां शुद्धान्तःकरणात्मनाम् । माहात्म्यखण्डितैः शुद्धैर्विश्वेशां तण्डुलैः पदे ॥६०
हतपुष्पधनुर्बाणसर्वज्ञानां महात्मनाम् । पुष्पैः सुगन्धिभिर्भक्त्या पदयुग्मं समर्चये ॥६१
केवलज्ञानपूजायां पूजितं यदनेकधा । चारुभिश्चरुभिर्जैनपादपीठं विभूषये ॥६२
सुत्रामशेखरालीढरत्नरश्मिभिरञ्चितम् । प्रदीपैर्दीपिताशास्यैर्द्योतयेऽर्हत्पदद्वयम् ॥६३
निर्दग्धकर्मसन्तानकाननानां जिनेशिनाम् । कृष्णागुर्वादिजं धूपं पुर उत्क्षेपयाम्यहम् ॥६४
सुवर्णैः सरसैः पक्वैर्बीजपूरादिसत्फलैः । फलदायि जिनेन्द्राणामर्चाम्यङ्घ्रियुगाम्बुजम् ॥६५
अब्गन्धाक्षतसंमिश्रं भ्रमद्भ्रमरसङ्कुलम् । पुष्पाञ्जलिं क्षिपाम्यत्र सर्वज्ञचरणद्वये ॥६६
अष्टकर्मविनिर्मुक्तमष्टसद्गुणभूषणम् । जलाद्यैर्वसुभिर्द्रव्यैः सिद्धचक्रं यजाम्यहम् ॥६७
जलगन्धादिसद्द्रव्यैर्यजे ज्ञानप्रदायिनीम् । जिनेन्द्रास्याब्जसम्भूतामङ्गपूर्वात्मिकां गिरम् ॥६८

उन्हें पूजना चाहिये । पूजनके बाद संहिता शास्त्रोंमें कहे हुए मन्त्रोंके द्वारा गुरुक्रमसे विसर्जन करना चाहिये ॥५६॥ भव्य श्रावकको—अपने घरके चैत्यालयमें अथवा जिन मन्दिरमें युक्ति पूर्वक पवित्र जल चन्दनादि आठ द्रव्यसे भक्ति पूर्वक जिन भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये ॥५७॥ जिनके वचन संसारके संतापको नाश करनेवाले हैं और जो बाह्य तथा अन्तरङ्ग मलसे रहित हैं ऐसे संसार समुद्रसे पार करनेवाले जिन भगवान्‌का पवित्र, शीतल तथा अत्यन्त निर्मल जलसे पूजन करता हूँ ॥५८॥ जिनका कमनीय शरीर अपने आप सुगन्धित है ऐसे अर्हन्त भगवान्‌के—इन्द्रादि देवताओंसे पूजनीय चरण कमलोंकी मैं कर्पूर चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यसे पूजा करता हूँ ॥५९॥ जिन्होंने अष्टकर्म रूप दुर्जय शत्रुसमूहका नाश कर दिया है और जिनका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध (पवित्र) है ऐसे सर्वज्ञ जिन भगवान्‌के चरण कमलोंको अखंड और पवित्र अक्षतोंसे पूजता हूँ ॥६०॥ जिन्होंने काम बाणका सर्वथा नाश कर दिया है ऐसे पवित्रात्मा सर्वज्ञ भगवान्‌के चरण कमलकी कमल, केवड़ा, गुलाब, चमेली, मालती, आदि अनेक जातिके मनोहर तथा सुगन्धित फूलोंसे पूजा करता हूँ ॥६१॥ केवलज्ञानके पूजनके समयमें जिनके चरण कमल अनेक प्रकारसे पूजे गये हैं उन्हीं जिनदेवके चरणों-को मनोहर व्यञ्जनादि नैवेद्योंसे पूजता हूँ ॥६२॥ इन्द्रादि देवताओंके मुकुटोंमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे विराजमान जिन भगवान्‌के दोनों चरण सरोजोंको, भक्ति पूर्वक—जिनके प्रकाशसे दशों दिशाएँ देदीप्यमान हो रही हैं ऐसे सुन्दर दीपकोंसे पूजता हूँ ॥६३॥ जिन्होंने कर्म समूह रूप गहन वन क्षणमात्रमें जला दिया है ऐसे जिनराजके सन्मुख अष्टकर्मरूप वनके भस्म करनेके अर्थ कृष्णा-गुरु आदि सुगन्धित वस्तुओंसे बनी हुई धूप क्षेपण करता हूँ ॥६४॥ स्वर्गादि उत्तम फलके देनेवाले जिन भगवान्‌के चरण कमलोंकी—दीखनेमें नयनोंको अत्यन्त सुन्दर तथा सुरस आम, अनार, केला, सेव, नास्पात्ती, नारंगी, बीजपुर आदि पके हुए उत्तम फलोंसे पूजा करता हूँ ॥६५॥ जल, चन्दन, अक्षत, पुष्पादिसे मिली हुई और जो चारों ओर भ्रमण करते हुए भ्रमरोंसे व्याप्त हो रही है ऐसी मनोहर पुष्पाञ्जलि सर्वज्ञ भगवान्‌के दोनों चरणोंमें क्षेपण करता हूँ ॥६६॥ आठ कर्म रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुण विभूषित सिद्धचक्रका—जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्यादि आठ द्रव्योंसे पूजन करता हूँ ॥६७॥ जिन भगवान्‌के मुख कमलसे उत्पन्न हुई तथा ज्ञानको देनेवाली ऐसी द्वाद-

रत्नत्रयपवित्राणां मुनीन्द्राणां तपोभृताम् । चरणानर्चयाम्यम्भोगन्धाद्यैर्भक्तितः सदा ॥६९
द्वेधा दृग्बोधचारित्रमुत्तमं क्षान्तिपूर्वकम् । धर्ममर्च्चामि सद्द्रव्यैर्जिनोक्तं सुखदं मुदा ॥७०
एवं पाठं पठन्वाचा जिनादीनर्चयेत्तराम् । तद्गुणौघं स्मरन्नन्तः कायेन कृततद्विधिः ॥७१
माल्यधूपप्रदीपाद्यैः सचित्तैः कोऽर्चयेज्जिनम् । सावद्यसम्भवाद्वक्ति यः स एवं प्रबोध्यते ॥७२
जिनार्चानेकजन्मोत्थं किल्विषं हन्ति या कृता । सा किन्न यजनाचारैर्भवं सावद्यमङ्गिनाम् ॥७३
प्रेर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमाः । तत्राल्पशक्तितेजस्सु वंशकादिषु का कथा ॥७४
भुक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमङ्गिनाम् । जीवनाय मरीचादिसदौषधविमिश्रितम् ॥७५
तथा कुटुम्बभोग्यार्थमारम्भः पापकृद्भवेत् । धर्मकृद्दानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा ॥७६
जिनमर्चयतः पुण्यराशौ सावद्यलेशकः । न दोषाय कणः शीतशिवाम्भोधौ विषस्य वा ॥७७
गण्डं पाटयतो बन्धोः पीडनं चोपकारकृत् । जिनधर्मोद्यतस्यैव सावद्यं पुण्यकारणम् ॥७८

शाङ्ग तथा चौदह पूर्व रूप जो वाणी (सरस्वती) है उसे जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीपादिसे तथा सुन्दर सुन्दर वसनोंसे पूजता हूँ ॥६८॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयसे पवित्र तथा अनेक प्रकार दुर्द्धरतपश्चरणके करनेवाले मुनिराजोके चरणोंको जलगन्धादि आठ द्रव्योंसे भक्ति पूर्वक पूजता हूँ ॥६९॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप तथा उत्तमक्षमादि दशधर्म रूप जिन भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ तथा स्वर्गादि सुखोंका देनेवाला जो धर्म है उसे जल गन्धादि उत्तम द्रव्योंसे पूजता हूँ ॥७०॥ अपने शरीरसे यथोक्त पूजनादि विधि करता हुआ और अन्तःकरण (हृदय) में जिन भगवान्‌के गुण स्मरण पूर्वक पूजनादि सम्बन्धी पाठ वाणीसे पढ़ता हुआ श्रावक जिन भगवान्‌का पूजन करे ॥७१॥ जिन भगवान्‌के पूजनके सम्बन्धमें यदि कोई यह कहे कि—पुष्पमाल, धूप, प्रदीपादि सचित्त पदार्थसे कौन जिनदेवका पूजन करेगा ? क्योंकि सचित्त पदार्थसे पूजन करनेसे तो सावद्य (आरम्भ) होता है ? जिन लोगोंकी ऐसी श्रद्धा है उन्हें इस तरह समझाना चाहिये ॥७२॥ "जिन भगवान्‌का पूजन करनेसे जन्म जन्ममें उपार्जन किये हुए पापकर्म क्षणमात्रमें नाश हो जाते है" तो क्या उसी पूजनसे—पूजन सम्बन्धी आचारसे उत्पन्न जीवोंका अत्यल्प सावद्य कर्म नाश नहीं होगा ? अवश्य होगा ॥७३॥ जिस प्रचण्ड पवनसे पर्वतके समान बड़े बड़े गजराज भी क्षणमात्रमें उड़ा दिये जाते हैं उसी प्रलयकालकी वायुसे बहुत थोड़ी शक्तिके धारक विचारे दशमशकादि छोटे जन्तु क्या बचे रहेंगे ? ॥७४॥ यदि केवल विष खाया जाय तो नियमसे वह प्राणोंका नाश करेगा। परन्तु वही विष यदि मरीचादि उत्तम उत्तम औषधियों-के साथ खाया जाय तो जीवोंके जीवनके लिये होता है ॥७५॥ जिस तरह हम ऊपर एक पदार्थको हानिकारक बता आये हैं परन्तु उपायान्तरसे उपयोगमें लाई हुई वही वस्तु गुणकारक हो जाती है। उसी तरह वह आरंभ यदि कुटुम्बके लिये किया हुआ हो तो पाप-कारक होता है। और धर्मके अर्थ किया हुआ हो तो वही आरंभ हिंसाका केवल लेशमात्र माना जाता है ॥७६॥ जिन भगवान्‌की पूजा करनेवाले भव्य जनोंके पुण्य बहुत होता है उस पुण्य समूहमें सावद्य (आरंभ) का लव दोष (पाप) का कारण नहीं हो सकता। जिस तरह विषकी एक छोटी सी कणिका समुद्रके जलको नहीं बिगाड़ सकती ॥७७॥

जिस तरह फोड़ा आदिके चीरने वाले बन्धु लोगोंका दुःख देना भी लाभ दायक होता है उसी तरह जिन धर्मकी प्रभावना करनेमें प्रयत्न तत्पर भव्य पुरुषोंके आरंभ भी पुण्योत्पत्तिका

रमणीयस्ततः कार्यः प्रासादो हि जिनेशिनाम् । हेमपाषाणमृत्काष्ठमयैः शक्त्याऽऽत्मनो भुवि ॥७९
प्रासादे जिनबिम्बं च बिम्बमानं यवोन्नतिम् । यः कारयति गीस्तेषां पुण्यं वक्तुमलं न हि ॥८०
प्रासादे कारिते जैने किं किं पुण्यं कृतं न तैः । दानं पूजा तपः शीलं यात्रा तीर्थस्य च स्थितिः ॥८१
तस्मिन्सति जनैः कैश्चिदभिषेकैर्महोत्सवैः । घण्टाचामरसत्केतुदानैः पुण्यमुपार्ज्यते ॥८२
देशान्तरात्समागत्य तस्मिन्प्रस्थाय पण्डिताः । व्याख्यायन्ति च सच्छास्त्रं धर्मतीर्थं प्रवर्त्तते ॥८३
शास्त्रं निशम्य मिथ्यात्वं भव्या मुञ्चन्ति हेलया । सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते पालयन्ति च सद्व्रतम् ॥८४
नामतः स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालैश्च भावतः । जिनपूजा मता षोढा पूजाशास्त्रे सुधीधनैः ॥८५
नामोच्चार्य जिनादीनां स्वच्छदेशे क्वचिज्जनैः । पुष्पादीनि विकीर्यन्ते नामपूजा भवेदसौ ॥८६
सद्भावान्या त्वसद्भावा स्थापना द्विविधार्चना । क्रियते यद्गुणारोप. साऽऽद्या साकारवस्तुनि ॥८७
वराटकादौ सङ्कल्प्य जिनोऽयमिति बुद्धितः । याऽर्चा विधीयते प्राज्ञैरसद्भावा मता त्वियम् ॥८८
हुण्डावसर्प्पिणीकाले लोके मिथ्यात्वसङ्कुले । असद्भावा न कर्त्तव्या जायते संशयो यतः ॥८९
ज्ञेयाऽन्या स्थापना पूजा प्रतिष्ठाविधिरर्हताम् । वसुनन्दीन्द्रनन्द्यादिसूरिसूत्रानुसारतः ॥९०

कारण है ॥७८॥ "जिन धर्मकी वृद्धिके अर्थ किया हुआ आरंभ भी अच्छे कर्मबन्धका हेतु है" ऐसा समझकर भव्य पुरुषोंको अपनी सामर्थ्यके अनुसार संसारमें सुवर्ण, पाषाण, मृतिका तथा काष्ठादि निर्मित मनोहर जिन मन्दिर बनवाने चाहिये ॥७९॥ जो भव्यपुरुष—जिन मन्दिर, तथा जौ बराबर भी जिनबिम्ब बनवाते हैं उन पुण्यशाली पुरुषोंके पुण्यका वर्णन करनेमें हमारी वाणी किसी प्रकार भी समर्थ नहीं है ॥८०॥ जिन पुरुष श्रेष्ठोंने जिन भवन बनवाया है संसारमें फिर ऐसा कौन पुण्य कर्म बाकी है जिसे उन्होंने न किया। अर्थात् उन लोगोंने दान, पूजन, तप, शील, यात्रा तथा तीर्थोंकी बहुत काल पर्यन्त स्थिति आदि सभी पुण्य कर्म किये हैं ॥८१॥ जिन चैत्यालयोंके होनेसे कितने भव्यात्मा अभिषकसे, कितने नाना प्रकारके महोत्सवादिसे, कितने घंटा, चामर, ध्वजा आदि सुन्दर वस्तुओंके दानसे, पुण्य कर्मका निरन्तर संचय करते रहते हैं ॥८२॥ देश-देशान्तरसे विद्वान् लोग आकर उन जिन चैत्यालयोंमें उत्तम जैनशास्त्रोंका व्याख्यान करते हैं और उसीसे धर्मतीर्थका विस्तार होता है ॥८३॥ शास्त्रोंको सुनकर धर्मात्मा पुरुष शीघ्र ही मिथ्यात्वको छोड़ देते हैं और सम्यक्त्वको स्वीकार करके उत्तम व्रतोंका पालन करने लगते हैं ॥८४॥ इस प्रकार पूजनका सामान्य वर्णन करके अब उसके भेदोंका वर्णन करते हैं—जिनके पास अपनी बुद्धि ही धन है, वे भव्यात्मा जिन पूजनके नामपूजन, स्थापनापूजन, द्रव्यपूजन, क्षेत्रपूजन, कालपूजन तथा भावपूजन ऐसे छह भेद कहते हैं ॥८५॥ जिनदेवादिका नामोच्चारण करके किसी शुद्ध प्रदेशमें पुष्पादि क्षेपण करनेको नाम पूजा कहते हैं ॥८६॥ सद्भावस्थापना तथा असद्भावस्थापना इस तरह स्थापना पूजाके दो भेद हैं। साकारवस्तुमें जो गुणोंका आरोप किया जाता है उसे सद्भावस्थापना-पूजा कहते हैं ॥८७॥ [1]वराटक (कमलगट्टा), पुष्प, अक्षतादिमें यह जिन भगवान् हैं ऐसी कल्पना करके जो पूजा की जाती है उसे असद्भावस्थापनापूजा कहते हैं ॥८८॥ इस हुण्डावसर्प्पिणीकालमें—लोकमें मिथ्यात्वका प्रचार प्रचुरतासे होनेसे असद्भाव (निराकार) स्थापना नहीं करना चाहिये। क्योंकि मिथ्यात्वी लोगोंने नाना प्रकारके देवी देवताओंकी स्थापना कर डाली है इसलिये उसमें सन्देह हो सकता है ॥८९॥ अर्हन्त भगवान्की प्रतिष्ठादि विधिको वसुनन्दि इन्द्रनन्दि आदिके

---

१. संवर्तिका नवदलं बीजकोशो वराटकः इति कोशः।

सचित्ताऽचित्तमिश्रेण द्रव्यपूजा त्रिधा भवेत् । प्रत्यक्षमर्हदादीनां सचित्ताऽर्चा जलादिभिः ॥९१
तेषां तु यच्छरीराणां पूजनं साऽपरार्चना । यत्पुनः क्रियते पूजा द्वयोः सा मिश्रसंज्ञिका ॥९२
अथवा सा द्रव्यपूजा ज्ञात्वा सूत्रानुसारतः । नोआगमागमाभ्यां च भव्यैर्याऽत्र विधीयते ॥९३
गर्भजन्मतपोज्ञानलाभनिर्वाणसम्भवे । क्षेत्रे निषद्यकासु प्राग्विधिना क्षेत्रपूजनम् ॥९४
गर्भादिपञ्चकल्याणमर्हतां यद्दिनेऽभवत् । तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चार्चनम् ॥९५
स्नपनं क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभिः । तत्र गीतादिमाङ्गल्यं कालपूजा भवेदियम् ॥९६
यदनन्तचतुष्काद्यैर्विधाय गुणकीर्त्तनम् । त्रिकालं क्रियते देववन्दना भावपूजनम् ॥९७
परमेष्ठिपदैर्जापः क्रियते यत्स्वशक्तितः । अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्रं साप्यर्चा भावपूर्विका ॥९८
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् । ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम् ॥९९
एतद्भेदास्तु विज्ञेया नाना ग्रन्थानुसारतः । ग्रन्थभूयस्त्वभीतेन प्रपञ्चो नेह तन्यते ॥१००
एवं पूजा समुद्दिष्टा षोढा जैनेन्द्रशासने । इदानीं फलमेतस्या वर्ण्यते नृपते ! शृणु ॥१०१
जिनपूजा कृता हन्ति पापं नाना भवोद्भवम् । बहुकालचितं काष्ठराशिं वह्निरिवाऽखिलम् ॥१०२

प्रतिष्ठापाठोंके अनुसार करना स्थापनापूजा जानना चाहिये ॥९०॥ द्रव्य पूजाके सचित्त द्रव्यपूजा, अचित्त द्रव्यपूजा, तथा मिश्रद्रव्यपूजा इस तरह तीन विकल्प है। साक्षात् अर्हन्तादिकी जलादि द्रव्योंसे पूजा करनेको सचित्त द्रव्य पूजा कहते हैं ॥९१॥ और उन अर्हन्तादिके शरीरकी पूजा करने को अचित्त द्रव्यपूजा कहते हैं तथा अर्हन्तादिकी और उनके शरीरकी एक साथ पूजा करनेको मिश्र द्रव्यपूजा कहते हैं ॥९२॥ अथवा शास्त्रानुसार, नोआगम तथा आगमसे द्रव्य पूजाको समझ कर जो भव्य पुरुषोंके द्वारा पूजा की जाती है उसे भी द्रव्यपूजा समझना चाहिये ॥९३॥ जिन क्षेत्रोंमें जिन भगवान्‌के गर्भकल्याण, जन्मकल्याण, दीक्षाकल्याण, ज्ञानकल्याण तथा निर्वाणकल्याण हुए हैं उनका पूर्वविधिके अनुसार जलादि आठद्रव्योंसे पूजन करनेको क्षेत्रपूजन कहते हैं ॥९४॥ जिस दिन अर्हन्त भगवान्‌के गर्भकल्याण, जन्मकल्याण, दीक्षा कल्याण, केवलज्ञान कल्याण तथा निर्वाणकल्याण हुए हैं उस दिन, नन्दीश्वरमें तथा रत्नत्रय पर्वमें जिन भगवान्‌की पूजा करनेको, इक्षुरस घृत दूध दही आदि नाना प्रकारके रसोंसे अभिषेक करनेको तथा गीत, सङ्गीतादि माङ्गलिक कार्यके करनेको काल पूजन कहते हैं ॥९५-९६॥ अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्यादि अनन्तचतुष्टयसे युक्त जिन भगवान्‌के गुणोंकी स्तुति-पूर्वक जो त्रिकाल सामायिक की जाती है उसे भावपूजा कहते हैं ॥९७॥ अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पच परमेष्ठियोंका अपनी शक्ति पूर्वक जो नाम स्मरण किया जाता है उसे तथा अर्हन्तभगवान्‌के गुणोंका स्तवन करनेको भाव पूजन कहते हैं ॥९८॥ तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकारके ध्यानोंका अच्छी तरह ध्यान करनेको उत्तम भावपूजन कहते हैं[1] ॥९९॥ ऊपर पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, तथा रूपातीत इस प्रकार ध्यानके चार भेद कह आये हैं इनका विशेष खुलासा वर्णन—अन्य अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं किया गया है ॥१००॥ इस तरह जैनशास्त्रोंमें पूजनके जो छह भेद किये हैं उनका वर्णन तो हम कर चुके। हे महाराज श्रेणिक ! अब इस समय पूजनके फलका वर्णन करते हैं उसे तुम सुनो ॥१०१॥ जिस तरह अग्नि बहुत समयसे इकट्ठे किये हुए समस्त काष्ठ-समूहको क्षण मात्रमें जला देती है उसी तरह जिन भगवान्‌का पूजन

१. इनका विशेष स्वरूप ज्ञानार्णवसे जानना चाहिए।—सम्पादक

दुर्गतिं दलयत्येषा शम्पेवाऽवनिभृत्तटीम् । पुण्यं पुष्णाति वृक्षाणां कदम्बमिव धोरणिः ॥१०३
यत्किञ्चिदिह सत्सौख्यं वाञ्छितं जगतां त्रये । दृश्यते तज्जिनाऽर्चायाः फलेनैवाऽऽप्यतेऽङ्गिभिः ॥१०४
गौतमोऽकथयत्तत्र यावत्पूजाफलं गणी । तावदेकोऽमरः स्वर्गादायान्मण्डूकलाञ्छनः ॥१०५
त्रिःपरीत्य जिनं स्तुत्वा नत्वा गणधरानपि । अन्येषां च यथायोग्यं कृत्वा स्वं कोष्ठमासदत् ॥१०६
तस्य श्रियं च सौन्दर्यं समीक्ष्य मगधेश्वरः । पप्रच्छ गणिनं कोऽयं केन पुण्येन कान्तिमान् ॥१०७
निशम्येति गणाधीश उवाच नरकुञ्जरम् । शृणवस्य चरितं राजन्साश्चर्यं ज्ञानचक्षुषा ॥१०८
अत्रैवार्याऽभिधे खण्डे पद्मिनीषण्डमण्डिते । विषये मगधाख्येऽस्ति परं राजगृहं पुरम् ॥१०९
नागदत्तोऽभवत्तत्र श्रेष्ठी भूरिधनी जनी । भवदत्ता च तस्याऽऽसीत्तया भोगं स भुक्तवान् ॥११०
अवसाने स मूढात्मा स्वार्त्तध्यानोल्लसन्मनाः । मृत्वाऽसौ गृहपृष्ठस्थवाप्यां भेकस्त्वजायत ॥१११
अतिष्ठद्रममाणोऽयं विपुले दीर्घिकाजले । यावत्तदैकदा प्राप भवदत्ता जलार्थिनी ॥११२
जज्ञे तद्दर्शनात्तस्य स्वजातिस्मरणं तदा । हा ! हाऽहमार्त्ततश्च्युत्या जातो जलधरो नरात् ॥११३
भार्यास्नेहेन सान्निध्यं यावदायादसौ तदा । भीत्या पलाय्य तज्जाया प्रविवेश स्वमन्दिरम् ॥११४
संसर्गं प्राक्कलत्रस्य मण्डूकोऽलभमानकः । अत्यारटज्जले तस्थौ विपाकः कर्मणो बली ॥११५

करनेसे जीवोंके जन्म जन्मका संचित पाप कर्म उसी समय नाश हो जाता है ॥१०२॥ यही जिन-पूजा दुर्गतिको नाश करनेवाली है और वृक्षोंकी श्रेणी जिस तरह कदम्ब तरुको परिवर्द्धित करती है उसी तरह पुण्यकर्मकी वृद्धि करनेवाली है ॥१०३॥ तीन लोकमें जो कुछ भी जीवोंके अभिलषित उत्तम सुख देखा जाता है वह सुख जिन भगवान्‌के पूजनके फलसे ही प्राणी प्राप्त करते हैं ॥१०४॥ जिस समय भगवान् गौतम गणधर महाराज श्रेणिकसे जिन भगवान्‌की पूजाका फल कह रहे थे उसी समय मुकुटके ऊपर मेंढक चिन्हका धारक एक देव स्वर्गसे आया ॥१०५॥ वह देव जिन भगवान्‌की तीन प्रदक्षिणा देकर तथा नाना प्रकार भक्ति-पूर्वक जिन भगवान्‌को स्तुति करके इसके बाद गणधर भगवान्‌की वन्दना करके और भी मुनि आदिका यथा योग्य सत्कारादि करके अपने कोठेमें जाकर बैठ गया ॥१०६॥ उस समय मगधदेशके स्वामी महाराज श्रेणिकने उस देवकी लक्ष्मी तथा मनोहरताको देखकर भगवान् गौतम गणधरसे पूछा—महाराज ! यह जो अभी आया है वह कौन है ? और किस बड़े भारी पुण्यसे यह ऐसा सुन्दर है ? ॥१०७॥ महाराज श्रेणिकके प्रश्नको सुनकर भगवान् गौतम स्वामीने उनसे कहा—हे राजन् ! इसके आश्चर्यकारी चरितको तुम सावधान होकर सुनो ! ॥१०८॥ हे राजन् ! कमलिनियोंके समूहसे शोभित इसी आर्यखण्डमे मगध नामक देश है। उस देशमें राजगृह नाम एक मनोहर नगर है ॥१०९॥ उस राजगृह नगरमें बहुत धनी तथा बहुत कुटुम्बी नागदत्त नाम सेठ था। उसके भवदत्ता नामकी वनिता थी। उसके साथ वह निरन्तर भोगोंको भोगता रहता था ॥११०॥ वह मूर्ख नागदत्त धनमें आर्त्तध्यानी होकर अन्त समयमें मरकर अपने घरके पीछेकी बावडीमें मेंढक हुआ ॥१११॥ वह मेंढक बावडीके गहरे जलमें क्रीडा करता रहता था। एक दिन भवदत्ता जलके लिये बावडीके ऊपर आई ॥११२॥ उसके देखने मात्रसे मेंढकको अपनी पूर्व जातिका स्मरण हो आया। जाति-स्मरण होनेमात्रसे वह मेंढक हाय ! हाय !! मैं अर्त्तध्यानसे मरकर मनुष्य जन्मसे जलजन्तु हुआ। इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगा ॥११३॥ जब भवदत्ता जलके लिये आई तो उसे आती हुई देख कर पूर्व जन्मकी स्त्रीके अनुरागसे वह उसके पास आया, तब भयसे भवदत्ता भागकर अपने घरमें घुस गई ॥११४॥ मेंढक अपनी पूर्व भवकी स्त्रीके साथ सम्बन्ध न पाकर बहुत चिल्लाता हुआ

एतां दृष्ट्वा यदाऽऽयातां तदा सन्मुखमाव्रजत् ।
सा तं सन्मुखमायान्तं वीक्ष्य जाता पराङ्मुखी ॥११६

तयैकदा मुनिः पृष्टः सुव्रताख्योऽवधीक्षणः । कोऽयं भेकः स तामाह भद्रे ! शृणु समाहिता ॥११७
नागदत्तः पतिस्ते यो धर्मकर्मविवर्जितः । आर्त्तध्यानेन मृत्वा स भेकोऽजनि जलाशये ॥११८
श्रुत्वेति श्रेष्ठिनी पापं निन्दन्ती फलमङ्गिनः । रुदन्ती स्नेहमाधाय भेकान्तं सा तदाऽऽगमत् ॥११९
पूर्ववत्सम्मुखं भेकमागतं निजमन्दिरम् । आनीय जलकुण्डादौ युक्त्या सा तमुपाचरत् ॥१२०
एवं गच्छति कालेऽस्य वसतः कुण्डवारिणि । अन्यदा वनपालेन विज्ञप्तस्त्वमिति प्रभो ॥१२१
स्वामिन् ! श्रिया समायातो वर्द्धमानो जिनेश्वरः । त्वत्पुण्येन जगत्पूज्यो विपुलाद्रौ मनोहरे ॥१२२
सानन्दो वनपालाय दत्वा वपुरलङ्कृतीः । गत्वा सप्तपदानि त्वं तद्दिशं जिनमागमः ॥१२३
भेरीरावेण पौरैस्त्वं मिलितैर्जिनमर्चितुम् । निर्गतः स्वपुराद्दन्तिस्कन्धमारुह्य स्वश्रिया ॥१२४
भेकोऽपि तं समाकर्ण्य स्वानन्दभरनिर्भरः । यास्याम्यहं जिनेन्द्रस्य यात्रायामित्यचिन्तयत् ॥१२५
ततो वाप्यां प्रविश्याऽसौ दद्भिरादाय वारिजम् । चचाल जिनपूजार्थमुत्प्लवन्नृपनागरैः ॥१२६

जलमें रहने लगा । अहो ! कर्मका विपाक (फल) अत्यन्त बलवान है ॥११५॥ मेंढक जब भवदत्ताको आती हुई देखता तब ही जल्दीसे उसके सामने जाने लगता था और भवदत्ता भी उसे अपने सामने आता हुआ देख कर झट लौट जाती थी ॥११६॥ किसी समय भवदत्ताने सुव्रत नाम अवधिज्ञानी मुनिराजसे पूछा—हे नाथ ! यह मेंढक कौन है ? मुनिराजने भवदत्तासे कहा । हे कल्याणि ! तुम सावधान होकर सुनो—मैं इस मेंढकका वृत्तान्त कहता हूँ ॥११७॥ मुनिराजने भवदत्तासे कहा—धर्म कर्मसे रहित नागदत्त जो तुम्हारा स्वामी था वह धनके आर्त्तध्यानसे मरकर तुम्हारे घरके पीछेकी बावलीमें मेंढक हुआ है ॥११८॥ भवदत्ता अपने पतिकी इस तरह खोटी गति सुनकर पापके बुरे फलकी निन्दा करती हुई और रोती हुई पूर्व-जन्मके स्नेहसे मेंढकके पास आई ॥११९॥ भवदत्ता पहलेके समान अपने सामने आते हुए मेंढकको देखकर उसे अपने घर ले आई और योग्य रीतिसे जलके कुण्ड वगैरहमें रखकर उसकी सेवा करने लगी ॥१२०॥ इस प्रकार कुण्डके जलमें रहते हुए उस मेंढकके कितने दिन बीत जाने पर एक दिन वनपालने आकर तुमसे यों प्रार्थना की ॥१२१॥ हे नाथ ! आपके आमत पुण्यके माहात्म्यसे विपुलाचल पर्वत पर बाह्याभ्यन्तरलक्ष्मीसे शोभायमान त्रैलोक्य पूज्य श्रीवर्द्धमान अन्तिम जिनराज पधारे हैं ॥१२२॥ श्रीवर्द्धमान जिनेश्वरके आगमन सम्बन्धी समाचार सुनकर आनन्द पूर्वक तुमने वनपालको अपने शरीरके सब वस्त्राभूषण उसी समय दे दिये और जिस दिशाकी ओर जिन भगवान् विराजे थे उसी दिशा मे सात पेंड आगे जाकर जिन भगवानको नमस्कार किया ॥१२३॥ तुम्हारी भेरीके शब्दको सुनकर आये हुए पुरवासी लोगोंके साथ जिन भगवानके पूजनके अर्थ हाथी पर बैठ कर अपनी राज्य लक्ष्मी पूर्वक तुम नगरसे निकले ॥१२४॥ वह मेंढक भी भेरीके शब्दको सुनकर और आनन्दमें मग्न होकर विचारने लगा—मैं भी आज श्री वीर जिनराजकी यात्रा करनेके लिये जाऊँगा ॥१२५॥ वह मेंढक अपने दिलमें जिन भगवानकी यात्राका निश्चय करके उसी समय बावड़ीमें गया और वहाँसे अपने मुखमें एक कमल लेकर पुरवासी लोगोंके तथा तुम्हारे साथ-साथ कूदता हुआ जिनेश्वरके पूजनके अर्थ चला ॥१२६॥ संसार देहसे विरक्त वह मेंढक जिन भगवानके पूजनकी भावनासे आता हुआ रास्तेमें तुम्हारे हाथीके पाँवके नीचे दबकर प्राणोंको छोड़ दिया ॥१२७॥ मरकर उस मेंढकने-सौधर्म नाम

आयान्भावनया मार्गे गजपादेन ते हतः । प्राणांस्तत्याज मण्डूकः स संवेगपरायणः ॥१२७
उपपादि स सौधर्मे संपुटके क्वचिदुत्तरे । अन्तर्मुहूर्त्तकालेन सम्पूर्णोऽभूत्सुरोत्तमः ॥१२८
दिव्यनादं कलं गीतं श्रुत्वा चाऽप्सरसां तदा । प्रसुप्तवत्प्रबुद्धवासाविति देवो व्यचिन्तयत् ॥१२९
कोऽहं कुतः समायातः कोऽयं देशो मनोरमः । केऽमी जनाः स्तुवन्तीमं केन पुण्येन मां श्रिताः ॥१३०
इति चिन्तयतस्तस्य जातं प्राग्भवबोधनम् । ज्ञात्वा वृत्तान्तमात्मीयं तेनाऽऽत्मानमसस्मरत् ॥१३१
अहं भेकचरो देव आयातो राजमन्दिरात् । अयं मनोहरः स्वर्गः स्तोतारोऽमी दिवौकसः ॥१३२
जिनपूजोद्यमोत्पन्नपुण्येन सुरसत्तमाः । मां जीव नन्द वर्द्धस्वेति स्तवैः समुपाश्रयन् ॥१३३
देवदेवीभिरेकत्रीभूयाऽऽगत्येति जल्पितम् । नाथैतस्य विमानस्य कुरु राज्यं गृहाण नः ॥१३४
कल्पवृक्षा अमी सन्ति प्रासादाः किंकरा वयम् । अमूरप्सरसो रम्यास्त्वं तिष्ठाऽत्र चिरं विभो ॥१३५
इति श्रुत्वा वचस्तेषां कृत्याय स्नानवापिकाम् । गत्वा स्नात्वा जिनान्नत्वा विमानस्थजिनालये ॥१३६
अङ्गीकृत्य विमानैश्यं क्षणं पुनरचिन्तयत् । अर्हद्यात्राऽनुमोदेन जातः सा क्रियतेऽधुना ॥१३७
ततोऽयं मौलिभेकाङ्क आयातो जिनमर्चितुम् । सौन्दर्यादिगुणोपेतः कान्तिमान्दिव्यभूषणः ॥१३८
श्रुत्वेति गौतमीं वाचं प्रशंसुश्शुनृपादयः । भेकोपीदृक्फलं लेभेऽनुमोदात्पूजनान्न किम् ॥१३९

स्वर्गमें उत्तर-दिशाके ओरकी उपपाद शय्यामें जन्म लिया और अन्तर्मुहूर्त्त मात्रमें पूर्ण सुरोत्तम (देव) हुआ ॥१२८॥ वह सुरोत्तम उस समय सोते हुएके समान प्रबुद्ध होकर और देवाङ्गनाओंके मनोहर शब्द तथा गीतको सुनकर इस तरह विचारने लगा ॥१२९॥ अहो ! मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? यह मनोहर कौन सा देश है ? ये लोग कौन है ? जो मेरी स्तुति कर रहे हैं और ये सब किस अमित पुण्यके उदयसे मेरी शरण आये है ? ॥१३०॥ इस तरह विचार करते हो उसे अपने पूर्व जन्मका ज्ञान हो गया । अपने स्वकीय वृत्तान्तको जान कर अपनी आत्माको यों स्मरण करने लगा ॥१३१॥ मैं पहले तो मेंढक था अब देव हुआ हूँ और राजगृहसे मैं स्वर्गमें आया हूँ । यह सुन्दर स्वर्ग है और ये मेरा गुण कीर्तन करनेवाले देवता लोग हैं ॥१३२॥ ये सब देवता लोग जिन भगवान्‌की पूजाके उद्यमसे उत्पन्न होने वाले पुण्यके प्रभावसे मेरी 'तुम चिरकाल जीओ ! तुम दिनों दिन आनन्दको प्राप्त होओ !! तुम वृद्धिको प्राप्त होओ !!' इत्यादि नाना प्रकारकी सुन्दर स्तुतियोंसे सेवा कर रहे है ॥१३३॥ उसी समय सर्व देव देवाङ्गनाओंने मिलकर उस देवसे कहा कि—हे नाथ ! इस विमानका आप राज्य करें और हमें भी स्वीकार करे ॥१३४॥ हे नाथ ! ये कल्पवृक्ष हैं, ये बड़े-बड़े हर्म्य (मन्दिर) हैं, हम सब आपके दास हैं और ये देवांगनाएँ है । आप चिरकाल पर्यन्त यहाँ रहें ॥१३५॥ इस प्रकार देव-देवांगनाओंके वचनोंको सुनकर उस सुरोत्तमने जिन पूजनादि कार्यके लिये स्नान करनेकी बावड़ीमें जाकर और स्नान करके अपने विमानके जिनालयमें जिन भगवान्‌की वन्दना की ॥१३६॥ इसके बाद उन देव-देवांगनाओंकी प्रार्थनाके अनुसार विमानके स्वामीपनेको स्वीकार करके क्षण-मात्रमें फिर विचार करने लगा—अहो ! मैं तो श्री अर्हन्त भगवान्‌की यात्राके अनुमोदनसे देव हुआ हूँ इसलिये मुझे वह यात्रा अब करनी चाहिये ॥१३७॥ इसीसे सुन्दरतादि गुणोंसे युक्त, कान्तिमान, तथा स्वर्ग-जनित मनोहर आभरण-का धारक और जिसके मुकुटमें मेंढकका चिह्न है ऐसा यह देव जिन भगवान्‌के पूजन करनेको समवशरणमें आया है ॥१३८॥ महाराज श्रेणिक आदि सर्व सभावासी भव्य पुरुष भगवान् गौतम स्वामीकी इस प्रकार वाणी सुनकर प्रशंसा करने लगे । अहो ! जिन पूजनके अनुमोदन मात्रसे एक

इति पूजाफलं काले निःश्रेयसपदप्रदम् । प्रोक्तं निशामयेदानीं भव्य ! पूजकलक्षणम् ॥१४०
नित्यपूजाविधायी यः पूजकः स हि कथ्यते । द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत् ॥१४१
ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्यं आद्यः शीलव्रतान्वितः । सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥१४२
जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धुसुहृज्जनैः । गुरूपदिष्टमन्त्रेण युक्तः स्यादेष पूजकः ॥१४३
इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः ॥१४४
कुलजात्यादिसंशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसंयमी । वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः ॥१४५
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गम्भीरो विनयान्वितः । शौचाऽऽचमनसोत्साहो दानवान्कर्मकर्मठः ॥१४६
साङ्गोपाङ्गयुतः शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः । स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः ॥१४७
वारिमन्त्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारकः । महाभिमानी मौनी च त्रिसन्ध्यं देववन्दकः ॥१४८
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः । क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः ॥१४९
न हीनाङ्गो नाऽधिकाङ्गो न प्रलम्बो न वामनः । न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नाऽतिबालकः ॥१५०
न क्रोधादिकषायाढ्यो नाऽर्थार्थी व्यसनी न च । नान्त्यास्त्रयो न तावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी ॥१५१
ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत् । तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत् ॥१५२

पशु जाति जन्तूने भी ऐसा अनुपम फल पाया तो जो साक्षाज्जिन देवका भक्तिपूर्वक पूजन करेंगे वे भव्य पुरुष ऐसे फलको नहीं पावेंगे क्या ? अवश्य पावेंगे ॥१३९॥ भगवान् गौतम स्वामी बोले—हे राजन् ! समयानुसार मोक्षकी प्राप्तिका कारण जिन भगवान्की पूजाका फल तुम्हें कहा । अब इस समय पूजक पुरुषका लक्षण तुम सुनो ॥१४०॥ नित्य पूजनका जो करनेवाला होता है उसे पूजक कहते हैं और जो प्रतिष्ठादि विधियोंका करानेवाला है उसे पूजकाचार्य कहते है ॥१४१॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णोंमें आदिवर्णका धारक (ब्राह्मण) हो शीलव्रतका धारक (ब्रह्मचारी) हो, सत्य शौचादि व्रतका दृढ़ आचरण करनेवाला हो, हिंसा झूठ चोरी आदि अव्रतसे रहित हो ॥१४२॥ जाति तथा कुल (वंश) से पवित्र बन्धुमित्रादिसे जो शुद्ध हो, तथा गुरुसे उपदेशित मंत्र आदिसे जिसका सस्कार हुआ हो वह पुरुष पूजक कहा जाता है ॥१४३॥ अब पूजकाचार्यका लक्षण कहा जाता है—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य हो, अनेक प्रकार के उत्तम लक्षणों से युक्त हो, कुल तथा जाति आदिसे शुद्ध हो, सम्यग्दृष्टि हो, एक देश व्रतका धारी हो, जिनागमका अच्छी तरह जानने वाला हो, आलस्य-रहित हो, बहुश्रुती हो, गम्भीर प्रकृतिका धारक हो, विनय-युक्त हो, शौच तथा आचमनमें उत्साह युक्त हो, दान देनेवाला हो, कर्त्तव्य कार्य करनेमें शूर हो, अङ्ग तथा उपांगयुक्त हो, शुद्ध हो, लक्ष्य तथा लक्षणका जाननेवाला हो, बुद्धिशाली हो, अपनी स्त्रीमें ही सन्तोषका धारक हो या ब्रह्मचारी हो, रोग-रहित हो, उत्तम क्रियाओंका करनेवाला हो, जलस्नान, मंत्रस्नान तथा व्रतस्नानका किया हुआ हो, प्रोषधव्रतका करनेवाला हो, अपने अभिमानकी रक्षा करनेवाला हो, मौनव्रतका धारक हो, प्रातःकाल, मध्याह्न-काल तथा सायंकाल इन तीनों कालमें सामायिकका करनेवाला हो, श्रावकाचारसे जिसका आत्मा शुद्ध हो, दीक्षा शिक्षा आदि अनेक प्रकारके गुणोंसे युक्त हो, गृहस्थोंके सोलह संस्कारोंसे पवित्र हो, ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीतादि) का धारक हो, न अंगहीन हो, न अधिक अंगका धारक हो, न बहुत लम्बा हो, न बहुत छोटा (वामन) हो, न कुरूप हो, न मूर्ख हो, न वृद्ध हो, न अति बालक हो, न क्रोध मान माया लोभादि कषायोंसे युक्त हो, न धनका अर्थी हो, तथा न किसी तरहके व्यसनों का धारक हो । श्रावकोंमें न अन्तिम तीन प्रतिमाधारी हो और न आदि की दो प्रतिमाधारी ही

कर्त्ता फलं न चाऽऽप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम्। ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ॥१५३
पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयेत्परमेश्वरम्। तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते ॥१५४
असिर्मसिः कृषिस्तिर्यक्पोषं वाणिज्यविद्यके। एभिरर्थार्जनं नीत्या वार्त्तेति गदिता बुधैः ॥१५५
एभिः स्वजीवनं कुर्युर्गृहिणः क्षत्रियादयः। स्वस्वजात्यानुसारेण नीतिज्ञैरुदितं यथा ॥१५६
तथा समर्जयेद्वित्तं यथा धर्मं न नश्यति। सुखं न क्षीयते ते च सापेक्षे सेवतां मिथः ॥१५७

एव्वेकशोऽश्नुवानाः स्वं कृतार्थं जन्म मन्वते।
केऽपि कौचिद्द्विशो लोका वयं वा विद्म तत्त्रयम् ॥१५८

दानायोपार्ज्यते वित्तं भोगाय च गृहाश्रमे। यस्य तस्मिंश्च न स्तस्ते तस्यार्थोपार्जनं वृथा ॥१५९
दानं भोगो विनाशश्च वित्तस्य तु गतिस्त्रयी। यो न दत्ते न भुङ्क्ते च तस्यावश्यं परा गतिः ॥१६०
योऽर्थः समर्ज्यते दुःखाद्रक्ष्यते चाऽतिदुःखतः। तत्फलं गृह्यते सद्भिर्दानाद्भोगाच्च नित्यशः ॥१६१
न्यायेनोपार्ज्यते यत्स्वं तदल्पमपि भूरिशः। बिन्दुशोऽप्यमृतं साधु क्षाराब्धेर्वारि नो बहु ॥१६२

श्रावक हो, अर्थात् मध्यवर्ती छह प्रतिमाओंमेंसे किसी भी प्रतिमाका धारी हो, संकलन संयमका धारक मुनि न हो। यदि व्यसनादि दोषोंका धारक प्रतिष्ठाचार्य कहीं पर प्रतिष्ठा करावे तो समझो कि—देश, पुर, राज्य तथा राजा आदि सभी नाशको प्राप्त होते हैं और न प्रतिष्ठा करने वाला तथा करानेवाला ही अच्छे फलको प्राप्त होता है। इसलिये उपर्युक्त उत्तम लक्षणोंसे विभूषित ही प्रतिष्ठाचार्य कहा जाता है ॥१४४–१५३॥ ऊपर जो प्रतिष्ठाचार्यके लक्षण कहे हैं यदि उन लक्षणोंसे युक्त पूजक तथा प्रतिष्ठाचार्य परमेश्वरकी प्रतिष्ठादि करें तो उस समय धनका खर्च करनेवाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनों दिन वृद्धिको प्राप्त होते है ॥१५४॥

असि (खड्ग धारण), मसि (लिखना), कृषि (खेती करना), तिर्यञ्चोंका पालन करना, व्यापार करना तथा विद्या इन छह बातोंसे नीतिपूर्वक धनके कमानेको बुद्धिमान् लोग वार्ता कहते हैं ॥१५५॥ इन छहों कर्मोसे क्षत्रियादि वर्णोंको अपनी-अपनी जातिके अनुसार जीवन-निर्वाह करना चाहिये। जैसा नीतिके जाननेवाले पुरुषोंने बताया है ॥१५६॥ धन उस रीतिसे कमाना चाहिये जिससे धर्म तथा सुखका नाश न होवे और धर्म अर्थका जिस तरह परस्पर सापेक्षपना बना रहे उसी तरह इनका परस्पर सेवन करना चाहिये ॥१५७॥ कितने लोग तो ऐसे हैं जो केवल धर्मके अथवा अर्थके अथवा कामके ही सेवनसे अपना जीवन सार्थक समझते है और कितने ऐसे हैं जो धर्म तथा अर्थके या अर्थ और कामके, या धर्म और काम इन दो-दो के सेवनसे अपने मानव जन्मको कृतकृत्य समझते हैं। हम तो धर्म अर्थ तथा काम इन तीनोंके सेवनसे ही अपने जीवनको सार्थक समझते हैं ॥१५८॥ धनका उपार्जन दान देनेके लिए तथा गृहस्थाश्रममें भोगनेके लिये किया जाता है और जिसके गृहस्थाश्रममें न दान है और न भोग है ऐसे पुरुषोंका धन कमाना निष्फल है ॥१५९॥ दान देना, नाना प्रकारके समीचीन भोगोंका भोगना तथा नष्ट हो जाना ये तीन ही गति धनकी होती है। जो पुरुष न तो दान देता है और न धनका भोग करता है उसके धनकी तीसरी गति (विनाश) स्वयं सिद्ध है ॥१६०॥ जो धन अत्यन्त क्लेशके साथ तो उपार्जन किया जाता है और उपार्जनावस्थामें क्लेशसे भी अधिक क्लेश जिसकी रक्षा करनेमें है उस धनका सुख सत्पुरुष—नित्य प्रति दान देनेको अथवा गृहस्थाश्रम सम्बन्धी भोगोंके भोगनेको समझते हैं ॥१६१॥ नीतिपूर्वक कमाया हुआ थोड़ा भी धन बहुत है। अमृतकी एक बूँद ही अच्छी है परन्तु खारे समुद्रका बहुत जल अच्छा नहीं है ॥१६२॥ धर्म,

ऋते धर्मार्थकामानां सिद्धिं तज्जीवनं मुधा। तथापि धर्मसिद्धिं नो विना तां यद्भवस्तयोः ॥१६३
तपो द्वादशधा ख्यातं मध्यबाह्यप्रभेदतः। प्रायश्चित्तादिभिर्मध्यं बाह्यं चाऽनशनादिभिः ॥१६४
यत्र संक्लिश्यते कायस्तत्तपो बहिरुच्यते। इच्छानिरोधनं यत्र तदाभ्यन्तरमीरितम् ॥१६५
क्षारादिवह्नियोगेन यथा शुद्ध्यति काञ्चनम्। तथा द्विधा तपोयोगाज्जीवः शुध्यति कर्मणः ॥१६६
पञ्चमीरोहिणीसौख्यसम्पन्नन्दीश्वरादिकम्। तपोविधिं गृही कुर्यात्तपसा निर्जरा यतः ॥१६७
अष्टम्यां च चतुर्दश्यामुपवासं करोत्वसौ। शक्त्यभावे प्रकुर्वीत काञ्जिकाद्येकभक्तकम् ॥१६८
आरम्भजलपानाभ्यां स चाऽनाहार उच्यते। आरम्भादनुपवास उपवासोऽम्बुपानतः ॥१६९
महोपवासः स्याज्जैनशास्त्रे द्वयविवर्जितः। इति ज्ञात्वोपवासश्च यथाशक्ति विधीयताम् ॥१७०
विधिं विधाय पञ्चम्यादीनां मोक्षान्तभूतिदम्। उद्योतयेत्स्वसम्पत्त्या निमित्ते स्यान्मनः समुत् ॥१७१
दानं चतुर्विधं पात्रदयासकलसाम्यतः। पात्रदानं यदुक्तं प्राक्तदेवात्राऽपि बुध्यताम् ॥१७२
धर्मपात्रमनुग्राह्यममुत्र स्वार्थसिद्धये। कार्यपात्रं तथाऽत्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ॥१७३
नित्यं सामायिकादीनि पञ्च पात्राणि तर्पयेत्। दानादिनोत्तरोत्तरगुणरागेण सद्गृही ॥१७४

अर्थ तथा कामकी सिद्धिके विना जो जीवन निर्वाह है उसे व्यर्थ ही समझना चाहिये तो भी धर्म-सिद्धिको छोडकर अर्थ तथा कामका सभव नही होता है ॥१६३॥ प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय,व्युत्सर्ग तथा ध्यान इन छह प्रकार तपसे अन्तरंगतप तथा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्या, रसपरित्याग, विविक्तशय्या-आसन तथा कायक्लेश इन छह भेदोंसे बाह्यतप, इसप्रकार अन्तरंग-तप तथा बाह्यतप बारह प्रकार है ॥१६४॥ जिस तपमें शरीरादिको क्लेश होता है उसे बाह्य तप कहते है और जिस तपके करनेमें इच्छा (अभिलाषा) का निरोध होता है उसे आभ्यन्तर तप कहते है ॥१६५॥ जिस प्रकार क्षार वस्तु तथा अग्नि आदिके सम्बन्धसे सुवर्ण शुद्धिताको प्राप्त होता है उसी तरह बाह्य तथा आभ्यन्तर तपके योगसे यह जीव भी कर्मरूप काटसे निर्मलताको प्राप्त होता है ॥१६६॥ इसलिये गृहस्थोंको—पंचमीव्रत, रोहिणीव्रत, सुखसम्पत्ति तथा नन्दीश्वर व्रत आदि तप करना चाहिये। क्योकि तपसे कर्मोकी निर्जरा होती है ॥१६७॥ श्रावकोंको अष्टमी तथा चतुर्दशीके दिन उपवास करना चाहिये। यदि उपवास करनेकी शक्ति न हो तो काञ्जिक (एक अन्नका खाना) तथा एक भुक्त करना चाहिये ॥१६८॥ आरम्भके करनेसे तथा जलके पीनेसे तो अनाहार कहा जाता है। केवल आरम्भके करनेसे अनुपवास होता है तथा जलपान करनेसे उपवास होता है ॥१६९॥ जिसमें न तो आरम्भ हो और न जलपान किया जाता है उसे जैन-शास्त्रोंमे महोपवास कहते हैं। ऐसा समझ कर अपनी सामर्थ्यानुसार भव्य पुरुषोंको उपवास करना चाहिये ॥१७०॥ मोक्ष पर्यन्त सम्पदाके देनेवाली पंचमी रोहिणी नन्दीश्वरादि व्रत विधिको करके अपनी सम्पदाके अनुसार इन विधियोंका उद्यापन करना चाहिये। क्योंकि—नैमित्तिक कार्यके करनेमें मन बहुत आनन्दित होता है ॥१७१॥ पात्रदत्ति, दयादत्ति, सकलदत्ति तथा सम-दत्ति इस तरह दानके चार विकल्प हैं। इनमें पात्रदानका तो जो हम पहले स्वरूप कह आये हैं वैसा ही यहाँ समझना चाहिये ॥१७२॥ इस लोकमें सुख प्राप्तिके लिये रत्नत्रयके धारण करनेवाले मुनि आदिकोंको उनके योग्य वस्तु देकर उपकार करना चाहिये। धर्म, अर्थ तथा कामकी प्राप्ति के लिये सहायता करनेवाले कार्यपात्रको त्रिवर्गकी सिद्धिके लिये उनके योग्य पदार्थ देकर उपकार करना चाहिये तथा कीर्त्ति सम्पादन करनेके लिये दान, प्रिय भाषणादि उचितसे कार्य करना

द्योतते यत्र जैनत्वगुणोऽप्येको गुणाग्रणीः । साधुपात्रैः परैर्नोत्यं भानौ खद्योतवत्ततः ॥१७५
एकोऽप्युपकृतो जैनो वरं नाऽन्ये ह्यनेकशः । हस्ते चिन्तामणौ प्राप्ते को गृह्णाति शिलोच्चयान् ॥१७६
नाम्नः पात्रायते जैनः स्थापनातस्तमां परात् । धन्यः स द्रव्यतः प्राप्यो भाग्यवद्भिश्च भावतः ॥१७७
यश्च प्रसिद्धजैनत्वगुणे रज्यति निर्मिषम् । संसारेऽभ्युदयैस्तृप्तः स याति तपसा शिवम् ॥१७८
लब्धं दैवाद्धनं साऽसु नियमेन विनङ्क्ष्यति । बहुधा तद्व्ययीकुर्वन्सुधीर्जैनान्क्षिपेत्किमु ॥१७९
आरोप्यैदंयुगीनेषु जिनांस्तत्प्रतिमास्विव । प्राङ्मुनीनर्चयेद्भक्त्या श्रेयो नास्त्यतिचर्चिनाम् ॥१८०
शुभो भावो हि पुण्यायाऽशुभः पापाय कीर्त्तितः । धीरस्तं जैनभक्त्यातो दुष्यन्तं रक्षतात्सदा ॥१८१

चाहिये ॥१७३॥ धर्म अर्थ काम इन तीन पुरुषार्थके साधन करनेवाले गृहस्थोंको - सामायिक—जिन भगवान् करके उपदेशित शास्त्रके आधार चलनेवाला, साधक—लोकोपयोगी ज्योतिषशास्त्र तथा मंत्र शास्त्रादिका जाननेवाला, समयद्योतक—जिन शासनकी प्रभावना करनेवाला, नैष्ठिक-मूलगुण तथा उत्तर गुणादिमें स्तुति योग्य तपके अनुष्ठान करनेमें तत्पर, तथा गणाधिप-धर्माचार्य अथवा उन्हीके समान बुद्धिमान गृहस्थाचार्य इन पाँच पात्रोंको उत्तरोत्तर गुणकी प्रीतिसे दान, मान संभाषणादिसे सन्तोषित करना चाहिये ॥१७४॥ मुझे संसार सागरसे पार करनेमे जिनदेव ही समर्थ है ऐसे निश्चयको जैनत्वगुण कहते हैं। यह प्रधान जैनत्वगुण एक भी जिस पुरुषमें पाया जाता है उसके सामने—तपश्चरणादिके करनेवाले मिथ्यादृष्टि अच्छे पात्रोंको भी उसी तरह तेजरहित रहते है जैसे सूर्यके सामने खद्योत (पटवीजना) तेज-रहित रहता है ॥१७५॥

जैनधर्मके धारक एक भी भव्य पुरुषका उपकार करना अच्छा है परन्तु हजारों मिथ्यादृष्टियोंका उपकार करना अच्छा नही है। इसी बातको दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते है। जब हाथमें चिन्तामणि रत्न आ जावे फिर ऐसा कौन दुर्बुद्धि होगा जो उसे छोड़कर पत्थरोंको स्वीकार करेगा ? कोई भी नही करेगा ॥१७६॥ नाम जैन (जिसकी जैन सज्ञा है) स्थापना जैन (यह जैन है) ऐसी कल्पना मात्र जिसके विषयमे है वह जैन, अजैन पात्रोंकी अपेक्षा—अतिशयतासे जिसे मोक्षके कारणभूत गुण प्राप्त हुए है उनके समान उत्कृष्ट है। यही कारण है कि उन दोनोंको सम्यक्त्वके बराबर होनेवाला पुण्य होता है। वह जैन, द्रव्यसे (आगामी प्राप्त होनेवाले जैनत्व गुणसे युक्त) पुण्यवानोको प्राप्त होता है और वही भावसे जिसके पास जैनत्वगुण है ऐसा भाव—भाग्यवानोको प्राप्त होता है ॥१७७॥ जो उपर्युक्त प्रसिद्ध जैनत्वगुणमें छलरहित अनुरागी होता है वह पुरुष ससारमें नाना प्रकारके अभ्युदयसे सन्तोषको प्राप्त होता हुआ तपश्चरण से मोक्षको प्राप्त होता है ॥१७८॥ जन्मान्तरमें उपार्जन किये हुए किसी पुण्य कर्मके उदयसे जो धन प्राप्त हुआ है वह नियमसे प्राणोंके साथ नाशको प्राप्त होगा। लोक-लाजसे उस धनको अनेक तरहसे लौकिक कार्योमें खर्च करता हुआ कौन दुर्बुद्धि होगा जो जैन साधु आदिका तिरस्कार करेगा ? अर्थात् उनके अर्थ धन खर्च नही करेगा ? अवश्य करेगा ॥१७९॥ जिस प्रकार धातु तथा पाषाणादिकी प्रतिमाओंमें साक्षाज्जिन भगवान्का संकल्प किया जाता है उसी तरह इन पचम कालके मुनियोंमें प्राचीन कालके मुनियोंका आरोप (संकल्प) करके भक्तिपूर्वक उनका पूजनादि करना चाहिये। क्योंकि अधिक शोध (परीक्षा) करनेवालोंका कल्याण नही होता ॥१८०॥ शुभ परिणाम पुण्यका कारण है तथा अशुभ परिणाम पापका कारण है इसलिये धीर पुरुषोंको किसी कारणसे खराब होनेवाले अपने परिणामकी जिन-भक्ति आदिसे रक्षा करनी चाहिये ॥१८१॥

बोधः पूज्यस्तपोहेतुस्तत्परत्वात्तपोऽपि च। शिवाङ्गत्वाद्द्वयं पूज्यं तदाधाराविशेषतः ॥१८२
अनुबद्धं जगद्बन्धुं जिनधर्मं च पुत्रवत्। यस्येज्जनयितुं साधूंस्तथा चाटयितुं गुणे ॥१८३
पुण्यं यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषेण तादृशाम्। असिद्धावपि सिद्धौ स्वान्योपकारो महान्भवेत् ॥१८४
मुनिभ्यो निरवद्यानि रत्नत्रयविवृद्धये। भक्त्या भक्तौषधावासादीनि नित्यं प्रकल्पयेत् ॥१८५
व्रतिनीः क्षुल्लिकीश्चापि सत्कुर्याद्गुणमालिनीः। यस्माच्चतुर्विधे सङ्घे दत्तं बहुफलं भवेत् ॥१८६
सखीन्धर्मार्थकामानां यथायोग्यमुपाचरन्। त्रिवर्गसम्पदा प्राज्ञोऽमुत्रेह च प्रमोदते ॥१८७
अकीर्त्या क्लिश्यते चित्तं तत्क्लेशश्चाऽशुभावहः। चित्तप्रसत्तये तस्माच्छ्रेयसे तां सदार्जयेत् ॥१८८
गुणाननन्यसदृशान्कीर्त्यर्थी गुण्यसंस्तुतान्। दानशीलतपोमुख्यांस्तन्नित्यं धारयेद् गृही ॥१८९
सर्वेभ्यो जीवराशिभ्यः स्वशक्त्या करणैस्त्रिभिः। दीयतेऽभयदानं यद्दयादानं तदुच्यते ॥१९०

कानीनानाथदीनानां क्षुदाद्यैः पीडितात्मनाम्।
सुखिनः सन्तु बुद्धयेति दानं भुक्त्यादि दीयताम् ॥१९१

ज्ञान तपका कारण है इसलिये पूज्य है और तप ज्ञानका कारण है इसलिये पूज्य है तथा ज्ञान और तप ये दोनों मोक्षके कारण होनेसे पूज्य हैं और ज्ञानी तपस्वी गुणोंके आधार है इसलिये विशेषतासे पूज्य हैं ॥१८२॥ अपनी कुलपरम्परा सदा चलनेके लिये पुत्रके उत्पन्न करनेमें जैसा उद्योग किया जाता है उसी तरह जगद्-बन्धु जिन धर्म निरन्तर चले इसलिये साधुओंके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न करना चाहिये तथा जो वर्तमानमे साधु लोग विद्यमान है उनमें ज्ञानादि गुण प्राप्त करानेमें प्रयत्न करना चाहिये ॥१८३॥ यदि इस पचम कलिकालके दोषसे ऊपर कहे अनुसार मुनियोंकी सिद्धि न हो तो भी उनके पैदा होनेके लिये प्रयत्न करनेवाले भव्य पुरुषोंको पुण्य कर्म-का बन्ध होता ही है और यदि उनकी सिद्धि हो जाय तो फिर क्या कहना—अपना तथा धर्मात्मा पुरुषोका बडा भारी उपकार होता है ॥१८४॥ रत्नत्रयकी वृद्धिके लिये मुनि लोगोंको निर्दोष आहार औषध तथा आवास आदि वस्तु भक्तिपूर्वक निरन्तर देनी चाहिये ॥१८५॥ क्षुल्लिका, आर्यिका, तथा शीलगुण वगैरह पालन करनेवाली श्राविकाओंका भी उनके योग्य सत्कार करना चाहिये। क्योंकि मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका इन चार प्रकारके पात्रोंको दिया हुआ दान बहुत फलका देनेवाला होता है ॥१८६॥ धर्म, अर्थ तथा कामकी प्राप्तिके लिये सहायता करनेवाले मित्रोंका जो बुद्धिमान् यथायोग्य सत्कार करते है वे त्रिवर्ग सम्पत्तिसे इह लोकमें तथा परलोकमें आनन्दको प्राप्त होते है ॥१८७॥ ससारमे अपयश होनेसे चित्तमे एक तरहका दुःख होता है और वही क्लेश अशुभ (पाप) का कारण है इसलिये बुद्धिमान् पुरुषोंको अपने चित्तकी प्रसन्नताके लिये कल्याणके अर्थ कीर्त्ति (यश) का सदा सम्पादन करना चाहिये ॥१८८॥ ससारमे अपनी कीर्त्तिके चाहनेवाले सज्जन पुरुषोंको—जो गुण दूसरे साधारण पुरुषोंमें न पाये जायँ, जिनकी बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग प्रशंसा करते है ऐसे दान, शील तथा तप आदि प्रधान गुण धारण करना चाहिये ॥१८९॥

अब दयादत्तिका वर्णन करते है। सम्पूर्ण जीवमात्रके लिये कृत, कारित तथा अनुमोदनासे अपनी शक्तिके अनुसार अभयदान (जीवदान) देनेको बुद्धिमान् लोग दयादान (दयादत्ति) कहते है ॥१९०॥ क्षुधादि असह्य दुःखोंसे जिनकी आत्मा पीड़ित हो रही है ऐसे कानीन (दीन) तथा अनाथ आदि दुःखी पुरुषोंके लिये—ये लोग किसी प्रकार सुखी होवें इस बुद्धिसे आहार, औषधादि दान देना चाहिये ॥१९१॥ करुणावान् श्रेष्ठ दाताको सम्पूर्ण दुःखी जीवोंको अपनी शक्तिके

आपद्‌गताञ्जनान्सर्वानुद्धरेच्च स्वशक्तितः । जैनान्विशेषतो भक्त्या दयावान्दातृकुञ्जरः ॥१९२
इहामुत्र दयार्द्रान्तः करणो वल्लभो भवेत् । दयारिक्तस्तु सर्वत्र भुवो भारायते जनः ॥१९३
बिभ्यतामङ्गिनां दुःखात्सनेषामभयप्रदः । दातृज्येष्ठः कृपार्द्रोसौ निर्भयो लभते सुखम् ॥१९४
पाक्षिको नैष्ठिकश्चाथ गृही कालादिलब्धितः । सामग्रीवशतो दीक्षामेकामादातुमुद्यतः ॥१९५
समर्थाय स्वपुत्राय तदभावेऽन्यजाय वा । यदेतद्दीयते वस्तु स्वीयं तत्सकलं मतम् ॥१९६
परिग्रहविरक्तस्य दानमेतत्प्रजायते । यतस्तदुत्तमं दानं प्रशस्यं कस्य नो भवेत् ॥१९७
तृष्णाग्निना ज्वलत्येतज्जगद्वनमशेषतः । परिग्रहपरित्यागघनेनैव प्रशाम्यति ॥१९८
परिग्रहग्रहग्रस्ता भोगभूजेन्द्रचक्रिणः । तादृशाः सुखिनो नैव यादृग्दाताऽस्य सर्वदा ॥१९९
त्रिशुद्ध्या गृहिणा तस्माद्वाञ्छता हितमात्मनः । दीयतां सकलादत्तिरियं सर्वसुखप्रदा ॥२००
कुलजातिक्रियामन्त्रैः स्वसमाय सधर्मणे । भूकन्याहेमरत्नाऽश्वरथहस्त्यादि निर्वपेत् ॥२०१
निरन्तरेहया गर्भाधानादिक्रियमन्त्रयोः । व्रतादेश्च सधर्मभ्यो दद्यात्कन्यादिकं शुभम् ॥२०२
निस्तारकोत्तमं यज्ञकल्पादिज्ञं बुभुक्षुकम् । वरं कन्यादिदानेन सत्कुर्वन्धर्मधारकः ॥२०३

अनुसार दुःख दूर करना चाहिये । उसमे भी जिनधर्मानुयायी पुरुषोंका तो विशेष भक्तिपूर्वक दुःख दूर करना चाहिये ॥१९२॥ जिन भव्यपुरुषोंका हृदय दयासे आर्द्र (भीजा हुआ) है वे पुरुष इस लोकमें तथा परलोकमें भी सम्पूर्ण जीवोंके प्रेमपात्र होते है और जो लोग दयारहित है उन्हें तो मनुष्य रूपमें केवल पृथ्वीको भार देनेवाले कहना चाहिये ॥१९३॥ दुःखोंसे डरनेवाले जीवमात्रको अभयदानका देनेवाला अर्थात् उनके प्राणोंकी रक्षा करनेवाला और जिसका हृदय अत्यन्त दयालु है वह श्रेष्ठदाता निर्भय होकर सुखको प्राप्त करता है ॥१९४॥ कालादिलब्धिकी प्राप्ति रूप सामग्रीके वशसे पाक्षिक गृहस्थ अथवा नैष्ठिक गृहस्थ दीक्षाके ग्रहण करनेमें प्रयत्नशील होता है ॥१९५॥ अब सकलदत्तिका वर्णन करते है—सर्व तरह समर्थ अपने पुत्रके लिये अथवा पुत्रके न होनेपर दूसरेसे उत्पन्न होनेवाले (दत्तक) पुत्रके लिये अपनी धन-धान्यादिसे सम्पूर्ण वस्तुका जो देना है उसे सकलदत्ति कहते हैं ॥१९६॥ यह सकलदत्ति जो पुरुष परिग्रहसे विरक्त है उसीके होती है इसलिये ऐसा कौन होगा जिसे यह उत्तम दान अच्छा न लगेगा किन्तु सभीको अच्छा लगेगा ॥१९७॥ यह संसार रूप गहन वन तृष्णा रूप अग्निसे चारों ओर जल रहा है । यह परिग्रहके त्याग रूप मेघसे ही बुझेगा । भावार्थ— जो लोग संसारके नाश करनेकी इच्छा रखते हैं उन्हें संसारके कारण परिग्रहका त्याग करना चाहिये ॥१९८॥ इस परिग्रह रूप पिशाचसे ग्रसित भोगभूमि मनुष्य, इन्द्र तथा चक्रवर्त्ती उतने सुखी नहीं है, जितने सुखी इस सकलदत्तिके देनेवाले हैं ॥१९९॥ इसलिये अपने आत्माका हित चाहनेवाले भव्य गृहस्थोंको सम्पूर्ण प्रकारके उत्तम सुखोंके देनेवाली यह सकलदत्ति मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक देनी चाहिये ॥२००॥ अब समदत्तिका वर्णन करते हैं—कुल, जाति, क्रिया तथा मन्त्रादिसे अपने समान सधर्मी पुरुषोंके लिये पृथ्वी, कन्या, सुवर्ण, रत्न, अश्व, रथ, हस्ति आदि वस्तुएँ देनी चाहिये ॥२०१॥ गर्भाधानादि क्रिया, मंत्र तथा व्रतादिके निरन्तर चलनेकी इच्छासे अपने समान सधर्मी पुरुषोके लिये कन्या, पृथ्वी, सुवर्ण, रत्न, हाथी वगैरह उत्तम वस्तुएँ देनी चाहिये ॥२०२॥ संसारके तिरनेके लिये प्रयत्न करनेवालोंमें श्रेष्ठ, प्रतिष्ठादि विधियोंका जाननेवाला तथा बुभुक्षु ऐसे पुरुषोंको—कन्या, सुवर्ण, हाथी, रस, अश्व, पृथ्वी, रत्न आदि उत्तम-उत्तम पदार्थके दानसे सत्कार करनेवाला पवित्र धर्मका धारक कहा जाता है ॥२०३॥ जिस दाताने अपनी कुलवती कन्याका दान दिया है

दात्रा येन सती कन्या दत्ता तेन गृहाश्रमः । दत्तस्तस्मै त्रिवर्गेण गृहिण्येव गृहं यतः ॥२०४
कुलवृत्तोन्नतिं धर्म्मसन्ततिं स्वेच्छया रतिम् । देवादीष्टिं च वाञ्छन्सत्कन्यां यत्नात्सदा वहेत् ॥२०५
धर्मपत्नीं विना पात्रे दानं हेमादिकं मुधा । कीटैर्भुज्यमानेऽन्तः कोऽम्भः सेकाद्गुणो द्रुमे ॥२०६
गोचरेषु सुखभ्रान्तिमोहकर्मोदयोद्भवाम् । हित्वा तदुपभोग्येन मोचयेत्तान्परं स्ववत् ॥२०७
दद्यात्कन्याधरादीनि पाक्षिको न तु नैष्ठिकः । हिंसार्थत्वान्न दृग्द्वेषिसंक्रान्तिश्राद्धपर्वणि ॥२०८
समदानफलेनाऽसौ भूत्वा त्रैवर्गिकाग्रणीः । मोहमाहात्म्यमुच्छेद्य मोक्षेऽपि बलवान्भवेत् ॥२०९
वाचनाप्रच्छनाम्नायाऽनुप्रेक्षा धर्मदेशनम् । स्वाध्यायं च पञ्चधा कुर्यात्काले ज्ञानविवृद्धये ॥२१०
स्वाध्यायोऽध्ययनं स्वस्मै जैनसूत्रस्य युक्तितः । अज्ञानप्रतिकूलत्वात्तपःस्वेष परं तपः ॥२११
स्वाध्यायाज्ज्ञानवृद्धिः स्यात्तस्यां वैराग्यमुल्बणम् । तस्मात्सङ्गपरित्यागस्ततश्चित्तनिरोधनम् ॥२१२
तस्मिन्ध्यानं प्रजायेत ततश्चात्मप्रकाशनम् । तत्र कर्मक्षयाऽवश्यं स एव परमं पदम् ॥२१३
सिद्धाः सेत्स्यन्ति सिद्ध्यन्ति ये ते स्वाध्यायतो ध्रुवम् ।
अतः स एव मोक्षस्य कारणं भववारणम् ॥२१४

समझो कि उसने कन्यादान लेनेवालेको—धर्म, अर्थ, कामके साथ-साथ गृहस्थाश्रम ही दिया है क्योंकि—गृहिणी (पत्नी) ही को तो घर कहते हैं ॥२०४॥ अपने कुलकी उन्नति, वृत्तकी उन्नति, धर्ममार्गमें चलनेवाली सन्तति (पुत्रादि), अपनी इच्छानुसार सम्भोग सुख तथा जिनदेवादिके पूजन आदिके चाहनेवाले पुरुषोको—प्रयत्नपूर्वक उत्तम कन्याके साथ विवाह करना चाहिये ॥२०५॥ जिस पुरुषके धर्मपत्नी (स्त्री) नही है उसके लिये सुवर्ण, रत्न, रथ, अश्व, हाथी आदि पदार्थोंका दान देना एक तरह व्यर्थ ही समझना चाहिये । इसी विषयको दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते है—जिस वृक्षके भीतरके भागको कीड़ोंने खा लिया है उसमें जलसिंचन करना जिस तरह व्यर्थ है ॥२०६॥ चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाली सुखकी भ्रान्तिको विषयोंके अनुभवसे छोड़कर—जिस प्रकार स्वयं विषयोसे विरक्त हुआ है उसी तरह उन सधर्मी पुरुषोको भी विषयोंसे विरक्त करे ॥२०७॥ कन्या, पृथ्वी, सुवर्ण, रथ, रत्न आदि वस्तुओंका दान पाक्षिकश्रावक देवे, नैष्ठिक-श्रावकको नही देना चाहिये । परन्तु हिंसाका कारण होनेसे—सम्यग्दर्शनके शत्रुरूप सक्रान्ति पर्वमे तथा श्राद्धपर्वमे तो यह भी नही देना चाहिये ॥२०८॥ इसी समदत्तिक फलसे यह पाक्षिक श्रावक धर्म, अर्थ, कामके धारण करनेवालोंमे अग्रणी होकर और मोहकी महिमाका नाश करके मोक्षमें जाने योग्य होता है ॥२०९॥

ज्ञानकी दिनोदिन वृद्धिके लिये भव्य पुरुषोंको—वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा तथा धर्मोपदेश ये पाँच प्रकार स्वाध्याय करना चाहिये ॥२१०॥ जैन शास्त्रोंके अनुसार अपने लिये अध्ययन करनेको स्वाध्याय कहते है । और यही स्वाध्याय अज्ञानका नाश करनेवाला है इसलिये तपमे यह उत्कृष्ट तप भी है ॥२११॥ स्वाध्यायके करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है, ज्ञानकी वृद्धि होनेसे चित्तमें उत्कट वैराग्य होता है; वैराग्यके होनेसे परिग्रहका त्याग (छोड़ना) होता है, परिग्रहके त्यागसे चित्त अपने वशमे होता है, चित्तके वश होनेसे ध्यान होता है, ध्यानके होनेसे आत्माकी उपलब्धि होती है, आत्माकी उपलब्धि होनेसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका नाश होता है और कर्मोका नाश ही मोक्ष कहा जाता है । भावार्थ—यह स्वाध्याय परम्परा मोक्षका कारण है इसलिये भव्य पुरुषोंको—शक्त्यनुसार स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये ॥२१२-२१३॥ पूर्वकालमें जितने सिद्ध हुए है, आगामी होंगे तथा वर्त्तमानमें होने योग्य है वे सब नियमसे इस स्वाध्यायसे

इति सद्गृहिणा कार्यो नित्यो नैमित्तिकोऽपि च ।
स्वाध्यायो रहसि स्थित्वा स्वयोग्यं शुद्धिपूर्वकम् ॥२१५
मनःकरणसंरोधस्त्रसस्थावरपालनम् । संयमः सद्गृही तं च स्वयोग्यं पालयेत्सदा ॥२१६
संयमो द्विविधो हि स्यात्सकलो विकलस्तथा । आद्यः तपस्विभिः पाल्यः परस्तु गृहिभिस्तथा ॥२१७
आरम्भेन विना वासो गृहे स न विना वधात् । मुच्यो मुख्यः सयत्नेन दुर्मोच्योऽवश्यभाविकः ॥२१८
त्यजेद्गवादिभिर्वृत्तिं नैष्ठिको बन्धनादिना । विना भोग्यानुपेयात्तान्निर्दयं वा न योजयेत् ॥२१९
तपस्यन्नपि मिथ्यादृक्संयमेन विनाऽधिकम् । पञ्चाग्न्यादिभिरेकाग्र्यं देवो भूत्वा भवी भवेत् ॥२२०
सम्यक्त्वरहितं ज्ञानं चारित्रं ज्ञानवर्जितम् । तपः-संयमहीनं च यो धत्ते तन्निरर्थकम् ॥२२१
ऋते नृत्वं न कुत्राऽपि संयमो देहिनां भवेत् । मत्वेत्येकापि कालस्य कला नेया न तं विना ॥२२२
कर्माणि षण्मयोक्तानि गृहिणो वर्णभेदतः । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चेति चतुर्विधाः ॥२२३
यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाध्यापने तथा । दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम् ॥२२४
यजनाध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः । जातितीर्थप्रभेदेन द्विविधा ब्राह्मणादयः ॥२२५

ही हुए हैं तथा होनेवाले हैं इसलिये संसारका नाश करनेवाला यही स्वाध्याय मोक्षका कारण है ॥२१४॥ इस प्रकार स्वाध्यायको परम्परा मोक्षका कारण समझ कर भव्यगृहस्थोंको—एकान्त स्थानमें बैठकर मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक नित्य तथा नैमित्तिक स्वाध्याय करना चाहिये ॥२१५॥ मन और इन्द्रियोके वश करनेको तथा त्रस और स्थावर जीवोंकी रक्षा करनेको संयम कहते है। इसलिये सद्गृहस्थोंको – अपने योग्य संयम निरन्तर पालन करना चाहिये ॥२१६॥ उपर्युक्त संयम—सकलसंयम तथा विकलसंयम इस प्रकार दो भेदरूप है। सकलसंयम मुनिलोगोंके धारण करने योग्य होता है तथा विकलसंयम गृहस्थ लोगोंके पालन करने योग्य है ॥२१७॥ आरंभके विना तो गृहमें रहना नहीं हो सकता और हिंसाके विना आरम्भ नही होता। अर्थात् आरम्भमें जीवोंकी हिंसा अवश्य होती है। इसलिये प्रधान जो आरम्भ है वह तो प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए। परन्तु जो आवश्यकीय आरम्भ है वह कठिनतासे छूटता है ॥२१८॥ नैष्ठिक श्रावकको गाय आदि पशुओंके द्वारा अपनी जीविका नहीं करनी चाहिये। यदि अपने उपभोगके लिए रखे भी तो बन्धन आदिसे रहित रखना चाहिये और जिनके साथ निर्दय व्यवहार न करे तथा पशुओं की रक्षामें निर्दयी पुरुषोंको नियोजित नही करना चाहिये ॥२१९॥ मिथ्यादृष्टि पुरुष संयम (मन और इन्द्रियोंका वश करना, त्रस तथा स्थावर जीवोंकी रक्षाके) बिना पञ्चाग्नि आदिसे एकाग्रता-पूर्वक बहुत तपश्चरण करके तपादिके प्रभावसे देव होकर भी फिर संसारी हो जाता है ॥२२०॥ संयमके विना कितना भी तपश्चरण क्यों न किया जाय वह सब निष्फल है इसलिये संयमी होना जीवमात्रको आवश्यक है। जो पुरुष सम्यग्दर्शन-रहित ज्ञान, ज्ञान-रहित चारित्र तथा संयम-रहित तप धारण करता है उसका यह धारण करना सब निष्प्रयोजन है ॥२२१॥ इस पवित्र मानव पर्यायको छोड़कर और किसी पर्यायमें जीवोंको संयम नहीं होता है। ऐसा समझकर आत्महित चाहनेवाले सत्पुरुषोंको कालकी एक कला भी संयमके बिना नहीं खोनी चाहिये ॥२२२॥ मैंने गृहस्थोंके जो छह कर्म हैं उनका वर्णन किया। वे गृहस्थ वर्णभेदसे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इस प्रकार चार भेद रूप हैं ॥२२३॥ जो द्विजन्मा ब्राह्मण हैं उनके—पूजन करना, कराना, स्वयं पढ़ना, पढ़ाना, दान देना तथा दान लेना ये छह कर्म हैं ॥२२४॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्णोंके यजन (पूजन करना) अध्ययन (पढ़ना) तथा दान देना ये तीन कर्म हैं। पुनः वे

स्वस्वकर्मरताः सर्वे ते च स्युर्जातिक्षत्रियाः । मन्त्र्यादिपदमारूढा जीवने तीर्थक्षत्रियाः ॥२२६
रत्नत्रयपवित्रत्वाद्ब्रह्मसूत्रेण लाञ्छिताः । पूजिता भरताद्यैस्ते ब्राह्मणा धर्मजीविनः ॥२२७

क्षतात्पीडनतो लोकांस्त्रायन्ते क्षत्रियास्तु ते ।
ऐक्ष्वाकाद्याः स्वखड्गेन प्रजाषड्भागभागिनः ॥२२८

मषिः कृषिश्च वाणिज्यकर्मत्रितयवेतनाः । वैश्याः केचिन्मताश्चान्यैः पशुपालनतोऽपि च ॥२२९
त्रिवर्णस्य समा ज्ञेया गर्भाधानादिकाः क्रियाः । व्रतमन्त्रविवाहाद्यैः पङ्क्त्या भेदो न विद्यते ॥२३०
पशुपाल्यात्कृषेः शिल्पाद्वर्तन्ते तेषु केचन । शुश्रूषन्ते त्रिवर्णी ये भाण्डभूषाम्बरादिभिः ॥२३१
ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधाः शूद्राः प्रकीर्तिताः । येषां सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाऽऽद्याः परथा परे ॥२३२

सच्छूद्रा अपि स्वाधीनाः पराधीना अपि द्विधाः ।
दासीदासाः पराधीनाः स्वाधीनाः स्वोपजीविनः ॥२३३

असच्छूद्रा तथा द्वेधाः कारवोऽकारवः स्मृताः । अस्पृश्याः कारवश्चान्त्यजादयोऽकारवोऽन्यथा ॥२३४
अस्पृश्यजनसंस्पर्शान्मृद्भाण्डं वर्जयेत्सदा । लोहभाण्डं भवेच्छुद्धं भस्मनः परिमार्जनात् ॥२३५

ब्राह्मणादि जाति तथा तीर्थ इन दो भेदोंसे दो-दो प्रकार है ॥२२५॥ जो क्षत्रिय अपने-अपने कर्ममें तत्पर रहते हैं वे जातिक्षत्रिय कहलाते है और जो क्षत्रिय लोग अपनी आजीविकाके अर्थ मंत्री आदि पदको धारण किये हुए है उन्हें तीर्थ क्षत्रिय कहते है। इसी प्रकार ब्राह्मणादिको भी जानना चाहिये ॥२२६॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको धारणकर पवित्र होनेसे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) द्वारा मण्डित, भरत चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुषोसे सत्कार किये हुए तथा धर्म ही जिनका जीवन है वे ब्राह्मण कहे जाते है ॥२२७॥ कष्टादिसे दुःखको प्राप्त होनेवाले लोकोंकी जो अपनी तलवारके बलसे रक्षा करते है प्रजाके छठे भागके अधिकारी तथा इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न होनेवाले वे लोग क्षत्रिय कहे जाते है ॥२२८॥ मषि, कृषि तथा वाणिज्य (व्यापार) ये तीन कर्म जिनकी लोक यात्राके निर्वाहके कारण है व वैश्य कहे जाते हैं और कितनोंका कहना है कि—पशुओंका पालन करना भी वैश्योंका धर्म है ॥२२९॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों वर्णकी व्रत मंत्र तथा विवाहादिसे गर्भाधानादि क्रियाएँ एक सी ही हैं और न इन तीनों वर्णोंमें पंक्ति भेद समझना चाहिये ॥२३०॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णोंमें कितने तो पशु पालनसे अपना निर्वाह करते हैं, कितने कृषिकर्मसे तथा कितने शिल्प विद्यासे करते हैं और जो इन तीन वर्णोंके मनुष्योंकी वर्त्तन, भूषण तथा वस्त्रादिसे सेवा करते हैं उन्हें शूद्र समझना चाहिये ॥२३१॥ उन शूद्रोंके सत्-शूद्र तथा असत्-शूद्र ऐसे दो विकल्प है। जिन शूद्राकी कन्याओंका एक ही बार विवाह होता है वे सत्-शूद्र हैं और जिनका पुनः पुनः विवाह होता है वे असत्-शूद्र हैं ॥२३२॥ सत्-शूद्रोंके भी स्वाधीन तथा पराधीन ऐसे दो विकल्प हैं। जो दासी तथा दास हैं वे पराधीन सत्-शूद्र हैं और जो दासी दास न रहकर अपनी आजीविकाका निर्वाह स्वयं करते हैं उन्हें स्वाधीन सत्—शूद्र कहते हैं ॥२३३॥ तथा असत्-शूद्रके भी—कारु तथा अकारु ऐसे दो भेद हैं। जो स्पर्श करने योग्य हैं उन्हें कारव असत्-शूद्र कहते हैं और जो अन्त्यज चाण्डालादि वे अस्पृश्य-अकारव असत् शूद्र हैं ॥२३४॥ अस्पृश्य शूद्रोंका स्पर्श हो जानेसे मृत्तिकाके बर्त्तनोंको फिर काममें न लाकर उन्हें फेंक देना चाहिये। और लोहेका बर्त्तन यदि अस्पृश्य शूद्रोंसे छू जाय तो वह भस्म (राख) से माँजनेसे शुद्ध हो सकता है ॥२३५॥ अस्पृश्य शूद्रोंसे भोजन किये हुए मृत्तिकाके बर्तन

भुक्तं मृद्भाण्डपर्णादिस्पृश्येतरजनैस्त्यजेत् । लोहं भस्माग्निशुद्धं स्याद्भुक्तं संस्पृश्यजातिभिः ॥२३६
यद्यस्पृश्यजनैर्भुक्तं कांस्यादिघटयेन्नवम् । अस्थ्यादिस्पृष्टं तद्भाण्डमयस्काराग्निना शुचि ॥२३७
अस्पृश्यजनसंस्पृष्टं धान्यकाष्ठफलाम्बरम् । इत्यादिस्वर्णपूताम्बुप्रोक्षणेनैव संस्पृशेत् ॥२३८
स्पृश्याऽस्पृश्यपरिज्ञाने वर्ण्यते जातिनिर्णयः । तद्भेदो मुनिभिश्चक्रे कर्मभूमेः प्रवेशने ॥२३९
अस्यामेवावसर्पिण्यां भोगभूमिपरिक्षये । अभीष्टफलदातृणां विनाशे कल्पभूरुहाम् ॥२४०
क्षुत्पिपासादिसन्तप्ताः प्रजाः प्रणतकास्तदा । इति विज्ञापयन्देवं नाभेयं समुपेत्य वै ॥२४१
वयं त्वा शरणं प्राप्ता वाञ्छन्तो जीविकां प्रभो । त्रायस्व नः प्रजेशस्त्वं तदुपायोपदेशतः ॥२४२
आकर्ण्येतिवचस्तासां दीनं करुणयेरितः । वृषभश्चिन्तयामास हितमेवं शरीरिणाम् ॥२४३
विदेहेषु स्थितिर्नित्या यासावत्र विधीयते । षट्कमविधिसंयुक्ता वर्णत्रयकृता भिदा ॥२४४
मत्वेति चिन्तितं देवं तदैवाऽयात्सहाऽमरैः । शक्रस्तज्जीवनोपायमिति चक्रे विभागशः ॥२४५
शुभे लग्ने सुनक्षत्रे विनीतायां जिनालयम् । कृत्वा नगरमन्यच्च ग्रामादिजनरक्षकम् ॥२४६
प्रपाय्येक्षुरसं मिष्टं प्रजानां तत्प्रपालकः । गोत्रमिक्ष्वाकुनामाऽसौ लेभे ताभ्यस्तत्क्षणात् ॥२४७
असिमष्यादिषट्कर्मप्रजाजीवनकारणम् । पृथक्पृथगुपादिश्य विधाताऽऽसीज्जगद्गुरुः ॥२४८

तथा पत्रादिको छोड़ देना चाहिये और स्पृश्य जातिके शूद्रोंसे भोजन किये हुए लोहेके भाजन भस्म (राख) तथा अग्निसे शुद्ध होते हैं ॥२३६॥

यदि अस्पृश्य शूद्र कांशी, पीतल, आदिके बर्त्तनोंमें भोजन करे तो उसे फिर नवीन ही बनाना चाहिये, जब तक वह फिरसे न बनाया जायगा तब तक शुद्ध नहीं हो सकता। यदि हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओंका उन बर्तनोंसे स्पर्श हो जाय तो वे लोहारकी अग्निसे अर्थात् लोहारके द्वारा अग्निमें तपानेसे शुद्ध हो सकते हैं ॥२३७॥ अस्पृश्य शूद्रोंसे छूए हुए धान्य, काष्ठ, फल तथा वस्त्रादि वस्तुओंको—स्वर्णसे पवित्र किये हुए जलसे सींच कर फिर उन्हें स्पर्श करना चाहिये ॥२३८॥ स्पृश्यजाति तथा अस्पृश्य जातिके जानने पर जातिका निर्णय किया जाता है इसका भेद प्राचीन मुनिलोगोंने कर्मभूमिके प्रवेशके समयमें किया है ॥२३९॥ इसी हुण्डावसर्पिणी कालमे भोगभूमिका सर्वथा नाश हो जानेपर तथा मनोऽभिलषित फलके देनेवाले दश प्रकारके कल्पवृक्षोंका अभाव हो जानेपर क्षुधा, पिपासादिकी पीड़ासे आकुलित होकर सर्व प्रजाके लोक उस समय भगवान् आदि जिनेंद्रके पास जाकर यों प्रार्थना करने लगे ॥२४०-२४१॥ हे प्रभो ! अपनी आजीविकाके लिये आपके आश्रय आये हैं आप प्रजाके स्वामी हैं इसलिये आजीविकाके उपायका उपदेश दे कर हम लोगोंकी रक्षा करो ॥२४२॥ करुणासे प्रेरित भगवान आदि जिनेन्द्र प्रजाके दीन वचनोंको सुनकर उनके हितका इस प्रकार चिन्तवन करने लगे ॥२४३॥ असि, मषि, कृषि आदि छह कर्म युक्त तथा ब्राह्मण क्षत्रियादि तीन वर्णसे जिसमें भेद है ऐसी नित्य स्थिति जो विदेह क्षेत्रमें है वही यहाँ भी चलाई जाना आवश्यक है ॥२४४॥ भगवान् आदि जिनेंद्रको चिन्ता युक्त देख कर उसी समय सब देवोंके साथ इन्द्र भी आया और विभाग-पूर्वक प्रजाके जीवनका उपाय इस तरह किया ॥२४५॥ प्रजापालक श्रीआदिजिनेन्द्र—शुभलग्नमें तथा शुभ नक्षत्रमें अयोध्या नगरीमें जिन मन्दिर तथा मनुष्योंकी रक्षाके लिये नगर-ग्रामादिका निर्माण करके इसके बाद प्रजाके लोगोंको साठेका रस पिला कर प्रजाके द्वारा उसी समय इक्ष्वाकुगोत्र इस नामको प्राप्त हुए ॥२४६-२४७॥ प्रजाके आजीविका-के कारण असि, मषि, कृषि आदि छह कर्मोंका अलग-अलग उपदेश दे करके जगद्गुरु श्री आदि

तत्तत्कर्मानुसारेण जाता वर्णास्त्रयस्तदा । क्षत्रिया वणिजः शूद्राः कृतास्तेनादिवेधसा ॥२४९
परीक्ष्याऽऽद्येन चक्रेशा क्षत्रिया व्रततत्पराः । ब्राह्मणाः स्थापिता दानहेतवे ब्रह्मभक्तितः ॥२५०
त्रिवर्णेषु च जायन्ते ये चोच्चैर्गोत्रपाकतः । देशावयवशुद्धानां तेषामेव महाव्रतम् ॥२५१
नोच्चैर्गोत्रोदयाच्छूद्रा भवन्ति प्राणिनो भवे । प्रमत्तादिगुणाभावात्तेषां स्यात्तदणुव्रतम् ॥२५२
मनुष्यगतिरेकैव विपाकान्नामकर्मणः । चारित्राद्वृत्तिभेदाच्च गोत्रकर्मोदयादपि ॥२५३
चतुर्वर्णाः समुद्दिष्टाः पुरा सर्वविदा खलु । केवल्याऽऽर्हास्त्रयः पूज्या हीनोऽन्त्यस्तदभावतः ॥२५४
परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पङ्क्तिभोजनम् । कर्तव्यं न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकैः सह ॥२५५

स्वां स्वां वृत्तिं समुत्क्रम्य यः परां वृत्तिमाश्रयेत् ।
स दण्डद्य पार्थिवैर्बाढं वर्णसङ्करताऽन्यथा ॥२५६

पञ्चतायां प्रसूतौ च दिनानि दश सूतकम् । एकादशाऽहे संशोध्य गृहं वस्त्रं तनुं तथा ॥२५७
मृद्भाण्डानि पुराणानि बहिः कृत्य विधाय च । शुद्धां पाकादिसामग्रीं पूजयेत्परमेश्वरम् ॥२५८
श्रुतं च गुरुपादांश्च पूजयित्वा यथाविधि । व्रतोद्योतनमादाय शुद्धो भूत्वा प्रवर्त्तताम् ॥२५९
सूतके न विधातव्यं दानाऽध्ययनपूजनम् । नीचैर्गोत्रस्य बन्धत्वादगोत्रिणां पञ्चवासरान् ॥२६०

जिनेन्द्र आदि विधाता (प्रजापति) हुए ॥२४८॥ उसी समय अपने-अपने कर्मके अनुसार प्रजामें तीन वर्ण हुए उन्हें आदि विधाता ऋषभ देवने क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र इन तीन नामोंसे युक्त किया ॥२४९॥ इसके बाद आदि चक्रवर्त्ती भरत महाराजने परीक्षा करके व्रत धारण करनेवाले क्षत्रिय लोगोंको ब्रह्मभक्तिमे दानके लिये ब्राह्मण स्थापित किये । २५०॥ जो लोग उच्चगोत्रके उदयसे ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णमे उत्पन्न होते है देश तथा अवयवोंसे शुद्ध उन्हीं लोगोंके महाव्रत होता है ॥२५१॥ जो जीव नीच गोत्रके उदयसे शूद्र कुलमें उत्पन्न होते हैं । प्रमत्तादि गुण स्थानोंके न होनेसे उसके अणुव्रत होते है । अर्थात् शूद्र महाव्रत धारण नही कर सकते ॥२५२॥ यद्यपि नाम कर्मके विपाकसे, मनुष्यगति एक ही होती है । तथापि चारित्रसे, आजीविकाके भेदसे और गोत्र कर्मके उदयसे सर्वज्ञ देवने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण कहे है । उनमेसे आदिके तीनवर्णोंको केवल ज्ञानके योग्य बताया है, इसलिये ये पूज्य है और शूद्रोंको केवलज्ञान नही होता है इसलिये वे हीन कहे जाते हैं ॥२५३-२५४॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंको परस्परमें विवाह तथा एक साथ भोजन करना चाहिये । शूद्रोंके साथ नही करना चाहिये । तथा शूद्रोंको अपने जातिके साथ ही विवाह तथा भोजनादि करना चाहिये ॥२५५॥ इन चारों वर्णोंमें अपनी अपनी वृत्तिका उल्लंघन करके जो दूसरोंकी वृत्तिका आश्रय ले, राजा लोगोंको चाहिये कि उन्हें अच्छी तरह दंड देवे । ऐसा न किया जायगा तो वर्णसंकरता होगी ॥२५६॥ अब सूतकका वर्णन करते है—

मरणमें तथा प्रसूतिमें दश दिन सूतक पालन करना चाहिये । इसके बाद ग्यारहवें दिन घर, वस्त्र तथा शरीरादि शुद्ध करके और मृत्तिकाके पुराने बर्तनोंको अलग करके तथा पवित्र भोजनादि सामग्री बनाकर सर्वप्रथम जिनभगवान्‌की पूजा करनी चाहिये ॥२५७-२५८॥ शास्त्रोंकी तथामुनिराजोके चरणोंकी विधिपूर्वक पूजा करके तथा व्रतका उद्यापन करके शुद्ध होकर फिर कार्य में लगना चाहिये ॥२५९॥ सूतकमे दान, अध्ययन तथा जिन पूजनादि शुभकर्म नही करना चाहिये, क्योंकि सूतकके दिनोंमें दान पूजनादि करनेसे नीच गोत्रका बन्ध होता हैं और गोत्रके लोगोंको

मतान्तराद्द्विपञ्च दश द्वादश पक्षकम् । क्षत्रियद्विजवैश्यानां शूद्राणां सूतकः क्रमात् ॥२६१
कुर्यात्पुष्पवती मौनमास्नानं पुष्पदर्शनात् । अभुक्ता वर्जयेद्भुक्तिं पुनर्भुक्ता च तद्दिने ॥२६२
तद्दिनात्त्रीणि सान्यानि दिनानि परिपालयेत् । शुम्रि गेहस्य वस्तूनि मा स्पृशेन्मा भ्रमेद्गृहे ॥२६३
चौरीव रहसि प्रायस्तिष्ठन्ती मा वदेद्बहु । स्नायं स्नायं सचेलं चेद्भुञ्जीत रसवर्जितम् ॥२६४
चण्डालिनीव दूरस्था मृद्भाण्डेऽगदले करे । समश्नुवीत मौनेन पापशत्रुभयादियम् ॥२६५
भुञ्जीत पत्रकांशादिपात्रे सा तत्पुनर्नवम् । घटयेच्चेद शुद्ध स्यात्तदा नाऽपरथा क्वचित् ॥२६६
तस्याः स्पृष्टं जलाद्यं नो कल्पते भोजनेऽर्चने । दानेऽपि यच्च तच्छुप्तिर्बहुकार्यविरोधिनी ॥२६७
नेत्ररोगी भवेदन्धः पक्वान्नाद्यं विनश्यति । रङ्गो विरङ्गतां याति मञ्जिष्ठादेस्तदाश्रयात् ॥२६८
रात्रौ शयीत भूमादावेकान्ते योगिनीव सा । सावधानमना नारीपर्यायं बहुनिन्दती ॥२६९
चतुर्थरात्रौ भोग्या सा भर्त्रा सन्तानहेतवे । अवश्यं रात्रौ कामार्त्ता व्यभिचारं करोति हि ॥२७०
रजोरक्तसमुत्पन्नाः सुसूक्ष्माः कृमयोऽधिकाः । योनिवर्त्मनि कण्डूतिं नारीणां जनयन्ति हि ॥२७१
एवं प्राग्वासरेणाऽमा चतुरो वासरानपि ।
समुत्क्रम्य दिनेऽन्यस्मिन्स्नात्वा वस्त्रैः प्रवर्त्तताम् ॥२७२

पाँच दिन पर्यन्त उक्त कार्य नही करना चाहिये ॥२६०॥ अन्य मतके अनुसार—क्षत्रिय कुलोद्भव लोगोंको पाँच दिन, ब्राह्मण लोगोंको दश दिन, वैश्यवंश समुत्पन्न लोगोंको बारह दिन तथा शूद्र लोगोंको पन्द्रह दिन पर्यन्त सूतक पालन करना कहा है ॥२६१॥ पुष्पवती (रजस्वला) स्त्री को पुष्पके देखनेके दिनसे स्नान-पर्यन्त मौनपूर्वक रहना चाहिये। यदि भोजन करनेके पहले रजस्वला हो जाय तो फिर भोजन नहीं करना चाहिये। अथवा भोजन करनेके बाद रजस्वला होवे तो फिर उस दिन भोजन नही करना चाहिये ॥२६२॥ पुष्प दर्शनके दिनसे लेकर तीन दिन पर्यन्त पालन करना चाहिये तथा शयनागारकी वस्तुओंको न तो छूना चाहिये और न घरमें भ्रमण करना चाहिये ॥२६३॥ चोरी करनेवाली स्त्रीके समान बहुधा करके एकान्त स्थानमें ही रजस्वला स्त्री रहे तथा न बहुत बोले। भोजन करनेके समय वस्त्र-सहित स्नान करके रस-रहित भोजन करे ॥२६४॥ चण्डालिनीके समान अलग बैठी हुई रजस्वला स्त्रीको पाप-शत्रुके डरसे मृत्तिका के बर्तनमें, वृक्षोके पत्रोंमे अथवा अपने हाथ ही मे भोज्य वस्तु लेकर मौनपूर्वक भोजन करना चाहिये ॥२६५॥ यदि रजस्वला स्त्री काँशी, पीतल आदि धातुओंके भाजनमे भोजन करे तो वह भाजन फिरसे नया बनाया जावे तब ही शुद्ध (काममे लाने योग्य) हो सकता है बिना फिरसे नवीन बनाये कभी पवित्र नही हो सकता ॥२६६॥ रजस्वला स्त्रीसे स्पर्श हुई जलादि वस्तु भोजनमें, जिन पूजनमें तथा दानमें काम नही लानी चाहिये। यही कारण है कि रजस्वला स्त्रीकी शुप्ति (स्पर्श) बहुत कार्यको नाश करनेवाली है ॥२६७॥ रजस्वला स्त्रीके स्पर्शसे जो नेत्र रोगी है वह तो अन्धा हो जाता है, पक्वान्नादि वस्तु नष्ट हो जाती है और मजीठ आदिका रङ्ग विरङ्ग हो जाता है ॥२६८॥ सावधानमन पूर्वक स्त्री पर्यायकी अनेक तरह निन्दा करती हुई रजस्वला स्त्री को योगिनी (साध्वी) स्त्रीके समान एकान्त स्थानमें पृथ्वी आदिपर रात्रिके समय शयन करना चाहिये ॥२६९॥ पतिको सन्तान होनेके लिए उस स्त्रीके साथ चतुर्थ रात्रिमे विषयोपभोग करना चाहिये। यदि उस दिन उसके साथ रमण न किया जाय तो नियमसे वह कामसे पीडित होकर व्यभिचार सेवन करती है ॥२७०॥ क्योंकि—रजोरक्तमें उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त छोटे-छोटे जीव स्त्रियोंके योनि स्थानमें कण्डूति (खुजली) को उत्पन्न करते हैं ॥२७१॥ इसी तरह पहले दिनसे

इत्थं रजस्वला रक्ष्या यत्नतो गृहमेधिना । अन्यथा रोगदारिद्रोपद्रवाः सन्त्यनेकशः ॥२७३
रक्ष्यमाणापि या नारी न तिष्ठति दुराशया । सा पापं बहु बध्नाति दुर्गतौ यद्भयावहम् ॥२७४
तिरश्ची तेन पापेन शूकरी कुक्कुरी खरी । मात्राऽऽदिसङ्गनिर्मुक्ता दुर्गन्धा दुःखिनी भवेत् ॥२७५
अथ नारी भवेद्रण्डा वन्ध्या मृतसुता खला । दुर्भागिनी कुरूपा च भवे भवे नपुंसकम् ॥२७६
मत्वेति सत्कुलोत्पन्ना ऋतावुक्तविधानत । तिष्ठेद्यत्नेन पापस्य भीत्या सिंहस्य वा मृगी ॥२७७
गृहाश्रमो मया सूक्तः संहिताद्यनुसारतः । वानप्रस्थस्य भिक्षोश्च आश्रमः कथ्यतेऽधुना ॥२७८

उत्कृष्टः श्रावको यः प्राक्क्षुल्लकोऽत्रैव सूचितः ।
स चाऽपवादलिङ्गी च वानप्रस्थोऽपि नामतः ॥२७९

अष्टविंशतिकान्मूलगुणान्ये पान्ति निर्मलान् । उत्सर्गलिङ्गिनो धीरा भिक्षवस्ते भवन्त्यहो ॥२८०
अचेलक्यं शिरोलोचो निराभरणसंस्कृति । उत्सर्गलिङ्गमेतत्स्याच्चतुर्धा पिच्छधारणम् ॥२८१
भिक्षां चरन्ति येऽरण्ये वसन्त्यल्पं जिमन्ति च । बहु जल्पन्ति नो निद्रां कुर्वते नो तपोधनाः ॥२८२
ऋषिर्मुनिर्यतिः साधुर्भिक्षुकः स्याच्चतुर्विधः । तद्भेदो विस्तरादास्तां संक्षेपाद्वक्ष्यते शृणु ॥२८३
राजर्षिः परमर्षिश्च देवब्रह्मर्षिकौ तथा । ऋषेश्चतुर्भिदा प्रोक्ता ऋषिकल्पे जिनेश्वरैः ॥२८४

लेकर चार दिन व्यतीत करके पाँचवें दिन स्नान करके दूसरे वस्त्र धारण करना चाहिये ॥२७२॥ इस प्रकार गृहस्थ लोगोको रजस्वला स्त्रोका रक्षण करना चाहिये । ऐसा न करनेसे रोग तथा दरिद्रता आदि अनेक उपद्रव होते है ॥२७३॥ अनेक प्रकारके उपायोंसे रक्षा की हुई भी खोटे अभिप्रायवाली जो स्त्री न ठहरती है अर्थात्—सुशील न रहकर व्यभिचार सेवन करती है वह स्त्री बहुत पापका संचय करतो है जो पाप कुगतियोंमे नाना प्रकार दुःखका देनेवाला है ॥२७४॥ उसी पापके फलसे शूकरी, कुत्ती तथा गधी होकर अपनी माता आदिके संगसे छूटकर दुर्गन्धा तथा दुःखिनी होती है ॥२७५॥

व्यभिचारिणी स्त्री पति विरहित (रण्डा) हो जाती है, वन्ध्या होती है, जिसके मरा हुआ पुत्र होता है, दुष्टा होती है, खोटे भाग्य वाली होती है, कुरूपिणी होती है तथा जन्म-जन्ममें नपुंसक पर्याय धारण करती है ॥२७६॥ इस प्रकार पापके फलको समझ कर उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेवाली स्त्रीको चाहिये कि—पापके भयसे ऋतुके समयमें ऊपर कहे हुए विधानके अनुसार प्रयत्न पूर्वक रहे जिस तरह सिंहके भयसे मृगी रहती है ॥२७७॥ संहिता, आदि शास्त्रोंके अनुसार गृहस्थाश्रमका मैने वर्णन किया । अब वानप्रस्थाश्रम तथा भिक्षाश्रमका कथन किया जाता है ॥२७८॥ पहले जो उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लकका इसी ग्रन्थमें वर्णन किया जा चुका है उसे ही अपवादलिंगी तथा वानप्रस्थ भी कहते है ॥२७९॥ जो विशुद्ध अट्ठाईस मूल गुण पालन करनेवाले हैं तथा उत्सर्ग लिंग (मुनिलिंग) के धारण करनेवाले है सहनशील वे महात्मा भिक्षु (साधु) कहे जाते हैं ॥२८०॥ वस्त्र-रहितपना, शिरके केशोंका लोंच करना, आभरण-रहित संस्कार तथा पिच्छी धारण करना इस तरह उत्सर्ग लिंग चार प्रकार है ॥२८१॥ वे तपोधन (साधु लोग) भिक्षा वृत्तिसे आहार लेते हैं, वनमें निवास करते हैं, बहुत थोड़ा जीमते हैं, न बहुत बोलते ही हैं और न अधिक निद्रा लेते हैं ॥२८२॥ ऋषि, मुनि, साधु तथा यति इस प्रकार भिक्षुकके चार विकल्प हैं। इनका विस्तार तो हम कहाँलौं वर्णन करें परन्तु बहुत थोड़ेमें कहते है इसलिये हे राजन् ! उसे तुम सुनो ॥२८३॥ ऋषि सम्बन्धी शास्त्रोंमें जिनदेवने राजर्षि, परमर्षि, देवर्षि तथा ब्रह्मर्षि

विक्रियाऽक्षीणऋद्धीशो यः स राजर्षिरीरितः । परमर्षिर्जगद्वेत्ति केवलज्ञानचक्षुषा ॥२८५
बुद्धचौषधर्द्धिसम्पन्नो ब्रह्मर्षिरिह भाषितः । नभस्तलविसर्पी यो देवर्षिः परमागमे ॥२८६
प्रत्यक्षं त्रिविधं ज्ञानमवधिश्चित्तपर्यये । केवलं तद्धरप्रोक्तो मुनिर्मुनिर्जिनोत्तमैः ॥२८७
अप्रमत्तगुणाच्छ्रेणी क्षपकोपशमाभिधे । एकत्राऽऽरोहणं कुर्याद्यस्तयोः स यतिर्भवेत् ॥२८८
एभ्यो गुणेभ्य उत्केभ्यो यो बिभर्त्ति परान्गुणान् । ज्ञानर्द्धिनिष्कषायोत्थान्स साधुः समयोदितः ॥२८९
जिनलिङ्गधराः सर्वे सर्वे रत्नत्रयात्मकाः । भिक्षवस्त्वृषिमुख्या ये तेभ्यो नित्यं नमोऽस्तु मे ॥२९०
त्र्यूनाः कोटचो नवाऽमीषां संख्योत्कर्षतया मता । मुमुक्षूणां प्रमत्ताद्ययोगिपर्यन्तवासिनाम् ॥२९१
धर्माऽऽधेयस्य चाऽऽधाराश्चत्वारस्त्वाश्रमा मया । प्रोक्ता ग्रन्थानुसारेण ज्ञातव्यास्ते मनीषिभिः ॥२९२

आद्याऽऽश्रमेऽभ्यस्य जिनागमं यो मेधाऽनुसारेण गृही च भूत्वा ।
स्वाचारनिष्ठो भवति त्रिशुद्धचा सन्न्यस्य सोऽप्यामरशं लभेत ॥२९३
गृहाऽऽश्रमं यः परिहृत्य कोऽपि तं वानप्रस्थं कतिचिद्दिनानि ।
प्रपाल्य भिक्षुर्जिनरूपधारी कृत्वा तपोऽनुत्तरमेति मोक्षम् ॥२९४

इस प्रकार ऋषियोंके चार भेद किये हैं ॥२८४॥ जो मुनिनाथ विक्रियाऋद्धि तथा अक्षीण ऋद्धिके स्वामी हैं (जिन्हें उपर्युक्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई है) उन्हें राजर्षि समझना चाहिये । और जो अपने केवलज्ञान लोचनसे अखिल जगत्को जानते हैं उन्हें परमर्षि समझना चाहिये ॥२८५॥ जिन्हें बुद्धर्द्धि तथा औषधर्द्धि प्राप्त हो गई है उन्हें परमागम (जिनशास्त्र) में ब्रह्मर्षि कहा गया है और जो मुनिराज अपनी ऋद्धिके प्रभावसे आकाश मण्डलमें विहार करनेवाले है उन्हे देवर्षि कहते हैं ॥२८६॥ अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान ये जो तीन प्रत्यक्ष ज्ञान हैं इनके धारण करनेवाले जो मुनिराज हैं उन्हें जिन भगवान्ने मुनि कहा है ॥२८७॥ अप्रमत्त गुणस्थानसे—क्षपकश्रेणी तथा उपशम श्रेणी इस प्रकार जो दो श्रेणी हैं उन दोनोंमें किसी एकपर आरोहण करे उसे यति समझना चाहिये ॥२८८॥ ऊपर कहे हुए गुणोसे आगेके ज्ञानऋद्धि तथा कषायोंकी मन्दतासे होनेवाले गुणोंको जो धारण करता है उसे शास्त्रोंमें साधु कहा गया है ॥२८९॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही जिनका आत्मा है और जिनलिङ्ग (मुनिलिङ्ग) धारण करनेवाले हैं उन्हें भिक्षु तथा ऋषि कहना चाहिये । उन ऋषि-मुख्योंके लिए मेरा निरन्तर नमस्कार है ॥२९०॥ शिव सुखकी अभिलाषा करनेवाले तथा प्रमत्त गुणस्थानको आदि ले अयोगिगुणस्थान पर्यन्त गुणस्थानोंके धारण करनेवाले इन मुनियोंकी उत्कृष्ट संख्या तीन न्यून नव कोटी कही गई है ॥२९१॥ धर्म रूप जो एक आधेय वस्तु है उसके आधारभूत ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा भिक्ष्वाश्रम ये जो चार आश्रम हैं इनका शास्त्रोंके अनुसार मैंने वर्णन किया । बुद्धिमानोंको ये चारों आश्रम जाननेके योग्य हैं ॥२९२॥ जो भव्यात्मा अपनी बुद्धिके अनुसार पहले ब्रह्मचर्याश्रममें जिन सिद्धान्तका अध्ययन कर इसके बाद गृहस्थाश्रम स्वीकार करके, मन वचन तथा कायकी शुद्धिपूर्वक अपने गृहस्थाश्रम सम्बन्धी आचारके पालन करनेमें दृढ़ होता है वह अन्त समयमें संन्यास (सल्लेखना) धारण करके स्वर्ग सुखको प्राप्त होता हैं ॥२९३॥ और जो शिवसुखाभिलाषी भव्य पुरुष गृहस्थाश्रम छोड़कर और कितने दिवस-पर्यन्त वानप्रस्थाश्रमका यथाविधि पालन करके जिनराज समान यथाजातरूप (मुनिचिन्ह) का धारक होता है वह नाना प्रकार दुष्कर तपश्चरणादि करके अन्तमें शिव (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥२९४॥

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे
चतुराश्रमस्वरूपसूचनो नाम षष्ठोऽधिकारः ॥६॥

सप्तमोऽधिकारः

भुक्त्यङ्गेहापरित्यागाद्ध्यानशक्त्याऽऽत्मशोधनम् । यो जीवितान्ते सोत्साहः साधयत्येष साधकः ॥१
उपासकस्य सामग्रीविकलस्येयमिष्यते । युक्तिः समग्रसामग्र्यां श्रेयस्करी जिनाकृतिः ॥२
विरक्ताः कामभोगेभ्यः कारणं प्राप्य किञ्चन । धीराः सङ्गं परित्यज्य भजन्ति जिनलिङ्गताम् ॥३
अनादिवामदृगपि पुमान्धृत्वा जिनाकृतिम् । स्वं स्मरन्समतां प्राप्तो मुच्यतेऽसंशयं क्षणात् ॥४
स्थास्नु नाश्यं बुधैर्नाङ्गं धर्मसाधनहेतुतः । केनोपायेन हा ! रक्ष्यमिति शोच्यं पतन्नतैः ॥५
स्वस्थो देहोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतीकार्यश्च रोगवान् । उपकारमगृह्णन्सन्सद्भिस्त्याज्यो यथा खलः ॥६
अवश्यं नाशिनेऽङ्गाय धर्मो नाश्यो न सौख्यदः । नष्टमङ्गं पुनर्लभ्यं धर्मोऽतीवाऽत्र दुर्लभः ॥७
धर्मक्षितावात्मघाती नैवास्त्यङ्गं समुज्झत । क्रोधाद्युद्रेकतः प्राणान्शस्त्राऽऽद्यैर्हिंसतो हि सः ॥८
उपसर्गेण कालेन निर्णीयायुःक्षयोन्मुखम् । सन्न्यासं विधिवत्कृत्वा कुर्यात्फलवतीः क्रियाः ॥९
अरिष्टाऽध्यायमुख्योक्तैर्निमित्तैः साधु निश्चिते । मृत्यावाराधनाबुद्धेर्न चाऽऽरात्परमं पदम् ॥१०

जो उत्साहपूर्वक मरण समयमें भोजन, शरीर तथा अभिलाषाके त्यागपूर्वक अपनी ध्यान-जनित शक्तिसे आत्माकी शुद्धताको साधन करता है उसे साधक कहते हैं ॥१॥ साधककी यह वक्ष्यमाण विधि मुनिलिंग धारण करनेको जिसके पास सामग्री नहीं है उस श्रावकके योग्य समझना चाहिये और जिसके मुनिलिंग धारण करनेकी सब सामग्री है उसके लिये तो फिर मुनिलिंग धारण करना ही कल्याणकारी है ॥२॥ जो लोग संसारमें कुछ भी कारणको पाकर काम भोगादिसे उदासीन होते हैं वे ही धीर पुरुष परिग्रह छोड़कर मुनिलिंग स्वीकार करते है ॥३॥ जिनलिंगको अंगीकार करके अनादिमिथ्यादृष्टि पुरुष भी अपने आत्माका स्मरण करता हुआ समभावको प्राप्त होकर निस्सन्देह क्षणभरमें संसारसे छूट जाता है ॥४॥ बुद्धिमानोंको अल्प दिन रहनेवाला जो यह शरीर है इसे धर्म-साधनका कारण होनेसे नाश नहीं करना चाहिये । तथा यह स्वभावसे ही नाश होनेवाला है इसलिये इसके नाश होते समय हाय ! ! ! अब कैसे इसकी रक्षा करूँ ऐसा शोक भी नहीं करना चाहिये ॥५॥ जिस समय शरीर स्वस्थ हो उस समय तो उसका अनुवर्तन करना चाहिये और जब व्याधिसे समाकीर्ण हो तो निरोग होनेके लिये औषधादि उपचार करना चाहिये । परन्तु जब देखा कि अब यह बिल्कुल हमारे उपकारको स्वीकार नहीं करता है (सब तरहसे शिथिल होकर धर्मकार्यमें कुछ भी उपयोगमें नहीं आता है) तो उस समय इसे दुष्ट पुरुषके समान छोड़ देना चाहिए ॥६॥ अरे ! यह विनश्वर शरीर तो नियमसे नाश होनेवाला है इसके लिये बुद्धिमानोंको सुख देनेवाला धर्म नाश करना योग्य नहीं है । क्योंकि—शरीर यदि नाश भी हो गया तो वह फिर भी मिल सकता है परन्तु धर्मका मिलना तो बहुत दुर्लभ हो जायगा ॥७॥ धर्म रूप पृथ्वीमें शरीर छोड़नेवाला पुरुष, 'इसने आत्मघात किया', ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि—क्रोधादिका उद्रेक होनेसे शस्त्रादिसे प्राणोंकी हिंसा करनेवाला पुरुष ही आत्मघाती होता है ॥८॥ उपसर्गादिसे तथा वृद्धावस्थासे आयुको क्षयोन्मुख समझकर विधिपूर्वक सल्लेखना स्वीकार करके सर्व क्रियायोंको सफल करना चाहिये ॥९॥ मरणसूचक अरिष्ट अध्यायमें

गाढापवर्त्तकवशादरम्भाव्याघातवत्सकृत् । विनश्यत्यायुषि प्रायमविचारं समाश्रयेत् ॥११
फलवत्क्रमतः पक्त्वा स्वत एव पतिष्यति । काये रागान्महाधैर्यः कुर्यात्सल्लेखनां शनैः ॥१२
देहस्य न कदाचिन्मे जन्ममृत्युरुजादयः । न मे कोऽपि भवत्येष इति स्यान्निर्ममस्ततः ॥१३
पिण्डोऽयं जातिनामाभ्यां तुल्यो युक्त्या प्रयोजितः । पिण्डे चेत्स्वार्थनाशाय तदा तं परिहापयेत् ॥१४
श्रुतैः कषायमालिख्य वपुश्चाऽनशनादिभिः । मध्ये परगणं स्थेयात्समाधिमृतये यतिः ॥१५
सेवितोऽपि चिरं धर्मो विराद्धश्चेन्मृतौ वृथा । आराद्धेऽसावघं हन्ति तदात्वे जन्मसम्भवम् ॥१६
भूपस्येव मुनेर्धर्मे चिरायाऽभ्यासिनोऽस्त्रवत् । युद्धे वा भ्रश्यतो मृत्यौ कार्यनाशोऽयशोऽशुभम् ॥१७
साध्वभ्यस्तामृताध्वान्त्ये स्यादेवाऽऽराधको मुनिः । प्रतिकूलं महापापं किञ्चिन्नोदेति तस्य चेत् ॥१८

अनभ्यस्ताध्वनो जातु कस्याप्यस्याराधना भवेत् ।
प्रान्तेन्धनिधिलाभोऽसौ नालम्ब्यो धार्मिकैः सदा ॥१९

कहे हुए प्रधान कारणोंसे आयुका निश्चय हो जानेपर जिन लोगोंकी बुद्धि आराधना (सल्लेखना) के धारण करनेमें उत्साहित है उनके लिये मोक्ष स्थान दूर नहीं है ॥१०॥ अतिशय रोगादिके वशसे कदली तरुके समान एकदम आयुको विनष्ट होते हुए देखकर अविचार भक्त प्रत्याख्यानका आश्रय लेना चाहिए ॥११॥ जिस तरह पका हुआ फल वृक्षसे नियमसे गिर जाता है उसी तरह यह देह भी अपने आपही क्रम-क्रमसे जीर्ण (वृद्ध) होकर गिरेगा, ऐसा समझकर, धीर पुरुषोंको अनुरागपूर्वक धीरे-धीरे सल्लेखना धारण करना चाहिये ॥१२॥ ये जन्म, मरण तथा रोगादि सब देह (शरीर) के है मेरे ये कोई कभी नहीं है और न कोई मेरा है ऐसा समझ कर शरीरमें ममत्व परिणाम नही करना चाहिये ॥१३॥ पिण्ड (आहार) यह जाति (पुद्गल समुदाय रूप जाति) से तथा नाम (पिण्ड नाम) से शरीरके समान (जिस प्रकार शरीर पुद्गल समुदाय रूप है उसी तरह अन्न भी पुद्गल समुदाय रूप है और शरीरका जिस तरह पिण्ड नाम है उसी तरह अन्नका भी पिण्ड नाम है। अतः शरीर तथा अन्न ये दोनों एक ही समान) है उस पिण्डका शरीरमें युक्तिपूर्वक उपयोग किया गया है तो अब जिस समय समझो कि शरीरको सामर्थ्य घटती चली जा रही है उसी समय आहारका भी त्याग कर देना चाहिए ॥१४॥ शास्त्र-बलके द्वारा कषायोंको तथा उपवासादिसे शरीरको कृश करके समाधिमरणके लिये साधुगणके मध्यमें रहे ॥१५॥ अरे ! जो धर्म बहुत समय तक सेवन किया गया है यदि वह मृत्युके समय नाश कर दिया जायगा तो हम तो यही कहेंगे कि—उस मनुष्यका धर्म सेवन निष्फल ही है और वही धर्म समाधिमरणके समय यदि आराधन किया जाय तो जन्म-जन्ममें उपार्जन किये हुए सब पाप कर्मोंका नाश करता है ॥१६॥ जिस प्रकार बहुत काल पर्यन्त शस्त्र-विद्याके अभ्यास करने-वाले राजाका यदि युद्ध कालमें भ्रंश हो जाय तो उसके कार्यका नाश, लोकमें अयश तथा अशुभ होता है उसी तरह जिसने मुनिधर्मका चिरकाल पर्यन्त अभ्यास किया है यदि उसका मरण समय में भ्रंश (धर्मसे पतन) हो जाय तो कार्यका नाश, लोकमें अकीर्ति तथा अशुभ होता है ॥१७॥ यदि मरण समयमें समाधिमरण करनेवाले पुरुषके समाधिमरणका प्रतिबन्धक कोई महापाप उत्पन्न न हो तो सम्यक् प्रकार समाधिमरणके मार्गका अभ्यास करनेवाला वह अन्त समयमें आराधक होता है ॥१८॥ जिसने समाधिमरणका अभ्यास नहीं किया है उस पुरुषके भी यदि आराधना हो जाय तो हो जाय। परन्तु धर्मात्मा पुरुषोंको—समीपवर्ती यह अन्धनिधिका लाभ मरण समयमें स्वीकार करने योग्य नहीं है ॥१९॥ बुद्धिमान पुरुषोंको दूर भी यदि मोक्ष है तो भी व्रत धारण

विघातव्यो दवीयस्यप्यमृते यतनो व्रते । व्रतात्स्वः समयक्षेपो वरं न निरयेऽव्रतात् ॥२०
दुर्भिक्षे चोपसर्गे वा रोगे निःप्रतिकारके । तनोर्विमोचनं धर्मायाऽऽहुः सल्लेखनामिमाम् ॥२१
सल्लेखनां स सेवेत द्विविधां मारणान्तिकीम् । चतुर्द्धाऽऽराधनायाश्च स्मरन्नागमयुक्तितः ॥२२
दृग्बोधवृत्ततपसां द्विधा साऽऽराधना मता । निश्चयव्यवहाराभ्यां तदाऽऽराधकसूरिभिः ॥२३
जीवादीनां पदार्थानां श्रद्धानं दर्शनं हि तत् । संशयादिव्यवच्छेदात्तज्ज्ञानं ज्ञानमुच्यते ॥२४
पापक्रियानिवृत्तिर्या व्रतादिपरिपालनात् । त्रयोदशप्रकारेण प्राज्ञैस्तद्वृत्तमीरितम् ॥२५
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा द्वादशधा पुनः । प्रायश्चित्तोपवासाद्यैस्तपसः करणं तपः ॥२६
एतेषामुद्वहनं निर्वाहः साधनं च निस्तरणम् । उद्योतनं च विधिना व्यवहाराऽऽराधना प्रोक्ता ॥२७
आत्मनो दर्शनं दृष्टिर्ज्ञानं तज्ज्ञानतो भवेत् । स्थिरीभावाच्च चारित्रं तत्रैव तपनं तपः ॥२८
निश्चयाऽऽराधना सेयं निर्विकल्पसमाधिभाक् । स्वसंवेदनमाख्यातः शून्यध्यानं च तन्मतम् ॥२९
सल्लेखनाऽथवा ज्ञेया बाह्याभ्यन्तरभेदतः । रागादीनां चतुर्भुक्तेः क्रमात्सम्यग्विलेखनात् ॥३०

करनेमें प्रयत्न करना चाहिये । व्रतपूर्वक स्वर्गमें बहुत समयका व्यतीत करना तो अच्छा है परन्तु व्रत धारणके बिना नरकमें जाना अच्छा नही है ॥२०॥

दुर्भिक्ष पड़नेपर, उपसर्गादिके आनेपर तथा जिसका किसी प्रकार उपचार नही हो सकता ऐसे निरुपाय रोगके होनेपर धर्मके अर्थ शरीरके छोड़नेको आचार्य लोग सल्लेखना कहते है ॥२१॥ उसे चाहिये कि शास्त्रानुसार तथा युक्तिसे चार प्रकारकी आराधनाका स्मरणपूर्वक मरण समयमें होनेवाली दो प्रकारकी सल्लेखनाको धारण करे ॥२२॥ निश्चय तथा व्यवहारसे—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तपके आराधन करनेको आराधनाके आराधन करनेवाले महर्षिलोग दो प्रकार आराधना बताते है ॥२३॥ जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप इन नव पदार्थोंके श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहते है और संशय, विपरीत तथा अनध्यवसाय इन तीन मिथ्याज्ञान रहित जाननेको सम्यग्ज्ञान कहते है ॥२४॥ व्रत तपश्चरणादिके पालन करनेसे पाप कर्मकी निवृत्ति होनेको सम्यक्चारित्र कहते है उसे बुद्धिमान् पुरुषों ने तेरह प्रकारका बताया हैं ॥२५॥ प्रायश्चित्त तथा उपवासादिमे तपके करनेको तप कहते हैं वह बाह्यतप तथा आभ्यन्तरतप इस तरह दो भेद रूप है । फिर वही तप प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्यादि तथा अनशन, अवमौदर्य वृत्तपरिसख्यादि भेदोंसे बारह भेद रूप है ॥२६॥ इन सम्यग्दर्शनादि आराधनाओंके धारण करनेको, निर्वाह करनेको, साधन करनेको तथा विधिपूर्वक उद्यापन करनेको व्यवहार आराधना कहते है ॥२७॥ अब निश्चय आराधनाका स्वरूप कहते हैं— अपने आत्माके श्रद्धानको निश्चय सम्यग्दर्शन कहते है, आत्माके ज्ञानसे सम्यग्ज्ञान होता है, आत्मा स्थिर (निश्चल) होनेसे सम्यक्चारित्र होता है तथा आत्मामे ही तपनेको निश्चय तप कहते है ॥२८॥ इसी निश्चय आराधनाको निर्विकल्पसमाधि, स्वसंवेदन तथा शून्यध्यान भी कहते हैं इस निश्चय आराधनामें अपने आत्माको छोड़कर न तो किसीका ध्यान किया जाता है और न किसी दूसरे पदार्थका चिन्तवन करना ही होता है इसीलिए इसे निर्विकल्पसमाधि तथा शून्यध्यान आदि कहते है ॥२९॥ अथवा सल्लेखनाके बाह्य सल्लेखना तथा आभ्यन्तर सल्लेखना ऐसे दो भेद हैं । क्रम-क्रमसे रागादिके घटानेको आभ्यन्तर सल्लेखना कहते है और चार प्रकारके आहारके घटानेको बाह्य सल्लेखना कहते है ॥३०॥ राग, द्वेष, मोह, कषाय, शोक तथा भयादिका

रागो द्वेषश्च मोहश्च कषायः शोकसाध्वसे । इत्यादीनां परित्यागः साऽन्तःसल्लेखना हिता ॥३१
अन्नं खाद्यं च लेह्यं च पानं भुक्तिश्चतुर्विधा । उज्झनं सर्वथाऽप्यस्या बाह्या सल्लेखना मता ॥३२
पुष्टोऽन्तेऽन्नैर्मलैः पूर्णः कायो न स्यात्समाधये । कार्श्यस्तत्साधुना युक्त्या शोध्यश्चैष तदीहया ॥३३
असंल्लिखतः कषायांस्तनोः सल्लेखनाऽफला । जडैर्दण्डयितुं चैतान्वपुरेव हि दण्डयते ॥३४

प्रायो विषामदान्धानां कषायाः सन्ति दुर्द्दमाः ।
येऽपि चाऽऽत्माङ्गभेदज्ञास्तान्दाम्यन्ति जयन्ति ते ॥३५

दुष्करा न तनोर्हानिर्मुनेः किन्त्वाऽत्र संयमः । योगप्रवृत्तेर्व्यावर्त्य तदाऽऽत्मात्मनि युज्यताम् ॥३६

संयतः श्रावको वान्ते कृत्वा प्रायं जितेन्द्रियः ।
लीनः स्वाऽत्मनि च प्राणांस्त्यक्त्वा स्यादुदितोदयः ॥३७

दुर्दैवेनाऽप्यलं कर्त्तुं प्रविघ्नो भाविताऽऽत्मनः । समाधिसाधने दक्षे गणे च गणनायके ॥३८
भ्रमता जन्तुनाऽनेनानन्ताः प्राप्ताः कुमृत्यवः । समाधिपूतश्चैकोऽपि नाऽवापि चरमक्षणः ॥३९
श्लाघ्यन्ते साधवोऽत्यन्तं प्रभावं चरमक्षणम् । भव्याः समाहिता यत्र प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥४०

जो त्याग करना है उसे हितकारी आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं ॥३१॥ अन्न, खाने योग्य वस्तु, स्वाद लेने योग्य वस्तु तथा पीने योग्य वस्तु इस प्रकार चार प्रकार भुक्तिका सर्वथा त्याग करने को बाह्य सल्लेखना कहते है ॥३२॥ नाना प्रकारके अन्नादिसे अहोरात्र पुष्ट किया हुआ तथा पुरीष मूत्र, कफादि मलसे पूर्ण यह शरीर यदि मरण समयमें समाधिसाधनके लिए न हो तो साधु पुरुषोंको चाहिये कि—इसे युक्ति पूर्वक आहारादिके त्यागसे कृश करें तथा सल्लेखनाकी अभिलाषासे शुद्ध करें ॥३३॥ कषायोंको कृश नही करनेवाले मनुष्योंको शरीरका कृश करना निष्फल है क्योंकि कषायोंके कृश करनेके लिये शरीर कृश करना मूर्ख लोगोका काम है ॥३४॥ जो लोग ऐसा समझते हें कि—पहले शरीरको कृश करना चाहिये, शरीरके कृश हो जानेसे कषायें तो अपने आप कृश हो जायगीं। उनका ऐसा समझना भ्रम है। क्योकि पहले कषायोंको कृश करने वाले भव्य पुरुषोंके ही शरीरका कृश करना सार्थक समझा जाता है इसलिये पहले कषायोंको मन्द करना योग्य है। जो लोग अन्नके मदसे अन्ध है उनके लिये कषायें बहुत ही दुर्दमनीय हे और जो लोग आत्मा तथा शरीरके भिन्न भावको जाननेवाले है वे ही इन कषायोंका दमन (नाश) करते है और विजय प्राप्त करते है ॥३५॥ मुनियाको शरीरका त्याग करना बहुत कठिन नही है किन्तु शरीर छोड़ते समय संयमका रहना बहुत ही कठिन है। इसलिए मन वचन तथा कायकी प्रवृत्तिको रोककर अपने आत्माको आत्मामें लगाना चाहिये ॥३६॥ जो इन्द्रियविजयी संयमी अथवा श्रावक अन्त समयमें अनशन (उपवास) करके तथा अपने आत्मस्वभावमें लीन होकर प्राणोंको छोड़ता है वह उत्तरोत्तर उदयशाली होता है ॥३७॥ समाधिके साधन करनेमे योग्य ऐसे निर्यापकाचार्य अथवा संघमुनी आदि महात्माओंके विद्यमान रहते हुए समाधिमरण करनेवाले भव्यात्मा पुरुषोंको दुर्दैव (प्रतिकूल कर्म) भी विघ्न करनेको समर्थ नहीं हो सकता ॥३८॥ अहो ! चिरकालसे अपार संसारमें पर्यटन (भ्रमण) करते हुए इस जीवके कुमरण तो अनन्त वार हुए, परन्तु समाधि (सल्लेखना) से पवित्र मरण एक भी समय नहीं हुआ ॥३९॥ साधु लोग मरण समयमें होनेवाले अन्तिम समयकी बहुत प्रशंसा करते हैं जिस अन्तिम समयमें भव्यपुरुष सावधान मन होकर परम पद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ॥४०॥ संन्यास (सल्लेखना) के अभिलाषी

सन्न्यासार्थी ज्ञकल्याणस्थानमत्यन्तपावनम् । आश्रयेत्तु तदप्राप्तौ योग्यं चैत्यालयादिकम् ॥४१
प्रस्थितः स्थानतस्तीर्थे म्रियते यद्यवान्तरे । स्यादेवाऽऽराधकस्तद्धि भावना भवनाशिनी ॥४२
ममत्वादद्वेषरागाभ्यां विराधकेन येन हि । विराद्धो यस्तं क्षमयेत्क्षाम्येत्तस्मै त्रिधा च सः ॥४३
तीर्णो जन्माम्बुधिस्तैर्यैः क्षमणं क्षामणं कृतम् । क्षमयतां न क्षाम्यन्ति ये ते स्युर्दुःखितो भवे ॥४४
योग्ये मठादौ काले च स्वापराधं स सूरये । त्रिधोक्त्वाशोधितस्तेन निःशल्योऽध्वनि सञ्चरेत् ॥४५
संविशुद्धिसुधासिक्तो यथाविधि समाधये । प्राग्वोदग्वा शिरः कृत्वा शान्तधीः संस्तरं भजेत् ॥४६
संस्थानत्रिकदोषायाऽप्यापवादिकलिङ्गिने । महाव्रतेहिने लिङ्गं दद्यादौत्सर्गिकं तदा ॥४७
कक्षापटेऽपि मूर्च्छित्वादार्यो नार्हति तद्व्रतम् । आर्यिका साटकेऽमूर्च्छत्वाद्धृत्तं च सदार्हति ॥४८
ह्रीको महर्द्धिको वा यो मिथ्यादृक् प्रौढबान्धवः । नाग्न्यं पदे विविक्ते सः साधुलिङ्गोऽपि नार्हति ॥४९
यदापवादिकं प्रोक्तमन्यदा जिनपैः स्त्रिय । पुंवद्भण्यते प्रान्ते परित्यक्तोपधे किल ॥५०
वपुरेव भवो जन्तोर्लिङ्गं यच्च तदाश्रितम् । तद्ग्रहं जातिवत्तत्र मुक्त्वा स्वात्मगृहं श्रयेत् ॥५१

पुरुषोंको चाहिये कि—जिस स्थानमे जिन भगवान्का ज्ञान कल्याण हुआ है ऐसे पवित्र स्थानका आश्रय करें और यदि ऐसे स्थानोकी कारणान्तरोंसे प्राप्ति न हो सके तो जिन मन्दिरादि योग्य स्थानोंका आश्रय करे ॥४१॥ किसी तीर्थ स्थानमे जानेके लिये गमन किया हो और वहाँतक पहुँचने के पहले ही यदि मृत्यु हो जाय तो भी वह आराधक होता ही है क्योंकि-समाधिमरणके लिए की हुई भावना भी ससारके नाश करनेवाली है ॥४२॥ ममत्वसे, द्वेषसे अथवा रागसे अपने द्वारा जिसे दुःख पहुँचा है उससे क्षमा करावे तथा जिसके द्वारा अपनेको दुःख पहुँचा हो उसपर मन वचन कायसे क्षमा करे ॥४३॥ उन महात्मा पुरुषोंने इस जन्म रूप समुद्रको तिरकर पार कर लिया है जिन्होंने स्वयं क्षमा की है अथवा दूसरोंसे क्षमा कराई है और जो लोग अपने ऊपर क्षमा करने वाले पुरुषोंपर क्षमा नहीं करते है वे लोग नियमसे भव-भवमें दुःखी होते है ॥४४॥ योग्य मठादि स्थानमें तथा योग्य कालमे अपने अपराध (पाप) को मन वचन तथा कायसे आचार्य महाराजके समीप निवेदन करके और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्तसे शुद्ध (निर्दोष) होकर शल्य-रहित रत्नत्रय सम्पादन करनेके मार्गमे विहार करे ॥४५॥ यथाविधि विशुद्धता रूप अमृतसे सिंचित होकर समाधिमरणके लिए उत्तर दिशाकी ओर अथवा पूर्व दिशाकी ओर अपना मस्तक करके शान्तिपूर्वक सस्तरका आश्रय लेना चाहिये ॥४६॥

जिसके दोनों अण्डकोष और लिंग इन तीनो स्थानोंमें दोष हो और अपवाद लिंग (सग्रन्थवेष) धारण करनेवाला हो किन्तु जो महाव्रत लेनेकी अभिलाषा रखता हो उसके लिए आचार्यको चाहिये कि उत्सर्गलिंग (मुनिलिंग) देवें ॥४७॥ कक्षापट (लंगोट) मात्रमें भी मूर्च्छा होनेसे आर्य (ऐलक) महाव्रत धारण करने योग्य नहीं है और साटिका (साड़ी) में मूर्च्छा के न होनेसे आर्यिका महाव्रत धारण करने योग्य कही जाती है ॥४८॥ जो लज्जावान है, ऐश्वर्यशाली है, मिथ्यादृष्टि है, अथवा जिसके बहुत कुटुम्ब लोग है ऐसा पुरुष यदि उक्त दोष-रहित प्रशस्त लिङ्गका धारी भी क्यों न हो तो भी वह जन समुदायमे नग्नचिह्न धारण करने योग्य नहीं है ॥४९॥ स्त्रियोंके लिए जिन भगवान्ने अपवादलिंग कहा है परन्तु अन्त समयमे जिन स्त्रियोंने परिग्रहादि उपाधि छोड़ दी है उन्हें भी पुरुषोंके समान औत्सर्गिक लिंग कहा है ॥५०॥ जीवोंको शरीरका प्राप्त होना इसे ही तो संसार कहते हैं इसलिए शरीरके आश्रित ब्राह्मणादि जातिके

अन्यद्रव्यग्रहादेव यद्बद्धोऽनादिचेतनः । तत्स्वद्रव्यग्रहादेव मुच्यतेऽतस्तमाद्रियात् ॥५२
विवेकिना विशुद्धेन त्यक्तं येन समाधिना । । जीवितं तेन किं प्राप्तं नाऽपूर्वं वस्तु वाञ्छितम् ॥५३
गुरौ समर्पयित्वा स्वं भिदारोप्य महाव्रतम् । निर्वासा भावयेदेव तदनारोपितं परम् ॥५४
गुरुर्नियुज्य तत्कार्ये यथायोग्यं गुणोत्तमान् । यतीस्तं बहु संस्कुर्यात्स त्वार्याणां महामखः ॥५५
कल्प्यां बहुविधां भुक्तिं प्रदर्श्येष्टां तमाश्रयेत् । जडत्वात्तत्र रज्यन्तं ज्ञानवाक्यैर्निषेधयेत् ॥५६
भो जितेन्द्रिय ! मार्गज्ञ ! ऋषिपुङ्गव ! सद्यशः । इमे किं प्रतिभासन्ते पुद्गलास्तेऽद्य सौख्यदाः ॥५७
न सोऽस्ति पुद्गलः कोऽपि यस्त्वया स्वाद्य नोज्झितः । अस्य मूर्तस्य तेऽमूर्तेरुपकारः कथं भवेत् ॥५८
शुद्धो बुद्धः स्वभावस्ते स एव स्वहितावहः । सुखमिन्द्रियजं दुःखकारणं स्वास्थ्यवारणम् ॥५९
यन्मन्यते भवानेवं भुञ्जेऽहं सुखदायिनीम् । एनां भुक्तिं समालम्ब्य करणैरनुभवन्ननु ॥६०
इमां ततोऽधुना भ्रान्तिं निरस्य स्फुरतीं हृदि । सोऽयं क्षणोऽस्ति ते यत्र जाग्रति स्वहिते चणाः ॥६१

समान शरीरका आश्रय करके रहनेवाले नग्नत्व आदि लिंग है उन्हें मृत्युके समय छोड़कर अपने आत्म-चिन्तवनमें निमग्न होना चाहिये ॥५१॥ जो यह अनादिचेतन दूसरे द्रव्योके ग्रहणसे ही बंधा हुआ है वह अपने द्रव्य (आत्मद्रव्य) के ग्रहण करनेसे ही दूसरे द्रव्यके सम्बन्धसे रहित होगा। इसलिए अपने आत्मद्रव्यको ही ग्रहण करना चाहिये ॥५२॥ जिस विचारशील मानवने विशुद्ध समाधिपूर्वक अपने जीवनका परित्याग किया है (सल्लेखना पूर्वक मरण किया है) उसने संसारमें ऐसी मनोभिलषित अपूर्व वस्तु क्या है जिसे न पाई हो ? अर्थात् सभी अवश्य पाई है ॥५३॥ जो दिगम्बर हो गये है उन्हे अपनेको अपने गुरुके अधीन करके और अपनेमे महाव्रतका आरोप करके भावना भानी चाहिये। अर्थात्—मै महाव्रतका धारक हूं और जिसने जिन दीक्षा नही ली है अर्थात्—वस्त्र सहित है उसे—अपनेमें महाव्रतका आरोप न करके महाव्रतकी भावना भानी चाहिये ॥५४॥ गुरु (आचार्य) को चाहिये कि मोक्षसाधनादि उत्तम गुणोके पात्र संयमी श्रावकोको उनकी योग्यतानुसार उसके कार्य (धर्मकथा सुनाना तथा मलोत्सर्गादिक्रिया कराना आदि) में नियोजित करके उसमें रत्नत्रयका सस्कार करावे, क्योकि रत्नत्रयका संस्कार करना आर्य पुरुषों का बड़ा भारी यज्ञ है ॥५५॥ यदि कोई सल्लेखना स्वीकार करनेके तथा अन्न-जलका त्याग करने के पश्चात् भक्तपानकी इच्छा प्रकट करे तो उसके ग्रहण करने योग्य अनेक प्रकारकी उत्तम भोजन सामग्री उसे दिखाकर भोजनके लिए देनी चाहिये। यदि अज्ञानतासे उसमें आसक्त होने लगे तो उसी समय नाना प्रकारके धर्म सम्बन्धी आख्यानो (कथाओ) को सुनाकर भोजनसे विरक्त करना चाहिये ॥५६॥ हे इन्द्रियोंके जीतनेवाले ! हे जिनमार्गके जानने वाले ! हे ऋषियोंमें उत्तम ! हे सत्कीर्त्ति भाजन ! क्या आज ये पुद्गल तुम्हे सुखके देनेवाले मालूम पड़ते है ॥५७॥ इस लोकाकाश में ऐसा कोई पुद्गल नही बचा है जिसे तुमने भोगकर न छोड़ा हो, दूसरे यह पुद्गल मूर्त्तीक पदार्थ है तो अब तुम्हीं कहो कि—इस मूर्त्तीकसे तुम्हारे अमूर्त्तीक आत्मद्रव्यका उपकार कैसे हो सकता है ? ॥५८॥ शुद्ध तथा ज्ञायकस्वभाव तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है और वही आत्महितका कारण है। इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला जो सुख है वह दुःखका हेतु तथा आत्मस्थभावका नाश करने वाला है ॥५९॥ ये भोजनादि केवल इन्द्रियोंकी पूर्त्तिके कारण है ऐसा इन्द्रियोंसे अनुभव करते हुए भी मैं सुख देनेवाला भोजन करता हूँ ऐसा जो तुम मान रहे हो ॥६०॥ परन्तु यह तुम्हारा भ्रम है। इसलिए अपने हृदयमें स्थित इस भ्रमको दूर करो ! तुम्हारे लिए यह वह समय है जिसमें आत्महितके लिए उद्यमशील पुरुष जाग्रत रहते हैं ॥६१॥ यह पुद्गल भिन्न वस्तु है और मैं दूसरा

पुद्गलोऽन्योऽहमन्यच्च सर्वथेति विचिन्तय। अन्यद्रव्यग्रहावेशं येनोज्झित्वा स्वमाविशेः ॥६२
क्वचिच्चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तं चरेद्ध्रुवम्। तत्रैवोत्पद्य सौवर्णचिर्भिटासक्तसाधुवत् ॥६३
किन्त्वङ्गस्योपयोग्यन्नं तद्गृह्णातीदमाशु न। तत्तृष्णां त्यज भिन्धि स्वं कायाद्रुन्द्ध्यशुभाश्रवम् ॥६४
वितृष्णं क्षपकं कृत्वा सूरिरेतद्वचोऽमृतैः। पोषयेत्स्निग्धपानेन परित्याज्याऽशनं क्रमात् ॥६५
षोढा पानं घनं लेपि सिक्थवत्सेतरं तथा। प्रयोज्य कृशयित्वा च शुद्धपानं च पूरयेत् ॥६६
साधो! सल्लेखना तेऽन्त्या सेयं तमिति शिक्षयेत्। व्यतिक्रमपिशाचेभ्यः संरक्षैनां सुदुर्लभाम् ॥६७
आशंसा जीवित मृत्यो मित्रराग सुखस्पृहाम्। निदानं संस्तराऽऽरूढस्त्यजन्सल्लेखनां चरेत् ॥६८
सपर्यायां सजन्नस्यां मा शंस प्राणितं स्थिरम्। बहिर्द्रव्यं वरं भ्रान्त्या को हास्यो नायुराशिषा ॥६९
क्षुदादिभयतस्तूर्णं माकार्षी मरणे धियम्। दुःखं सोढा शमाप्नोति मुमूर्षुर्दुःखमश्नुते ॥७०
रजःक्रीडावता साकं मास्त्वं मित्रेण रञ्जय। मोहदुश्चेष्टितैर्भुक्तैरतादृक्षैरलं बहु ॥७१

ही हूँ इस प्रकार विचारते रहो ! और इसी पवित्र विचारसे पुद्गलादि द्रव्यके ग्रहणके आवेशको छोड़कर अपने आत्मद्रव्यमें प्रवेश करो ॥६२॥ यदि किसी पुद्गलमे आसक्त होकर मरे तो नियमसे उसी जगह उत्पन्न होकर संचार करेगे जिस तरह मृत्यु समय एक साधु चिरभटी (ककड़ी) में आसक्त होकर उसीमें कीड़ा हुआ था ॥६३॥

किन्तु यदि तुम यह समझो कि अब यह (आत्मा) शरीरकी स्थितिका कारण अन्न नहीं ग्रहण करता है तो उसी समय तृष्णाको छोड़ो ! शरीरसे अपने आत्मद्रव्यको भिन्न करो ! तथा पापबन्धके कारण खोटे आश्रवको रोको ॥६४॥ आचार्य महाराजको चाहिये—इस प्रकार सुमधुर अपने वचनामृतसे उस क्षपक (मुनि) वेषधारीको तृष्णारहित करके तथा धीरे-धीरे भोजन घटाकर स्निग्ध वस्तुओके पानेसे पोषण करे ॥६५॥ घनपान (दही आदि), अघनपान (फल-रस, कांजी आदि), लेपिपान (जो हाथमें चिपकता हो), अलेपिपान (जो हाथमें नहीं चिपकता हो), सिक्थपान अन्नकण युक्त मांड आदि, असिक्थपान अन्नकण-रहित माड इन छह प्रकार पेय पदार्थका प्रयोग करके और फिर क्रमसे एक-एक घटाकर केवल जलपान कराना चाहिये ॥६६॥ हे साधु ! तुम्हारे लिए यह अन्तिम सल्लेखना है अतिशय दुर्लभतासे प्राप्त हुई है। इसलिए इसकी अतीचार रूप पिशाचसे रक्षा करो, इस प्रकार उपदेश देना चाहिये ॥६७॥ सस्तर (शय्या) पर सोये हुए भव्यात्मा पुरुषको चाहिये कि आगामी जीवनकी अभिलाषा, दुःख तथा उपसर्गादिसे मरणकी मनोभावना, मित्रमें अनुराग, पहले उपभोग किये हुए सुखोंमें इच्छा तथा सल्लेखनाके माहात्म्यसे आगामी जन्ममें सुखाभिलाषा रूप निदान इन पाच अतीचारोंको छोड़कर सल्लेखना (समाधि) का सेवन करना चाहिये ॥६८॥ हे उपासक ! लोगोंसे किये हुए सत्कारमें आसक्त होकर यह कभी मत समझो कि यह जीवन चिरकाल पर्यन्त स्थिर रहनेवाला है, क्योंकि ये बाह्यपदार्थ भ्रमसे मनोहर मालूम देते है तो फिर इस बाह्यवस्तु देहके जीवनकी इच्छा करनेसे तुम्हें कौन नही हंसेगा ? किन्तु सब तुम्हारी हंसी करेंगे ॥६९॥ भूख प्यासकी आतुरतासे तथा रोग-उपसर्गादिकी यन्त्रणा (पीड़ा) से मृत्यु अच्छी है ऐसा विचार कभी मत करो ! क्योंकि दुःखोंके सहन करनेवाला सुखको प्राप्त होता है और मरणाभिलाषी दुःखोंको भोगता है ॥७०॥ हे भव्य ! जिसके साथ तुम धूलिमें खेले हो उस प्रणयी (मित्र) के साथ भी अब अनुराग मत करो ! क्योंकि—मूर्खतासे ऐसी खोटी-खोटी लीलाएं बहुत की हैं अब इनसे कुछ साध्य नहीं है ॥७१॥ हे भद्र ! स्नेहके हेतु शय्यादिमें भी

**शय्यादौ कुत्रचित्प्रीतिविशेषे मा सज स्मृतिम् । भावितो विषयै. प्राणी भ्रंशं भ्राम्यति जन्मनि ॥७२
एतत्फलेन राजा स्यां स्वर्गी स्यां भोगवानपि । निदानं मा कुरुष्वेति निदानं विपदां ध्रुवम् ॥७३
दुःखं स्याद्वा सुखं स्याद्वा मरणं स्यात्समाधिना । विना येनेन्द्रियं सौख्यमप्यभूद्दुःखदं मम ॥७४
इति भावनया चैतद्व्रतिचारगणातिगाम् । साधुः सल्लेखनां कुर्यान्निर्मलां सुखसिद्धये ॥७५
इति वृत्तशिखारत्नं जातसंस्कारमुद्धरन् । तीक्ष्णपानक्रमत्यागादयं प्राये प्रवेक्ष्यति ॥७६
सङ्घाय तु निवेद्यैवं गणिना चतुरेक्षिणा । सोऽनुज्ञातः समाहारमाजन्म त्यजतात्त्रिधा ॥७७
रुजाद्यपेक्षया वाऽम्भः सत्समाधौ विकल्पयेत् । मुञ्चेत्तदपि चासन्नमृत्युः शक्तिक्षये भृशम् ॥७८
तदा सङ्घोऽखिलो वर्णिमुखग्राहितसत्क्षमः । तदविघ्नसमाध्यर्थं दद्यादेकां तनूत्सृतिम् ॥७९
सन्न्यासिनस्ततः कर्णे दद्युर्निर्यापका जपम् । संसारभीतिदं जैनैस्तत्पर्यन्तो वचोऽमृतैः ॥८०
मिथ्यात्वं त्यज सम्यक्त्वं भज भावय भावनाः । भक्तिं कुरु जिनाद्येषु त्रिशुद्धया ज्ञानमाविश ॥८१
व्रतानि रक्ष कोपादीञ्जय यंत्रय खान्यहो । परिषहोपसर्गांश्च सहस्व स्मर चात्मनः ॥८२
तद्दुःखं नास्ति लोकेस्मिन्नाभून्न च भविष्यति । मिथ्यात्ववैरिणा यन्न दीयते भवसंकटे ॥८३**

अपनी स्मृतिको मत लगाओ, क्योंकि इन विषयोंके सम्बन्धसे ही तो यह अनुपम शक्तिशाली आत्मा संसारमें भ्रमण करता है ॥७२॥ हे सहनशील ! इस समाधिके प्रभावसे मैं राजा होऊँ, देव बनूँ, भोगवान होऊँ—विपत्तिकेन्द्र ऐसे निदानको कभी भूलके भी न करो ॥७३॥ हे उपासक ! इस सल्लेखनासे दुःख हो, सुख हो, अथवा मरण हो मुझे सब स्वीकार है, क्योंकि—जिसके न होनेसे इन्द्रिय सम्बन्धी सुख भी मेरे लिए दुःखके समान है ऐसी भावना करो ॥७४॥ इस प्रकार पवित्र भावनासे अतिचार-रहित निर्मल सल्लेखना शिवसुखकी सिद्धिके अर्थ साधु पुरुषको धारण करनी चाहिये ॥७५॥ इस प्रकार अभ्याससे उत्कर्षशाली अथवा सर्व व्रतमें उत्तम इस सल्लेखना का धारक यह श्रावक क्रमसे खरपान छोड़कर चार प्रकार आहारका त्याग करेगा। विचारशील निर्यापकाचार्यसे इस प्रकार कहलाकर और फिर उनकी आज्ञानुसार सर्व प्रकारके आहारका मन वचन तथा कायसे त्याग करना चाहिये ॥७६-७७॥ पित्तकोप, उष्णकाल, जलरहित प्रदेश तथा जिसकी पित्तप्रकृति हो इत्यादि कारणोंमेंसे किसी एक भी कारणके होनेपर निर्यापकाचार्यको समाधिमरणके समय जल पीनेकी आज्ञा उसके लिए देनी चाहिये तथा शक्तिका अत्यन्त क्षय होने पर तथा निकट मृत्यु जानकर धर्मात्मा श्रावकको फिर जलका भी त्याग कर देना चाहिये ॥७८॥ उस समय सर्वसंघको चाहिये कि उस ब्रह्मचारी श्रावकके मुखसे "तुमने जो हमारा अपराध किया है उसके लिए मैं क्षमा करता हूँ और जो मैंने तुम्हारा अपराध किया है उसके लिए तुम भी मेरे ऊपर क्षमा करो !!" ऐसा कहलवाकर उसकी समाधि "सल्लेखना" में किसी तरहका विघ्न न आवे इसलिये उसे तथा सर्वसंघको कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥७९॥ इसके पश्चात् निर्यापकाचार्य को चाहिये कि—सल्लेखनाधारी पुरुषके कानमें संसारसे भय उत्पन्न करानेवाले नमस्कार मन्त्रादि का निरन्तर श्रवण कराते रहें तथा जिन वचनामृतोंसे उसे तृप्त करते रहें ॥८०॥ हे जितेन्द्रिय ! अब तुम मिथ्यात्वको छोड़ो ! सम्यक्त्वका आश्रय करो ! अनित्य शरणादि बारह प्रकारकी भावनाओंका चिन्तवन करो ! जिन भगवान्, आचार्य, उपाध्याय आदिमें मन वचन कायसे भक्ति करो तथा अपने आत्मज्ञानमें प्रवेश करो ॥८१॥ धारण किये हुए व्रतकी रक्षा करो ! क्रोधादिक पापोंका विजय करो ! पञ्चेन्द्रियोंको वश करो ! परीषह तथा उपसर्गादिको धैर्यपूर्वक सहन करो ! तथा अपने आत्माका चिन्तवन करो ॥८२॥ अहो ! जीवन ग्रहणकी परम्परासे पूर्ण इस अपार

मिथ्यात्वं भावयन्संघश्रीर्भूयो बौद्धरोपितम् । धनदत्तसदस्याशु स्फुटिताऽक्षोऽपतद्भवे ॥८४
सम्यक्त्वसुहृदा यन्न प्राणिनो दीयते सुखम् । अधोमध्योर्ध्वभागेषु नास्ति नासीन्न भावि तत् ॥८५
ह्रासितोत्कृष्टश्वभ्राऽऽयुः श्रेणिकः प्रथमाऽवनेः । निर्गत्य दृग्विशुध्यैव तीर्थकर्ता भविष्यति ॥८६
अनित्याशृतिसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वतः । आश्रवः संवरो निर्जरा लोको धर्मदुलभौ ॥८७
द्वादशैता अनित्याद्या भावनाः प्रागभाविताः । भावयेद्भाविताः प्राच्यैर्मनःकपिवशीकृतौ ॥८८
जीवितं शरदभ्राभं धनमिन्द्रधनुर्निभम् । कायश्च संततापाय कापेक्षामुत्र साधने ॥८९
वने मृगार्भकस्येव व्याघ्राऽऽघ्रातस्य कोपि न । शरणं मरणे जन्तोर्मुक्त्वैकं धर्ममार्हतम् ॥९०
न तद्द्रव्यं न तत्क्षेत्रं न स कालो भवो न सः । भावश्च भ्रमताऽनेन लात्वा मुक्तं मुहुर्न यत् ॥९१
एकः स्वर्गे सुखं भुङ्क्ते दुःखं चैको भुवस्तले । मध्येऽपि तद्द्वयं चैको न कोप्यन्यः सखात्मनः ॥९२
चेतनावात्मनो यत्र वपुर्भिन्नं जडात्मकम् । तत्र तज्जादयः किं न भिन्नाः स्युः कर्मयोगजाः ॥९३
रेतःशोणितसंभूते वर्च्चःकृमिकुलाऽऽकुले । चर्मावृते शिरानद्धे नृदेहे का सतां रतिः ॥९४

संसारमें ऐसा कोई दुःख नही है, न हुआ और न कभी होगा, जो मिथ्यात्वशत्रुके द्वारा न दिया जाता हो ॥८३॥ देखो – बौद्धगुरुके उपदेशसे बन्दक नाम कोई मानव मिथ्यात्वका चिन्तवन करता हुआ—धनदत्तकी सभामें अन्धा होकर संसार समुद्रमें गिरा ॥८४॥ पाताललोक मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोकमें ऐसा कोई सुख नहीं है, न हुआ तथा न कभी आगामी होगा जो सुख इस आत्माको सम्यक्त्व रूप मित्रके प्रभावसे प्राप्त न होता हो ॥८५॥ संसारमें ऐसा तो कोई दुःख नही है जो मिथ्यात्वके सेवनसे न भोगना पड़ता हो तथा ऐसा कोई सुख भी नहीं है जो सम्यक्त्वके सेवनसे न मिलता हो। इसलिए अब हे साधो, तुम मिथ्यात्वका छोड़कर सम्यक्त्वको ही धारण करो। देखो! इसी सम्यक्त्वके प्रभावसे महाराज श्रेणिकने सप्तम नरककी उत्कृष्ट स्थितिको घटाकर न्यून कर दी तथा इसी सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे प्रथम नरकसे निकलकर आगे त्रिभुवन महनीय तीर्थंकरका अवतार धारण करेंगे ॥८६॥ अपने मनरूपी बन्दरको यदि तुम वश करनेकी अभिलाषा रखते हो तो—पूर्वकालमें धर्मात्मा पुरुषोंने जिन्हें चिन्तवन किया है तथा पहिले जिनकी तुमने भावना नही की है, ऐसी अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, सवर, निर्जरा, लोक, धर्म तथा बोधि दुर्लभ ये जो द्वादश भावनाएं हैं इनका निरन्तर हृदयमें आराधन करो ॥८७-८८॥ यह जीवन शरत्कालीन मेघके समान क्षणनश्वर है, धन इन्द्रधनुषके समान अवलोकन करते-करते नाश होनेवाला है तथा यह शरीर भी निरन्तर विनाश-प्रवन है इस प्रकार अपने लोचनोंके सामने सर्व वस्तुओंको विनश्वर देखनेपर भी परलोक साधनमें क्या उपेक्षा करनी चाहिये ॥८९॥ जिस प्रकार निर्जन अरण्यमें सिंहके पंजेमें फंसे हुए मृगशावकको बचानेके लिए कोई समर्थ नहीं है। उसी प्रकार इस जीवको यमराजके पंजेमें फस जानेपर जिन धर्मको छोड़कर कोई शरण नहीं है ॥९०॥ न तो वह द्रव्य है न वह क्षेत्र है न वह काल है न वह भव है तथा न भाव है जिसे—असार संसारमें भ्रमण करते हुए इस आत्माने बार-बार ग्रहण करके न छोड़ा हो ॥९१॥ एक तो स्वर्गमें सुखका उपभोग करता है और एक पृथ्वीतल (नरक) में निरन्तर दुःखों को भोगता है तथा मध्यलोकमें सुख तथा दुःख ये दोनों ही है परन्तु इस आत्माका तो दोनोंमेंसे कोई भी मित्र नहीं है ॥९२॥ चेतन स्वभाव आत्मासे जड स्वरूप यह शरीर ही जब भिन्न है तो उस शरीरके सम्बन्धसे तथा कर्मके परिपाकसे होनेवाले ये मित्र पुत्र कलत्रादि क्या भिन्न नहीं हैं अर्थात् अवश्य भिन्न हैं ॥९३॥ वीर्य तथा शोणित (रक्त) से उत्पन्न होनेवाला, विष्टा तथा कोड़ों

मिथ्यात्वादिचतुर्द्वारैः कर्माऽऽश्रवति देहिन. । छिद्रैर्वारीव पोतस्य शुभाऽशुभमिहाम्बुधौ ।।९५
द्रव्यभावाश्रवस्यास्य निरोधः संवरो मतः । सम्यक्त्वविरतिप्रष्ठैः स विधेयो मुमुक्षुभिः ।।९६
कर्मणामेकदेशेन गलनं निर्जराऽऽत्मनः । तपसा सा विपाकेन सकामाऽऽकामतो द्विधा ।।९७
लोक्यते दृश्यते यत्र जीवाद्यर्थकदम्बकः । स लोकस्त्रिविधोऽनादिनिधनः पुरुषाकृतिः ।।९८
दयादिलक्षणो धर्मः सर्वज्ञोक्त स्वशक्तितः । पतन्तं दुर्गतो धत्ते चेतनं सुखदे पदे ।।९९
हित्वा बोधिं समाधिं च राज्यभोगादिसम्पदाम् । मध्ये नो दुर्लभं किञ्चित्पुरा बंभ्रमतो मम ।।१००
भावनाः षोडशाप्यत्र भावनीया महात्मना । सद्दर्शनविशुद्धयाद्यास्तीर्थंकृत्त्वप्रदायिकाः ।।१०१
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थमिति भावनाः । भावनीयाः सदाप्राज्ञैर्मरणे किं न युक्तितः ।।१०२
क्षन्तव्यं सह सर्वैर्मे मयि ते च क्षमन्त्विति । जीवा ज्ञानमया एते भाव्या मैत्री च मित्रवत् ।।१०३
ये द्विधाऽऽराधनोपेता मूलोत्तरगुणान्विताः । प्रमोदस्तेषु कर्त्तव्यो धनिष्विव दरिद्रिणा ।।१०४
रोगशोकदरिद्राद्यैः पीडिता येऽत्र जन्तवः । तेषां दुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यं क्रियतामिति १०५

के समूहसे पूर्ण, चर्मसे आच्छादित तथा नाडीसे बधे हुए इस अत्यन्त अपवित्र शरीरमें सज्जन पुरुषोंका अनुराग कैसे संभव है ।।९४।। जिस प्रकार समुद्रमेंसे छिद्रोंसे जहाजमें जल आता रहता है उसी तरह मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद तथा कषाय इन चारोके द्वारा इस आत्मामें शुभ तथा अशुभ कर्मोंका आश्रव होता रहता है ।।९५।। सम्यग्दर्शन और विरति (संयम) के धारक तथा जिनके हृदयमें ससारसे छूटनेकी उत्कट अभिलाषा है उन्हें चाहिये कि द्रव्याश्रव तथा भावाश्रवके रोकने रूप जो संवर है उसे धारण करे ।।९६।। पूर्व बँधे हुए कर्मोका एक देशसे जो गलना (नाश होना) है उसे निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा तपादिसे तथा कर्मोंके विपाकसे सकामनिर्जरा तथा अकामनिर्जरा इस प्रकार दो भेद रूप है ।।९७।। जिस जगह जीव, अजीव आदि पदार्थोंका समूह अवलोकन किया जाय वह अनादि निधन तथा पुरुषाकार लोक ऊर्द्धलोक मध्यलोक तथा अधो-लोक इन भेदोंसे तीन भेद रूप है ।।९८।। जिसका सर्वज्ञ भगवान्ने उपदेश दिया है तथा जिसमें जीव मात्रकी रक्षा करना ही प्रधान माना गया है वही यथार्थमें धर्म है और वही धर्म दुर्गतिमें गिरते हुए इस आत्माको अपनी सामर्थ्यसे निकालकर सुखदायक मोक्षादि स्थानमें स्थापित करता है ।।९९।।

पहले पुनः पुनः संसारमें भ्रमण करते हुए मेरे लिये राज्य भोगादि विभूतिके बीचमें बोधि (ज्ञान) तथा समाधिको छोड़ कर और कोई वस्तु कुछ भी दुर्लभ नही थी। यदि दुर्लभ थी तो यही बोधि तथा समाधि ।।१००।। भव्यपुरुषोंको तीर्थंकर पदकी देनेवाली दर्शन-विशुद्धि, विनय, शीलव्रत आदि षोड़श भावना भानी चाहिये ।।१०१।। जीवमात्रमे मैत्री, अपनेसे जो गुणोंमें उत्कर्षशाली हैं उनमें प्रमोद (हर्ष), जो जीव आर्त्तिसे पीड़ित है उनमे करुणा भाव तथा जो अविनयी है उनमें मध्यस्थ भाव इस प्रकार ये चार भावनाएँ बुद्धिमान् पुरुषोंको मृत्युके अवसरमें क्या युक्तिपूर्वक नहीं भानी चाहिये ? अवश्य भानी योग्य है ।।१०२।। मुझे सबके साथ क्षमा भाव रखना चाहिये तथा वे सब मेरे साथ क्षमा-भाव रखें क्योंकि सब जीव ज्ञानस्वरूप है। इसलिये मुझे अपने मित्रके समान मानने चाहिये ।।१०३।। जिस प्रकार दरिद्र पुरुष धनवानको देखकर हर्षित होते हैं उसी तरह जो दो प्रकारकी आराधना सहित है तथा मूलगुण और उत्तर गुणोंसे युक्त हैं उन महात्मा पुरुषोंमें धर्मात्मा पुरुषोंको सदैव प्रमोदभाव रखना चाहिये ।।१०४।। रोग, शोक, दरिद्रता आदिसे जो जीव दुःखी हैं उनके दुःखोंके दूर करनेकी अभिलाषाको कारुण्य कहते हैं। धर्मात्माओंको यह

अतिमिथ्यात्विनः पापा मद्यमांसातिलोलुपाः ।
नाराध्या न विराध्यास्ते मध्यस्थमिति भाव्यते ॥१०६

जीवास्तु द्विविधा ज्ञेया मुक्ताः संसारिणोऽपरे । आद्या नित्यचिदानन्दा सम्यक्त्वादिगुणैर्युताः ॥१०७
अन्ये नारकतिर्यक्त्वनरदेवभवोद्भवाः । एतेषां योनिभेदास्तु लक्षाश्चतुरशीतिका ॥१०८
नारकाणां चतुर्लक्षास्तिरश्चां द्वयधिषष्टिका । नृणां चतुर्दश प्रोक्ताश्चतुर्लक्षा सुधाशिनाम् ॥१०९
नित्येतरनिगोताग्निपृथ्वीवार्वायुकाङ्गिनाम् । प्रत्येकं सप्तसप्तैता वृक्षाणां दशलक्षकाः ॥११०
षड्लक्षा विकलाक्षाणां पञ्चाक्षाणां चतसृकाः । एवमेकत्र निर्दिष्टा लक्षा द्वाषष्टि योनयः ॥१११
अशुद्धनिश्चयेनैते चेद्रागादिमयाः खलु । तथापि शुद्धद्रव्येण मुक्तवद्गुणिनोऽखिला ॥११२
अतो ज्ञानमयत्वात्ते समाराध्याः किलाङ्गिनः । भेदेन तेषु पञ्चैव परमेष्ठिन उत्तमा ॥११३
परमेऽप्युत्तमे स्थाने तिष्ठन्ति परमेष्ठिनः । ते चार्हत्सिद्ध आचार्यः पाठक साधुराख्यया ॥११४
स्वभावज्ञानजा मर्त्यविहिताऽतिशयान्वितः । प्रातिहार्यैरनन्तादिचतुष्केन युतो जिन ॥११५
सिद्धः कर्माष्टनिर्मुक्तः सम्यक्त्वाद्यष्टसद्गुणः । जगत्पुरुषमूर्द्धस्थ सदानन्दो निरञ्जन ॥११६
आचाराद्या गुणा अष्टौ तपो द्वादशधा दश । स्थितिकल्प षडावश्यमाचार्योऽमीभिरन्वितः ॥११७

कारुण्यभाव भी रखना चाहिये ॥१०५॥ जो लोग महामिथ्यात्वी है तथा जो मदिरा मांसादि अपवित्र पदार्थोंमें अत्यन्त लोलुप है ऐसे लोगोंकी न तो स्तुति करनी चाहिये और न उनसे विरोध ही करना चाहिये। इसे माध्यस्थ भाव कहते है। यह सदा भावने योग्य है ॥१०६॥ मुक्त जीव तथा संसारी जीव इस प्रकार जीवोंके दो भेद है। उनमे मुक्तजीव नित्य चिदानन्द स्वरूप तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे विभूषित है ॥१०७॥ संसारी जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव इस प्रकार चार भेद रूप है। इनके योनि भेद चौरासी लाख होते है ॥१०८॥ नारकी जीवोंके चार लाख, तिर्यञ्चोंके बासठ लाख, मनुष्योंके चौदह लाख तथा देवोंके चार लाख इस प्रकार सामान्यसे चौरासी लाख योनि भेद है ॥१०९॥ नित्यनिगोद सात लाख, इतरनिगोद सात लाख, अग्निकाय सात लाख, पृथ्वीकाय सात लाख, जलकाय सात लाख, वायुकाय सात लाख तथा वनस्पतिकाय दस लाख ये सब मिलाकर बावन लाख हुए ॥११०॥ तथा विकलेन्द्रियों (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रियों) के छह लाख और पञ्चेन्द्रियोंके चार लाख इस प्रकार ये सब मिलाकर (तिर्यञ्चों) के बासठ लाख भेद होते हैं ॥१११॥ अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे ये सब जीव रागादि स्वरूप है। परन्तु शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे सिद्धभगवान्के समान ही गुणी समझना चाहिये ॥११२॥ ये सब जीव ज्ञान स्वरूप है इसलिए तो सब ही आराधन करनेके योग्य है। परन्तु इनमें भेद करने से तो फिर पञ्चपरमेष्ठी ही उत्तम समझना चाहिये ॥११३॥ अब परमेष्ठी शब्दकी व्याकरण शास्त्रके अनुसार व्युत्पत्ति बताते है—परम अत्युत्तम स्थानमें जो रहनेवाले है उन्हे परमेष्ठी कहते हैं वे अर्हन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु नामसे प्रसिद्ध है ॥११४॥ दश, स्वभावसे (जन्मसे) उत्पन्न होनेवाले, दश, केवल ज्ञानके समयमें होनेवाले, चतुर्दश, देवताओंके द्वारा होनेवाले, आठ प्रातिहार्य तथा चार अनन्तज्ञान अनन्तदर्शनादि, इस प्रकार छयालीस अतिशयोंसे जो विभूषित है उन्हे अर्हन्त कहते है ॥११५॥ ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे रहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे विराजमान, लोकाकाशके ऊपर स्थित, सतत आनन्द मंडित तथा निरंजन (कर्ममलादि रहित) ऐसे सिद्ध भगवान् हैं ॥११६॥ दर्शनाचार, ज्ञानाचारादि पंच आचार, तीन गुप्ति, बारह प्रकार तपका स्थिति कल्प, आचेलक्यादि दश प्रकार तथा छह आवश्यक कर्म इन छत्तीस गुणोंके जो धारक

एकादशाङ्गसत्पूर्वचतुर्दशश्रुतं पठन् । व्याकुर्वन्पाठयन्नन्यानुपाध्यायो गुणाग्रणीः ॥११८
दर्शनज्ञानचारित्रत्रिकं भेदेतरात्मकम् । यथावत्साधयन्साधुरेकान्तपदमाश्रितः ॥११९
भजनीया इमे सद्भिः सम्यक्त्वगुणसिद्धये । स्नानपूजनसद्ध्यानजपस्तोत्रसदुत्सवैः ॥१२०
भव्यः पञ्चपदं मन्त्रं सर्वावस्थासु संस्मरन् । अनेकजन्मजैः पापैर्नि सन्देहं विमुच्यते ॥१२१
एकद्वयचतुःपञ्चषट्षोडशसवक्षरैः । स पञ्चत्रिंशतावर्णैर्वाक्यैर्मन्त्र जपेद् व्रती ॥१२२
पापोऽपि यत्र तन्मन्त्रं प्रान्ते ध्यायन्सुरो भवेत् । तत्र सम्यक्त्वपूतात्मा सदा ध्यायन्न किं जनः ॥१२३
चौरो रूपखुरो नाम शूलारूढोऽपि तत्पदम् । जिनदासोपदेशेन ध्यात्वा दैवीं गतिं ययौ ॥१२४
दत्तं नागश्रिया मन्त्रं मातङ्गचरकुक्कुरः । समादायाऽभवन्नागदेवः स्वाम्युपकारकृत् ॥१२५
गोपो विवेकहीनोऽपि पठन्पञ्च नमस्कृतीः । जातः सुदर्शनश्रेष्ठी चम्पायां यः सुदर्शनः ॥१२६

सिद्धाः सेत्स्यन्ति सिद्ध्यन्ति ये केचिदिह जन्तवः ।
सर्वे ते तत्पदं ध्यात्वा रहस्यमिति सूत्रजम् ॥१२७

होते हैं वे आचार्य कहे जाते हैं ॥११७॥ जो गुणश्रेष्ठ साधु स्वयं एकादशांग शास्त्र तथा चतुर्दश पूर्व शास्त्रोंको पढते है, व्याख्यान करते है तथा अन्य शिष्यवर्गको पढाते है वे परमेष्ठी है ॥११८॥ जो भेदात्मक और अभेदात्मक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका यथावत् साधन करनेवाले है तथा विजनप्रदेशमें निवेश करनेवाले है उन्हे साधु (मुनि) कहते है ॥११९॥ शिवसुखाभिलाषी पुरुषोंको—इन अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंकी अभिषेकसे, पूजनसे, ध्यानसे, जपसे, स्तुतिसे तथा उत्तम उत्सव-महोत्सवादिसे सेवा (पूजन) करनी चाहिये ॥१२०॥ जो धर्मात्मा भव्यपुरुष सभी अवस्थाओंमें सदा "णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" इस पंच महामन्त्र पदोंका चिन्तवन करते रहते है वे भव्यात्मा निःसन्देह अनेक जन्ममें उपार्जन किये हुए पापकर्मोसे विमुक्त हो जाते है ॥१२१॥ व्रती पुरुषोंको—एकाक्षरका (ॐ), दो अक्षरोंका (सिद्ध, असा, ॐ ह्रीं), चार अक्षरोंका (अरहन्त, असिसाहू), पाच अक्षरोंका (असिआउसा), छह अक्षरोंका (अरहन्त सिद्धा, अरहन्तसिसा, ॐ नमः सिद्धेभ्यः), सोलह अक्षरोंका (अरहन्त सिद्ध आयरिया उवज्झाया साहू) पैंतीस अक्षरोंका (णमो अरहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं) इस प्रकार मन्त्रोंका जप करना चाहिये ॥१२२॥ अहो ! जिस महामन्त्रका मरण समयमें स्मरण करनेसे पापी पुरुष भी देव होता है तो उसी मंत्रराजके ध्यानसे सम्यक्त्व विशुद्ध मानस क्या देव पर्यायको नही प्राप्त होगा ? निःसन्देह होगा ॥१२३॥ इसी महामंत्रका जिनदास श्रावकके उपदेशसे शूलीके ऊपर चढा हुआ रूपखुर नामका चौर भी ध्यान करके देवगतिको प्राप्त हुआ ॥१२४॥ पूर्व कालमे किसी चण्डालका पाला हुआ श्वान नागश्रीके द्वारा सुने हुए इसी महामन्त्रका चिन्तवन करके अपने स्वामीका उपकार करनेवाला नागदेव हुआ था ॥१२५॥ ज्ञानहीन गुवाल भी इसी पंचनमस्कार महामंत्रके स्मरण करनेसे चम्पापुरीमे सुदर्शन नामका सेठ हुआ था। अहो ! वास्तवमें वह सुदर्शन (देखनेमें सुन्दर) था ॥१२६॥ अधिक कहाँतक कहे किन्तु यों समझिये कि—इस संसार मे जितने आत्मा पूर्व समयमे सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए है, आगामी कालमें होंगे तथा वर्तमान समयमें होनेवाले है वे सब इसी पंचत्रिंशताक्षरात्मक महामंत्रराजके ध्यान करनेसे हुए हैं, होंगे तथा होनेवाले है। इस मंत्रके विषयमें विशेष क्या कहा जाय ? यह जिनसूत्रका रहस्य है, ॥१२७॥

**अर्हत्सिद्धौ समाराध्यौ तेषु पञ्चसु भेदतः । सदाप्तत्वं यदाप्तौ निरावरणबोधिनौ ॥१२८
तत्राऽपि भेदतः सिद्धः समाराध्यो विशेषतः । नित्यत्वान्निष्कलत्वाच्च सर्वकर्मक्षयत्वतः ॥१२९
ध्यानं यदर्हदादीनां सालम्बं तन्निगद्यते । सरागर्षिगृहस्थानां साधनं तस्य दर्शितम् ॥१३०
कदाचिद्वीतरागाणां दुर्ध्यानापोहनाय वै । सालम्बं तत्स्मृतं ध्यानं गौणत्वेन शुभाश्रवात् ॥१३१
आद्यसंहननोपेता निःकषाया जितेन्द्रियाः । रागद्वेषविनिर्मुक्ता परीषहभटाजिताः ॥१३२
पर्यङ्काद्यासनाभ्यस्तास्तन्द्रनिद्राविवर्जिताः । इत्यादिगुणसम्पन्ना योगिनो ध्यानसिद्धये ॥१३३
धारणा यत्र काचिन्न न मन्त्रपदचिन्तनम् । मनःसङ्कल्पनं नास्ति तद्ध्यानं गतलम्बनम् ॥१३४
आत्मानमात्मनात्मानं निरुध्यात्मस्थितो मुनिः । कृतात्मात्मगतं ध्यायेत्तन्निरालम्बमुच्यते ॥१३५**

**गते मनोविकल्पेऽस्य यो भावः कोऽपि जायते ।
स एवाऽऽत्मस्वतत्त्वं च शून्यध्यानं च तन्मतम् ॥१३६**

अभेद एक एवाऽऽत्मा भेदे च त्रितयात्मकः । दर्शनज्ञानचारित्रं दाहकादित्रिधाग्निवत् ॥१३७

ऊपर जो हम पञ्चपरमेष्ठीके पाँच विकल्प कर आये है उनमे अरहन्त तथा सिद्धजिन निरन्तर आराधन करनेके योग्य है। क्योकि—ये दोनों आप्तत्व (देवत्व) स्वरूपके धारक है तथा ज्ञानावरणादि कर्मोके आवरणसे रहित है और सर्वज्ञ (त्रिभुवनवर्ती समस्त वस्तुओंको एक समयमें जाननेवाले , है ॥१२८॥ अरहन्त तथा सिद्धमे भी विशेषपने सिद्ध भगवान् समाराधन करने योग्य है क्योकि—सिद्धभगवान् नित्य हैं अविकल है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय आदि आठ कर्मोको क्षय कर चुके है ॥१२९॥ इन अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंका जो ध्यान करना है उसे सालम्बध्यान कहते है। वह सालम्ब ध्यान सराग मुनि तथा गृहस्थोके साधन करने योग्य है ॥१३०॥ यदि किसी समय वीतरागी मुनियोंके भी आर्त्त रौद्रादि दुर्ध्यान होने लगे तो उसके नाश करनेके अर्थ यह सालम्ब (अर्हन्तादिका स्मरण रूप) ध्यान—शुभ (पुण्य) कर्मके आश्रयका हेतु होनेसे गौणरूपसे माना गया है ॥१३१॥ वज्रवृषभ-नाराच संहननके धारक; क्रोध मान माया लोभादि कषायोंसे विनिर्मुक्त, इन्द्रियोके जीतनेवाले, राग तथा द्वेषरहित, परीषह रूप भट पुरुषोंके वश न होनेवाले (परीषहोंके जीतनेवाले), पद्मासन तथा खड्गासन आदि ध्यानासनोंके जाननेवाले, आलस्य तथा निद्राके अधीन न होनेवाले इत्यादि उत्तम गुणोंसे शोभमान साधु लोग ही ध्यानकी सिद्धिके लिए योग्य है ॥१३२-१३३॥ जिस ध्यानमें न तो किसी प्रकारकी धारणा है न किसी प्रकारके मन्त्रादिका चिन्तवन है और न मनका संकल्प है उसे आलम्ब-रहित (निरालम्ब) ध्यान कहते है ॥१३४॥ अपने स्वभावमे स्थिर जो साधु आत्माको आत्माके द्वारा रोकते है तथा आत्माको आत्मामें लगाकर ध्यान करते है उसे भी निरालम्ब ध्यान कहते हैं ॥१३५॥ मनका विकल्प मिट जानेपर साधु पुरुषोंका जो अवर्णनीय भाव होता है उसे आत्माका स्वतत्त्व कहते है तथा उसे ही शून्यध्यान भी कहते है ॥१३६॥ अभेद विवक्षसे यह आत्मा एक ही है और भेद विवक्षासे दर्शन ज्ञान तथा चारित्र इन भेदोंसे त्रितयात्मक है। इसी बात को दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते है। यदि वास्तवमे विचारा जाय तो दाहात्मक शक्ति अग्निसे भिन्न नहीं है। जो अग्नि है वही दाह है और जो दाह है वही अग्नि है। परन्तु भेद विवक्षाको लेकर "वह्निर्दहति दाह्याऽऽत्मशक्त्या" अर्थात्—अग्नि अपनी दाह शक्तिसे जलाती है ऐसा प्रयोग होता है। उसी प्रकार आत्मा अभेद विवक्षासे दर्शन ज्ञान तथा चारित्र रूप है इनसे

आत्मनो दर्शने दृष्टिर्ज्ञाने ज्ञानं च योगिनः। स्वरूपाचरणे प्रोक्तं चारित्रं विश्वदर्शिभिः ॥१३८
इत्येतदाऽऽत्मनो रूपं ध्यात्वा चाऽन्तर्मुहूर्ततः। कर्माणि भस्मसात्कृत्य तदनुज्ञानभाग्भवेत् ॥१३९
तपः करोतु चारित्रं चिनोतु पठतु श्रुतम्। यावद्ध्यायेन्न चात्मानं मोक्षस्तावन्न जायते ॥१४०
तद्ध्यानं तु गृहस्थानां जायते न कदाचन। शशानां शृङ्गवत्कच्छपानां रोमप्रचायवत् ॥१४१
अतस्तद्भावना कार्या परोक्षं श्रावकैः सदा। सिद्धौ यादृग्वसेत्सिद्धस्तादृक्कायेऽस्मि निर्मलः ॥१४२
सिद्धोऽहमस्मि शुद्धोऽहं ज्ञानादिगुणवानहम्। काये वसन्नसंख्यातप्रदेशोऽहं निरञ्जनः ॥१४३
देहे वसंस्ततो भिन्नः काष्ठे वह्निरिवाऽनिशम्। सम्यगात्मनि संप्राप्ते क्षयं कर्त्तास्मि तस्य तु ॥१४४
इति भावनया चक्री राज्यं भुक्त्वा च मुक्तवान्। लोचानन्तरमेवाऽसौ केवलज्ञानमापिवान् ॥१४५
यथाऽर्हदादयः पञ्च ध्येया धर्मादयस्तथा। चत्वारो देवताभ्यस्तु नवभ्यो मे नमः सदा ॥१४६
चत्वारो देवता एते जिनधर्मो जिनागमः। जिनचैत्यं जिनावास आराध्या सर्वदोत्तमैः ॥१४७

जिनादौ भक्तिरेकास्तु किमन्यैः संयमादिभिः।
विघ्नानुच्छिद्य या दोग्धि सर्वान्कामानिहामुतः ॥१४८

भिन्न आत्मा नहीं है किन्तु भेद विवक्षासे आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे पृथक् है ॥१३७॥ अनिश्चय रत्नत्रयका स्वरूप कहते हैं—सर्वज्ञ भगवान्‌ने साधु पुरुषोंका—अपने आत्माके श्रद्धानको दर्शन, आत्माके ज्ञानको ज्ञान तथा आत्मामें आचरण करनेको चारित्र कहा है ॥१३८॥ इस प्रकार आत्माके रूपका ध्यान करके तथा अन्तर्मुहूर्त मात्रमें कर्मोंको दग्ध करके तत्पश्चात् यह आत्मा केवलज्ञानका भोगनेवाला होता है ॥१३९॥ चाहे तपश्चरण करो! चाहे व्रतादि धारण करो! चाहे शास्त्रोंका परिशीलन करो! किन्तु जब तक आत्माका ध्यान न किया जायगा तबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी ॥१४०॥ यह निरालम्ब ध्यान गृहस्थ लोगोंको कभी नहीं होता है। इसी बातको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते है कि—जिस प्रकार शशक (खरगोश) के शृंग नही होते है तथा कछुवोंके केश नही होते है उसी तरह यह शून्यध्यान भी गृहस्थोंके नहीं होता है ॥१४१॥ इसलिए गृहस्थोंको परोक्षमें निरन्तर इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिये कि—"मोक्ष स्थानमें जिस प्रकार कर्ममल-रहित शुद्ध सिद्ध भगवान् निवास करते हैं उसी प्रकार मैं भी इस शरीरमें उन्हींके समान निर्मल हूँ" ॥१४२॥ मैं शरीरमें रहता हूँ तो भी—सिद्ध हूँ, शुद्ध (पवित्र) हूँ, ज्ञानादि गुणका धारक हूँ असख्यात प्रदेशी हूँ तथा अंजन रहित हूँ ॥१४३॥ जिस प्रकार काष्ठमे अग्नि पृथक् रहता है उसी प्रकार शरीरमें रहकर भी मै उससे भिन्न हूँ और आत्मामें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर शरीरका नाश करनेवाला भी हूँ ॥१४४॥ इस प्रकार आत्मभावनासे महाराज भरतचक्रवर्त्तीने राज्यका उपभोग करके उसे छोड़ दिया और केशलौंच करने के अनन्तर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया ॥१४५॥ जिस प्रकार पंच परमेष्ठी ध्यान करनेके योग्य हैं उसी प्रकार जिन धर्मादि चार और भी ध्याने योग्य है। इन नव ही देवताओंके लिए मेरा निरन्तर नमस्कार हो ॥१४६॥ जिनधर्म, जिनागम (जैनशास्त्र), जिनप्रतिमा तथा जिनालय ये चार देवता हैं। बुद्धिमानोंको—निरन्तर इनका आराधन करना चाहिये ॥१४७॥ अहो! पंच परमेष्ठीमें एक अविचल भक्ति होना ही अच्छा है और संयमादिसे विशेष क्या साध्य है? क्योंकि एक भक्ति ही ऐसी है जो सर्व विघ्नोंका नाश करके इह लोक तथा परलोकमें मनोऽभिलषित वस्तुओंकी देनेवाली है ॥१४८॥ जो मुनि-शास्त्रोचित समयमें 'अध्ययन करना' आदि आठ

पञ्चधा वाचनामुख्यं स्वाध्यायं विदधन्मुनिः । सत्कालाध्ययनाद्यष्टशुद्धया स्याद्व्रतपारगः ॥१४९

खण्डश्लोकैस्त्रिभिः कुर्वन्स्वाध्यायं चात्मना कृतैः ।
ऋषिनिन्दाप्रजाड्योऽपि यमोऽभूत्सप्तर्द्धिभाक् ॥१५०

स्तोकामपि त्वहिंसां यः कुर्याद्दोदूयते न सः । रुजा यः किं पुनः सर्वां स सर्वा न रुजः क्षिपेत् ॥१५१
यमपालो ह्रदेऽहिंसन्पर्वाहं महितोऽसुरैः । धर्माख्यस्तत्र मेषघ्नो भक्षितः शिशुमारकैः ॥१५२
मा कृथाः कामधेनुं गामसत्यव्याघ्रसम्मुखीम् । स्तोकोऽप्यत्र मृषावादो नाना दुःखाय जायते ॥१५३
अजैर्होतव्यमत्रेति धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति । वाच्यं छागैरिति परावर्त्याऽऽयान्निरयं वसु ॥१५४

चुरांस्तान् तदभिध्यापि न कार्या जातुचित्त्वया ।
गृह्णन्परस्वं तत्प्राणाञ्जिहीर्षन्हन्ति च स्वकम् ॥१५५

मुषित्वा निशि कौशाम्बीं दिने पञ्चाग्निमाचरन् । परिव्राट् शिक्यकारूढोऽधोऽगाद्दुर्मृतेर्नृपात् ॥१५६

प्रकारकी शुद्धि पूर्वक वाचना नाम स्वाध्यायको प्रधानतासे उपयोगमें लाकर पांच प्रकार स्वाध्याय करते है उन्हे ही व्रतके पारगामी समझना चाहिये ॥१४९॥ मुनि लोगोंकी निन्दा करनेसे जिसे मूर्खता प्राप्त हुई ऐसा यम नामका कोई राजा—अपने बनाये हुए तीन खंडित श्लोकोंका ही स्वाध्याय करनेसे सप्तऋद्धिका उपभोग करनेवाला हुआ ॥१५०॥ अहो! जो पुरुष थोड़ा भी अहिंसा व्रतका पालन करता है वह भी जब रोगसे पीड़ित नही होता है फिर जो सर्व प्रकार अहिंसा व्रतका दृढ़ता पूर्वक पालन करेगा वह सर्व पीड़ाओंका क्या नाश नहीं करेगा ? अवश्य करेगा ॥१५१॥ किसी सरोवरमें हिंसा न करनेवाला यमपाल तो जल देवताके द्वारा सत्कार किया गया और उसी जगह्—बकरेका मारनेवाला धर्म नामका व्यक्ति मछलियोंके द्वारा खाया गया ॥१५२॥ हे भव्य ! तुम अपनी वाणीरूप कामधेनुको असत्यरूप व्याघ्रके सामने मत करो ! क्योंकि—थोड़ा भी झूठ बोलना इस संसारमें अनेक प्रकारके दुःखोंका कारण होता है ॥१५३॥ **भावार्थ**—कामधेनु मनोभिलषित वस्तुकी देनेवाली होती है उसी प्रकार सत्य वाणीको भी कामधेनुके समान इच्छित वस्तुका देनेवाला समझकर उसे असत्य रूप सिंहके सामने कभी मत करो। (कभी झूठ मत बोलो) क्योंकि जिस प्रकार व्याघ्र गायको भक्षण कर लेता है उसी प्रकार तुम्हे सत्यवचन रूप कामधेनुका असत्यरूपी व्याघ्र घात कर डालेगा। पुनः इसी असत्यसे तुम्हे संसारमें अनेक प्रकार के दुःख देखने पडेंगे। पर्वत और नारदके विवादमें सत्यवादी महाराज वसु असत्यपक्षको अच्छा बताकर उसी समय नरक धाम सिधारे, यह कथा प्रसिद्ध है। उसीका सारांश इस श्लोकमें दर्शाया गया है—"अज" से हवन करना चाहिये इस स्थलमें एकका तो कहना था कि अज (तीन वर्षके पुराने धान्य) से हवन करना चाहिये। इसपर पर्वतका कहना था—यह अर्थ ठीक नहीं है किन्तु अज (छाग-बकरे) से हवन करना चाहिये। नारद और पर्वतके इस विवादमें मध्यस्थ वसु भूपतिने कहा कि—"छागैर्वाच्यमिति" अर्थात्—बकरेको मारकर यज्ञ करना चाहिये। इस प्रकार अर्थको पलटनेसे वह उसी समय नरकवासी हुआ ॥१५४॥ हे पुरुषोत्तम ! तुम्हे चोरीका चिन्तवनतक भी कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि—दूसरोंके धनको चुरानेवाला उसके प्राणोंके हरणको इच्छा करता हुआ स्वतः अपना भी नाश कर लेता है ॥१५५॥ कौशाम्बी नाम नगरीमें रात्रिके समय चोरी करके और दिनमें सीकेपर बैठकर पंचाग्नि तपश्चरण करनेवाला कोई संन्यासी साधु अपने पापके प्रकट हो जानेसे राजाके द्वारा शूली दिया जाकर नरक गया ॥१५६॥ प्रतिनारायण रावण

मनसा खण्डयन्शीलं दशास्यः प्रतिकेशवः । सीतायां लक्ष्मणान्मृत्वा जगाम वालुकाप्रभाम् ॥१५७
अन्येऽपि भूरिशो यत्र गृहस्थाश्च तपोधनाः । स्खलित्वा दुःखिनो जातास्तच्छीलं दृढमाचरेः ॥१५८
चेतनाश्चेतनाः सङ्गा बाह्याऽभ्यन्तरतो द्विधा । भ्रमतस्ते पुराऽभूवन्न ये ते न जगत्त्रये ॥१५९
कूटेष्टस्य स्मरं स्मश्रुनवनीतस्य दुर्मृतिम् । मोपेक्षां त्वं कुरु ग्रन्थे मूर्च्छतो मनसः क्वचित् ॥१६०
क्रोधाद्याविष्टचित्त. प्रागमुनिर्द्वीपायनादिक. । फलयोग्यं तपोवृक्षं भस्मसात्कृतवान्क्षणात् ॥१६१
कषायस्नेहवानात्मा कर्म बध्नात्यनेकधा । स्निग्धो घटो रजो वा यत्तस्त्याज्यो यत्नतो हि सः ॥१६२
ज्वलन्तं संयमारामे कषायाग्निं शमाम्बुभिः । विध्यापय यशश्छाये निर्वाणफलदायके ॥१६३
स्पर्शाद् गजो रसान्मीनो गन्धात्षट्चरणः क्षयम् । रूपान्मुधा पतङ्गोऽगात्सारङ्गः शब्दमोहितः ॥१६४
एकैकविषयादेव दुःख्यभूत्संवतो न कः । महानुभाव ! मत्वेति तद्वशं त्वं कुरुष्व मा ॥१६५
अनुकूले समुत्पन्ने तस्मिन् रागं विधेहि मा । प्रतिकूलेऽन्यथा भावमिति गोचरनिग्रहः ॥१६६
जयार्थी गोचराणां यः स जयेत्प्राग्निजं मनः । नायके हि जिते सर्वा पृतना विजिता भवेत् ॥१६७

केवल मनके संकल्प मात्रसे अपने ब्रह्मचर्यको जनकनन्दिनीके सम्बन्धमें खंडित कर और लक्ष्मणके द्वारा मृत्युको प्राप्त होकर तीसरे वालुकाप्रभानामक नरकमें गया ॥१५७॥ और भी कितने गृहस्थ तथा तपस्वी (साधु) इस ब्रह्मचर्यसे च्युत होकर दुःखी हुए हैं, इसलिए इस ब्रह्मचर्य व्रतका अखण्डरीतिसे रक्षण करो !!! यही व्रत दुःखोंसे तुम्हें बचावेगा ॥१५८॥ बाह्य तथा आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकार ये चेतन तथा अचेतन परिग्रह—इस संसारमें भ्रमण करते हुए तुम्हें पहले कभी प्राप्त न हुए हों ऐसा नहीं है किन्तु अवश्य कितनी ही बार प्राप्त हुए हैं ॥१५९॥ कूटेष्ट तथा स्मश्रुनवनीत आदिको इसी परिग्रहके लोभसे खोटी मृत्युका स्मरण करते हुए तुम—परिग्रहमें मूर्च्छाको प्राप्त होनेवाले अपने मनकी उपेक्षा कभी मत करो (परिग्रहमें मनको आसक्त मत होने दो)। नहीं तो जिस प्रकार श्मश्रुनवनीत आदिकोंकी बुरी गति हुई है उसी प्रकार तुम्हें भी दुर्गतिका पात्र होना पड़ेगा ॥१६०॥ क्रोध, मान, माया आदि कषायोंसे जिनका आत्मा आविष्ट था ऐसे द्वीपायनादि कितने ही मुनियोंने कल्याण रूप फलके देने योग्य अपने तपश्चरण वृक्षको क्षणमात्रमें क्रोधादि वह्निके द्वारा भस्मसात् कर दिया ॥१६१॥ क्रोध मान माया लोभादि कषाय तथा अनुराग युक्त आत्मा नियमसे अनेक प्रकारका कर्म बन्ध करता है। जिस प्रकार सचिक्कण घट (कलश) धूलीका बन्ध करता है (चिकने घड़ेपर धूल चिपक जाती है)। इसलिए प्रयत्नपूर्वक क्रोधादि छोड़ने योग्य हैं ॥१६२॥ निखिल संसारमें कीर्त्तिका विस्तार होना हो जिसकी छाया है तथा जो मोक्षरूप फलका देनेवाला है ऐसे संयम रूप उपवनमें जलती हुई कषाय वह्निको शान्त स्वभावरूप नीरसे बुझाओ ॥१६३॥ स्पर्शन इन्द्रियके वशवर्त्ती होकर हाथी, रसना इन्द्रियके आधीन होकर मत्स्य, गन्धके वश होकर मधुकर (भ्रमर), नयन इन्द्रियकी आसक्तिसे पतंग तथा शब्दके श्रवणमें मोहित होकर मृग ये सब एक-एक इन्द्रियके वशवर्त्ती होकर नष्ट होते हैं ॥१६४॥ इस संसारमें ऐसा कौन है जो इस प्रकार एक-एक विषयको वश वर्तितासे दुःखी न हुआ हो ? इसलिए हे महानुभाव ! तुम्हें चाहिये कि—इन विषयोंके वश न होओ ॥१६५॥ अपने अनुकूल यदि तुम्हें कोई विषय प्राप्त होवे तो उसमें प्रीति मत करो तथा कोई बात प्रतिकूल (विरुद्ध) देखो तो उसमें द्वेष मत करो ! क्योंकि—इष्ट वस्तुमें अनुराग न करनेको तथा अनिष्ट वस्तुमें द्वेष न करनेको ही तो विषय जीतना कहते हैं ॥१६६॥ जो लोग यह चाहते हैं कि—हम पंचेन्द्रियों के विषयको जीतें (अपने अधीन कर लें) उन्हें पहले अपना मन वश करना चाहिये। क्योंकि—

२५

पश्याहो ! नरकं प्राप्तः शालिर्मानसदोषतः । मुनिनेति विबुध्येदं कार्यं चित्तनिरोधनम् ॥१६८
अस्यानेके गुणाः सन्ति कृते चित्तनिरोधने । जलसेके तरोः पत्रशाखापुष्पफलानि वा ॥१६९
श्रुतक्रीडावने स्वान्तमर्कटं रामयत्वतः । नियन्त्र्य चञ्चलं ज्ञानवैराग्यशृङ्खलेन वै ॥१७०
श्रौतस्कन्धीयवाक्यं वा पदं वाऽक्षरमेव वा । यत्किञ्चित्स्वदते तत्राऽऽलम्ब्य चित्तं नय क्षयम् ॥१७१
श्रुतेन शुद्धमात्मानं स्वसंवित्त्या प्रगृह्य च । आराध्य तल्लयापास्तचिन्ता भूत्वा व्रजामृतम् ॥१७२
सन्न्यासः परमार्थेन निश्चयज्ञैः स हि स्मृतः । विन्यासः स्वस्वरूपे यो विकल्पातीतयोगिनः ॥१७३
यदा परीषहः कश्चिदुपसर्गोऽथवा मनः । क्षिपेत्तस्य तदा ज्ञानसारैर्निर्यापको हरेत् ॥१७४
नरकादिगतिष्वद्य यावत्तप्तोऽसुखाग्निभिः । त्वमङ्गसङ्गतः साधोऽविशञ्ज्ञानामृताम्बुधौ ॥१७५
अधुना समुपात्तात्मकायभेदस्य साधुभिः । भक्त्याऽनुगृह्यमाणस्य किं दुःखं प्रभवेत्तव ॥१७६
जडाः शरीरमारोप्य स्वस्मिन्दुःखं विदन्त्यहो । आत्मनस्तत्पृथक्कृत्य भेदज्ञा आसते सुखम् ॥१७७
पराधीनेन दुःखानि भृशं सोढानि जन्मनि । त्वयाऽद्यात्मवशः किञ्चिन्निर्जरायै सहस्व भोः ॥१७८
स्वं ध्यायन्नात्तसन्न्यासो यावत्त्वं संस्तरे वसेः । क्षणे क्षणे प्रभूतानि तावत्कर्माणि निर्जरेः ॥१७९

जिसने सेनाके स्वामीको जीत लिया है समझो कि उसने सारी सेना ही जीत ली है ॥१६७॥ अहो ! देखो इसी मनके दोषसे शालि नाम कोई मानव नरकमें गया। इस प्रकार मनके वश न करनेको हानिकारक समझकर साधु लोगोंको पहले अपना मन वशमें करना चाहिये ॥१६८॥ इस चित्तके रोकने (वश करने) पर मुनियोंको कितने ही गुण प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार वृक्षका जलसे सिंचन करनेसे उसमें पल्लव, शाखा, सुमन तथा फलादि समुद्भूत होते हैं ॥१६९॥ अपने मन रूप चंचल बानरको ज्ञान तथा वैराग्य रूप शृंखला (सांकल) से बांधकर शास्त्र रूप केलि काननमें अच्छी तरह रमाना चाहिये ॥१७०॥ हे उपासक ! द्वादशाङ्ग शास्त्रके किसी एक वाक्यका अथवा नमस्कारादि महामन्त्र रूप पदका अथवा "ॐ" इस अक्षरका जो तुम्हें रुचिकर हो उसका अवलम्बन करके अपने मनको वश करो ॥१७१॥ हे क्षपक ! पहले स्वसंवेदन (आत्मानुभव) से अपने आत्माका चित्स्वरूप निश्चय करके तथा श्रुतज्ञानसे वह रागद्वेषादिरहित है इस प्रकार भावनासे चिन्तारहित होकर मोक्षको प्राप्त होओ ॥१७२॥ विकल्प-रहित योगीके अपने आत्म-स्वभावमें लीन होनेको निश्चयके ज्ञाताजनोंने परमार्थसे सन्यास कहा है ॥१७३॥ यदि किसी समय कोई परीषह अथवा उपसर्गादि उस समाधिशील साधुके मनको क्षोभित करे तो उस समय निर्यापकाचार्यको चाहिये कि ज्ञान सम्बन्धी वचनोंके द्वारा उसके परीषहादिको दूर करे ॥१७४॥ हे साधो ! इस शरीरके संसर्गसे ज्ञानरूप पीयूषपयोधिमें कभी प्रवेश न कर तुम केवल दुःखरूप अग्निसे आजतक नरकादि कुगतियोंमें सतप्त हुए हो ॥१७५॥ इस समय तो तुम्हे आत्म तथा शरीरकी भिन्नता मालूम हो गई है तथा साधु लोग भक्तिपूर्वक तुम्हारेपर अनुग्रह करते हैं तो क्या अब तुम्हे किसी तरहका दुःख हो सकता है ? कभी नही ॥१७६॥ अहो ! यह कितने आश्चर्य की बात है कि मूर्ख लोग तो अपने आत्मामें शरीरका आरोप करके (शरीर ही को आत्मा समझ कर) दुःखको प्राप्त होते है और आत्मा तथा शरीरके भेदको जाननेवाले बुद्धिमान पुरुष अपने आत्मासे शरीरको भिन्न करके सुखको प्राप्त होते है ॥१७७॥ हे साधो ! तुमने पराधीन अवस्थासे संसारमे अनेक दुःख सहे हैं इसलिये अब आत्मवशवर्त्ती होकर कर्मोकी निर्जराके लिए इस समय भी कुछ दुःख सहन करो ॥१७८॥ अपने आत्माका ध्यान करते हुए संन्यास पूर्वक जबतक तुम संस्तर (शय्या) पर रहोगे तबतक प्रतिक्षण प्रचुर कर्मनिर्जराको प्राप्त होते रहेंगे ॥१७९॥ यदि

नाभेयाद्यान्क्षुधापृष्ठपरीषहजये स्मर । तीव्रोपसर्गविजये शिवभूत्यादिकान्मुनीन् ॥१८०
तार्णापूलमहापुञ्जे प्रोड्डायोपरिपातिते । पवनैः शिवभूतिः स्वं ध्यात्वाऽऽसीत्केवली द्रुतम् ॥१८१
श्रीवर्द्धनकुमारादिद्वात्रिंशत्पुरुषोघटा । ललिताद्याः सरित्पूरात्स्वं ध्यात्वा सुगतिं श्रिताः ॥१८२
मुनिर्गजकुमारोऽपि पञ्चकीलैः प्रकीलितः । विप्रमामेन साम्येन निश्चलो मुक्तिमीयवान् ॥१८३

न्यस्याङ्गेषु धिया भोष्या ज्वलिता लोहशृङ्खलाः ।
कौन्तेया ध्यानतः सिद्धा द्विषद्भिः कीलिताङ्घ्रयः ॥१८४

शिरीषपुष्पमृद्वङ्गो भक्ष्यमाणो दयातिगम् । शिवया सुकुमारोऽसूंस्तत्याज समतां न हि ॥१८५
जननीचरया व्याघ्र्या कोशलो द्वेषतो गिरौ । दशनैर्दश्यमानोऽपि ध्यानात्केवलमाविवान् ॥१८६
निःकारणं कृतैर्दुःखैः क्रुद्धभूतैस्तपस्विषु । भग्नेष्वलस्ततोऽमुञ्चत्प्राणान्विद्युच्चरः शमी ॥१८७
व्यन्तर्याऽभयया शुद्धशीलो मुनिसुदर्शनः । कृतोपसर्गान्सोढ्वाऽभूदन्तकृत्केवली तथा ॥१८८
इत्यचिन्नृपशुस्वर्ग्युपसृष्टाऽक्लिष्टचेतसः । अन्येऽपि बहवो धीराः किलार्थं स्वमसाधयन् ॥१८९
तत्क्षपकत्वमप्यङ्ग ! संलीय स्वात्मनि ध्रुवम् । मुञ्चाङ्गमन्यथा नाना भवक्लेशान्सहिष्यसे ॥१९०
शुद्धः स्वात्मैव चाऽऽदेयश्चिदानन्दमयो रुचिः । दृष्टिरित्याश्रसौ तस्य स्वानुभूत्या पुरादितः ॥१९१

तुम क्षुधा पिपासादि प्रधान परीषहोंको जीतना चाहते हो तो तब तो आदिजिनेन्द्र आदिका ध्यान करो । और यदि तीव्र उपसर्गका जय करना चाहते हो तो शिवभूति आदि महामुनियोंका निरन्तर हृदयमें आराधन करो ॥१८०॥ पवनसे उड़ाया हुआ बहुत बड़ा तृण पूलोंका समूह शिवभूति मुनिके ऊपर गिरा तो भी वे अपने आत्माका ध्यान करके बहुत शीघ्र केवलज्ञानी हुए ॥१८१॥ श्रीवर्द्धनकुमार प्रभृति बत्तीस मुनियोंका समूह तथा ललितादि मुनि नदीके प्रवाहमें बहते हुए भी अपने आत्मध्यानसे सुगतिको प्राप्त हुए ॥१८२॥ ब्राह्मण श्वसुरके द्वारा—पांच कीलों से प्रकीलित गजकुमार मुनिराज अपने अविचल साम्यभावसे मोक्षको प्राप्त हुए ॥१८३॥ शत्रु लोगोंने ये भूषण है ऐसा कहकर जलती हुई लोहमयी शृंखलायें जिनके शरीरमें पहना दीं तथा जिनके चरणोंको कील दिया तो भी पाण्डव लोग आत्मध्यानमें तत्पर होकर सिद्ध पदको प्राप्त हुए ॥१८४॥ शिरीषपुष्पके समान अतिशय कोमल अङ्गके धारक अवन्तिसुकुमारके शरीरको पूर्वजन्मके वैरानुबन्धसे शृगालीने निर्दयता पूर्वक भक्षण किया, तब उस धीरने अपने प्राणोंको छोड़ दिया परन्तु धैर्यको नहीं छोड़ा ॥१८५॥ अहो ! देखो संसारकी लीला, जो पूर्व भवमें खास माता थी उसी माताने जनन्तान्तरके द्वेषसे अपने दाँतोंसे अपने पुत्रका भक्षण किया, तो भी कोशल मुनिने अपने धैर्यको न छोड़ा और आत्मध्यानसे केवलज्ञानको प्राप्त हुए ॥१८६॥ निष्प्रयोजन क्रोधाविष्ट व्यन्तरदेवादिके द्वारा दिये हुए दुःखोंसे तपस्वी लोगोंके इधर-उधर भागनेपर भी विद्युच्चरने आत्मध्यानमें लीन होकर प्राणोंको छोड़ा ॥१८७॥ अभयानाम व्यन्तरीके द्वारा किये हुए घोर उपसर्गोंको सहन करके शुद्धस्वामी सुदर्शनमुनि अन्तकृत्केवली हुए ॥१८८॥ इस प्रकार अचेतन, मनुष्य, पशु तथा देव आदिके द्वारा किये हुए उपसर्गोंसे भी जिनका चित्त कभी विचलित नहीं हुआ है ऐसे और भी कितने धैर्यशाली महात्माओंने अपने आत्माकी साधना की है ॥१८९॥

हे क्षपक साधो ! अब तुम अपने आत्मामें लीन होकर इस शरीरको छोड़ो । यदि अब भी शरीरके छोड़नेमें प्रयत्नशील न होओगे तो तुम्हें अनेक प्रकार संसारमें दुःख सहन करना पड़ेंगे ॥१९०॥ शुद्ध चिदानन्द स्वरूप अपना आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है इस प्रकारकी प्रीतिको

पृथक्त्वेनानुभवनं संवित्तत्रैव तृप्तितः । अतीवान्तर्लयं प्राप्ते स्थितिश्चर्यात्मनो मता ॥१९२
भेदरत्नत्रयाधीनस्वात्मानं विद्धि तन्मयम् । परमं तपनीयं वा स्निग्धत्वादिगुणान्वितम् ॥१९३
अल्पशोऽपि परद्रव्ये वाञ्छां विनिवार्य श्रुतपरः शश्वत् ।
स्वात्मानं प्रतपसि निरन्तरं तपसि तत्तपसि ॥१९४
निराशत्वात्तनैः सङ्गत्यलब्धसाम्यसहायकः । निर्विकल्पसमाधिस्थः पिबाऽऽमोदाऽऽमृतं स्थिरः ॥१९५
संन्यस्येति कषायवद्वपुरिदं निष्णातसूरेर्विधौ न्यस्तात्मा यतिराट्तदीयमुररीकुर्वंश्च लिङ्गं परम् ।
सद्दृग्बोधचरित्रभावनमयो मुक्तेः समीहाकरो
हित्वाऽसून् गुरुपञ्चकस्मृतिशिवी स्यादष्टमे जन्मनि ॥१९६
सम्यग्दर्शनबोधवृत्ततपसां संभाव्य चाराधनां
बाह्याभ्यन्तरसङ्गभङ्गकरणादुत्कृष्ट आराधकः ।
क्षिप्त्वा मोहरजोन्तरायकरिपून्ध्यानेन शुक्लेन वै
प्राप्यार्हन्त्यमनुत्तरं शिवपदं याति ध्रुवं तद्भवे ॥१९७
प्रान्ते चाराध्य कश्चिद्विधिवदुरुबलः साधुसिंहोऽप्रमत्त-
स्तत्त्वश्रद्धानबोधाविरतिपरिहृतीसत्तपोभिश्चतुर्धा ।
कृत्वा पापस्य रोधं गलनमपि शुभध्यानयोगाद्विहाय
प्राणान्सर्वार्थसिद्धिं श्रयति सुखमयीं मध्यमः सिद्धिकामः ॥१९८

सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसी आत्माका अपने आत्मानुभवसे शरीरादि वस्तुओंसे भिन्न अनुभव करनेको सम्यग्ज्ञान कहते है, तथा उसी आत्मामें—अत्यन्त वैराग्यसे अन्तःकरणके लीन होने पर जो आत्माकी स्थिति है यही सम्यक् चारित्र है, इस अभेद रत्नत्रयकी भावना करो ॥१९१-१९२॥ हे उपासक ! भेदरूपसे रत्नत्रयाधीन अपने आत्माको भी रत्नत्रयस्वरूप ही समझो ! क्योंकि—सुवर्ण यद्यपि स्निग्धगुण तथा पीतगुणसे भेदरूप है, तो भी वास्तवमें अभिन्न ही है। उसी तरह आत्माको भी समझो ॥१९३॥ हे पुरुषोत्तम ! श्रुत ज्ञानमें श्रद्धाको दृढ़ करके शरीरादि पर वस्तुओंमे थोड़ी सी अभिलाषाको घटाकर जब तुम अपने आत्मामें निरन्तर तपश्चरण करोगे तभी वास्तवमे तपश्चरण करनेवाले होओगे ॥१९४॥ निरभिलाषासे प्राप्त हुए निर्ग्रन्थव्रतसे अधिगत समताभाव जिनका सहायक है ऐसे तुम निर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर आनन्दरूप अमृतका पान करो ॥१९५॥ क्रोधादि कषायोंके समान शरीरको भी कृश करके जिसने अपने आत्माको ससारसे पार करनेवाले निर्यापकाचार्यके आधीन कर दिया है, जिसने दिगम्बरलिङ्गको धारण किया है, जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके चिन्तवनमें समासक्त है तथा जिसे मोक्षमें जानेकी अभिलाषा है वह मुनि पञ्चपरमेष्ठीके स्मरण पूर्वक प्राणोंको छोड़ कर अधिकसे अधिक आठ जन्ममें अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥१९६॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तपकी आराधनाका आराधन करके, बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रहको दूर करनेसे उत्कृष्ट आराधक वह मुनिराज—मोहनीय रज अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय कर्मशत्रुओंका शुक्लध्यानके द्वारा नाश करके तथा निरुपम अर्हन्त पदको प्राप्त होकर नियमसे उसी भवमें शिवसद्मका वासी होता है ॥१९७॥ मृत्युके समयमें शास्त्रानुसार आराधन करके—अत्यन्त शक्तिशाली, सावधान, तथा मनोभिलषित सिद्धिकी अभिलाषा करनेवाला वह मध्यम आराधक साधु केशरी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप इन चार प्रकारकी आराधनासे पापका निरोध तथा नाश

सदृग्वाऽणुव्रती वा भवतनुसुखतो निस्पृहः शान्तमूर्ति-
र्मृत्यौ पञ्चार्हदादीन्गुणगरिमगुरून्सम्यगाराध्य चित्ते ।
कश्चिद्भव्यो जघन्यः प्रसुरनरभवं सौख्यमासाद्य चञ्च-
त्सप्ताष्टस्वन्तराले शिवपदमचलं चाश्नुते जन्मसूक्तम् ॥१९९
सम्यक्त्वपूर्वकमुपासकधर्ममित्थं सल्लेखनां तमभिधाय गणेश्वरेऽत्र ।
जोषं स्थिते प्रविचकास सभा समस्ता भानाविवोदयगिरिं नलिनीति भद्रम् ॥२००
मेधाविनो गणधरात्स निशम्य धर्मं श्रीगौतमाविति सपौरजनः प्रशस्तम् ।
भूयो निजं दृढतरां प्रविधाय दृष्टिं नत्वा जिनं मुनिवरांश्च गृहं जगाम ॥२०१
अनादिकालं भ्रमता मया या नाराधिता क्वापि विराधितैव ।
आराधनां मङ्गलकारिणीं तामाराधयामीह जिनेन्दुभक्तः ॥२०२

करके शुभध्यानसे प्राणोंको छोड़ कर सुखपूर्ण सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त होता है ॥१९८॥ जो संसार-सम्बन्धी अत्यल्प विषय सुखसे निरभिलाषी है जो शान्तस्वरूपका धारक है, वह फिर सम्यग्दृष्टि हो अथवा अणुव्रतका धारक हो ऐसा कोई जघन्य आराधक भव्यपुरुष—मृत्युके समय अपने चित्त-में गुणके महत्त्वसे महनीय अर्हन्तादि पञ्चपरमेष्ठी का आराधन करके तथा देवगति और मानव-जन्ममें होने वाले उत्तम सुखोंका अनुभव करके सातवें आठवें भवमें अविनश्वर शिव-सुखको प्राप्त होता है ॥१९९॥ महाराज श्रेणिकको—इस प्रकार सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक धर्मका तथा सल्लेखना-का उपदेश देकर जब भगवान् गौतम गणधर चुप हो रहे उस समय सारी सभा इस प्रकार प्रफुल्लित हुई जिस प्रकार कि दिनमणिको उदयगिरिका आश्रय लेने पर कमलिनी प्रफुल्लित होती है ॥२००॥ राजगृह नगर निवासी भव्यजनोंके साथ महाराज श्रेणिक बुद्धिशाली भगवान् गौतम गणधरसे उपर्युक्त उपासक धर्मको सुनकर अपने सम्यग्दर्शनको और भी सुदृढ करके समवशरणमें विराज-मान वीरजिनेन्द्र तथा अन्य मुनिराजोंको अभिवादन करके अपने गृह गये ॥२०१॥ ग्रन्थकार महाराज श्रेणिकके रूपमें अनुताप करते हैं कि—अहो ! अनादिकालसे संसारमें भ्रमण करते हुए मैंने जिनका कभी आराधन न किया किन्तु प्रत्युत विराधना की। आज कल्याणकारिणी उसी आराधनाका जिन चन्द्रका पादसेवी होकर आराधन करूँगा ॥२०२॥

इति श्री सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिते श्रीधर्मसंग्रहे
सल्लेखनास्वरूपकथनं श्रेणिकस्य राजगृहप्रवेशनं सप्तमोऽधिकारः ॥७॥

●

आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित

प्रश्नोत्तरश्रावकाचार

प्रथम परिच्छेद

जिनेशं वृषभं वन्दे वृषदं वृषनायकम् । वृषाय भुवनाधीशं वृषतीर्थप्रवर्तकम् ॥१
मोहनिद्रातिरेकेण जगत्सुप्तं वचोंशुभिः । बोधितं शिरसा येन तस्मै वीराय संन्नमः ॥२
द्वाविंशतिजिनान् शेषान् भव्यलोकसुखप्रदान् । वन्दे प्रारब्धसिद्धयर्थं धर्मसाम्राज्यनायकान् ॥३
अष्टकर्मविनिर्मुक्तान् गुणाष्टकविभूषितान् । लोकाग्रशिखरारूढान् सिद्धान् सिद्धयै स्मराम्यम् ॥४
सूरयः पंचधाचारं स्वयमेवाचरन्ति ये । चारयन्ति विनेयानां तेषां पादौ नमाम्यहम् ॥५
अङ्गपूर्वप्रकीर्णानि ये पठन्ति मधर्मिणाम् । पाठयन्ति सदा तेभ्यः पाठकेभ्यो नमोऽस्तु वै ॥६
त्रिकालयोगयुक्तानां मूलोत्तरगुणात्मनाम् । तपःश्रीसंगिनां पादौ साधूनां प्रणमाम्यहम् ॥७
वीतरागमुखोद्गीर्णामङ्गपूर्वादिविस्तृताम् । आराध्यां मुनिभिर्वन्दे ब्राह्मीं प्रज्ञाप्रसिद्धये ॥८
गौतमादिगणाधीशानङ्गपूर्वादिपारगान् । महाकवीनहं वंदे बुद्धिसंज्ञानहेतवे ॥९

जो तीनों लोकोंके स्वामी है, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले है, धर्मके स्वामी है और धर्मको देनेवाले है ऐसे श्री वृषभदेव जिनेन्द्रदेवको मै (श्री सकलकीर्त्ति आचार्य) धर्मके लिए नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जिन्होंने अपने वचनरूपी किरणोंसे मोहरूपी नीदको दूरकर संसारको जगा दिया अर्थात् भव्य जीवोंका मोह दूरकर मोक्षमार्गमे लगा दिया ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामीको मै मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ॥२॥ मै अपने प्रारम्भ किये हुए ग्रंथको पूर्ण करनेके लिये धर्मसाम्राज्यके स्वामी और भव्य जीवोंको सुख देनेवाले ऐसे शेष बाईस तीर्थकरोंको भी नमस्कार करता हूँ ॥३॥ जो ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंसे रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठो गुणोसे सुशोभित हैं और लोकाकाशके शिखरपर विराजमान है ऐसे श्री सिद्ध भगवान्को मैं अपने कार्यकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूँ ॥४॥ जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार और तपाचार इन पांचों आचारोंको स्वयं पालन करते है और अपने शिष्योंको पालन कराते हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठीके चरणकमलोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५॥ जो अंगपूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रोंको स्वयं पढते हैं और अन्य धर्मात्माओंको पढाते हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥६॥ जो सबेरे दोपहर और शाम तीनों समय योग धारण करते हैं, मूलगुण और उत्तर गुणोंका पालन करते है तथा तप रूपी लक्ष्मीको सदा साथ रखते है अर्थात् सदा तपमें लीन रहते हैं ऐसे साधु परमेष्ठीके चरणकमलोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥७॥ जो वीतराग अरहंतदेवके मुखसे प्रगट हुई है, अंगपूर्व आदि अनेक रूपसे जो विस्तृत हुई है और मुनिलोग सदा जिसकी आराधना करते रहते हैं ऐसी सरस्वतीदेवीको मै अपनी बुद्धिको प्रसिद्ध करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥८॥ जो अंगपूर्व आदि श्रुतज्ञानके पारगामी है और महा कवि हैं ऐसे गौतम आदि

मंगलार्थं नमस्कृत्य देवसिद्धान्तसद्गुरून् । वक्ष्ये प्रश्नोत्तरं ग्रन्थं धर्मव्याजेन केवलम् ॥१०
मतिश्रुतसमायुक्तः श्रावकाचारतत्परः । भवेद्यः श्रावको धीमान् संवेगादिगुणान्वितः ॥११
स पृच्छति गुरुं नत्वा रत्नत्रितयभूषितम् । सर्वसंगविनिर्मुक्तं निर्ग्रन्थं धर्महेतवे ॥१२
अस्मिन्ननादिसंसारे निःसारे दुःखपूरिते । सारं किं भगवन्नद्य कृपां कृत्वा निरूपय ॥१३
चतुर्गतिमहावर्ते संसारे क्षारसागरे । मनुष्यं दुर्लभं विद्धि गुणोपेतं शरीरिणाम् ॥१४
मनुजत्वेऽपि किं सारं येन तत्सफलं भवेत् । तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि भवतः श्रीमुखादहम् ॥१५
सद्धर्मपरमं सारं संसाराम्बुधितारकम् । सुखाकरं जिनैरुक्तं स्वर्गमुक्ति सुखप्रदम् ॥१६
एकभेदं द्विभेदं वा धर्मं विद्मो वयं नहि । श्रुतं मया कुशास्त्रेषु नानाभेदैः प्ररूपितम् ॥१७
धर्मं पापं प्रजल्पन्ति तत्त्वहीनाः कुदृष्टयः । वस्तुतत्त्वं न जानन्ति जात्यन्धा इव भास्करम् ॥१८
हेमादिकं यथा दक्षैर्गृह्यते घर्षणादिभिः । तथा धर्मो गृहीतव्यः सुपरीक्ष्य विवेकिभिः ॥१९
यथा दुग्धं भवेन्नाम्ना श्वेतं च स्वादुनान्तरम् । महिष्यर्कप्रभेदेन तथा धर्मं जगुर्बुधाः ॥२०
यो रागद्वेषनिर्मुक्तः सर्वज्ञस्तेन भाषितः । धर्मः सत्यो हि नान्यैश्च रागद्वेषपरायणैः ॥२१
स धर्मो हि द्विधा प्रोक्तः सर्वज्ञेन जिनागमे । एकश्च श्रावकाधारो द्वितीयो मुनिगोचरः ॥२२

समस्त गणधरोंको मैं अपनी बुद्धि और ज्ञान बढानेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥९॥ इस प्रकार मंगल कामनाके लिये देव, सिद्धान्त और श्रेष्ठ गुरुओंका नमस्कारकर मैं केवल धर्मके बहानेसे प्रश्नोत्तर श्रावकाचार नामके ग्रन्थको कहता हूँ ॥१०॥ जो मतिज्ञान श्रुतज्ञान सहित है, श्रावकाचार पालन करनेमें तत्पर है, बुद्धिमान है और संवेग वैराग्यसे सुशोभित है उसको श्रावक कहते हैं ॥११॥ ऐसा कोई श्रावक केवल धर्मश्रवणकी इच्छासे रत्नत्रयसे सुशोभित और सब तरहके परिग्रहोंसे रहित ऐसे निर्ग्रंथ गुरुको नमस्कारकर पूछने लगा ॥१२॥ प्रश्न—हे भगवन् ! अनेक दुःखोंसे भरे हुए और असार ऐसे इस अनादि संसारमें क्या सार है सो कृपाकर आज मुझसे कहिये ? उत्तर—चारों गतिरूप बड़े-बड़े भंवरोंसे शोभायमान इस संसाररूपी क्षारसागरमें संसारी जीवोंको गुणोंसे सुशोभित मनुष्य जन्म प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ वा सार है ॥१३–१४॥ प्रश्न—हे भगवन् ! इस मनुष्य जन्ममें भी क्या सार है जिससे कि यह मनुष्य जन्म सफल हो सके ? मैं आपके श्रीमुखसे ये सब बात सुनना चाहता हूँ। उ०—इस मनुष्य जन्ममें भी श्रेष्ठ धर्मका प्राप्त होना ही परम सार है। यह धर्म ही ससाररूपी समुद्रसे पार करनेवाला है, सुखका परम निधि है और स्वर्ग मोक्षके सुखोंको देनेवाला है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥१५–१६॥ प्रश्न—हे देव ! वह धर्म एक ही प्रकारका है या दो प्रकारका है सो मैं कुछ नहीं जानता हूँ। मैंने तो अन्य शास्त्रोंमें अनेक प्रकारका धर्म सुना है ? उ०—जिस प्रकार जन्मांध पुरुष सूर्यको नहीं जानते उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थोंके स्वरूपको नहीं पहिचानते। ऐसे तत्त्वहीन पुरुष पापको ही धर्म कह देते हैं। जिस प्रकार चतुर पुरुष सुवर्णादिकको घिस देखकर लेते है उसी प्रकार ज्ञानी जीवोंको परीक्षाकर धर्मको स्वीकार करना चाहिये ॥१७–१९॥ जिस प्रकार भैंसका दूध और आकका दूध दोनों ही नामसे दूध हैं तथा दोनों ही सफेद है तथापि उनके स्वादमें बड़ा भारी अंतर है, उसी प्रकार बुद्धिमान लोग धर्मके स्वरूपको भी अनेक प्रकारका बतलाते है ॥२०॥ जो रागद्वेष रहित हैं वे सर्वज्ञ कहलाते हैं, उन सर्वज्ञका कहा हुआ जो धर्म है वही धर्म कहलाता है। अन्य रागद्वेषसे परिपूर्ण लोगोंके द्वारा कहा हुआ धर्म कभी धर्म नहीं हो सकता ॥२१॥ श्री सर्वज्ञदेवने जैन शास्त्रोंमें वह धर्म दो प्रकारका बतलाया है—एक श्रावकोंके पालन करने योग्य श्रावकाचार और

एको हि देशतो धर्मः सुगमः श्रावकादिभिः। शक्यते कर्तुमत्रैव गृहव्यापारभारितैः ॥२३
द्वितीयो मुनिभिः शक्यो धर्मो घोरपरीषहैः। गृहमोहादिसंत्यक्तैर्नान्यैर्दीनैः कदाचन ॥२४
स्वामिन् तच्छ्रावकाचारं कथय त्वं कृपार्द्रधीः। येनात्मा मे सुखी भूयात् श्रुतेन धर्मतत्परः ॥२५
एकाग्रचेतसा वत्स शृणु तत्कथयाम्यहम्। यत्प्रोक्तं जिननाथेन सर्वमङ्गे हि सप्तमे ॥२६
अंग सारं विशालं प्रोपासकाध्ययनं जिनात्। अर्थमादाय संदृब्धं वृषभाख्यगणेशिना ॥२७
तस्य संख्यां प्रवक्ष्यामि पदानि सकलानि स्युः। सप्ततिश्च सहस्राणि लक्षा ह्येकादशस्फुटाम् ॥२८
षोडशापि शतान्येव द्विसप्तदशकोटयः। लक्षास्त्र्यशीतिर्वै सप्तसहस्राणि शताष्टकम् ॥२९
अष्टाशीतिश्च सद्वर्णाः प्रोक्ता एकपदस्य वै। सर्वसंख्या जिनेन्द्रेण ज्ञातव्या तत्त्वदर्शिभिः ॥३०
अजितादिजिनाधीशैर्धर्मतीर्थप्रवर्तकैः। सर्वैरंगं प्रणीतं तत् श्रावकाचारगोचरम् ॥३१
श्रीवीरस्वामिदेवेन गौतमेन गणेशिना। प्रोक्तमंगं महाग्रन्थं श्रावकस्य सुखाप्तये ॥३२
श्रीसुधर्ममुनीन्द्रेण चोक्तं श्रीजम्बुस्वामिना। केवलज्ञाननेत्रेण ज्ञानं गार्हस्थ्यगोचरम् ॥३३
विष्ण्वादिमुनिभिः सर्वैः द्वादशांगश्रुतांतगैः। प्रणीतं भव्यसत्त्वानामुपकाराय तत्कृतम् ॥३४
ततः कालादिदोषेण प्रायुर्मेधादिहानितः। हीयते प्रांगपूर्वादिश्रुतं श्रीधर्मकारणम् ॥३५
ततः श्री कुन्दकुन्दाचार्यादिमुख्ययतीश्वराः। प्रकाशयन्ति संज्ञानं सद्गृहाधिष्ठितात्मनाम् ॥३६
क्रमात्ताद्धि समायातं परिज्ञाय महाश्रुतम्। वक्ष्ये सद्धर्मबीजं हि ज्ञानं भव्यसुखप्रदम् ॥३७

दूसरा मुनियोंके पालन करने योग्य यत्याचार ॥२२॥ उनमेंसे पहिला श्रावकाचार धर्म एक देशरूप है, सुगम है और उसे श्रावक लोग अपने घरके व्यापार आदि भारको चलाते हुए भी इस संसारमें अच्छी तरह पालन कर सकते है। दूसरे यत्याचार धर्मको घोर परीषहोंको सहन करनेवाले मुनिराज ही पालन कर सकते है। उसे अन्य दीन गृहस्थी मनुष्य कभी पालन नही कर सकते ॥२३-२४॥

प्रश्न—हे स्वामिन्! आप कृपाकर श्रावकाचारका वर्णन कीजिये जिसके सुननेसे मेरा आत्मा धर्म पालन करनेमें तत्पर हो और सुखी हो ॥२५॥ उ०—हे वत्स! तू चित्त लगाकर सुन। जो श्री जिनेन्द्रदेवने सातवें उपासकाध्ययन नामके अंगमें वर्णन किया है वह सब मै कहता हूँ ॥२६॥ यह उपवासकाध्ययनांग बहुत बड़ा है और अंगोंमें सारभूत है। भगवान् वृषभदेवने जो अपनी दिव्यध्वनिमें कहा था उसका अर्थ लेकर श्री वृषभसेन गणधरने उसकी रचना की है ॥२७॥ उसके सब पदोंकी संख्या ग्यारह लाख सात हजार है तथा एक एक पदमें सोलह सौ चौंतीस करोड (सोलह अरब चौंतीस करोड) तेरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी वर्ण हैं ॥२८-३०॥ यह श्रावकाचार धर्म जैसा श्री वृषभदेवने निरूपण किया था वैसा ही अजितनाथ आदि सब तीर्थंकरोंने निरूपण किया था ॥३१॥ श्रावकोंके सुखके लिये श्री वर्द्धमान स्वामीने भी निरूपण किया, और गौतम गणधरने भी निरूपण किया ॥३२॥ मुनिराज श्री सुधर्माचार्य तथा श्री जम्बूस्वामीने अपने केवलज्ञानके द्वारा इस सब गृहस्थाचारका निरूपण किया ॥३३॥ इनके अनंतर भव्य जीवोंका उपकार करनेके लिये द्वादशांग श्रुतज्ञानको जानने वाले विष्णु आदि श्रुतकेवलियोंने भी इस अंगका निरूपण किया ॥३४॥ श्रुतकेवलियोंके बाद काल दोषसे मनुष्योंकी आयु बुद्धि शरीर संहनन आदि घट जानेके कारण धर्मको स्थिर रखनेवाला अग पूर्वोंका ज्ञान भी कम हो गया ॥३५॥ तब श्री कुंदकुंद आदि अनेक आचार्योंने इस श्रावकाचारका वर्णन किया। इस प्रकार अनुक्रमसे जिनका वणन चला आया है ऐसे महाशास्त्रोंको जानकर धर्मके कारण भव्य जीवोंको सुख देनेवाले और

यत्प्रोक्तं मुनिभिः पूर्वं महामतिविशारदैः । तच्छक्यं कथमस्माभिः प्रोक्तं ज्ञानलवेन वै ॥३८
तथापि तत्क्रमाम्भोजप्रणामार्जितपुण्यतः । स्तोकं सारं प्रवक्ष्यामि धर्मं श्रावकगोचरम् ॥३९
येन धर्मेण जीवानां पापं नश्यति दूरतः । स्वर्गश्रीः स्वयमायाति मुक्तिरालोक्यते पुनः ॥४०
धर्मसिंहासनारूढो यद्यदङ्गी समीहते । तत्तदेव समायाति सुखं लोकत्रयोद्भवम् ॥४१
सद्धर्मो यस्य जीवस्य हस्ते चिन्तामणिर्भवेत् । कल्पवृक्षो गृहे तस्य कामधेनुश्च किंकरी ॥४२
धर्मो बन्धुश्च मित्रं स्याद्धर्मः स्वामिसुखाकरः । हितं करोति जन्तूनामत्रामुत्र फलप्रदः ॥४३
श्रावकाचारजं धर्मं श्रेष्ठं यो वितनोति सः । स्वर्गे षोडशमे भुक्त्वा सुखं मुक्त्यालयं व्रजेत् ॥४४
यथा मेघाद्विना न स्यात्सस्य-निष्पत्तिरत्र भोः । तथा धर्माद्विना लक्ष्मीर्धनधान्यादिगोचरा ॥४५
ऋद्धिः संजायते नैव पापेनाचरणेन वा । यथा हि मुखसंजातममृतं नैव दृश्यते ॥४६
धर्मं यः कुरुते साक्षादलं तस्य फलं परम् । विधत्ते धर्मसन्नाम योऽसौ स्वर्गाधिपो भवेत् ॥४७
असद्विद्याविनोदेन किं साध्यं हितकाङ्क्षिणाम् । धर्मः सदैव कर्तव्यो येन जीवः सुखायते ॥४८
भ्रातस्त्वं भज दर्शनं व्रतमतः सामायिकं प्रोषधं, त्यागं चैव सचित्तवस्तुविषये सूर्यास्तमे भोजनम् ।
अब्रह्म त्यज पापदं गृहभवं प्रारम्भमेवाञ्जसा, द्रव्यं स्वगृहकारणानुमननं प्रोद्दिष्टभुक्तादिकम् ॥४९

ज्ञानको बढ़ानेवाले शास्त्रको मैं कहता हूँ ॥३६-३७॥ जो यह शास्त्र पहिलेके बड़े बड़े बुद्धिमान और चतुर आचार्योंने निरूपण किया है उसे मैं यद्यपि अपने थोड़े ज्ञानसे कह नहीं सकता तथापि उन आचार्योंके चरणकमलोंको नमस्कार करनेसे जो पुण्य प्राप्त हुआ है उसके प्रभावसे मैं थोड़ा सा सारभूत श्रावकाचार धर्म कहता हूँ ॥३८-३९॥ इस जैन धर्मके प्रभावसे जीवोंको पाप दूरसे ही देखता रहता है पास नहीं आता, तथा स्वर्गकी लक्ष्मी अपने आप उसके पास आ जाती है और मुक्तिरूपी कन्या भी उसे सदा देखती रहती है ॥४०॥ जो जीव धर्मसिंहासनपर विराजमान है वह तीनों लोकोंमें उत्पन्न हुए सुखोंमें से जो जो चाहता है वह सब उसके पास स्वयं आ जाता है ॥४१॥ जो जीव इस श्रेष्ठ धर्मका पालन करता है उसके हाथमें चिंतामणि रत्न ही समझना चाहिये अथवा कल्पवृक्ष उसके घरमें ही समझना चाहिये और कामधेनु उसकी दासी समझनी चाहिये ॥४२॥ इस संसारमें धर्म ही बंधु है, धर्म ही मित्र है, धर्म ही स्वामी है, धर्म ही सुख करनेवाला है, धर्म ही हित करनेवाला है और इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें धर्म ही जीवोंको श्रेष्ठ फल देनेवाला है ॥४३॥ जो जीव इस सर्व श्रेष्ठ श्रावकाचार धर्मका पालन करता है वह सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर मोक्षमहलमें जा विराजमान होता है ॥४४॥ जिस प्रकार इस लोकमें विना मेघोंकी वर्षाके अच्छे धान्योंकी उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार विना धर्मके धन्य धान्य आदि किसी भी प्रकारकी लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती ॥४५॥ जिस प्रकार सर्पके मुखमें पड़ी हुई कोई भी वस्तु अमृत रूप नहीं हो सकती उसी प्रकार पापाचरणोंसे धन धान्यादि ऋद्धियाँ कभी नहीं मिल सकती ॥४६॥ जो जीव इस धर्मको साक्षात् होकर पालन करता है उसको अन्य किसी फलकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस धर्मको पालन करनेवाला पुरुष स्वयं स्वर्गका स्वामी बन जाता है ॥४७॥ इसलिये अपने आत्माका हित चाहनेवाले जीवोंको अज्ञान छोड़कर सदा धर्मका ही पालन करते रहना चाहिए क्योंकि धर्मका पालन करनेसे ही सुखकी प्राप्ति होती है ॥४८॥ हे भाई, तू दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा, रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओंको अनुक्रमसे पालन कर। ये सब प्रतिमाएँ पापोंको नष्ट करनेवाली

बुधजनपरिसेव्यं तीर्थनाथैः प्रणीतं, विमलगुणनिधानं स्वर्गसंदानदक्षम्।
अमलसुखसमुद्रं दानपूजादियुक्तं, भज विगतविकारं त्वं च सागारधर्मम् ॥५०

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे संक्षेपव्रतप्ररूपको नाम
प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

●

हैं ॥४९॥ जिसमें दान देना और श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करना ही मुख्य है और जो संसारके समस्त विकारोंसे रहित है ऐसे इस श्रावकाचार धर्मको बुद्धिमान लोग पालन करते हैं। श्री तीर्थंकर परमदेवने इसका निरूपण किया है। यह अनेक निर्मल गुणोंका निधि है, स्वर्गोंके सुख देनेमें चतुर है और निर्मल सुखका समुद्र है ऐसे इस श्रावकाचार धर्मको हे भव्य! तू पालन कर ॥५०॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें संक्षेपसे
व्रतोंको निरूपण करनेवाला यह प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१॥

●

दूसरा परिच्छेद

अजितं जिनमानम्य निर्जिताशेषविद्विषम् । सविशेषमतो वक्ष्ये शृणु श्रावकसद्व्रतम् ॥१
दर्शनं मूलमित्याहुर्जिनाः सर्वव्रतात्मनाम् । अधिष्ठानं यथा धाम्नस्तरूणां मूलमेव च ॥२
तस्मात्सद्दर्शनं सारं गृहीतव्यं विवेकिभिः । गृहस्थैर्येन जायन्ते व्रतान्यपि विमुक्तये ॥३
श्रद्धानं सप्ततत्त्वानां सम्यक्त्वं कथ्यते जिनैः । श्रद्धेयानि बुधैस्तानि पूर्वं सद्दर्शनान्वितैः ॥४
भगवन् तत्त्वसद्भावं विस्तारं कारणं गुणान् । संख्याभेदास्तवथं च कथय त्वं ममादरात् ॥५
शृणु धीमन् महाभाग तत्त्वं त्वां कथयाम्यहम् । किंचिन्मेधानुसारेण चागमेनापि तत्त्वतः ॥६
जीवाजीवास्रवा बन्धः संवरो निर्जरा तथा । मोक्षः सप्तैव तत्त्वानि भाषितानि जिनागमे ॥७
जीवितोऽनादितो जीवो जीविष्यति पुनः पुनः । द्रव्यभावविभेदैश्च प्राणैः सौख्यं चलात्मनाम् ॥८
पंचैव चेन्द्रियप्राणाः कायवाक्चित्तयोगतः । बलप्राणास्त्रिधायुश्च निःश्वासोच्छ्वास एव हि ॥९
उपयोगमयो जीवः शुद्धनिश्चतो भवेत् । व्यवहारेण मत्यादिज्ञानदर्शनगोचरः ॥१०
अमूर्तो निश्चयादङ्गी भोक्ता कर्मादिकं न च । व्यवहारेण मूर्त्तोऽपि भोक्ता कर्मफलं भवेत् ॥११
अकर्ता कर्मनोकर्मरागद्वेषघटादिकान् । शुद्धद्रव्यार्थिकेनापि संसारे भ्रमणं न च ॥१२

अब मैं राग द्वेष आदि समस्त दोषोंको जीतने वाले भगवान् अजितनाथको नमस्कारकर श्रावकोंके व्रतोंको विशेष रीतिसे कहता हूँ सो हे भव्य ! तू सुन ॥१॥ जिस प्रकार वृक्षका आधार उसकी जड़ है उसी प्रकार समस्त व्रतोंकी जड़ सम्यग्दर्शन है । जिस प्रकार विना जड़के वृक्ष ठहर नहीं सकता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके कोई व्रत नही हो सकता ॥२॥ इसलिये विवेकी गृहस्थोंको सबसे पहिले सब व्रतोंका सारभूत सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि सम्यग्दर्शनके साथ साथ होनेवाले व्रत ही समस्त पापोंको दूर कर सकते हैं अन्यथा नहीं ॥३॥ जीवादिक सातों तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है । सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले जीवोंको उन तत्त्वोंका ज्ञान अवश्य कर लेना चाहिये ॥४॥ प्र०—हे भगवन् ! वे तत्त्व कौन कौन हैं ? उनमें क्या क्या गुण हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? उनके भेद कितने है ? आदि सब बातें विस्तारपूर्वक मेरे लिये कहिये ? उ०—हे बुद्धिमान् ! भाग्यवान ! सुन, मैं उन तत्त्वोंका स्वरूप आदि अपनी बुद्धि और आगमके अनुसार संक्षेपसे कहता हूँ ॥५-६॥ जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व जैन शास्त्रोंमें बतलाये हैं ॥७॥ जो द्रव्य प्राण और भाव प्राणोंसे अनादि कालसे लेकर जीवित रहता है और आगे भी बार बार जीवेगा और ऐसा होने पर भी जिसका स्वरूप निश्चल है उसको जीव कहते हैं ॥८॥ द्रव्य प्राण दश हैं—पाँच इंद्रियाँ, मन, वचन, शरीर ये तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास । इनसे ही यह जीव जीवित रहता है । यदि शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो केवल उपयोगमय जीव है । व्यवहार नयसे मत्यादि ज्ञान तथा चक्षु आदि दर्शनके गोचर हैं ॥९-१०॥ निश्चय नयसे अमूर्त है और कर्मादिकोंका भोक्ता नहीं है । व्यवहारनयसे मूर्त है और कर्मोंके सुख दुःख आदि फलोंका भोक्ता है ॥११॥ शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह जीव न तो कर्म नोकर्मोंका कर्ता है न राग द्वेषोंका कर्ता है और न घट पट आदि पदार्थोंका कर्ता है । शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह जीव संसारमें परिभ्रमण भी नहीं करता ॥१२॥ किन्तु व्यवहार नयसे यह जीव

कर्ताकर्मशरीरादिमोहद्वेषपटादिकान् । व्रजनं दीर्घसंसारे व्यवहारनयात् पुनः ॥१३
कायप्रमाण आत्मायं समुद्घातं विना भवेत् । प्रदीप इव संकोचविस्तारो व्यवहारतः ॥१४
लोकाकाशसमो जीवो निश्चयेन भवेत् सदा । मुक्त पूर्वशरीरस्य किंचिदूनाकृतिर्भवेत् ॥१५
द्विधा जीवा भवन्त्येव सिद्धा संसारिणः पुनः । जात्यादिभेदनिष्क्रान्ताः षड्धाः कर्मविचेष्टिताः ॥१६
भूनीराग्निसमीराश्च नित्येतरनिगोतकाः । स्युः सप्त सप्त लक्षाणि दशैव तरुजातयः ॥१७
द्वित्रितुर्येन्द्रिया द्वौ द्वौ वै तिर्यक् सुरनारकाः । चतुर्लक्षा मनुष्याश्च चतुर्दशविभेदतः ॥१८
चतुरशीतिलक्षाः स्युः योनयः श्रीजिनागमात् । आयुकायादिभेदेन ज्ञातव्या तत्त्वदर्शिभिः ॥१९
चतुर्दशगुणस्थानान् मार्गणादिषु प्रत्यहम् । जीवतत्त्वं च निश्चेयं बुधैर्दृष्टिविशुद्धये ॥२०
अजीवः पञ्चधा ज्ञेयः पुद्गलस्तत्त्वशालिभिः । धर्मोऽधर्मो नभः कालः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥२१
स्पर्शादिगुणसंयुक्तः पुद्गलो बहुधा भवेत् । अणुस्कन्धादिजैर्भेदैः सुखदुःखप्रदोऽङ्गिनाम् ॥२२
धर्मोऽसंख्यप्रदेशः स्याज्जीवपुद्गलयोर्गतौ । सहकारी विमूर्तश्च मत्स्यानामुदकं यथा ॥२३

कर्म नोकर्म वा शरीर आदिका कर्ता है, मोह द्वेष आदिका कर्ता है और घट पट आदि पदार्थोका भी कर्ता है तथा दीर्घ संसारमें परिभ्रमण भी करता है ॥१३॥ इस आत्मामे दीपकके प्रकाशके समान संकोच और विस्तार होनेकी शक्ति है इसलिये व्यवहार नयसे यह जीव [1]समुद्घात अवस्था-को छोड़कर कर्मोके उदयके अनुसार प्राप्त हुए छोटे बड़े शरीरके प्रमाणके बराबर है—जब जितना बड़ा शरीर पाता है तब उतना ही बडा हो जाता है ॥१४॥ परतु निश्चय नयसे लोकाकाशके समान असंख्यात प्रदेश वाला है। (उन प्रदेशोमे कभी हीनाधिकता नही होती) जो जीव मुक्त हो जाते हैं उनका आकार अंतिम शरीरसे कुछ कम होता है ॥१५॥ जीव दो प्रकारके है—संसारी और सिद्ध। (कर्म सहितको संसारी और कर्म रहितको सिद्ध कहते हैं।) यदि जाति आदिका भेद न भी गिना जाय तो भी संसारी जीव छह प्रकारके है (त्रस और पाँच प्रकारके स्थावर) ॥१६॥ पृथ्वी कायिक जीवोंकी योनियाँ सात लाख है, जल कायिककी सात लाख, अग्निकायिककी सात लाख, वायु कायिककी सात लाख, नित्य निगोदकी सात लाख, इतर निगोदकी सात लाख, वनस्पतिकायिककी दश लाख, द्वीन्द्रिय जीवोंकी दो लाख, त्रीन्द्रिय जीवोंकी दो लाख, चौइन्द्रिय जीवोंकी दो लाख, तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवोकी चार लाख, देवोकी चार लाख, नारकियोंकी चार लाख और मनुष्योंकी चौदह लाख इस प्रकार जैन शास्त्रोंमें जीवोकी सब चौरासी लाख योनियाँ बतलाई हैं। तत्त्वोंके जानकार जीवोंको आयु काय आदिके भेदसे ये सब योनियाँ जान लेनी चाहिये ॥१७–१९॥ जो चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणाओंमे रहे वह भी संसारी जीव ही समझना चाहिये। इस प्रकार सम्यग्दर्शनको विशुद्ध करनेके लिये बुद्धिमानोंको जीव तत्त्व समझ लेना चाहिये ॥२०॥ तत्त्वोंके जानकार जीवोंको अजीव तत्त्वके पॉच भेद समझने चाहिये। धर्म, अधर्म, आकाश और काल चार तो ये है, ये चारों ही पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप हैं तथा पांचवां अजीव तत्त्व पुद्गल है उसमे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुण है और वह अणु स्कंध आदि भेदसे अनेक प्रकारका है। यह पुद्गल जीवोंको सुख दुःख भी देता है ॥२१-२२॥ धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशवाला है और अमूर्त है तथा जिस प्रकार मछलियोंके चलनेमें पानी सहायक होता है उसी प्रकार यह धर्मद्रव्य भी जीव और पुद्गलाके गमन करनेमें सहायक होता है ॥२३॥ अधर्म

---

१. आत्माके प्रदेश शरीरमें रहते हुए भी शरीरके बाहर निकल जाते हैं उसको समुद्घात कहते हैं।

अमूर्तो निष्क्रियोऽधर्मो जीवपुद्गलयोः स्थितौ । सो ह्यकर्ता यथा छाया पथिकानां जिनैर्मतः ।।२४
अवकाशप्रदो ज्ञेयो द्रव्याणां संभृतश्च तैः । असंख्यातप्रदेशो हि लोकाकाशोऽविनश्वरः ।।२५
अन्तातीतप्रदेशोपि केवलो मूर्तिवर्जितः । नित्यो जिनागमाज् ज्ञेयोऽलोकाकाशो विचक्षणैः ।।२६
व्यवहाराभिधः कालो दिवसादिमयो भवेत् । द्रव्यप्रवर्तको नित्यो व्यक्तः सूर्यादिबिम्बतः ।।२७
अमूर्तो निष्क्रियः प्रोक्तो लोकाकाशसमो जिनैः । कालो निश्चयसंज्ञश्च भिन्नभिन्नप्रदेशवान् ।।२८
जीवद्रव्येण संयुक्ता अमी द्रव्या भवन्ति षट् । कालद्रव्याद्विनाप्येते पञ्चास्तिकायका मताः ।।२९
मिथ्यात्वाविरतीयोगकषाया एव प्रत्ययाः । प्रमादसहिता ह्येते कर्मादानस्य हेतवः ।।३०
सच्छिद्रनाववज्जीवा मज्जन्ति भववारिधौ । कर्मास्रवस्य दोषेण मिथ्यात्वादिमलीमसा ।।३१
जीवकर्मादिसंश्लेषो बन्धः संकीर्तितो बुधैः । अनन्तदुःखसन्तानदाहवह्निर्महेन्धनः ।।३२
तैलस्निग्धे भवेदङ्गे यथा रेणुसमागमः । कर्माणवस्तथा यान्ति जीवे रागादिदूषिते ।।३३
सर्वास्रवनिरोधो यः संवरोऽसौ जिनैः स्मृतः । असंख्यकर्मसन्तानस्फेटको मुक्तिसौख्यदः ।।३४
तपःसमितिचारित्रगुप्तिधर्मपरीषहैः । संवरः स्यान्मुनीनां च ज्ञानध्यानव्रतादिभिः ।।३५

द्रव्य अमूर्त है, क्रिया रहित है और जिस प्रकार पथिकोंके ठहरनेमें छाया सहायक होती है उसी प्रकार यह अधर्म द्रव्य भी जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायक होता है ।।२४।। आकाशके दो भेद हैं—एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश । जो जीवादिक समस्त पदार्थोंको जगह दे सके उसे आकाश कहते हैं । जो समस्त द्रव्योंसे भरा हुआ है और जिसमें असंख्यात प्रदेश है उसको लोकाकाश कहते है । यह लोकाकाश भी अविनश्वर है, कभी नाश नहीं होता ।।२५।। अलोकाकाशमें अनंत प्रदश है वह अकेला है । उसमें अन्य कोई द्रव्य नही है । वह अमूर्त है, नित्य है और जेन शास्त्रोंके द्वारा ही चतुर पुरुषोंको उसका ज्ञान होता है ।।२६।। घडी, घटा, दिन आदिको व्यवहार काल कहते है । द्रव्योंकी पर्यायोंको बदलनेवाला यह व्यवहार काल हा है । यह व्यवहार काल अनित्य है और सूय चंद्रमा आदि घूमते हुए ज्योतिषी देवोंके विमानोंसे मालूम होता है ।।२७।। निश्चयकाल अमूर्त है और क्रिया रहित है । उसके भिन्न भिन्न असंख्यात प्रदेश है और वे अलग अलग एक एक करके लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर ठहरे हैं ।।२८।। इस प्रकार अजीव तत्त्वके य पाँच भेद है । यदि इनके साथ जीव मिला लिया जाय तो ये ही (धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीव) छह द्रव्य कहलाते है । इनमेंसे काल द्रव्यको छोड़कर बाकीके पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते है ।।२९।। कर्मों-के आनेके कारणोंको आस्रव कहते हैं । मिथ्यात्व, अविरति योग, कषाय और प्रमाद ये सब कर्मोंके आनेके कारण हैं अर्थात् इनसे ही कर्म आते हैं ।।३०।।

जिस प्रकार किसी नावमें छिद्र हो जानेके कारण उसमें पानी भर जाता है और फिर उस नावके साथ उस पर बैठने वाला मनुष्य समुद्रमें डूब जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरत आदि दोषोंसे मलिन हुआ यह जीव भी कर्मोंके आस्रव होनेके दोषोंसे संसाररूपी समुद्रमें डूब जाता है ।।३१।। बुद्धिमान लोग जीव और कर्मके संबंध होनेको बंध कहते है । यह कर्मबध अनंत दुःखोंको देनेवाला है, दाह वा जलन रूपी अग्निके लिये महा ईधनके समान है ।।३२।। जिस प्रकार शरीर पर तैल लगा लेनेसे उस पर धूल आकर जम जाती है उसी प्रकार राग द्वेष आदि दोषोंसे दूषित होने पर जीवके भी कर्मोंका समूह आकर बंधको प्राप्त हो जाता है ।।३३।। सब प्रकारके आस्रवका निरोध हो जाना—रुक जाना—संवर कहा जाता है, यह संवर ही अनंत कर्म समूहको नाश करने-वाला है और मोक्ष सुखको देनेवाला है ।।३४।। मुनियोंके यह संवर तप, समिति, चारित्र, गुप्ति, धर्म,

**पूर्वकर्मकृतस्यैव ज्ञानध्यानतपोरतैः । विधीयते क्षयं यश्च निर्जरा सा विपाकजा ॥३६
कर्तव्या मुनिभिः सा च सर्वमुक्तिनिबन्धना । विपाकात्कर्मणां जाता साप्यन्या परकर्मदा ॥३७
सविपाका हि सर्वेषां भवेत्कर्मवशाच्च सा । हेयान्कर्मदादेया परा मोक्षकराः बुधैः ॥३८
यो जीवकर्मविश्लेष स मोक्षः कथ्यते जिनैः । मुनीनां सत्तपोवृत्तसंवरणादिकृतात्मनाम् ॥३९
यथा बन्धनबद्धस्य पुरुषस्य विमोचनात् । सुखं भवेत्तथा कर्मबन्धस्य तत्क्षयाद्वरम् ॥४०
आत्यन्तिकं स्वभावोत्थमनन्तमविनश्वरम् । अनौपम्यं भ्रमातीतं मोक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥४१
शुभाशुभेन भावेन पुण्यपापद्वयं भवेत् । सातायुर्नामगोत्राणि पुण्यं पापं ततोऽपरम् ॥४२
मिथ्यात्वपञ्चकं क्रूरं कषायाः पञ्चविंशतिः । दशपञ्च प्रमादाश्च योगाः कौटिल्यतत्पराः ॥४३
मदाष्टकं चतुःसंज्ञा विषयाः सप्तविंशतिः । आर्तरौद्राष्टकं ध्यानं सप्तैव व्यसनानि च ॥४४
विषादो द्वादशैर्वापि पापाढ्यास्त्वविरतयः । रागो द्वेषो महामोहो भयाः सप्त शरीरिणाम् ॥४५
वेदाः शोकाः क्रियाश्चैव विंशतिश्चतुरुत्तराः । कौटिल्यं सर्वमेतच्च पापबन्धाय सम्भवेत् ॥४६
नियमस्य विभङ्गेन महापापं प्रजायते । प्राणिनां देवसच्छास्त्रगुरुलोपनयोगतः ॥४७
धर्मादिविघ्नकरणात्पापं मिथ्यात्वपोषणात् । सततं मिथ्योपदेशात्कौटिल्याज्जायते पुनः ॥४८**

परीषहजय और ज्ञान, ध्यान, व्रत आदिके द्वारा होता है ॥३५॥ कर्मोंके एक देश क्षय होनेको निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है—अविपाक निर्जरा और सविपाक निर्जरा। जो ज्ञान, ध्यान और तपके द्वारा पहिलेके इकट्ठे किये हुए कर्म नष्ट होते है उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं ॥३६॥ इस अविपाक निर्जराको मुनि लोग ही करते हैं यह निर्जरा स्वर्ग मोक्षकी कारण है। तथा जो कर्मोके विपाकसे होती है, कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह सविपाक निर्जरा अन्य अनेक कर्मोका आस्रव करनेवाली है ॥३७॥ यह सविपाक निर्जरा संसारी सब जीवोंके होती है, कर्मके आधीन है और अन्य अनेक कर्मोका आस्रव करनेवाली है तथा दूसरी अविपाक निर्जरा विद्वानोको मोक्ष देनेवाली है ॥३८॥ जीव कर्मोके संबंधके छूट जानेको अर्थात् समस्त कर्मोके नाश हो जानेको मोक्ष कहते हैं। संवर निर्जरा आदिको धारण करनेवाले मुनियोंके तप चारित्र आदिसे वह मोक्ष प्राप्त होती है ॥३९॥ जिस प्रकार किसी बंधनसे बँधे हुए पुरुषको छोड़ देनेसे सुख होता है उसी प्रकार कर्मोंसे बंधे हुए जीवको उन कर्मोके नाश हो जानेसे अनंत सुख प्राप्त होता है ॥४०॥ मोक्षका सुख स्वाभाविक है, अनंत है फिर कभी भी नष्ट नहीं होता, संसारमें कोई भी इसकी उपमा नहीं, संसारके परिभ्रमणसे सर्वथा रहित है और आत्यंतिक है ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है ॥४१॥ जीवोंके शुभ अशुभ भावोंसे पुण्य पाप होता है अर्थात् शुभ भावोंसे पुण्य होता है और अशुभ भावोंसे पाप होता है। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये कर्म पुण्य है और बाकीके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र ये पाप हैं ॥४२॥ मिथ्यात्व पाँच, कषाय पच्चीस, प्रमाद पंद्रह, कुटिलतामें तत्पर रहनेवाले योग ये सब पापबन्धके कारण हैं। इनके सिवाय मद आठ, संज्ञा चार, विषय सत्ताईस, आर्तध्यान चार, रौद्रध्यान चार, व्यसन सात, अविरति बारह, राग, द्वेष, मोह, भय सात, वेद, शोक क्रिया चौबीस, इन सबका होना कुटिलता कहलाती है। ये सब पापबन्धके कारण है ॥४३–४६॥ किसी स्वीकार किये हुए नियमके भंग करनेसे (किसी व्रतका भंग कर देनेसे) महापाप उत्पन्न होता है तथा देव शास्त्र गुरुके छिपानेसे अथवा उनकी आज्ञाका भंग करनेसे भी जीवोंको महापाप होता है ॥४७॥ धर्मकार्योंमें विघ्न करनेसे पाप और मिथ्यात्वकी

पापं शत्रुं परं विद्धि महादुःखानलेन्धनम् । श्वभ्रादिदुर्गतेर्बीजं रोगक्लेशादिसागरम् ॥४९
यदा जीवस्य स्यात्पूर्वकृतं पापं च सन्मुखम् । तदा भोजनसद्वस्त्रधनं नश्येद् गृहादिकम् ॥५०
यदि पापं भवेद् गुप्तं ततः सिद्धं समीहितम् । अन्यथा विफलः क्लेशस्तपोवृत्तश्रुतादिभिः ॥५१
ते बान्धवा महामित्रा धर्मं वः कारयन्ति ये । धर्मविघ्नकरा ये च शत्रवस्ते न संशयाः ॥५२
ये तारयन्ति भव्यानां महापापाम्बुधौ च ते । धर्मोपदेशहस्ताभ्यां मुनयः सन्ति बान्धवाः ॥५३
किमत्र बहुनोक्तेन यत्किंचिद्धि विरूपकम् । दुःखदारिद्र्यरोगादि सर्वं तत्पापजं भवेत् ॥५४
इति मत्वा त्वया धीमन् पापं त्याज्यं विवेकतः । यदि स्वर्मुक्तिसौख्यादौ वाञ्छा ते वर्तते परा ॥५५
अघस्य बीजभूतानि कारणानि फलानि च । वीरनाथो यदि ब्रूते वक्तुमन्यो न च प्रभुः ॥५६
एनःकारणभूतानि पूर्वं प्रोक्तानि यानि च । विपरीतानि तान्येव सत्पुण्याय भवन्ति नुः ॥५७
क्षमादिदशधा धर्मो द्वादशैव व्रतानि च । उत्कृष्टश्रावकाचारो द्वादशैव तपांसि च ॥५८
आहारादिचतुर्भेदं दानं सन्मुनये वरम् । ज्ञानध्यानादिकाभ्यासः पूजनं श्रीजिनेशिनाम् ॥५९
सद्धर्मिणां च सन्मानं सेवनं सद्गुरोः सदा । निर्मापणं जिनार्चायाः भवनानि चाप्यर्हताम् ॥६०
प्रतिष्ठा जिनबिम्बानां महाभ्युदयसाधिनी । अभिषेकोर्हन्मूर्तीनां महोत्सवपुरस्सरः ॥६१
अनुप्रेक्षादिकाचिन्ता प्रोद्यमस्तपस्यञ्जसा । सोपकारोन्यजीवस्य धर्मादिकथनं नृणाम् ॥६२

पुष्टि करनेसे तथा सदा मिथ्या उपदेश देनेसे सबसे बड़ी कुटिलता प्रगट होती है अर्थात् सबसे अधिक पाप होता है ॥४८॥ यह पाप जीवोंका सबसे बड़ा शत्रु है । अनेक बड़े बड़े दुःखरूपी अग्निके लिये इंधन हैं, नरक आदि दुर्गतियोंका कारण और रोग क्लेश आदिका महासागर है ॥४९॥ जब इस जीवके पहिले किये हुए पाप सामने आते हैं अर्थात् वे उदयमें आकर अपना फल देते हैं तब भोजन, वस्त्र, धन, घर आदि सब नष्ट हो जाता है ॥५०॥ जब इस जीवके पाप रुक जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं तब इस जीवकी सब इच्छाएँ पूरी हो जाती है । यदि पाप न रुके हों—नष्ट न हुए हों तो फिर तप करना, चारित्र पालन करना, श्रुतज्ञानका बढ़ाना आदि सब व्यर्थ और क्लेश बढ़ानेवाला है ॥५१॥ ससारमें वे ही मित्र है और वे ही बन्धु हैं जो हम लोगोंसे धर्मसेवन कराते हैं । जो धर्ममें विघ्न करनेवाले हैं वे शत्रु है इसमें कोई संदेह नहीं ॥५२॥ जो मुनिराज इस महा-पापरूपी सागरमें पड़े हुए भव्य जीवोंको धर्मोपदेशरूपी दोनों हाथोंका सहारा देकर उस पापरूपी महासागरसे पार कर देते हैं वे ही इस जीवके सच्चे बान्धव हैं ॥५३॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ ? थोड़ेसे में इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ बुरा है, दुःख है, दरिद्रता है, रोग आदि आधिव्याधि हैं वे सब पापसे ही उत्पन्न होती हैं ॥५४॥ इसलिये हे धीमन् ! यदि तू स्वर्ग मोक्षके सुख चाहता है और दुःखोंसे बचना चाहता है तो बुद्धिपूर्वक पापोंका त्याग कर ॥५५॥ इन पापोंके बीजभूत कारणोंको व फलोंको जब भगवान् वर्द्धमानस्वामीने कहा है फिर भला अन्य कौन कह सकता है ॥५६॥ तथापि पापके कारण जो पहिले बतलाये हैं उनके प्रतिकूल कारण पुण्य सम्पादन करनेके लिये कहे जाते हैं ॥५७॥ उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, बारह व्रत, उत्कृष्ट श्रावकाचारका पालन करना, बारह प्रकारका तप, श्रेष्ठ मुनियोंको आहार आदि चार प्रकारका दान देना, ज्ञान सम्पादन करना, ध्यान करना, भगवान् अरहंतदेवका पूजन करना, धर्मात्मा लोगोंका आदर सत्कार करना, गुरुकी सेवा करना, जिन प्रतिमाका बनवाना, अरहन्तदेवकी भावना करना, अनेक विभूतियोंकी देनेवाली जिनबिंबोंकी प्रतिष्ठा करना, बड़े भारी उत्सवके साथ अरहन्तदेवकी प्रतिमाका अभिषेक करना, बारह अनुप्रेक्षाओंका चितवन करना, तप करना, अपने आत्माका कल्याण करना, अन्य

कृपादिसहितं चित्तं धर्मध्यानादिवासितम् । प्राणिनां यद्भवेदेतत्सर्वं पुण्याय जायते ॥६३
यदा चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु । महापुण्यं तदैव स्यात्तद्विना किं तपोऽखिलैः ॥६४
अनिष्टं यद्भवेत्स्वस्य परेषां क्रियते न तत् । एतत् पुण्यस्य मूलं स्यात् किं वृथा ब्रूयते तराम् ॥६५
रत्नत्रयादिभावेन श्रीजिनस्मरणेन च । निर्ग्रन्थभक्तितो भव्या लभन्ते पुण्यमद्भुतम् ॥६६
देवशास्त्रगुरुसेवा संसारे नित्यभीरुता । पुण्याय जायते पुंसां सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया ॥६७
वैराग्यवासितं चित्तं ज्ञानाभ्यासादितत्परम् । सर्वतस्त्वदयोपेतं सूते पुण्यं शरीरिणाम् ॥६८
धर्मोपदेशसंयुक्तं वाक्यं भूतहितावहम् । विकथादिविनिर्मुक्तं भवेत्सत्पुण्यकर्मणे ॥६९
शुभाय संवृतं देहं भवेत्सौम्यं शरीरिणाम् । आसनादिसमायुक्तं स्थितं वा त्यक्तविक्रियम् ॥७०
महापुण्यनिमित्तं हि महामन्त्रं जगुर्बुधाः । अनन्तपापसन्ताननाशकं गुरुनामजम् ॥७१
दृष्टिपूर्वं मुनीनां च तपोज्ञानयमादिकम् । मुक्तेर्बीजं भवेदग्रे साम्प्रतं पुण्यकर्मदम् ॥७२
दर्शनेन विना पुंसां दानवृत्तादिसेवनम् । पुण्याय न च मुक्त्यै हि भाषितं मुनिपुंगवैः ॥७३
ज्ञानध्यानसुवृत्तादि सर्वं दानादिकं तथा । आचारत्वं विमुक्त्यर्थं न च पुण्याय धान्यवत् ॥७४
मुक्त्यर्थं क्रियते किंचित्तपोदानयमादिकम् । महापुण्याय तत्संस्याच्चित्तशुद्धेन देहिनाम् ॥७५

जीवोके लिये धर्मोपदेश देना, हृदयमें धर्मध्यानका चितवन रहना आदि सब प्राणियोंको पुण्य सम्पादन करनेवाले हैं ॥५८-६३॥ जब यह मनुष्यका हृदय सब प्राणियोके लिये दयासे द्रवीभूत होता है, दयासे पिघल जाता है तभी इस जीवको पुण्य होता है। बिना दयाके सब प्रकारके तप करनेसे भी कोई लाभ नहीं है ॥६४॥ व्यर्थ ही बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? थोड़ेसे मे इतना समझ लेना चाहिये कि अन्य जीवोंका अनिष्ट न करना ही पुण्यकी जड़ है ॥६५॥ भव्य जीव रत्नत्रयकी भावना करनेसे, भगवान् जिनेन्द्रदेवका स्मरण करनेसे और निर्ग्रंथ मुनियोंकी भक्ति करनेसे ही अद्भुत पुण्य सम्पादन करते है ॥६६॥ जीवोंको देव शास्त्र गुरुकी सेवाका भाव होना, सदा संसारसे भयभीत होकर संवेग धारण करना और सम्यग्दर्शनको बढ़ानेवाली क्रियाओका होना पुण्यके लिए होते हैं ॥६७॥ हृदयका वैराग्यसे भरपूर होना, ज्ञानके अभ्यास करनेमें सदा तत्पर रहना और सब जीवों पर दया धारण करना इन तीनो बातोसे जीवोंको सदा पुण्य सम्पादन होता रहता है ॥६८॥ प्राणियोंके हितकारक, धर्मके उपदेशसे संयुक्त और विकथाओसे रहित वचन बोलना उत्तम पुण्य कर्मके उपार्जनके लिए होता है ॥६९॥ सब तरहके विकारोसे रहित, खड्गासन वा पद्मासन लगाकर बैठना, अपने शरीरको सौम्य और संवृत रीतिसे रखना भी मनुष्योंको पुण्य उत्पन्न करता है ॥७०॥ पंच परमेष्ठीका वाचक जो णमो अरहंताण आदि महामंत्र है वह सबसे अधिक पुण्यका कारण है तथा वह अनन्त पापोंको नाश करनेवाला है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥७१॥ मुनिराज जो सम्यग्दर्शन पूर्वक तप करते हैं, ज्ञानका अभ्यास करते हैं, यम नियम आदिका पालन करते हैं वह सब आगेके लिये मोक्षका कारण है और वर्तमानमें अनेक प्रकारके पुण्य सम्पादन करनेवाला है ॥७२॥ बिना सम्यग्दर्शनके दान देने व व्रत पालन करने आदिसे न तो पुण्य ही होता है और न मोक्ष ही प्राप्त होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥७३॥

हे भव्य जीव ! तू केवल मोक्षके लिये ज्ञानका अभ्यास कर, मोक्षके लिये ही ध्यान कर तथा व्रतोंका पालन व दान आदि सब मोक्षके लिये कर। केवल पुण्यके लिये मत कर ॥७४॥ जो तप दान यम नियम आदि मोक्षके लिये किया जाता है उससे जीवोंको हृदय शुद्ध होनेसे महापुण्य उत्पन्न होता है ॥७५॥ जो मुनिराज मोक्षकी प्राप्तिमे लगे रहते हैं और ज्ञान चारित्रसे सदा

मुक्तिसंगसमासक्ता ज्ञानचारित्रभूषिताः । मुनयो नैव वाञ्छन्ति शुभं संसारवर्द्धनात् ॥७६
जायते पुण्यपाकेन नाकलक्ष्मीः सुधीमताम् । भोगोपभोगसम्पन्ना सद्विमानादिसंयुता ॥७७
शुभोदयेन जायन्ते शक्रराजविभूतयः । अनेकदेवसम्पूर्णा दिव्यनार्योपलक्षिताः ॥७८
चक्रवर्त्यादिदिव्यश्रीं लभन्ते धर्मिणः शुभात् । षट्खण्डानेकभूपालनारीं रत्नादिशोभिताम् ॥७९
यस्य पुण्योदयो जातस्तस्य लक्ष्मीर्वशी भवेत् । धनधान्यादिसम्पूर्णा भुवनत्रयसंस्थिता ॥८०
यत्किंचिद्दुर्लभं लोके ऋद्धिसारसुखादिकम् । तत्सर्वं जायते पुंसां पुण्यभाजां न संशयः ॥८१
सुखं पुण्योद्भवं ब्रूते सर्वज्ञो यदि कोऽपरः । प्रतिक्षणभवं शक्रतीर्थराजादिगोचरम् ॥८२
प्ररूपिताः समासेन पदार्था नव चागमात् । विशेषतो विनिश्चेयाः सम्यग्दर्शनधारिभिः ॥८३
तत्त्वश्रद्धानतो जीवाः प्राप्नुवन्ति सुखाकरम् । दर्शनं दोषशङ्कादिवर्जितं विमलात्मकम् ॥८४
परमगुणविचित्रैः सर्वलोकप्रदीपैः, गतसकलविदोषैः तीर्थनाथैः प्रणीतम् ।
विबुधजनसुसेव्यं तत्त्वसारं विशालं, त्वमपि भज विशङ्कं दर्शनं ज्ञानसिद्धयै ॥८५
विशदगुणगरिष्ठं भिन्नभिन्नस्वभावं, जिनवरमुखजातं ग्रन्थितं ज्ञानवृद्धैः ।
बहुनयशतकीर्णं दृष्टिरत्नादिबीजं, सकलपरमतत्त्वं मुक्तिहेतोर्भज त्वम् ॥८६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचितं प्रश्नोत्तरोपासकाचारे
सप्ततत्त्वप्ररूपको नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥२॥

●

सुशोभित रहते है वे संसारको बढ़ानेवाले पुण्यकी कभी इच्छा नहीं करते ॥७६॥ बुद्धिमानोंको पुण्यकर्मके उदयसे अनेक भोग उपभोगोंसे परिपूर्ण और अनेक ऋद्धि सिद्धियोंसे भरी हुई स्वर्गकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥७७॥ पुण्यकर्मके उदयसे इन्द्रकी विभूति प्राप्त होती है जिसमें अनेक देव सेवा करते हैं और अनेक सुन्दर देवांगनाएँ प्राप्त होती है ॥७८॥ धर्मके ही प्रभावसे चक्रवर्तीकी दिव्य लक्ष्मी प्राप्त होती है जिसमें छहों खंडोके अनेक राजा आकर नमस्कार करते है और नारी-रत्न आदि चौदह रत्न तथा नौ निधियोंसे जो सदा सुशोभित रहती है ॥७९॥ इस संसारमें जिस जीवके पुण्य कर्मका उदय होता है उसके धन धान्य आदिसे परिपूर्ण और तीनों लोकोंमें रहनेवाली समस्त लक्ष्मी वश हो जाती है ॥८०॥ संसारमें जो कुछ दुर्लभ है, जो कुछ सारभूत ऋद्धियाँ हैं और जो कुछ सुख हैं वे सब मनुष्योंको पुण्य कर्मके ही उदयसे प्राप्त होते हैं इसमें कोई संदेह नहीं ॥८१॥ इंद्रादिकको जो प्रतिक्षण नवीन नवीन सुख उत्पन्न होते है अथवा तीर्थंकरोको जो गृहस्थ अवस्थामें सुख उत्पन्न होते है वे सब पुण्य कर्मके उदयसे ही होते है ऐसा श्री सर्वज्ञ देवने कहा है ॥८२॥ इस प्रकार आगमके अनुमार संक्षेपसे पदार्थोंका स्वरूप कहा । इनका विशेष वर्णन सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको अन्य ग्रंथोंसे जान लेना चाहिये ॥८३॥ इन सातों तत्त्वोंका श्रद्धान करनेसे जीवोंको शंका आदि सब दोषोंसे रहित और सुखका निधि ऐसा निर्मल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥८४॥ हे भव्य जीव ! यह सम्यग्दर्शन समस्त तत्त्वोंका सारभूत है, अनेक देव इसकी सेवा करते हैं, यह अत्यत विशाल है और अनंत ज्ञान आदि परम गुणोंसे पवित्र, समस्त लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाले तथा समस्त दोषोंसे रहित ऐसे तीर्थंकर परमदेवने इसका वर्णन किया है । इसलिये सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये तू भी शंका आदि सब दोषोंको छोड़कर इस सम्यग्दर्शनका सेवन कर इसको धारण कर ॥८५॥ इन सब तत्त्वोंका स्वभाव भिन्न भिन्न है । ये सब तत्त्व अनेक

निर्मल गुणोंसे ही उत्तम गिने जाते हैं, इनका स्वरूप श्री जिनेंद्रदेवने कहा है, इनका स्वरूप अनेक नयोंसे कहा जाता है और सम्यग्दर्शन रूपी रत्नके लिये ये मुख्य कारण हैं इसलिये हे भव्य जीव ! ज्ञानको बढ़ानेके लिये और मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इन तत्त्वोको धारण कर—इनको जान ॥८६॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे सात तत्त्व और नौ पदार्थोंके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२॥

●

तीसरा परिच्छेद

शंभवं जिनमानम्य भव्यलोकसुखप्रदम् । देवधर्मगुरून् वक्ष्ये सम्यग्दर्शनहेतवे ।।१
वीतरागो भवेद्देवो धर्मो हिंसाविवर्जितः । निर्ग्रन्थश्च गुरुर्नान्य एतत्सम्यक्त्वमुच्यते ।।२
कानिचिज्जिननामानि वक्ष्ये शब्दार्थयोगतः । यानि भव्योपकाराय ध्यातव्यानि मुनीश्वरैः ।।३
पञ्चकल्याणपूजाया योग्यः स्वर्गाधिनायकैः । गर्भादिसत्कृतायाश्च बुधैर्योऽर्हन् स संस्मृतः ।।४
अरीणां कर्मशत्रूणां दुःखशोकविधायिनाम् । हन्ता योसौ भवेल्लोकेऽरिहन्ता प्रोच्यते जिनैः ।।५
मोहदुःकर्मविश्लेषाद्रजःकर्मविनाशनात् । अन्तरायक्षयात्सार्थोऽरिहन्ता कथ्यते जिनैः ।।६
अनन्तजन्मसन्तानदायिनां कर्मवैरिणाम् । जयाज्जिनो भवेत्सर्वकर्मशत्रुविमर्दकः ।।७
केवलज्ञानमत्यन्तं लोकालोकं विभासते । यस्य नित्यं स्वयं वाप्य विष्णुः स स्यान्न चापरः ।।८
लक्ष्मी सभादिका जाता ज्ञानादिप्रभवा पुनः । यस्येश्वरो भवेत्सोऽपि नान्यो नाम्ना हि तं विना ।।९
सभायां दृश्यते यो हि चतुर्वक्त्रो नरामरैः । परब्रह्मस्वरूपो वा ब्रह्मा सः स्यान्न चापरः ।।१०

अथानन्तर—अब मैं भव्य जीवोंको सुख देनेवाले भगवान् संभवनाथको नमस्कार कर सम्यग्दर्शनको दृढ करनेके लिये देव धर्म और गुरुका स्वरूप वर्णन करता हूँ ।।१।। जो वीतराग है वही देव है, जो हिंसासे रहित है वही धर्म है और जो परिग्रह रहित है वही गुरु है। इनके सिवाय न देव है, न धर्म है और न गुरु है ऐसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है ।।२।। अब मैं भगवान् जिनेन्द्रदेवके कुछ नाम उनके अर्थ सहित बतलाता हूँ। वे नाम भव्य जीवोंका उपकार करनेवाले हैं और मुनियोंके द्वारा ध्यान करने योग्य हैं ।।३।। वे भगवान् पंच कल्याणक पूजाके योग्य हैं, स्वर्गके अनेक इन्द्रोंने उनके गर्भ जन्म आदि संस्कार किये हैं और विद्वान् लोग सदा उनका स्मरण करते रहते हैं इसीलिये उनका नाम अर्हत् (जो पूज्य हो) प्रसिद्ध हुआ है ।।४।। वे भगवान् दुःख शोक आदिको बढ़ानेवाले, कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेवाले है इसीलिये अरिहंत (अरि—कर्मरूप शत्रुको हंत–मारनेवाले, नाश करनेवाले) कहलाते हैं। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है ।।५।। अथवा उनका मोहरूपो सबसे अधिक अशुभ कर्म नष्ट हो गया है तथा धूलिके समान ज्ञान दर्शनको रोकनेवाले ज्ञानावरण दर्शनावरण नष्ट हो गये हैं और अन्तरायकर्म नष्ट हो गया है। इस प्रकार चारों घातिया कर्म नष्ट होनेसे अरहन्त कहलाते है ।।६।। उन भगवान्ने अनंतानंत जन्मों तक बराबर दुःख देनेवाले कर्मरूप शत्रुओंको जोता है अर्थात् समस्त कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट किया है इसलिये वे जिन (कर्मोंको जीतनेवाले) कहलाते हैं ।।७।। उनका केवलज्ञान समस्त लोक अलोकमें व्याप्त होकर रहता है तथा लोक अलोक दोनोंको प्रकाशित करता है इसलिये वे विष्णु कहलाते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेवके सिवाय अन्य कोई विष्णु नहीं है ।।८।। केवलज्ञानके उत्पन्न होनेसे उनके अनन्त चतुष्टय वा समवसरण आदि अनेक प्रकारकी लक्ष्मी प्रगट हुई है इसलिये वे ईश्वर कहलाते हैं। इनके सिवाय अन्य कोई नामका भी ईश्वर नहीं है ।।९।। देव और मनुष्योंको समवसरण सभामें उनके चारों ओर चार मुँह दिखाई देते हैं अथवा वे भगवान् परम ब्रह्म स्वरूप हैं, शुद्ध आत्म स्वरूप हैं इसलिये वे ब्रह्मा कहलाते हैं। ब्रह्मा भी उनके सिवाय अन्य कोई नहीं है ।।१०।। वे भगवान् अनन्त सुखसे परिपूर्ण और सब प्रकारकी सिद्धियोंसे

शिवशर्माकरं येन सर्वसिद्धिव्यवस्थितम् । प्राप्तं मुक्तिपदं स स्याच्छिवो लोके न तद्विना ॥११
लोकालोकं च जानाति ज्ञानेनैव सपर्ययाम् । योऽसौ बुद्धो भवेन्मान्यो नान्यो नाम्ना हि केवलम् ॥१२
आत्मानमपरं वा यो वेत्ति द्रव्यकदम्बकम् । त्रिकालगोचरं साक्षात्स सर्वज्ञो भवेद्ध्रुवम् ॥१३
यः पश्यति चिदानन्दं स्वयं स्वस्मिन् तथा परम् । बाह्यं चराचरं विश्वं स सर्वदर्शी स कीर्तितः ॥१४
तीर्थं धर्ममयं यस्तु ज्ञानतीर्थं प्रवर्तयेत् । भवेत्तीर्थंकरः सोऽपि सर्वसत्त्वहितोद्यतः ॥१५
योषिद्वस्त्रादिसंत्यागाद्वीतरागो बभूव च । धर्मोपदेशनाद्धर्मो निर्ग्रन्थो ग्रन्थवर्जनात् ॥१६
देवानामधिदेवत्वाद्देवदेवो जगद्गुरुः । गुरुत्वादम्बरत्यागाद्दिगम्बर इति स्मृतः ॥१७
ऋषीणामधिज्येष्ठत्वाद् ऋषीशो विमलो भवेत् । मलादिवर्जनाद्देवो मुक्तिसंगमक्रीडनात् ॥१८
इत्यादिनामसंदृब्धामर्हन्नामावलीं जप । सार्थेनापि सहस्राष्टकेन पुण्यकरां वराम् ॥१९
एकचित्तेन यो धीमान् नाम प्रादाय संजपेत् । ध्यायेद्वा जिननाथस्य साक्षात्सोऽपि जिनायते ॥२०
सर्वदोषविनिर्मुक्तं मुक्तिस्त्रीसंगलालसम् । अनन्तमहिमायुक्तं त्वं भज श्रीजिनाधिपम् ॥२१
ये दोषा जिननाथेन नाशिता मे प्ररूपय । स्वीकृतान्मूढलोकैस्तान् स्वामिन् मुक्तिप्रबन्धकान् ॥२२

सुशोभित ऐसे मोक्षपदको प्राप्त हुए है इसलिये संसारमें शिव (कल्याण करनेवाले) कहलाते है। शिव भी उनके सिवाय अन्य कोई नही है ॥११॥ भगवान् अरहन्तदेव लोकाकाशके समस्त पदार्थोंको तथा अलोकाकाशको उनकी अनन्त पर्यायों सहित जानते है इसलिये वे ही बुद्ध है, वे ही ससारमें मान्य हैं, उनके सिवाय संसारमे अन्य कोई बुद्ध नहीं है ॥१२॥ वे भगवान् अपने आत्माको तथा अन्य समस्त द्रव्योंको उनकी भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाली पर्यायों सहित साक्षात् जानते हैं इसलिये सर्वज्ञ कहलाते है ॥१३॥ वे भगवान् अपने चिदानन्दमय आत्माको स्वयं अपने आत्मामें ही देखते हैं तथा चर अचर रूप बाहरके समस्त संसारको देखते हैं इसलिये वे सर्वदर्शी (सबको देखनेवाले) कहलाते है ॥१४॥ समस्त जीवोंका हित करनेवाले वे भगवान् धर्म-रूप तीर्थकी और ज्ञानरूप तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले है इसलिये तीर्थकर कहलाते है ।१५॥ उन्होंने स्त्री वस्त्र आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है इसलिये वे वीतराग कहलाते हैं, अरहन्त अवस्थामें सदा धर्मोपदेश देते रहते है इसलिये धर्म कहलाते है और सब तरहके परिग्रहसे रहित हैं इसलिये निर्ग्रन्थ कहलाते हैं ॥१६॥ वे भगवान् देवोंके भी देव है इसलिये देवदेव वा देवाधिदेव कहलाते हैं, सबके गुरु है इसलिये जगद्गुरु कहलाते है और वस्त्रादिकके त्यागी है इसलिये दिगंबर कहे जाते हैं ॥१७॥ ऋषियोंमें भी सबसे बडे है इसलिये ऋषीश कहे जाते हैं। सब तरहके मल वा दोषोंसे रहित है इसलिये विमल कहलाते हैं और मुक्तिरूपी कांताके साथ क्रीड़ा करते हैं इसलिये देव कहलाते है ॥१८॥ इस प्रकार सार्थक अर्थको धारण करनेवाले एक हजार आठ नाम भगवान् अरहन्तदेवके ही है। उनकी यह नामावली सबसे उत्तम है और पुण्य उत्पन्न करनेवाली है इसलिये हे भव्य ! तू उन्हीका जप कर ॥१९॥ जो बुद्धिमान् एकाग्रचित्त होकर भगवान् जिनेन्द्रदेव का नाम लेकर जप करता है वा ध्यान करता है वह भी कालान्तरमे साक्षात् जिनेन्द्रदेव हो जाता है ॥२०॥ हे भव्य ! यदि तू मुक्तिरूपी लक्ष्मीका साथ करना चाहता है—मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो सब दोषोंसे रहित और अनन्त महिमाको धारण करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवकी सेवा कर ॥२१॥

प्रश्न—हे भगवन् ! भगवान् जिनेन्द्रदेवने जिन दोषोंको नष्ट कर दिया है, मूर्ख लोक ही

**क्षुत्पिपासा भयो द्वेषो रागो मोहो विचिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः ॥२३
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः । बुधैः कुजन्मसन्तानकारकाः कुजनैर्धृताः ॥२४
दुर्मोहकर्मनाशत्वाद्वेदनीयातिमन्दतः । अनन्तसुखसंयोगात् क्षुधा न स्याज्जिनेशिनाम् ॥२५
तत्सर्वविगमात्तेषां पिपासा जायते न च । अस्त्रादिवर्जनाद्द्वेषो न भयः शाम्यरूपतः ॥२६
रामादिसंगसंन्यासात् रागो नैव भवेत् क्वचित् । वस्त्राभरणसंत्यागान्मोहो नष्टश्च स्वामिनाम् ॥२७
साधितात्मस्वभावत्वाच्चिन्ता न स्यात्कुकर्मजा । अजरस्थानसंयोगाज्जरा नैवोपजायते ॥२८
असद्वेद्यनीयाभावाद् रोगाः सर्वे क्षयं गताः । आयुःकर्मक्षयाच्च स्यान्मृत्युः क्षीतीर्थदेशिनाम् ॥२९
अहंकारनिपातेन मदो नष्टो बुधैः स्मृतः । रतिकर्मवियोगेन रतिर्नास्ति सभादिषु ॥३०
लोकालोकपरिज्ञानाद् विस्मयो नैव कुत्रचित् । सर्वकर्मक्षयाच्चैव प्रादुर्भावो हि योनिषु ॥३१
निद्रादिकर्मनष्टत्वान्निद्रा संजायते न च । शुक्लध्यानादिहंतुत्वाद्विषादो नाशितो जिनैः ॥३२
एतैर्दोषैर्महानिन्द्यैः पूरितं भुवनत्रयम् । सर्वं कुदेवसंज्ञानं धर्मविध्वंसकैश्च भोः ॥३३**

जिनको स्वीकार वा धारण करते हैं और जो मोक्षको रोकनेवाले है—मोक्ष प्राप्त नही होने देते उन दोषोंको कहिये। उ०—भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, बुढापा, रोग, मृत्यु, खेद, पसीना, मद, अरति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा, विषाद ये अठारह दोष कहलाते है, ये दोष नरकादि अनेक कुजन्मोंमें दुःख देनेवाले है और नीच लोग ही इनमें रत रहते है ॥२२-२४॥ भगवान् अरहंतदेवके दुष्ट मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है, वेदनीय कर्म अत्यंत मंद हो गया है और अनंत सुख प्राप्त हो गया है इसलिये भगवान् अरहंतदेवके भूखका (क्षुधा नामके दोषका) सर्वथा अभाव है ॥२५॥ इसी प्रकार मोहनीय कर्मके नाश होनेसे, वेदनीय कर्मके मद होनेसे और अनंतर सुख प्राप्त होनेसे उनके प्यास भी नहीं लगती है। उन्होंने समस्त अस्त्र शस्त्रोंका त्याग कर दिया है इसीसे जान पड़ता है कि उनके द्वेष नही है। तथा उनका स्वरूप अत्यंत सौम्य है, सब तरहके विकारोंसे रहित है इसीलिये मालूम होता है कि उनके भय बिल्कुल नहीं है ॥२६॥ उनके स्त्री समागम सर्वथा नही है इसलिये उनके रागका अभाव स्वयं सिद्ध हो जाता है तथा उनके वस्त्र आभरण आदिका सर्वथा त्याग है इसीलिये मालूम होता है कि उनका मोह सर्वथा नष्ट हो गया है ॥२७॥ उन्होंने स्वाभाविक रीतिसे ही अपने आत्माको सिद्ध कर लिया है इसलिये अशुभ कर्मों को उत्पन्न करनेवाली चिन्ता भी उनके कभी नहीं हो सकती। तथा उन्हे अजर अमर मोक्षस्थान प्राप्त हो गया है अतएव उनके बुढ़ापा भी कभी नहीं हो सकता है ॥२८॥ उन तीर्थंकर भगवान्के असातावेदनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो गया है और आगेके लिये आयु कर्मका बंध नही है। आयुकर्मके बंधका सर्वथा अभाव है इसलिये उनके मृत्यु भी कभी नहीं हो सकती अथवा उनका आयु कर्म ही सर्वथा नष्ट हो गया है इसलिये भी उनकी मृत्यु नही हो सकती ॥२९॥ अहंकारका नाश होनेसे उनके मद भी नहीं है और रति कर्मके नाश होनेसे सभा आदिमें उनको रति भी नहीं है ॥३०॥ वे लोक अलोक सबको एक साथ जानते हैं इसलिये उन्हें किसी पदार्थमें भी आश्चर्य नहीं हो सकता तथा समस्त कर्मोंके नाश होनेसे वे किसी योनिमें भी जन्म नहीं ले सकते अर्थात् उनके जन्मका भी सर्वथा अभाव है ॥३१॥ निद्रा आदि कर्मोंके नाश हो जानेसे उनके निद्राकी संभावना भी नहीं हो सकती और वे शुक्लध्यानमें लीन रहते हैं इसलिये उनके विषाद भी किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥३२॥ ये अठारह दोष महा निंद्य हैं और धर्मको नष्ट करनेवाले हैं, परन्तु इन दोषोंसे तीनों लोक भरा हुआ है यहाँ तक कि कुदेवोंके समूह भी इनसे नही बचे है ॥३३॥ जो इन अठारह

एतैः सर्वैर्महादोषैः वर्जिता ये जिनेश्वराः। ते भवन्ति जगत्पूज्या देवा लोकोत्तमा नृणाम् ॥३४
अष्टादशमहादोषैर्वर्जितं जिननायकम्। सर्वलोकहितं देवं भज त्वं सुरपूजितम् ॥३५
आहारं वीतरागस्य ये केचन वदन्ति मे। तत्स्यात्सत्यमसत्यं वा स्फेटय त्वं हि संशयम् ॥३६
आहारं यदि गृह्णाति क्षुधादोषं लभेत सः। तृषादोषं पुनर्ज्ञेयं पिपासादवेनादिजम् ॥३७
द्वेषः क्षुद्वेदनोत्पन्नो रागो मोहश्च भक्षणात्। चिन्तनं तस्य चिन्ताया आमयं तीव्रदुःखतः ॥३८
आहारसंज्ञया युक्तो जन्ममृत्युजरादिकान्। यः कथं संत्यजेत्सोऽपि श्रीजिनोऽपीश्वरादिवत् ॥३९
आहारालाभतो द्वेषो विषादश्चारतिर्भवेत्। निद्रा संलभते तस्मात्जिनस्यैवास्मदादिवत् ॥४०
कातरत्वेन यो देवो गृह्णन्नाहारमञ्जसा। अनन्तं तस्य वीर्यं च कथं संकल्पते वृथा ॥४१
क्षुद्वेदना समा न स्यात्काचित्पीडा शरीरिणाम्। क्षुद्वेदनावियुक्तो यस्तस्या अन्तसुखं कुतः ॥४२
आहारनाममात्रेण प्रमत्तः कथ्यते मुनिः। अत्यक्ताहारभोगो यः सः सर्वज्ञः कथं भवेत् ॥४३
तुच्छवीर्यो नरो नास्ति मद्यमांसादिदर्शनात्। संयुक्तोऽनन्तवीर्येण कथं भुङ्क्ते जिनोत्तमः ॥४४

दोषोंसे रहित है वे ही भगवान् जिनेन्द्रदेव है, वे ही जगत पूज्य है, वे ही ससारमे उत्तम हैं और वे ही मनुष्योंके परम देव हैं ॥३४॥ हे भव्य जीव ! भगवान् अरहन्तदेव इन अठारह महादोषोंसे रहित हैं, समस्त जीवोंका हित करनेवाले है और देवोंके द्वारा भी पूज्य है इसलिये तू उनकी ही सेवा भक्ति कर ॥३५॥ कोई कोई लोग भगवान् वीतरागके भी आहार मानते है उनका कहना सत्य है अथवा असत्य है तू इस सन्देहको भी सर्वथा छोड़ दे ॥३६॥ यदि भगवान् अरहन्तदेव आहार ग्रहण करें तो उनके क्षुधा दोष अवश्य मानना पड़ेगा तथा क्षुधाके साथ साथ प्यास भी अवश्य होगी और जब भूख प्यासकी तीव्र वेदना होगी तब भय भी अवश्य ही होगा ॥३७॥ द्वेष भूख प्यासकी वेदनासे ही उत्पन्न होता है और भोजन करनेसे राग मोह होता है। भोजन आदि-का चिंतवन करनेसे चिंता होती ही है और फिर तीव्र दुःख होनेसे रोग होता ही है ॥३८॥ जो श्री जिनेंद्रदेव ईश्वरके समान आहार संज्ञाको करते हैं—आहार लेते हैं तो फिर वे जन्म-मरण आदि दोषोंको भला कैसे छोड़ सकते है ? अर्थात् आहारके साथ जन्म मरण जरा आदि अन्य दोष भी अवश्य मानने पड़ेंगे ॥३९॥ यदि आहारकी प्राप्ति न हो तो द्वेष होता है, विषाद होता है और अरति होती है तथा आहारकी प्राप्ति होनेसे निद्रा अवश्य होती है। ऐसी अवस्थामें अरहत देवकी सेवा करना हमारी सेवा करनेके ही समान है। भावार्थ—यदि अरहंतदेवके आहार माना जायगा तो फिर उनके भी हमारे तुम्हारे समान सब दोष मानने पड़ेंगे फिर उनमें हममे कोई अंतर नहीं रहेगा ॥४०॥ अरे जो देवाधिदेव होकर भी कातरता धारण कर आहार ग्रहण करते है फिर भला उनके व्यर्थ ही अनंत वीर्यकी कल्पना क्यों करते हो अर्थात् कातरोंके अनतवीर्य कैसे हो सकता है ॥४१॥ इस संसारमें जीवोंके भूखके दुःखके समान और कोई पीड़ा नही है और ऐसी वह सबसे बड़ी पीड़ा—सबसे बड़ा दुःख जिसके है उसके भला अनत सुख कैसे हो सकता है। भावार्थ—भगवान् अरहंत-देवके आहारकी कल्पना करनेपर फिर उनके अनंत सुखका भी अभाव अवश्य मानना पड़ेगा ॥४२॥ अरे जो मुनि आहारका नाम भी लेते हैं वे भी प्रमत्तसंयमी कहलाते हैं—प्रमाद सहित कहलाते हैं फिर भला जिन्होंने आहारका त्यागतक नहीं किया है—जो आहार ग्रहण करते हैं वे सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं ? ॥४३॥ जो अत्यंत अल्प शक्तिका धारण करनेवाले हैं वे भी मद्य मांस आदि निषिद्ध पदार्थोंके देख लेनेपर भोजन नहीं करते, अन्तराय मानकर भोजनका त्याग कर देते हैं फिर भला वे श्री जिनेन्द्रदेव अनन्त शक्तिको धारण करते है—अनंतवीर्य सहित हैं और सर्वज्ञ

इच्छा यस्य भवेन्नित्यं भक्षणादिकगोचरा । तस्य लोभः कथं न स्यात्संसारीजीववत् ध्रुवम् ॥४५
सति लोभे नहि ज्ञानं केवलं प्रकटं भवेत् । ज्ञानादिविरहान्नैव सर्वज्ञः कथ्यते बुधैः ॥४६
आहारास्वादनाद्यस्य ज्ञानमिन्द्रियसम्भवम् । तस्य श्रीकेवलस्यैव दत्तं नीराञ्जलित्रयम् ॥४७
भोजनं कुरुते यस्तु तस्य दोषकदम्बकम् । भवत्येव न सन्देहो भाषितं मुनिपुंगवैः ॥४८
आहारादिसमायुक्ता यदि देवा भवन्ति वै । तदा सर्वे मनुष्याश्च सर्वज्ञाः संभवन्त्यहो ॥४९
अनेकगुणसम्पूर्णः सर्वज्ञः सर्वलोकवित् । त्यक्ताहारमहासंज्ञो भवेद् घातिविघातनात् ॥५०
यदींदुस्तीव्रतां धत्ते चंचलत्वं च मन्दरः । तथापि वलभते नैव जिनोऽनन्तसुखाकरः ॥५१
उपोषितस्य जीवस्य भोजनं कथ्यते यदि । महत्पापं भवत्येव व्यलीकप्रवादतः ॥५२
जगद्गुरोः सुदेवस्य वीतरागस्य भोजनम् । ये वदन्ति दुराचारास्तेषां पापं न वेद्म्यहम् ॥५३
निश्चयं कुरु भो मित्र क्षुद्दोषादिविवर्जिते । वल्लभादिपरित्यक्ते जिने मुक्तिस्वयंवरे ॥५४
अनेकातिशयापन्नं प्रातिहार्यादिभूषितम् । ज्ञानादिगुणसंयुक्तं भज त्वं जिननायकम् ॥५५

वा सर्वदर्शी होनेसे संसारभरके मद्य मांस आदि समस्त निषिद्ध पदार्थोको एक साथ देखते हैं फिर भला वे किस प्रकार आहार ग्रहण कर सकते है ? अर्थात् कभी नही ॥४४॥ विचार करनेकी बात है कि जब भगवान् अरहन्तदेवके सदा भोजन करनेकी इच्छा बनी रहेगी तो फिर उनके अन्य संसारी जीवोंके समान लोभ भी अवश्य मानना पड़ेगा (क्योंकि इच्छा लोभसे ही होती है लोभकी ही एक पर्याय है) ॥४५॥ तथा लोभके रहते हुए उनके केवलज्ञान प्रगट नही हो सकता और केवलज्ञानके न होनेसे वे कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकते ॥४६॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि आहार ग्रहण करनेसे उनके आहारका स्वाद भी अवश्य होगा और स्वाद होनेसे उनका ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान मानना पड़ेगा क्योंकि स्वादका ज्ञान जिह्वा इन्द्रियसे ही होगा, विना जिह्वा इन्द्रिय ज्ञानके स्वाद आ ही नही सकता तथा उनके ज्ञानको इन्द्रियजन्य माननेपर केवलज्ञानके लिये पानीकी तीन अंजलि अवश्य देनी पड़ेगी अर्थात् फिर उनके केवलज्ञानका सर्वथा अभाव मान लेना पड़ेगा (और केवलज्ञानका अभाव होनेसे सर्वज्ञता आदि सबका अभाव मानना पड़ेगा। इसीलिये श्री अरहंतदेवके आहारकी कल्पना करना सर्वथा भ्रम है) ॥४७॥ जो भोजन करेगा उसके अन्य दोषोंका समूह अवश्य उत्पन्न होगा इसमें कोई सन्देह नहीं है । ऐसा अनेक मुनिराजोंने निरूपण किया है ॥४८॥ यदि आहार ग्रहण करते हुए ही देव हो जाय तो फिर संसारके सभी मनुष्योंको सर्वज्ञ मान लेना चाहिये ॥४९॥ भगवान् अरहंतदेव अनेक गुणोसे परिपूर्ण हैं, सर्वज्ञ हैं, समस्त लोक अलोकके जानकार है और घातिया कर्मोके नाश होनेसे आहार परिग्रह आदि सब दोषोंसे रहित हैं ॥५०॥ यदि कदाचित् चन्द्रमासे अग्नि निकलने लगे और मंदराचल पर्वत चलने लगे तो भी अनंत सुखोंके निधि भगवान् जिनेन्द्रदेव आहार ग्रहण नही कर सकते ॥५१॥ यदि किसी जीवने उपवास किया हो और उसके लिये कोई यह कहे कि आज इसने भोजन किया है तो उस कहनेवालेको झूठ बोलने के कारण महा पाप होता है, फिर भला जो लोग जगद्गुरु देवाधि-देव वीतराग भगवान् अरहंतदेवके आहार ग्रहण करनेकी कल्पना करते हैं उनके पापको हम लोग कभी नही जान सकते अर्थात् वे सबसे अधिक पापी हैं ॥५२-५३॥ इसलिए हे मित्र ! तुम्हें निश्चय कर लेना चाहिये कि भगवान् अरहन्तदेव भूख, प्यास आदि सब दोषोंसे रहित हैं अतएव आहार भी कभी ग्रहण नहीं करते इसीलिये मुक्तिस्त्रीने उनको स्वयं स्वीकार किया है ॥५४॥ हे भव्य ! वे भगवान् जिनेन्द्रदेव अनेक अतिशयोंसे सुशोभित हैं, आठों प्रातिहार्योंसे विभूषित हैं और ज्ञानादि

शृणु वत्स महाप्राज्ञ कथ्यमानं मयाधुना । गुणग्रामं जिनेन्द्रस्य सर्वदुःखविनाशनम् ॥५६
निःस्वेदत्वं भवत्येव वपुर्मलविवर्जितम् । रुधिरं क्षीरतुल्यं संस्थानं प्रथममुत्तमम् ॥५७
वज्रवृषभनाराचनाम्ना संहननं भवेत् । महारूपं च सौरम्यं सौलक्षण्यं बुधैः स्मृतम् ॥५८
अप्रमाणं महावीर्यं वचः सत्यं शिवं हितम् । दशैवातिशया जाता वपुषा सह स्वामिनाम् ॥५९
सुभिक्षता भवेन्नित्यं गव्यूतिशततुर्यकम् । आकाशगमनं हिंसावर्जितं सर्वसत्त्वकम् ॥६०
निराहारश्चोपसर्गरहितः श्रीजिनेश्वरः । चतुर्मुखो भवेत्सर्वविद्येशः छायवर्जितः ॥६१
अस्पंदनयनः केशनखवृद्धिविवर्जितः । दशातिशयसम्पन्नो जिनः स्याद् घातिनाशनात् ॥६२
जिनाधिस्वामिनां भाषा भव्यधान्याब्दवृष्टिका । भिन्नदेशादिजातानां भवेत्सर्वार्थदायिका ॥६३
मार्जारमूषकादीनां मित्रत्वं परमं भवेत् । सर्वर्तुफलसंयुक्तास्तरवः श्रीजिनाधिपे ॥६४
दर्पणेन समा ज्ञेया मही रत्नमयी बभौ । सुगन्धानिल एव स्यात्प्रानन्दः सर्वदेहिनाम् ॥६५
मरुत्कृता भवेद् भूमिः कंटकादिविवर्जिता । गन्धोदकमहावृष्टिं कुर्वन्ति सुरवारिदाः ॥६६
पादन्यासे जिनेन्द्राणां हेमपद्मानि सन्ति वै । शाल्यादि धान्यसंदोह फलनम्रो विराजते ॥६७

अनन्त गुण सहित है ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी तू सेवा भक्ति कर ॥५५॥

हे बुद्धिमान् वत्स ! अब मै समस्त दुःखोंको दूर करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंको कहता हूँ, तू चित्त लगाकर सुन ॥५६॥ उनके शरीरपर पसीना नही आता, उनके मल मूत्र नही होता, उनके शरीरका रुधिर दूधके समान सफेद होता है, उनके शरीरका सस्थान समचतुरस्र होता है, संहनन वज्रवृषभनाराच होता है, उनका शरीर अत्यन्त रूपवान होता है, सुगन्धित होता है, उनके शरीर पर सब सुन्दर लक्षण होते है, प्रमाण रहित महावीर्य (महाबल) होता है और उनके वचन सत्य, सबको प्रिय लगनेवाले और सबका हित करनेवाले होते है। ये दश अतिशय भगवान्के शरीरके साथ ही उत्पन्न होते हैं ॥५७–५९॥ जब भगवान्के घातिया कर्म नष्ट हो जाते है तब नीचे लिखे दश अतिशय प्रगट होते है। भगवान् अरहन्तदेव जहाँ विराजमान होते हैं उसके चारों ओर चारसौ कोस तक सदा सुभिक्ष बना रहता है, वे भगवान् आकाशमें गमन करते हैं, उनके पास कोई भी प्राणी किसीको हिंसा नही कर सकता अर्थात् सब जीव आपसमें मित्रता धारण कर लेते है, वे भगवान् निराहार रहते है, उन पर कभी किसी प्रकारका उपसर्ग नही हो सकता, समवसरणमें उनका मुंह चारों ओर दिखाई देता है, वे समस्त विद्याओके स्वामी होते है, उनके शरीरकी छाया नही पड़ती, उनके नेत्रोंमें टिमकार (पलकसे पलक) नही लगती, उनके केश और नख नही बढ़ते। भगवान्के ये दश अतिशय घातिया कर्मोंके नाश होनेसे होते है ॥६०-६२॥ नीचे लिखे चौदह अतिशय देवकृत कहलाते हैं—भगवान् जिनेन्द्रदेवकी दिव्य-ध्वनि निरक्षरी होकर भी अर्ध मागधीभाषाके रूपमें परिणत हो जाती है फिर उसे सब जीव अपनी अपनी भाषा में सँभाल लेते है। देवलोग उसका प्रसार वा फैलाव करते रहते है। चूहे बिल्ली वा बाघ हिरण आदि जातिविरोधी जीव भी (जन्मसे ही विरोधी) अपना विरोध छोड़कर परम मित्रता धारण कर लेते हैं। भगवान्के समीपवर्ती समस्त वृक्ष छहों ऋतुओके फल फूलोंसे सुशोभित हो जाते है। समवसरणकी पृथ्वी रत्नमयी और दर्पणके समान अत्यन्त निर्मल हो जाती है। समस्त जीवोंको प्राण देनेवाला सुख देनेवाला वायु शीतल मंद सुगंधित बहा करता है। देवलोग वहांकी भूमिको सदा कांटे कंकर आदिसे रहित बनाये रखते हैं। देवरूपी बादलोंसे सर्वदा

आकाशं निर्मलं विद्धि प्रांधकारविवर्जिताः । दिशश्चाह्वाननं कुर्युर्देवा इन्द्राज्ञया सदा ॥६८
धर्मचक्रं स्फुरद्रत्नं हेमनिर्मापितं भवेत् । सहस्रारं महादीप्तं श्रीतीर्थस्वामिसन्निधौ ॥६९
एतान् देवा हि कुर्वन्ति जिनेन्द्राणां महागुणान् । चतुर्दश भवन्त्येव सर्वेऽत्रातिशया वराः ॥७०
अशोकाख्यो महावृक्षः पुष्पवृष्टिरनेकधा । भाति सर्वगुणोपेता दिव्यध्वनिरनोपमा ॥७१
वीज्यमानो जिनो देवैश्चतुःषष्टिप्रकीर्णकैः । सिंहासनत्रयं रेजे दीप्तं भामण्डलं सदा ॥७२
सार्द्धद्वादशसंकोटिवादित्रैर्भाति देवजैः । दुन्दुभिः शब्द एवात्र श्वेतछत्रत्रयं भवेत् ॥७३
प्रातिहार्याष्टकैः देवकृतैः श्रीजिननायकाः । भान्ति प्रान्तव्यतिक्रान्तं ज्ञानं केवलदर्शनम् ॥७४
अनन्तं च महावीर्यं सुखं वाचामगोचरम् । पिण्डीकृताः गुणाः सर्वे षट्चत्वारिंशदेव स्युः ॥७५
अन्ये गुणा जिनेन्द्राणां बहवः सन्ति भूतले । विज्ञेया मुनिभिरन्यशास्त्राद्युपशमादिकाः ॥७६
ज्ञायन्ते न यथाऽसंख्या ऊर्मयः सागरे घने । धारा खाङ्गणे तारास्तथा श्रीजिनसद्गुणाः ॥७७
अनन्तगुणसम्पूर्णान् पञ्चकल्याणपूजितान् । अनन्तमहिमोपेतान् भज त्वं जिननायकान् ॥७८
अनन्यशरणो यस्तु सेवते तीर्थंकारकान् । कुदेवानपि संत्यज्य सः स्यात्ताहग्विधोऽचिरात् ॥७९

गंधोदककी महा वृष्टि होती रहती है। भगवान् विहार करते समय जहाँ जहाँ अपने चरण कमल रखते हे उनके नीचे देवलोग अनेक सुवर्णके कमलोंकी रचना किया करते है। चांवल आदिके खेत सब फलोंसे नम्रीभूत हुए (नवे हुए) शोभायमान रहते है। आकाश सदा निर्मल रहता है। दिशाएँ भी सब निर्मल रहती है उनमें कभी अंधकार नहीं होता। इन्द्रकी आज्ञासे देवलोग सदा आह्वान करते रहते हैं—बुलाते रहते है। देदीप्यमान रत्न और सुवर्णका बना हुआ एक हजार आरोंसे सुशोभित और अत्यंत देदीप्यमान धर्मचक्र सदा तीर्थंकर भगवान्‌के आगे रहता है। ये भगवान्‌के महागुणरूप चौदह अतिशय देवकृत होते हैं। इस प्रकार भगवान्‌के चौंतीस उत्तम अतिशय होते हैं ॥६३-७०॥ भगवान्‌के समीप ही अशोक महावृक्ष रहता है, अनेक गुणोंसे सुशोभित अनेक प्रकारकी पुष्पवृष्टि होती रहती है, उपमा रहित भगवान्‌की दिव्यध्वनि खिरती रहती है, देवलोग चौसठ चमर सदा ढोरते रहते हैं, भगवान् सुन्दर तीन सिंहासनपर विराजमान रहते है, उनके पीछे देदीप्यमान भामंडल रहता है, देवोंके द्वारा साढ़े बारह करोड़ दुंदुभी बाजे सदा बजते रहते हैं और उनके मस्तकके ऊपर सफेद तीन छत्र सदा फिरा करते है ॥७१-७३॥ इस प्रकार देवोंके द्वारा किये हुए इन आठ प्रातिहार्योंसे भगवान् सदा सुशोभित रहते है। इनके सिवाय अनंत ज्ञान (केवलज्ञान), अनंत दर्शन (केवल दर्शन), अनत महावीर्य और जो वाणीसे भी नहीं कहा जा सके ऐसा अनंत सुख ये चार अनंत चतुष्टय भगवान्‌के होते हैं। इस प्रकार भगवान् अरहंतदेव-के सब गुण मिलाकर छयालीस होते है ॥७४-७५॥ इसके सिवाय भी भगवान् जिनेंद्रदेवमें अनंत गुण रहते है जिन्हें मुनिराज ही जान सकते हैं ॥७६॥ जिस प्रकार महासागरकी लहरें गिनी नहीं जा सकतीं, जिस प्रकार बादलोंकी धारा गिनी नही जा सकती और जिस प्रकार आकाशमें ताराओं-की संख्या नहीं हो सकती उसी प्रकार भगवान् जिनेन्द्र देवके गुणोंकी संख्या भी कभी नहीं हो सकती ॥७७॥ हे भव्यजीव ! भगवान् जिनेन्द्रदेव अनंत गुणोंसे परिपूर्ण है, पंच कल्याणकोंसे पूज्य हैं और अनंत महिमासहित विराजमान हैं इसलिये तू उन्हींकी सेवाभक्ति कर ॥७८॥ जो जीव कुदेवोंको छोड़कर भगवान् तीर्थंकर परमदेवको ही एक अद्वितीय शरण मानकर उनकी सेवा भक्ति करता है वह उन्हीं जैसा परमात्मा हो जाता है ॥७९॥

ये कुदेवाः भवन्त्यत्र स्वामिंस्तान् मे निरूपय । ज्ञाते सति जनैस्तेषां त्यागं कर्तुं च शक्यते ॥८०
विष्णुब्रह्मादयो ज्ञेयाः कुदेवा योषिदन्विताः । संसारसागरे मग्ना शस्त्राभरणमण्डिताः ॥८१
गोपाङ्गनासमासक्तः पापारम्भप्रवर्तकः । शस्त्रहस्तो भवे रक्तो देवः कृष्णः कथं भवेत् ॥८२
अर्द्धांगे योषितायुक्तः प्रास्थिमालाविभूषितः । लज्जादिरहितो देवः कथं स्यादीश्वरो बुधः ॥८३
तपोभिमानसंयुक्तो देवीनृत्यावलोकनात् । रागाविष्टः कथं ब्रह्मा हीनसत्त्वोऽमरो भवेत् ॥८४
विनायकादयो देवाः पशुरूपेण संस्थिताः । मूढैः संस्थापिता लोके दुःखदारिद्रदायकाः ॥८५
शस्त्रहस्ताः महाक्रूरा व्युद्युक्ता सत्त्वखण्डने । चण्डिकाः पापकर्माढ्याः कथं सेव्याः बुधोत्तमैः ॥८६
विष्ठाविभक्षणे लोला या दुष्टा हन्ति देहिनाम् । पादशृङ्गैः कथं सा गौर्वन्द्या भवति देहिनाम् ॥८७
काकविष्टाविकैर्जातास्तरवः पिप्पलादयः । एकेन्द्रियत्वमापन्नाः कथं पूज्या भवन्त्यहो ॥८८
आचाम्लं भाजनं गेहं कूपिकां काकमेव ये । पूजयन्ति महामूढाः पशवस्ते न मानवाः ॥८९
नीचदेवान् भजन्त्येव क्रूरकर्मात्मनः खलाः । ये ते पापार्जनं कृत्वा मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥९०
नमन्ति ये पशून् मूढा गौहस्त्यादिबहून् वृथा । पशवस्ते भवन्त्यत्र लोकेऽमुत्र विनिश्चितम् ॥९१
वृद्धिदाः ये तरून् भक्त्या प्रार्चयन्ति नमन्ति च । स्युस्तेऽमुत्र नगा नूनं तस्करादि कुसंगवत् ॥९२
नद्यादिजलमत्रैव पूजयन्ति नमन्ति ये । स्नानं कुर्वन्ति तेऽमुत्र मत्स्ययोनिं व्रजन्ति वै ॥९३

प्रश्न—हे स्वामिन् ! कुदेव कौन हैं कृपाकर उनको बतलाइये, क्योंकि उनका ज्ञान होनेपर ही यह जीव उनका त्याग कर सकता है ॥८०॥ उत्तर—जिनके साथ स्त्रियाँ है, जो शस्त्र आभरण आदिसे सुशोभित हैं और संसाररूपी महासागरमें डूबे हुए है ऐसे विष्णु, ब्रह्मा आदि सब कुदेव ही हैं ॥८१॥ जो कृष्ण गोपियोंमें आसक्त है, अनेक पापारम्भोंकी प्रवृत्ति करता है, जिसके हाथमे शस्त्र है और जो संसारमें तल्लीन है वह देव किस प्रकार हो सकता है ? ॥८२॥ जिसके आधे अङ्गमें पार्वती विराजमान है, जिसके गलेमें हड्डियोंकी माला पड़ी हुई है और जो लज्जासे सर्वथा रहित है ऐसा महादेव भला किस प्रकार देव माना जा सकता है ? ॥८३॥ देवीके नृत्यको देखकर जिसने अपने तपका अभिमान छोड़ दिया और रागमें फँस गया वह अत्यन्त तुच्छ पराक्रमको धारण करनेवाला ब्रह्मा देव कैसे हो सकता है ? ॥८४॥ गणेश आदि अन्य कितने ही देव पशु रूपमें विराजमान है वे केवल मूर्ख लोगोंने कल्पना कर लिये है तथा वे इस संसारमें अनेक दुःख दरिद्रता आदिको देनेवाले है ॥८५॥ जिसके हाथमें शस्त्र है, जो महाक्रूर है और जो जीवोंके मारनेमें सदा तत्पर है ऐसी पाप कर्म करनेवाली चण्डीदेवीको विद्वान् लोग कैसे पूजते है ? ॥८६॥ जो विष्ठा भक्षण करनेमे तत्पर है, जो दुष्ट है, अपने पैर और सींगोंसे जीवोंको मारती है ऐसी गायको लोग किस प्रकार पूजते हैं ? ॥८७॥ जिनके ऊपर कौवे बैठे है ऐसे पीपल आदि एकेन्द्रिय वृक्ष भला किस प्रकार पूज्य हो सकते है ॥८८॥ जो लोग छाछकी हंडी, घरका कुंआ और कौआ आदिकी पूजा करते है वे बड़े मूर्ख हैं उन्हे पशु कहना चाहिए मनुष्य नही ॥८९॥ जो क्रूर कर्म करनेवाले, दुष्ट पुरुष नीच देवोंको पूजते हैं वे अनेक पाप उत्पन्न कर नरकरूपी महासागरमें गोता खाते हैं ॥९०॥ जो मूर्ख मनुष्य गाय, हाथी आदि पशुओंको नमस्कार करते हैं वे इस लोकमें भी पशु समझे जाते है और मरकर परलोकमें भी पशु ही होते है ॥९१॥ जिस प्रकार कोई पुरुष चोरोंकी संगति करनेसे चोर हो जाता है उसी प्रकार जो मूर्ख भक्तिपूर्वक वृक्षोंकी पूजा करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं वे परलोकमें वृक्ष ही होते है ॥९२॥ जो मनुष्य नदी सरोवर आदिके जलको पूजते है, नमस्कार करते है, भक्तिपूर्वक उसमें स्नान करते है वे परलोकमें मछली,

नमन्ति यदि गां मूढाः घ्नन्ति यष्ट्यादिभिः कथम् । वन्दते यज्जलं तेन शौचं कुर्युः कथं च ते ॥९४
अहो पिप्पलदूर्वादीन् पूर्वं यान् पूजयन्ति ये । छेदयन्ति पुनस्तांश्च ते खला दुष्टबुद्धयः ॥९५
कुदेवादिसमस्तांश्च त्यक्त्वा त्वं भज श्रीजिनान् । एकचित्तेन भो धीमन् स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये ॥९६
वीतरागान् परित्यक्त्वा कुदेवान् सेवते कुधीः । योऽमृतं हि स संत्यज्य गृह्णन् हालाहलं विषम् ॥९७
भजते तीर्थनाथान् यः कुदेवान् सेवते पुनः । इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः सः स्याज्जम्बुकवत्कुधीः ॥९८
यथाणोश्च परं नाल्पं न महद्गगनात्परम् । तथा श्रीजिनदेवेन समो देवो न विद्यते ॥९९
इति मत्वा जिनाधीशान् मनोवाक्कायकर्मभिः । भज त्वं वत्स मुक्त्यर्थं धर्मार्थं वा विशुद्धिदान् ॥१००
निश्चयं कृत्य तीर्थेशं तदुक्तं धर्ममाचर । अहिंसालक्षणं सारं सर्वसत्त्वसुखप्रदम् ॥१०१
मुक्तिसौख्याकरो धर्मो मुनीनां कथितो जिनैः । स्वर्गऋद्धिप्रदः स्तोकः स च श्रावकगोचरः ॥१०२
संसारसागरे मग्नान् जीवानुद्धृत्य यो ध्रुवम् । धत्ते मुक्तिपदे तं हि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ॥१०३
वदन्ति फलमस्यैव धर्मस्य श्रीजिनेश्वराः । नित्याभ्युदयस्वर्गादिसुखं साक्षाद्धि मुक्तिजम् ॥१०४
धर्मादभ्युदयः पुंसां सुखं चक्र्यादिगोचरम् । इन्द्रादिजं च स्यान्नित्यं तीर्थनाथनिषेवितम् ॥१०५
सद्दर्शनमहामूलं सद्दयाजलसिञ्चितम् । ज्ञानं वृत्तं महास्कन्धं क्षमादिशाखशोभितम् ॥१०६

मगरमच्छ आदिकी योनिमें उत्पन्न होते हैं ॥९३॥ जो मूर्ख लोग गायको नमस्कार करते हैं फिर वे उसे लकड़ी आदिसे मारते क्यों है ? जिस जलको वन्दना करते हैं फिर वे उस जलसे शौचक्रिया क्यों करते हैं ॥९४॥ आश्चर्य है कि जिन पीपल आदि वृक्षोंको पहिले पूजते हैं, नमस्कार करते हैं फिर उन्हीको वे नष्ट बुद्धि मूर्ख काटते है ॥९५॥ इसलिये हे बुद्धिमान् भव्य जीव ! स्वर्ग मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिए तू एकाग्रचित्त होकर समस्त कुदेवोंको छोड़कर श्री जिनेन्द्रदेवकी ही पूजा भक्ति कर ।।९६।। जो अज्ञानी वीतराग परमदेवको छोड़कर कुदेवोंकी सेवा भक्ति करता है वह मानों अमृतको छोड़कर हलाहल विष ग्रहण करता है ॥९७॥ जो तीर्थंकर परमदेवकी पूजा करता हुआ भी अन्य कुदेवोंकी पूजा करता है वह उस मूर्ख (उस शृगाल)के समान है जो इधरसे भी भ्रष्ट हो जाता है और उधरसे भी भ्रष्ट हो जाता है ॥९८॥ जिस प्रकार परमाणुसे अन्य कोई छोटा नहीं है और आकाशसे अन्य कोई बड़ा नहीं है उसी प्रकार श्री जिनेन्द्रदेवके समान अन्य कोई देव नहीं है ।।९९।। यही समझकर हे वत्स ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये आत्माका विशुद्ध करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा भक्ति मन वचन कायसे कर ।।१००।।

इस प्रकार तीर्थंकर परमदेवका निश्चय कर लेनेपर तू उन्हींके कहे हुए धर्मका आचरण कर । वही धर्म अहिंसामय है, सारभूत है और सब जीवोंको सुख देनेवाला है ॥१०१॥ वह धर्म दो प्रकारका है—एक मुनियोंके करने योग्य और दूसरा श्रावकोंके पालने योग्य । मुनियोंका धर्म मोक्ष सुखको देनेवाला है और एक देश श्रावकोंका धर्म स्वर्गोंके सुख देनेवाला है ॥१०२॥ जो संसाररूपी महासागरमें डूबे हुए जीवोंको निकालकर मोक्षपदमें विराजमान कर दे उसीको गणधरादि देवोंने धर्म कहा है । वह धर्म उत्तम क्षमा आदि ही है अन्य नही ॥१०३॥ श्री जिनेन्द्रदेवने इस धर्मका फल सदा ऐश्वर्य विभूतियोंका प्राप्त होना, स्वर्गके सुख प्राप्त होना और साक्षात् मोक्षके सुख प्राप्त होना बतलाया है ॥१०४॥ इस धर्मके प्रभावसे मनुष्योंको अनेक प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं और चक्रवर्ती इन्द्र आदिके सुख सदा प्राप्त होते रहते हैं ऐसा श्री तीर्थंकर परमदेव ने कहा है ॥१०५॥ श्री जिनेन्द्रदेव इस धर्मको एक कल्पवृक्षके समान बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन इसकी बड़ी भारी जड़ है, यह दयारूपी जलसे सींचा जाता है, ज्ञान और चारित्र ही इसके महा

दानादिपल्लवोपेतं ध्यानपुष्पं जिनेश्वराः । स्वर्गमुक्तिफलाढ्यं च धर्मं कल्पद्रुमं जगु. ॥१०७
अमृतादपरं न स्यान्मिष्टं कल्पतरोः परम् । वृक्षो यथा तथा धर्मो दयायाश्च परो न च ॥१०८
कुधर्मं दूरतस्त्यक्त्वा श्रीधर्मं कुरु सौख्यदम् । जिनाख्यातं दयोपेतमेकचित्तेन प्रत्यहम् ॥१०९
भगवंस्तं कुधर्मं हि प्ररूपय ममादरात् । प्रणीतः केन सल्लोके पापादिदुःखदायकः ॥११०
यागादिकरणं विद्धि जीवहिंसादिसम्भवम् । कुधर्मं स्नानजं निन्द्यं तर्पणं श्राद्धमेव च ॥१११
जीवादिहिंसनं ये च कुर्वन्ति कारयन्त्यहो । धर्मयागकुदेवादिकार्ये श्वभ्रे पतन्ति ते ॥११२
यदि हिंसादिसंसक्ता नाकं गच्छन्ति दुर्मदाः । केनैव कर्मणा श्वभ्रं के च यान्ति विचारय ॥११३
जीवनाशकरं स्नानं रागपापादिवर्द्धनम् । धर्मध्वंसकरं विद्धि सागरादिषु प्रत्यहम् ॥११४
यदि स्वर्गो भवेद्धर्मः स्नानादपि पवित्रता । प्राणिनां च तदा मत्स्याः स्वर्गं गच्छन्ति धीवराः ॥११५
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं यस्य नित्यं प्रवर्तते । तस्य शुद्धिः कथं स्नानाज्जायते मद्यकुम्भवत् ॥११६
तिलपिण्डं जले मूढा क्षिपन्ति पितृतृप्तये । ये तेऽतिदुर्गतिं यान्ति त्रसनीराङ्गिहिंसनात् ॥११७
तर्पणं ये प्रकुर्वन्ति मृतजीवादि श्रेयसे । मिथ्यात्वसत्त्वसंघाताद्भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥११८

स्कन्ध हैं, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मरूपी शाखाओंसे यह सुशोभित है, दान पूजा आदि नित्य कर्म ही इसके पत्ते है, ध्यान ही इसके पुष्प है और स्वर्ग मोक्ष ही इसके फल है। इस प्रकार यह धर्म एक कल्पवृक्षके समान है ॥१०६-१०७॥ जिस प्रकार अमृतके सिवाय अन्य कोई वस्तु मिष्ट नहीं है, तथा कल्पवृक्षसे अन्य कोई श्रेष्ठ वृक्ष नहीं है उसी प्रकार दयाधर्मके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं है ॥१०८॥ इसलिये हे भव्य ! तू पापरूप कुधर्मको छोडकर भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तथा सुख देनेवाले दयारूपी धर्मको प्रतिदिन एकाग्रचित्त होकर पालन कर ॥१०९॥ प्रश्न—हे भगवन् ! अब कृपाकर मुझे कुधर्मका स्वरूप बतलाइये। यह दुःख देनेवाला पापरूप कुधर्म इस संसारमे किसने चलाया है ॥११०॥ उत्तर—यज्ञ आदिका करना और बुद्धिपूर्वक जीव हिंसा आदिका करना सब कुधर्म है। इसके सिवाय धर्म समझकर नदी, समुद्रोंमे स्नान करना, तर्पण श्राद्ध करना आदि भी कुधर्म है ॥१११॥ जो यज्ञके लिये, धर्मके लिये वा कुदेवोके लिये जीवकी हिंसा करते हैं वा कराते हैं वे अवश्य नरकमें पड़ते है ॥११२॥ यदि हिंसा आदि पापोमे आसक्त रहने वाले नीच लोग ही स्वर्गको जाते है तो फिर कौनसे जीव कौन कौनसे कामोके द्वारा नरकमें जायंगे ? इसका थोड़ा सा भी विचार कर ॥११३॥ प्रतिदिन नदी समुद्रमे स्नान करनेसे अनेक जीवोंका नाश होता है, रागादिक पाप बढ़ते है और धर्मका नाश होता है, ऐसा तू समझ ॥११४॥ यदि हिंसा करनेसे ही धर्म होता है और स्नान करनेसे ही पवित्रता आती है तो फिर मछली आदि जलचर जीव और धीवर आदि घातक जीव ही स्वर्गको जायगे अन्य नहीं ? ॥११५॥ जिस प्रकार मद्यसे भरे हुए घड़ेकी शुद्धि धोनेसे नहीं होती उसी प्रकार जिसका हृदय सदा दुष्ट बना रहता है उसकी शुद्धि केवल स्नान करनेसे कभी नहीं हो सकती ॥११६॥ जो अज्ञानी जीव पितरोंको तृप्त करनेके लिये तिलोंका पिंड जलमें डालते है वे जीव त्रस जीवोंकी और जलकायिक जीवोंकी हिंसा करनेके कारण दुर्गतिमें ही उत्पन्न होते है ॥११७॥ जो जीव मरे हुए जीवोंका कल्याण करनेके लिये तर्पण करते हैं और उसमें अनेक जीवोंकी हिंसा करते है वह सब उनका मिथ्यात्व है। ऐसे मिथ्यात्वको सेवन करनेवाले जीव संसाररूपी वनमें सदा परिभ्रमण ही किया करते हैं ॥११८॥ जो जीव मृत माता पिताओंको सुख पहुँचानेके लिये श्राद्ध करते है वे आकाशके

मातृपित्रादिसिद्ध्यर्थं श्राद्धं कुर्वन्ति ये वृथा। गृह्णन्ति ते खपुष्पेण वैवन्ध्यासुतशेखरम् ॥११९
भोजनं कुरुते पुत्रः पिता पश्यति तं स्वयम्। यदि तृप्तिं भजन्नैव मृतः सोऽपि कथं श्रयेत् ॥१२०
द्रव्यार्जनान्नसंपाकजातजीवक्षयाद् ध्रुवम्। बृहत्पापकरं श्राद्धं न च पुण्यप्रदं भवेत् ॥१२१
श्रद्धापूर्वं सुपात्राय दानं देयं विवेकिभिः। स्वधर्माय परार्थं न श्राद्धं कार्यं च पापदम् ॥१२२
वर्तमाने स्वपित्राणां धर्मविघ्नं भजन्ति ये। तन्मृतानां च श्राद्धं ते श्वभ्रनाथा भवन्ति वै ॥१२३
बहुनोक्तेन किं मूढः पितृदेवादिकारणम्। तपोदानं च यः कुर्याद् व्यर्थं तस्य भवेच्च तत् ॥१२४
सर्वं च पापदं विद्धि संक्रान्तिग्रहणादिजम्। दानमेकादशीसूर्यप्रभवं कुतपोऽखिलम् ॥१२५
रागद्वेषादिसंसक्तैर्धूर्तैः मिथ्योपदेशिभिः। मूर्खैः कुमार्गसंलग्नैर्योषित्संसक्तमानसैः ॥१२६
प्रणीतो यः कुधर्मो हि मूढसत्त्वप्रतारणः। अक्षसंपोषको दुष्टस्तं त्यज त्वं विषाहिवत् ॥१२७
हिंसाधर्मरताः मूढाः दुष्टाः कुगुरुसेवकाः। कुदेवकुतपःसक्ताः कुगतिं यान्ति पापतः ॥१२८
वरं हुताशने पातो वरं कण्ठे च सर्पिणी। विषस्य भक्षणं श्रेष्ठं मिथ्यात्वान्न च जीवितम् ॥१२९
यदुक्तं जिननाथेन दानपूजाव्रतादिकम्। तपः सोऽपि भवेद्धर्मः कुधर्मं सर्वमन्यथा ॥१३०

पुष्पोंसे बंध्यापुत्रके लिये मुकुट बनाते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार बंध्यापुत्रके लिये मुकुट बनाना व्यर्थ है क्योंकि बंध्याके पुत्र होता ही नहीं उसी प्रकार मृत पुरुषोंके लिये श्राद्ध करना भी व्यर्थ है क्योंकि वह उनके पास पहुँचता ही नहीं ॥११९॥

जिस समय पुत्र भोजन करता है और पिता उसे स्वय देखता है तथापि वह पुत्रके भोजन से तृप्त नही होता फिर भला मरनेपर वह किस प्रकार तृप्त हो सकता है ॥१२०॥ श्राद्ध करनेके लिये द्रव्य कमाना पड़ता है, बहुत सा अन्न सेकना पड़ता है और इन दोनों कामोमें बहुतसे जीवों की हिंसा होती है इस प्रकार श्राद्ध करनेमें भारी पाप तो होता है परन्तु उससे किसी प्रकारका पुण्य उत्पन्न नहीं होता ॥१२१॥ विवेकी पुरुषोंको केवल अपना धर्मपालन करनेके लिये श्रद्धा-पूर्वक सुपात्रोंको दान देना चाहिये यही सबसे उत्तम श्राद्ध है। दूसरोंके लिये (मृत पुरुषोंके लिये) श्राद्ध कभी नही करना चाहिये क्योंकि वह श्राद्ध केवल पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥१२२॥ जो अपने वर्तमान माता-पिताओंके धर्ममें तो विघ्न करते हैं और उनके मरनेपर उनका श्राद्ध करते हैं वे अवश्य नरकके स्वामो होते है ॥१२३॥ बहुत कहनेसे क्या ? जो मूर्ख अपने पितरोंके लिये वा कुदेवोंके लिये तप करते हैं वा दान देते है उनका वह सब इस संसारमें व्यर्थ हो जाता है ॥१२४॥ इसी प्रकार संक्रातिके दिन वा ग्रहणके दिन दान देना, एकादशोके दिन उपवास करना, सूर्यको पूजना आदि सब कुतप है, सब पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥१२५॥ जो राग द्वेषमें आसक्त हैं, धूर्त हैं, मिथ्या उपदेश देनेवाले हैं, कुमार्गगामी हैं, मूर्ख हैं और जिनका हृदय स्त्रियोंमें आसक्त है ऐसे लोगोंके ही द्वारा इस कुधर्मका उपदेश दिया गया है। यह कुधर्म अज्ञानियोंको ठगनेवाला है, इंद्रियोंके अनेक दोषोंको उत्पन्न करनेवाला है और दुष्ट है इसलिये हे भव्य ! तू ऐसे इस कुधर्म-को विषेले सर्पके समान छोड़ ॥१२६-१२७॥ जो अज्ञानी हिंसा धर्ममें आसक्त हैं, जो दुष्ट हैं, कुगुरुओंकी सेवा करनेवाले हैं कुदेवोंकी सेवा करनेवाले हैं और मिथ्या तप करनेमें लगे हुए हैं ऐसे जीव पाप करनेके कारण कुगतियोंमें जाकर जन्म लेते हैं ॥१२८॥ अग्निमें जल मरना अच्छा है, गलेमें सर्पको डाल लेना अच्छा है और विष खा लेना अच्छा है परंतु मिथ्यात्वका सेवन करते हुए जीवित रहना अच्छा नहीं ॥१२९॥ भगवान् जिनेंद्र देवने जो कुछ दान, पूजा, व्रत, तप, आदिका वर्णन किया है वही धर्म है इसके सिवाय जो कुछ है वह अधर्म है ॥१३०॥ जो धर्म तप दान पूजा

जिनमार्गाद्विपक्षं यद्व्रतधर्मतपोऽखिलम् । दानपूजादिकं तच्च मिथ्यात्वं विद्धि दुःखदम् ॥१३१
विधाय निश्चयं प्रोच्चैः धर्मे श्रीजिनभाषिते । जिनवेषान्विताः सेव्या निर्ग्रन्थाः गुरवस्त्वया ॥१३२
सर्वसत्त्वदयोपेतान् शश्वद्धर्मोपदेशकान् । विकथादिविनिर्मुक्तान् हेमतृणसमोपमान् ॥१३३
गिरिशून्यगृहावासान् ध्यानविध्वस्तकिल्विषान् । बाह्याभ्यन्तरभेदेन त्यक्तसर्वपरिग्रहान् ॥१३४
निर्जितेन्द्रियसच्चौरान् मारमातङ्गघातकान् । त्यक्तकार्यादिसंस्कारान् महासत्त्वान् शुभाशयान् ॥१३५
सर्वाङ्गमलसंलिप्तान् निर्मलान् संगवर्जितान् । त्रिकालयोगसंयुक्तान् ध्यानाध्ययनतत्परान् ॥१३६
मौनव्रतधरान् धीरान् सर्वाङ्गश्रुतपारगान् । क्षमादिदशधाधर्मयुक्तान् जितपरीषहान् ॥१३७
दिगम्बरधरांस्त्यक्तदण्डशल्यत्रयादिकान् । विरक्तान् कामभोगेषु रक्तान् मुक्त्यादिके सुखे ॥१३८
दुर्बलीकृतसर्वाङ्गान् सबलीकृतसद्गुणान् । सिंहनिष्क्रीडिताद्युग्रतपःसंसक्तमानसान् ॥१३९
मूलोत्तरगुणोपेतान् प्रसन्नान् सज्जलोपमान् । कर्मेन्धनाग्निसादृश्यान् गम्भीरान् सागरानिव ॥१४०
प्रावृट्काले स्थितान् वृक्षमूले हेमन्तिकेऽचलान् । चतुर्मार्गे च ग्रीष्मे तान् नगशृङ्गेमुखीश्वरान् ॥१४१

अनेकऋद्धिसम्पूर्णान् समर्थान् भव्यतारणे ।
निर्भयान् सद्गुरून् नित्यं भज त्वं स्वर्गमुक्तये ॥१४२ दशभिः कुलकम् ।

आदि भगवान् जिनेंद्र देवके कहे हुए मार्गसे विरुद्ध है उस सबको दुःख देनेवाला मिथ्यात्व समझना चाहिये ॥१३१॥ इस प्रकार भगवान् जिनेंद्रदेवका कहा हुआ धर्म तुझे बतलाया उसका, तू निश्चय कर। अब आगे गुरुका स्वरूप बतलाते है। जिनका भेष श्री जिनेंद्रदेवके समान है और जो चौबीस प्रकारके परिग्रहसे रहित है ऐसे गुरुकी तू सेवा कर ॥१३२॥ जो समस्त जीवोंपर दया करते है, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका उपदेश देते है, विकथा आदि पापोंसे सर्वथा रहित हैं, जो तृण और सुवर्णको समान जानते हैं, जो पर्वतोंपर अथवा कोटर गुफा आदि सूने मकानोंमें रहते हैं, जिन्होंने अपने ध्यानसे समस्त पापोंको धो डाला है, जिन्होंने दश प्रकारका बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकारका अन्तरंग परिग्रह सर्वथा छोड़ दिया है, जिन्होंने इन्द्रियरूपी चोरोंको सर्वथा जीत लिया है, कामदेवरूपी हाथीको मार भगाया है, शरीरके नहाने धोने आदि सब संस्कारोंका त्याग कर दिया है, जो महाबलवान है अथवा महापुरुष हैं, जिनके परिणाम सदा निर्मल रहते हैं, यद्यपि जिनके समस्त शरीरमें मैल लगा हुआ है तथापि परिग्रह रहित होनेसे जो सदा निर्मल रहते हैं, जो प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तीनों समय योग धारण करते हैं, जो ध्यान और अध्ययन करनेमें सदा तल्लीन रहते है, जो मौनव्रत पालन करते है, धीर वीर है, द्वादशांग श्रुतज्ञानके पारगामी हैं, उत्तम क्षमा आदि दशों धर्मोको पालन करते हैं, समस्त परीषहोंको जीतते हैं, दिगम्बर मुद्रा धारण करते हैं, जिन्होंने तीनों शल्य और दण्डोंका त्याग कर दिया है, जो काम भोगोंसे विरक्त हैं, मोक्ष सुखमे आसक्त हैं, जिनका समस्त शरीर दुर्बल हो रहा है, परंतु श्रेष्ठ गुणोंको जिन्होंने अत्यंत बलवान बना लिया है, जिनका हृदय सिंहनिःक्रीडन, उग्र तप आदि कठिन तपोंमें सदा तल्लीन रहता है, जो मूल गुण और उत्तर गुणोंसे सुशोभित है, जो कर्मरूपी ईंधनके लिये जलती हुई अग्निके समान हैं, जो समुद्रके समान गंभीर हैं, जो वर्षाकालमें वृक्षके नीचे विराजमान रहते हैं, शीतकालमें चौहटे मैदानमें अकेले विराजमान रहते हैं और ग्रीष्मऋतुमें पर्वतके शिखरपर जाकर तप करते हैं, जो अनेक ऋद्धि सिद्धियोंसे परिपूर्ण हैं, भव्य जीवोंको संसार समुद्रसे पार कर देनेके लिये समर्थ हैं और जो सदा निर्भय रहते है ऐसे मुनिराज ही श्रेष्ठ गुरु कहे जाते हैं। हे भव्य ! स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू ऐसे श्रेष्ठ गुरुओंकी ही सेवा कर ॥१३३–१४२॥ जो अनेक

देशका ये तरति स्वं संसारे दुःखसागरे। तारयन्ति समर्थास्ते परेषां भव्यदेहिनाम् ॥१४३
गुरून् संगविनिर्मुक्तान् ये भजन्ति बुधोत्तमाः। नाकराज्यादिकं प्राप्य मुक्तिनाथा भवन्ति ते ॥१४४
निर्ग्रन्थान् ये गुरून् मुक्त्वा सेवन्ते कुगुरून् पुनः।
चिन्तामणीन् परित्यज्य काचान् गृह्णन्ति तेऽधमाः ॥१४५
एकाग्रचेतसा धीमन् त्वं त्यक्त्वा कुगुरून्, भज।
दिगम्बरान् महाधीरान् निर्ग्रन्थान् मुक्तिहेतवे ॥१४६
स्वामिंस्त्वं कुगुरूनत्र तान् मे कथयादरात्। संसारजलधौ मग्नान् धर्मध्यानादिवर्जितान् ॥१४७
धनधान्यादिसंसक्तान् नित्यं कामार्थलालसान्। आर्तरौद्रपरान् मूढान् गृहव्यापारभारितान् ॥१४८
मिथ्यात्वप्रेरकान् पापपण्डितान् योषिताश्रितान्। संप्रार्थनपरांल्लोके दुष्टान् दुर्गतिदायकान् ॥१४९
मिथ्योपदेशकान् नीचान् मूढसत्त्वप्रतारकान्। सत्क्रोधानपदान् लग्नान् पथि मिथ्यात्वपूरिते ॥१५०
जिनमार्गपरित्यक्तांस्त्यज त्वं कुगुरून् बहून्। सर्पानिव सदा भ्रातो दूरतः पापशङ्कया ॥१५१
स्वयं मज्जन्ति ये मूढाः भवाब्धि तारयन्ति ते। कथं वा परजीवानां दुष्टाचारपरायणाः ॥१५२
वरं सर्पारिचौराणां संगं स्तान्न परैः समम्। मिथ्यात्वपथसंलग्नैरनन्तभवदुःखदम् ॥१५३
इति मत्वा महाभाग भज सद्गुरुपुङ्गवान्। स्वर्गमुक्त्यादिसिद्धयर्थं सर्वसत्त्वोपकारकान् ॥१५४

दुःखोंसे भरे हुए इस संसार सागरसे स्वयं तरते हैं और अन्य भव्य जीवोंको पार कर देनेमें समर्थ है ऐसे परिग्रह रहित गुरुओंकी जो बुद्धिमान् सेवा भक्ति करते है वे स्वर्गादिकके उत्तम साम्राज्य भोगकर अन्तमें मोक्ष सुखके स्वामी होते हे ॥१४३-१४४॥ जो अधम निर्ग्रन्थ गुरुओंको छोड़कर कुगुरुओंकी सेवा करते है वे चिन्तामणि रत्नको छोड़कर काचको स्वीकार करते हैं ॥१४५॥ इसलिये हे विवेकी भव्य ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कुगुरुओंको छोड़कर एकाग्र चित्तसे महा धीर वीर दिगम्बर और निर्ग्रन्थ मुनियोंकी सेवा भक्ति कर ॥१४६॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! जो संसाररूपी महासागरमें डूब रहे है और धर्मध्यान आदिसे शुभ भावनाओंसे रहित हैं ऐसे कुगुरुओंका स्वरूप कृपाकर कहिये ॥१४७॥ उ०—जो धन धान्य आदिमें लगे हुए हैं, सदा अर्थ और काम दो पुरुषार्थोंकी ही लालसा रखते है, जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानमे तत्पर रहते हैं, घर सबन्धी व्यापारके बोझसे लदे हुए हैं, मिथ्यात्वको प्रगट करनेवाले है, पापोंके करनेमें चतुर है, स्त्रियोंके आश्रय रहते हैं, सदा माँगनेमें लगे रहते है, जो दुष्ट है, मूर्ख है, दुर्गतिके देनेवाले है, मिथ्या उपदेश देनेवाले हैं, मिथ्या उपदेश देनेवाले है, नीच हैं, मूर्ख जीवोंको ठगते फिरते है, क्रोधादिक कषायोंमें लगे हुए हैं, सदा मिथ्यात्वको बढ़ाते रहते है, और जिन्होंने जिनमार्गको छोड़ रक्खा है, ऐसे अनेक कुगुरु हैं, हे भाई ! तू पापोंसे बचनेके लिये सर्पके समान दूरसे ही उनका त्याग कर ॥१४८–१५१॥ अनेक दुराचारोंमें लगे हुए जो कुगुरु संसाररूपी समुद्रमें स्वयं डूब रहे हैं वे भला अन्य जीवोंको कैसे पार कर सकेंगे ॥१५२॥ सर्प, शत्रु, और चोर आदिका समागम करना अच्छा परन्तु मिथ्यात्व मार्गमें लगे हुए इन कुगुरुओंका समागम अच्छा नहीं क्योंकि सर्प शत्रु आदिके समागमसे एक ही भवमें दुःख होता है परन्तु इन कुगुरुओंके समागमसे अनन्त भवों तक दुःख प्राप्त होता रहता है ॥१५३॥ यही समझकर हे भव्यजीव ! हे भाग्यशालिन् ! स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू समस्त जीवोंका उपकार करनेवाले श्रेष्ठ निर्ग्रन्थ गुरुओंकी ही सेवा भक्ति कर ॥१५४॥ हे भव्य जीव ! गणधरादि महापुरुष भी जिनकी सेवा करते हैं ऐसे श्री जिनेन्द्रदेवकी सेवा कर, तथा उन्हीं श्री जिनेन्द्र देवके

भज जिनवरदेवं श्रीगणेन्द्रादिसेव्यं, कुरु परमपवित्रं तत्प्रणीतं सुधर्मम् ।
सकलगुणगरिष्ठं सद्गुरुं संश्रय त्वं, भवति बुधसुबीजं तत्त्रयं दर्शनस्य ॥१५५
विगतसकलदोषं तीर्थनाथैः प्रणीतं, भुवनपतिसुसेव्यं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।
परमगुणनिधानं मोक्षवृक्षस्य बीजं, पिब विगतकुशङ्कां दर्शनाख्यं सुधाम्बु ॥१५६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे
देवधर्मगुरुप्ररूपको नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥

●

कहे हुए परम पवित्र धर्मको धारण कर, और अनेक गुणोंसे सुशोभित निर्ग्रन्थ गुरुओंका स्मरण कर। ये तीनों ही सम्यग्दर्शनके प्रधान कारण है अर्थात् इन तीनोंका यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥१५५॥ हे वत्स ! यह सम्यग्दर्शन एक अमृतके समान है क्योंकि यह समस्त दोषोसे रहित है। भगवान् तीर्थंकर परमदेवने स्वयं इसको निरूपण किया है, तीना लोकोंके इन्द्र, इसकी सेवा करते है, यह भव्यरूपी पात्रमें ही रह सकता है अभव्यके कभी नही होता, तथा यह उत्तम गुणोंका निधि है इसके होनेसे अनेक उत्तम गुण अपने आप प्रगट हो जाते है और मोक्षरूपी वृक्षका तो यह बीज है। इसके प्रगट होनेसे मोक्ष अवश्य मिलती है इसलिये सब प्रकारकी शकाओं-को छोड़कर तू इसका पान कर अर्थात् इस सम्यग्दर्शनको धारण कर ॥१५६॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें देव गुरु धर्मके
स्वरूपको कहनेवाला यह तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥३॥

●

चौथा परिच्छेद

आनन्दोत्पत्तिसद्गेहं नमस्कृत्याभिनन्दनम् । भेदं च कारणं हेतुं वक्ष्ये सद्दर्शनस्य च ॥१
भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी काललब्ध्यादिप्रेरितः । पूर्णः गृह्णाति सम्यक्त्वमङ्ग्युपशमादिकम् ॥२
अन्तर्मुहूर्तकालेन मिथ्यात्वं प्रतिपद्य सः । क्षायोपशमिकं नाम्ना प्राप्नोति दर्शनं भुवि ॥३
क्षायिकं भजते कश्चिद् भव्योऽत्यासन्नमुक्तिगः । अकम्पं मेरुसंतुल्यं कर्मेन्धनहुताशनम् ॥४
सप्तप्रकृतिवृष्कर्मशमने प्रथमं शमम् । जायते भव्यजीवानामूर्ध्वस्वच्छजलोपमम् ॥५
षट्प्रकृतिशमेनैव सम्यक्त्वोदयकर्मणा । क्षायोपशमिकं विद्धि प्राद्धस्वच्छोदकोपमम् ॥६
सप्तप्रकृति निःशेषक्षयाज्जीवा भजन्ति वै । क्षायिकं मुक्तिदं सारं स्वच्छनीरसमं क्रमात् ॥७
सम्यङ्मिथ्यात्वमिश्रेण मिथ्यात्वप्रकृतिर्भवेत् । त्रिधा चतुर्थानन्तानुबन्धिकर्मकषायजम् ॥८
सप्तप्रकृतिकर्माणि हत्वा त्वं भज दर्शनम् । सोपानं प्रथमं मुक्तिगेहे श्रीजिनभाषितम् ॥९
मिथ्यात्वं कीदृशं स्वामिन् कषायं मे निरूपय । ज्ञाते सति पुनस्त्यागं तत्कर्तुं शक्यते जनैः ॥१०

अथानन्तर–आनन्द बढ़ानेवाले भगवान् अभिनन्दन परमदेवको नमस्कार कर सम्यग्दर्शनके भेद, कारण और हेतु कहता हूँ ॥१॥ जो जीव भव्य हो, संज्ञी हो, पर्याप्तक हो और काललब्धि आदि समस्त कारण जिसे प्राप्त हो गये हों ऐसा जीव प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है ॥२॥ फिर वह अन्तर्मुहूर्तके बाद मिथ्यात्व गुणस्थानमें निवास कर क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है। भावार्थ—औपशमिक सम्यग्दर्शनका समय अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्तके बाद मिथ्यात्वका उदय हो जाता है। पुनः समयानुसार क्षायोपशमिक होता है ॥३॥ अत्यन्त शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होते है। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन सुमेरु पर्वतके समान अकम्प है, कभी नष्ट नहीं होता और कर्मरूपी ईंधनको अग्निके समान है ॥४॥ जिस प्रकार मिट्टी मिले पानीमें फिटकरी या कतकफल डाल देनेसे मिट्टी नीचे बैठ जाती है और शुद्ध जल ऊपर आ जाता है उसी प्रकार अनन्तानुबन्धो क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतियोंके उपशम होनेसे भव्य जीवोंके पहिला औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥५॥ पहली छह प्रकृतियोके उदयाभावी क्षय होनेसे तथा उपशम होनेसे और देशघाती सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। जैसे मिट्टी मिले जलमेंसे मिट्टीका कुछ भाग निकल गया हो और थोड़ा सा बना हो। उसी प्रकार चल मलिन आदि दोष जिसमें हों वही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है ॥६॥ ऊपर लिखी हुई सातों प्रकृतियोंके अत्यन्त क्षय होनेसे जीवोंके क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह स्वच्छ जलके समान सम्यग्दर्शन सारभूत है और मोक्ष प्राप्त करनेवाला है ॥७॥ मिथ्यात्व प्रकृतिके तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व। तथा अनन्तानुबन्धी कषायके चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। हे वत्स, तू इन सातों प्रकृतियोंको नष्ट कर सम्यग्दर्शनको धारण कर। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महलको प्रथम सीढ़ी है ऐसा भगवान् सर्वज्ञदेवने कहा है ॥८–९॥

प्रश्न—हे स्वामिन्, यह मिथ्यात्व कैसा है और कषाय कैसे है सो कृपा कर बतलाइये।

विवेको हन्यते येन मूढता च प्रसूयते । नीयन्ते प्राणिनः श्वभ्रं मिथ्यात्वं तज्जगुर्जिनाः ॥११
अनन्तदुःखसन्तानदानदक्षं बुधैः मतम् । मिथ्यात्वं पापसंबीजं धर्मारण्यहुताशनम् ॥१२
रोगक्लेशाकरं दुष्टमनन्तभवकारणम् । मुक्तिधामकपाटं च मिथ्यात्वं त्यज दूरतः ॥१३
मिथ्यादृष्टिर्न जानाति धर्मं हिंसाविवर्जितम् । असत्यं च कुधर्मं ना यथोन्मत्तः पदार्थकम् ॥१४
ज्ञानचारित्रधर्मादि सर्वं नश्यति येन तत् । मिथ्यात्वं विषतुल्यं भो त्यज त्वं बुद्धिनाशकम् ॥१५
एकान्तं विपरीतं च वैनयिकं च संशयम् । अज्ञानं पञ्चधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मुनिपुंगवैः ॥१६
कथ्यते क्षणिको जीवो यत्र तत्र च सर्वथा । अन्यः कर्म करोत्येव भुङ्क्ते अन्यो हि तत्फलम् ॥१७
मत्स्यादिभक्षणे दोषो नास्ति दुःखाकरं खलम् । मिथ्यात्वं विद्धि तन्मित्र कुबोधमतकल्पितम् ॥१८
पुण्यं जीववधाद्यत्र शुद्धि स्नानेन कल्प्यते । क्रूरकर्मरता देवाः गुरवः कामलालसाः ॥१९
पूजनं पशुवृक्षाणां तर्पणं मृतसज्जनात् । विपरीतं चतं ज्ञेयं मिथ्यात्वं द्विजसंभवम् ॥२०
विनयो गीयते यत्र पात्रापात्रेषु प्रत्यहम् । देवादेवेषु तद्विद्धि मिथ्यात्वं तापसप्रजम् ॥२१
ब्रूयते यत्र तीर्थेशे चाहारो मुक्तिसंभवम् । स्त्रीणां गर्भापहारं च वर्द्धमानस्य दुःखदम् ॥२२
यष्टिकावस्त्रपात्रादि सर्वं धर्मस्य साधनम् । तद्धि संशयमिथ्यात्वं भवेत्स्वेतपटप्रजम् ॥२३

क्योंकि ये जीव जानकर ही उनका त्याग कर सकते है ॥१०॥ उत्तर—जिसमें विवेक सब नष्ट हो जाय, मूढ़ता प्रकट हो और जो प्राणियोंको नरकमें पटक दे उसको श्री जिनेन्द्रदेवने मिथ्यात्व कहा है ॥११॥ यह मिथ्यात्व अनेक रोग क्लेश उत्पन्न करनेवाला है, दुष्ट है, अनन्त संसारमें परिभ्रमण करनेवाला है, और मोक्षमहलमें जानेसे रोकनेके लिये जुडे हुए किवाड़ोंके समान है। यह मिथ्यात्व अनन्त परम्परारूप दुःखोंको देनेमें चतुर है, पापका बीज है और धर्मरूपी वनको जला देनेके लिये अग्निके समान है इसलिये हे वत्स ! इसे तू दूरसे ही छोड़ ॥१२-१३॥ मिथ्यादृष्टी जीव हिंसा रहित धर्मको कभी नही समझ सकता। जिसप्रकार पागल पुरुष पदार्थोंको उलटा ही जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव भी असत्य और कुधर्मको ही जानता है ॥१४॥ उस मिथ्यात्वसे ज्ञान चारित्र धर्म आदि सब नष्ट हो जाता है। यह जीवोंको विषके समान है और बुद्धिको नाश करनेवाला है इसलिये हे भव्य, इसे तू शीघ्र ही छोड़ ॥१५॥ मुनिराजोने इस मिथ्यात्वके पाँच भेद बतलाए हैं—एकान्त, विपरीत, वैनयिक, संशय और अज्ञान ॥१६॥ जिस मतमें जीवको सर्वथा क्षणिक बतलाया है, उस मतमे कर्मोको अन्य जीव करता है और उनके फलोंको अन्य ही भोगता है तथा जो मछली आदिके भक्षण करनेमें दोष ही नहीं समझते उनका वह दुःख देनेवाला, दुष्ट और केवल अपनी कुबुद्धिसे कल्पना किया हुआ बौद्धमत एकान्त मिथ्यात्व है ॥१७–१८॥ जिस मतमें जीवोंकी हिंसासे पुण्य बतलाया गया हो, स्नानसे शुद्धि बतलाई गई हो, जिनके देव हिंसा आदि क्रूर कर्मोंमें लगे हुए है, गुरु लोग कामकी लालसामें लिप्त हों, जिसमे पशु वृक्ष आदिकी पूजा करना बतलाया हो और मृत मनुष्योंका तर्पण बतलाया हो, ऐसा ब्राह्मणोंका वैदिक मत विपरीत मिथ्यात्व समझना चाहिए ॥१९–२०॥ जिस मतमें प्रतिदिन पात्र अपात्रोंकी, देव अदेवोंकी सबकी विनय की जाती हो वह तपस्वियोंका विनय मिथ्यात्व कहलाता है ॥२१॥ जो तीर्थंकर अरहन्तदेवमें भी आहारकी कल्पना करते हैं, स्त्रियोंको भी मोक्ष होना बतलाते है, जो वर्द्धमान स्वामीका गर्भापहरण मानते है, जो लकड़ी, वस्त्र, पात्र आदि सबको धर्मका साधन मानते है (धर्मोपकरण मानकर साधु लोग रखते हैं) वह दुःख देनेवाला श्वेताम्बरों-

अज्ञानजं कुमिथ्यात्वं भवेत्म्लेच्छादिगोचरम् । खाद्याखाद्यपरित्यक्तविचारं शून्यवादनम् ॥२४
पञ्चप्रकारमिथ्यात्वं दूरं तं मतकल्पितम् । उक्तं स्याद्बहुधाप्यन्यदनेकाशयजं भुवि ॥२५
मिथ्यात्वकर्मजं ज्ञेयं मिथ्यात्वं धर्मनाशकम् । ज्ञानचारित्रनिर्मूलस्फोटकं पापकारणम् ॥२६
सम्यक्त्वप्रकृतिर्ज्ञेया दर्शनस्य मलप्रदा । स्वपरादिषु बिम्बेषु ममत्वजनका हठात् ॥२७
समानं सर्वदेवेषु सर्वधर्मादिकेषु च । करोति परिणामं यन्मिश्रकर्म तदुच्यते ॥२८
क्रोधमानादिभेदेन कषायाः पापहेतवः । चतुर्धा हि भवन्त्याद्या अनन्तभवकारकाः ॥२९
संत्यज्य सप्तप्रकृतीः भज दुःखविनाशकम् । दर्शनं स्वर्गसोपानं श्वभ्रतिर्यङ्निवारणम् ॥३०
अष्टाङ्गसंयुतं येऽत्र भजन्ति दर्शनं शुभम् । शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं ते व्रजन्ति परं पदम् ॥३१
अङ्गानि यानि सन्त्यत्र दर्शने तानि भोः प्रभो । निरूपय ममाग्रे हि कृपां कृत्वा तदाप्तये ॥३२
चलत्यचलमालेयं शीततां लभतेऽनलम् । दैवात् ज्ञानादिजं तत्त्वं न च श्रीजिनभाषितम् ॥३३
सूक्ष्मतत्त्वेषु धर्मेषु जिनेषु सन्मुनौ शुभे । ज्ञाने संत्यज्यते शङ्का या सा निःशङ्किता मता ॥३४
भयसप्तविनिर्मुक्तां कुदेवादिविवर्जिताम् । निःशङ्कां कुरुते योऽसौ मुक्तिश्रीवशमानयेत् ॥३५
सौभाग्ये भोगसारे च स्वर्गे राज्यादिके धने । इच्छा संत्यज्यते धर्माद् या सा निःकाङ्क्षिता भवेत् ॥३६

का सांशयिक मिथ्यात्व है ॥२२-२३॥ अज्ञान मिथ्यात्व म्लेच्छ आदि जीवोंके होता है, जो शून्यवादी हैं और जिनमें भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नही होता ॥२४॥ यह पाँचों प्रकारका मिथ्यात्व पापोंको उत्पन्न करनेवाला है और बुद्धिके द्वारा स्वयं कल्पित किया हुआ है। इनके सिवाय अभिप्रायोंके भेदसे इस संसारमें और भी अनेक प्रकारका मिथ्यात्व समझ लेना चाहिये ॥२५॥ यह मिथ्यात्व मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है। यह धर्मको नाश करनेवाला है। ज्ञान चारित्रको जडसे उखाड़ देनेवाला और अनेक पापोंका कारण है ॥२६॥ सम्यक्त्वप्रकृति सम्यग्दर्शनमें मल उत्पन्न कर देती है तथा यह जिनालय हमारा है, यह प्रतिमा हमारी है, यह दूसरेकी है, इस प्रकार हठ पूर्वक ममत्व उत्पन्न कर देती है ॥२७॥ सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति सब देवोंमें तथा सब धर्मोंमें समान परिणाम उत्पन्न कर देती है इसीलिये उसको मिश्र प्रकृति कहते हैं ॥२८॥ इसी प्रकार अनन्त संसारमें परिभ्रमण करानेवाले और पापोंके कारण ऐसे अनन्तानुबन्धी कषायके भी क्रोध मान माया लोभके भेदसे चार भेद होते हैं ॥२९॥ हे वत्स ! तू इन सातों प्रकृतियों-का त्याग कर और दुःखोंको दूर करनेवाले, स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करानेवाले तथा नरक और तिर्यञ्च गतिको रोकने वाले सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर ॥३०॥ जो भव्य जीव शंका आदि दोषोंसे रहित और आठों अंगों सहित इस शुभरूप सम्यग्दर्शनको स्वीकार करते हैं वे अवश्य ही परम निर्वाण पदको प्राप्त करते हैं ॥३१॥ प्रश्न – हे प्रभो ! अब कृपाकर मेरे लिये सम्यग्दर्शनके अंगोंका निरूपण करिये, क्योंकि जान लेने पर ही वे स्वीकार किये जा सकते हैं ? ॥३२॥ उत्तर—चाहे पर्वतमाला चलायमान हो जाय और अग्नि शीतल हो जाय तथापि भगवान् सर्वज्ञदेवके कहे हुए तत्त्वोंमें कभी अंतर नहीं पड़ सकता। इसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्वोंमें, धर्मके स्वरूपमें, अरहन्तदेवके स्वरूपमें, श्रेष्ठ मुनियोंमें और शुभ ज्ञानमें शंकाका त्याग कर देना निश्चय हो जाना निःशंकित अंग कहलाता है ॥३३-३४॥ जिसे किसी प्रकारका भय नहीं है जिसने कुदेवादिकोंका सर्वथा त्याग कर दिया है और भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तत्त्वोंमें किसी प्रकारकी शंका नहीं करता वह अवश्य ही मोक्ष लक्ष्मी-को अपने वश कर लेता है ॥३५॥ सौभाग्य प्राप्त होनेमें, धर्मके फलसे उत्तम भोगोंके मिलनेमें,

धर्मं कृत्वापि यो मूढः ईहते भोगमात्मनि । रत्नं दत्वा स गृह्णाति काचं स्वर्मोक्षसाधनम् ॥३७
इच्छन्ति ये बुधा नित्यं मुक्तिं कर्मक्षयं पुनः । धर्मं कृत्वा लभेन्नित्यं सुखं श्रीजिनसेवितम् ॥३८
सर्वाङ्गमलसंलिप्ते मुनौ रोगादिपीडिते । घृणा न क्रियते या सा ज्ञेया निर्विचिकित्सता ॥३९
जिनमार्गे भवेद्रूढं सर्वं नो चेत्परीषहाः । इति ज्ञात्वा हि संत्यागे भावपूर्वा मता हि सा ॥४०
रोगादिपीडिता येऽपि तपोवृत्तादिकं सदा । चरन्ति मुनयो धीरास्ते धन्या भुवनत्रये ॥४१
धर्मे देवे मुनौ पुण्ये दाने शास्त्रे विचारणम् । दक्षैर्यत्क्रियते तद्धि प्रामूढत्वं गुणं भवेत् ॥४२
यो दक्षो देवसद्धर्मगुरुतत्त्वविचारणे । नाकराज्यादिकं प्राप्य सः स्यान्मुक्तिस्वयंवरः ॥४३
धर्माधर्मं न जानाति मूढो देवादिकं च यः । धर्ममुद्दिश्य पापं सः कृत्वा दुर्गतिमाप्नुयात् ॥४४
सद्धर्मिणां मुनीनां च दृष्ट्वा दोषं विवेकिभिः । छादनं क्रियते यच्च तद्भवेदुपगूहनम् ॥४५
आगतं दोषमालोक्य जिनमार्गस्य ये बुधा । छादयन्ति न किं तेषां स्वर्गमुक्त्यादिकं भवेत् ॥४६
जिनधर्मस्य यो निन्द्यो मुनीनां वा करोति वै । निन्दां स पापभारेण मज्जति श्वभ्रसागरे ॥४७
व्रतचारित्रधर्मादिचलतां धर्मदेशिभिः । स्थिरत्वं क्रियते यत्तत् स्थितिकरणमुच्यते ॥४८
श्रीधर्मादौ सदा येऽपि कुर्वन्ति स्थिरतां बुधाः । पुंसां नाकादिकं प्राप्य ते व्रजन्ति स्थिरं पदम् ॥४९

स्वर्गके सुखोंमें, राज्यमें और धनादिमें इच्छाका त्याग कर देना—इनके प्राप्त होनेकी इच्छा न करना सो निःकाङ्क्षित अग कहलाता है ॥३६॥ जो मूर्ख धर्म सेवन कर अपने भोग सेवन करनेकी इच्छा करता है वह स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करनेवाले अमूल्य रत्नको देकर काच खरीदता है ॥३७॥ जो विद्वान् धर्म सेवन कर सदा मोक्ष प्राप्त होनेकी और कर्मोंके नाश करनेकी इच्छा करते हैं वे अवश्य ही भगवान् जिनेन्द्रदेवको प्राप्त हुए सुखोंको पाते है ॥३८॥ यदि मुनिराजका शरीर रोग आदिसे पीड़ित हो, अथवा उनके सब शरीरपर मैल लगा हो, तो भी उन्हे देखकर घृणा न करना और उनके गुणोंमें प्रेम करना निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है ॥३९॥ जिन मार्गमें सब जगह परीषहोंका सहन करना ही उत्तम होता है ऐसा विचारकर घृणाका त्याग देना भावपूर्वक निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है ॥४०॥ जो धीर वीर मुनि रोगादिकसे पीड़ित होकर भी महाव्रतोंको पालन करते हैं, घोर तपश्चरण करते है इसलिये वे तीनों लोकमें धन्य गिने जाते हैं ॥४१॥ जो चतुर पुरुष धर्म, देव, मुनि, पुण्यदान और शास्त्र आदिमें पूर्ण विचार करते हैं उनके यह अमूढ़दृष्टि अंग होता है ॥४२॥ जो जीव देव, सद्धर्म, गुरु और तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको विचार करनेमें चतुर है, वह स्वर्गादिकके सुख और राज्य आदिको पाकर अन्तमें मोक्षलक्ष्मीका स्वामी होता है ॥४३॥ जो मूर्ख धर्म अधर्मके स्वरूपको नही जानता, न देव कुदेवोंके स्वरूपको जानता है वह धर्म समझकर अनेक पाप करता है और इसीलिये अन्तमें दुर्गति को प्राप्त होता है ॥४४॥ जो विवेकी पुरुष धर्मात्मा और मुनियोंके दोषोंको देखकर भी ढक देते हैं, प्रगट नहीं करते उसे उपगूहन अंग कहते हैं ॥४५॥ जो विद्वान् जिन मार्गके आये हुए (अज्ञान वा प्रमादसे लगे हुए) दोषोंको देखकर ढक देते हैं उन्हें स्वर्ग मोक्षादिक क्यों नहीं प्राप्त होंगे अर्थात् अवश्य प्राप्त होंगे ॥४६॥ जो निंद्य पुरुष जिन धर्मकी वा मुनियोंकी निन्दा करता है वह पापके भारसे अवश्य नरकरूपी महासागरमें पड़ता है ॥४७॥ जो धर्मात्मा पुरुष व्रत चारित्र वा धर्मसे डिगते हुए पुरुषोंको फिर उसीमें स्थिर कर देता है, धर्ममें लगा देता है वह उसका स्थितिकरण अंग कहलाता है ॥४८॥ जो विद्वान् अन्य मनुष्योंको धर्मादिकमें सदा स्थिर करते रहते हैं वे स्वर्गादिकके सुख

कुर्वन्ति ये महामूढा विघ्नं दानवृषादिषु । तपोज्ञानसुपूजादौ स्युस्ते वै श्वभ्रगामिनः ॥५०
सद्धर्मिणि मुनौ जैने स्नेहं यत्क्रियते बुधैः । सद्यः प्रसूतगोवत्सं ज्ञेयं वात्सल्यमुत्तमम् ॥५१
ये कुर्वन्ति मुनौ जैने स्नेहं धर्मसुखप्रदम् । ते तीर्थनाथसंभूतिं लब्ध्वा मुक्तिं भजन्ति भो ॥५२
पुत्रदारादिसन्ताने स्नेहं कुर्वन्ति येऽधमाः । पापाकरं महादुःखं प्राप्य ते यान्ति दुर्गतिम् ॥५३
ज्ञानोग्रतपसासक्तैः दानपूजादिकारकैः । जिनधर्मस्य माहात्म्यं क्रियते सा प्रभावना ॥५४
कुर्वन्ति प्रकटं ये च जिनधर्मं श्रुतादिभिः । प्रतिष्ठादिकैरधर्मैस्ते भव्या यान्ति निर्वृतिम् ॥५५
प्रभावनादिकं येऽपि घ्नन्ति दुष्टाः सुपुण्यदम् । जिनधर्मस्य ते दुःखं प्राप्य श्वभ्रे पतन्ति वै ॥५६
अष्टांगसंयुतं सारं समर्थं दर्शनं भवेत् । नाशने कर्मशत्रूणां यथा सैन्ययुतो नृपः ॥५७
एकैकमङ्गमासाद्य गताः भव्याः शिवालयम् । सर्वाङ्गसंयुता ये ते किं न मुक्ता भवन्त्यहो ॥५८
अष्टाङ्गपरिपूर्णं हि भज त्वं दर्शनं शुभम् । अनेककर्मसन्तानस्फोटकं मुक्तिसाधनम् ॥५९
यस्य यच्च फलं यातं स्वामिन्नङ्गादिसेवनात् । तस्य भव्यस्य तत्सर्वं दयां कृत्वा प्रकाशय ॥६०

अतुलगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकमूलं, त्रिभुवनपतिसेव्यं कर्मकक्षे कुठारम् ।
भवजलनिधिपोतं पुण्यतीर्थं पवित्रं, भज रहितकुसङ्गं दर्शनं व्यङ्गयुक्तम् ॥६१

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे
अष्टाङ्गप्ररूपको नाम चतुर्थः परिच्छेदः ॥४॥

●

पाकर अन्तमें मोक्षपदमें जा विराजमान होते हैं ॥४९॥ जो मूर्ख दान धर्म तप ज्ञान पूजा आदिमें विघ्न करते हैं वे अवश्य ही नरकोंके दुःख भोगते हैं ॥५०॥ जिस प्रकार सद्यः (हालकी) प्रसूता गाय अपने बच्चेपर प्रेम करती है उसी प्रकार जो विद्वान् धर्मात्मा भाइयोंमें, मुनियोंमें और जैन धर्ममें प्रेम करते हैं उनका वह सबसे उत्तम वात्सल्य अंग समझना चाहिये ॥५१॥ जो भव्य मुनियोंमें, जैन धर्ममें और धर्मात्माओंमें सुख देनेवाले धर्मरूप प्रेमको करते हैं वे तीर्थंकरकी विभूतिको पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥५२॥ जो अधम स्त्री पुत्र आदि सन्तानोंमें पाप उत्पन्न करनेवाला प्रेम करते है वे अनेक दुःखोंको पाकर अवश्य ही दुर्गतियोंमें जन्म लेते हैं ॥५३॥ ज्ञान के द्वारा, उग्र तपश्चरणके द्वारा तथा दान पूजा आदिके द्वारा जैन धर्मका माहात्म्य प्रगट करना प्रभावना अंग है ॥५४॥ जो भव्य जीव श्रुतज्ञानके द्वारा अथवा पूजा प्रतिष्ठाके द्वारा अथवा अन्य धार्मिक कार्योंके द्वारा जिन धर्मकी महिमा प्रगट करते हैं वे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥५५॥ जो दुष्ट पुण्य उत्पन्न करनेवाली जिन धर्मकी प्रभावनामें विघ्न करते हैं वे अवश्य ही अनेक दुःखोंको पाकर नरकमें पड़ते हैं ॥५६॥ जिस प्रकार अपनी सेनाके साथ होनेसे राजा अपने शत्रुओं को नष्ट कर देता है उसी प्रकार इन आठों अंगोंसे परिपूर्ण और सारभूत सम्यग्दर्शन समस्त कर्म-रूपी शत्रुओंको नष्ट कर देता है ॥५७॥ इस सम्यग्दर्शनके एक-एक अंगको पालन करके ही अनेक भव्य जीवोंने मोक्ष प्राप्त किया है फिर भला जो समस्त अंगोंको पालन करते हैं वे क्यों नहीं मोक्ष प्राप्त कर सकते अर्थात् वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥५८॥ इसलिये हे भव्यजीव ! तू इन आठों अंगोंसे परिपूर्ण सम्यग्दर्शनको धारण कर। यह सम्यग्दर्शन शुभ है, अनेक कर्म-समूहको नष्ट करनेवाला है और मोक्षका साधन है ॥५९॥ प्रश्न—हे भगवन् ! इन आठों अंगोंके सेवन करने से किस-किस भव्य जीवको क्या-क्या फल प्राप्त हुआ है सो आप कृपाकर सब मुझसे कहिये ॥६०॥

उत्तर—हे भव्य ! यह सम्यग्दर्शन अनुपम गुणोंका निधि है, स्वर्ग मोक्षकी जड़ है। तीनों लोकोंके स्वामी तीर्थंकर भी इसकी सेवा करते हैं। यह कर्मरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठारके समान है। संसाररूपी महासागरसे पार होनेके लिये जहाजके समान है। पुण्यरूप है, तीर्थरूप है और अत्यन्त पवित्र है। इसलिये तू सब तरहकी कुसंगतियोंसे बचकर आठों अंगों सहित इसका पालन कर ॥६१॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें आठों अंगोंको निरूपण करनेवाला यह चौथा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥४॥

●

पाँचवाँ परिच्छेद

सुमतीशं जिनं नत्वा वक्ष्ये सन्मति-हेतवे । कथामङ्गादिसञ्जातामञ्जनादिभवामहम् ॥१
अङ्गे निःशङ्कितात्ख्येऽपि विख्यातो योऽञ्जनोऽभवत् । कथां तस्य प्रवक्ष्यामि संवेगादिकरामहम् ॥२
वै धन्वन्तरि-विश्वानुलोमौ नृप-द्विजात्मजौ । मित्रौ पुण्यवशाज्जातौ स्वर्गज्योतिष्कसद्गृहे ॥३
अमितप्रभनामा सः देवोऽभूद्धर्मतत्परः । नृपो द्विजः पुनः जातो नीचो विद्युत्प्रभोऽमरः ॥४
यो जैनः स समायातः इतरस्य गृहे पुनः । दातुं सद्दर्शनं सोऽपि न च गृह्णाति मूढधीः ॥५
परस्परं विवादं तौ कृत्वा धर्मसमुद्भवम् । पार्श्वे तु यमदग्नेश्च तत्परीक्षार्थमागतौ ॥६
पक्षीरूपं समादाय तपोभङ्गं विधाय च । तस्यैव वचनेनैव प्राप्तौ राजगृहे पुरे ॥७
जिनदत्तो भवेच्छ्रेष्ठी तत्र दर्शनधारकः । व्रतेनालङ्कृतो धीमान् दानपूजादितत्परः ॥८
आदाय प्रोषधं रात्रौ कृष्णपक्षेऽष्टमी दिने । कायोत्सर्गं श्मशानेऽसौ ध्यात्वामात्मावलोकतः ॥९
अमितप्रभदेवेन प्रोक्तं तिष्ठन्तु साधवः । दूरे मेऽत्रास्ति शक्तिश्चेद्भ्रातस्ते गृहनायकम् ॥१०
इमं ध्यानसमापन्नं निस्पृहं गुणसागरम् । चालय शीघ्रमागत्य ध्यानाद्धैर्यावलम्बितम् ॥११

अपनी बुद्धिको श्रेष्ठ बनानेके लिये मैं श्री सुमतिनाथ भगवान्‌को नमस्कार कर आठों अंगोंमें प्रसिद्ध होनेवाले अंजन आदिकी कथा कहता हूँ ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनके प्रथम निःशंकित अंगमें जो मनुष्य प्रसिद्ध हुआ है उसकी संवेग प्रगट करनेवाली कथा मै कहता हूँ ॥ २ ॥ एक धन्वन्तरी राजा था। विश्वानुलोम नामका एक ब्राह्मण उसका मित्र था। पुण्यके प्रभावसे धन्वन्तरीका जीव तो मरकर ज्योतिष्क विमानोंमें अमितप्रभ नामका देव हुआ और उस ब्राह्मणका जीव विद्युत्प्रभ नामका देव हुआ। इनमेंसे अमितप्रभ धर्मात्मा था और अच्छी ऋद्धियाँ उसे प्राप्त थी तथा विद्युत्प्रभ धर्महीन था और ऋद्धियाँ भी उसे उससे कम प्राप्त हुई थीं ॥ ३-४ ॥ किसी एक दिन अमितप्रभ नामका देव सम्यग्दर्शन ग्रहण करानेके लिये विद्युत्प्रभके घर आया परन्तु उस मूर्खने सम्यग्दर्शन स्वीकार किया ही नहीं ॥ ५ ॥ तदनन्तर वे दोनों धर्मके विषयमें कुछ विवाद करने लगे और अपने-अपने धर्मकी परीक्षा करानेके लिये यमदग्नि नामके तपस्वीके पास आये ॥ ६ ॥ उन दोनोंने पक्षीका रूप धारण कर लिया और किसी तरह उसके तपश्चरणको भंग कर दिया। फिर वे दोनों देव विद्युत्प्रभकी सलाहसे राजगृह नगरमें आये ॥ ७ ॥ वहाँपर एक जिनदत्त नामका सम्यग्दृष्टी सेठ था, वह बुद्धिमान् व्रतोंसे भी सुशोभित था और दान पूजा आदि कार्योंमें सदा तत्पर रहता था ॥ ८ ॥ उस दिन कृष्ण पक्षकी अष्टमी थी। उस सेठने प्रोषधोपवास किया था और रात्रिमें कायोत्सर्ग धारणकर स्मशानमें जा विराजमान हुआ था। अकस्मात् वहींपर वे दोनों देव आ निकले और उन्होंने ध्यान करते हुए सेठको देखा ॥ ९ ॥ तब अमितप्रभ देवने कहा कि हमारे साधु लोगोंकी बात तो दूर ही रहो, हे भाई! यदि तुझमें शक्ति है तो ये गृहस्थ सेठ ध्यान लगाये हुए विराजमान है, अनेक गुणोंके सागर हैं, निस्पृह है और अपनी शक्तिके अनुसार ध्यान कर रहे हैं इन्हींको तू ध्यानसे चलायमान कर दे ॥ १०-११ ॥ अमितप्रभकी यह बात सुनकर विद्युत्प्रभने वध, बन्धन, हाव, भाव आदि अनेक कुरीतियोंसे असह्य और महा घोर उपसर्ग करना

तेन कृतो महाघोरोपसर्गो दुस्सहो घनः । वधबन्धप्रयोगैश्च हावभावैर्दुरुक्तिभिः ॥१२
बद्धाच्चित्तं स सद्ध्याने वीतरागादिगोचरे । निश्चलं देहनिर्मुक्तं संवेगादिगुणाश्रितम् ॥१३
सुस्थिरोऽचलवद्धीर: साधुवत्सङ्गवर्जितः । प्रसन्नो जलवत्सोऽभूदगाधः सागरादिवत् ॥१४
निरर्थकोऽमरो जातो लज्जाकुलितमानसः । धर्मसंवेगसम्पन्नस्त्यक्तमानस्तदा च सः ॥१५
प्रभातसमये सोऽपि जित्वा शेषपरीषहान् । कायोत्सर्गं विमुच्याशु स्थितो यावत्सुखेन वै ॥१६
ताभ्यामागत्य शीघ्रेण नमस्कारं विधाय सः । पूजितः परया भक्त्या दिव्यवस्त्रादिभूषणैः ॥१७
आकाशगामिनीं विद्यां गृहाणेमां बुधोत्तम । सिद्धां कार्यकरां सारां धर्मयात्रादिहेतवे ॥१८
सारपञ्चनमस्कारप्राराधनप्रपूजनात् । परेषां सिद्धिमायाति सा विद्या पुण्ययोगतः ॥१९
इत्युक्त्वा तं नमस्कृत्य प्रशस्य च मुहुर्मुहुः । अनेकवचनालापैः स्वस्थानं तौ गतौ पुनः ॥२०
पूजामादाय संयाति नृलोके मन्दरादिके । पूजार्थं जिनबिम्बानां प्रत्यहं धर्महेतवे ॥२१
एकदा सोमदत्तादिपुष्पान्तवटकेन सः । प्रपृष्टः प्रत्यहं कुत्र व्रजतीति भवानहो ॥२२
स ब्रूते शृणु हे वत्स पूजनार्थं व्रजाम्यहम् । अकृत्रिमजिनागारे प्रतिमानां शुभाय वै ॥२३
आह सोऽपि पुनः श्रेष्ठिन् कथं तत्र प्रयामि भो । तेनोक्तं तस्य तत्सर्वं विद्यालाभादिकारणम् ॥२४

प्रारम्भ किया ॥ १२ ॥ परन्तु वे सेठ भगवान् वीतराग परमदेवके ध्यान करनेमें तल्लीन बने रहे, उन्होंने शरीरसे ममत्व छोड़ दिया । अपने संवेग आदि गुण बढ़ा लिये और वे निश्चल होकर ध्यान करते रहे ॥ १३ ॥ उस समय वे धीरवीर सेठ पर्वतके समान निश्चल थे, मुनिके समान परिग्रह रहित थे, जलके समान निर्मल थे, और सागरके समान गम्भीर थे ॥ १४ ॥ जब देव सब कुछ कर चुका, आगे करनेमें असमर्थ हो गया तब वह अपने चित्तमें बहुत ही लज्जित हुआ । उसने अपना अभिमान छोड़कर धर्म स्वीकार किया और संवेग धारण किया ॥ १५ ॥ इधर सवेरा होते ही सब परीषहोंको जीतकर सेठने अपने कायोत्सर्गका विसर्जन किया और कुछ देरतक सुखसे बैठे ॥ १६ ॥ इतनेमें ही वे दोनों देव इनके पास आये । दोनोंने सेठको नमस्कार किया और बड़ी भक्तिसे दिव्य वस्त्र और आभूषणोंसे सेठकी पूजा की ॥ १७ ॥ तदनन्तर उन देवोंने सब हाल कहा और प्रार्थना की कि हे उत्तम विद्वान् ! आप धर्मकार्योंके लिये तथा यात्रा आदि धार्मिक कार्य करनेके लिये सब कार्योंको सिद्ध करनेवाली और सारभूत इस आकाशगामिनी विद्याको स्वीकार कीजिये ॥ १८ ॥ यदि सारभूत पंच नमस्कार मंत्रके द्वारा आराधना और पूजा की जायगी तो पुण्यकर्मके उदयसे यह विद्या अन्य लोगोको भी सिद्ध हो जायगी ॥ १९ ॥ इस प्रकार कहकर, उनको नमस्कार कर, बार-बार उनकी प्रशंसा कर और अनेक प्रकारकी बातें कर वे दोनों देव अपने स्थानको चले गये ॥ २० ॥ इधर जिनदत्त सेठ उस आकाशगामिनी विद्याके प्रभावसे पूजाकी सामग्री लेकर मेरु आदि पर्वतोंपर ढाईद्वीपके अकृत्रिम चैत्यालयोंकी पूजा करनेके लिये प्रतिदिन जाने लगा ॥ २१ ॥

किसी एक दिन उस सेठसे सोमदत्त नामके मालीने पूछा कि हे प्रभो ! आप प्रतिदिन कहाँ जाया करते हैं ? तब सेठने उत्तर दिया कि हे वत्स ! सुन, मैं प्रतिदिन अकृत्रिम चैत्यालयमें विराजमान अत्यन्त मनोहर जिनप्रतिमाकी पूजा करनेके लिये और उससे पुण्य सम्पादन करनेके लिये जाया करता हूँ ॥ २२–२३ ॥ तब सोमदत्तने फिर पूछा कि आप किस प्रकार जाया करते हैं तब इसके उत्तरमें सेठने विद्युत्प्रभ देवकी सब कथा कह सुनाई और उस आकाशगामिनी विद्याका भी सब हाल कह सुनाया ॥ २४ ॥ तब सोमदत्तने फिर प्रार्थना की कि हे विद्वन् ! कृपाकर मुझे

ऊचे स शृणु भो धीमन् ! विद्यां देहि ममादरात् । पुष्पादिकं समादाय गच्छामि भवता सह ॥२५
ततो हि श्रेष्ठिना तस्मै धर्मसंसिद्धिकारणः । उपदेशोऽपि सम्पूर्णो दत्तः श्रीधर्महेतवे ॥२६
ततः कृष्णचतुर्दश्यां कृत्वा सत्प्रोषधद्वयम् । न्यग्रोधाख्ये नगे पूर्वशाखायां संबबन्धवैः ॥२७
अष्टोत्तरशतापादं दर्भशक्यं निधाय च । अधमुर्ध्वमुखास्त्राणि श्मशानेऽतिभयप्रदे ॥२८
पुष्पादिकं समादाय शक्यमध्ये प्रविश्य च । उच्चरित्वा नमस्कारान् पञ्चनायकमन्त्रपान् ॥२९
उद्यमं कुरुते यावत् तत्पादेकैकछेदने । तावच्छुरिकयालोक्य तीक्ष्णास्त्राणि भयं ययौ ॥३०
चिन्तितं तेन मूढेन यद्यसत्यं भविष्यति । वचनं श्रेष्ठिनो दैवात् तदा मे मरणं भवेत् ॥३१
इति मत्वा शठः सोऽपि चढनोत्तरणं भयात् । कुर्वन् पुनः पुनः यावत्तावदन्यां कथां शृणु ॥३२
प्रजापालः नृपस्यैव कनकाख्या सुखप्रदा । राज्ञी बभूव तस्या हि हृदि हारो विराजते ॥३३
दृष्ट्वा तं चिन्तितं सारं विलासिन्याः स्वमानसे । किमनेन विना जीवितव्येनास्ति प्रयोजनम् ॥३४
अञ्जनाख्यः पुनश्चौर आगतो निशि तद्गृहम् । सा ब्रूते यदि मे हारं ददासि नृपमन्दिरात् ॥३५
तदा भर्ता त्वमेव स्यादन्यथा न च भूतले । इति श्रुत्वा स संतोष्य तामतो निर्गतो गृहात् ॥३६

भी वह विद्या दे दीजिये मैं भी आपके साथ पुष्पादिक लेकर चला करूँगा ॥ २५ ॥ उसकी यह प्रार्थना सुनकर सेठने धर्मकार्य करनेके लिये धर्मकार्योंको सिद्ध करनेवाली उस विद्याके सिद्ध करनेका मब उपाय बतला दिया ॥ २६ ॥ उस विद्याको सिद्ध करनेके लिये सोमदत्तने पहिले दो प्रोषधोपवास किये फिर कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीके दिन किसी अत्यन्त भयानक स्मशानमें एक भारी वटवृक्षकी पूर्व शाखा पर एक दाभका सींका बाँधा। उस सीकेमें एकसौ आठ दाभकी लडियाँ थीं और उसके नीचे भूमिपर ऊपरको मुँह किये हुए तीक्ष्ण शस्त्र गढ़े हुए थे ॥ २७–२८ ॥ इतना काम करनेपर वह पुष्पादिक लेकर उस सीकेमें जा बैठा और सर्वश्रेष्ठ पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण कर एक-एक लड़ी काटनेका उद्योग करने लगा।[1] इस प्रकार वह पहिली लड़ी काटना ही चाहता था कि नीचेके छुरा आदि तीक्ष्ण शस्त्रोंको देखकर वह डर गया और विचार करने लगा कि यदि दैवयोगसे सेठके वचन असत्य हो जाँय (सब लडियोंके काट लेनेपर भी विद्या सिद्ध न हो) तो फिर अवश्य ही मेरा मरण हो जायगा ॥२९–३१॥ इस प्रकार विचार कर वह मूर्ख सीकेसे उतर आया परन्तु कुछ सोचकर फिर चढ गया। इसी प्रकार वह बहुत देर तक चढ़ने उतारनेका काम करता रहा। इसी बीचमें एक दूसरी घटना इस प्रकार हुई ॥३२॥

उस समय उस नगरमें प्रजापाल नामके राजा राज्य करते थे, उनको सुख देनेवाली कनकावती रानी थी। उसके गलेमें एक रत्नोंका हार था जो कि बहुत ही सुन्दर था ॥३३॥ उस हारको देखकर एक वेश्याने अपने मनमें विचार किया कि इस हारके विना जीना व्यर्थ है ॥३४॥ रातको उस वेश्याके घर अंजन नामका चोर आया। उससे उस वेश्याने कहा कि यदि तू राजमहलमें से लाकर वह रानीका हार मुझे देगा तभी मैं तुझे अपना स्वामी बनाऊँगी, अन्यथा नहीं। वेश्याकी यह बात सुनकर चोरने उसे धैर्य बंधाया और बड़े अहंकारसे उस हारको लेनेके लिये

---

१. एक एक बार पञ्च नमस्कार मंत्रका उच्चारण एक एक लडी काट लेने पर अर्थात् एक सौ आठ बार नमस्कार मन्त्रका उच्चारण एक सौ आठ लडियाँ काट लेने पर उस विद्याके सिद्ध होनेका नियम था।

प्रविश्य गृहमध्येऽस्य विज्ञानेन निजेन तम् । समादाय व्रजन् वेगाद्दृष्टो रत्नादितेजसा ॥३७
ध्रियमाणः स तं त्यक्तः कोटवालाङ्गरक्षकैः । आगतो वटवृक्षे तं दृष्ट्वा पृष्ट्वा ददौ च तम् ॥३८
भूत्वा निःशंकितो धीमान् स श्रेष्ठिवचने शुभे । एकवारेण सर्वं सः शक्यं छित्वा पतेद्यदा ॥३९
तदा विद्या समायाता सिद्धा तं प्रार्थयत्यहो । आदेशं देहि मे स्वामिन् कृपया कार्यसाधकम् ॥४०
नयेति तेन सा प्रोक्ता समीपं श्रेष्ठिनो हि माम् । तया नीतः खमार्गेण समारोप्य विमानके ॥४१
सुदर्शनमहामेरौ जिनचैत्यालये शुभे । अनेकमहिमोपेते धृतस्तस्य पुरो भुवि ॥४२
अञ्जनो वीक्ष्य तं देवं जिनं चैत्यालयादिकम् । अगमन्मुदमत्यन्तं हेमरत्नादितन्मयम् ॥४३
प्रणम्य श्रीजिनं भूयस्तं भव्यं भक्तिनिर्भरः । अवोचच्च वचो धीमान् श्रेष्ठिनं प्रत्यसौ शुभान् ॥४४
स्वामिन् यथा महाविद्या सिद्धा युष्मत्प्रसादतः । अत्रामुत्र भवेत्सौख्यं मम धर्मं निरूपय ॥४५
ततो मत्वा समीपं तौ नत्वा चारणयोः क्रमौ । पृष्ठवन्तौ स्थितौ धर्मं महानर्घ्यं मुनीशयोः ॥४६

निकला ॥३५-३६॥ अपने विज्ञानबलसे[१] वह राजभवनमें घुस गया और अपनी कुशलतासे हार लेकर चलता बना। परन्तु उस हारम लगे हुए रत्नोंका प्रकाश बहुत था इसलिये कोतवाल और पहरेदारोंसे छिप न सका और उन्होने पकड़नेके लिये चोरका पीछा किया। परन्तु वह चोर पहरेदारोंको अपने पीछे पोछे आता हुआ जानकर उस हारको छोड़कर भाग गया। भागते भागते वह उसी वटवृक्षके नीचे आया जहाँ कि सोमदत्त माली आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करनेके लिये प्रयत्न कर रहा था और डरकर चढ़ने उतरनेका काम कर रहा था। चोरने उस सबका कारण पूछा। उत्तरमें उस सोमदत्त मालीने भी सब ज्योंका त्यों बतला दिया ॥३७-३८॥ अंजनचोरको सेठके वचनोंपर विश्वास हो गया और उसने विना किसी शंकाके उसपर चढ़कर एक ही बार पंच नमस्कारका उच्चारण कर सब लडियें काट डालीं। जिस समय सब लडियोंके कट जानेपर वह नीचे गिरने लगा उसी समय आकाशगामिनी विद्याने आकर उसे रोक लिया और उससे प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! कृपाकर मुझे आज्ञा दीजिये इस समय आपका कौन-सा काम करूँ ॥३९-४०॥ तब अंजनचोरने कहा कि इस समय मुझे जिनदत्त सेठके समीप ले चलो। यह सुनकर उस विद्या-देवताने उसी समय विमान बनाया और उसपर बिठाकर आकाश मार्गसे ले चली। उस समय सेठ सुदर्शनमेरुपर चैत्यालयमें थे इसलिये वह विद्या भी उसे अनेक महिमाओंसे सुशोभित उस सुदर्शनमेरुके चैत्यालयमें ले गई और सेठके सामने जाकर पृथ्वो पर उसे उतार दिया ॥४१-४२॥ अंजनचोर उस सुवर्ण और रत्नोंके बने हुए अकृत्रिम दिव्य जिन चैत्यालयको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥४३॥ उसने बड़ी भक्तिसे भगवान् अरहन्त देवको नमस्कार किया और फिर उस बुद्धिमानने भव्य जिनदत्तके समीप आकर उनको नमस्कार किया और वह उनसे इस प्रकार मधुर वचन कहने लगा कि ॥४४॥ हे स्वामिन्! जिस प्रकार आपके प्रसादसे मुझे यह महाविद्या सिद्ध हुई है उसी प्रकार इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें कल्याण करनेवाला धर्म मुझे बतलाइये ॥४५॥ अंजनचोरकी यह बात सुनकर वे सेठ उसको साथ लेकर समीप ही विराजमान दो चारण मुनियोंके समीप पहुँचे। दोनोंने उन मुनिराजोके चरणकमलोंको नमस्कार किया और बैठकर सर्वोत्तम धर्मका स्वरूप पूछा ॥४६॥ उन दोनोंमें से बड़े मुनिराजने उन दोनोंके लिये अनेक महिमाओंसे सुशोभित

---

१. उस समय एक प्रकारका अंजन होता था जिसे लगा लेने से उसको तो सब कुछ दिखाई देता था परन्तु वह स्वयं किसीको भी दिखाई नही पड़ता था और इसीलिये वह अंजनचोर कहलाता था।

ज्येष्ठो मुनिस्ततो ब्रूयाद्धर्मं तौ प्रतिसौख्यदम् । अनेकमहिमोपेतं यतिः श्रावकगोचरम् ॥४७
त्यक्तदोषं महाधर्मं श्रुत्वा संगविवर्जितम् । अञ्जनो याचयामास दीक्षां श्रीमुनिपुंगवान् ॥४८
मुनिर्ब्रूते त्वया भद्र भद्रमेतत्कृतं तपः । यांचितं तव चायुः स्याद्यतः कांश्चिद्दिनानपि ॥४९
जिनमुद्राः समादाय कृत्वा घोरतरं तपः । शुक्लध्यानादियोगेन हत्वा घातिचतुष्टयम् ॥५०
शीघ्रमुत्पादयामास त्रैलोक्यक्षोभकारणम् । केवलज्ञानसाम्राज्यमव्ययं सोऽञ्जनो मुनिः ॥५१
शेषकर्माणि निर्मूल्य शक्रराजादिपूजितः । कैलासशिखरारूढो गतो मोक्षं स ना सुधीः ॥५२
अञ्जनो व्यसनासक्तो चोरो निःशङ्कितात्रयात् । मुक्तिं यदि गतो ध्यानादनन्तसुखसंयुतम् ॥५३
सद्दृष्टिः सन् व्रतोपेतो यो धर्मादिविभूषितः । निःशङ्कितगुणात् सोऽपि न स्यात् किं मुक्तिवल्लभः ॥५४
विभीषणमहाराजा निःशङ्कगुणधारकः । यः स्यात्तस्य कथा ज्ञेया रामायणनिरूपिता ॥५५
वसुदेवोऽभवद् भूपो राज्ञी तस्यापि देवकी । ज्ञेया कथा तयोरेवं हरिवंशात्सम्यक्त्वजा ॥५६
अन्येऽपि बहवः सन्ति निःशङ्का गुणभूषिताः । ये ते सर्वेऽपि विज्ञेया आगमाज्जिनभाषितान् ॥५७
तस्माद्भव्यैर्न कर्तव्या शङ्का सिद्धान्तदेशने । निःशङ्किता विधेयापि दृष्टिज्ञानादिसंयुतैः ॥५८
धृतप्रथमगुणो यो नीतचारित्रभारः, कृतपरमतपश्च सर्वकर्माणि हत्वा ।
अगमदमलसौख्यं मुक्तिजं सोऽपि नोऽव्याद्, भवजलनिधिपोतादञ्जनाख्यो यतीन्द्रः ॥५९

इति श्री भट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे निःशङ्कितगुणव्यावर्णने अञ्जनचोरकथानिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ॥५॥

●

और सदा सुख देनेवाला मुनि और श्रावक दोनोंका धर्म निरूपण किया ॥४७॥ सब तरहके परिग्रहसे रहित और सब दोषोंसे रहित ऐसे मुनिराजके महाधर्मको सुनकर उस अंजनचोरने उन मुनिराजसे दीक्षा धारण करनेकी प्रार्थना की ॥४८॥ उत्तरमें मुनिराजने कहा कि हे भद्र ! तूने यह बहुत ही अच्छा विचार किया क्योंकि अब तेरी आयु थोड़े ही दिनोंकी रह गई है इसलिये अब तपश्चरण करना ही सर्वोत्तम है ॥४९॥ तदनन्तर उस अंजनचोरने दीक्षा धारण की, घोर तपश्चरण किया और शुक्लध्यानके निमित्तसे चारों घातिया कर्मोंको नष्ट किया ॥५०॥ उन अंजन मुनिराजने घातिया कर्मोंको नाशकर तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला और सदाकाल एक-सा रहनेवाला केवलज्ञान रूपी साम्राज्य बहुत शीघ्र प्राप्त कर लिया ॥५१॥ उस बुद्धिमानने समयानुसार बाकीके अघातिया कर्मोंका नाश कर डाला और इन्द्र नरेन्द्र आदि सबसे पूज्य होकर कैलास पर्वतसे मोक्ष प्राप्त किया ॥५२॥ देखो जो अंजनचोर अनेक व्यसनोंमें लीन था वह भी नि शकित गुणके प्रभावसे ध्यान कर अनन्त सुखोंसे परिपूर्ण मोक्षमें जा विराजमान हुआ फिर भला जो सम्यग्दृष्टी है, अनेक श्रेष्ठ व्रतोंको पालन करता है और अनेक धर्मकार्योंसे सुशोभित है वह निःशंकित गुणके प्रभावसे मोक्षका स्वामी क्यों नहीं हो सकता ? ॥५३-५४॥ इसी प्रकार महाराज विभीषणने भी निःशकित गुणका पालन किया था उनकी कथा रामायणमें (पद्मपुराणमें) कही है वहाँसे समझ लेना चाहिये ॥५५॥ द्वारिकापुरीके राजा वसुदेव और उनकी रानी देवकी भी निःशंकित अगमें प्रसिद्ध हुई हैं उनकी कथा भी हरिवंशपुराणसे जान लेनी चाहिये ॥५६॥ इस निःशंकित गुणसे विभूषित और भी बहुतसे लोग हुए हैं उन सबकी कथाएँ भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये ॥५७॥ इसलिये भव्य जीवोंको भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए सिद्धान्तशास्त्रोंमें तथा उनके

उपदेशमें कभी शंका नही करनी चाहिये और ज्ञानी पुरुषोंको अपना सम्यग्दर्शन निश्चल और निर्मल बना लेना चाहिये ॥५८॥ जिस अंजनने सम्यग्दर्शनके निःशंकित गुणको सबसे उत्तम रीतिसे पालन किया, फिर चारित्र धारणकर परम तपश्चरण किया, तथा समस्त कर्मोको नष्टकर मोक्षके निर्मल सुखको प्राप्त किया ऐसे संसाररूपी महासागरसे पार करनेके लिये जहाजके समान वे अंजन जिनराज हम लोगोंकी रक्षा करें ॥५९॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें निःशंकितगुणके वर्णनमें अंजनचोरकी कथाको कहनेवाला यह पाँचवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥५॥

●

छठा परिच्छेद

पद्मप्रभमहं वन्दे पद्मयानासनं भुवि। सत्पद्मालंकृतं पद्मद्युतिं पद्माकरं परम्॥१
निःकाङ्क्षितगुणे ख्याता जातानन्तमती हि या। कथां वक्ष्ये समासेन तस्या सद्दृष्टिहेतवे॥२
अङ्गदेशे जनाकीर्णे चम्पाख्या नगरी शुभा। उच्चैर्जिनालयोपेता नित्यं सन्मुनिसंयुता॥३
वर्द्धमानो महीपालस्तत्राभूत्पुण्ययोगतः। राज्ञी लक्ष्मीमती तस्य बभूव प्राणवल्लभा॥४
संजातः प्रियदत्ताख्यः श्रेष्ठी श्रीधर्मकारकः। भार्या चाङ्गवती तस्य जातानेकगुणाश्रिता॥५
तयोः पुत्री समुत्पन्ना सम्यक्त्वादिविभूषिता। दानपूजादिसंलीना ख्यातानन्तमती सती॥६
गृहीतं ब्रह्मचर्यं च स्वयमष्टदिनान्वितम्। धर्मकीर्तिमहाचार्यपार्श्वे नन्दीश्वरविधौ॥७
ग्राहिताऽसौ विनोदेन ब्रह्मचर्यं सुखाकरम्। पुत्री धर्मादिसंयुक्ता श्रेष्ठिना धर्मशालिना।८
प्रदानसमये साऽऽह तात मे दापितं त्वया। ब्रह्मचर्यमतस्तेन तत्पाणिग्रहणेन किम्॥९
दापितं क्रीडया पुत्रि मया ते तन्न चान्यथा। का क्रीडा तात सद्धर्मदानपूजाव्रतादिके॥१०
दिनाष्टकमिदं पुत्रि दापितं ते मया तदा। ब्रूतं न मुनिना किंचिद्दिनमानं व्रते वरे॥११

जो कमलासनपर विराजमान हैं, जिनके चरणकमलोके नीचे कमलोंकी रचना होती है, जो कमलके चिन्हसे सुशोभित है, कमलकी सी ही जिनकी कान्ति है और जो अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीके परम निधि हैं ऐसे भगवान् पद्मप्रभको नमस्कारकर मै सम्यग्दर्शनको निर्मल करनेके लिये दूसरे निःकांक्षित गुणमें प्रसिद्ध हुई अनन्तमतीकी कथा संक्षेपसे कहता हूँ॥१–२॥ अनेक मनुष्योंसे भरे हुए अंग देशकी राजधानी चम्पापुरी थी। वह चम्पापुरी नगरी बड़ी ही अच्छी थी, अनेक जिनालयोंसे सुशोभित थी और सदा अनेक उत्तम मुनियोंसे विभूषित रहती थी। पुण्य कर्मके योग से उसमें वर्द्धमान नामका राजा राज्य करता था। उसकी प्राणप्यारी रानीका नाम लक्ष्मीमती था॥३–४॥ उसी नगरीमें एक प्रियदत्त नामका धर्मात्मा सेठ रहता था। उसकी सेठानीका नाम अंगवती था और वह अनेक गुणोसे सुशोभित थी॥५॥ उन दोनोंके एक पुत्री थी जिसका नाम अनन्तमती था। वह अनन्तमती सम्यग्दर्शनसे सुशोभित थी और दान, पूजा आदि धार्मिक कार्योंमें सदा लीन रहती थी॥६॥ किसी एक दिन नन्दीश्वर पर्वके दिनोंमें केवल आठ दिनके लिये दोनों सेठ-सेठानियोंने श्री धर्मकीर्ति नामके आचार्यके पास ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया॥७॥ उस धर्मात्मा सेठने सदा धर्मकार्योंमे लगी रहनेवाली अनन्तमतीको भी विनोदपूर्वक सुख देनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत धारण करा दिया॥८॥ अनन्तर जब सेठने उसके विवाहकी चर्चा चलाई तब अनन्तमतीने अपने पितासे कहा कि—हे तात! आपने मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिला दिया है फिर आप मेरे विवाहकी चर्चा क्यों करते हैं?॥९॥ उसके उत्तरमें सेठने कहा कि—हे पुत्री! मैंने वह व्रत विनोदके लिये दिलाया था वास्तवमें नहीं। यह सुनकर अनन्तमती कहने लगी कि हे तात! धर्म, दान, पूजा और व्रतोंमें भी कहीं विनोद हुआ करता है?॥१०॥ तब सेठने फिर कहा कि हे पुत्री! वह तो केवल आठ दिनके लिये दिलाया था? इसके उत्तरमें अनन्तमतीने कहा कि उस समय मुनिराजने व्रतोंके पालन करनेके लिये दिनोंकी कुछ मर्यादा नहीं बतलाई थी इसलिये मैंने तो वह ब्रह्मचर्य जीवनपर्यन्त धारण कर लिया है। अब मैं उसे प्राण-नाश होनेपर भी कभी नहीं छोड़ूँगी और मेरु

गृहीतं नियमं सारं यावज्जीवं जहामि न। अचलं मेरुवत्तात प्राणान्तेऽपि कदाचन ॥१२
कला विज्ञानसम्पन्ना चैत्रे सख्या वनेऽपि सा। निजोद्याने महारूपा दोलयन्ती यदा स्थिता ॥१३
रूप्याद्रिदक्षिणश्रेण्यां किन्नराख्ये पुरे वसन्। विद्याधराधिपो नाम्ना कुण्डलाद्यन्तमण्डितः ॥१४
सुकेशीभार्यया युक्तो गच्छन् खे स स्मरत्यहो। दृष्ट्वा तां जीवितव्येन तेन किं मेऽनया विना ॥१५
गृहे धृत्वा स्वरामां च शीघ्रमागत्य तेन सा। नीता दुष्टेन खे बाला रुदन्ती शीलभूषिता ॥१६
उन्मानादागतां भार्यां दृष्ट्वा तेन भयेन सा। समर्पितानुप्रज्ञप्त्याख्यपर्णलघुविद्ययोः ॥१७

स्थापिता सा महाटव्यां ताभ्यां दुःखाकुला सती।
नीता भीमाख्यभिल्लेन राज्ञापि निजपल्लिकाम् ॥१८

पट्टराज्ञिपदं देवि ददामीच्छसि मां हठात्। अनिच्छन्ती हि प्रारब्धा भोक्तुं रात्रौ खलेन सा ॥१९
शीलमाहात्म्यसंक्षोभावागत्य दु खदुष्कृत । वनदेवतया तस्योपसर्गो यष्टिमुष्टिभि ॥२०
भीतेन तेन तां नीत्वा देवतां सा समर्पिता। सार्थपुष्पकनाम्नश्च सार्थवाहस्य वेगत ॥२१
लोभं प्रदर्श्य दुर्बुद्धि परिणेतुं स याचते। न वाञ्छति सती तं सा निःकाङ्क्षितगुणाश्रिता ॥२२
नगर्यामप्ययोध्यायां दत्ता चानीय तेन सा। वेश्यायै कामसेनायै शीलसम्पूर्णभूषणा ॥२३
न जाता तत्र वेश्या सा हावभावविकारिभिः। कृतातिधीरतापन्ना यथा मेरुशिखा दृढा ॥२४

पर्वतके समान निश्चल होकर आजन्म उसका पालन करूँगी ॥११-१२॥ किसी एक दिन युवावस्था प्राप्त होनेपर चैत्रके महीनेमें अपने बगीचेमें महारूपवती और कला विज्ञानसे परिपूर्ण वह अनन्तमती झूल रही थी ॥१३॥ इसी समय विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके किन्नरपुर नगरके विद्याधरोंका राजा कुण्डलमडित अपनी रानी सुकेशीके साथ विमानमें बैठा हुआ आकाशमार्गसे जा रहा था। अचानक उसकी दृष्टि अनन्तमतीपर पडी। उसे देखकर वह मोहित हो गया और विचार करने लगा कि इसके बिना मेरा जीना ही व्यर्थ है ॥१४-१५॥ यही सोचकर वह घर लौटा, उसने अपनी रानीको घरपर छोड़ा फिर वह दुष्ट शीघ्र ही आकर शीलगुणसे सुशोभित और रोती हुई अनन्तमतीको लेकर आकाशमार्गसे चलने लगा ॥१६॥ उसकी रानीको भी कुछ सन्देह हो गया था इसलिये वह भी उसके पीछे-पीछे ही दौड़ी आई। रानीको देखकर वह विद्याधर डर गया और शीघ्र ही अनन्तमतीको प्रज्ञप्ता और पर्णलघ्वी नामकी विद्याके अधीन किया ॥१७॥ उन दोनों विद्याओंने अत्यन्त दुःखसे व्याकुल सती अनन्तमतीको किसी एक बड़े वनमें छोड़ दिया परन्तु वहाँ भी उस बेचारीको सुख नहीं मिला। एक भीम नामके भीलोंके राजाने उसे अपने अधीन कर लिया और अपने घर ले जाकर प्रार्थना की कि तू मुझे स्वीकार कर, मैं तुझे पट्टरानी बना लूँगा, परन्तु वह सती कब स्वीकार करनेवाली थी; उसकी अनिच्छा देखकर रात्रिमें वह भीम उसपर बलात्कार करने लगा ॥१८-१९॥ परन्तु उस सतीके शीलके माहात्म्यसे क्षुब्ध होकर वनदेवी प्रगट हुई और उसने लकड़ी थप्पड़ आदिकी चोटोंसे भीमकी खूब ही खबर ली ॥२०॥ भीम बहुत ही डर गया और उसने समझ लिया कि यह नारी नहीं है किन्तु नीचेको नेत्र किये हुए कोई देवता है। उसने शीघ्र ही पुष्पक नामके एक साहूकारको वह अनन्तमती सौंप दी ॥२१॥ वह मूर्ख साहूकार भी लोभ दिखाकर उसके साथ विवाह करनेकी प्रार्थना करने लगा, परन्तु निःकांक्षितगुणको धारण करनेवाली उस सतीने किसीकी भी इच्छा नहीं की ॥२२॥ तब उस दुष्ट साहूकारने अयोध्या नगरीमें आकर शीलगुणसे विभूषित वह अनन्तमती एक कामसेना नामकी वेश्याके हाथ सौंप दी ॥२३॥ उस कामसेनाने भी उसे अनेक प्रकारके दुःख दिये तथा हाव भाव

तया दत्ता पुनः सिंहनृपाय तेन सा निशि । हठात्सेवितुमारब्धा प्राणिच्छन्ती महाव्रता ॥२५
पुरदेवतया तस्य कृतो घोर उपद्रवः । तस्याः शीलप्रभावेन यष्टिमुष्टयादिभिर्महान् ॥२६
भीतेन तेन सा बाला गृहान्निस्सारिता हठात् । आर्यिकया समादृष्टा रुदन्ती कमलश्रिया ॥२७
आकाराच्छ्राविकां मत्वा नीत्वा पार्श्वे स्वयं तया । धृतातिगौरवोपेता स्वस्य धर्मादिहेतवे ॥२८
तदा शोकः समुत्पन्नो दुस्सहस्तद्वियोगतः । पितृबन्धुजनादीनां सुखाधर्मैकनाशकृत् ॥२९
अथानन्तमतीशोकविनाशार्थं जगाम सः । यात्रायै जिनतीर्थानां दृष्टायोध्यापुरी शुभात् ॥३०
प्रविष्टो जिनदत्तस्य श्रेष्ठिनो मन्दिरे शुभे । शालकस्यापराह्णे स पुत्री-वार्ता कृता निशि ॥३१
प्रभाते वन्दनाभक्तिं कर्तुं यातः स्वयं पुरीम् । श्रेष्ठी पूजादिसंयुक्तो जिनचैत्यमुनीशिनाम् ॥३२
सा श्रेष्ठिभार्यया चापि श्राविकाकारिता गृहे । दक्षा रसवतीं कर्तुं चतुष्कं दातुमप्यहो ॥३३
सर्वं कृत्वा गता सोऽपि स्वस्थानं प्रागतो वणिक् । दृष्ट्वा तं कुरुते तूर्णमश्रुपातं विशोकजम् ॥३४
उक्तं तेन यया गेहमण्डनं कृतमप्यहो । तां मम दर्शयानीता जातो मेलापकस्तयोः ॥३५
विधायालिङ्गनं तेन पृष्टा वार्ता वियोगजा । श्रेष्ठिना जिनदत्तेन कृतोऽत्यन्तमहोत्सवः ॥३६

विकारोसे समझाया, तथापि वह अपने शीलगुणसे रंचमात्र भी न डिगी—जिस प्रकार मेरु पर्वत का शिखर निश्चल रहता है उसी प्रकार अत्यन्त धीरवीर वह अनन्तमती अपने व्रतमें निश्चल रही ॥२४॥ अन्तमें हारकर कामसेनाने वह राजा सिंहराजको दे दी। उसने भी उसपर अपना चक्र चलाना चाहा और अत्यन्त दृढ़ रूपसे व्रतका पालन करनेवाली और किसीको भी न चाहने वाली उस अनन्तमतीपर किसी एक रात बलात्कार करनेपर उतारू हो गया ॥२५॥ परन्तु उसके शीलव्रतके माहात्म्यसे पहिलेकी वनदेवी आ उपस्थित हुई और उसने लकड़ी घूसोंसे राजाकी खूब ही खबर ली ॥२६॥ तब तो राजाको उससे बहुत ही डर लगा और उसने उसी समय उसे अपने घरसे निकाल दिया। चलते-चलते उसे पद्मश्री आर्यिकाके दर्शन हुए। उसे देखकर वह ओर भी रोने लगी और उसे अपनी सब कथा कह सुनाई ॥२७॥ आर्यिकाने अपना धर्म पालन करनेके लिये उसे अच्छी श्राविका जानकर अपने ही पास रक्खा और यथायोग्य आदर सत्कारके साथ उसका निर्वाह करने लगी ॥२८॥

इधर पुत्रीके हरे जानेसे सेठ प्रियदत्तको बहुत ही शोक हुआ। साथमें अन्य कुटुम्बियोंको भी हुआ। उसके शोकसे वे अपना सुख और धर्म सब भूल गये ॥२९॥ उस शोकको दूर करनेके लिये सेठ प्रियदत्त तीर्थयात्राको निकला और वन्दना करते हुए अयोध्यापुरीमें आया ॥३०॥ अयोध्यापुरीमें एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था, जो प्रियदत्तका साला था, प्रियदत्त उसीके मकानमें आकर ठहरा। सायंकालके समय सब कामोंसे निबट लेनेपर प्रियदत्तने जिनदत्तसे अपनी पुत्रीके हरे जानेके समाचार कहे ॥३१॥ प्रातःकाल होनेपर नहा धोकर सेठ प्रियदत्त अयोध्या नगरके जिनमन्दिरोंकी तथा वहाँ ठहरनेवाले मुनियोंकी वन्दना करनेके लिये निकला ॥३२॥ इधर सेठ जिनदत्तकी स्त्रीने पद्मश्री आर्यिकाके समीप रहनेवाली श्राविकाको (अनन्तमतीको) अपने घर भोजन करनेके लिये और चौक पूरनेके लिये बुलाया ॥३३॥ वह श्राविका (अनन्तमती) भोजनकर और चौक पूरकर अपने स्थानको चली गई। इसके बाद वन्दनाकर सेठ प्रियदत्त आया और अनन्तमतीके द्वारा पूरे हुए उस चौकको देखकर और पहिचानकर उसके शोकसे आँसू डालने लगा ॥३४॥ प्रियदत्तने कहा कि जिसने यह चौक पूरा है उसे लाकर मुझे दिखलाओ। तब सेठ जिनदत्तने वह श्राविका (अनन्तमती) बुलवा दी ॥३५॥ पुत्रीको देखकर प्रियदत्तने उसे गोदीमें

अथानन्तमती ब्रूते दृष्टं संसारसंभवम् । वैचित्र्यं दुःखसम्पूर्णं तात दापय मे तपः ॥३७
गृहाण पुत्रि वेगेन तपः कर्मविनाशकम् । स्वर्गमुक्तिकरं सारं दुःखदावाग्निवार्मुचम् ॥३८
सा तस्याः समीपे च गृहीत्वा संयमं परम् । तपः कृत्वा महाघोरं द्विषड्भेदं जिनोदितम् ॥३९
अन्ते संन्यासमादाय त्यक्त्वा प्राणान् बभूव सा । हत्वा स्त्रीलिङ्गमप्युच्चैः सहस्रारे सुरोत्तमः ॥४०
अष्टादशसमुद्रायुर्भुक्त्वा तत्र सुखं वरम् । सम्यक्त्वयोगतोऽप्यग्रे क्रमान्मुक्तिं प्रयास्यति ॥४१
या सीताख्या महादेवी धृत्वा निःकाङ्क्षितं गुणम् । जाता षोडशमे स्वर्गे देवो देवैः प्रपूजितः ॥४२
तस्याः कथा परिज्ञेया शास्त्रे रामायणादिके । अन्येऽपि बहवः सन्ति कस्तांश्च गदितुं क्षमः ॥४३
इति मत्वा सदा कार्यो गुणो निकांङ्क्षिताभिधः । काङ्क्षादिकं परित्यज्य भोगे स्वर्गादिगोचरे ॥४४

निःकाङ्क्षिताख्यं परमं हि धृत्वा, गुणं गरिष्ठा दृढशीलयुक्ता ।
स्वर्गं व्रजित्वा पुनरेति मुक्तिं, सद्दर्शनानन्तमती सुधर्मात् ॥४५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे निःकाङ्क्षितगुणप्ररूपणे अनन्तमतीकथाप्ररूपणो नाम षष्ठः परिच्छेदः ॥६॥

●

उठा ली और फिर पीछेकी सब बातें पूछीं। सेठ जिनदत्तने भी अपनी भानजीके मिल जानेपर बड़ा भारी उत्सव किया ॥३६॥ तदनन्तर अनन्तमतीने कहा कि हे पिताजी ! मैंने इस संसारको खूब देख लिया है। इसमें अनेक प्रकारके विचित्र दुःख भरे हुए है। यह दुःखोंसे भर रहा है इसलिये हे तात ! अब मुझे दीक्षा दिला दीजिये ॥३७॥ तब प्रियदत्तने उत्तर दिया कि पुत्री ! तू शीघ्र ही तपश्चरण धारण कर, क्योंकि यह तपश्चरण ही कर्मोंको नाश करनेवाला है, स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाला है, सबमें सार है और दुःखरूपी दावानल अग्निके लिये मेघकी धाराके समान है ॥३८॥ तब पिताकी आज्ञासे उस अनन्तमतीने उस आर्यिकाके समीप जाकर परम संयम धारण किया और वह भगवान् जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ बारह प्रकारका घोर तपश्चरण करने लगी ॥३९॥ अन्तमें उसने समाधिमरण धारण किया तथा प्राणोंको छोड़कर और स्त्रीलिंगको छेदकर बारहवें सहस्रार स्वर्गमें उत्तम देव हुई ॥४०॥ वहाँपर उसकी अठारह सागरकी आयु थी। अठारह सागर पर्यन्त उत्तम सुख भोगकर वह अनन्तमतीका जीव सम्यग्दर्शनके प्रभावसे अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करेगा ॥४१॥ रामचन्द्रकी पट्टमहादेवी सीताने भी निःकांक्षित अंगका पालन किया था और उसीके प्रभावसे वह सोलहवें स्वर्गमें इन्द्र हुई थी जहाँ कि अनेक देव उसकी पूजा करते थे ॥४२॥ उस सती सीताकी कथा पद्मपुराणसे जान लेनी चाहिये। इनके सिवाय इस निःकांक्षित अंगको पालन करनेवाले और भी बहुतसे जीव हुए है उन सबको कोई कह भी नहीं सकता है ॥४३॥ यही समझकर भव्य जीवोंको सदा निःकांक्षित अंगका पालन करना चाहिये और स्वर्गादिके सुखोंकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये ॥४४॥ देखो शीलव्रतको दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाली और अनेक गुणोंसे सुशोभित तथा सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाली अनन्तमती एक निःकांक्षित परम गुणको धारण करनेसे ही स्वर्गमें उत्तम देव हुई है और धर्मके प्रभावसे अन्तमें मोक्ष प्राप्त करेगी (वह अनन्तमती सबका कल्याण करे) ॥४५॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें निःकांक्षित गुणमें प्रसिद्ध होनेवाली अनन्तमतीकी कथाको कहनेवाला यह छठा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥५॥

●

सातवाँ परिच्छेद

सुपार्श्वं जिनमानम्य वक्ष्ये सद्धर्मदेशकम् । गुणं निर्विचिकित्साख्यं नृपोद्दायनगोचरम् ॥१
सौधर्मेन्द्रः सभामध्ये सम्यक्त्वगुणवर्णनम् । करोति देवसम्पूर्णे भव्यसम्बोधहेतवे ॥२
भरते वंगदेशेऽभूद्रोरुकाख्ये पुरे शुभे । उद्दायनो महाराजः पूर्वपुण्यप्रभावतः ॥३
गुणं निर्विचिकित्साख्यं त्यक्तदोषं स सेवते । इति प्रशंसयामास शक्रस्त्रिज्ञानसंयुतः ॥४
वासवाख्योऽमरो नाकादागतस्तं परीक्षितुम् । विकृत्यं मुनिरूपं स कुष्टाविगलितं घनम् ॥५
गृहद्वारे स्थितस्तस्य तं विलोक्य स पुण्यधीः । ददौ हि विधिनाऽऽहारं प्रतिगृह्य सुभक्तितः ॥६
सर्वान्नं च जलं सोऽपि भक्षयित्वातिमायया । अतिदुर्गन्धवीभत्सं वमनं कुरुते पुनः ॥७
नष्टः परिजनस्तस्माद् दुर्गन्धादतिदुःस्सहात् । स्थितो राजा प्रभावत्या सहितः सोऽपि पुण्यवान् ॥८
राज्ञः प्रतीच्छतो वान्तं देव्या उपरि छर्दितम् । सा क्षालयति हस्तेन राजा तद्वमनादिकम् ॥९
हा हा दत्तो मयाऽऽहारोऽयोग्यो रुक्पीडितात्मने । इति निन्दा स्वयं स्वस्य करोति स मुनीशिने ॥१०
श्रुत्वा तद्वचनं देवः सानन्दो जातनिश्चयः । मायारूपं परित्यज्य दिव्यरूपं व्यधादसौ ॥११

मैं श्री सुपार्श्वनाथ भगवान्को नमस्कार कर कुछ धर्मोपदेश कहता हूँ और उसमें भी निर्विचिकित्सा गुणमें प्रसिद्ध होनेवाले राजा उद्दायनकी कथा कहता हूँ ॥१॥ किसी एक दिन देवोंसे भरी हुई सभामें भव्य जीवोंको समझानेके लिये सौधर्म इन्द्रने सम्यग्दर्शनके गुणोंका वर्णन किया ॥२॥ और कहा कि भरतक्षेत्रके बंग देशान्तर्गत रोरुक नामके शुभ नगरमें राजा उद्दायन राज्य करता है। वह अपने पहिले जन्ममें उपार्जन किये हुए पुण्यकर्मके प्रभावसे सम्यग्दर्शनके तीसरे निर्विचिकित्सा गुणको विना किसी दोषके पालन करता है। इस प्रकार मति श्रुत और अवधि तीनों ज्ञानोंको धारण करनेवाले इन्द्रने उद्दायनकी बहुत प्रशंसा की ॥३-४॥ उद्दायनकी ऐसी भारी प्रशंसा सुनकर वासव नामका देव उसकी परीक्षा लेनेके लिये आया। उसने विक्रियासे एक मुनिका रूप धारण कर लिया, उस समय उसके उस बनाये हुए शरीरसे कोढ़ गल रहा था और वह बहुत ही घृणित रूपमें था ॥५॥ अपना ऐसा मुनिका रूप बनाकर वह देव उद्दायनके द्वारपर आया। पुण्यवान् उद्दायनने देखते ही भक्तिपूर्वक उसका पडिगाहन किया और विधिपूर्वक आहार दिया ॥६॥ अपनी मायासे (विद्यासे) वह देव उद्दायनका सब अन्न खा गया और सब पानी पी गया फिर उसने अत्यन्त दुर्गन्ध और घृणित वमन कर दिया ॥७॥ उस वमनकी असह्य दुर्गन्धसे राजाके कुटुम्बी और सेवक सब भाग गये। केवल रानी प्रभावती और पुण्यवान् राजा उद्दायन मुनिकी वैयावृत्य करनेके लिये रह गये ॥८॥ रानी उसके शरीरको पोंछने लगी। परन्तु उस मायाचारी मुनिने उसके ऊपर भी वमन कर दिया, परन्तु फिर भी वे दोनों उसके शरीरको धोने लगे और उस दुर्गन्धमय वमनको भी धोने लगे ॥९॥ इतना ही नहीं उस समय राजाने स्वयं अपनी बड़ी निंदा की और कहा कि हा हा इन दुःखी मुनिराजके लिये मेरे द्वारा न जाने कौनसा अयोग्य आहार दिया गया है उसीके कारण इनको इतना कष्ट हुआ है ॥१०॥ राजाके इस प्रकारके वचनको सुनकर देवको बहुत ही आनन्द हुआ और उसे निश्चय हो गया कि इन्द्रका कहा हुआ सर्वथा ठीक है। इससे अपना बनाया हुआ मुनिका रूप छोड़ दिया और अपना स्वाभाविक दिव्यरूप

कथयित्वा कथां स्वस्य प्रशंस्य तं मुहुर्मुहुः । प्रपूज्य वस्त्राभरणैः स्वर्गलोकं ययौ सुर. ॥१२
उद्दायनो नृपो भूयस्त्यक्त्वा राज्यादिसंपदः । पार्श्वे श्रीवर्द्धमानस्य दीक्षामङ्गीचकार सः ॥१३
तपः कृत्वा महाघोरं हत्वा कर्मकदम्बकम् । उत्पाद्य केवलज्ञानं जातो मुक्तिस्वयंवरः ॥१४
प्रभावती तपः कृत्वा हत्वा स्त्रीलिङ्गमप्यसौ । ब्रह्मस्वर्गे सुरो जातो दिव्याभरणमण्डित. ॥१५

परमसुखनिधिश्चोद्दायनो लोकपूज्यो, विधृतगुणसमग्रो दर्शनस्यैव योगात् ।
कृतपरमतपो हि सर्वकर्माणि हत्वा, परमपदमपारं पात्वसौ नो मुनीन्द्रः ॥१६

गुणं निर्विचिकित्साख्यं धृत्वाऽन्ये बहवो गताः । मुक्ति येऽत्र कथां दक्षः कस्तेषां गदितुं क्षमः ॥१७
विख्याता रेवती राज्ञी प्रामूढत्वगुणेऽपि या । कथां तस्या. प्रवक्ष्यामि दर्शनस्यैव हेतवे ॥१८
रूप्याद्रिदक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे पुरे खगः । राजा इन्द्रप्रभो जातः पुण्यात्सद्दर्शनान्वित. ॥१९
चन्द्रशेखरपुत्राय दत्वा राज्यं स निर्गतः । भक्त्यर्थं गुरुदेवानां युक्तः कयाचिद्विद्यया ॥२०
आगतो दक्षिणाख्यां स मथुरां सत्कृतार्चनः । सूरेः श्रीमुनिगुप्तस्य पार्श्वेऽभूत् क्षुल्लको बुधः ॥२१
एकदा श्रीगुरुः पृष्टो व्रजता तीर्थहेतवे । तेनोत्तरमथुरायां किं कस्य कथ्यते न वा ॥२२
तेनोक्तं पापभीताय सुव्रताय नमोऽस्तु मे । कथनीयो मुनीन्द्राय तारकाय भवार्णवे ॥२३
राज्ञो वरणनाम्नश्च रेवत्या. कथयस्व मे । धर्मवृद्धिमनेकार्थस्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ॥२४

बनाकर अपनी सब कथा कही, राजाकी बहुत बहुत प्रशंसा की और दिव्य वस्त्राभरणोंसे राजाकी पूजाकर वह देव अपने स्वर्गलोकको चला गया ॥११-१२॥ कुछ दिनोंके बाद राजा उद्दायनने भी अपना सब राज्य छोड़कर श्री वर्द्धमान स्वामीके समीप जिनदीक्षा धारण कर ली ॥१३॥ उसने महा घोर तपश्चरण किया, सब कर्मसमूहोंका नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी हुआ ॥१४॥ रानी प्रभावतीने भी दीक्षा धारण कर ली और घोर तपश्चरण कर स्त्रीलिंग-को छेदकर पाँचवें ब्रह्मस्वर्गमें दिव्य आभरणोंसे सुशोभित देव हुई ॥१५॥ जो मुनिराज उद्दायन परम सुखके निधि थे, लोकपूज्य थे, जिन्होंने सम्यग्दर्शनके समस्त गुण धारण किये थे, जिन्होंने घोर तपश्चरण किया और समस्त कर्मोंको नष्टकर अपार परमपद—मोक्षपद प्राप्त किया वे उद्दायन मुनिराज हम लोगोंकी रक्षा करें ॥१६॥ इस निर्विचिकित्सा गुणको धारण कर और भी बहुतसे जीव मोक्ष पधारे है, परन्तु उन सबकी कथा कौन कह सकता है ॥१७॥

सम्यग्दर्शनके चौथे अमूढ़दृष्टि अंगमें रेवती रानी प्रसिद्ध हुई है इसलिये सम्यग्दर्शनको निर्मल करनेके लिये उसकी भी कथा कहता हूँ ॥१८॥ विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक मेघकूट नगर है । पुण्यकर्मके उदयसे वहाँपर सम्यग्दृष्टी राजा चन्द्रप्रभ नामका विद्याधर राज्य करता था ॥१९॥ किसी एक समय वह राजा चन्द्रप्रभ अपने पुत्र चन्द्रशेखरको राज्य देकर भक्ति-पूर्वक गुरु और देवोंकी वंदना करनेके लिये किसी एक विद्याके साथ चल दिया ॥२०॥ चलते-चलते वह दक्षिण मथुरामें आया । वहाँपर उसे श्रीगुप्ताचार्यके दर्शन हुए । उनकी पूजाकर उस बुद्धिमान राजाने उनके ही पास क्षुल्लककी दीक्षा धारण कर ली ॥२१॥ किसी एक दिन उस चन्द्रप्रभ क्षुल्लकने अपने गुरु गुप्ताचार्यसे पूछा कि हे स्वामिन् ! मै तीर्थयात्रा करनेके लिये उत्तर मथुराको जा रहा हूँ, क्या आपको किसीसे कुछ कहना है ? ॥२२॥ उत्तरमें मुनिराजने कहा कि पापोंसे डरनेवाले और संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाले मुनिराज सुव्रतके लिये हमारा नमस्कार कहना तथा राजा वरुणकी रानी रेवतीसे स्वर्ग मोक्षकी देनेवाली हमारी अनेक प्रकारसे धर्मवृद्धि

एकादशाङ्गविद्भव्यसेनसूरिस्तथापरे । सन्ति तेषां न नामापि नीयते गुरुणाऽधुना ॥२५
द्विश्चर्ष्टेनापि तेनैतदुक्तं नान्यद्विचिन्तितम् । कारणं किंचिदत्रास्ति नाहं जाने क्व मानसे ॥२६
तत्र गत्वा स्थितः पार्श्वे सुव्रतस्य मुनेः स वै । नमस्कृत्योत्तमाङ्गेन तद्गुणग्रामरञ्जितः ॥२७
दृष्ट्वा तदीयवात्सल्यं विशिष्टं जातनिश्चयः । प्रतिपाद्य नमस्कारं संगतो गुरुणोदितम् ॥२८
ततो वसतिकां शीघ्रमागतो भाषणं स्वयम् । न कृतं भव्यसेनेन तस्य गर्वितचेतसा ॥२९
गृहीत्वा कुण्डिकामेष बहिर्भूमिं गतो व्रती । तेनापि सहमार्गेण तत्परीक्षादिहेतवे ॥३०
हरिताङ्कुरसंछन्नो मार्गस्तेनापि दर्शितः । स्वविकुर्वणया तस्य स्वयं मार्गेऽङ्गिसंकुलः ॥३१
तं दृष्ट्वाप्याऽऽगमे जीवा कथ्यन्ते जिनभाषिते । एष तत्रारुचिं कृत्वा गतः पादेन मर्दयन् ॥३२
शौचादिसमये नीरं शोषयित्वा वदन्नसौ । कुण्डिकायां जलं नास्ति स्वामिन्नो विकृतिः क्वचित् ॥३३
सरोवरेऽत्र संस्वच्छनीरे शौचं द्रुतं कुरु । भणित्वा पूर्ववन्मूढः प्राकरोच्छौचमञ्जसा ॥३४
ततस्तं स परिज्ञाय दृष्टिहीनं कुमार्गगम् । कृत्वा सोऽभव्यसेनाख्यं तस्य लोके गतो बलात् ॥३५
ततोऽन्यस्मिन् दिने तेन ब्रह्मरूपं प्रदर्शितम् । चतुर्मुखं सुयज्ञोपवीतयुक्तं सुरार्चितम् ॥३६
तत्पूर्वदिशि पद्मासनस्थं तत्रापि मायया । राजादयो भव्यसेनाद्यो मूढाः समागताः ॥३७

कहना ॥२३-२४॥ इतना कहकर वे चुप हो गये। तब क्षुल्लकने सोचा कि वहाँपर ग्यारह अगके पाठी मुनिराज भव्यसेन भी है तथा और भी मुनि होंगे उनका गुरुदेवने नाम तक नही लिया। यही सोचकर क्षुल्लकने फिर पूछा, परन्तु दुबारा पूछनेपर भी मुनिराजने यही कहा कि अब और किसीसे कुछ नही कहना है। तब क्षुल्लकने विचार किया कि इसका कुछ भी कारण होना चाहिये; मै उसे अभीतक समझ नही सका हूँ ॥२५-२६॥ इसके बाद वह क्षुल्लक उत्तर मथुरामें पहुँचा और सुव्रत मुनिराजके समीप जाकर मस्तक झुकाकर उनको नमस्कार किया और उनके गुणोसे वह बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥२७॥ उनके विशेष वात्सल्यको देखकर गुरुके वाक्योंपर उसका दृढ निश्चय हुआ और फिर उसने गुरुका कहा हुआ नमस्कार भी उनको कह सुनाया ॥२८॥ इसके बाद वह शीघ्र ही वसतिकामे आया। वहाँपर भव्यसेन मुनि विराजमान थे, परन्तु उन्होंने अपने अभिमानमें आकर इससे कुछ बात भी नही की ॥२९॥ जब वे भव्यसेन मुनि कमण्डलु लेकर शौचके लिये बाहर गये तब उनकी परीक्षा करनेके लिये वह क्षुल्लक भी उनके साथ गया ॥३०॥ क्षुल्लकने कुछ आगे चलकर अपनी विद्यासे सब मार्ग अनेक जीवोंसे भरी हुई हरी घाससे आच्छादित कर दिया ॥३१॥ उस हरी घाससे भरे हुए मार्गको देखकर भी और "भगवान् जिनेन्द्रदेवने इनमे एकेन्द्री जीव कहे हैं" ऐसा जानकर भी भव्यसेनने उसकी परवा नही की और उस घासको पैरोंसे कुचलता हुआ चला गया ॥३२॥ जब भव्यसेन शौचको बैठ गया तब उस चन्द्रप्रभ विद्याधरने अपनी विद्यासे उसके कमण्डलुका पानी सुखा दिया और सामने आकर कहने लगा कि—हे स्वामिन् ! कमण्डलुमें जल नही है तो न सही इसमें कुछ चिन्ता करनेकी बात नही है, यह पासमें ही एक सरोवर स्वच्छ जलसे भरा है उसमें जाकर शुद्धि कर लीजिये। यह कहकर वह तो चला गया और मूर्ख भव्यसेनने उसी सरोवरमें जाकर अपनी शुद्धि कर ली ॥३३-३४॥ इसपरसे उस क्षुल्लकने समझ लिया कि यह कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टी है। उसने उसी दिनसे उसका नाम अभव्य सेन रख दिया ॥३५॥ अब उसने रेवतीकी परीक्षा करनी प्रारम्भ की। दूसरे दिन नगरके पूर्वदिशाकी ओर वह ब्रह्माका रूप धारण कर विराजमान हो गया। उसने विद्याके बलसे अपने चार मुँह बना लिये, यज्ञोपवीत धारण कर लिया, देवोंको अपनी पूजामें लगा लिया और इस प्रकार

रेवती प्रेर्यमाणापि मूढलोकैरनेकधा । भणित्वा ब्रह्मनामायं कश्चिद्देवो हि चागतः ॥३८
रेवत्याः ख्यातिमाकर्ण्य तत्परीक्षाविहेतवे । पुनर्दक्षिणदिग्भागे कृष्णरूपं प्रदर्शितम् ॥३९
गोपाङ्गनादिसंयुक्तं गरुडारूढं चतुर्भुजम् । शङ्खचक्रायुधोपेतं दृष्टिहीनैर्जनैर्नुतम् ॥४०
ततः पश्चिमदिग्भागे रुद्ररूपं व्यधादसौ । अर्द्धचन्द्रजटामारूढं वृषभस्य च ॥४१
गौरीरूपसमासक्तः तद्दृष्ट्वा भक्तितत्परः । आगतास्तत्र सर्वे च शठा नैव विचक्षणाः ॥४२
अतोऽप्युत्तरदिग्देशे रूपं तीर्थंकरस्य च । व्यधाद्द्विषट्गुणोपेतं प्रातिहार्यादिभूषितम् ॥४३
सिंहासनसमासीनं देवविद्याधरादिभिः । नुतं धर्माकरं दिव्यं सभामध्ये परिस्थितम् ॥४४
श्रावकास्तत्र भक्त्यर्थमागता मुनयो परे । रेवती बहुभिः लोकैः प्रेरितापि न चागता ॥४५
नवैव वासुदेवाश्च रुद्रा एकादश स्मृता. । चतुर्विंशतिसत्तीर्थंकराः श्रीजिनशासने ॥४६
अतीतास्तेऽप्यहो सर्वे मूढानां भ्रान्तिहेतवे । कश्चिदेव समायातो मायावी ज्ञायते न च ॥४७
अथापरदिने चर्यावेलायां व्याधिपीडितम् । पतितो मूर्च्छया रूपं विधाय क्षुल्लकस्य सः ॥४८
प्रतोलीनिकटे मार्गे रेवत्या धर्मवाञ्छया । श्रुत्वा तं व्रतमागत्य नीतो भक्त्या स्वमालयम् ॥४९
तया पथ्यं कृतं तस्य शुद्धाहारजलादिकम् । सर्वमादाय दुर्गन्धं वमनं तद्व्यधादसौ ॥५०

पद्मासन लगाकर बैठ गया। उसे इस प्रकार ब्रह्माके रूपमें देखकर राजा तथा भव्यसेन आदि सब मूर्ख उसकी पूजा करनेके लिये पहुँचे ।।३६-३७।। अनेक अज्ञानी लोगोने रेवती रानीको भी बहुत समझाया, चलनेके लिये बहुत प्रेरणा की परन्तु उसने सबको यही उत्तर दिया कि भाई, ब्रह्मा नामका कोई देव आ गया होगा ।।३८।। तीसरे दिन नगरके पश्चिमकी ओर जाकर उस क्षुल्लकने रेवतीकी प्रसिद्धि सुनकर उसकी परीक्षा करनेके लिये विष्णुका रूप धारण कर लिया। विद्याबलसे अनेक गोपियाँ बना ली, चार भुजाएँ बना ली, गरुडपर सवार हो गया, शख चक्र और शस्त्र आदि चिह्न बना लिये और अनेक मिथ्यादृष्टियोंको अपनी सेवामें लगा लिया ।।३९-४०।। परन्तु रेवती रानी वहाँपर भी नहीं गई। चौथे दिन नगरके दक्षिण ओर जाकर उसने महादेवका रूप बना लिया, माथे पर आधा चन्द्रमा लगा लिया, मस्तकपर जटाजूट रख लिया, वृषभपर (नादिया पर) सवार हो गया और आधे अगमें पार्वतीको धारण कर लिया। उसे देखकर बहुतसे मूर्ख भक्ति करते हुए चले आए, परन्तु रेवती रानी तथा कितने ही अन्य समझदार लोग वहाँ भी नहीं गये ।।४१-४२।। पाँचवें दिन उत्तर दिशाकी ओर जाकर उसने तीर्थंकरका रूप बनाया। अतिशय, प्रातिहार्य आदि सब गुण बना लिये, सभाके मध्यभागमें सिंहासनपर विराजमान हो गया, अनेक देव विद्याधरोको नमस्कार करते हुए दिखला दिया और सब तरहसे धर्मको प्रगट करनेवाले तीर्थंकरका रूप बना लिया ।।४३-४४।। अनेक श्रावक अनेक मुनि भक्ति करनेके लिये आये, रानी रेवतीसे भी अनेक लोगोंने प्रेरणा की परन्तु वह वहाँ भी नही गई ।।४५।। उस बुद्धिमती रानीने सबसे कह दिया कि वासुदेव नौ होते हैं, महादेव ग्यारह होते हैं और तीर्थंकर चौबीस होते हैं ऐसा जैन शास्त्रोंमें वर्णन किया है और वे सब हो चुके फिर अब वासुदेव, महादेव वा तीर्थंकर कहाँसे आये। यह तो लोगोंको भ्रम जालमें फँसानेके लिये कोई देव अपनी मायासे रूप धारण कर आया है ।।४६-४७।। इसके दूसरे दिन उस क्षुल्लकने अपना रूप क्षुल्लकका ही रक्खा परन्तु उसे अनेक व्याधियोंसे पीडित बनाया और चर्याके समय रेवती रानीके राजमहलकी देहलीके निकट आकर अपनी विद्यासे ही बेहोश-सा होकर गिर गया। रेवती रानी सुनते ही बाहर आई और धर्मकी भावनासे भक्तिपूर्वक उसे उठाकर अपने भवनमें ले गई ।।४८-४९।। रानीने उसके लिये पथ्य और

अपनीय तदुच्छिष्टं तं प्रक्षाल्य करोति सा । निन्दां स्वस्य मया दत्तः आहारोऽत्र विरूपकः ॥५१
रेवत्या वचनं श्रुत्वा त्यक्त्वा रूपादिविक्रियाम् । तोषात्प्रशस्य वृत्तान्तं पूर्वं च कथितं स्वयम् ॥५२
धर्मवृद्धिर्गुरोस्तस्याः प्रतिपाद्य प्रकाश्य च । अमूढत्वगुणं लोके गतः स्थानं पुनर्निजम् ॥५३
सद्राज्यं वरुणो राजा दत्वा दीक्षां समाददौ । स्वशिवकीर्तिपुत्राय कर्मनिर्नाशहेतवे ॥५४
कृत्वा तपः सुखाधारं त्यक्त्वा देहं समाधिना । स्वर्गे माहेन्द्रसंज्ञे स देवो जातो महर्द्धिकः ॥५५
रेवती तप आदाय दुष्करं भवभीतिदम् । हत्वा स्त्रीलिङ्गमेवाभूद् ब्रह्मस्वर्गेऽमरो वरः ॥५६
दशसागरपर्यन्तमायुर्भुक्त्वा सुखं क्रमात् । हत्वा कर्माणि निर्वाणं गमिष्यति न चान्यथा ॥५७
अन्ये च बहवः सन्ति प्रामूढत्वगुणाश्रिताः । कस्तां च गदितुं शक्यो ज्ञातव्यास्ते जिनागमे ॥५८
मूढत्वं विबुधैस्त्याज्यं गुरुधर्मामरादिषु । दानपूजादिशास्त्रेषु विचारचतुरैः सदा ॥५९
अमूढत्वगुणं लोके स्वर्गमुक्तिसुखाकरम् । भज त्वं हि विशुद्धयात्र दर्शनं च गुणाप्तये ॥६०

अमलगुणविभूषा त्यक्तमूढादिदोषा, जिनचरणविभक्ता संश्रिता श्रीसुधर्मे ।
जिनवचनवियुक्ता रेवती संयमाढ्या, सकलसुखनिधाने ब्रह्मस्वर्गेऽमरोऽभूत् ॥६१

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे निर्विचिकित्सामूढत्वगुणव्यावर्णनो उद्दायननृप-रेवतीराज्ञीकथाप्ररूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ॥७॥

●

शुद्ध आहार खिलाया और उचित जल ग्रहण कराया परन्तु उसने ग्रहण करनेके बाद सब दुर्गन्धमय वमन कर दिया ॥५०॥ रानीने उस सब उच्छिष्टको स्वयं धोया और अपनी निन्दा की कि अवश्य ही मेरेसे आहारमें कोई अपथ्य वा अयोग्य वस्तु दी गई है ॥५१॥ रेवतीके अपने निन्दात्मक वचन सुनकर उसने अपना बनाया हुआ रूप छोड़कर अपना असली रूप धारण कर लिया । उसने रानी-की बार-बार प्रशंसा की और पहिलेका अपना सब हाल कह सुनाया ॥५२॥ तदनन्तर उसने रानीसे अपने गुरुदेवकी कही हुई धर्मवृद्धि कही, उसके अमूढदृष्टि अंगकी प्रशंसा की और फिर अपने स्थानको चला गया ॥५३॥ इसके बाद राजा वरुणने कितने ही दिन तक राज्य किया और फिर अपने पुत्र शिवकीर्तिको राज्य देकर कर्मोंको नाश करनेके लिये दीक्षा धारण कर ली ॥५४॥ उसने बहुत दिन तक सुख देनेवाला तपश्चरण किया और अतमें समाधिपूर्वक शरीरका त्यागकर माहेन्द्र स्वर्गमें बड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥५५॥ रानी रेवतीने भी दीक्षा धारण कर ली और भयको भी भय देनेवाला घोर तपश्चरण कर, स्त्रीलिंग छेदकर ब्रह्मस्वर्गमें उत्तम देव हुई ॥५६॥ वहाँपर उसकी दस सागरकी आयु थी । दस सागर तक अनेक सुखोंका अनुभव कर वह रेवती रानीका जीव अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करेगा ॥५७॥ इस अमूढदृष्टी अंगमें और भी बहुतसे लोग प्रसिद्ध हुए हैं परन्तु उन सबकी कथाएँ कौन कह सकता है । उन सबकी कथाएँ जैन शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये ॥५८॥ जो विद्वान् विचार करनेमें चतुर हैं उन्हें देव, धर्म, गुरु तथा दान पूजा शास्त्र आदिमें होनेवाली मूढता अवश्य छोड़ देनी चाहिये ॥५९॥ यह अमूढदृष्टी अंग इस संसारमें स्वर्ग मोक्षके सुखको देनेवाला है इसलिये सम्यग्दर्शन गुणको प्राप्त करनेके लिये मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक इस अमूढदृष्टी अंगको अवश्य पालन करना चाहिये ॥६०॥ जिसने सम्यग्दर्शनके निर्मल गुणोंकी विभूतिसे मूढता आदि सब दोषोंको छोड़ दिया था, भगवान् जिनेन्द्र देवकी भक्तिपूर्वक

जिसने श्रेष्ठ धर्मका पालन किया था, जो जिन वचनोंमें तल्लीन रही थी और जिसने दृढतापूर्वक संयम पालन किया था ऐसी रेवती रानी समस्त सुखोंकी निधि ऐसे ब्रह्म स्वर्गमें जाकर देव हुई थी ॥६१॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे निर्विचिकित्सा और अमूढदृष्टि अंगमें प्रसिद्ध होनेवाले राजा उद्दायन और रेवती रानीकी कथाको निरूपण करनेवाला यह सातवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥७॥

●

आठवाँ परिच्छेद

चन्द्रप्रभमहं वन्दे चन्द्राभं चन्द्रलाञ्छनम् । जनानन्दकरं देवं यद्गुणग्रामहेतवे ॥१
ख्यातो योऽभूदिहैव प्रोपगूहनगुणे शुभे । जिनेन्द्रभक्तस्तस्याहं कथां वक्ष्ये हि श्रेष्ठिनः ॥२
सौराष्ट्रविषये पाटलिपुत्रे हि स्वपुण्यतः । राजा यशोधरो जातः सुसीमा तस्य वल्लभा ॥३
तयोः पुत्रः सुवीराख्यः सप्तव्यसनपीडितः । जातस्तथाविधैर्भृत्यैर्वेष्टितोऽतिकुमार्गगः ॥४
पूर्वदेशे हि गौडाख्यविषये श्रेष्ठिनन्दनः । ताम्रलिप्तनगर्यां च जिनदत्तो वसन् धनी ॥५
तस्य सप्ततलप्रासादोपर्यस्ति महाशुभा । प्रतिमा पार्श्वनाथस्य बहुरक्षासमन्विता ॥६
तस्याः छत्रत्रये लग्ना वैडूर्यमणिरेव च । अत्यनर्घ्या सुवीरेण पारंपर्येण संश्रुतः ॥७
पुनर्लोभातिशक्तेन तेन पृष्टाः सुसेवकाः । आनेतुं कोऽपि शक्तोऽपि तां मणिं स्वप्रपञ्चतः ॥८
तस्करः सूर्यनामापि जल्पदत्यन्तगर्जितम् । हत्वाहमिन्द्रशेखरमणिमप्यानयाम्यहम् ॥९
तस्मान्निर्गत्य संजातः क्षुल्लकः कपटेन सः । कुर्वन् क्षोभं पुरे ग्रामे कायक्लेशेन प्रत्यहम् ॥१०
ताम्रलिप्तनगरीं स क्रमाच्छीघ्रं समागतः । जिनेन्द्रभक्तः संश्रुत्वा पूर्णं तत्रागतः सुधीः ॥११
वन्दित्वा तं स सम्भाष्य प्रशस्य वचनेन च । गृहमानीय श्रीबिम्बं पार्श्वनाथस्य दर्शितम् ॥१२

जिनकी कान्ति चन्द्रमाके समान है, जिनके चन्द्रमाका ही चिह्न है और जो भव्य जीवोंको सदा आनन्द देनेवाले हैं ऐसे श्री चन्द्रप्रभ भगवान्को मैं उनके गुणोंको प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ सम्यग्दर्शनके पाँचवे उपगूहन अंगमें जिनेन्द्रभक्त प्रसिद्ध हुआ है इसलिये अब मैं उस सेठकी कथा कहता हूँ ॥२॥ सौराष्ट्र देशके पाटलीपुत्र नगरमें पुण्य कर्मके उदयसे राजा यशोधर राज्य करता था। उसकी रानीका नाम सुसीमा था। उन दोनोंके एक सुवीर नामका पुत्र हुआ था जो कि पाप कर्मके उदयसे सातों व्यसनोंके सेवन करनेमें चतुर था। उसने अपने समान ही बहुतसे सेवक रख लिये थे और इस प्रकार वह कुमार्गगामी बन गया था ॥३-४॥ सौराष्ट्र देशकी पूर्व दिशामें गौड नामके देशकी ताम्रलिप्त नामकी नगरीमें एक जिनेन्द्रभक्त नामका धनी सेठ रहता था ॥५॥ उस सेठका भवन सातमंजिला था और वह सेठ बहुत ही बड़ा ऐश्वर्यशाली था। उसके उस भवनमें एक चैत्यालय था जिसमें श्री पार्श्वनाथ भगवान्का प्रतिबिम्ब विराजमान था। सेठने उसकी रक्षाका बहुत ही अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था ॥६॥ उस प्रतिमापर तीन छत्र लगे हुए थे और उन छत्रोंमें एक अत्यन्त बहुमूल्य वैडूर्यमणि लगा हुआ था। उस वैडूर्यमणिकी बात परम्परासे उक्त राजपुत्र सुवीरने भी सुनी ॥७॥ उस मणिकी बात सुनकर उसे लोभने दबाया और लोभके वश होकर उसने अपने सेवकोंसे पूछा कि तुममेंसे कोई सेवक अपना छल-कपट रचकर क्या उस मणिको ला सकता है ? ॥८॥ उन सेवकोंमें एक सूर्य नामका चोर था। वह गर्जकर बोला कि यह कौनसी बड़ी बात है। मै इन्द्रके मुकुटमें लगी हुई मणिको भी ला सकता हूँ ॥९॥ यह कहकर वह उस मणिको लेनेके लिये चल दिया। उसने कपट कर अपना क्षुल्लकका रूप बना लिया और नगर गाँवोंमें लोगोंको क्षोभ प्रगट करता हुआ और प्रतिदिन चलता हुआ शीघ्र ही ताम्रलिप्त नगरीमें आ पहुँचा। बुद्धिमान जिनेंद्रभक्त क्षुल्लकके आनेकी बात सुनते ही उसके समीप आया। सेठने उसे नमस्कार किया, उसके साथ बातचीत की, उसे

अनिच्छन्नपि तत्पार्श्वे स्थापितो मायया खलः। मणिरक्षार्थमेवासौ श्रेष्ठिना धर्मसिद्धये ॥१३
एकदा क्षुल्लकं पृष्ट्वा श्रेष्ठी निर्गत्य संस्थितः। पुराद्बहिः समुद्राद्रियात्रायां गमनोद्यतः ॥१४
सोऽपि गृहजनं व्यग्रं नेतुं वस्त्वादिकं स्वयम्। परिज्ञायार्द्धरात्रौ तां मणिमादाय निर्गतः ॥१५
गच्छन्तं तस्करं तस्मादालोक्य मणितेजसा। आरब्धो धर्तुमेवासौ कोट्टपालैर्भयंकरैः ॥१६
पलायितुं क्षमो नैव श्रेष्ठिनः शरणं पुनः। प्रविष्टो रक्ष रक्षेति मम दृष्टो वदन्नसौ ॥१७
कोलाहलं समाकर्ण्य तेषां विज्ञाय तस्करम्। तं शासनोपहासस्यालोच्य प्रच्छादनाय सः ॥१८
ब्रूते मद्वचनेनैव नीतं रत्नमनेन भोः!। कृतं भवद्भिश्चानिष्टं न चौरो घोषणा कृता ॥१९
ततस्ते तं नमस्कृत्य गताः सर्वे स श्रेष्ठिना। निर्घाटितोऽतिवेगेन धर्मतत्परचेतसा ॥२०
सद्दृष्ट्यालंकृतः श्रेष्ठी व्रतज्ञानगुणान्वितः। विचारचतुरो धीमान् स्वर्गमुक्त्यादिकं व्रजेत् ॥२१
एवं सद्दृष्टिना बालाज्ञानाशक्तजनाश्रयात्। आगतस्यापि दोषस्य कर्तव्यं छादनं वृषे ॥२२
स्वस्य निन्दां प्रकुर्वन्ति स्तुवन्ति परगुणान् ये। धन्यास्ते यान्ति स्वर्लोकं क्रमान्मुक्त्यालयं बुधाः ॥२३

परदोषान् व्यपोहन्ति प्रकटीकृत्य सद्गुणान्।
सौख्यं शक्रादिजं ये ते भुक्त्वा यान्ति शिवास्पदम् ॥२४

सब तरहसे सन्तुष्ट किया और अपने घर लाकर श्री पार्श्वनाथकी प्रतिमाके दर्शन कराये ॥१०-१२॥ सेठने उससे चैत्यालयमें रहनेकी प्रार्थना की परन्तु उसने कपटपूर्वक अपनी अनिच्छा प्रकट की। तथापि उस सेठने धर्मकी वृद्धि होनेके लिये उस मणिकी रक्षार्थ उस दुष्ट क्षुल्लकको वहाँ ठहरा लिया ॥१३॥

किसी एक दिन सेठने समुद्रयात्रा करनेका विचार किया और उस क्षुल्लकसे आज्ञा लेकर घरसे निकलकर नगरके बाहर ठहर गया ॥१४॥ उस रातको सेठके अन्य कुटुम्बी लोग भी अपना अपना सामान सम्भालनेमें लगे हुए थे। ऐसे समयको देखकर वह चोर क्षुल्लक भी आधी रातके समय उस मणिको लेकर चलता बना ॥१५॥ वह मणिको लेकर जा रहा था परन्तु उस मणिके प्रकाशसे कोटवालको दिखाई पड़ ही गया, इसलिये वह भयंकर कोटवाल पकड़नेके लिये उसके पीछे दौडा ॥१६॥ वह क्षुल्लक और अधिक दौड़ न सका। उसने देखा कि मैं अब किसी तरह बच नही सकता तब वह दुष्ट उसी सेठकी शरणमें पहुँचा और कहने लगा कि इस समय रक्षा कीजिये ॥१७॥ उधर सेठने पहरेदारोंका चोरके भागनेका कोलाहल भी सुन रक्खा था इसलिये उसने उसे चोर तो समझ लिया परन्तु एक क्षुल्लक वेषधारीको चोर कहनेमें जैनधर्मकी हँसी होगी यह समझकर उसने उस विषयको दबाना ही उचित समझा ॥१८॥ सेठने आये हुए कोतवाल और अन्य लोगोंसे यही कहा कि यह तो मेरी आज्ञासे ही इस रत्नको लाया है। आप लोगोंने यह बहुत बुरा किया जो एक क्षुल्लकके लिये चोरकी घोषणा की ॥१९॥ सेठकी यह बात सुनकर वे सब लोग उसे नमस्कार कर चले गये। उनके चले जानेके बाद धर्ममें सदा तत्पर रहनेवाले सेठने उस दुष्टको शीघ्र ही अपने यहाँसे निकाल दिया ॥२०॥ बुद्धिमान् सम्यग्दर्शनसे सुशोभित व्रत और ज्ञानादि गुणोंसे विभूषित और विचार करनेमें अत्यन्त चतुर वह सेठ आगे स्वर्ग मोक्षके सुखोंको प्राप्त होगा ॥२१॥ इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको चाहिये कि वे बालक, अज्ञानी अथवा असमर्थ लोगोंके आश्रयसे होनेवाले धर्मके दोषोंको सदा ढकते रहें ॥२२॥ जो विद्वान् अपनी निन्दा करते हैं और दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं वे मनुष्य संसारमें धन्य है। वे अवश्य ही स्वर्गके सुखोंको भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२३॥ जो मनुष्य अपने मुँहसे दोषोंको कभी नहीं कहते

ये वदन्ति स्वयं स्वस्य गुणान् दोषान् पुनर्न च । गर्दभादिकुयोनिं ते श्वभ्रं वा यान्ति दुर्धियः ॥२५
परनिन्दां प्रकुर्वन्ति गुणान् प्रच्छादयन्ति ये । ते मूढा श्वभ्रगा ज्ञेया भूरिपापावृताः खलाः ॥२६
विमलगुणगरिष्ठस्तीर्थनाथस्य भक्तो, विदितपरमतत्त्वो धर्मदानादियुक्तः ।
प्रकटितगुणसारो दर्शनस्यैव वन्द्याद्रहितसकलदोषोऽत्रैव जैनेन्द्रभक्तः ॥२७
वारिषेणोऽतिविख्यातो यः स्थितीकरणे गुणे । प्रवक्ष्यामि कथां तस्य तद्गुणग्रामसिद्धये ॥२८
मगधाख्ये शुभे देशे पुरे राजगृहेऽभवत् । श्रेणिको भूपतिस्तस्य राज्ञी स्याच्चेलिनी शुभा ॥२९
वारिषेणस्तयोर्जात. सुतः सद्दर्शनान्वितः । श्रावकाचारसम्पन्नो धीरो जैनो महाशयः ॥३०
एकदा स चतुर्दश्यां कृत्वा सत्प्रोषधं सुधीः । कायोत्सर्गं समादाय श्मशाने संस्थितो निशि ॥३१
तस्मिन्नेवाह्नि प्रोद्याने विलासिन्या विलोकितः । गतया मुग्धसुन्दर्या वै हारोऽतिमनोहरः ॥३२
स्थितः श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या हृदि पुण्यफलेन सा । चिन्तयामास किं मेऽहो जीवितव्येन साम्प्रतम् ॥३३
हारेणापि विना लोके चेति चिन्ताकुलापि सा । गेहं गत्वा स्थिता शोकात्पतित्वा शयनोदरे ॥३४
तदासक्तेन विद्युच्चौरेणागत्य प्ररूपितम् । रात्रावेवं स्थिता किं हे प्रिये चिन्तातुराऽसि वै ॥३५
तयोक्तं यदि मे नाथ ददासि दिव्यभूषणम् । हारं श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या भर्ता त्वं चात्र नान्यथा ॥३६

और दूसरोंके श्रेष्ठ गुणोंको सदा प्रगट करते रहते हैं वे इन्द्रादिकके सुख भोगकर अन्तमें मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥२४॥ जो मूर्ख अपने गुणोंको अपने आप कहते फिरते हैं और अपने दोषोंको कभी प्रगट नहीं करते वे गधे आदिकी कुयोनियोंमें जन्म लेते हैं अथवा नरकमें जाकर दुःख भोगते हैं ॥२५॥ जो मनुष्य दूसरोंकी निन्दा करते रहते हैं और दूसरोंके गुणोंको ढँकते रहते हैं वे दुष्ट सबसे अधिक पापी हैं । उन मूर्खोंको नरकमें ही स्थान मिलता है ॥२६॥ वह श्री जिनेन्द्रभक्त सेठ अनेक निर्मल गुणोंसे सुशोभित था, तीर्थंकर परमदेवका भक्त था, परम तत्त्वका जानकार था, दान धर्म आदि क्रियाओंमें निपुण था, सम्यग्दर्शनके उत्तम गुण प्रगट करनेमें चतुर था और निन्दा आदि सब दोषोंसे रहित था ॥२७॥

इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण गुणमें वारिषेण प्रसिद्ध हुआ है । अब मैं सम्यग्दर्शनके गुण बढ़ानेके लिये उसकी कथा कहता हूँ ॥२८॥ मगध देशके राजगृह नगरमें राजा श्रेणिक राज्य करता था । उसकी पट्टरानीका नाम चेलना था ॥२९॥ उन दोनोंके वारिषेण नामका पुत्र था जो कि सम्यग्दृष्टी था, श्रावकोंके सब व्रतोंको पालन करता था, धीर-वीर था, जिनेन्द्रदेवका भक्त था और उदार हृदय था ॥३०॥ किसी एक दिन चतुर्दशी पर्वके दिन उसने प्रोषधोपवास किया था इसलिये उस रातको उस बुद्धिमानने स्मशानमें जा कर कायोत्सर्ग धारणकर ध्यान लगाया था ॥३१॥ उसी दिन दिनके समय किसी बागमें सेठ श्रीकीर्ति वायु सेवनके लिये आया था । पुण्य कर्मके उदयसे उसके गलेमें एक अत्यन्त मनोहर हार पड़ा था । वह हार मुग्धसुन्दरी नामकी किसी वेश्याने देखा । उस हारको देखकर वह विचार करने लगी कि इस हारके बिना जीना व्यर्थ है । यही सोचती विचारती वह घरको चली गई और शोक करती हुई शय्यापर जा लोटी ॥३२-३४॥ विद्युच्चर नामका एक चोर उस वेश्यापर आसक्त था । वह रातको उसके घर आया और उस वेश्याको रातमें भी इस प्रकार शोकाकुलित देखकर पूछने लगा कि हे प्रिये ! तू तू आज किस चिन्तामें डूब रही है ॥३५॥ इसके उत्तरमें उस वेश्याने कहा कि हे स्वामिन् ! यदि आप सेठ श्रीकीर्तिके गलेमें पड़ा हुआ दिव्य हार लाकर मुझे दें तो मैं आपको अपना स्वामी बनाऊँगी, अन्यथा नहीं ॥३६॥ यह सुनकर विद्युच्चरने उसे धीरज बँधाया और आधी रातके

तच्छ्रुत्वा तां समुद्धीर्य तस्या गेहं प्रविश्य तम् । चौरयित्वार्द्धरात्रौ स कौशलेन विनिर्गतः ॥३७
हारोद्योतेन तं चौरं ज्ञात्वा सोऽपि च तस्करः । ध्रियमाणो बलाद्गेहरक्षकैः कोटपालकः ॥३८
तेभ्यः पलायितुं सोऽसमर्थो हारं स्थितस्य वै । वारिषेणकुमारस्याग्रे धृत्वाऽदृश्यतामगात् ॥३९
कोटपालैस्तथा तं च दृष्ट्वागत्य प्रजल्पितम् । श्रेणिकस्य महाचौरो वारिषेणः स्थितोऽधुना ॥४०
तेनोक्तं दृष्टिवैकल्यात्स्थितस्य तस्य मस्तकम् । गृहीध्वं त्यक्तदेहस्य यूयं संकृतमायया ॥४१
क्षिप्तोऽसिस्तेन तत्कण्ठे मातङ्गेन स चाजनि । सत्पुष्पदामरूपेण व्रतमाहात्म्ययोगतः ॥४२
तं श्रुत्वातिशयं जातं देवात् निन्दां विधाय स । श्रेणिकेन समागत्य क्षमां स्वकारितोऽप्यसौ ॥४३
याचयित्वाभयं दानं विद्युच्चौरेण तत्क्षणम् । प्रकटीकृत्य स्वं राज्ञो वृत्तान्तं कथितं निजम् ॥४४
वारिषेणो गृहं नेतुं प्रारब्धः सोऽवदत्सुधीः । पाणिपात्रेऽपि भोक्तव्यं गृहीतो नियमो मया ॥४५
राजादेशं समादाय गत्वा श्रीगुरुसन्निधौ । सूर्यदेवमुनिं नत्वा दीक्षां जग्राह शुद्धधीः ॥४६
राजगृहसमीपे पलाशकूटं स वैकदा । ग्रामं प्रविष्टश्चर्यायै सुतीव्रतपसान्वितः ॥४७
श्रेणिकस्य महामन्त्री योऽग्निभूतसमाह्वयः । तत्पुत्रपुष्पडालेन दृष्ट्वा संस्थापितो मुनिः ॥४८
दानं दत्त्वा मुनीन्द्राय सोमिल्लां ब्राह्मणीं पुन । पृष्ट्वानुव्रजनं कर्तुं निर्गतो मुनिना सह ॥४९

समय सेठ श्रीकीर्तिके घर जाकर उस हारको लेकर कुशलपूर्वक बाहर निकल आया ॥३७॥ परन्तु उस हारका प्रकाश छिप न सका इसलिये कोतवालने और पहरेदारोंने उसे चोर समझकर पकड़ना चाहा। आगे वह चोर दौड़ता जाता था और पीछे-पीछे पहरेदार। वह चोर उसी स्मशानकी ओर दौड़ा और अन्तमें पकड़े जानेके डरसे उस हारको ध्यानमें लीन हुए वारिषेण कुमारके आगे पटककर छिप गया ॥३८-३९॥ कोतवालने वारिषेणको हारके पास इस प्रकार खड़े देखकर महाराज श्रेणिकसे जा कर कहा कि हे महाराज ! कुमार वारिषेण हार चुराकर इस प्रकार स्मशानमें ध्यान लगाकर जा खड़ा हुआ है ॥४०॥ कोतवालकी यह बात सुनकर महाराज श्रेणिक को अपने पुत्रपर बहुत ही क्रोध आया और उसने सम्यग्दर्शनसे रहित, मायाचारसे संस्कृत और कायोत्सर्गसे स्थित उस वारिषेणका मस्तक काट डालनेकी आज्ञा दे दी ॥४१॥ आज्ञा होते ही चांडालने जाकर उसके गलेपर तलवार चलाई परन्तु उस व्रतके माहात्म्यसे वह तलवार भी पुष्पमाला होकर उसके गलेमें जा पड़ी ॥४२॥ पुत्रका यह देवकृत अतिशय सुनकर राजा श्रेणिक भी अपनी निन्दा करता हुआ आया और उसने कुमारसे क्षमा माँगी ॥४३॥ विद्युच्चर भी यह सब लीला देख रहा था वह तुरन्त ही आ उपस्थित हुआ और अभयदान माँगकर राजा श्रेणिकसे हार चुरानेकी तथा वारिषेणके आगे डालनेकी अपनी सब कथा कह सुनाई ॥४४॥ तदनन्तर महाराज श्रेणिकने कुमार वारिषेणसे घर चलनेके लिये कहा परन्तु वारिषेणने उत्तर दिया कि अब तो मैंने जिन दीक्षा लेकर पाणिपात्र भोजन करनेकी प्रतिज्ञा ले ली है ॥४५॥ इस प्रकार अपने पिताकी आज्ञा लेकर वह कुमार वारिषेण सूर्यदेव मुनिराजके समीप गया और उन्हें नमस्कारकर उस बुद्धिमानने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली ॥४६॥ किसी एक दिन तपश्चरण और व्रतोंसे सुशोभित वे वारिषेण मुनि आहारके लिये राजगृहके समीपवर्ती पलासकूट गाँवमें पधारे ॥४७॥ वहाँपर महाराज श्रेणिकका महामंत्री अग्निभूत रहता था और उसके पुत्रका नाम पुष्पडाल था। उस पुष्पडालने उन मुनिराजको देखकर शीघ्र ही उनका पड़गाहन किया ॥४८॥ उसने मुनिराजको आहार दिया और फिर अपनी सोमिला ब्राह्मणीसे पूछकर उसकी आज्ञानुसार कुछ दूरतक उन

स्वस्य व्याघुटनार्थं स क्षीरवृक्षादिकं मुहुः । दर्शयन् वन्दनां कुर्वन् मुहुस्तस्मै मुनीशिने ॥५०
मुनिना हस्तमादाय नीतः स बालमित्रतः । कुर्वता बोधनं तस्य परं सद्धर्महेतवे ॥५१
गृहवासं महानिन्द्यं पापबीजं कुदुःखदम् । चिन्ताविशतसम्पूर्णं धर्मविघ्नकरं त्यज ॥५२
मित्र गृहाण चारित्रं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । सुखाकरं महापापस्फोटकं दुःखदूरगम् ॥५३
लज्जाप्रमानवैराग्याद् गृहीत्वा संयमं परम् । सोमिल्लां स्वचित्तस्थां नैव स विस्मरेत् सदा ॥५४
तौ मुनी द्वादशाब्दैश्च कृत्वा सत्तीर्थवन्दनाम् । वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य प्रागतौ सत्सभां शुभात् ॥५५
नमस्कृत्य जिनाधीशमुपविष्टौ निजे गणे । स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य सद्धर्मान्वितचेतसौ ॥५६
पृथिव्यादिसमुद्भूतं गीयमानं सुरैर्वरम् । गीतं सर्वरसाढ्यं हि पुष्पडालेन संश्रुतम् ॥५७
कुवस्त्रमललिप्तांगा दह्यमाना हृदि त्वया । त्यक्ता शुभा कथं पृथ्वी जीविष्यति महीधरः ॥५८
एतत्स्वस्यापि संयोज्य सोमिल्लायाश्च नष्टधीः । निर्गतो रागसंयुक्तो स्वगेहं मोहितो मुनिः ॥५९
तं ज्ञात्वा वारिषेणेन स्थितीकरणहेतवे । नीतो राजगृहं तस्मात्सम्यग्दर्शनशालिना ॥६०
चेलिनी तौ मुनी दृष्ट्वा वारिषेणः किमागतः । चारित्राच्चलितो भूत्वा चेति शङ्कां चकार सा ॥६
वीतरागसरागौ द्वौ चासनौ दापितौ तया । स्वपुत्रस्य परीक्षार्थं स्वयं संविग्नचेतसा ॥६२

मुनिराजके साथ गया ॥४९॥ कुछ दूर जाकर उसे लौटनेकी पड़ी। अपने लौट जानेकी आज्ञा मांगनेके लिये कभी कोई क्षीरवृक्ष दिखाकर स्मरण कराया और कभी उन्हे वन्दना कर स्मरण कराया परन्तु वे मुनिराज कुछ न बोले, चले ही गये। लाचार होकर पुष्पडालको भी जाना पड़ा। अपने स्थानपर जाकर मुनिराजने बाल मित्र होनेके कारण उसका हाथ पकड़कर सद्धम ग्रहण करनेके लिये उसे समझाया और कहा कि ॥५०-५१॥ हे मित्र ! यह गृहस्थका निवास अत्यन्त निन्दनीय है, पापका कारण है, अनेक दु:खोंको उत्पन्न करनेवाला है, अनेक चिन्ताओसे। भरपूर है और धर्मकार्योंमें विघ्न करनेवाला है, इसलिये तू इसे छोड़ और चारित्र धारण कर यह चारित्र ही स्वर्ग मोक्षको वश करनेवाला है, सुखकी खानि है, महापापोंको नाश करनेवाला है और दु:खोंको दूर करनेवाला है ॥५२-५३॥ मुनिराजका उपदेश सुनकर पुष्पडालको कुछ लज्जा आई, लज्जासे कुछ अभिमान आया और कुछ वैराग्य प्रगट हुआ इसलिये उसने संयम धारण कर लिया परन्तु वह सोमिला ब्राह्मणीको अपने हृदयसे कभी नही भुला सका ॥५४॥ तदनन्तर वे दोनों मुनिराज तीर्थयात्राको निकले। बारह वर्षतक तीर्थयात्रा की और फिर श्री वर्द्धमान स्वामीके समवशरणमें आये ॥५५॥ वहाँ आकर उन दोनोंने अपने दोनों हाथ जोड़कर तीर्थंकर परमदेवको नमस्कार किया और हृदयमें धर्मकी आराधना करते हुए अपने कोठेमे जा बैठे ॥५६॥ वहाँपर कुछ देव पृथ्वीके विषयमें कुछ रसीले गीत गा रहे थे और उनमेंसे एक गीत यह था "कि हे राजन् ! फटे और मैले वस्त्र पहिने तथा अपने हृदयमें जलती हुई पवित्र पृथ्वी तूने छोड़ दी है इसलिये अब वह किस प्रकार जीवेगी" देवोंका यह गीत पुष्पडालने भी सुना और उसने ज्योंका त्यों अपनी सोमिला ब्राह्मणीपर घटा लिया। बस फिर क्या था वह बुद्धिहीन मुनि मोहमें फंस गया और हृदयमें राग भाव उत्पन्न हो जानेके कारण वहाँसे घरके लिये चल पड़ा ॥५७-५९॥ उसकी यह लीला सम्यग्दृष्टि मुनिराज वारिषेणने भी जान ली और उसको अपने धर्ममें स्थिर करनेके लिये वे उसे अपने राजभवनमें ले गये ॥६०॥ रानी चेलना ने उन दोनों मुनिराजोंको आते हुए देखकर विचार किया कि वारिषेण क्यों आया ? क्या वह चारित्रसे चलायमान तो नहीं हो गया ? ऐसी शंका उसके हृदयमें उत्पन्न हुई ॥६१॥ उस शंकाको

उपविश्य ततः प्रोक्तं मुनिना मातरं प्रति । ममान्तःपुरमेवात्र प्रानय त्वं सुवेगतः ॥६३
ततः सुदेव्यो द्वात्रिंशद्वस्त्राभरणभूषिताः । हावभावविलासाढ्या आनीता मुनिसन्निधौ ॥६४
भणितं वारिषेणेन पुष्पडालं प्रति स्वयम् । इमाः स्त्रियो गृहाण त्वं यौवराज्यं पदं च मे ॥६५
तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोऽभूल्लज्जाकुलितमानसः । वैराग्यं परमं गत्वा स्वस्य निन्दां करोत्यसौ ॥६६
धन्योऽयं येन सन्त्यक्ता राज्यश्री सुभगास्त्रियः । धिङ्मां रागान्वितं मूढं त्यक्तभार्यादिचित्तकम् ॥६७
पुष्पडालोऽतिसंवेगात्कृत्वा तीव्रं तपोऽनघम् । स्वर्गऋद्धयादिकं प्राप्य क्रमान्मोक्षं प्रयास्यति ॥६८
वारिषेणो मुनीन्द्रस्तु रत्नत्रयविभूषितः । कृत्वा तपो द्विषड्भेदं स्वर्गऋद्धयादिकं व्रजेत् ॥६९

निरुपमगुणयुक्तस्त्यक्तशङ्कादिदोषो, विसृतगुणगरिष्ठो दर्शनस्यैव नित्यम् ।
कृतसकलतपो यो ज्ञानविज्ञानदक्षो, दिशतु शिवसुखं नो वारिषेणो मुनीन्द्रः ॥७०

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे उपगूहनस्थितिकरणप्ररूपणो जिनेन्द्रभक्त-वारिषेणकथाप्ररूपणो नाम अष्टमः परिच्छेदः ॥८॥

दूर करनेके लिये और अपने पुत्रकी परीक्षा करनेके लिये उसने उन मुनियोंके लिये दो प्रकारके आसन डलवाए। एक स्थानपर सुवर्ण चांदीके रागरूप और दूसरे स्थानपर वीतराग काठके ॥६२॥ वे मुनिराज वीतराग आसनपर विराजमान हो गये और फिर उन्होंने अपनी मातासे कहा कि—हे माता! शीघ्र ही मेरे सामने मेरी सब स्त्रियोंको बुलाओ ॥६३॥ रानी चेलनाने वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित तथा हावभाव विलास आदि गुणोंसे शोभायमान उनकी बत्तीसों सुन्दर स्त्रियां बुलाकर उनके सामने खडी कर दी ॥६४॥ तब मुनिराज वारिषेणने पुष्पडालसे कहा कि यदि अब भी तेरी लालसा नहीं मिटी है तो इन स्त्रियोंको और मेरे युवराज पदको स्वीकार कर ॥६५॥ मुनिराजकी यह बात सुनकर (और उनको ऐसी परम विभूतिसे भी विरक्त जानकर) पुष्पडाल हृदयमें बहुत ही लज्जित हुआ। उसे उसी समय वैराग्य प्रगट हुआ और वह स्वयं अपनी निन्दा करने लगा ॥६६॥ वह कहने लगा कि इनको धन्य है जिन्होंने राज्यलक्ष्मी औरम् ऐसी ऐसी सुन्दर स्त्रियां त्याग दी हैं तथा मुझ मूर्खको बारबार धिक्कार है जो त्याग करनेपर भी स्त्रीकी चिन्तामें लगा रहता हूँ ॥६७॥ तदनन्तर पुष्पडालने परम संवेग धारण किया, निरन्तर तीव्र तपश्चरण किया और अन्तमें स्वर्ग सुख प्राप्त किया। अनुक्रमसे वह मोक्ष प्राप्त करेगा ॥६८॥ रत्नत्रयसे विभूषित हुए मुनिराज वारिषेण भी बारह प्रकारका घोर तपश्चरण कर स्वर्गमें महाऋद्धिके धारक देव हुए ॥६९॥ जो अनुपम गुणोंसे शोभायमान थे, जिन्होंने शंका आदि सब दोष दूरकर सम्यग्दर्शनके समस्त उत्तम गुणोंको धारण किया था, जिन्होंने बारह प्रकारका तपश्चरण किया था और जो ज्ञान विज्ञानसे विभूषित थे ऐसे वे मुनिराज वारिषेण हम लोगोंको मोक्ष सुख प्रदान करें ॥७०॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें उपगूहन और स्थितिकरण अंगमे प्रसिद्ध होनेवाले जिनेन्द्रभक्त और वारिषेणकी कथाको कहनेवाला यह आठवां परिच्छेद समाप्त हुआ ॥८॥

नवाँ परिच्छेद

पुष्पदन्तमहं वन्दे कामदं कामघातकम् । प्रारब्धार्थप्रसिद्धयर्थं कुन्दाभं धर्मनायकम् ॥१
सद्विष्ण्वादिकुमारो यः सद्वात्सल्यगुणे मुनिः । विख्यातोऽहं कथां तस्य वक्ष्ये तद्गुणप्राप्तये ॥२
अवन्तीविषये रम्ये उज्जयिन्यामभूत्पतिः । नगर्यामपि श्रीवर्मा पूर्वोपार्जितपुण्यतः ॥३
मन्त्रिणस्तस्य सञ्जाताश्चत्वारः प्रथमो बलिः । बृहस्पतिश्च प्रह्लादो नमुचो दुष्टमानसः ॥४
एकदाकम्पनो नाम्नाचार्योऽवधिसुवीक्षणः । तत्रागत्य स्थितो ज्ञेयो वने सह मुनीश्वरैः ॥५
धीरैः सप्तशतैर्दक्षैः सज्ज्ञानाम्बुधिपारगैः । तपसा कृशसर्वाङ्गैरकृशैर्गुणसंपदा ॥६
गुरुणा वारितः संघः कर्तव्यं नैव जल्पनम् । राजादिके समायाते ह्यन्यथा संघव्यत्ययः ॥७
हर्म्योपरिस्थितेनैव राज्ञा पूजाकरान्वितम् । गच्छन्तं मन्त्रिणः पृष्टा आलोक्य नागरं जनम् ॥८
क्वायं लोकः प्रयात्यद्य यात्रां सत्पुण्यहेतवे । तैरुक्तं बहिरुद्याने प्रागता मुनयो ध्रुवम् ॥९
वन्दनार्थमयं तेषां लोको याति निरन्तरम् । गच्छामो वयमपीति भणित्वा निर्गतो नृपः ॥१०
मन्त्रियुक्तेन भूपेन गत्वा सर्वे प्रवन्दिताः । आशीर्वादो न दत्तोऽस्य केनापि मुनिना पुनः ॥११

जो सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले है, कामदेवको नष्ट करनेवाले है, कुंदके पुष्पके समान जिनका शरीर है और जो धर्मके स्वामी है ऐसे श्री पुष्पदन्त भगवान्‌को मै अपने प्रारम्भ किये हुए कार्यको प्रसिद्ध करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ मुनिराज श्री विष्णुकुमार सम्यग्दर्शनके वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध हुए है इसलिये उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये मै उनकी कथा कहता हूँ ॥२॥ इसी भरतक्षेत्रके मनोहर अवन्ती देशके अन्तर्गत उज्जयिनी नगरीमें अपने पुण्यकर्मके उदयसे श्रीवर्मा नामका राजा राज्य करता था ॥३॥ उसके चार मंत्री थे। बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि उनका नाम था। ये चारों ही मंत्री बड़े दुष्ट थे ॥४॥

किसी एक समय अवधिज्ञानी अकंपनाचार्य अनेक मुनियोंके साथ उस उज्जयिनी नगरीके बाहर वनमें आ बिराजे ॥५। उनके साथ सातसौ मुनिराज थे, वे सब बुद्धिके पारगामी थे, तपश्चरणसे उनका शरीर कृश हो रहा था और वे अनेक गुणरूपी सम्पदाओसे विभूषित थे ॥६॥ गुरुराज अकंपनाचार्यने अपने निमित्तज्ञानसे जानकर सब संघको आज्ञा दे दी थी कि राजा आदिके आनेपर भी कोई किसीसे कुछ भाषण न करे क्योंकि भाषण करनेपर संघपर किसी उपद्रवके होनेकी आशंका है ॥७॥ मुनिराजको आये हुए जानकर नगरके लोग पूजाकी सामग्री लेकर आए। किसी कारणवश उस समय राजा अपने भवनकी ऊपरी छतपर था। वहाँसे उसने सब लोगोंको पूजाकी सामग्री लेकर जाते हुए देखा तब उसने मन्त्रियोंसे पूछा कि आज ये लोग पुण्य उपार्जन करनेके लिये किसकी यात्रा करने जा रहे हैं? मन्त्रियोंने उत्तर दिया कि हे महाराज! नगरके बाहर उद्यानमें मुनिराज पधारे है ॥८-९॥ उन्हीकी वंदना करनेके लिये ये लोग निरन्तर आ जा रहे हैं। मन्त्रियोंकी यह बात सुनकर राजाने भी कहा—हम भी उनकी वन्दना करनेके लिये चलेंगे। यह कहकर वह राजा उन मन्त्रियोंको साथ लेकर चल दिया। वहाँ जाकर उसने सब मुनियोंकी वंदना की परन्तु किसी मुनिने राजाको आशीर्वाद नहीं दिया

तिष्ठन्ति निस्पृहाश्चैते त्यक्तदेहा मुनीश्वराः । ध्यानारूढा गुणैर्युक्ता इति मत्वा नृपो गतः ॥१२
उपहासः कृतश्चैतैर्मन्त्रिभिर्दुष्टमानसैः । बलीवर्दा न जानन्ति दम्भमौनेन संस्थिताः ॥१३
गच्छद्भिस्तैर्महादुष्टैरग्रे दृष्टो मुनीश्वरः । चर्यां कृत्वा समागच्छन् श्रुतसागरसंज्ञकः ॥१४
उक्तं चायं बलीवर्दस्तरुणो याति साम्प्रतम् । पूरयित्वोदरं स्वस्य मूर्खो ज्ञानादिभिश्च्युतः ॥१५
तच्छ्रुत्वा मुनिना तेऽपि वादं कृत्वा विनिर्जिताः । नीत्वा राजसभामध्ये सत्स्याद्वादनिरुक्तिभिः ॥१६
तेनागत्य गुरुं नत्वा स्ववार्ता कथिता पुनः । गुरुणोक्तं त्वया धीमन् संघस्योपद्रवः कृतः ॥१७
तच्छ्रुत्वा तं प्रति प्राह सोऽपि स्वामिन् कथं हि सः । विनश्यति मुनीनां त्वं कृपां कृत्वा निरूपय ॥१८
यदि गत्वा त्वमेकाकी वादस्थाने हि तिष्ठसि । संघस्य जीवितव्यं ते शुद्धिश्चैव भविष्यति ॥१९
ततो गत्वाप्यसौ तत्र कायोत्सर्गेण संस्थितः । धीरस्त्यक्तभयो रात्रौ ध्यानारूढोऽचलो यथा ॥२०
गच्छद्भिस्तैर्महाक्रुद्धैः संघं मारयितुं निशि । मानभङ्गान्मुनिं दृष्ट्वा मार्गे ब्रूते परस्परम् ॥२१
मानभङ्गः कृतो येन स हन्तव्यो न चापरे । चतुर्भिर्युगपत्खड्गा उद्गीर्णा तद्वधाय तैः ॥२२
जिनधर्मप्रभावेन मुनिमाहात्म्ययोगतः । पुरदेवतया तत्र कीलितास्ते तथैव च ॥२३

॥१०–११॥ यह देखकर राजाने समझा कि शरीरसे ममत्व छोड़े हुए ये निस्पृह और अनेक गुणोंसे विराजमान मुनिराज अपने ध्यानमें लगे हुए है यह समझकर वह वापिस लौट गया ॥१२॥ परन्तु उन दुष्ट मन्त्रियोंने उनकी हँसी उड़ाई और कहा कि ये कोरे बैल है, कुछ जानते नही। इन्होंने केवल छलकपट कर मौन धारण कर लिया है ॥१३॥ आगे जाते हुए उन मन्त्रियोंको एक श्रुत-सागर नामके मुनि मिले जो चर्या करके वापिस लौट रहे थे। उन्हे देखकर उन दुष्ट मन्त्रियोंने कहा कि एक यह भी तरुण बैल आ रहा है। यह भी मूर्ख और ज्ञानादिकसे सर्वथा रहित है और यह अभी अपना पेट भरकर आया है ॥१४–१५॥ यह सुनकर मुनिराजने राजसभाके मध्यमें उन चारों मन्त्रियोंके साथ शास्त्रार्थ किया[1] और अनेकातकी युक्तियोंसे उन सबको पराजित किया ॥१६॥ फिर अपने संघमें आकर अपने गुरुराजको नमस्कार किया और मार्गमें होनेवाले शास्त्रार्थ-की सब कथा कह सुनाई। उसे सुनकर आचार्यने कहा कि हे विद्वन्! आपने सघके लिये एक उपद्रव खड़ा कर दिया ॥१७॥ आचार्यकी बात सुनकर श्रुतसागरने प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! वह मुनियोंका उपद्रव किस प्रकार दूर हो सकता है? आप कृपाकर मुझसे कहिये ॥१८॥ तब आचार्यने कहा कि जहाँपर शास्त्रार्थ किया है वही जाकर यदि आप आज रहे तो सघका जीवन बच सकता है और आपकी शुद्धि भी हो जायगी ॥१९॥ आचार्यकी यह आज्ञा सुनकर वे धीरवीर मुनिराज वहींपर गये और निर्भय होकर कायोत्सर्ग धारण कर पर्वतके समान निश्चल होकर उस रातको वहींपर विराजमान रहे ॥२०॥ शास्त्रार्थमें हार जाने और मान भग हो जानेके कारण उन चारों दुष्ट मन्त्रियोंने क्रोधित होकर सब संघके मारनेका विचार किया। वे इस कामके लिये रातमें निकले परन्तु मार्गमें उन मुनिराजको देखकर परस्पर कहने लगे कि हम लोगोंका मानभंग तो इसने किया है इसलिये इसे ही मारना चाहिये, दूसरोंको नहीं। यह कहकर चारों मंत्री एक साथ तलवार उठाकर मारनेके लिये तैयार हुए ॥२१–२२॥ परन्तु जैनधर्मके प्रभावसे और मुनिराजके माहात्म्यसे नगरके देवताने वे चारों ही मंत्री उसी प्रकार (मारनेके लिये हाथमें तलवार

---

१. मुनिराज श्रुतसागर आहारको गये थे और उन्होंने आचार्यकी आज्ञा सुनी नहीं थी इसलिये उन्होंने मन्त्रियोंके साथ बातचीत की थी।

प्रभातसमये तेऽपि दृष्ट्वा लोकैश्च निन्दिता । ध्यानारूढं मुनिं धीरं हन्तुं कृतमहोद्यमाः ॥२४
निर्घाटिता हता नैव कोपाद्राज्ञा क्रमागतः । कारयित्वा महादण्डं गर्दभारोहणादिकम् ॥२५
कुरुजाङ्गलदेशेऽथ हस्तिनागपुरे पतिः । महापद्मोऽभवदस्य राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥२६
तयोः पुत्रौ समुत्पन्नौ पद्मविष्णुसमाह्वयौ । प्राप्य किंचिन्निमित्तं स वैराग्यं कृतवान् नृपः ॥२७
राज्यं दत्वा स पद्माय बभूव विष्णुना सह । श्रुतसागरसूरेश्च समीपे सन्मुनिर्नृपः ॥२८
बलिप्रभृतयस्तेऽपि पद्मराज्यस्य साम्प्रतम् । आगत्य मन्त्रिणो जाता मानभङ्गाकुलाः खलाः ॥२९
अथ कुम्भपुरे दुर्गे राजा सिंहबलोऽवसत् । उपद्रवं करोत्यस्य मण्डलस्य मदान्वितः ॥३०
तद्वृत्ताकर्ण्य संजातचिन्तया तैश्चतुर्बलम् । पद्मं दृष्ट्वोदितं किं हि देव दौर्बल्यकारणम् ॥३१
बलैर्निरूपितं राजा ततः श्रुत्वा ससाधनम् । आदेशं प्रार्थ्य शीघ्रं च गतस्तत्र बलान्वितः ॥३२
बुद्धिमाहात्म्यसामर्थ्यात् दुर्गं भङ्क्त्वा प्रगृह्य तम् । व्याघुट्यागत्य पद्मस्य बलिना स समर्पितः ॥३३
तोषाद्युक्तं स्वयं राज्ञाऽभीष्टं प्रार्थय सद्वरम् । तेनोक्तं प्रार्थयिष्यामि यदा कार्यं भविष्यति ॥३४
अथ तेऽकम्पनाचार्यादयो धीरा मुनीश्वराः । सप्तशतगणोपेताः प्रभ्रमंस्तत्र चागताः ॥३५
पुरक्षोभात्परिज्ञाय बलिना तन्मुनीश्वरान् । रागद्वेषमदोन्मादभयशोकादिवर्जितान् ॥३६

उठाए) कील दिये ॥२३॥ सबेरा होते ही नगरके सब लोग मुनिराजकी बंदनाके लिये आये। सबने उन ध्यानारूढ मुनिराजको मारनेका उद्यम करनेवाले उन चारों मन्त्रियोंकी निंदा की ॥२४॥ राजाने स्वयं जाकर उनको देखा। उसे बड़ा क्रोध आया परन्तु उसने उनके प्राण नहीं लिये। काला मुँह कर गधेपर सवार कराकर नगरमें फिराया और इस प्रकार महादंड देकर अपने राज्यसे बाहर निकाल दिया ॥२५॥

कुरुजांगल देशके हस्तिनापुरमें राजा महापद्म राज्य करता था। उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था। उन दोनोंके दो पुत्र थे। बड़ेका नाम पद्मकुमार था और छोटेका नाम विष्णुकुमार था। किसी निमित्तको पाकर राजा महापद्मने बड़े पुत्र पद्मकुमारको राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमारके साथ श्रुतसागर मुनिराजके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥२६–२७॥ दैवयोगसे वे बलि आदि चारों मन्त्री मानभंगसे दुःखी होकर, राजा पद्मकुमारके यहां आकर मन्त्री हो गये ॥२८–२९॥ हस्तिनागपुर राज्यके पास ही एक कुम्भपुर नगर था। उसमें सिंहबल नामका राजा राज्य करता था। उसके पास एक सुदृढ किला था और इसीलिये वह हस्तिनागपुर राज्य की प्रजापर उपद्रव किया करता था ॥३०॥ राजा पद्म उसे अपने वश नहीं कर सकता था इसीलिये वह चिन्ता करते करते प्रतिदिन दुर्बल होता जाता था। किसी एक दिन मन्त्रियोंने उससे दुर्बलताका कारण पूछा तब राजा पद्मने सब हाल कह सुनाया। राजाकी बात सुनकर मन्त्रियोंने सेनाके साथ उसपर चढ़ाई करनेकी आज्ञा मांगी। आज्ञा पानेपर सेनाके साथ वे उस पर चढाई करनेके लिये चल दिये ॥३१–३२॥ उन्होंने अपनी बुद्धिमानीसे किलेको तोड़ दिया और बलिने सिंहबलको पकड़कर राजा पद्मके सामने उपस्थित किया ॥३३॥ बलिका यह काम देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बलिसे कहा कि इस समय तुम जो कुछ मांगोगे वही दूँगा। इसके उत्तरमें बलिने प्रार्थना की कि महाराज, जब हमें आवश्यकता होगी तब माँग लेंगे ॥३४॥ इधर अकंपनाचार्य आदि धीरवीर सात सौ ही मुनिराज विहार करते हुए हस्तिनागपुर आ पहुँचे ॥३५॥ उनके आते ही नगरमें क्षोभ हो गया। नगरके सब लोग दर्शन करने आने लगे। इन सब कारणों

ज्ञात्वा भूपं हि तद्भक्तं गत्वा पद्मोऽभिप्रार्थितः । पूर्वं वैरं मुनीन्द्राणां वधाय दुष्टचेतसा ॥३७
अस्माकं देहि भो देव राज्यं सप्तदिनान्वितम् । तस्मै दत्वा तु स राजा प्रविश्यान्तःपुरे स्थितः ॥३८
आतापनं गिरौ कायोत्सर्गेणापि स्थितान् मुनीन् । बलिनावेष्ट्य संवृत्या कृत्वा सन् मण्डपं पुनः ॥३९
यज्ञः कर्तुं समारब्धो नरमेधसमाह्वयः । श्वभ्रतिर्यक्फलोपेतो धर्मध्वंसकरोऽपदः ॥४०
अस्थिचर्मादिजैर्धूम्रैस्तथा जीवकलेवरैः । मारणार्थं मुनीन्द्राणामुपसर्गं करोति सः ॥४१
आदाय मुनयो धीराः संन्यासं द्विविकल्पजम् । त्यक्तदेहाः स्थिताः सर्वे निश्चलाङ्गा स्थिराशयाः ॥४२
अथापि मिथिलाख्यायां नगर्यां निर्गतो बहिः । अर्द्धरात्रौ स्वयं सागरचन्द्राचार्यसुसंज्ञकः ॥४३
तेनाकाशे समालोक्य नक्षत्रं श्रवणं शुभम् । कम्पमानं परिज्ञायावधिज्ञानेन तत्क्षणम् ॥४४
उक्तं हा ! हा ! मुनीन्द्राणामुपसर्गोऽति वर्तते । समस्तसंगत्यक्तानां दुष्करो भीरुभीतिदः ॥४५
तच्छ्रुत्वा पुष्पदन्ताख्यक्षुल्लकेन प्ररूपितम् । विद्याधरेण भो स्वामिन् क्व स केषां प्रवर्तते ॥४६
उक्तं तद्गुरुणा वत्स हस्तिनागपुरे शुभे । वर्ततेऽकम्पनाचार्यादीनां संज्ञानशालिनाम् ॥४७
तेनोक्तं भगवन् सोऽद्य कथं शीघ्रं विनश्यति । उपसर्गो महांस्तेषां यतीनां त्यक्तदेहिनाम् ॥४८
विष्णुकुमारसंज्ञश्च गिरौ धरणिभूषणे । सद्विक्रियर्द्धिसम्पन्नो मुनिर्नाशयितुं क्षमः ॥४९

से राग, द्वेष, मद, उन्माद, भय, शोक आदि सब दोषोंसे रहित उन मुनिराजका आना बलि मंत्रीने जान लिया। राजा पद्मकुमारको मुनिराजका भक्त जानकर बलि मंत्रीने उसके पास जाकर प्रार्थना की कि हे महाराज ! हमें पहिले दिये हुए वरके बदले सात दिनका राज्य दे दीजिये। इस प्रकार उस दुष्टने मुनियोंको मारनेके लिये वर माँगा। राजा वचन दे चुका था इसलिये वह लाचार होकर सात दिनके लिये बलिको राज्य देकर अन्तःपुरमें चला गया ॥३६–३८॥ वे मुनिराज किसी पर्वतपर कायोत्सर्गके द्वारा आतापनयोग धारण किये हुए विराजमान थे, उन सबको उस दुष्टने घेर लिया और सब स्थानके ऊपर एक मण्डप बना डाला ॥३९॥ फिर उस दुष्टने नरक निगोदके दुःख देनेवाला और धर्मको सर्वथा नाश करनेवाला नरमेध यज्ञ (जिसमें मनुष्य मारकर हवन किये जाते है) करना प्रारम्भ किया ॥४०॥ उस नीचने मुनियोंको मारनेके लिये जीवोंके कलेवरोंका तथा हड्डी चमड़ा आदिका बहुतसा धूँआ किया और ऐसे ही ऐसे और भी अनेक उपसर्ग करने प्रारम्भ किये ॥४१॥ परन्तु जिनका हृदय निश्चल है, शरीर निश्चल है, जिन्होंने शरीरसे ममत्व छोड़ दिया है और जो अत्यन्त धीरवीर है ऐसे वे मुनिराज उभय विकल्पात्मक (यदि इस उपद्रवसे बचेंगे तो अन्नजलादिक ग्रहण करेंगे, अन्यथा सबका त्याग है) संन्यास धारण कर लिया ॥४२॥

इसी समय मिथिला नगरीके बाहर आचार्य सागरचन्द्रने आकाशमें शुभ श्रवण नक्षत्रको कम्पायमान होते देखा। उसी समय उन्होंने अपने अवधिज्ञानको जोड़ा। अवधिज्ञानसे जानते ही उनके मुँहसे निकला कि हा ! हा ! समस्त परिग्रहके त्यागी मुनिराजोंको अत्यन्त दुष्कर और भयानक उपसर्ग हो रहा है ॥४३–४५॥ उनके ये वचन सुनकर पुष्पदन्त नामके क्षुल्लक विद्याधरने पूछा कि हे स्वामिन् ! वह उपसर्ग कहाँ और किनको हो रहा है ॥४६॥ उत्तरमें आचार्यने कहा कि हे वत्स ! हस्तिनापुर नामके शुभ नगरमें बड़े ज्ञानवान अकंपनाचार्य आदि बहुतसे मुनियोंको उपसर्ग हो रहा है ॥४७॥ विद्याधरने पूछा कि हे भगवन् ! शरीरसे ममत्व छोड़नेवाले उन मुनिराजोंका यह उपसर्ग आज ही शीघ्रताके साथ किस प्रकार नष्ट हो सकता है ॥४८॥ इसके

एतदाकर्ण्य तेनैव गत्वा तत्सन्निधौ पुनः । कृत्वा तस्मै नमस्कारं वृत्तान्तं कथितं स्वयम् ॥५०
तच्छ्रुत्वा विक्रियाऋद्धिः किं जाता मम साम्प्रतम् । तत्परीक्षार्थमप्याशु तेन हस्तः प्रसारितः ॥५१
सोऽपि भित्वा गिरिं दूरं गतो निश्चित्य तां पुनः । आगत्य पद्मराजस्य समीपे भणितं स्वयम् ॥५२
मुनीनामुपसर्गो हि किं त्वया कारितो व्यथा । भवत्कुले न संजातः सदृशस्तव दुर्मते ॥५३
तेनोक्तं भवन्नद्य किं करोमि मयाऽशुभात् । पूर्वं दत्तो वरो ह्यस्य पापिष्ठस्य विरूपकः ॥५४
ततो विष्णुकुमारेण द्विजरूपं विधाय वै । वामनरूपसंयुक्तं मुनिना बलिसन्निधौ ॥५५
दिव्येन ध्वनिना गत्वा कृतं सत्प्रार्थनं शुभम् । किं ते ददामि तेनोक्तं यदिष्टं तच्च प्रार्थय ॥५६
तेनोक्तं देहि मे पादत्रयं भूमेरुवाच सः । अन्यद्बहुतरं दानं विप्र गृहिल याचयः ॥५७
तदेवं याचते सोऽपि भण्यमानो मुहुर्मुहुः । लोकैरनेकधा लोभाविष्टैः संतोषतत्परः ॥५८
ततो हि बलिना दत्तं भूमिपादत्रयं स्वयम् । हस्तोदकादिविधिना दानं तस्मै शुभप्रदम् ॥५९
दत्तोऽनु मुनिना चैकपादो मेरुगिरौ पुनः । द्वितीयो विक्रियायोगान्मानुषोत्तरपर्वते ॥६०
पादेन तृतीयेनाऽपि कृत्वा क्षोभं बलाच्च सः । खे देवविमानादीनां दत्तः पृष्ठे बलेरपि ॥६१
ततस्ते मन्त्रिणः पद्मभयादागत्य तत्क्षणम् । मुनेर्विष्णुकुमारस्य मुनीनां शरणं गताः ॥६२

उत्तरमें आचार्यने कहा कि धरणिभूषण पर्वतपर विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले विष्णुकुमार मुनिराज विराजमान हैं। वे इस उपद्रवको दूर कर सकते हैं ॥४९॥ यह सुनते ही वह विद्याधर स्वयं मुनिराज विष्णुकुमारके समीप गया और नमस्कार कर उसने सब वृत्तांत कहा ॥५०॥ विद्याधरकी यह बात सुनकर उन्हें आश्चर्य हुआ और मुझे विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई है इसकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने अपना हाथ फैला दिया ॥५१॥ उनका वह हाथ पर्वतको भेदकर दूर तक चला गया तब उन्हें अपनी विक्रिया ऋद्धिका निश्चय हो गया और फिर वे स्वयं राजा पद्मके समीप आकर कहने लगे कि तूने यह व्यर्थ ही मुनियोंका उपसर्ग क्यों किया है, तेरे कुलमें और कोई भी ऐसा दुर्बुद्धि नहीं हुआ है ! ॥५२–५३॥ तब पद्मने कहा कि हे भगवन् ! आज मै क्या करूँ ! मैं अपने अशुभ कर्मके उदयसे इस पापीको एक वचन दे चुका हूँ—अर्थात् वरमें सात दिनका राज्य दे चुका हूँ ॥५४॥ तब विष्णुकुमारने वामन रूप ब्राह्मणका भेष बनाया और दिव्य वेद ध्वनि करते हुए बलिके समीप पहुँचे ॥५५॥ तब बलिने प्रार्थना कर कहा कि महाराज आपको क्या दें, आपको जो इच्छा हो वही आप माँग लें ॥५६॥ तब विष्णुकुमारने कहा कि मुझे तीन पेड पृथ्वी दे दीजिये। तब बलिने कहा कि हे ब्राह्मण ! यह क्या माँगा और भी घर आदि बहुतसी चीजें माँगो ॥५७॥ और अधिक माँगनेके लिये बलिने बारबार कहा तथा और भी अनेक लोभी पुरुषोंने अधिक माँगनेके लिये कहा, परन्तु सन्तोषको धारण करनेवाले विष्णुकुमार अपनी उसी माँगपर डटे रहे ॥५८॥ तब बलिने हाथपर पानीकी धारा छोड़कर विष्णुकुमारके लिये कल्याण करनेवाला तीन पेंड पृथ्वीका दान दे दिया ॥५९॥ मुनिराजने दान लेकर पृथ्वी नापनी प्रारम्भ की। उन्होंने विक्रिया ऋद्धिसे अपना शरीर बढ़ाकर एक पैर तो मेरु पर्वतपर रक्खा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतपर रक्खा, अब तीसरा पैर रखनेके लिये कहीं स्थान न रहा। उनके इस कृत्यसे समस्त संसारमें क्षोभ हो गया और देवोंके विमानोंमें भी क्षोभ हो गया तब लाचार होकर उन्होंने अपना तीसरा पैर बलिकी पीठ पर रक्खा ॥६०–६१॥ तब वे सब मंत्री महाराज पद्मके भयसे घबड़ाये। वे सब उसी समय मुनिराज विष्णुकुमारके तथा उन सातसौ मुनियोंके शरणमें जा

कृत्वा तेभ्यो नमस्कारं जाता सच्छ्रावकाः शुभात् । चत्वारो जैनधर्मस्य दृष्ट्वा माहात्म्यमीदृशम् ६३
धन्यो विष्णुकुमारोऽयं सद्वात्सल्यगुणान्वितः । येन सद्योगिनां साक्षादुपसर्गो निवारितः ॥६४
अन्ये ये बहवः सन्ति सद्वात्सल्यविधायकाः । ते श्रीरामादयो ज्ञेया दक्षैः सच्छ्रीजिनागमात् ॥६५
सद्वात्सल्यं प्रकर्तव्यं त्वया धीमन् सुखावहम् । यतीनां श्रावकाणां च यथायोग्यं सुधर्मदम् ॥६६
ये वात्सल्यं न कुर्वन्ति मूढा गर्वसमन्विताः । पतित्वा धर्मशैलात्ते मज्जन्ति भवसागरे ॥६७
गुणान्वितं मुनिं दृष्ट्वा ये वात्सल्यं भजन्ति न । गर्वात्ते स्वं परित्यज्य धर्मं श्वभ्रे पतन्त्यघात् ॥६८
प्रकुर्वन्ति मुनीनां ये वात्सल्यं धर्महेतवे । ते शक्रादिपदं लब्ध्वा मुक्तिं गच्छन्ति संयताः ॥६९
कलितविविधऋद्धिविष्णुसंज्ञं मुनीन्द्रं, विधृतगुणगरिष्ठं सप्तमं दर्शनस्य ।
गतशिवसुखपारं त्यक्तसंसारभारं, भवजलनिधिपोतं मुक्तयेऽहं प्रवन्दे ॥७०

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे वात्सल्यगुणव्यावर्णनो विष्णुकुमारकथानिरूपको नाम नवमः परिच्छेदः ॥९॥

●

पड़े ॥६२॥ उन्होंने उन सबको नमस्कार किया और जैनधर्मका ऐसा माहात्म्य देखकर वे चारों मंत्री अच्छे श्रावक बन गये ॥६३॥ इस संसारमें विष्णुकुमार मुनिराज बड़े ही धन्य है। उनका वात्सल्य अंग बहुत ही प्रशंसनीय है क्योंकि मुनियोंका साक्षात् उपसर्ग उन्होंने स्वयं दूर किया था ॥६४॥ इनके सिवाय रामचन्द्र आदि और भी बहुतसे महापुरुष इस वात्सल्य गुणको धारण करनेवाले हुए हैं उन सबके जीवनचरित्र श्री जैन शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये ॥६५॥ हे वत्स ! हे बुद्धिमान ! यह वात्सल्य गुण सदा सुख देनेवाला है और धर्मको बढ़ानेवाला है इसलिये यथायोग्य रीतिसे मुनि और श्रावकोंमें सदा वात्सल्य धारण करना चाहिये ॥६६॥ जो अभिमानी मूर्ख धर्मात्माओंमें प्रेम नही करते हैं वे धर्मरूपी पर्वतसे गिरकर ससाररूपी समुद्रमें डूब जाते है ॥६७॥ जो अभिमानी गुणवान् मुनिको देखकर भी उनमें प्रेम नहीं करते है अपना उत्कृष्ट धर्म छोड़कर नरकमें पड़ते हैं ॥६८॥ जो संयमी पुरुष केवल धर्म-पालन करनेके लिये मुनियोंमें प्रेम करते हैं वे इन्द्रादिकके पदको पाकर अवश्य ही मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥६९॥ जिन मुनिराज विष्णुकुमारको अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थी, जिन्होंने सम्यग्दर्शनका सातवाँ उत्तम वात्सल्य अंग धारण किया था, जो संसारके भारको छोड़कर मोक्षसुखके पारगामी हुए थे और जो संसाररूपी महासागरसे पार कर देनेके लिये जहाजके समान है उन्हे मैं मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥७०॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध होनेवाले विष्णुकुमार मुनिराजकी कथाको कहनेवाला यह नौवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥९॥

●

दशवाँ परिच्छेद

शीतलेशमहं वन्दे सद्धर्मामृतवारिदम् । जन्मदाहविनाशाय पापतापविनाशकम् ॥१
गुणे प्रभावनाख्ये यो विख्यातो मुनिपुंगवः । तस्य वज्रकुमारस्य कथां वक्ष्ये समासतः ॥२
हस्तिनागपुरे जातो धर्माधारपुरोहितः । गरुडो बलिराजस्य सोमदत्तस्तदात्मजः ॥३
पठित्वानेकशास्त्राणि चाहिछत्रपुरे शुभे । शिवभूतिमामपार्श्वे गत्वा तेन प्रपूरितम् ॥४
माम दुर्मुखराजस्य त्वं मां दर्शय साम्प्रतम् । शास्त्रार्थपारगं तेन गर्वितेन न दर्शितः ॥५
ततः किञ्चिदुपायं स रचयित्वा प्रविश्य वै । सभां सिंहासनस्थं तं ददर्श पुण्ययोगतः ॥६
आशीर्वादादिकं दत्वा सत्कौशल्यं प्रकाश्य स । सच्छास्त्रस्य परिप्राप्तो वरं मन्त्रिपदं शुभात् ॥७
तथाभूतं तमालोक्य मामेनापि धनान्वितम् । स्वपुत्री यज्ञदत्तास्मै दत्ता भोगाय तत्क्षणम् ॥८
एकदा खलु गुर्विण्यास्तस्या दोहलकोऽजनि । वर्षाकाले पतन्नीरे सदाम्रफलभक्षणे ॥९
सोमदत्तेन तान्युच्चैरुद्यानवनसन्निधौ । अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे योगं चकार सः ॥१०
आचार्योऽपि सुमित्राख्यस्तं दृष्ट्वा फलितं पुनः । गृहीत्वाम्राणि सद्भृत्य हस्तेन प्रेषितानि वै ॥११
तमाचार्यं नमस्कृत्य श्रुत्वा धर्मं सुखाकरम् । स्वर्गमुक्तिकरं सारं वैराग्यं सोऽप्यगात्तदा ॥१२

जो धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेके लिये बादलके समान हैं और पापरूप सन्तापको दूर करनेवाले हैं ऐसे श्री शीतलनाथ भगवान्‌को मैं अपने जन्ममरण रूप दाहको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ सम्यग्दर्शनके आठवें प्रभावना अंगमें मुनिराज वज्रकुमार प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये अब संक्षेपमें उनकी कथा कहता हूँ ॥२॥ हस्तिनागपुरमें राजा बल राज्य करता था। उसके गरुड नामका एक धार्मिक पुरोहित था और उसके पुत्रका नाम सोमदत्त था ॥३॥ वह सोमदत्त अनेक शास्त्रोंका पारगामी था। वह किसी समय अहिछत्रपुर नगरमें अपने शिवभूति मामाके पास गया। किसी एक दिन उसने अपने मामासे कहा कि हे मामा ! इस समय यहाँके राजा दुर्मुखसे मेरी भेंट करा दीजिये। उसका मामा भी अनेक शास्त्रोंका पारगामी था परन्तु वह अभिमानी था इसलिये उसने राजासे सोमदत्तकी भेंट नहीं कराई ॥४-५॥ तब सोमदत्तने स्वयं ही कुछ उपाय किया और पुण्यकर्मके उदयसे राजसभामें जाकर सिंहासनपर विराजमान हुए राजाके दर्शन किये ॥६॥ सोमदत्तने महाराजको आशीर्वाद दिया, अपने शास्त्रोंकी कुशलता प्रगट की और इस प्रकार राजाको प्रसन्न कर उसने सर्वोत्तम मंत्री पद स्वयं प्राप्त कर लिया ॥७॥ शिवभूतिने भी अपने भानजेको इस प्रकार विद्वान् और धनी देखकर उसे यज्ञदत्ता नामकी अपनी पुत्री ब्याह दी ॥८॥ समयानुसार उसे गर्भ रहा। किसी एक दिन वर्षाकालके दिनोंमें जब कि पानी पड़ रहा था तब यज्ञदत्ताको आम खानेका दोहला उत्पन्न हुआ ॥९॥ वह समय आमोंका समय नहीं था इसलिये सोमदत्तने बहुतसे उद्यान और वन ढूँढ़े परन्तु आम कहीं न मिले। अन्तमें वह एक वनमें गया वहाँ पर एक आमके वृक्षके नीचे सुमित्र नामके आचार्य मुनिराज विराजमान थे। तथा उस वृक्षपर बहुतसे आमके फल लग रहे थे। सोमदत्तने आम तोड़कर सेवकके हाथ घर भेज दिये ॥१०-११॥ तदनन्तर उसने उन आचार्यको नमस्कार किया और उनसे सुख देनेवाले

ससारं तमसारं च दारापुत्रधनादिकम् । अध्रुवं जीवितव्यं च मत्वा जग्राह संयमम् ॥१३
परिज्ञायागमं सोऽपि ज्ञानध्यानतपोरतः । गत्वा नाभिगिरौ सूर्यसम्मुखः संस्थितो मुनिः ॥१४
यज्ञदत्ता प्रसूता सा पुत्रं श्रुत्वा स्वभर्तृजम् । वृत्तान्तं कोपसम्पन्ना गता स्वबान्धवान्तिकम् ॥१५
मुनेः शुद्धिं परिज्ञाय गत्वा नाभिगिरौ सह । बन्धुभिस्त्यक्तदेहोऽसौ यातदृष्टोऽचलस्तया ॥१६
कोपाद्धृत्वा स्वबालं तत्पादोपरि कुमार्गगा । दत्वा दुर्वचनान्यस्य मुनेर्गेहं गता हि सा ॥१७
मुनिस्तथैव ध्यानेन स्थितः एकाग्रमानसः । सर्वचिन्तादिनिर्मुक्तः त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥१८
तस्मिन्नेव हि प्रस्तावे वसन् रूप्याचले शुभे । नगर्याममरावत्यामाकरायां सुधर्मिणाम् ॥१९
दिवाकरादिदेवान्तनामा विद्याधराधिपः । पुरन्दरलघुभ्रात्रा पुर्यान्निर्घाटितो बलात् ॥२०
इदं पापफलं मत्वा सद्राज्यादिविनाशनम् । वन्दनार्थं समायातः सकलत्रो मुनेः स वै ॥२१
प्रणम्य मुनिनाथं तं दृष्ट्वा तच्चरणे स्थितम् । गृहीत्वा बालकं कान्तं स्वभार्यायै समर्प्य सः ॥२२
नाम वज्रकुमारोऽयमिति कृत्वा पुनः स्वयम् । कनकाख्यं पुरं रम्यं धर्महर्षान्वितो ययौ ॥२३
तत्र वज्रकुमारश्च जातो विद्यान्वितो युवा । विमलादिवाहनान्तस्वमैथुनिकसन्निधौ ॥२४

तथा स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करा देनेवाले धर्मका स्वरूप सुना। उसे सुनते ही उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥१२॥ उसने इस संसारको असार समझा और स्त्री पुत्र धन जोवन आदिको अनित्य निश्चय कर उसने संयम धारण कर लिया ॥१३॥ मुनिराज सोमदत्तने अनेक शास्त्रोंका अभ्यास किया और ज्ञान ध्यानमें तल्लीन होनेका अभ्यास किया। किसी एक समय वे नाभिगिरि पर्वतपर तपश्चरण करनेके लिये सूर्यके सामने जा विराजमान हुए ॥१४॥

इधर समय पाकर यज्ञदत्ताके पुत्र उत्पन्न हुआ। इसके कुछ दिन बाद उसने अपने पतिका समाचार भी सुना। उसके मुनि होनेका समाचार सुनकर उसे बहुत ही क्रोध आया और भाई आदिको साथ लेकर वह नाभिगिरि पर्वतपर पहुँची ॥१५॥ वहाँ जाकर देखा शरीरसे ममत्व छोड़े हुए पर्वतके समान अचल, सूर्यके सामने विराजमान होकर तप कर रहे हैं ॥१६॥ उस दुष्टाने उन मुनिराजको अनेक दुर्वचन कहे और क्रोधमें आकर उस बालकको उन मुनिराजके पैरोंपर डालकर अपने घरको चली गई ॥१७॥ परन्तु समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देनेवाले और सब तरहकी चिन्ताओंसे रहित वे मुनिराज उसी प्रकार एकाग्रचित्त होकर ध्यानमें तल्लीन रहे ॥१८॥ इसी समयकी एक कथा और है और वह इस प्रकार है कि विजयार्द्ध पर्वतपर एक अमरावती नामकी नगरी है जिसमें अनेक धर्मात्मा लोग निवास करते थे ॥१९॥ उस नगरीमें दिवाकरदेव नामका विद्याधर राज्य करता था। उसके छोटे भाईका नाम पुरन्दर था। पुरन्दरने अपने बलसे अपने बड़े भाईको नगरसे निकाल दिया था और उसका राज्य स्वयं ले लिया था ॥२०॥ दिवाकरदेवने अपने राज्यका नाश होना पापका फल समझा इसलिये वह अपनी स्त्रीको साथ लेकर मुनियोंकी वन्दना करनेके लिये निकला ॥२१॥ वह चलता-चलता नाभिगिरि पर्वतपर आया और मुनिराजको नमस्कार कर बैठ गया। उसने उनके चरणोंपर पड़े हुए सुन्दर बालकको देखा और उसे उठाकर अपनी स्त्रीको सौंप दिया ॥२२॥ दिवाकरदेवने उसका नाम वज्रकुमार रक्खा और वह मुनिराजके दर्शन कर बड़ी प्रसन्नताके साथ कनकपुरको चला ॥२३॥ वहाँपर वज्रकुमार का मामा (दिवाकरदेवका साला) विमलवाहन राज्य करता था। वह विमलवाहन बहुत ही विद्वान् था। उसीके पास रहकर वज्रकुमारने अनेक विद्याएँ सीखी ॥२४॥ किसी एक दिन वज्रकुमार

ततो गरुडवेगाख्यगङ्गावत्योर्गुणाकरा। पुत्री पवनवेगाख्या जाता रूपादिभूषिता ॥२५
ह्रीमन्तपर्वते गत्वा विद्यां प्रज्ञप्तिसंज्ञिकाम्। साधयन्ती श्रमेणैव स्वयमेकाग्रचेतसा ॥२६
वाताकम्पितबदरीकण्टकेनैव लोचने। विद्धा तत्पीडया जाता चलचित्ता नभेश्वरी ॥२७
नैव सिद्धयति सा विद्या स्वविज्ञानबलेन सा। दृष्ट्वा वज्रकुमारेण स्वयं कण्टक उद्धृतः ॥२८
ततः सुस्थिरचित्तायास्तस्या सिद्धिं गता पुनः। विद्या कार्यकरा पुण्यप्रभावेनैव तत्क्षणम् ॥२९
उक्तं तया ममैषापि विद्या भो भव्य साम्प्रतम्। सिद्धा भवत्प्रसादेन भर्ता त्वं मे न चापरः ॥३०
महोत्सवेन सा वज्रकुमारेणैव तत्क्षणम्। परिणीता स्वपुण्येन किं किं न स्यान्महीतले ॥३१
तद्विद्यामाशु चादाय गत्वा तेनामरावतीम्। पितृव्यं सङ्गरे जित्वा राज्ये संस्थापितः पिता ॥३२
एकदा तस्य धीरस्य जनन्यापि जयश्रिया। अमर्ष प्रोद्वहन्त्या स्वपुत्रस्य राज्यहेतवे ॥३३
प्रोक्तमन्येन सञ्जातश्चान्यं सन्तापयत्ययम्। श्रुत्वा तद्वचनं सोऽपि पितृपार्श्वे समाययौ ॥३४
भो तात ! कस्य पुत्रोऽहं सत्यं त्वं कथयेति मे। तस्मिन्प्ररूपितेनादौ प्रवृत्तिर्मे न चान्यथा ॥३५
ततस्तेन खगेशेन सत्यमेव निरूपितः। वृत्तान्तः पूर्वजः सर्वस्तस्याग्रे मायया विना ॥३६
तदाकर्ण्य ततो द्रष्टुं स्वगुरुं बन्धुभिः समम्। मथुरां सक्षत्रियाख्यां गुहां सद्भक्तितो ययौ ॥३७
गुरुं नत्वा स्थितस्तत्र कुमारः कथितोऽमुना। दिवाकरादिदेवेन वृत्तान्तः पुत्रसम्भवः ॥३८

शोभा देखनेके लिए ह्रीमंत पर्वतपर गया था। वहाँपर गरुड़वेग विद्याधरकी स्त्री गंगावतीकी पुत्री पवनवेगा प्रज्ञप्ति नामकी विद्याको सिद्ध कर रही थी। वह पवनवेगा बड़ी गुणवती थी, बड़ी ही रूपवती थी और उस समय एकाग्रचित्त होकर बड़े परिश्रमसे विद्या सिद्ध कर रही थी। दैवयोगसे उसी समय वायुसे उड़कर एक बेरका काँटा उसकी आँखमें पड़ गया था और उसकी पीड़ासे उसका चित्त चञ्चल हो उठा था। तथा चित्तके चंचल होनेसे वह विद्या सिद्ध नहीं हो रही थी। वज्रकुमारने अपने विज्ञानबलसे वह काँटा देख लिया था और पास जाकर स्वयं अपने हाथसे उसे निकाल डाला था ॥२५–२८॥ काँटेके निकल जानेसे उसका चित्त स्थिर हो गया और चित्तके स्थिर हो जानेसे तथा पुण्यके प्रभावसे उस विद्याधर पुत्रीको अनेक कार्य करनेवाली विद्या स्वयं आकर सिद्ध हो गई ॥२९॥ विद्या सिद्ध हो जानेपर उस विद्याधरपुत्रीने वज्रकुमारसे कहा कि हे स्वामिन् ! मुझे यह विद्या आपके प्रसादसे सिद्ध हुई है इसलिये इस जन्ममें मेरे पति आप ही हैं अब मैं और किसीको स्वीकार कर नहीं सकती ॥३०॥ तदनन्तर माता-पिताकी आज्ञासे उन दोनोंका विवाह हो गया सो ठीक ही है, क्योंकि इस संसारमें पुण्योदयसे क्या-क्या प्राप्त नहीं होता है ॥३१॥ किसी एक दिन मालूम हो जानेपर वज्रकुमार अपनी स्त्रीकी विद्या लेकर और कुछ सेना लेकर अमरावतीपर चढ़ गया और अपने काकाको जीतकर अपने पिताको राज्यगद्दी पर बिठाया ॥३२॥ किसी एक दिन वज्रकुमारकी माता जयश्री (दिवाकरदेवकी रानी) अपने निजी पुत्रको राज्य दिलानेके लिये वज्रकुमारसे कुछ ईर्षाके वचन कह रही थी और कह रही थी कि यह वज्रकुमार कहाँ तो उत्पन्न हुआ है और कहाँ आकर हम लोगोंको दुःखी करता है। अपनी माताकी यह बात सुनकर वज्रकुमार उसी समय अपने पिताके पास पहुँचा ॥३३–३४॥ और कहने लगा कि हे तात ! आज सच बतला दीजिए कि मैं किसका पुत्र हूँ। आज यह बात जान लेनेपर ही मैं अन्नपानी ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं ॥३५॥ पुत्रके अत्याग्रहसे दिवाकरदेव विद्याधरने भी पहला सब हाल ज्योंका त्यों कह सुनाया ॥३६॥ उस कथाको सुनकर वज्रकुमार अपने पूज्य पिताके दर्शन करनेके लिये पिता,

तच्छ्रुत्वा मुनिना प्रोक्तं पुत्र दीक्षां गृहाण भो । हत्वा मोहमहामल्लं स्वर्गमुक्तिसुखप्रदम् ॥३९
आकर्ण्य तद्वचो वज्रकुमारः सर्वबान्धवान् । महत्कष्टेन संत्यक्त्वा व्रतमङ्गीचकार सः ॥४०
अत्रान्तरे मथुरायां पूतिगन्धो नृपोऽभवत् । उर्विला तस्य सद्राज्ञी बभूव धर्मतत्परा ॥४१
सम्यक्त्वादिगुणोपेता रता धर्ममहोत्सवे । प्रभावनादिसंयुक्ता भक्ता श्रीजिनपुङ्गवे ॥४२
करोति रथयात्रां सा प्रतिवर्षं दिनाष्टकम् । नन्दीश्वरे त्रिवारं सद्रथे प्रारोप्य श्रीजिनम् ॥४३
तत्रैव सन्नगर्यां च दरिद्राख्या सुताऽजनि । श्रेष्ठिसागरदत्तस्य धनहीनस्य पापतः ॥४४
श्रेष्ठिन्या हि समुद्रादिदत्तायाः उदरे शुभे । मृते सागरदत्ते सा क्षुधाक्रान्ता बहिर्गता॥४५
भक्षयन्ती कुसिक्तानि परगेहे विरूपिका । दृष्टा चर्याप्रविष्टेन मुनियुग्मेन सा स्वयम् ॥४६
लघुना मुनिना प्रोक्तं हा बराका हि जीवति । कष्टेन महता नित्यं पूर्वोपार्जितपापतः ॥४७
तदाकर्ण्य पुनः प्रोक्तं ज्येष्ठेन मुनिना स्वयम् । इह अस्य ध्रुवं राज्ञः पट्टराज्ञी भविष्यति ॥४८
वचस्तस्य समाकर्ण्य धर्मश्रीवन्दकेन भो । मत्वेति भ्रमता भिक्षां नान्यथा मुनिभाषितम् ॥ ४९
शीघ्रेण स्वमठं सा च नीता संपोषिता पुनः । मिष्टाहारैश्च संप्राप्ता यौवनं रूपसम्पदम् ॥५०

भाई आदि सबके साथ निकला । उस समय उसके पिता श्री सोमदत्त मुनिराज मथुरा नगरीमें एक क्षत्रिय नामकी गुफामे तपश्चरण कर रहे थे । वज्रकुमार भक्तिपूर्वक वहीं पहुँचा ॥३७॥ सब लोग मुनिराजको नमस्कारकर बैठ गये । तब दिवाकरदेवने उन मुनिराजसे उस वज्रकुमार पुत्रके होनेकी सब कथा कह सुनाई ॥३८॥ यह सुनकर मुनिराज वज्रकुमारसे कहने लगे कि हे पुत्र ! मोहरूपी महा मल्लको नाशकर स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाली दीक्षा ग्रहण कर ॥३९॥ मुनिराजके वचन सुनकर वज्रकुमारने भी सब कुटुम्बका त्याग किया और अपने पूज्य पितासे दीक्षा धारण की ॥४०॥

इधर मथुरा नगरमें राजा पूतिगन्ध राज्य करता था । उसकी रानीका नाम उर्विला था जो रानी सदा धर्ममें तत्पर रहती थी ॥४१॥ वह रानी सम्यग्दर्शन गुणसे सुशोभित थी, धर्मोत्सव करनेमें तत्पर थी, प्रभावना अंगको पालन करनेमें चतुर थी और जिनेन्द्रदेवमें परम भक्ति रखती थी ॥४२॥ वह प्रत्येक नन्दीश्वर पर्वमें श्रेष्ठ रथमें भगवान् जिनेंद्रदेवको विराजमानकर आठ दिनतक बराबर रथयात्रा करती थी और इस प्रकार प्रत्येक वर्षमें तीन बार किया करती थी ॥४३॥ उसी मथुरा नगरीमें सेठ सागरदत्तकी सेठानी समुद्रदत्ताके उदरसे एक दरिद्रा नामकी पुत्री हुई थी । उसके होते ही पापकर्मके उदयसे उस सेठका सब धन नष्ट हो गया था और माता पिता भी मर गये थे । तब वह दरिद्रा अकेली इधर-उधर फिरा करती थी और दूसरोंके घर जूठा और बुरा अन्न खाया करती थी । किसी एक दिन उस नगरीमें दो मुनिराज पधारे । उनमेंसे छोटे मुनिने उस दरिद्राको देखकर बड़े मुनिसे कहा कि देखो, पहिले जन्ममें उपार्जन किये हुए पापकर्मके उदयसे यह दरिद्रा बड़े कष्टसे अपना जीवन बिता रही है ॥४४–४७॥ छोटे मुनिकी यह बात सुनकर बड़े मुनिने कहा कि कालान्तरमें यह यहाँके इसी राजाकी पट्टरानी होगी ॥४८॥ मुनिराजकी यह बात एक बौद्ध भिक्षुक धर्मश्री वंदकने भी सुन ली । उस समय वह भी भिक्षाके लिये आया था । उसने यह बात सुनकर निश्चय कर लिया कि मुनिराजकी बात कभी मिथ्या नहीं होती है ॥४९॥ वह वन्दक शीघ्र ही उसे अपने मठमें ले गया और उसे मीठे मीठे आहार खिला कर सन्तुष्ट किया । अनुक्रमसे वह दरिद्रा यौवनरूपी सम्पदाको प्राप्त हो गई ॥५०॥

एकदा चैत्रसन्मासे दृष्ट्वा राजा गुणान्विताम् । बभूवान्दोलयन्तीं तां कामासक्तोऽतिविह्वलः ॥५१
ततोऽपि याचितस्तूर्णं वन्दको मन्त्रिभिः स्वयम् । तदर्थं रूपसम्पन्नां तां पुण्यपरिपाकतः ॥५२
तेनोक्तं यदि मे राजा धर्मं गृह्णाति केवलम् । त्यक्त्वा जिनेन्द्रसद्धर्मं तां ददामि न चान्यथा ॥५३
राज्ञा मूढेन तत्सर्वं कृत्वा साऽपि विवाहिता । कृता पट्टमहादेवी जाता तस्यातिवल्लभा ॥५४
सुनन्दीश्वरयात्रायामुर्विलारथमद्भुतम् । फाल्गुने सन्महाटोपं वस्त्राभरणभूषितम् ॥५५
आलोक्य भणितं देव तया बुद्धरथोऽधुना । मदीयः प्रथमं पुर्यां भ्रमतु धर्महेतवे ॥५६
राज्ञोक्तमस्तु चैवं हि तया निर्मापितो रथः । बुद्धदेवसमोपेतः शृङ्गारादिसमन्वितः ॥५७
ब्रूते तत्रोर्विलादेवी भ्रमते प्रथमं रथः । मदीयो मे तदाहारे प्रवृत्तिर्नैव चान्यथा ॥५८
गृहीत्वेति प्रतिज्ञां सा सोमदत्तमुनीशिने । गत्वा क्षत्रियगुहायामूचे सा संन्यासकारणम् ॥५९
प्रस्तावेऽस्मिन्मुनेर्वज्रकुमारस्य समागतः । नन्तुं खगा दिवाकरदेवादय इहैव च ॥६०
वन्दित्वा मुनिपादौ ते श्रुत्वा धर्मं सुखाकरम् । मुनीश्वरमुखाज्जातं स्थिताः सद्धर्मवासिताः ॥६१
उक्तं वज्रकुमारेण तामुद्दिश्य प्रभावना । भवद्भिरुर्विलायाश्च कर्तव्येति रथादिजा ॥६२
ततस्ते तत्र गत्वाशु बुद्धदासीरथः स्वयम् । शतचूर्णीकृतः पुण्याज्जिनधर्मप्रभावकैः ॥६३
पश्चान्नानाविभूत्यापि रथयात्रा सुकारिता । उर्विलायाः महापुण्यदा खे शोभाकरा परा ॥६४

किसी एक समय चैत्रके महीनेमें अनेक गुणोंसे सुशोभित वह दरिद्रा झूल रही थी, कि राजा पूतगन्ध भी वायु सेवनके लिये उधर आ निकला था। उस समय वह राजा उसको देख कर मोहित और विह्वल हो गया ॥५१॥ दरिद्रा अब रूपवती और लावण्यवती हो गई थी तथा उसके पुण्य कर्मका भी उदय हो गया था इसलिये मन्त्रियोंके द्वारा राजाने वन्दकसे वह कन्या माँगी ॥५२॥ इसके उत्तरमें वन्दकने कहा कि यदि राजा जैन धर्मको छोड़कर केवल मेरा बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेगा तो मै यह कन्या राजाको दे दूंगा, बिना इस शर्तको पूरी किये मैं नही दे सकता ॥५३॥ राजा मूर्ख था इसलिये उसने वन्दककी यह शर्त मान ली और उसके साथ विवाह कर लिया। उसने उसे पट्टमहादेवी बनाया और वह उसपर बहुत प्रेम करने लगा ॥५४॥ इधर उर्विला रानी फाल्गुन महीनेके अष्टाह्निका पर्वमें रथोत्सवकी तैयारी कर रही थी। अनेक प्रकार के वस्त्राभरणोंसे सुशोभित उसका अद्भुत और बहुत बडा रथ खड़ा हुआ था ॥५५॥ उसे देखकर दरिद्राने अपने पतिसे (राजासे) कहा कि हे देव ! इस समय बुद्धका रथ भी निकलना चाहिये और धर्मके लिये वह मेरा रथ इस नगरीमें सबसे पहिले निकलना चाहिये ॥५६॥ राजाने भी उसकी इच्छानुसार आज्ञा दे दी। उसका रथ तैयार होने लगा। अब उर्विलाको बड़ी कठिनता पड़ी, क्योंकि पहिले बुद्धका रथ निकलनेके लिये उसका रथ रोक दिया गया था। इसलिये उसने प्रतिज्ञा की कि जब मेरा रथ निकल जायगा तभी मैं आहार ग्रहण करूँगी अन्यथा नहीं ॥५७–५८॥ ऐसी प्रतिज्ञाकर वह रानी सोमदत्त मुनिराजके समीप क्षत्रिय गुफामें पहुँची और उन मुनिराजसे सब हाल कहा ॥५९॥ दैवयोगसे इसी समय वज्रकुमार मुनिकी वन्दना करनेके लिये दिवाकरदेव आदि बहुतसे विद्याधर आये थे ॥६०॥ वे मुनिराजकी वन्दनाकर और मुनिराजके श्री मुखसे सुख देनेवाले धर्मका स्वरूप सुनकर हृदयमें धर्मकी भावना करते हुए बैठे थे ॥६१॥ रानीकी प्रतिज्ञा सुनकर वज्रकुमारने उन विद्याधरोंसे कहा कि आपको यह धर्मकी प्रभावना अवश्य कर देनी चाहिये और इस उर्विला रानीका रथ निकलवा देना चाहिये ॥६२॥ मुनिराजकी यह बात सुनकर वे सब विद्याधर नगर पहुँचे और बुद्ध दासी दरिद्राका रथ तोड़ फोड़कर चूर्ण कर डाला।

दृष्ट्वा माहात्म्यमत्यन्तं जैनधर्मस्य तत्कृतम् । त्यक्त्वा बौद्धमतं धर्मं सा जग्राह जिनोदितम् ॥६५
अन्ये चातिशयं दृष्ट्वा कृतं विद्याधरैर्जना । जैनं धर्मं प्रपन्ना हि त्यक्त्वा मिथ्यात्वमञ्जसा ॥६६
धन्येयमुर्विला राज्ञी सम्यग्दर्शनभूषिता । प्रभावनादिसंसक्ता साऽतिलोकैः प्रशंसिता ॥६७
अन्ये ये बहवः सन्ति शासनस्य प्रभावकाः । जिनस्य चागमाद् ज्ञेया भव्याः सम्यक्त्वभूषिता ॥६८
स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य ज्ञानेन तपसाथवा । मुनीश्वरा प्रकुर्वन्ति जैनधर्मप्रभावनाम् ॥६९
अनाच्छाद्य स्वशक्तिं च दानपूजामहोत्सवैः । श्रावका जैनधर्मेषु व्यक्तं कुर्वन्ति प्रत्यहम् ॥७०

विमलगुणनिधानः प्राप्तसंसारपारो, विगतसकलदोषः साररत्नत्रयाढ्यः ।
कृतप्रकटप्रभावो जैनधर्मस्य लोके, जयतु खलु कुमारोऽन्त्यादिवज्रो मुनीन्द्रः ॥७१

इति श्री भट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे प्रभावनागुणवर्णने वज्रकुमारमुनिकथाप्ररूपको नाम दशमः परिच्छेदः ॥१०॥

●

फिर जिन धर्मकी प्रभावना करनेवाले उन लोगोंने बड़ी विभूतिके साथ उर्विलाका रथ निकलवाया जिससे अनेक लोगोंने पुण्य सम्पादन किया और नगरमें बड़ी शोभा हुई ॥६३–६४॥ राजा पूतगन्ध और बुद्धदासी दरिद्राने भी जैन धर्मका ऐसा माहात्म्य देखकर बौद्ध धर्मका त्याग कर दिया और भगवान् जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ जैनधर्म स्वीकार कर लिया ॥६५॥ उस विद्याधरोंके द्वारा किये हुए बड़े भारी अतिशयको देखकर अनेक लोगोंने मिथ्यात्व छोड़ दिया और पवित्र जैनधर्मको स्वीकार कर लिया ॥६६॥ लोगोंने रानी उर्विलाकी बड़ी प्रशंसा की और मुक्त कण्ठसे कहा कि सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाली और प्रभावना आदि सम्यक्त्वके गुणोंमे आसक्त रहनेवाली इस उर्विला रानीको बार बार धन्य है ॥६७॥ सम्यग्दर्शनसे विभूषित होनेवाले और भी ऐसे अनेक भव्य हैं जिन्होंने इस जैनधर्मकी प्रभावना की है उनका वर्णन जैन शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये ॥६८॥ मुनिराज अपनी शक्तिको प्रकटकर ज्ञान और तपश्चरणके द्वारा इस जैनधर्मकी प्रभावना प्रगट करते हैं तथा श्रावक जन भी अपनी शक्तिको प्रकट कर दान पूजा और उत्सवों द्वारा सदा इस जैनधर्मकी प्रभावना किया करते है ॥६९-७०॥ जो अनेक निर्मल गुणोके निधि हैं, जिन्होंने संसारमें सारभूत पदार्थ सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है, जो समस्त दोषोसे रहित हैं, सारभूत रत्नत्रयसे विभूषित हैं और जिन्होंने संसारभरमें जैन धर्मका प्रभाव प्रगट किया था ऐसे मुनिराज वज्रकुमार सदा जयशील हों ॥७१॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें प्रभावना अंगमे प्रसिद्ध होनेवाले वज्रकुमारकी कथाको निरूपण करनेवाला यह दशवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१०॥

●

ग्यारहवाँ परिच्छेद

श्रेयोभिधं जिनं वन्दे लोके श्रेयोविधायकम् । वृषाकरं गुणैर्युक्तं जिनधर्मादिसिद्धये ॥१
पूर्वं गुणाष्टकस्यैव कृत्वा व्याख्यानमंशतः । इदानीं दर्शनस्यैव दोषान् वक्ष्ये मलप्रदान् ॥२
गुणाष्टकेन संयुक्तं सर्वदोषविवर्जितम् । सोपानं प्रथमं मुक्तेस्त्वं वत्स भज दर्शनम् ॥३
प्रभो ! ये सन्ति दोषा हि सम्यक्त्वमलहेतवे । कृपां कृत्वा ममाग्रेऽपि तांश्च सर्वान् निरूपय ॥४
शृणु त्वं शिष्य तान् दोषानेकचित्तेन मुक्तये । कथयामि महानिन्द्यान् सम्यक्त्वगुणघातकान् ॥५
मूढत्रयं भवेच्चाष्टौ मदा जात्यादिना बुधैः । षडनायतनान्यष्टौ दोषाः शङ्कादयो मताः ॥६
सम्यक्त्वमलदोषाः स्युस्त्वया पञ्चविंशतिः । दुस्त्याज्या मूढलोकानां त्याज्याः सम्यक्त्वशुद्धये ॥७
वीतरागोऽतिनिर्दोषाः कृष्णब्रह्मादिकोऽथवा । सदोषः पूज्यते मूढैः पशुर्वा गतबुद्धिभिः ॥८
यत्परीक्षां परित्यज्य मूढभावेन प्रत्यहम् । पुण्यहेतोर्बुधैस्तच्च देवमूढत्वमुच्यते ॥९
जिनसिद्धान्तसूत्रे यः उक्तो धर्मो जिनेश्वरैः । पञ्चमिथ्यात्वसंलग्नैर्मूढैर्वेदादिके च ये ॥१०
सद्विचारं परित्यज्य क्रियते स शठैर्जनैः । कथ्यते तद्बुधैर्लोके मूढत्वं समयोद्भवम् ॥११
अहिंसालक्षणोपेतो जिनोक्तो धर्म एव यः । स्नानादिभिश्च श्राद्धादौ लोकाचारेण चागतः ॥१२

जो संसारके समस्त प्राणियोंका कल्याण करनेवाले हैं, अनन्तगुणोंसे सुशोभित हैं और धर्मकी खानि हैं ऐसे श्री श्रेयांसनाथको मैं श्री जैनधर्मकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ पहिले सम्यग्दर्शनके आठो गुणोंका व्याख्यान किया था अब सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले उसके दोषोंको कहता हूँ ॥२॥ आठों गुणोंसे परिपूर्ण और समस्त दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन ही मोक्ष महलकी पहिली सीढ़ी है, हे वत्स ! तू ऐसे ही निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण कर ॥३॥

प्रश्न—हे प्रभो ! सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले वे कौनसे दोष हैं कृपाकर मेरे लिये उन सबका निरूपण कीजिये ॥४॥ उत्तर—हे वत्स ! तू एकाग्र चित्त होकर सुन, मैं केवल त्याग करनेके लिये सम्यग्दर्शनके गुणोंको घात करनेवाले महा निंद्य उन दोषोको कहता हूँ ॥५॥ तीन मूढता, जाति आदि आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि आठ दोष इस प्रकार ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहलाते है। अज्ञानी लोग बड़ी कठिनतासे इनका त्याग करते हैं परन्तु सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेके लिये इनका त्याग कर ही देना चाहिये ॥६–७॥ भगवान् वीतराग अरहन्त देव अत्यन्त निर्दोष है तथापि अज्ञानी लोग कृष्ण, ब्रह्मा आदि सदोष देवोंकी पूजा करते हैं, कोई कोई बुद्धिहीन तो पशुओंकी भी पूजा करते हैं। इस प्रकार विना किसी परीक्षाके वे लोग पुण्य करनेके लिये प्रतिदिन मूढ भावोंको प्राप्त होते रहते हैं इसीको विद्वान् लोग देवमूढता कहते हैं ॥८–९॥ जैन शास्त्रोंमें, जैन सिद्धान्त सूत्रोंमें भगवान् जिनेन्द्रदेवने धर्मका यथार्थ स्वरूप वर्णन किया है तथापि पाँचों प्रकारके मिथ्यात्वमें लगे हुए अज्ञानी जीव वेद आदिमें कहे हुए धर्मको ही मानते हैं। वे लोग श्रेष्ठ विचारोंको छोड़कर वेदादिके कहे अनुसार चलते है इसीको बुद्धिमान् लोग शास्त्रमूढता वा समयमूढता कहते हैं ॥१०–११॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप अहिंसामय बतलाया है, परन्तु अज्ञानी लोग उसपर विचार न कर स्नान श्राद्ध आदि लोकाचारको ही धर्म

आचर्यते शठैर्लोके परित्यक्त्वा विचारणम् । प्ररूपितं जिनैस्तद्धि लोकमूढत्वमेव भो ॥१३
परीक्षालोचनैस्त्वं सज्जैनं धर्मं परीक्ष्य सः । मिथ्यात्वं च समादाय त्यज मूढत्रयं सुकृत् ॥१४
मूढभावेन यो मूढो धर्मं गृह्णाति लोकजम् । पुण्याय स विषं भुङ्क्ते सुखाय प्राणनाशनम् ॥१५
सज्जातिसत्कुलैश्वर्यरूपज्ञानतपःप्रजम् । बलशिल्पभवं मित्र त्यज त्वं मदमञ्जसा ॥१६
सन्मातृपक्षसञ्जातं कुटुम्बादिकदम्बकम् । विनश्वरं परिज्ञाय जात्याख्यं त्वं मदं त्यज ॥१७
सवम्बानां त्वया मित्र पीतं दुग्धं भवार्णवे । भिन्नभिन्नविजातीनामधिकं सागराम्बुधेः ॥१८
पितृपक्षसमुद्भूतं चलं दर्भाग्रबिन्दुवत् । ज्ञात्वा स्वं स्वजनं दक्षः कुलनाममदं त्यजेत् ॥१९
धनधान्यादिकं गेहं सर्वं राज्यादिकं बुधैः । अग्न्यादिभिश्चलं मत्वा चैश्वर्याख्यं मदं त्यजेत् ॥२०
शरीरं सुन्दराकारमनित्यं वस्त्रशोभितम् । जराव्याध्यग्निभिर्दग्धं रूपाख्यं त्वं मदं त्यज ॥२१
किञ्चिद्ज्ञानं परिज्ञाय मदो न क्रियते बुधैः । अपेक्षया हि पूर्वस्य अतो न ज्ञायते लवः ॥२२
तपसा संभवो दक्षैर्मदो न क्रियते मनाक् । तपश्चापेक्षया पूर्वमुनेः कर्तुं न शक्यते ॥२३
संप्राप्य सबलं देहं गर्वं त्याज्यं विवेकिभिः । पुष्टमन्नादिभिस्तद्धि यतो याति क्षयं क्षणात् ॥२४

मान लेते हैं इसीको श्रीजिनेन्द्रदेव लोकमूढता कहते हैं ॥१२-१३॥ हे वत्स ! तू परीक्षारूपी नेत्रोंसे देखकर मिथ्यात्वको छोड़कर जैन धर्मको स्वीकार कर और तीनों मूढताओंका त्याग कर ॥१४॥ जो मूर्ख इन तीनों मूढताओंको स्वीकार करता है वह जीवित रहनेके लिये विष खाता है अथवा सुखी रहनेके लिये अपने प्राणोंका घात करता है ॥१५॥

सज्जाति, सत्कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और शिल्प आदि विद्या—इन आठोंके आश्रय मद करना आठ मद कहलाते है। हे मित्र ! तू इनको शीघ्र ही छोड ॥१६॥ मातृपक्षमे उत्पन्न हुए कुटुम्ब समूहको जाति कहते है। संसारके सब कुटुम्बादिक नश्वर है—नाश होनेवाले हैं यही समझकर हे शिष्य ! तू इस जातिके मदको छोड़ ॥१७॥ हे मित्र ! इस ससारसागरमें परिभ्रमण करते हुए तूने भिन्न-भिन्न सब जातियोंकी माताओंका अलग अलग इतना दूध पिया है कि जो एक एक जातिका इकट्ठा किया जाय तो वह महासागरसे भी अधिक हो जाय। फिर भला उसका अभिमान करना कैसा ? ॥१८॥ पिताके पक्षमें उत्पन्न हुए कुटुम्बको कुल कहते है। ये स्वजन परिजन भी दाभकी नोंकपर पड़ी हुई जलकी बूँदके समान चंचल हैं, शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं यही समझकर कुलका अभिमान कभी नही करना चाहिये ॥१९॥ धन धान्य घर राज्य आदि भी अग्नि चोर आदिके द्वारा नष्ट होता है किसीकी सम्पदा सदा नहीं बनी रहती, यही समझ कर ऐश्वर्यका मद छोड़ देना चाहिये ॥२०॥ यह शरीर सुन्दर होनेपर भी अनित्य है, किसी न किसी दिन अवश्य नष्ट होगा, यह केवल वस्त्रोंसे ढका हुआ ही अच्छा दिखता है, वास्तवमें बुढ़ापा रोग आदि अनेक व्याधियोंसे घिरा हुआ है यही समझकर बुद्धिमानोंको रूपका अभिमान छोड़ देना चाहिये ॥२१॥ बुद्धिमानोंको थोडा-सा ज्ञान पाकर कभी अभिमान नही करना चाहिये क्योंकि यदि पहिलेके ज्ञानियोंकी तुलना की जाय तो उनके सामने अबका ज्ञान एक अंश मात्र भी नहीं है ॥२२॥ इसी प्रकार चतुर पुरुषोको तपश्चरणका अभिमान भी नही करना चाहिये। क्योंकि पहिलेके मुनि जो तपश्चरण करते थे उसका तो एक अंश भी इस समय नही किया जा सकता ॥२३॥ चतुर पुरुषोंको बलवान शरीर पाकर भी उसका अभिमान छोड़ देना चाहिये। क्योंकि यह शरीर केवल अन्नादिकसे पुष्ट होता है और क्षणभरमें नष्ट हो जाता है ॥२४॥ इसी प्रकार सुन्दर लेख

शिल्पिगर्वं न कर्तव्यं सुलेखादि-समुद्भवम् । विचित्रं दर्शनायैव त्वया वत्साशुभप्रदम् ॥२५
सन्मार्दवं समादाय दुःखदुर्गतिकारणम् । मदाष्टकं त्यजेद्धीमान् दर्शनज्ञानप्राप्तये ॥२६
अहंकारं हि यः कुर्यादष्टभेदं कुदुःखदम् । विनाश्य दर्शनं सोऽपि नीचो नीचगतिं व्रजेत् ॥२७
मिथ्यादर्शनकुज्ञानकुचारित्रत्रयात्मकः । तद्युक्तपुरुषाश्चैव षडनायतनं भवेत् ॥२८
कुदेवकुगुरौ मूढैः कुधर्मे पापदुःखदे । निश्चयः क्रियते योऽत्र तन्मिथ्यादर्शनं मतम् ॥२९
प्रणीतं वेदशास्त्रादौ स्मृत्यादौ वा कुदृष्टिभिः । श्रुतं पापकरं दक्षैस्तन्मिथ्याज्ञानमुच्यते ॥३०
पञ्चाग्निसाधने योऽपि कायक्लेशो विधीयते । कुत्सिततपसा मूढैस्तन्मिथ्याचरणं भवेत् ॥३१
मिथ्यासम्यक्त्वयुक्तो यो न शक्तः सुविचारके । जैनधर्मबहिर्भूतो मिथ्यादृष्टिर्बुधैर्मतः ॥३२
जनो वेदादियुक्तो यः कुशास्त्रादिसमन्वितः । त्यक्तसिद्धान्तसारश्च मिथ्याज्ञानी स कीर्तितः ॥३३
पञ्चाग्निसाधको मिथ्यातपसादिकृतोद्यमः । यः शठः सोऽत्र संप्रोक्तः कुतपस्वी मुनीश्वरैः ॥३४
षडनायतनं ज्ञेयं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् । अघाकरं बुधैर्निन्द्यं दर्शनस्य विनाशनम् ॥३५
सम्यक्त्वं त्वं परिज्ञाय त्यज भेदं विदूरतः । शत्रुवत्षड्विधं मित्र दुःखदावमहेन्धनम् ॥३६
निशङ्कितादयो ये ते प्रोक्ता अष्टौ गुणाः शुभा । विपरीताश्च विज्ञेया दोषाः शङ्कादयो बुधैः ॥३७

आदि कलाकौशलोंका अभिमान भी नही करना चाहिये, क्योकि इस विचित्र सम्यग्दर्शनके लिये उसका अभिमान भी अशुभ ही है ॥२५॥ हे बुद्धिमान् ! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ मार्दव धर्मको स्वीकार कर अनेक दुःख और दुर्गतियोके देनेवाले इन आठों मदोंका त्याग कर देना चाहिये ॥२६॥ जो नीच अनेक प्रकारके बुरे दुःख देनेवाले ऊपर लिखे आठों मदोंको करता है, इनका अभिमान करता है वह सम्यग्दर्शनको नष्टकर नीच गतिको प्राप्त होता है ॥२७॥ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी तथा मिथ्या-चारित्रको धारण करनेवाला ये छह षट् अनायतन कहलाते है ॥२८॥ अज्ञानी जीवोंके द्वारा जो पाप और दुःख देनेवाले कुदेव कुगुरु और कुधर्ममें विश्वास किया जाता है वह मिथ्यादर्शन कहलाता है ॥२९॥ मिथ्यादृष्टि जीव जो वेदशास्त्र वा स्मृतिशास्त्र आदिका पठन-पाठन करते है और उनके द्वारा पापोंको उत्पन्न करनेवाला ज्ञान बढ़ाते हैं चतुर पुरुष उसको मिथ्याज्ञान कहते है ॥३०॥ अज्ञानी जीव पंचाग्नि तपके द्वारा अथवा और भी कुतपोंके द्वारा जो कायक्लेश करते हैं उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं ॥३१॥ जो मिथ्यादर्शन सहित है, श्रेष्ठ तत्त्वोंपर अथवा सम्यग्दर्शनपर जो कभी विचार नही करता और जो जैनधर्मसे बहिर्भूत है उसे विद्वान् लोग मिथ्यादृष्टी कहते है ॥३२॥ जो मनुष्य वेदादि कुशास्त्रोंका पठन-पाठन करता है और जिसने सिद्धान्तशास्त्रोको सर्वथा छोड़ दिया है वह मिथ्याज्ञानी कहलाता है ॥३३॥ जो मनुष्य पंचाग्नि तप तपता है अथवा और भी तपोंमे उद्यम करता है उसको मुनीश्वर लोग कुतपसी कहते है ॥३४॥ ये ऊपर लिखे हुए छह (मिथ्यादर्शन, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और कुतपसी) अनायतन (जो धर्मके आयतन वा स्थान नहीं, किन्तु अधर्मके स्थान) कहलाते हैं। ये छहों अनायतन नरक और तिर्यंच गतिके दुख देनेवाले हैं, अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाले हैं, निंद्य हैं और सम्यग्दर्शन-को नाश करनेवाले हैं ॥३५॥ हे मित्र ! ये छहों अनायतन शत्रुके समान दुःख देनेवाले हैं और दुःख रूपी दावानलके लिये महा ईंधनके समान है इसलिये इनको अच्छी तरह जानकर दूरसे ही इनका त्याग कर देना चाहिये ॥३६॥ पहिले जो निःशंकित आदि सम्यग्दर्शनके आठ गुण कहे थे उन्हींके

सर्वान् पिण्डीकृतान् दोषान् पापदान् पञ्चविंशतिः । सम्यक्त्वस्य त्यज त्वं हि दर्शनस्य विशुद्धये ॥३८
आदर्शे मलिने यद्वत्सन्मुखं नैवं दृश्यते । तथाऽशुद्धे च सम्यक्त्वे मुनिश्रीवदनं बुधैः ॥३९
यथा च मलिने चित्ते ध्यानं कर्तुं न शक्यते । कर्मारातिं तथा हन्तुं सम्यक्त्वे समले जनैः ॥४०
निर्मले दर्पणे यद्वल्लोक्यते वदनं नरैः । तद्वद्दक्षैश्च सम्यक्त्वे मुक्तिश्रीमुखपङ्कजम् ॥४१
इन्द्रश्रीर्जिनदेवादिलक्ष्मीर्नैवोपजायते । मुनीनां दर्शनेनैव विना ज्ञानव्रतादिभिः ॥४२
अधिष्ठानं भवेन्मूलं हर्म्यादीनां यथा तथा । तपोज्ञानव्रतादीनां दर्शनं कथितं जिनैः ॥४३
दर्शनेन विना ज्ञानमज्ञानं कथ्यते बुधैः । चारित्रं च कुचारित्रं व्रतं पुंसां निरर्थकम् ॥४४
वरं सम्यक्त्वमेकं च व्रतज्ञानतपश्च्युतम् । न पुनः सद्व्रतं ज्ञानं मिथ्यात्वविषदूषितम् ॥४५
सम्यक्त्वेन विना प्राणी पशुरेव न संशयः । धर्माधर्मं न जानाति जात्यन्ध इव भास्करम् ॥४६
सम्यक्त्वेन समं वासो वरं श्वभ्रेऽतिदुःखगे । राजते देवलोके न तद्विनां देहिनां क्वचित् ॥४७
श्वभ्रान्निर्गत्य जीवोऽयं तीर्थनाथो भवेद् ध्रुवम् । सारसम्यक्त्वमाहात्म्याल्लोकालोकप्रकाशकः ॥४८
सम्यक्त्वेन विना स्वर्गात्स्थावरेषु प्रजायते । आर्तध्यानं विधायोच्चैर्मिथ्यात्वाद्भोगतत्परः ॥४९
सम्यक्त्वसदृशो धर्मो न भूतो न भविष्यति । नास्ति कालत्रये लोकत्रितये निश्चितं सदा ॥५०

उलटे शंका आदिक आठ दोष कहलाते है ॥३७॥ हे वत्स ! अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाले ये सम्यग्दर्शनके सब दोष मिलकर पच्चीस होते है। सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेके लिये तू इन पच्चीसो दोषोंका त्याग कर ॥३८॥ जिस प्रकार मलिन दर्पणमे अपना मुख अच्छा दिखाई नही दे सकता उसी प्रकार अशुद्ध (दोष सहित) सम्यग्दर्शनमे विद्वान् लोगोंको भी मुक्तिलक्ष्मीका मुख दिखाई नहीं दे सकता ॥३९॥ जिस प्रकार हृदयके मलिन होनेपर ध्यान नही किया जा सकता उसी प्रकार सदोष सम्यग्दर्शनसे कर्मरूप शत्रु कभी नष्ट नही किये जा सकते ॥४०॥ जिस प्रकार निर्मल दर्पणमें ही मुख दिखाई देता है उसी प्रकार चतुर मनुष्योको निर्मल सम्यग्दर्शनमे ही मुक्ति लक्ष्मीका मुखरूपी कमल दिखाई देता है ॥४१॥ मुनियोंको विना ज्ञान और विना व्रतादिकोंके केवल सम्यग्दर्शनसे ही इन्द्रकी विभूति तथा तीर्थंकरकी विभूति प्राप्त हो जाती है ॥४२॥ जिस प्रकार मकानका आधार उसकी जड (नीव) है उसी प्रकार तप, ज्ञान, व्रत आदि सबका आधार सम्यग्दर्शन है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥४३॥ विद्वान् लोग विना सम्यग्दर्शनके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहते है, चारित्रको कुचारित्र कहते हे और मनुष्योंके सब व्रतोंको निरर्थक बतलाते हैं ॥४४॥ विना व्रत, तप, ज्ञान और श्रुतके अकेला सम्यग्दर्शन तो अच्छा, परन्तु विना सम्यग्दर्शन-के व्रत तप ज्ञान और श्रुत अच्छे नहीं, क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके अकेले तप व्रत ज्ञान श्रुत आदि मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित हो जाते हैं ॥४५॥ इसमे कोई सन्देह नही कि विना सम्यग्दर्शनके यह प्राणी सर्वथा पशु ही है क्योंकि जिस प्रकार जन्मका अन्धा पुरुष सूर्यको नही जानता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके यह प्राणी धर्म अधर्मको भी नहीं जान सकता है ॥४६॥ यदि सम्यग्दर्शनके साथ साथ अत्यन्त दुःख देनेवाले नरकमें भी निवास करना पड़े तो भी अच्छा परन्तु विना सम्यग्दर्शनके स्वर्गलोकमे शोभायमान होना भी अच्छा नही ॥४७॥ क्योंकि इस सारभूत सम्यग्-दर्शनके माहात्म्यसे यह प्राणी नरकसे निकलकर लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला तीर्थंकर होता है, परन्तु विना सम्यग्दर्शनके भोगोंमें तत्पर रहनेवाला स्वर्गका देव भी आर्तध्यानमे लीन होकर स्थावर जीवोंमें आ उत्पन्न होता है ॥४८-४९॥ सदा कालसे यह निश्चित चला आ रहा है कि तीनों काल और तीनों लोकोंमे सम्यग्दर्शनके समान कल्याण करनेवाला धर्म आज तक न

सम्यक्त्वान्नापरं मित्रं न धर्मः सार एव च । हितं न पितृमात्रादिकुटुम्बं न सुखं न च ॥५१
सम्यक्त्वालंकृतः पूज्यो मातङ्गोऽपि सुरैर्भवेत् । सम्यक्त्वेन विना साधुर्निन्दनीयः पदे पदे ॥५२
गृहीत्वा दर्शनं येऽपि त्यजन्ति घटिकाद्वयम् । कियत्काले न ते मुक्ति यास्यन्त्यत्र न संशयः ॥५३
सम्यक्त्वं यस्य भव्यस्य हस्ते चिन्तामणिर्भवेत् । कल्पवृक्षो गृहे तस्य कामगव्यनुगामिनी ॥५४
प्राप्तं जन्मफलं तेन सम्यक्त्वं येन स्वीकृतम् । निधानमिव लोकेऽस्मिन् भव्यजीवेन सौख्यदम् ॥५५
एकाकी त्यक्तहिंसः स वनस्थो दर्शनं विना । शीतोष्णादिसहो नित्यं तरुवन्नैव सिद्धचति ॥५६
सम्यक्त्वेन समं किञ्चित्पुण्यं यत् क्रियते जनैः । तत्सर्वं मुक्तिबीजं स्याद्दानपूजाव्रतादिजम् ॥५७
सम्यक्त्वेन विना किंचित्पुण्यं यत्क्रियते जनैः । तत्सर्वं विफलं च स्याद्दानपूजाव्रतादिकम् ॥५८
दृष्टिहीनः पुमान् किंचिद्व्रतदानादिकं सकृत् । कृत्वा लब्ध्वा च भोगं हि भवारण्ये भ्रमेत्पुनः ॥५९
सम्यक्त्वस्य बलाज्जीवा निघ्नन्ति कर्म यत्पुनः । तद्विना न तदाघोरैस्तपस्तीव्रैर्मुनीशिनः ॥६०
वरं गार्हस्थ्यमेवाहं सम्यत्क्वादिविभूषितम् । व्रतदानादिसंपूर्णं भाविनिर्वाणकारणम् ॥६१
जिनरूपं सुरैः पूज्यं सर्वसंगविवर्जितम् । मुनीनां व्रतसंयुक्तं तद्विना नैव शस्यते ॥६२

हुआ, न अब है और न आगे होगा ॥५०॥ सम्यग्दर्शनके समान न कोई मित्र है, न धर्म है, न सार पदार्थ है, न हितकारक है, न कुटुम्ब है, न सुख है ॥५१॥ इस सम्यग्दर्शनसे सुशोभित चांडाल भी देवके समान है और विना सम्यग्दर्शनके साधु भी स्थान स्थान पर निन्दनीय गिना जाता है ॥५२॥ जो जीव सम्यग्दर्शनको पाकर दो घड़ीके लिये भी छोड़ देते हैं वे कितने ही काल तक तो मोक्ष जानेसे रुक ही जाते है इसमें कोई सन्देह नही ॥५३॥ जिस भव्यके पास सम्यग्दर्शन है उसके हाथमें चिन्तामणि रत्न समझना चाहिये तथा उसके घरमें कल्पवृक्ष समझना चाहिये और कामधेनु उसके पीछे पीछे चलनेवाली समझना चाहिये ॥५४॥ यह सम्यग्दर्शन इस संसारमें एक निधिके समान है और अत्यन्त सुख देनेवाला है इसलिये जिस भव्य जीवने इसको प्राप्त कर लिया उसने जन्म लेनेका फल पा लिया ॥५५॥ यदि सम्यग्दर्शन न हो तो साधु होकर भी यह मनुष्य वृक्षके समान ही समझना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष अकेला रहता है उसी प्रकार वह साधु भी अकेला रहता है । वृक्ष हिंसा नहीं करता, वह साधु भी हिंसा नही करता, वृक्ष भी वनमें रहता है, साधु भी वनमें रहता है और वृक्ष भी शीत, उष्ण आदिकी बाधाएँ सहता है, साधु भी शीत उष्ण आदिकी बाधाएँ सहता है इसलिये जिस प्रकार वृक्षको मोक्ष प्राप्त नही होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित साधुको भी मोक्ष प्राप्त नहीं होती ॥५६॥ सम्यक्त्वके साथ यदि मनुष्य यत्-किंचित् भी पुण्य करते है तो वह दान-पूजा व्रत आदिसे उत्पन्न हुआ पुण्य मुक्तिका बीज होता है ॥५७॥ सम्यग्दर्शनके विना यह मनुष्य दान पूजा व्रत आदि जो कुछ पुण्यकर्म करता है वह सब व्यर्थ हो जाता है ॥५८॥ बिना सम्यग्दर्शनके यह मनुष्य एकादिबार व्रत दान आदि करता है परन्तु उसके फलस्वरूप थोड़ेसे भोग पाकर फिर वह सदा इस संसाररूपी वनमें परिभ्रमण किया करता है ॥५९॥ इस सम्यग्दर्शनके बलसे मुनिराज जिन कर्मोंको क्षणभरमें नष्ट कर देते हैं उनको विना सम्यग्दर्शनके घोर और तीव्र तपश्चरण करनेपर भी मुनिजन कभी नष्ट नही कर सकते ॥६०॥ सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाला गृहस्थधर्म ही अच्छा, क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित गृहस्थधर्म व्रत दान आदि शुभ कार्योंसे परिपूर्ण होता है और भावि मोक्षका कारण होता है ॥६१॥ सब प्रकारके परिग्रहोंसे रहित और व्रतोंसे सुशोभित ऐसा मुनियोंका अरहंतोंके समान निर्ग्रंथ रूप यद्यपि देवोंके

ये भ्रष्टा दर्शनाच्च ते च भ्रष्टा लोकत्रये मताः । नैव यास्यन्ति निर्वाणं कदाकालेपि तद्विना ॥६३
सम्यक्त्वालंकृता जीवाः चारित्रादिपरिच्युताः । कदाचित्संयमं प्राप्य ये ते गच्छन्ति निर्वृतिम् ॥६४
नेत्रहीना यथा जीवा रूपं जानन्ति नैव च । दृष्टिहीनास्तथा ज्ञेया देवधर्मं गुणागुणम् ॥६५
त्यक्तप्राणं यथा देहं मृतकं कथ्यते जनैः । दृष्टिहीनो नरस्तद्वच्चलन् मृतक उच्यते ॥६६
नमस्कारादिकं ज्ञानं सम्यक्त्वेन समं हि यः । जानाति सोऽपि संज्ञानी प्रोक्तः श्रीगौतमादिभिः ॥६७
एकादशाङ्गयुक्तोऽपि यो मुनिः सोऽपि तद्विना । अज्ञानी कीर्तितः सद्भिरभव्यसेनवत्सदा ॥६८
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं दर्शनं मुक्तिसौख्यदम् । अनर्घ्यमुपमात्यक्तं गृहाण त्वं सुखाय तत् ॥६९
धन्यास्ते भुवने पूज्या वन्द्या शस्या बुधोत्तमैः । दृष्टिरत्नं स्वस्वप्नेऽपि मलपार्श्वे कृतं न यैः ॥७०
सम्यग्दृष्टिः स्फुटं नीचकुलं नीचगतिं च ना । त्यक्त्वा सुदेवमानुष्यं लब्ध्वा मुक्तिवरो भवेत् ॥७१
दृष्टियुक्तो नरः स्वामिन् यां गतिं यत्कुलं न च । याति तत्सर्वमेवाहं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥७२
एकाग्रचेतसा मित्र श्रृणु त्वं कथयाम्यहम् । माहात्म्यं दर्शनस्यैव सारसौख्याकरस्य भो ॥७३
सम्यग्दर्शनसंशुद्धा ये बुधा यान्ति न क्वचित् । श्वभ्रं तिर्यग्गतिं स्त्रीत्वं क्लीबत्वं कुकुलं च ते ॥७४
बधिरत्वं च खञ्जत्वं वामनत्वं च मूकताम् । अन्धत्वं विकलाङ्गत्वमल्पायुस्त्वं दरिद्रताम् ॥७५

द्वारा पूज्य होता है, तथापि विना सम्यग्दर्शनके वह प्रशंसनीय नहीं गिना जाता ॥६२॥ जो जीव सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वे तीनों लोकोंमें भ्रष्ट है क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके वे किसी समयमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥६३॥ परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है और चारित्र आदिसे रहित है वे किसी समय भी संयमको पाकर अवश्य मोक्ष प्राप्त करते है ॥६४॥ जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य रूपको नहीं जान सकता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-रहित जीव भी न देवको जान सकता है, न धर्म अधर्मको जानता है और न गुण अवगुणोंको जान सकता है ॥६५॥ जिस प्रकार प्राणरहित शरीरको लोग मृतक कहते है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-रहित मनुष्य चलता फिरता हुआ जीवित होकर भी मृतक कहलाता है ॥६६॥ सम्यग्दर्शनके साथ साथ केवल नमस्कार मंत्र आदिका ज्ञान होनेपर वह जीव सम्यग्ज्ञानी कहलाता है ऐसा श्री गौतम आदि गणधरोंने कहा है ॥६७॥ परन्तु ग्यारह अंगोंको जाननेवाला मुनि भी बिना सम्यग्दर्शनके अभव्यसेन मुनिके समान चतुर पुरुषोंके द्वारा सदा अज्ञानी कहलाता है ॥६८॥ हे भव्य जीव, यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रका बीज या कारण है, मोक्षके सुख देनेवाला है, अमूल्य है और उपमा-रहित है इसलिये सुख प्राप्त करनेके लिये इसे अवश्य धारण करना चाहिये ॥६९॥ जिन्होंने सम्यग्दर्शनको पाकर स्वप्नमें भी उसे मल-दोषके समीप नहीं रखा है वे ही मनुष्य संसारमें धन्य हैं, पूज्य है, वंदनीय हैं, प्रशंसनीय है और वे ही विद्वानोंमें सर्वोत्तम विद्वान् है ॥७०॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव नीच कुल और नीच गतिको छोड़कर श्रेष्ठ देव मनुष्य होकर मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी ही होता है ॥७१॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! सम्यग्दृष्टी पुरुष किस किस नीच गतिको और किस किस नीच कुलको प्राप्त नहीं होता, सो मै आपसे सुनना चाहता हूँ ॥७२॥ उत्तर—हे मित्र ! चित्त लगाकर सुन, मै अब सारभूत सुखकी खानि ऐसे इस सम्यग्दर्शनकी महिमा कहता हूँ ॥७३॥ जो विद्वान् शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है वे चाहे व्रत धारण न भी करें तो भी वे नरकगति और तिर्यंच गतिमें उत्पन्न नहीं होते, स्त्री-पर्याय तथा नपुंसक-पर्यायको धारण नहीं करते, खोटे कुलमें उत्पन्न नहीं होते, बहिरे, गंजे, गूँगे, बौने, अन्धे नहीं होते, दरिद्री नहीं होते, उनकी आयु थोड़ी नहीं होती,

महाशोकभयत्वं च दुर्भगत्वं च निन्दिताम् । दासत्वं खलु मूर्खत्वं व्रतादिरहिता अपि ॥७६
उद्यमादिगुणोपेतास्तेजोविज्ञानपारगाः । वज्रसंहनना दक्षाः महावीर्या महाशयाः ॥७७
यशोयुक्ता महीनाथा धनधान्यादिसंयुताः । निर्जितारिमहावर्गा धर्मार्थकामसाधकाः ॥७८
अनेकमहिमायुक्ता दृष्टिरत्नविराजिताः । सर्वेन्द्रियसुखाब्धेश्च मध्यगा धर्मसंयुताः ॥७९
अमुत्र सारसम्यक्त्वजातपुण्यफलाद् ध्रुवम् । मनुजत्वे च जायन्ते खगादिनृपसेवितम् ॥८०
षडङ्गबलसंपाद्यं चैकछत्रं सुरार्चितम् । लभन्ते चक्रिवर्तित्वं प्राणिनो दर्शनान्विताः[1] ॥८१
पञ्चकल्याणकोपेतां शक्रादिसुरवन्दिताम् । त्रैलोक्यक्षोभिकां सारां धर्मचक्रविभूषिताम् ॥८२
अनन्तमहिमायुक्तां दर्शनाढ्याः सुखाकराम् । तीर्थंकरविभूतिं च प्राप्नुवन्ति बुधोत्तमाः ॥८३
ज्योतिष्कं व्यन्तरत्वं च कुदेवतां सर्वां स्त्रियम् । भावनत्वं न गच्छन्ति वाहनत्वं सुदृष्टयः ॥८४
ऋद्धयष्टकसमायुक्ताः ज्ञानत्रितयलोचनाः । दिव्यदेहधरा धीराः सर्वाभरणशोभिताः ॥८५
मानसाहारसंतृप्ताः रोगक्लेशादिवर्जिताः । दिव्यमालाम्बरोपेता निष्कम्पा मेरुवत्सदा ॥८६

उनका शरीर विकृत नहीं होता, उन्हे कभी शोक वा भय नही होता, वे कुरूप नहीं होते, निंदनीय नहीं होते, दास नही होते, दुष्ट नहीं होते और मूर्ख नहीं होते ॥७४–७६॥ जिन जीवोंके पास यह सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न विराजमान है वे जीव उद्यम आदि अनेक गुणोंसे सुशोभित होते हैं, तेजस्वी और स्वज्ञान विज्ञानके पारगामी होते हैं, वे वज्रसंहनन (वज्रवृषभनाराच) वाले होते हैं, चतुर होते है, बड़े बलवान् और बड़े उदार होते हैं, वे यशस्वी होते है, अनेक लोगोंके स्वामी होते हैं, धन धान्य आदि विभूतियोंसे परिपूर्ण होते है, समस्त शत्रुओंको वश करनेवाले, चारों पुरुषार्थों-को उत्तम रीतिसे प्राप्त करनेवाले और धर्म, अर्थ, कामको सिद्ध करनेवाले होते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टी जीव अनेक प्रकारकी महिमासे सुशोभित होते है, वे समस्त इन्द्रियोंके सुखरूपी महासागरमें डूबे रहते हैं और बड़े धर्मात्मा होते हैं ॥७७–७९॥ इस सारभूत सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसके फलसे यह जीव यदि परलोकमें मनुष्य भवमें जन्म लेगा तो बड़े कुलमें जन्म लेगा ॥८०॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है जिसमें चौदह महारत्न प्राप्त होते हैं, छह खण्ड पृथ्वीका राज्य प्राप्त होता है, सारभूत नौ निधियां प्राप्त होती हैं, विद्याधर आदि अनेक राजा उसकी सेवा करते है, सेना आदि छह प्रकारका बल प्राप्त होता है, समस्त पृथ्वीके स्वामीपनेको सूचित करनेवाला एक छत्र उसके मस्तकपर फिरा करता है और देव लोग भी उसकी पूजा किया करते है ॥८१॥ इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले परम सुखी उत्तम विद्वान् मनुष्योंको तीर्थंकरकी परम विभूति प्राप्त होती है, जिसमें पच कल्याणक प्राप्त होते हैं, इन्द्रादि सब देव उन्हे वंदना करते हैं, तीनों लोकोंमें क्षोभ हो जाता है, धर्मचक्र उनकी अलग ही शोभा बढ़ाता है और उन्हें अनन्त महिमा प्राप्त होती है ॥८२-८३॥ सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमें उत्पन्न नही होता, तथा कल्पवासियों-में भी किल्विषक, आभियोग आदि नीच देव कभी नही होता ॥८४॥ जीवादिक पदार्थोंमें यथार्थ श्रद्धा रखनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष स्वर्गोंमे भी इन्द्र होते है वहाँ पर उन्हें अणिमा महिमा आदि आठों ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तीनो ज्ञान प्राप्त होते हैं, उनका शरीर अत्यन्त दिव्य होता है, वे धीरवीर होते हैं, समस्त आभरणोंसे सुशोभित होते हैं, केवल

---

१. 'नरा मेते महाकुले' ब पाठः ।

सुगन्धीकृतदिग्भागनिःश्वासा चारुलक्षणाः । धातुनेत्रपरिस्पन्दत्यक्तरूपाः शुभाशयाः ॥८७
नखकेशादिसंहीना दिव्यस्त्रीभोगसंगताः । सर्वामरैर्नुता नित्यं स्थिता देवसभादिषु ॥८८
गीतनृत्यादिसंसक्ताः सौख्यसागरमध्यगाः । इन्द्रा भवन्ति ते स्वर्गे ये तत्त्वरुचयो नराः ॥८९
किमत्र बहुनोक्तेन सम्यक्त्वाद्यत्सुखं वरम् । देवलोके नृलोके च तत्सर्वं देहिनां भवेत् ॥९०
एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम् । एतन्मोक्षतरोर्बीजं सम्यक्त्वं विद्धि तत्त्वतः ॥९१
केचित्सद्दृष्टयो भव्याः स्वर्गं गत्वा सुखाकरम् । मनुष्यत्वं पुनः प्राप्य निर्वृतिं यान्ति संयमात् ॥९२
केचिच्छ्रीजिनभक्त्या हि भोगान् भुक्त्वा नृदेवजान् । सप्ताष्टभवपर्यन्तं पश्चाद्यान्ति शिवालयम् ॥९३
त्यक्त्वा देवगतिं सारां नृगतिं च सुखाकराम् । अन्या गतिर्भवेन्नैव सम्यग्दृष्टिनृणां भुवि ॥९४
अतिचारविनिर्मुक्तं यो धत्ते दर्शनं सुधीः । तस्य मुक्तिः समायाति नाकसौख्यस्य का कथा ॥९५
प्रभो सर्वानतीचारान् दयां कृत्वा निरूपय । तेषां त्यागान्ममाद्यैव सम्यक्त्वं निर्मलं भवेत् ॥९६
स्वचित्तं सन्निधायोच्चैः स्ववशे श्रावक शृणु । अतीचारान् प्रवक्ष्येऽहं तत्त्यागाय विरूपकान् ॥९७
शङ्का काङ्क्षा भवेत्पापा विचिकित्सा तथा परा । अन्यदृष्टिप्रशंसा च संस्तवो हि कुलिङ्गिनाम् ॥९८
तीर्थेशे सद्गुरौ शास्त्रे सप्ततत्त्वे वृषे च यः । शङ्कां करोति यो मूढः शङ्कादोषं लभेत सः ॥९९

मानसिक अमृताहारसे सदा तृप्त रहते हैं, रोग क्लेश आदि दुःखोंसे सदा रहित होते हैं, दिव्य वस्त्रोंसे सदा सुसज्जित रहते है और मेरुपर्वतके समान सदा निष्कंप अचल रहते हैं। वे इन्द्र अपने उच्छ्वाससे समस्त दिशाओंको सुगन्धित करते रहते हैं, उनके शरीरपर सुन्दर लक्षण रहते हैं, उनका शरीर धातु उपधातुओंसे रहित होता है, उनके नेत्रोंकी टिमकार नहीं लगती, वे बड़े रूपवान और शुभ हृदयके होते है। उनके नख केश नहीं बढ़ते, दिव्य स्त्रियोंके भोगोंसे सदा सुखी रहते हैं, सब देव उनको नमस्कार करते हैं इस प्रकार वे देवोंकी सभामें विराजमान होकर आनन्द किया करते हैं, गीत नृत्य आदि सुख देनेवाले कार्योंमें आसक्त रहते हैं और सुख-सागरमें सदा डूबे रहते हैं ॥८५-८९॥ हे मित्र! बहुत कहनेसे क्या लाभ है थोड़ेसे में इतना समझ लेना चाहिये कि स्वर्गलोकमें और मनुष्यलोकमें जो कुछ उत्तमसे उत्तम सुख हैं वे सब सम्यग्दृष्टी जीवोंको ही प्राप्त होते हैं ॥९०॥ यह विधिपूर्वक ग्रहण किया हुआ सम्यग्दर्शन ही समस्त शास्त्रोंका सर्वस्व है, यही सिद्धांतका जीवन है और यही मोक्षरूपी वृक्षका बीज है ॥९१॥ इस संसारमें कितने ही सम्यग्दृष्टी भव्य तो ऐसे हैं जो पहले सुख देनेवाले स्वर्गोंमें देव होते हैं फिर वहाँसे आ मनुष्य होकर संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं तथा भगवान् जिनेन्द्रदेवके भक्त कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मनुष्य और देवोंके सुख भोगकर सात आठ भवके बाद मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥९२-९३॥ इस संसारमें सम्यग्दृष्टी जीवोंको सुख देनेवाली देवगति अथवा मनुष्यगतिको छोड़कर और कोई गति नहीं होती है ॥९४॥ जो बुद्धिमान् इस सम्यग्दर्शनको अतिचार रहित पालन करता है उसके लिये मोक्ष अपने आप आ जाती है फिर भला उसके लिये स्वर्गके सुखोंकी तो बात ही क्या है ॥९५॥ प्रश्न—हे प्रभो! कृपाकर मेरे लिये सम्यग्दर्शनके उन सब अतीचारोंका निरूपण कीजिये जिससे उनका त्याग कर देनेपर आज ही मेरा सम्यग्दर्शन निर्मल हो जाय! ॥९६॥ उत्तर—हे वत्स! हे श्रावकोत्तम! तू अपने चित्तको अपने वशमें करके सुन, अब मैं सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले अतिचारोंको त्याग करनेके लिये कहता हूँ ॥९७॥ शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव ये पांच सम्यग्दर्शनके अतिचार गिने जाते हैं ॥९८॥ जो अज्ञानी तीर्थंकरोंमें,

चरणादिवृषं कृत्वा भोगान् वाञ्छति योऽशुभान् । इहामुत्र भवे सोऽधीराकाङ्क्षादोषभाग्भवेत्॥१००
दृष्ट्वा मुनीश्वराङ्गं यो मललिप्तं रुजान्वितम् । घृणां धत्ते भजेत्सोऽपि मलं विचिकित्साभिधम् ॥१०१
कुदृष्टेः कुतपोज्ञानव्रतेषु यः करोति ना । प्रशंसां जायते तस्य सम्यक्त्वस्य मलेऽशुभे ॥१०२
करोति संस्तवं योऽधीः कुज्ञानकुव्रतादिजम् । पाखण्डिनामतीचारं लभेत्तद्दर्शनस्य सः ॥१०३
पञ्चातिचारसंत्यक्तं सम्यक्त्वं शशिनिर्मलम् । ये भजन्ति नरास्तेषां किं नास्ति भुवनत्रये ॥१०४

स्वजनपरमुदारं त्यक्तदेहादिभारं निरुपममतिसारं प्राप्तसंसारपारम् ।
अरुजमजमशङ्कं सर्वबाधादित्यक्तं, भवति शिवसुखं वै दृष्टियोगान्मुनीनाम् ॥१०५
सकलसुखनिधानं स्वर्गमोक्षैकबीजं नरकगृहकपाटं कर्मनागैकसिंहम् ।
दुरितवनकुठारं सर्वसौख्यादिखानिं विगतनिखिलशङ्कं दर्शनं त्वं भजस्व ॥१०६
कर्मपर्वतनिपातनवज्रं दुःखदावशमनैकसुमेघम् ।
मुक्तिसारसुखदं गुणगेहं दर्शनं भज मित्र ! विमुक्त्यै ॥१०७
जिनवररुचिमूलस्तत्त्वसस्कंधपीठः सकलगुणपयोधिर्वर्द्धितो वृत्तशाखः ।
अखिलसमितिपत्रपुष्पभारोऽवतान्नः शिवसुखफलनम्रो दृष्टिसत्कल्पवृक्षः ॥१०८

गुरुओंमें, शास्त्रोंमें, श्रेष्ठ तत्त्वोंमें और अहिंसामय उत्तम धर्ममें शंका करता है उसके शंका नामका पहिला अतिचार लगता है ॥९९॥ जो बुद्धिहीन चारित्र पालन कर अथवा और भी कोई धर्मकार्य कर फिर उसमें इस लोक सम्बन्धी अथवा परलोक सम्बन्धी भोगोंकी इच्छा करता है वह आकांक्षा दोषका भागी होता है ॥१००॥ जो मुनियोंके मलिन अथवा रोगी शरीरको देखकर घृणा करता है वह सम्यग्दर्शनके विचिकित्सा नामक दोषको प्राप्त होता है ॥१०१॥ मिथ्यादृष्टि, कुतपसी, मिथ्याज्ञानी अथवा मिथ्या व्रतोंको पालन करनेवालेकी जो प्रशंसा करता है उन्हें मनमें अच्छा प्रशंसनीय समझता है उसके सम्यग्दर्शनका अन्यदृष्टिप्रशंसा नामका अशुभ अतिचार लगता है ॥१०२॥ जो बुद्धिहीन, मिथ्याज्ञानी अथवा मिथ्याचारित्रवालोंकी वचनसे स्तुति करता है इसके अन्यदृष्टिसंस्तव नामका सम्यग्दर्शनका पाँचवाँ अतिचार लगता है ॥१०३॥ जो मनुष्य इन पांचों अतिचारोंका त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं उनके लिये इन तीनों लोकोंमें ऐसा कौन सा पदार्थ है जो प्राप्त न हो सके अर्थात् उनके लिये इस संसारमें अलभ्य पदार्थ कोई नहीं है ॥१०४॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे मुनियोंको मोक्षका वह सुख प्राप्त होता है जो स्वजन परिजनोंके सुखसे पारगत है, शरीरादिके दुःखोंसे रहित है, उपमा रहित है, सारभूत है, संसारसे पारंगत है, ज्ञानावरणादि सब शत्रुओंसे रहित है और सब तरहकी बाधाओंसे दूर है ॥१०५॥ यह सम्यग्दर्शन समस्त सुखोंका निधि है, स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, नरकरूपी घरको बन्द कर देनेके लिये किवाड़ोंके समान है, कर्मरूपी हाथीके लिये सिंह है, पापरूपी वनके लिये कुल्हाड़ी है, समस्त सुखोंकी खानि है और सब तरहकी शंकाओंसे रहित है। हे वत्स ! ऐसे इस सम्यग्दर्शनको तू धारण कर ॥१०६॥ हे मित्र ! यह सम्यग्दर्शन कर्मरूपी पर्वतको चूर चूर करनेके लिये वज्रके समान है, दुःखरूपी दावानल अग्निको शांत करनेके लिये मेघकी धाराके समान है, मोक्षके सारभूत सुखको देनेवाला है और अनेक गुणोंका घर है अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इसे धारण कर ॥१०७॥ यह सम्यग्दर्शन मोक्ष-सुख देनेवाले एक सर्वोत्तम कल्पवृक्षके समान है। भगवान् जिनेन्द्रदेवमें श्रद्धा रखना ही इसकी जड़ है, जीवादिक तत्त्वोंपर श्रद्धान रखना इसका

धन्यास्ते पुरुषोत्तमाः सुकृतिनो लोकत्रये पूजिताः
सारासारविचारमार्गचतुराः पापारिविध्वंसकाः ।
सारं सर्वगुणैकगेहमसमं सद्दर्शनं ये श्रिताः
भुक्त्वा सर्वसुखं नृदेवजनितं यात्येव मुक्त्यालयम् ॥१०९

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे सम्यक्त्वमलमाहात्म्यवर्णना नामैकादशमः परिच्छेदः ॥११॥

●

स्कंध वा पीड है, निःशंकित आदि समस्त गुणरूपी जलके सींचनेसे यह बढ़ता है, चारित्र ही इसकी शाखाएँ हैं, समस्त समितियाँ ही इसके पत्ते और फूल हैं उनके भारसे यह नम्र हो रहा है और मोक्ष-सुख ही इसका फल है। इस प्रकार यह सम्यग्दर्शनरूपी वृक्ष सर्वोत्तम कल्पवृक्ष है ॥१०८॥ यह सम्यग्दर्शन सबमें सारभूत है, समस्त गुणोंका घर है और उपमा रहित है, ऐसे इस सम्यग्दर्शन-को जिन्होंने धारण कर लिया है इस संसारमें वे ही पुरुषोत्तम धन्य हैं, वे ही पुण्यवान है, वे ही तीनों लोकोंमें पूज्य है, सार असारके विचार करनेमें वे ही सबसे अधिक चतुर हैं और वे ही पापरूप शत्रुओंको सर्वथा नाश करनेवाले है। ऐसे मनुष्य, देव और मनुष्योंके सर्वोत्तम सुखोंका अनुभवकर अन्तमें अवश्य ही मोक्षमें जा विराजमान होते है ॥१०९॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनके दोष और उसके माहात्म्यको वर्णन करनेवाला यह ग्यारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥११॥

●

बारहवाँ परिच्छेद

वासुपूज्यं जिनं वन्दे लोकत्रितयपूजितम् । पूजार्हं रागनिर्मुक्तं तद्गुणग्रामसिद्धये ॥१
व्याख्याय दर्शनं पूर्वं वक्ष्येऽहं प्रतिमां वराम् । भव्यलोकोपकाराय किलैकादश संख्यया ॥२
तासां मध्ये प्रवक्ष्यामि प्रथमां प्रतिमां वराम् । दर्शनाख्यां ससम्यक्त्वामष्टमूलगुणान्विताम् ॥३
दर्शनेन समं यस्तु धत्ते मूलगुणाष्टकम् । जिनैर्दर्शनिकः प्रोक्तः स पुमान् व्यसनोज्झितः ॥४
स्वामिन् मूलगुणानद्य सर्वाणि व्यसनानि च । कथय त्वं ममाग्रेऽपि कृपां कृत्वा विशुद्धये ॥५
स्वचित्तं निर्मलीकृत्य ज्ञानवैराग्यवासितम् । शृणु तेऽहं प्रवक्ष्यामि मित्र ! मूलगुणादिकम् ॥६
मद्यमांसमधून्येव तथोदुंबरपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता श्रीजिनैर्गृहमेधिनाम् ॥७
अनेकत्रससम्पूर्णं धर्मादिक्षयकारकम् । बुद्ध्यादिनाशकं मद्यं त्याज्यं वृषजिघृक्षुभिः ॥८
पीतमद्यो बुधैर्निन्द्यः पथि श्वा पतिते मुखे । मूत्रं कृत्वापि लिह्याच्च यो धिक् तस्यास्तु जीवितम् ॥९
मद्यं पिबति योऽमुत्र मुखं तस्य विदार्य वै । क्षिपन्ति नारका श्वभ्रे तप्तं ताम्रादिजं रसम् ॥१०
मद्यपानमत्यक्त्वा यो धर्ममिच्छति मूढधीः । विना स चरणेनैव मेरुमारोहितुं च सः ॥११

जो तीनों लोकोंमें पूज्य हैं, पूजाके योग्य हैं और राग-द्वेषसे सर्वथा रहित हैं ऐसे श्री वासुपूज्य भगवान्को मैं उनके गुणसमूह प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ यहाँ तक सम्यग्दर्शनका व्याख्यान हो चुका है । अब भव्य जीवोंका उपकार करनेके लिये ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन करता हूँ ॥२॥ उन ग्यारह प्रतिमाओंमें भी मैं सबसे पहिले सर्वोत्तम दर्शनप्रतिमाको कहता हूँ । इस दर्शनप्रतिमामें सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंका पालन किया जाता है ॥३॥ जो सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंका पालन करता है और सातों व्यसनोंका त्याग करता है उस पुरुषको श्री जिनेन्द्रदेव दार्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमावाला कहते हैं ॥४॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! आज आप कृपाकर मेरे लिये आठ मूलगुण और सातों व्यसनोंका स्वरूप वर्णन करिये ॥५॥ उत्तर—हे मित्र ! तेरा हृदय ज्ञान और वैराग्यसे सुशोभित है इसलिये उसको और भी निर्मल बनाकर सुन । अब मैं तेरे लिये आठों मूलगुणोंको कहता हूँ ॥६॥ मद्य मांस मधुका त्याग और पाँचों उदम्बरोंका त्याग ही श्री जिनेन्द्रदेवने गृहस्थोंके आठ मूलगुण बतलाए हैं ॥७॥ हे मित्र ! यह मद्य अनेक त्रस जीवोंसे भरा हुआ है, धर्म कर्म का नाशक है और बुद्धिको नष्ट करने वाला है इसलिये धर्मकी इच्छा रखनेवालोंको इसका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥८॥ जो मद्यपान करता है वह चतुर पुरुषोंके द्वारा सदा निन्दनीय गिना जाता है, जिस समय वह मद्य पीकर बेहोश होकर मुख फाड़कर पड़ जाता है तो उस समय कुत्ते भी उसके मुखमें मूत जाया करते हैं और वह उस मूतको बड़े मजेसे चाटा करता है, हाय हाय ! ऐसे जीवनको धिक्कार है ॥९॥ जो जीव इस जन्ममें मद्य पीते हैं वे मरकर नरकमें पड़ते हैं और वहाँपर अन्य नारकी उनका मुख फाड़कर जबर्दस्ती उनके मुखमें तपाया हुआ गला हुआ ताम्बेका पानी डालते हैं ॥१०॥ जो मूर्ख मद्यपानका त्याग किये विना ही धर्म धारण करना चाहते हैं वे विना पैरोंके ही मेरुपर्वतपर चढ़ना चाहते हैं ॥११॥ यह मद्यपान नरक निगोद आदि कुगतियोंको प्राप्त कराने

कुगतिकर्मसारं बुद्धिनिर्नाशकं वै, नरकगमनमार्गं पापदुःखादिमूलम् ।
विकलकर्मविरत्वं धर्मवृक्षाग्निदावं, त्यज विषमिव धर्मप्राप्तये मद्यपानम् ॥१२

जीवहिंसादिसञ्जातं निन्द्यं पापकरं शठैः । स्वीकृतं चास्पृशं लोके पलं त्याज्यं विवेकिभिः ॥१३
हत्वा यस्यामिषं योऽत्र प्राप्ति दुष्टः कृपां विना । चामुत्र तस्य लोके स वैरसंस्कारयोगतः ॥१४
पलाशनं प्रकुर्वन्ति येऽधमाः स्वादुवञ्चिताः । मज्जन्ति दुःखसम्पूर्णे ते संसारमहार्णवे ॥१५
असक्ता आमिषं त्यक्तुं धर्मं वाञ्छन्ति ये शठाः । नयनाभ्यां विना तेऽपि द्रष्टुमिच्छन्ति नाटकम् ॥१६

नरककर्मसारं पापवृक्षस्य कन्दं, कृमिकुलशतपूर्णं चास्पृशं नैव दृश्यम् ।
इह विषमतिपापं सज्जनैर्धर्मयुक्तैः त्यज कुगतिकुबीजं त्वं पलं धर्महेतोः ॥१७

त्रसजीवादिसंव्याप्तं मक्षिकाछर्दितं मधु । पापदुःखाकरं निन्द्यं अपवित्रं त्यजेद्बुधः ॥१८
मधु रोगादिशान्त्यर्थं यो गृह्णाति स मूढधीः । रोगस्य भाजनं भूत्वा सोऽपि याति च दुर्गतिम् ॥१९
समं मद्यामिषेणैव यो भुङ्क्ते माक्षिकं शठः । भुङ्क्तं मद्यादिकं सर्वं तेन दुर्गतिदायकम् ॥२०
रोगनाशं सुवाञ्छन्ति ये खला मधुना स्वयम् । निवारयन्ति ते नूनं तैलेनैव हुताशनम् ॥२१

कृमिकुलशतपूर्णं सत्त्वघातादिजातं, कुगतिगमनहेतुं प्रास्पृशं साधुलोकैः ।
सकलदुरितखानिं क्लेशव्याध्यादिमूलं, त्यज मधु सुखहेतोश्चापवित्रं सुमित्र ॥२२

वाला है, असार है, बुद्धिको नष्ट करनेवाला है, नरकको ले जानेका मार्ग है, पाप और दुःखोंकी जड़ है, व्याकुलता उत्पन्न करनेवाला है और धर्मरूपी वृक्षको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है, इसलिये हे वत्स ! धर्मकी प्राप्तिके लिये तू इस निंद्य मद्यपानका त्याग कर ॥१२॥ इसी प्रकार मांस भी महा निंद्य है, जीवोंकी हिंसासे उत्पन्न होता है और अनेक पापोंकी खानि है इसलिये इसे केवल मूर्ख लोग ही सेवन करते हैं। विवेकी पुरुष दूरसे ही इसका त्याग कर देते हैं ॥१३॥ देख, जो दुष्ट विना किसी कृपा वा दयाके जीवोंको मार कर मांस खाते हे वे वैरभावका संस्कार हो जानेके कारण परलोकमें उन्हीं जीवोंके द्वारा मारे जाते है ॥१४॥ जो नीच केवल स्वादसे ठगे जानेके कारण मांस खाते है वे अनेक दुःखोंसे भरे हुए संसाररूपी महासागरमें अवश्य डूबते हैं ॥१५॥ जो मूर्ख मांस भक्षणका तो त्याग कर नहीं सकते और धर्म धारण करना चाहते हैं वे विना नेत्रोंके नाटक देखना चाहते हैं ॥१६॥ यह मांस सेवन नरकके दुःख देनेवाला है, असार है, पापरूपी वृक्षकी जड़ है, अनेक प्रकारके जीव-समूहोंसे भरा हुआ है, उसके छूने मात्रसे ही अनन्त जीवोंका घात होता है, इसलिये धार्मिक सज्जन लोग विषके समान इसका त्याग कर देते हैं। यह पापरूप है और कुगतिका बीज है, इसलिये हे वत्स ! धर्म धारण करनेके लिये तू इसका त्याग कर ॥१७॥ यह मधु वा शहद भी अनेक त्रस जीवोंके उत्पन्न होनेका स्थान है, और मक्खियों का वमन किया हुआ उच्छिष्ट है इसीलिये इसका सेवन करना अनेक पाप और दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला है, निन्द्य है और अपवित्र है। बुद्धिमानोंको दूरसे ही इसका त्याग कर देना चाहिये ॥१८॥ जो अज्ञानी रोग आदिको दूर करनेके लिये भी शहदको काममें लाता है वह अनेक रोगों का पात्र होकर नरकादि दुर्गतियोंमें प्राप्त होता है ॥१९॥ जो मूर्ख मद्य और मांसके समान शहद को खाता है वह मद्य मांस आदि सबका सेवन करता है और अनेक दुर्गतियोंमें प्राप्त होता है, क्योंकि शहदमें असंख्य जीव रहते हैं ।२०॥ जो मूर्ख मधुके सेवन करनेसे रोगोंका नाश करना चाहते हैं वे अवश्य ही तेलसे अग्निको बुझाना चाहते हैं ॥२१॥ हे मित्र ! यह मधु अनेक छोटे

उदुम्बरफलान्येव न ग्राह्याणि विवेकिभिः । सूक्ष्मजन्तुभृतान्येव दुःखश्वभ्रकराणि वै ॥२३
दुर्भिक्षेनैव यो भुङ्क्ते कीटाढ्यानि फलानि सः । श्वभ्रतिर्यग्गतिं याति जीवराशिप्रभक्षणात् ॥२४
वरं प्राणपरित्यागो न चोदुम्बरपञ्चकम् । ग्राह्यं विसंख्यजीवाढ्यं व्याप्तं तीव्रदरिद्रकम् ॥२५
त्यज त्वं धर्मसिद्धयर्थं वटादिफलपञ्चकम् । भिल्लादिकुजनैर्भक्ष्यमामिषेण समं ध्रुवम् ॥२६

नरकगमनमार्गं दुःखदारिद्र्यबीजं, वरशिवसुखशत्रुं सूक्ष्मजीवादिपूर्णम् ।
कुजनगणगृहीतं पिप्पलादिप्रसूतं, फलमपि त्यज धर्मप्राप्तये पापमूलम् ॥२७

अष्टौ मूलगुणानेव पालयन्ति सदाऽनघान् । ये ते स्वर्गं प्रयान्त्येव प्रादाय नियमं वरम् ॥२८
द्वादशव्रतमूलत्वाद् गुणानां प्रथमोद्भवा । स्वर्गादिसुखसंदानादुक्ता मूलगुणा जिनैः ॥२९
व्रतं धर्तुमसक्ता येऽधर्मो मूलगुणादिजम् । ते पापसंग्रहं कृत्वा मज्जन्ति भवसागरे ॥३०
एकचित्तेन भो धीमन् ! भज त्वं व्रतशुद्धये । अष्टौ मूलगुणानेव नाकमुक्तिसुखाय वा ॥३१
आदौ मूलगुणान् सर्वान् व्याख्याय शृणु श्रावक । वक्ष्ये श्रीधर्मसिद्धयर्थं सप्तैव व्यसनान्यहम् ॥३२
द्यूतामिषसुरावेश्याखेटचौर्यपरस्त्रियः । सप्तैव व्यसनान्येव पापमूलानि भो त्यज ॥३३

छोटे कीड़ोंसे भरा हुआ है, अनेक चौइन्द्रिय जीवोंके घातसे उत्पन्न होता है, इसका सेवन करना अनेक दुर्गतियोंका कारण है, सज्जन लोगोंके द्वारा स्पर्श करने योग्य भी नहीं है, यह समस्त पापो की खानि है, क्लेश तथा व्याधियोंकी जड़ है और अत्यन्त अपवित्र है । हे मित्र ! सुख प्राप्त करने के लिये तू इसका त्याग कर ॥२२॥ इसी प्रकार विवेकी पुरुषोंको उदम्बर फलोंका त्याग भी कर देना चाहिये, क्योंकि ये भी अनेक सूक्ष्म जन्तुओंसे भरे रहते है इसलिये इनके सेवन करनेसे नरकादिकके अनेक दुःख प्राप्त होते हैं ॥२३॥ जो मूर्ख दुर्भिक्ष आदि पड़नेपर भी अनेक कीड़ोंसे भरे हुए इन फलोंको खाता है वह अनेक जीव-राशिका नाशकर देनेके कारण नरक वा तिर्यञ्च गतिमें ही जन्म लेता है ॥२४॥ इसलिये प्राणोंका त्याग कर देना अच्छा, परन्तु भारीसे भारी दरिद्रता पड़नेपर भी असंख्यात जीवोंसे भरे हुए पाँचों उदम्बरोंका सेवन करना अच्छा नहीं ॥२५॥ हे मित्र ! तू धर्मकी प्राप्तिके लिये इन वड, पीपल, ऊमर (गूलर), कठूमर (अजीर), पाकर पाँचों उदम्बर फलोंका त्याग कर, क्योंकि मांसके समान इसे भील आदि नीच लोग ही सेवन करते हैं ॥२६॥ हे वत्स ! वट, पीपल आदि पाँचों उदम्बरोंका सेवन करना नरकमें ले जानेका कारण है, दुःख और दरिद्रताको उत्पन्न करनेवाला है, और सर्वोत्तम मोक्ष-सुखका शत्रु है । ये पाँचों फल अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे रहते हैं, और नीच लोगोंके द्वारा ही सेवन किये जाते है इसके सिवाय ये पापकी जड़ है । इसलिये हे मित्र ! धर्मकी प्राप्तिके लिये तू इनका भी त्याग कर ॥२७॥ जो मनुष्य श्रेष्ठ नियम लेकर इन आठों मूलगुणोंका पालन करते है वे अवश्य ही स्वर्ग सुखको प्राप्त होते हैं ॥२८॥ ये आठों मूलगुण आगे कहे हुए बारह व्रतोंके मूल कारण हैं, ओर बारह व्रतोंके पहिले धारण किये जाते हैं तथा स्वर्गादिकके सुख देनेवाले हैं, इसलिये जिनेन्द्र भगवान् इनको मूलगुण कहते हैं ॥२९॥ जो अधर्मी मनुष्य धर्मकी जड़रूप इन मूलगुणोंको भी धारण नहीं कर सकते वे अनेक प्रकारके पापोंका संग्रहकर संसार महासागरमें डूबते है ॥३०॥ इसलिये हे बुद्धिमान् ! आगे कहे हुए व्रतोंको पालन करनेके लिये और स्वर्ग मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये इन आठों मूलगुणोंको चित्त लगाकर पालन कर ॥३१॥ इस प्रकार पहिले मूलगुणोंका व्याख्यान किया । अब हे श्रावक ! धर्मकी सिद्धिके लिये सातों व्यसनोंको कहता हूँ ॥३२॥ जूआ खेलना,

द्यूतक्रीडां प्रकुर्वन्ति ये खला अत्र ते ध्रुवम् । अकीर्तिं द्रव्यनाशं च प्राप्य श्वभ्रे पतन्त्यहो ॥३४
द्यूतमूलानि सप्तैव व्यसनानि भवन्ति वै । द्यूतं यो रमते तस्य स्युः सर्वव्यसनान्यलम् ॥३५
युधिष्ठिरादयो द्यूतयोगाद्भ्रष्टा नृपा यदि । अन्यो यो रमते द्यूतं न स्यात्किं सोऽपि दुःखभाक् ॥३६
द्यूतासक्तस्य यत्पापं यच्च दुःखं भवे भवे । वधबन्धादिकं यत्स्यात्तद्वक्तुं कः प्रभुर्भवेत् ॥३७

दुरितवनकुमेघं दुःखदारिद्रबीजं, नरकगृहप्रवेशं मुक्तिगेहे कपाटम् ।
सकलव्यसनमूलं सर्वदाऽकीर्तिहेतुं, त्यज कुगतिकरं त्वं धर्मलाभाय द्यूतम् ॥३८

सत्त्वघातादिसंजातं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् । निन्द्यं पापकरं भ्रातस्त्यज त्वं निखिलामिषम् ॥३९
सूक्ष्मं जीवभृतं मद्यं विवेकबुद्धिनाशकम् । धर्मविध्वंसकं प्राघप्रदं त्यज सुखाय भो ॥४०
मद्यमांसादिसंसक्तां मातङ्गादिषु लम्पटाम् । सर्पिणीमिव भो मित्र त्यज वेश्यां कुकीर्तिदाम् ॥४१
जीवहिंसाकरं पापं दुःखदुर्गतिदायिकम् । वधबन्धकरं दक्षः आखेटं दूरतस्त्यजेत् ॥४२
वधाङ्गच्छेदबन्धादिदुःखदारिद्रकारणम् । परपीडाकरं वत्स चौर्याख्यं व्यसनं त्यज ॥४३

मांस खाना, मद्यपान करना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना ये सात व्यसन कहलाते है। ये सातों व्यसन पापोंकी जड़ हैं इसलिये हे भव्य ! तू इनका त्याग कर ॥३३॥ जो दुष्ट मनुष्य इस संसारमें जुआ खेलते हैं वे संसारमें अपनी अपकीर्ति फैलाते हैं, उनके द्रव्यका नाश होता है और अन्तमें नरकमें पड़ते हैं ॥३४॥ सातों व्यसन इस जूआ खेलनेसे ही उत्पन्न होते है, इसलिये जो जूआ खेलता है उसे समस्त व्यसनोंके सेवन करनेका ही फल प्राप्त होता है ॥३५॥ अरे, जिस जूआके खेलनेसे राजा युधिष्ठिर जैसे नष्ट हो गये, फिर भला जूआ खेलनेवाले अन्य साधारण लोग किस प्रकार दुःखी नहीं हो सकते ? अर्थात् अवश्य होते है ॥३६॥ जूआ खेलनेवालोंको जो पाप लगता है तथा भवभवमें जो वध बंधन आदिके दुःख भोगने पडते हैं उन्हे कौन कह सकता है ? अर्थात् वे पाप और दुःख किसीसे कहे भी नहीं जा सकते ॥३७॥ यह जूआ खेलना पापोंके वनको बढानेके लिये मेघकी धाराके समान है, दुःख और दरिद्रताका मुख्य कारण है, नरकरूपी घरमें ले जानेवाला है, मोक्षमहलके लिये किवाड़ जुड़ा देनेवाला है, समस्त व्यसनोका मूल कारण है और सदाकालतक अपकीर्तिका कारण है इसलिये हे मित्र ! तू धर्म प्राप्त करनेके लिये कुगतियोंमें डालनेवाले इस जूआका त्याग कर ॥३८॥ इसी प्रकार मांस भी जीवोंके घात होनेसे उत्पन्न होता है, नरक और तिर्यंच गतिके अनेक दुःख देनेवाला है, निंद्य है, पापकी खानि है, इसलिये हे भ्रात ! इसका भी तू त्याग कर ॥३९॥ मद्य भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरा हुआ है, विवेक और बुद्धिको नाश करनेवाला है, अनेक पापोंको बढानेवाला है और धर्मका ध्वंस करनेवाला है इसलिये सुख प्राप्त करनेके लिये इस मद्यका भी त्याग कर ॥४०॥ यह वेश्या मद्य मांस आदिमें सदा आसक्त रहती है, चांडाल आदिकोंमें भी लंपट रहती है, और सदा अपकीर्ति देनेवाली है इसलिये हे मित्र ! सर्पिणीके समान इस वेश्याको तू दूरसे ही छोड़ ॥४१॥ शिकार खेलनेमें भी अनेक जीवोंकी हिंसा होती है, हिंसासे पाप, दुःख और दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं तथा अनेक बार वध बंधन आदिके दुःख सहने पड़ते हैं इसलिये इस शिकारको भी दूरसे त्याग कर ॥४२॥ चोरी करनेसे कभी मर जाना पड़ता है, कभी शरीर काटा जाता है, बंधनमें पडना पडता है तथा और भी अनेक प्रकारके दुःख तथा दरिद्रता प्राप्त होती है। इसके सिवाय चोरी करनेसे दूसरोंको सदा दुःख पहुँचाना पड़ता है इसलिये हे वत्स ! इस चोरीको भी

सर्वदु:खाकरां पापवल्लीं भयकुकीर्तिदाम् । परनारीं त्यज त्वं भो 'श्वभ्रगृहप्रतोलिकाम्' ॥४४
एकैकव्यसनासक्ता नष्टा जीवा अनेकधा । यः सर्वव्यसनासक्तो दुःखभाक् किं भवेन्न सः ॥४५
द्यूताद् धर्मसुतो राजा प्राप्तो दुःखमनेकधा । राज्यभ्रष्टाटवीवास. संगरादिभवं घनम् ॥४६
पलाशनवशाद्भ्रष्टः इह लोके बको नृपः । राज्यनाशं परिप्राप्य मग्नः संसारसागरे ॥४७
मद्यपानात्प्रनष्टा हि यादवा नृपनन्दनाः । इहैव प्राणपर्यन्तं प्राप्य दुःखं कुमार्गगाः ॥४८
चारुदत्तेन संप्राप्तं दुःखं वेश्याप्रसंगतः । द्रव्यनाशभवं विष्ठामध्यनिक्षेपजं परम् ॥४९
ब्रह्मदत्तो नृपः प्राप्तो दुःखमाखेटतः स्वयम् । भवाब्धौ बहुशो घोरं मज्जनोन्मज्जनादिजम् ॥५०
चौर्यव्यसनतो घोरं दुःखं प्राप्नोति दुस्सहम् । शिवभूतिरिहामुत्र क्लेशबन्धवधादिजम् ॥५१
दशास्यः सीताहरणाद् गतः श्वभ्रं त्रिखण्डराट् । कुकीर्तिं राज्यनाशं च वधं प्राप्य कुमार्गगः ॥५२
एतेषां व्यसनाज्जाता ज्ञेया शास्त्रे निरूपिताः । कथाः संवेगदाः तीव्रं पापभीतिप्रदाः वराः ॥५३
अन्ये ये बहवो नष्टा व्यसनासक्तचेतसा । कथां को गदितुं तेषां समर्थो भुवनत्रये ॥५४
एकैकव्यसनाज्जीवा श्वभ्रं प्राप्ता अनेकशः । यः सप्तव्यसनासक्तिं धत्ते श्वभ्रं न याति किम् ॥५५
व्यसनान्येव यः त्यक्तुमशक्तो धर्ममीहते । चरणाभ्यां विना खञ्जो मेरुमारोहितुं स च ॥५६

तू छोड़ ॥४३॥ परस्त्रीसेवन सब दुःखोंकी खानि है, पापकी बेल है, भय अपकीर्ति देनेवाली है और नरककी देहली है इसलिये परस्त्रीसेवन करना भी सर्वथा छोड़ देना चाहिये ॥४४॥ इन व्यसनोंमेंसे एक एक व्यसनको सेवन करनेवाले अनेक जीव नष्ट हो चुके है फिर भला जो समस्त व्यसनोंमें आसक्त है वह क्यों दुःखी नही हो सकता ? अर्थात् वह अवश्य महा दुःखी होगा ॥४५॥ जूआके खेलनेसे राजा युधिष्ठिरको अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त हुए थे—उन्हें राज्यसे भ्रष्ट होना पड़ा था, निर्जन वनमें निवास करना पड़ा था और फिर भारी युद्ध करना पड़ा था ॥४६॥ मांस सेवन करनेसे राजा बकको इस लोकमें ही राजभ्रष्ट होना पड़ा था—अपने राज्यसे हाथ धोना पड़ा था और अन्तमें इस अपार संसारसागरमें मग्न होना पड़ा था ॥४७॥ मद्यपानके सेवन करनेसे कुमार्गगामी राजपुत्र यादव अनेक दुःखोंको पाकर इसी लोकमें प्राण नाशको प्राप्त हुए थे ॥४८॥ वेश्यासेवनसे सेठ चारुदत्तको कितने दुःख भोगने पडे थे, उनका सब द्रव्य नष्ट हो गया था और अन्तमे उन्हें विष्टामे फेंक दिया गया था ॥४९॥ शिकार खेलनेसे राजा ब्रह्मदत्तको बहुतसे दुःख भोगने पड़े थे और अन्तमें संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण करनेका महा घोर दुःख भोगना पड़ा था ॥५०॥ चोरी करनेसे शिवभूतिको घोर और असह्य दुःख भोगने पड़े थे, तथा इस लोकमें भी वध बंधन आदिके अनेक दुःख भोगने पड़े थे ॥५१॥ सीताका हरण करने मात्रसे ही तीन खण्डके स्वामी रावणकी संसारभरमें अपकीर्ति हुई थी, उसका राज्य नष्ट हुआ था, उस कुमार्गगामीको मरना पड़ा था, और अन्तमें नरक जाना पड़ा था ॥५२॥ ये सब एक एक व्यसनमें आसक्त होनेवालोंके नाम हैं इन सबकी कथा सवेग बढ़ानेवाली है और पापोंसे डरानेवाली है इसलिये अन्य शास्त्रोंसे अवश्य जान लेनी चाहिये ॥५३॥ इन व्यसनोंमें आसक्त हो जानेके कारण और भी बहुतसे लोग नष्ट हुए हैं उन सबकी कथाओंको तीनों लोकोंमें कोई कह भी नहीं सकता ॥५४॥ एक एक व्यसनके सेवन करनेसे कितने ही जीवोंको अनेक बार नरकोंमे जाना पड़ा है, फिर भला जो सातों व्यसनोंका सेवन करते हैं वे भला नरकसे कैसे बच सकते हैं ॥५५॥ जो मनुष्य इन व्यसनोंको विना छोड़े ही धर्म धारण करनेकी इच्छा करता है, वह मूर्ख बिना पैरोंके ही मेरुपर्वतपर चढ़ना चाहता है ॥५६॥ इस संसारमें सात ही नरक हैं और सात ही व्यसन हैं

सप्तैवात्र नरकाणि सप्तैव व्यसनानि तत् । अनुक्रमेण गच्छन्ति जीवास्तल्लम्पटाशया: ॥५७
धर्मशत्रुविनाशार्थं पापराज्ञा दृढीकृतम् । स्वराज्यं सप्तव्यसनैरङ्गैरिव यथापरे ॥५८

कुगतिगमनहेतुं दु:खशोकादिबीजं, दुरितवनकुमेघं धर्मशत्रुं कुसङ्गम् ।
परभवशतखानिं सर्वदारिद्रमूलं, जहि व्यसनसमस्तं शत्रुवद्धर्महेतो: ॥५९

दर्शनेन समं योऽत्र सोऽष्टमूलगुणान् सुधी: । दधाति व्यसनान्येव त्यक्त्वा दार्शनिको भवेत् ॥६०
दर्शनाख्यं प्रव्याख्याय प्रतिमा मूलकारणम् । इदानीं खलु वक्ष्येऽहं व्रताख्यां प्रतिमां वराम् ॥६१
पञ्चैवाणुव्रतानि स्युस्त्रिधापि स्याद्गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं द्वादशैव व्रतानि च ॥६२
स्थूलहिंसानृतस्तेयान्मैथुनाच्च परिग्रहात् । विरति: श्रावकाणां तत् पञ्चभेदमणुव्रतम् ॥६३
स्वयं हि त्रसजीवानां हिंसां नैव करोति य: । कारयति न चान्येन कृतं नैवानुमन्यते ॥६४
मनोवाक्काययोगेन दयातत्परचेतस: । आद्यं व्रतं भवेत्तस्य मूलं सर्वव्रतस्य भो ॥६५
पूर्वोक्तान् जीवभेदान् भो ज्ञात्वा मित्र दयां कुरु । सर्वसत्त्वेषु मुक्त्यर्थं भयभीतेषु प्रत्यहम् ॥६६
अहिंसा जननी प्रोक्ता व्रतादीनां गणाधिपै: । सर्वजीवहितां शश्वन्मातेव हितकारिणी ॥६७
जन्मभूमिर्गुणानां भो दया प्रोक्ता मुनीश्वरै: । सर्वसौख्यकरा सारा सारसर्वगुणप्रदा ॥६८

इसलिये जो जीव इन व्यसनोंमें आसक्त रहते हैं वे अवश्य ही नरकोंमें पड़ते हैं ॥५७॥ पापरूपी राजाने धर्मरूपी शत्रुको नाश करनेके लिये और अपना स्वराज्य सुदृढ करनेके लिये इन सातों व्यसनोंको सेनाके समान स्थापित कर रक्खा है ॥५८॥ ये सातो व्यसन अनेक दुर्गतियोमें जन्म देनेवाले हैं, दु:ख शोक आदिके मुख्य कारण है, पापरूपी वनको बढ़ानेके लिये मेघकी वर्षाके समान है, धर्मके शत्रु है, बुरी संगति देनेवाले हैं, परभवमें परिभ्रमण करानेवाले है और सब प्रकारकी दरिद्रताके मूल कारण हैं। इसलिये हे मित्र ! तू धर्म धारण करनेके लिये शत्रुके समान इन सातों व्यसनोंका त्याग कर ॥५९॥ जो बुद्धिमान् सम्यग्दर्शनके साथ साथ ऊपर कहे हुए आठों मूलगुणोंका पालन करता है और सातों व्यसनोंका त्याग करता है वह दार्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ॥६०॥ इस प्रकार सब प्रतिमाओकी मूल कारण ऐसी दर्शन प्रतिमाका स्वरूप वर्णन किया। अब आगे उत्तम व्रत प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥६१॥ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थोंके बारह व्रत कहलाते हैं ॥६२॥ स्थूल हिंसाका त्याग, स्थूल असत्यका त्याग, स्थूल चोरीका त्याग, स्थूल अब्रह्मका त्याग और स्थूल परिग्रहका त्याग इस प्रकार हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह इन पांचों पापोंसे एक देश विरक्त होना श्रावकोंके पाँच अणुव्रत कहलाते है ॥६३॥ अपने हृदयको दया पालन करनेमें सदा तत्पर रखनेवाला जो मनुष्य मन, वचन, कायसे न तो कभी स्वयं त्रस जीवोंकी हिंसा करता है न दूसरोंसे कराता है और न कभी त्रस जीवोंकी हिंसामें अनुमति देता है उसके सबसे पहिला अहिंसाणुव्रत होता है। यह अहिंसा अणुव्रत अन्य सब व्रतोंका मूल है ॥६४–६५॥ हे मित्र ! जीवोंके सब भेद पहिले बताये जा चुके है अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके भयोसे भयभीत हुए समस्त जीवोंपर तू प्रतिदिन दया कर ॥६६॥ श्री गणधरादि देवोंने इस अहिंसाको सब व्रतोंकी जननी वा माता बतलाया है, क्योंकि यह अहिंसा समस्त जीवोंकी सदा हित करनेवाली है, और माताके समान सबका कल्याण करनेवाली है ॥६७॥ मुनिराजोंने इस दयाको सब जीवोंको जन्मभूमि बतलाया है, यह दया सबको सुख देनेवाली है, सबमें सारभूत

निधिः सर्वसुखादीनां कृपापि कथिता बुधैः । स्वर्गमुक्तिगृहद्वारे प्रतोली कृत्स्नसौख्यदा ॥६९
रत्नत्रयस्य सत्खानिर्दयादक्षैः प्ररूपिता । सम्यग्ज्ञानादिसद्रत्नकारणा हितकारिका ॥७०
सद्धर्मारामसारस्य नाकमोक्षफलस्य वै । कृपावृष्टिर्जिनैः प्रोक्ता दुःखदाहविनाशिनी ॥७१
सखी सन्मुक्तिभार्या हि वरा तच्चित्तरञ्जिका । अहिंसा मुनिभिः सेव्या नित्यं सत्सङ्गलालसैः ॥७२
अहिंसाव्रतरक्षार्थं भो महाव्रतपञ्चकम् । दक्षैः समितिगुप्त्यादि सर्वं चाचर्यते स्फुटम् ॥७३
मुनीनां च गृहस्थानां सर्वं व्रतकदम्बकम् । एकाहिंसाप्रसिद्धयर्थं भाषितं मुनिपुंगवैः ॥७४
अहिंसाख्यं व्रतं धीमान् यस्तनोति प्रयत्नतः । तस्य सर्वव्रतानि स्युः विना कष्टेन प्रत्यहम् ॥७५
दयां त्यक्त्वापि यः कुर्याद् यत्तपोऽतिव्रतादिकम् । तत् सर्वं विफलं तस्य विना चाङ्केन शून्यवत् ॥७६
दृढीकृत्य दयां चित्ते तपः स्तोकं करोति यः । सुधीस्तत्तस्य चामुत्र स्यान्महाफलकारणम् ॥७७
तपो धर्म व्रतं दानं ध्यानं पूजा गुणादिकम् । दयां विनात्र व्यर्थं स्यात्कायक्लेशं च प्राणिनाम् ॥७८
वरं चैकव्रतं सारं सर्वजीवाभयप्रदम् । तद्विना देहिनां नैतत् सर्वं व्रतकदम्बकम् ॥७९
मन्ये स एव पुण्यात्मा यस्य चित्तं सुवासितम् । कृपया सर्वजीवेषु धर्मयुक्तस्य प्रत्यहम् ॥८०

है और समस्त उत्तम गुणोंको देनेवाली है ॥६८॥ बुद्धिमान् लोग इस दयाको सब सुखोंकी निधि बतलाते हैं, स्वर्ग मोक्षरूपी घरमें जानेके लिये यह दया ही द्वारकी देहली है और यही समस्त संसारको सुख देनेवाली है ॥६९॥ दया पालन करनेमें अत्यन्त चतुर पुरुषोंने निरूपण किया है कि यह दया ही रत्नत्रयकी खानि है, दया ही सम्यग्ज्ञान आदि श्रेष्ठ रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली है और यही सबका हित करनेवाली है ॥७०॥ श्री जिनेन्द्रदेवने वर्णन किया है कि श्रेष्ठ धर्मरूपी बागकी शोभा बढ़ानेके लिये, उसपर स्वर्ग मोक्षके फल लगानेके लिये और दुःखरूपी उष्णता वा अग्निके संतापको नष्ट करनेके लिये यह दया ही मेघकी वर्षाके समान है ॥७१॥ यह अहिंसा ही मुक्तिरूपी स्त्रीकी सखी है और व्ररके चित्तको प्रसन्न करनेवाली है, इसलिये सत्संगकी लालसा रखनेवाले मुनियोंको इस अहिंसाका सेवन अवश्य करना चाहिये ॥७२॥ इस अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये ही चतुर पुरुषोंने पाँचों महाव्रतोंका निरूपण किया है और गुप्ति आदि सब व्रतोंका निरूपण केवल अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये ही किया है ॥७३॥ अनेक मुनिराजोंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मुनि और गृहस्थोंके समस्त व्रतोंके समूहका वर्णन केवल अहिंसा व्रतकी रक्षा वा प्रसिद्धिके लिये ही है ॥७४॥ जो बुद्धिमान इस एक अहिंसा नामके व्रतको ही प्रयत्नके साथ पालन कर लेता है उसके बिना किसी कष्टके प्रतिदिन समस्त व्रतोंका पालन हो जाता है ॥७५॥ जिस प्रकार विना अंकके अनन्त शून्य भी व्यर्थ होते है उसी प्रकार जो मनुष्य दयाको पालन किये विना ही तप व्रत आदि करना चाहता है उसका वह तप व्रत आदि सब व्यर्थ और निष्फल हैं ॥७६॥ जो बुद्धिमान् अपने हृदयमें दयाको सुदृढ बनाकर थोड़ा-सा भी तप करता है वह इस लोक और परलोकमें भी अनेक महाफलोंको प्राप्त होता है ॥७७॥ बिना दयाके तप, धर्म, व्रत, ज्ञान, ध्यान, पूजा और गुण आदि सब व्यर्थ हैं। बिना दयाके ये तप आदिक सब जीवोंके शरीरोंको केवल कष्ट पहुँचानेवाले हैं और इनसे कोई लाभ नहीं ॥७८॥ समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाला और सबमें सारभूत ऐसा यह अहिंसा रूप एक व्रत ही अच्छा परन्तु इसके विना समस्त व्रतोंका समुदाय भी जीवोंके लिये कल्याणकारी नहीं ॥७९॥ जिस धर्मात्माका हृदय प्रतिदिन समस्त जीवोंपर होनेवाली कृपासे सुगन्धित है, भरपूर है उसीको मैं (आचार्य) सबसे अधिक पुण्यवान् मानता हूँ ॥८०॥ जो धर्म दयारहित है, जो तप दयारहित है और प्राणियोंका जो जीवन

दयाहीनेन किं तेन धर्मेण तपसाऽथवा । कार्यसिद्धिर्भवेन्नैव जीवितव्येन चाङ्गिनाम् ॥८१
कृपासमं भवेन्नैव पूजा दानं जपादिकम् । तपो धर्मं च सर्वेषां दयाबीजं यतो मतम् ॥८२
श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च । धर्मो जीवदयोपेतस्तद्विपक्षोऽशुभप्रदः ॥८३
एतत्समयसर्वस्वमेतच्चारित्रजीवितम् । मूलं धर्मतरोर्यच्च सर्वजीवाभिरक्षणम् ॥८४
जीवहिंसादिसंकल्पं ये कुर्वन्ति शठा हि ते । पापात् श्वभ्रे पतन्त्येव शालिशिक्थादिमत्स्यवत् ॥८५
कासश्वासमहापित्तवातकुष्ठादयो ध्रुवम् । बृहद्रोगाः प्रजायन्ते प्राणिघातादिहाङ्गिनाम् ॥८६
दीनत्वं निर्धनत्वं च भीरुत्वं स्वल्पजीवितम् । भवेज्जीवस्येहामुत्र दारिद्र्यं तां दयां विना ॥८७
पुत्रपौत्रस्वसृभार्यामातृपितृस्वबान्धवैः । प्राप्नुवन्ति वियोगं च सत्त्वघातात्सहाङ्गिनः ॥८८
किमत्र बहुनोक्तेन यत्किंचिद्दुःखमञ्जसा । तत्सर्वं हि श्रयेदङ्गी चेहामुत्र कृपां विना ॥८९
कुर्वन्ति प्राणिनां घातं येऽधमा रोगशान्तये । वातपित्तमहाकुष्ठादिकं तेषां भवेद् ध्रुवम् ॥९०
विधत्ते देहिनां हिंसां योऽधर्मो मङ्गलाय वै । अमङ्गलं भजेत्सोऽपि पापात्सर्वं कुदुःखदम् ॥९१

दयारहित है उस धर्म, तप वा जीवनसे इस संसारमें कोई लाभ नहीं और न ऐसे दयाहीन धर्म, तप वा जीवनसे कोई कार्यसिद्धि हो सकती है ॥८१॥ इस दयाके समान पूजा, दान, जप, तप, धर्म आदि कुछ नहीं हो सकता क्योंकि यह दया उन सबका बीज है, सबका मुख्य कारण है ॥८२॥ 'जो जीवोंकी दयासे रहित है वह अनेक दुःखोंको देनेवाला अधर्म है' यह बात सब शास्त्रोंमें और सब मतोंमें सुनी जाती है ॥८३॥ यह दयारूप धर्म ही समस्त शास्त्रोंका समस्त मतोंका सर्वस्व है, यही सजीव चारित्र है, यही धर्मरूपी वृक्षका मूल है और यही समस्त जीवोंका रक्षक है ॥८४॥ जो मूर्ख जीवोंकी हिंसाका संकल्प भी करते हैं वे उस पापकर्मके उदयसे तंदुल[1] मत्स्यके समान नरकमें ही पड़ते हैं ॥८५॥ इस संसारमें जीवोंकी हिंसा करनेमें कास (खाँसी), श्वास (दमा), महापित्त, वात, कोढ़ आदि अनेक बड़े बड़े महा रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥८६॥ दयाके बिना ही यह जीव इस लोकमें दीन होता है, निर्धन होता है, डरपोक होता है, थोड़ी आयुवाला होता है और दरिद्री होता है तथा परलोकमें भी ऐसे ही अनेक दुःखोंको प्राप्त होता है ॥८७॥ यह जीव प्राणियोंका घात करनेसे ही पुत्र, पौत्र, बहिन, स्त्री, माता-पिता और भाई आदिका तीव्र वियोग पाता है अर्थात् उनके वियोगसे उत्पन्न होनेवाले दुःखको भोगता है ॥८८॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि इस लोकमें वा परलोकमें जितने दुःख हैं वे सब प्राणियोंको दयाका त्याग करनेसे ही होते हैं ॥८९॥ जो नीच मनुष्य केवल रोग शान्त करनेके लिये प्राणियोंका घात करते हैं उनके वात पित्त और महाकोढ़ आदि भयंकर रोग अवश्य उत्पन्न होते हैं ॥९०॥ जो नीच अपना वा पुत्र पौत्रोंका कल्याण करनेके लिये जीवोंकी हिंसा करता है वह अनेक अमंगलोंको—दुःखोंको प्राप्त होता है तथा भयंकर दुःख देनेवाले समस्त पापोंको प्राप्त होता है—

१ स्वयंभूरमण समुद्रमें सबसे बड़ा राघवमत्स्य होता है उसकी आँखपर एक तंदुलमत्स्य बैठा रहता है। राघवमत्स्य सबसे बड़ा है इसलिये उसके मुँह फाड़ते ही अनेक जीव उसके मुँहमें आ जाते हैं और उनमेंसे बहुत साँसके साथ बाहर निकल जाते हैं। तंदुलमत्स्य आँखपर बैठा हुआ यह सोचा करता है कि यह मत्स्य मूर्ख है जो इन छोटे मत्स्योंको मुँहके भीतर आ जानेपर भी फिर बाहर जाने देता है, यदि मैं होता तो एकको भी बाहर न जाने देता सबको खा जाता। बस सदाके इसी संकल्पसे वह मरकर सातवें नरक जाता है।

**धर्मार्थं सत्त्वसंघातं ये शठाः घ्नन्ति मृत्युदम् । पिबन्ति जीवितार्थं ते विषं हालाहलं स्फुटम् ॥९२
उद्दिश्य चण्डिकां पापं जीवहिंसां करोति यः । दुःखादिशान्तये सोऽधीः दुखं क्लेशादिकं भजेत् ॥९३
पूजार्थं नीचदेवानां ये घ्नन्ति पशून् बहून् । स्वसुखाय ते वाञ्छन्ति सुधां सर्पमुखाच्च ते ॥९४
भोगार्थं जीवराशिं ये घ्नन्ति चेन्द्रियलालसाः । दुःखदुर्भगदारिद्रं ते लभन्ते भवे भवे ॥९५
पुत्रपौत्रकुटुम्बादिवृद्ध्यर्थं हन्ति यः पशून् । कुटुम्बपरिनाशं च प्राप्य स याति दुर्गतिम् ॥९६
अहिंसालक्षणो धर्मः उक्तः श्रीजिननायकैः । सर्वजीवहितायैव स्वर्गमुक्तिसुखप्रदः ॥९७
सोऽसत्यबलतः धर्म उक्तः सत्त्वक्षयंकरः । कुशास्त्रपाठकैर्मूढैरिन्द्रियस्वादुलालसैः ॥९८
दर्शयित्वा कुशास्त्रं भो लोकानामर्थप्राप्तये । सर्वाक्षपोषकं धूर्त्ताः नयन्ति नारकीं गतिम् ॥९९
हिंसा प्ररूपिता शास्त्रे दुष्टैर्यैः भोगसिद्धये । अङ्गीकृता च लोकैर्यैस्ते सर्वे यान्ति दुर्गतिम् ॥१००
ये कुर्वन्ति स्वयं हिंसां परैः संकारयन्ति ये । दृष्ट्वा हिंसां प्रानन्दं ये ते श्वभ्रे पतन्त्यघात् ॥१०१
क्वचित्सर्पमुखाद्दैवादमृतं जायते नृणाम् । रात्रौ दिवाकरश्चैव न धर्मो जीवहिंसनात् ॥१०२
हिंसया यदि जायेत धर्मो नाकं च निस्तुषः । तदा स्वर्गं प्रयान्त्येव म्लेच्छाश्चाखेटकारिणः ॥१०३
त्यक्त्वा हिंसां च भो धीमन् ! शास्त्रं हिंसादिपोषकम् । अहिंसालक्षणं धर्मं कुरु त्वमङ्गिनां दयाम् ॥१०४**

अर्थात् उसके तीव्र पापकर्मोंका बन्ध होता है ॥९१॥ जो मूर्ख केवल धर्मपालन करनेके लिये जीवोंके समूहका घात करता है वह अपने जीवित रहनेके लिये मृत्यु देनेवाले हलाहल विषको पीता है ॥९२॥ जो अज्ञानी चंडी मुंडी आदि देवियोंके बहानेसे जीवोंकी हिंसा करता है वह अपने दुःखोंको शान्त करनेके लिये अपने आप दुःख क्लेशादिकोंमें जा पड़ता है ॥९३॥ जो जीव नीच देवोंकी पूजा करनेके लिये अनेक जीवोंको मारता है वह मनुष्य अपने सुखके लिये अमृतको सर्पके मुखसे निकालना चाहता है ॥९४॥ इन्द्रियभोगोंमें अत्यन्त लालसा रखनेवाले जो नीच अपने भोगोपभोगोंके लिये जीवराशिका विनाश करते है—उन्हें मारते हैं वे महा दुःखी होते है, अत्यन्त कुरूप होते है और महा दरिद्री होते हैं ॥९५॥ जो नीच अपने पुत्र पौत्र और कुटुम्बकी वृद्धिके लिये पशुओंका मारता है उसके सब कुटुम्बका नाश होता है और अन्तमें उसे अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है ॥९६॥ श्री जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप अहिंसामय कहा है क्योंकि समस्त जीवोंका कल्याण इसी अहिंसामय धर्मसे हो सकता है और इसी धर्मसे स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त हो सकते है ॥९७॥ परन्तु कुशास्त्रोंको पढनेवाले और इन्द्रियोंके स्वादकी लालसा रखनेवाले मूर्ख लोगोंने असत्य भाषण करके झूठ बोल करके जीवोंको नाश करनेवाली हिंसाको ही धर्म बतला दिया है ॥९८॥ जो धूर्त लोग समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले कुशास्त्रोंको दिखा दिखाकर लोगोंसे धन इकट्ठा करते हैं वे अन्तमें मरकर अवश्य ही नरक गतिमें उत्पन्न होते है ॥९९॥ जिन दुष्टोंने केवल भोगोपभोगोंके लिये अपने शास्त्रोंमें हिंसाका निरूपण किया है और जिन लोगोंने उसे स्वीकार किया है वे सब मरकर दुर्गतिमें उत्पन्न होंगे ॥१००॥ जो स्वयं हिंसा करते हैं वा दूसरोंसे कराते हैं अथवा हिसाको देखकर आनन्द मानते है वे सब उस पापसे नरकमें पड़ते हैं ॥१०१॥ यदि कदाचित् दैवयोगसे सर्पके मुँहसे अमृत उत्पन्न हो जाय अथवा रात्रिमें सूर्य दिखाई दे तथापि जीवोंकी हिंसासे कभी धर्म नहीं हो सकता ॥१०२॥ यदि हिंसासे धर्म होता हो और स्वर्गादिकके सुख प्राप्त होते हों तो सदा शिकार खेलनेवाले म्लेच्छ लोगोंको भी स्वर्गकी ही प्राप्ति होनी चाहिये ॥१०३॥ इसलिये हे बुद्धिमान् ! हिसाको छोड़कर तथा हिंसा आदिको

सद्यो गालितनीरेण स्नानं वस्त्रादि धावनम् । प्रक्षालनं च यत्किंचित्तत्सर्वं कुरु भो बुध ॥१०५
स्नानादिकं प्रकुर्वन्ति चागालितजलेन ये । अहिंसाख्यं व्रतं तेषां जीवघाताद्विनश्यति ॥१०६
गालयित्वा जलं दत्वा पशूनां यत्नतो बुधः । अगालितं न योग्यं स्यात्पातुं च जीवसंक्षयात् ॥१०७
यदैवोत्पद्यते कार्यं जलसाध्यं तदैव तत् । गालयित्वा जलं धीमन् कुरु त्वं धर्महेतवे ॥१०८
वस्त्रेण स्थूलस्निग्धेन नूतनेनैव भो बुधाः । भाजनस्य द्विगुणेन गालय त्वं सदोदकम् ॥१०९
मुहूर्त्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम् । उष्णोदकमहोरात्रं पश्चात्सम्मूर्छितं भवेत् ॥११०
माषमुद्‌गादिकं सर्वं धान्यं कीटादिसम्भृतम् । जीवहिंसाकरं धर्मसिद्धयर्थं त्यज भो सुहृत् ॥१११
शत्रवो बालका नार्यः पशवो मण्डलादय । मुष्टियष्ट्यादिघातैश्च न हन्तव्या हि श्रावकैः ॥११२
अविचार्य सुखं दुःखं स्वान्ययोर्ये च देहिनः । घ्नन्ति यष्ट्यादिभिस्तेऽपि मनुजत्वेऽपि राक्षसाः ॥११३
आसनं शयनं सर्वं यत्नेन गमनादिकम् । निरीक्ष्य नयनाभ्यां च कुरुध्वं गृहिणः सदा ॥११४
कर्मबन्धो गृहस्थस्य व्रतभङ्गो भवेत् ध्रुवम् । यत्नहीनस्य जीवादिरक्षणे च वधं विना ॥११५
दयायुक्तगृहस्थस्य मृते जीवगणे क्वचित् । अज्ञानात्कर्मबन्धश्च व्रतभङ्गो भवे न वै ॥११६

पुष्ट करनेवाले शास्त्रोंको छोड़कर अहिंसारूप धर्मको स्वीकार कर और जीवों पर सदा दया कर ॥१०४॥

इसी अहिंसाको पालन करनेके लिये सब पानी उसी समय छानकर काममें लाना चाहिये। नहाना, कपडे धोना, प्रक्षालन करना आदि सब काम उसी समयके छने हुए पानीसे करना चाहिये ॥१०५॥ जो विना छने पानीसे स्नान आदि भी करते है उनसे जीवोंकी हिंसा होती है और जीवोंकी हिंसा होनेसे उनका अहिंसा व्रत नष्ट हो जाता है ॥१०६॥ हे धीमन् ! पशुओंको भी छना हुआ पानी ही देना चाहिये क्योंकि विना छने पानीमें अनन्त जीवोकी हिंसा होती है इसलिये वह पशुओंको देने योग्य नहीं है ॥१०७॥ हे धीमन् ! तुझे जलमें जो जो कार्य करने पड़े उन सब कामोंमें अपना धर्म धारण करनेके लिये छना हुआ पानी ही काममें ला ॥१०८॥ जिस वस्त्रसे पानी छाना जाय वह मोटा होना चाहिये, चिकना होना चाहिये और नया होना चाहिये तथा जितना बड़ा बर्तनका मुँह हो उससे तिगुना होना चाहिये, ऐसे वस्त्रको दुहराकर फिर उससे जल छानना चाहिये ॥१०९॥ वस्त्र-गालित जल एक मुहूर्तके बाद, प्रासुक जल दो प्रहरके बाद और उष्ण जल अहोरात्र (चौबीस घंटे) के बाद सम्मूर्छित हो जाता है, अर्थात् उसमें सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते है, अतः उक्त अवधिके पश्चात् उसे काममें नहीं लेना चाहिये ॥११०॥ हे श्रावकोत्तम ! जिसमें कीड़े पड़ गये हो ऐसे उड़द, मूंग आदि धान्य कभी नहीं खाना चाहिये। क्योंकि ऐसे धान्योके खानेमे जीवोंकी हिंसा होती है इसलिये धर्म पालन करनेके लिये इनको छोड़ देना चाहिये ॥१११॥ श्रावकोंको लकड़ी वा थप्पड़ आदिसे शत्रु, बालक, स्त्री अथवा कुत्ते आदि पशुओंको भी कभी नही मारना चाहिये ॥११२॥ जो प्राणी अपने तथा दूसरोंके सुख दुःखादिकों का विचार किये बिना ही लकड़ी आदिसे अन्य जीवोंको मार देते है वे मनुष्य होकर भी राक्षसके समान हैं ॥११३॥ गृहस्थी लोगोंको अपना बैठना, सोना, चलना आदि सब काम आँखोंसे देखकर प्रयत्नपूर्वक करने चाहिये जिससे किसी जीवकी हिंसा न होने पावे ॥११४॥ यदि जीवोकी रक्षा करनेमें प्रयत्न न किया जाय तो विना किसी जीवकी हिंसा हुए भी व्रतका भंग होनेसे भवभवमें कर्मबन्ध होता है ॥११५॥ जो गृहस्थ अपना हृदय दया पालन करनेमे लगाता है उसके अज्ञानसे यदि किसी जीवकी हिंसा भी हो जाय तो भी न तो उसके व्रतका भंग ही होता है और न कर्मका

भावेन कथितो धर्मो व्रतं च गौतमादिभिः। तस्माद्भावो विधातव्यो बुधैर्जीवादिरक्षणे ॥११७
सूनादिके सदा यत्नं कुरुध्वं श्रावकोत्तमाः। प्रमादं हि परित्यज्य जीवराशिक्षयंकरे ॥११८
हुताशने गृहस्थैश्च षट्जीवादिविनाशके। महायत्नोऽपि कर्तव्यो व्रतरक्षादिहेतवे ॥११९
नीरं चागलितं येन पीतमञ्जलिमात्रकम्। घटेनैव कृतं स्नानं तस्य पापं न वेद्म्यहम् ॥१२०
अतिस्तोकेन नीरेण निरीक्ष्य मूत्रसादिकम्। स्नानादिकं प्रकर्तव्यं बुधैः पूजादिहेतवे ॥१२१
बहुनोक्तेन किं साध्यं कायवाङ्मनसादिभिः। जीवरक्षां कुरुध्वं भो बुधाः श्रीव्रतसिद्धये ॥१२२
सबलो दुर्बलं चात्र हन्ति यो दुष्टमानसः। सहेत परलोके स तस्माद्धिंसामनेकधा ॥१२३
तृणेन स्पर्शमात्रेण किंचिद्दुःखमवैति यः। स कथं परजीवानामङ्गे शास्त्रं निपातयेत् ॥१२४

> **अन्धाः कुब्जकवामनातिविकलाः कुष्ठादिरोगान्विताः**
> **दारिद्रोपहता अतीव चपला बीभत्सरूपाः शठाः।**
> **भृत्या दुःखविपीडिताः परभवे चाल्पायुषः स्युर्ध्रुवं**
> **मातङ्गादिकुजातिष्वङ्गिहननान्मन्वा नरा निर्दयात् ॥१२५**
> **ये घ्नन्ति दुष्टा हि शठाः पशूंश्च यष्ट्यादिभिस्ते बहुदुःखपूर्णाम्।**
> **तिर्यग्गतिं यान्ति सदाप्यमुत्र पापव्रजात्स्थावरजातियुक्ताम् ॥१२६**
> **कुर्वन्ति ये दुष्टधियश्च हिंसां, जीवस्य तेऽमुत्र बुधैर्विनिन्द्याः।**
> **कुष्ठ्यादिरोगं प्रतिपद्य लोके पतन्ति श्वभ्रे विषमेऽतिपापात् ॥१२७**

बन्ध ही होता है ॥११६॥ इसका भी कारण यह है कि गौतमादि ऋषियोंने धर्मका पालन करना वा व्रतोंका पालन करना भावपूर्वक बतलाया है इसलिये बुद्धिमान लोगोंको जीवोंकी रक्षा करनेमें सदा अपने भाव लगाते रहना चाहिये ॥११७॥ उत्तम श्रावकोंको जीवराशिको क्षय करनेवाले प्रमादको छोड़कर घरमें प्रतिदिन होनेवाले पाँचों पापोंमें (चक्की, उखली, चूलि, बुहारी और पानी ये गृहस्थीके पाँच सून वा पाप कहलाते हैं) जीवोंकी रक्षाका सदा प्रयत्न करना चाहिये ॥११८॥ व्रतोंकी रक्षाके लिये गृहस्थोंको अग्निके जलानेमे भी सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि अग्निके जलानेमें छहों कायके जीवोंकी हिंसा होती है ॥११९॥ इसी प्रकार जो अंजलिमात्र भी विना छना पानी पीता है और विना छने एक घड़ेसे भी नहाता है उसके पापोंको हम लोग जान भी नही सकते ॥१२०॥ बुद्धिमान लोगोंको भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा, प्रक्षाल आदि करनेके लिये बहुत थोड़े छने जलसे देखभाल कर स्नान करना चाहिये ॥१२१॥ बहुत कहनेसे क्या, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि विद्वान् लोगोंको व्रतका पालन करनेके लिये मनसे, वचनसे और शरीरसे जीवोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥१२२॥ जो दुष्ट बलवान होकर दुर्बलोंको मारता है वह परलोकमें उसी जीवके द्वारा अनेक बार मारा जाता है ॥१२३॥ अरे जो एक जरासे तृणके स्पर्श से दुःखी होता है वह दूसरे जीवोंके शरीरपर किस प्रकार शस्त्र चलाता है ? ॥१२४॥ जो मनुष्य निर्दयी हैं, जीवोंकी हिंसा करते रहते हैं वे मूर्ख अन्धे, कुब्जे, बौने, अङ्ग उपाङ्गोंसे रहित, कोढ़ आदि अनेक रोगोंसे घिरे हुए, दरिद्री, चंचल, देखनेमें घृणित, भयानक, मूर्ख, होते है, दूसरोंके दास होते हैं, अत्यन्त दुःखी होते है, परभवमें थोड़ी आयु पाते हैं और चांडाल आदि नीच योनियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥१२५॥ जो मूर्ख और दुष्ट लकड़ी आदिसे पशुओंको मारते हैं वे भी अत्यन्त दुःखी होते हैं और मरकर उस पापसे परलोकमें तिर्यँच गतिमें ही जन्म लेते हैं ॥१२६॥ जो दुष्ट जीव इस जन्ममें जीवोंकी हिंसा करते हैं वे बुद्धिमानोंके द्वारा सदा निन्दनीय गिने जाते हैं तथा

हिंसां श्वभ्रप्रतोलिकां बुधजनैर्निन्द्यां शठैः स्वीकृतां
रोगक्लेशभयादिदुःखजननीं पापाविखानिं सदा।
स्वर्गद्वारमहार्गलां स्वपरयोर्बाधाकरां दुस्त्यजां
मुक्तिस्त्रीभयदां त्यज त्वमपि भो जीवेषु कृत्वा दयाम् ॥१२८
भ्रातः सर्वसुखाकरां मुनिजनैः सेव्यां दयां भो भज मुक्तिद्वारप्रवेशमार्गकुशलां श्वभ्रगृहेष्वर्गलाम्।
सद्विद्यामलरत्नखानिपरमां नाकगृहे दीपिकां मत्त्वा जीवकदम्बकं हि स्वसमं सर्वेषु सत्त्वेषु वै ॥१२९
अमलसुखनिधानं धर्मवृक्षस्य मूलं, सकलसमितिसाध्यं तीर्थनाथस्य सेव्याम्।
विमलनियमकन्दं स्वर्गमोक्षैकहेतोस्त्वमपि भज व्रतं भो जीवरक्षाख्यमेव ॥१३०
सर्वातिचारनिर्मुक्तं अहिंसाख्यमणुव्रतम्। यो धत्ते मतिमान् सोऽपि याति षोडशमं दिवम् ॥१३१
भवन्त्यणुव्रतस्यैव व्यतिचारा हि ये मुने। अहिंसाव्रतशुद्धयर्थं तान् सर्वान् मे निरूपय ॥१३२
निश्चलं स्ववशे चित्तं कृत्वा त्वं शृणु श्रावक। व्यतीपातान् प्रवक्ष्यामि ते धर्माय मलप्रदान् ॥१३३
त्वं बन्धवधच्छेदातिभारारोपणमेव हि। अन्नपाननिरोधं च त्यजातिचारपञ्चकम् ॥१३४
रज्ज्वादिभिः पशूनां यो विधत्ते बन्धनं दृढम्। अतिचारो भवेद्बन्धो नाम तस्य व्रतस्य वै ॥१३५
यष्टयादिभिर्मनुष्यस्त्रीपशूनां हन्ति योऽधम। भवेद्व्यतिक्रमस्तस्य वधो नाम विरूपकः ॥१३६

कोढ आदि अनेक रोगोको पाकर परलोकमें उस पापकर्मके उदयसे विषम नरकमें ही जन्म लेते हैं ॥१२७॥ यह हिंसा नरककी देहली है, विद्वानोंके द्वारा सदा निंदनीय है। रोग, क्लेश, भय आदि अनेक दुखोंकी जननी है, मूर्ख लोग ही इसको स्वीकार करते हैं, अनेक पापोंकी खानि है, स्वर्गका द्वार बन्द करनेके लिये अर्गल है, अपनेको दूसरोंको सबको दुःख देनेवाली है, बड़ी कठिनतासे छूटती है और मुक्ति लक्ष्मीको भय देनेवाली (दूर भगानेवाली) है। इसलिये हे भव्य! तू जीवोंपर दया कर इस पापमयी हिंसाको छोड़ ॥१२८॥ हे भ्रात! तू समस्त जीवोंको अपने समान मानकर सब जीवोंपर दया कर, क्योंकि यह दया सबको सुख देनेवाली है। मुनि लोग भी इसकी सेवा करते है, मोक्षमार्गमें प्रवेश करानेके लिये यह अत्यन्त कुशल है। नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये अर्गल है, सद्धर्मरूपी निर्मल रत्नोंकी खानि है और स्वर्ग लोककी देहली है, ऐसा समझकर इसको सदा धारण करना चाहिये ॥१२९॥ यह जीवोंकी रक्षा करनेवाला व्रत निर्मल सुखकी निधि है, धर्मरूपी वृक्षकी जड है, सब समितियोंसे सिद्ध होता है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, यह निर्मल यशको देनेवाला है और स्वर्गमोक्षका कारण है। इसलिये हे भव्य! तू भी इस व्रतका सेवन कर ॥१३०॥ जो बुद्धिमान इस अहिंसा अणुव्रतको समस्त अतीचारोंको छोड़कर पालन करता है वह अवश्य ही सोलहवें स्वर्गमें जाकर उत्तम देव होता है ॥१३१॥प्रश्न—हे मुने! इस अहिंसा अणुव्रतको निर्मल निर्दोष पालन करनेके लिये इस व्रतके जितने अतिचार हैं उन सबको मेरे लिये निरूपण कीजिये ॥१३२॥ उत्तर—हे वत्स! तू चित्तको एकाग्रकर सुन। मैं केवल धर्मकी वृद्धिके लिये व्रतोंमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतीचारोंको कहता हूँ ॥१३३॥ इस अहिंसा अणुव्रतके बध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पाँच अतिचार है। इन पाँचों अतीचारोको तू छोड़ ॥१३४॥ पशुओंको रस्सी आदिसे मजबूत बाँध देना (जिससे कि वे अग्नि आदि लगनेपर भी भाग न सकें) यह बंध नामका अहिंसाणुव्रतका पहिला अतिचार गिना जाता है ॥१३५॥ जो नीच मनुष्य, स्त्री वा पशुओंको लकड़ी आदिसे मारते हैं उनको यह वध नामका दूसरा निंद्य अतीचार लगता है ॥१३६॥ जो बुद्धिहीन कान नाक आदि

ये कर्णनासिकादीनां छेदं कुर्वन्ति दुर्धियः । व्यतीपातोऽति स्यात्तेषां छेदो नामा कुदुःखदः ॥१३७
लोभाद्वाद्वधे पशूनां यः प्रभाराधिरोपणम् । अतिक्रमो भवेत्तस्य व्रतस्य मलदायकः ॥१३८
पशूनां यो नृणां धत्ते चान्नपाननिरोधनम् । अन्नपाननिरोधः स्याद्वतिचारोऽपि तस्य वै ॥१३९
कृत्स्नातिचारसंत्यक्तं यो धत्ते व्रतमञ्जसा । स्वर्गराज्यादिकं प्राप्य क्रमाद्याति शिवालयम् ॥१४०
आद्यं व्रतं विधत्ते यः प्राप्य पूजां सुरैरिह । नाकं प्रयाति सोऽमुत्र तद्विना दुःखभाग् भवेत् ॥१४१
येन पूजा परिप्राप्ता अहिंसाव्रतरक्षणात् । भट्टारक ! कथां तस्य कृपां कृत्वा वदस्व मे ॥१४२
निधाय चित्तमेकाग्रं शृणु वत्स कथां तव । वक्ष्ये समासतः सारामहिंसाव्रतसम्भवाम् ॥१४३
विख्यातो यो भवेदत्र मातङ्गः प्रथमे व्रते । यमपालाभिधस्तस्य कथां वक्ष्ये शुभप्रदाम् ॥१४४
सुरम्यविषये पुण्यात्पोदनाख्ये पुरे बली । महाबलो भवेद्राजा तस्य पुत्रः कुधीर्बलः ॥१४५
अथ नन्दीश्वराष्टम्यां जीवामारणघोषणा । कृता राजाज्ञया लोके प्रधानैश्च दिनाष्टका ॥१४६
बलनामकुमारेण मांसासक्तेन मेढकः । राजकीयो हतः शीघ्रं कञ्चिन्नरमपश्यता ॥१४७
तस्यामिषं सुसंस्कार्य भक्षितं तेन तत्क्षणम् । राजोद्यानेऽपि प्रच्छन्ने नैव पापाढ्यचेतसा ॥१४८
राज्ञा रुष्टेन चाकर्ण्य वार्ता तन्मारणोद्भवाम् । गवेषयितुमारब्धो मारको मेढकस्य यः ॥१४९
मालाकारेण प्रोद्यानवृक्षोपरि स्थितेन वै । तन्मारणं प्रकुर्वाणो दृष्टः पापोदयात् स्वयम् ॥१५०
गृहमागत्य रात्रौ हि स्वभार्यायाः निरूपितम् । दृष्टं तेनैव यत्तद्धि वृत्तं राजकुमारजम् ॥१५१

छेदा करते हैं उनके दुःख देनेवाला यह छेद नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥१३७॥ जो लोभके वश होकर पशुओंपर अधिक बोझ लाद देते हैं उसके दोष उत्पन्न करनेवाला अतिभारारोपण नामका अतीचार लगता है ॥१३८॥ जो मनुष्य वा पशुओंका अन्नपान रोक देता है अथवा समयपर नहीं देता उसके अन्नपाननिरोध नामका पाँचवाँ अतीचार लगता है ॥१३९॥ जो भव्य इन समस्त अतीचारोंको छोड़कर निर्मल अहिंसाव्रतको पालन करता है वह स्वर्ग वा राज्यादिके सुख भोगकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥१४०॥ जो बुद्धिमान् इस प्रथम अहिंसा अणुव्रतको पालन करता है वह देवोंके द्वारा भी पूज्य होता है और परलोकमें भी सुखी होता है तथा इस व्रतके न पालनेसे वह सदा दुःखी रहता है ॥१४१॥ प्रश्न—हे प्रभो ! इस अहिंसा अणुव्रतको पालन करनेसे किसको उत्तम फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कहिये ॥१४२॥ उत्तर—हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन, मै इस अहिंसा अणुव्रतमें प्रसिद्ध होनेवालेकी सारभूत कथा संक्षेपमें कहता हूँ ॥१४३॥ इस अहिंसा अणुव्रतके पालन करनेमें यमपाल नामका चाडाल प्रसिद्ध हुआ है इसलिये अब मैं उसकी पुण्य बढ़ानेवाली कथा कहता हूँ ॥१४४॥ सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरमें पुण्यकर्मके उदयसे महाचल नामका बलवान राजा राज्य करता था। उसका एक पुत्र था जो दुष्टबुद्धिवाला था और बल उसका नाम था ॥१४५॥ किसी एक समय नन्दीश्वरपर्वके दिनोमे राजाकी आज्ञासे मन्त्रीने आठ दिन पर्यंत जोवोंके न मारनेकी सब जगह घोषणा कर दो ॥१४६॥ परन्तु राजकुमार बल मांसासक्त था उस पापीने राजाके ही बागमें छिपकर राजाका ही मेढा मारा और उसका मांस पकाकर खाया ॥१४७-१४८॥ मेढाके न मिलनेसे उसके मारे जानेकी बात राजाने सुनी और वह उस मेढाको मारनेवालेकी तलाश करने लगा ॥१४९॥ जिस समय कुमारने मेढा मारा था उस समय उस बागका माली एक वृक्षपर चढ़ा हुआ था इसलिये उसने उस कुमारके पाप कर्मके उदयसे उसका सब कृत्य देख लिया था ॥१५०॥ रातको घर आनेपर उसने वह सब बात अपनी

प्रच्छन्नेन तदाकर्ण्य वचनं कर्णदुःखदम् । राज्ञश्चरपुरुषेण प्रोक्तं सर्वं विशेषतः ॥१५२
आकारितः पुनः पृष्टो मालाकारोऽपि तेन सः । प्रभाते तेन तत्सर्वं तस्य सत्यं निरूपितम् ॥१५३
तेन पुत्रेण किं साध्यं जीवघातं करोति यः । आज्ञामुल्लङ्घ्यते राज्ञा प्रोक्तं चेति विचार्य वै ॥१५४
यमाख्य तलवर त्वं नवखण्डं प्रकारय । शीघ्रं बलकुमारं मे रुष्टेन मांसभक्षकम् ॥१५५
ततस्तं मारणस्थाने नीत्वा भृत्याश्च प्रेषिताः । आनेतुं यमपालाख्यं मातङ्गं तेन तत्क्षणम् ॥१५६
दृष्ट्वा तेनैव तानुक्तं प्रिये त्वं सुनिरूपय । एतेषां सोऽद्य मातङ्गो गतो ग्रामं सुनिश्चितम् ॥१५७
इत्युक्त्वा गृहकोणे तां प्रच्छन्नः स स्वयं स्थितः । आगत्याकारितं तैश्च मातङ्गस्तलरक्षकैः ॥१५८
मातङ्ग्या कथितं तेषां सोऽद्य ग्रामं गतो ध्रुवम् । तैरुक्तं हि पापोऽयं पुण्यहीनः कुतो गतः ॥१५९
कुमारमारणे तस्य वस्त्राभरणमण्डिते । बहुरत्नसुवर्णादिलाभो भवति निश्चितम् ॥१६०
तेषां वचनमाकर्ण्य तया मातङ्गभार्यया । द्रव्यादिलुब्धया सोऽपि दर्शितो हस्तसंज्ञया ॥१६१
भणन्त्या मायया ग्रामं गतश्चेति पुनः पुनः । ततो निस्सारितो गेहाद्धठात्तूर्णं स तैः स्वयम् ॥१६२
मारणार्थं कुमारस्तैः स तस्यापि समर्पितः । तेनोक्तं नाहमद्यैव जीवघातं करोमि भो ॥१६३
तैरुक्तमद्य घस्रे त्वं कुमारं हंसि किं न भो । चतुर्दशीदिने प्राह ध्रुवं स नियमोऽस्ति मे ॥१६४
ततस्तूर्णं तलारैः स नीत्वा राज्ञो निरूपितः । देवायं तव पुत्रं तं नैव मारयति स्फुटम् ॥१६५

स्त्रीसे कही थी, क्योंकि उसने उस राजकुमारका सब कृत्य देख ही लिया था ॥१५१॥ राजाके किसी गुप्तचरने कानोंको दुःख देनेवाली वह सब बात सुन ली और जाकर राजाको सब हाल ज्योंका त्यों सुना दिया ॥१५२॥ सबेरा होते ही राजाने मालीको बुलाकर पूछा। उसने महाराजसे सब बात ज्योंकी त्यों यथार्थ कह दी ॥१५३॥

महाराजने विचार किया कि ऐसे पुत्रसे क्या लाभ है जो जीव घात करे और राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करे। यही विचारकर उसने यमपाल चाण्डालको आज्ञा दी कि वह मांसभक्षक राजकुमार बलको मार डाले ॥१५४–१५५॥ तदनन्तर वह राजकुमार वधस्थानमें पहुँचाया गया और उसी समय यमपाल चाण्डालको बुलानेके लिये सेवक लोग भेज दिये गये ॥१५६॥ कोतवालके सिपाहियोंको आते हुए देखकर चाडालने अपनी स्त्रीसे कहा कि 'हे प्रिये ! ये आनेवाले मुझे पूछें तो कह देना कि आज वह गाँवको गया है।' इस प्रकार अपनी स्त्रीको समझाकर वह घरके एक कोनेमें छिप गया। उन सिपाहियोंने आते ही पूछा कि चाडाल कहाँ है ? इसके उत्तरमें उसकी स्त्रीने उत्तर दिया कि आज वह गाँवको गया है। चाडालीका यह उत्तर सुनकर सिपाहियोंने कहा कि 'छी छी वह बड़ा पापी है और बहुत ही पुण्यहीन है। अरे ! आज वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित राजकुमार मारा जायगा इसलिये आज अनेक रत्न, बहुतसा सोना तथा और भी बहुतसी प्राप्ति होगी ॥१५७–६०॥ उन सिपाहियोंकी यह बात सुनकर वह चांडाली अपने लोभको न दबा सकी और उस चांडालके डरसे उसने मुँहसे तो कपटपूर्वक यही कह दिया कि 'वह आज तो गाँवको ही गया है, परन्तु उसने हाथके इशारेसे चांडालको दिखला दिया। इसके बाद उन सिपाहियोंने उस चांडालको बलात्कार घरसे निकाला और मारनेके लिये कुमार उसको सौंपा, परन्तु उस चांडालने कहा कि मैं आज जीवघात कभी नहीं कर सकता ॥१६१–६३॥ इसके उत्तरमें कोतवालने कहा कि इस कुमारको मारनेकी राजाकी आज्ञा है इसलिये तू इसे मार। तब चांडालने कहा कि आज चतुर्दशीका दिन है, आजके दिन मेरे जीवोंके न मारनेका नियम है ॥१६४॥ यह सुनकर कोतवाल बहुत ही शीघ्र उस चांडालको राजाके पास ले गया और महाराजसे प्रार्थना

राजा ब्रूते हि मातङ्ग त्वं पुत्रं हंसि किम्न वै। तेनोक्तं शृणु भो देव! काञ्चिन्मम कथां वराम् ॥१६६
एकदा सर्पदंष्टोऽहं मूच्छितो बान्धवादिभिः। स्मशाने परिनिक्षिप्तो नीत्वा च मृतकं यथा ॥१६७
तत्सर्वौषधर्द्धिमुनेः शरीरस्पर्शिवायुना। त्यक्तदेहस्य तत्रैव जीवितोऽहं शुभोदयात् ॥१६८
पार्श्वे तस्य मुनीन्द्रस्य गृहीतं हि मया व्रतम्। चतुर्दशीदिने सारे सर्वजीवाभयप्रदम् ॥१६९
अतो देव! तमद्याहं मारयामि न निश्चितम्। स्वर्गमुक्तिसुखायैव पूर्वपापाविशान्तये ॥१७०
व्रतमस्पृश्यचाण्डालस्यापि सारं कथं भवेत्। इति संचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा प्रोक्तं विरूपकम् ॥१७१
एतयोश्चण्डकर्म त्वं बन्धयित्वा विबन्धनैः। शिशुमारहृदे नीत्वा निक्षेपं कुरु दुष्टयोः ॥१७२
वरं प्राणपरित्यागो न च भङ्क्तुं क्वचिद्व्रतम्। व्रतभङ्गोऽतिदुःखाय प्राणाः सन्ति भवे भवे ॥१७३
जीवितव्यं भवेद् यत्र व्रतं त्यक्त्वातिदुर्लभम्। तेन मे पूर्यतामद्य प्राणान्ते न जहामि तत् ॥१७४
इति निश्चित्य चित्ते स धीरः सद्व्रततत्परः। त्यक्तप्राणःपरित्यक्तभयः सिंह इव स्थितः ॥१७५
तेन निक्षिपितौ शीघ्रं दृढबन्धनबन्धितौ। मातङ्गव्रतमाहात्म्यदागता जलदेवता ॥१७६
तया च जलमध्येऽपि कृतं सन्मणिमण्डपम्। सिंहासनं महाप्रातिहार्यं सदुन्दुभिस्वनम् ॥१७७
जयात्र भो सन्मातङ्ग साधु साधु त्वमेव हि। धन्योऽसीति तया तस्य कृता व्रतप्रभावना ॥१७८

की कि हे महाराज! यह चांडाल कुमारको आपका पुत्र समझकर नहीं मारता है ॥१६५॥ राजाने उस चांडालसे पूछा कि तू इस कुमारको क्यों नहीं मारता है? तब चांडालने कहा कि हे प्रभो! मेरी एक छोटी-सी कथा सुन लीजिये ॥१६६॥ 'किसी एक दिन मुझे सर्पने काट लिया था और मैं उसके विषसे मूर्छित हो गया था, तब मेरे भाई बन्धु आदि कुटुम्बियोंने मुझे मरा समझकर स्मशानमें लाकर पटक दिया था ॥१६७॥ वहाँपर एक सर्वौषधि ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनिराज विराजमान थे, उनके शरीरको स्पर्श करनेवाली वायु मेरे शरीरपर लगी और शुभ कर्मके उदयसे मै जीवित हो गया ॥१६८॥ जीवित होते ही मैने परमोपकार करनेवाले उन मुनिराजसे व्रत लिया था कि मै चतुर्दशीके दिन किसीकी हिंसा नही करूँगा। इसीलिये हे देव! स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये और पर्वके दिनोंमें समस्त पापोंको शान्त करनेके लिये आज मै उसे कभी नहीं मारूँगा' ॥१६९-७०॥ राजाने सोचा कि यह अस्पृश्य चांडाल है इसके ऐसा उत्तम व्रत कहाँसे हो सकता है' यही सोचकर राजाने कड़े शब्दोंमें कहा कि 'हे कोतवाल! ये दोनों ही दुष्ट हैं इसलिये इन दोनोको रस्सी आदिसे खूब अच्छी तरह बाँधकर शिशुमार नामके भयंकर सरोवरमें पटक दो! ॥१७१-१७२॥ राजाको यह आज्ञा सुनकर वह चांडाल विचार करने लगा कि 'प्राणोंका त्याग कर देना अच्छा, परन्तु व्रतका भंग करना अच्छा नहीं, क्योंकि व्रत भंग करनेसे जन्म जन्ममें दुःख प्राप्त होते हैं और प्राण तो प्रत्येक भवमें प्राप्त होते रहते हैं। व्रतकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसे प्राप्त हुए व्रतको छोड़कर जीवित रहनेसे क्या लाभ है? इसलिये प्राण भले ही चले जाओ, परन्तु मै अपने व्रतको कभी नही छोड़ सकता।' हृदयमे ऐसा निश्चयकर वह धीर वीर चांडाल अपने व्रत पालनेमें तत्पर बना रहा और अपने प्राणोका भय छोड़कर सिंहके समान निर्भय बना रहा ॥७३-७६॥ तदनन्तर उस कोतवालने उन दोनोंको अच्छी तरह बाँधकर उस सरोवरमें पटक दिया। चांडाल अपने व्रतमें अचल रहा था इसलिये उसके व्रतके माहात्म्यसे उसी समय जलकी देवी आई। आते ही उसने उसके मध्यमें ही एक मणियोंका मंडप बनाया। उसमें एक सिंहासनपर चांडालको विराजमान किया, दुंदुभी बाजे बजाये, प्रातिहार्य बनाये और पुकारकर कहा कि 'हे चांडाल! तेरी जय हो, तू संसारमें बहुत अच्छा है, बहुत

तं प्रातिशयमाकर्ण्य स्वं विनिन्द्य मुहुर्मुहुः । भयकम्पितसर्वाङ्गः स्वयं तत्रागतो नृपः ॥१७९
प्रशंस्य पूजयित्वा च विशिष्टस्तेन सत्कृतः । संस्पृश्य स्नापयित्वा च निजछत्रतले स्वयम् ॥१८०
एवं चाविव्रतेनैव मातङ्गोऽपि दिवं गतः । अमुत्रात्र परिप्राप्य पूजां राज्ञा सुरेण सः ॥१८१
यो भव्यः सत्कुलोत्पन्नो धत्ते जीवदयाव्रतम् । मनोवाक्काययोगेन फलं तस्य न वेद्म्यहम् ॥१८२

नृपजनसुरपूज्यो धीरवीरैकचित्तो, धृतप्रथमव्रतो यः कीर्तिलाभादिसारम् ।
अमलमिह समस्तं प्राप्य स्वर्गं गतो ना स जयतु यमपालो नाम मातङ्गसिंहः ॥१८३

अहिंसाव्रतसारस्य प्रतिपाद्य फलं तव । वक्ष्येऽहं शृणु भो वत्स दोषं जीवदयां विना ॥१८४
कृपां विना धनश्रीर्या प्राप्ताद् दुःखपरम्पराम् । कथां तस्या हि वक्ष्यामि भव्यलोकभयप्रदाम् ॥१८५
लाटदेशेऽतिविख्याते भृगुकक्षाख्यपत्तने । लोकपालनृपः श्रीमान् बभूव पुण्ययोगतः ॥१८६
वणिक् स्याद्धनपालोऽत्र धनश्रीस्तस्य वल्लभाः । तयोश्च सुन्दरी पुत्री गुणपालाभिधः सुतः ॥१८७
पूर्वं धनश्रिया योऽपि पुत्रबुद्ध्याऽतिपोषितः । मोहेन पुत्रकालेऽपि कुण्डलाख्योऽतिबालकः ॥१८८
धनपाले मृते पश्चात्तेनैव सह रूपिणा । करोति कामक्रीडां सा दुष्टाचारैकमानसा ॥१८९
गुणपालेन तज्ज्ञातं अम्बायाश्चेष्टितं ध्रुवम् । प्रोक्तं धनश्रिया जारं प्रतिशङ्कितया स्वयम् ॥१९०
रे कुण्डल ! प्रभातेऽहं चारयितुं स्वगोधनम् । अटव्यां प्रेषयामि त्वं गुणपालं हि मारय ॥१९१

उत्तम है और तू ही धन्य है' इस प्रकार उस देवीने उस चांडालके व्रतकी बड़ी प्रभावना की ॥१७७–१७८॥ उस अतिशयको सुनकर राजा भी दौडता आया, भयसे उसका सब शरीर कंपने लगा और उसने बार बार अपनी निन्दा की ॥१७९॥ राजाने आते ही उसकी प्रशंसा की, पूजा की, वस्त्राभूषणोंसे उसका सत्कार किया और अपने छत्रके नीचे बिठाकर स्वयं उसे स्नान कराया ॥१८०॥ इस प्रकार वह चांडाल केवल अहिंसा व्रतके माहात्म्यसे राजाके द्वारा पूज्य हुआ, और देवोंके द्वारा पूज्य हुआ तथा मरकर स्वर्गमें देव हुआ ॥८१॥ इस अहिंसा व्रतके प्रभावसे जब एक चांडालने इतना फल पाया तब फिर श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ भव्य पुरुष, मन वचन कायसे जीवोंकी दया पालन करता है, अहिंसाव्रतको धारण करता है उसके फलको हम जान भी नहीं सकते ॥१८२॥ देखो धीर वीर सिंहके समान निर्भय यमपाल चाडालने एकाग्रचित्तसे प्रथम अहिंसा व्रतका पालन किया था इसलिये वह राजा और देवोंके द्वारा पूज्य हुआ, संसारमें उसकी निर्मल कीर्ति हुई और सब तरहकी महिमाको पाकर अन्तमें स्वर्गका देव हुआ । इसलिये यह अहिंसाव्रत सबको पालन करना चाहिये ॥१८३॥ हे वत्स ! इस प्रकार तुझे सर्वोत्तम अहिंसाव्रतका फल बतलाया । अब आगे विना दयाके जो दोष होते है उन्हें कहता हूँ तू सुन ॥१८४॥ विना दयाके धनश्रीने बहुत दिनोंतक अपार दुःख पाया था इसलिये भव्य जीवोंको उस निर्दयताके पापसे भय उत्पन्न करनेवाली उसकी कथा कहता हूँ ॥१८५॥ लाट देशके भृगुकक्ष नामके नगरमें पुण्य-कर्मके उदयसे श्रीमान् राजा लोकपाल राज्य करता था ॥१८६॥ उसी नगरमें एक धनपाल नामका वैश्य रहता था । उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था । उन दोनोंके सुन्दरी नामकी पुत्री थी और गुणपाल नामका एक पुत्र था ॥१८७॥ पहिले किसी समय धनश्रीने एक कुंडल नामके बालकको पुत्र समझकर पाला था और उसपर उसका बहुत मोह था ॥१८८॥ परन्तु धनपालके मरनेपर वह दुराचारिणी धनश्री उसी कुंडलके साथ कामक्रीड़ा करने लगी ॥१८९॥ धनश्रीके पुत्र गुणपालने अपनी माताका यह सब दुराचार जान लिया इसलिये धनश्रीको उससे कुछ डर लगा और उसने कुण्डल से कहा कि 'हे कुण्डल ! मैं सबेरे ही गुणपालको गायें चरानेके लिये जंगलमें भेजूँगी सो तू वहाँ

येनावयोरेकस्थानं भवत्येव निरङ्कुशम् । ब्रुवाणं मातरं श्रुत्वा जगौ तत्सुन्दरी स्वयम् ॥१९२
हे बान्धवाद्य ग्रामेऽपि पश्चिमे निशि गोधनम् । गृहीत्वा प्रेषयित्वा च माता त्वां मारयिष्यति ॥१९३
अटव्यां कुण्डलस्यैव हस्तेन कूटयोगतः । अतस्तत्राधुना त्वं हि सावधानो भव स्वयम् ॥१९४
यामे धनश्रिया रात्रौ पश्चिमे भणितोऽङ्गजः । हे पुत्र ! कुण्डस्याङ्गं वर्ततेऽति विरूपकम् ॥१९५
अतो व्रज गृहीत्वा त्वं गोधनं प्रसरे स्वयम् । तस्या वचनतस्तेन तत्र नीतं तदेव हि ॥१९६
काष्ठं पिधाय वस्त्रेण भूत्वा तत्र तिरोहितः । स्थितोऽन्वेषयितुं मातुश्चेष्टितं सोऽतिमूढतः ॥१९७
आगत्य कुण्डलेनैव कृतो घातोऽसिना स्वयम् । मत्वेति गुणपालं तत् काष्ठे सद्वस्त्रकम्पिते ॥१९८
ततोऽघाद्गुणपालेन मारितः सोऽतिदुष्टधीः । खड्गेनैव पुनः गेहमागतः स्वयमेव सः ॥१९९
ततो धनश्रिया पृष्टो गुणपालः क्व कुण्डलः । तेनोक्तं तस्य वार्तां मे खड्गो जानाति तत्त्वतः ॥२००
ततो रक्तसमालिप्तं खड्गमालोक्य कोपतः । तया तेनैव खड्गेन हतः पुत्रो दयां विना ॥२०१
दृष्ट्वा तां मारयन्तीं स्वस्याम्बां बान्धवस्नेहतः । हता सा मुशलेनैव सुन्दर्याः पापयोगतः ॥२०२
पश्चात्कोलाहले जाते कोटवालैरघोदयात् । राज्ञोऽग्रे सा समानीता धनश्रीः बान्धवैः समम् ॥२०३
वृत्तान्तं सर्वमाकर्ण्य राज्ञा पुत्रीमुखात्स्वयम् । दत्तो दण्डो महाघोरः कोपादस्याः महाशुभ ॥२०४
तत्कर्णनासिकाछेदगर्दभारोहणादिकम् । तत्कालार्जितपापस्य प्रोदयेन कुदुःखदः ॥२०५
अनुभूय महाघोरं तत्सर्वं दुःखमञ्जसा । दुर्गतिं दुःखसङ्कीर्णां दुष्टध्यानेन सा गता ॥२०६

जाकर गुणपालको मार आना। गुणपालके मारनेसे फिर हमारे तुम्हारे एक स्थानपर रहनेमें कोई बाधा नहीं होगी।' धनश्रीकी यह बात सुन्दरीने भी सुन ली और उसने उसी समय अपने भाई गुणपालसे कहा कि भाई माता आज तुझे गाय चरानेको भेजेगी और कुण्डलके हाथसे तुझे मरवावेगी। वह ये सब बातें रातमें कुण्डलसे कह रही थी इसलिये तू खूब सावधान रहना ॥१९०–१९४॥ सवेरा होते ही धनश्रीने गुणपालसे कहा कि हे पुत्र आज कुण्डलका शरीर ठीक नहीं है इसलिये आज जंगलमें जाकर गायोंको तू ही चरा ला। माताकी यह बात सुनकर गुणपाल सब गायोंको लेकर जंगलमें चला गया ॥१९५–१९६॥ वहाँ जाकर उसने अपने सब कपड़े एक लकुडीको पहिनाये। उसे सोती हुई बनाकर ऊपरसे वस्त्र उढाकर आप छिप गया और दूरसे ही माताकी चेष्टा देखने लगा ॥१९७॥ कुण्डल आया, उसने कपड़ोंसे गुणपाल समझकर तलवारका वार किया। गुणपाल यह सब कृत्य देख ही रहा था इसलिये वह झट निकल आया और तलवारसे कुण्डलको मारकर स्वयं घर आ गया ॥१९८–१९९॥ गुणपालके घर आते ही धनश्रीने उससे पूछा कि कुण्डल कहाँ है? इसके उत्तरमें गुणपालने कहा कि उसकी बात मेरी तलवार जानती है ॥२००॥ धनश्रीने देखा कि गुणपालकी तलवार रक्तसे लाल हो रही है तब उसे बड़ा क्रोध आया और उसने उसी तलवारसे विना किसी दयाके गुणपालको मार डाला ॥२०१॥ गुणपालको मारते हुए देखकर सुन्दरीको भी भाईका स्नेह उमड़ आया और धनश्रीके पाप कर्मके उदयसे सुन्दरीने भी मूसलोंसे धनश्रीको खूब मारा ॥२०२॥ पीछे बहुत कोलाहल हो गया, कोतवाल भी आ गया और वह उसे बाँधकर सब कुटुम्बियोंके साथ राजाके सामने ले आया ॥२०३॥

राजाने सुन्दरीके मुखसे सब बातें सुनीं और क्रोधित हो उसने बहुत ही बुरा और बहुत ही कठोर दण्ड दिया ॥२०४॥ उसके नाक कान कटाकर काला मुँहकर गधेपर चढ़ाकर उसे शहरमें घुमाया। इस प्रकार उसी समय उपार्जन किये हुए पापकर्मके उदयसे राजाके द्वारा दिये हुए महा

इति घोरतरं दुःखं इहामुत्रापि निन्दितम् । हिंसादोषेण संप्राप्ता धनश्रीर्दुष्टचेष्टया ।।२०७
अन्येऽपि बहवः श्वभ्रं गता ये नारदादयः । हिंसानुरागतस्तेषां कथां को गदितुं क्षमः ।।२०८

अशुभसकलपूर्णां दुर्गतिं दुःखदीप्तां, दुरितधनप्रसङ्गां जीवहिंसादियोगात् ।
अतिकुचरणदोषात् सा धनश्रीर्गता त्वं, त्यज सकलवधं भो दुःखभीतो यदि त्वम् ।।२०९

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अष्टमूलगुण-सप्तव्यसन-प्रथमहिंसा-विरतिव्रतसमागत-मातङ्गधनश्रीकथाप्ररूपको नाम द्वादशमः परिच्छेदः ।।१२।।

●

घोर सब दुःखोंका अनुभव कर वह दुष्ट धनश्री अनेक दुःखोंसे भरी हुई दुर्गतिमें जा उत्पन्न हुई ।।२०५-२०६।। इस प्रकार धनश्रीने अपनी दुष्ट चेष्टासे और हिंसा नामके महा पापसे इस लोकमें भी घोर दुःख पाया और परलोकमें भी उसे अत्यन्त निंद्य गतिमें जन्म लेना पड़ा ।।२०७।। नारद आदि और भी ऐसे बहुतसे मनुष्य हुए हैं जो हिंसामें प्रेम रखनेके कारण नरकमें गये हैं उन सबकी कथा कहना भी सामर्थ्यसे बाहर है ।।२०८।। देखो धनश्रीने निडर होकर जीवहिंसाकी थी और दुराचरण किया था इसलिये उस पापके फलसे उसे अनेक दुःखोंसे भरी हुई और समस्त अनिष्ट संयोगसे परिपूर्ण ऐसी दुर्गतियोंमें जन्म लेना पड़ा था। इसलिये हे भव्य ! यदि तू दुःखोंसे डरता है तो तू भी सब तरहकी हिंसाका त्याग कर ।।२०९।।

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें आठ मूलगुण, सात व्यसन और अहिंसाव्रतको निरूपण करनेवाला तथा यमपाल चाडाल और धनश्रीकी कथाको कहनेवाला यह बारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ।।१२।।

●

तेरहवाँ परिच्छेद

विमलं विमलं वन्दे विमलेश्वरवन्दितम् । नष्टकर्ममलं देवं पापदुर्मलहानये ॥१
अहिंसाव्रतमाख्याय सत्यसंज्ञं व्रतं परम् । सर्वलोकहितार्थं च वक्ष्ये तद्व्रतसिद्धये ॥२
अहिंसाव्रतरक्षार्थं द्वितीयं सद्व्रतं जिनैः । कीर्तितं गृहिणां सारं भाषासमितिसंयुतम् ॥३
ये वदन्ति न च स्थूलमलीकं वादयन्ति न । परैर्न चानुमन्यन्ते तेषां सत्यव्रतं भवेत् ॥४
हितं ब्रूयान्मितं ब्रूयाद् ब्रूयात्सन्मधुरं वचः । बुधो निन्दादिसंत्यक्तं सर्वसत्त्वसुखप्रदम् ॥५
हितं स्वस्य भवेद् यत्तद् वचनं धर्मकारणम् । यशःप्रदं च पापादित्यक्तं त्वं वद सर्वदा ॥६
परस्यापि हितं सारं रागद्वेषादिवर्जितम् । वक्तव्यं च वचो नित्यं धर्मसंवेगदं बुधैः ॥७
आगमोक्तमनिन्द्यं च विकथादिपराङ्मुखम् । धर्मोपदेशनायुक्तं वदन्ति सद्वचो बुधाः ॥८
हितमुद्दिश्य यत्किंचिदुक्तं भो कठिनं वचः । असत्यं वा परस्यापि तत्सत्यं गदितं जिनैः ॥९
परपीडाकरं यत्तद्वचः सत्कर्णदुःखदम् । वधबन्धादिकं सत्यमसत्यं गदितं जिनैः ॥१०
सारसत्यामृतादङ्गी यशः पूजादिकं भजेत् । सद्धर्मादिमसत्येन वधबन्धादिकं च भो ॥११
सति सत्यामृते पूज्ये हिते सर्वसुखाकरे । अलीकं कटुकं निन्द्यं वचनं को वदेत् सुधीः ॥१२

जिनकी आत्मा अत्यन्त निर्मल है, जिन्होंने समस्त कर्मोंको नष्ट कर दिया है, और गणधरादि निर्मल पुरुष भी जिन्हें वन्दना करते है ऐसे श्री विमलनाथ भगवान्‌को मैं अपने पापकर्मोंको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ऊपरके परिच्छेदमें अहिंसाव्रतका निरूपण किया। अब आगे समस्त जीवोंका हित करनेके लिये और श्रेष्ठ व्रतोंकी सिद्धिके लिये उत्तम सत्य व्रतको कहता हूँ ॥२॥ सज्जन पुरुषोंने अहिसा व्रतकी रक्षा करनेके लिये ही सत्यव्रतका निरूपण किया है। यह व्रत गृहस्थोंके लिये सारभूत व्रत है और भाषासमितिसे परिपूर्ण है ॥३॥ जो न तो स्थूल झूठ स्वयं बोलते है न दूसरोंसे बुलवाते है और न किसीके द्वारा बोले हुए झूठकी अनुमोदना करते हैं उनके यह सत्यव्रत होता है ॥४॥ विद्वान् गृहस्थोंको सबका हित करनेवाला, थोड़ा और मधुर वचन कहना चाहिये, किसीकी निन्दा नही करनी चाहिये और सब जीवोंको सुख देनेवाले वचन कहने चाहिये ॥५॥ हे भव्य ! तू सदा ऐसे वचन कह जिनसे अपने आत्माका कल्याण हो, जो धर्मके कारण हों, यश देनेवाले हों, और पापोंसे सर्वथा रहित हों ॥६॥ विद्वान् लोगोंको अन्य जीवोंका हित करनेवाले, राग-द्वेषसे रहित, सारभूत और धर्म वा संवेगको बढ़ानेवाले वचन ही सदा कहने चाहिये ॥७॥ विद्वान् लोग सदा आगमके अनुसार, अनिन्द्य, विकथादिसे रहित, धर्मोपदेशसे भरे हुए ही वचन कहते है ॥८॥ जो दूसरोके हितके लिये कुछ कठिन वाक्य भी कहे जाते हैं अथवा दूसरोंकी रक्षा वा हितके लिये असत्य भी कहा जाता है वह सब भगवान् जिनेन्द्रदेवने सत्य ही बतलाया है ॥९॥ जो दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेवाले हों, कानोंको दुःख देनेवाले हों, और जीवोंका बध वा बन्धन करनेवाले हों ऐसे सत्य बचनोंको भी विद्वान् लोग असत्य ही कहते हैं ॥१०॥ सत्यरूपी सारभूत अमृत वचनोंसे जीवोंको यश प्राप्त होता है, प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और धर्मकी प्राप्ति होती है और असत्य वचनोंसे वध बन्धन आदि अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं ॥११॥ इस संसारमें जब सब जीवोंको सुख देनेवाले, सबका हित करनेवाले, और पूज्य

सत्यसीमाविमुक्तस्य वाऽसत्यरहितस्य वै । अग्निसर्पादयो नैव पीडां कुर्वन्ति केचन ॥१३
सत्येन वचसा प्राणी पूजनीयो भवेद् ध्रुवम् । नरैर्देवैरिहामुत्र स्वर्ग-मुक्त्यादिकं श्रयेत् ॥१४
कर्कशं निष्ठुरं निन्द्यं पापाढ्यं मर्मसूचकम् । दूतकर्मकरं त्यक्तधर्मं चापरकोपदम् ॥१५
कटुकं परनिन्दादियुक्तं गर्वादिकारणम् । सरागं शोकसम्पन्नं सर्वजीवभयप्रदम् ॥१६
हास्यादिप्रेरकं कामकारणं मुनिदूषितम् । असत्यं दुःखदं त्यक्तविचारं शास्त्रदूरगम् ॥१७
आत्मगुणप्रशंसादिकरं मूढप्रतारकम् । धर्मदेशविरुद्धं च कृत्स्नक्लेशादिसागरम् ॥१८
विकथादिकरं सर्वनीचलोकोदितं वचः । त्यज त्वं सर्वथा मित्र प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥१९
असत्यवचनाल्लीको वराको व्याकुलीकृतः । रचयित्वा कुशास्त्रं भो खलैर्धर्मपराङ्मुखैः ॥२०
मृषावादेन लोकोऽयं धूर्तैः स्वपरवञ्चकैः । धर्ममार्गात्सुद्रव्यार्थमुत्पथे पतितो हठात् ॥२१
जैनशासनमध्ये च बाह्ये श्रीजिनशासनात् । असत्यबलतो नूनं जाताः सर्वे मतान्तराः ॥२२
असद्वदनवल्लोके जिह्वाख्या सर्पिणी स्थिता । असत्यकुविषास्येन खादत्येव बहून् जनान् ॥२३
अमेध्यभक्षणं श्रेष्ठं न च वक्तुं स्वजिह्वया । हिंसाकरं मृषावादं दुःखपापाकरं नृणाम् ॥२४
असत्यसदृशं पापं न भूतं न भविष्यति । नास्ति लोकत्रये तस्मात्त्यज त्वं हि विषादिवत् ॥२५

ऐसे सत्यरूपी अमृत वचन उपस्थित हैं फिर भला ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो निंद्य, कठोर और झूठ वचनोंको कहे ॥१२॥ जो पुरुष सदा वचनोंकी सीमामें ही रहता है कभी असत्य नहीं बोलता, उसे अग्नि सर्प आदि कोई भी पीड़ा नहीं दे सकते ॥१३॥ सत्य वचनोंके ही कारण यह प्राणी इस संसारमें देव और मनुष्योंके द्वारा पूज्य होता है तथा परलोकमें स्वर्ग मोक्षादिक सुख प्राप्त करता है ॥१४॥ जो वाक्य कर्कश हों, कठोर हों, निंद्य हों, पापमय उपदेशसे परिपूर्ण हों, किसी मर्मको कहनेवाले हों, दूतपनेके कामको करनेवाले हो, धर्मसे रहित हो, दूसरोंको क्रोध उत्पन्न करनेवाले हों, कड़वे हों, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले हों, अभिमान प्रगट करनेवाले हों, राग उत्पन्न करनेवाले हों, शोक करनेवाले हों, समस्त जीवोंको भय उत्पन्न करनेवाले हों, हँसी करनेवाले हों, कामोद्रेक उत्पन्न करनेवाले हों, मुनियोंमे दोष लगानेवाले हो, असत्य हो, दुख देनेवाले हों, विचार-रहित हों, शास्त्रोंसे विरुद्ध हों, अपने गुणोंकी प्रशंसा करनेवाले हों, मूर्ख लोगोंको ठगनेवाले हों, धर्म-विरुद्ध हों, देश-विरुद्ध हों, कृष्णलेश्या आदिमें डुबानेवाले हों, विकथा आदिको सूचित करनेवाले हों, और नीच लोगोंके द्वारा कहने योग्य हों, हे मित्र ! ऐसे वचन कंठगत प्राण होनेपर भी नहीं कहने चाहिये । तू ऐसे वचनोंका सर्वथा त्याग कर ॥१५–१९॥ असत्य वचन कह कह कर ही दुष्ट पुरुषोंने अनेक कुशास्त्र रचकर लोगोंको व्याकुल और धर्मसे पराङ्मुख कर दिया है ॥२०॥ झूठ बोल बोल कर ही अपने आत्माको तथा अन्य लोगोंको ठगनेवाले और धर्म मार्गसे ही द्रव्य कमाने-वाले धूर्तोंने हठपूर्वक अनेक कुशास्त्रोंको रचा है ॥२१॥ असत्य वचनोंके प्रभावसे ही जिनशासनके भीतर और जिनशासनके बाहर अनेक मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये है ॥२२॥ नीच मुखरूपी बामीमें जिह्वारूपी सर्पिणी रहती है वह असत्यरूपी हलाहल विषसे भरे हुए मुखसे अनेक लोगोंको खा डालती है ॥२३॥ विष्टा भक्षण कर लेना अच्छा, परन्तु अपनी जिह्वासे हिंसा करनेवाले, पाप और दुःख उत्पन्न करनेवाले झूठ वचन कहना कभी अच्छा नहीं ॥२४॥ इन तीनों लोकोंमें असत्य वचनोंके समान अन्य कोई पाप न आज तक हुआ है और न हो सकता है इसलिये हे मित्र ! विषैले सर्पके समान शीघ्र ही तू इसका त्याग कर ॥२५॥ इस असत्य वचनके फलसे ही लोग गूँगे,

नृणां मूकबधिरार्हंमुपरोगादिसञ्चयम् । दुःस्वरत्वं च मूर्खत्वं जायतेऽनृतभाषणात् ॥२६
ज्ञानं विद्यां विवेकं च सुस्वरत्वं वचः पटुम् । वाग्मित्वं सुकवित्वं च सत्याज्जीवा भजन्त्यहो ॥२७
अतिचारविनिर्मुक्तं सत्याख्यं यो व्रतं चरेत् । नाकराज्यादिकं प्राप्य मुक्तिनाथो भवेत्स ना ॥२८
भो भगवन्नतीचारान् दयां कृत्वा प्ररूपय । व्रतशुद्धयर्थमत्रैव सत्यव्रतमलप्रदान् ॥२९
कृत्वा स्वहृदयं वत्स सङ्कल्पादिविवर्जितम् । शृणु तेऽहं प्रवक्ष्यामि व्यतीचारान् व्रतस्य भो ॥३०
आद्यो मिथ्योपदेशश्च रहोभ्याख्यानसंज्ञकः । कूटलेखक्रिया न्यासापहारश्च भवेत्ततः ॥३१
साकारमन्त्रभेदश्च व्यतीचाराः भवन्त्यमी । पञ्चैवाप्यनृतत्यागव्रतस्य दोषदायकाः ॥३२
कार्यमुद्दिश्य योऽसत्य उपदेशो हि दीयते । परस्य द्रव्यलाभार्थं स स्यादाद्यो व्यतिक्रमः ॥३३
अनुष्ठितं च प्रच्छन्नं स्त्री-भर्तृभ्यां प्रकाश्यते । प्राप्य लोकजनैर्यत्तद् रहोभ्याख्यानमुच्यते ॥३४
परस्य वञ्चनार्थं यः कूटलेखादिकं लिखेत् । कूटलेखक्रिया नाम्ना भवेत्तस्य व्यतिक्रमः ॥३५
न्यासात्स्वामिनो योऽपि धनं स्वल्पं ददाति भो । अतिचारो भवेत्तस्य स्तोकमाहृत्य तत्स्वयम् ॥३६
गृहीत्वा परमर्थं यः प्रपञ्चेनापि चेष्टया । प्रकाशयति लोकाग्रे व्यतिचारं लभेत् सः ॥३७
एतद्दोषपरित्यक्तं सूनृतं यो वदेद्वचः । स एनः संवरं प्राप्य नाकं यति क्रमात् शिवम् ॥३८

बधिरकुगतिहेतुं मूकरोगादिबीजं, नरकगृहप्रवेशं स्वर्गमोक्षैकशत्रुम् ।
इहपरभवदुःखं पापसन्तापबीजं, त्यज सकलमसत्यं त्वं सदा मुक्तिहेतोः ॥३९

बहिरे होते हैं, उनके मुँहमें अनेक रोग हो जाते हैं, उनका स्वर बुरा होता है और वे मूर्ख होते हैं ॥२६॥ इसी प्रकार सत्य वचनके फलसे ज्ञान बढ़ता है, विद्या बढ़ती है, विवेक बढ़ता है, अच्छा मीठा स्वर होता है, वचनकी चतुरता आती है, सभाको जीतनेवाला वादी होता है और अच्छा कवि होता है ॥२७॥ जो मनुष्य इस सत्यव्रतको अतीचार-रहित पालन करता है वह स्वर्गादिकके तथा राज्यादिकके सुख भोगकर अन्तमें मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी होता है ॥२८॥

प्रश्न—हे भगवन् ! इस व्रतको शुद्ध पालन करनेके लिये इस सत्य व्रतमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतिचारोंको कृपाकर कहिये ॥२९॥ उत्तर—हे वत्स ! तू हृदयके सब संकल्प-विकल्पों को छोड़कर सुन ! तेरे लिये मै उन अतिचारोंको कहता हूँ ॥३०॥ मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये सत्य व्रतमें दोष लगनेवाले पाँच अतीचार गिने जाते हैं ॥३१-३२॥ जो अपने किसी कार्यकी सिद्धिके लिये अथवा द्रव्य कमानेके लिये झूठा उपदेश दिया जाता है वह मिथ्योपदेश नामका पहिला अतीचार गिना जाता है ॥३३॥ जो किसी द्रव्यके लोभसे अथवा अन्य किसी प्रयोजनसे स्त्री पुरुषोंके द्वारा अथवा अन्य किसीके द्वारा किये हुए छिपे कार्यको प्रगट करता है उसके वह रहोभ्याख्यान (एकान्तमें किये हुए कार्यको प्रगट करना) नामका अतीचार कहलाता है ॥३४॥ जो किसी दूसरेको ठगनेके लिये झूठे लेख लिखता है उसके कूटलेखक्रिया नामका तीसरा अतीचार लगता है ॥३५॥ किसीके धरोहर रक्खे हुए धन मेंसे जो थोड़ा देता है उसमेंसे कुछ रख लेता है उसके न्यासापहार नामका चौथा अतीचार होता है ॥३६॥ जो किसी छल कपटसे अथवा किसीकी चेष्टा देखकर दूसरेके हृदयकी बातको जानकर उसे अन्य लोगोंके सामने प्रकाशित करता है वह साकारमन्त्रभेद नामका पाँचवाँ अतीचार कहलाता है ॥३७॥ जो पुरुष इन अतीचारोंको छोड़कर सत्य भाषण करता है वह स्वर्गादिकके सुख भोगकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है ॥३८॥ संसारमें असत्य वचन अनेक

नरकगृहकपाटं नाकमोक्षैकमित्रं, जिनगणधरसेव्यं सर्वविद्याकरं भो।
स्वपरहितमदोषं जीवहिंसादित्यक्तं, त्वमपि वद सुसारं सत्यवाक्यं सुखाय ॥४०
यः सुधीः स्वर्गमुक्त्यर्थं व्रतं सत्यप्रतिष्ठितम्। धत्ते स पूज्यतां याति चेहैव नृसुरासुरैः ॥४१
सुसत्यव्रतमाहात्म्यात्प्राप्ता पूजेह जन्मनि। प्रभो तस्य कथां सारां स्वदयया समादिश ॥४२
निधाय स्ववशे चित्तं शृणु मित्र ! शुभप्रदाम्। धनदेवभवां वक्ष्ये कथां मुक्त्यै तवाद्य ताम् ॥४३
जम्बूद्वीपे जनाकीर्णे विदेहे पूर्वनामनि। पुष्कलादिवती देशे जैनधर्माकरे वरे ॥४४
नगर्यां पुण्डरीकिण्यां धनदेवो वणिक् भवेत्। सत्यवाद्यपरस्तत्र जिनदेवोऽतिदुष्टधीः ॥४५
अर्द्धमर्द्धं स्वलाभस्य गृहीष्यावो धनम् इति। निःसाक्षिकां च व्यवस्थां तौ कृत्वा देशान्तरं गतौ ॥४६
उपार्ज्य बहुशो द्रव्यं पुण्यकर्मोदयादुभौ। व्याघुटय कुशलेनैव स्वगृहं प्रागतौ चिरात् ॥४७
जिनदेवोऽतिलोभार्थं न दत्ते दुष्टमानसः। स्तोकं स्वं धनदेवाय चौचित्येन ददाति वै ॥४८
ततो झकटिको जातस्तयोस्तत्र परस्परम्। मूढा द्रव्यार्थमेवाहो पापं कुर्वन्ति किं न हि ॥४९
निःसाक्षिकबलाद् ब्रूते जिनदेवोऽतिपापधीः। लोकस्वजनराजादीनामग्रेऽसत्यतत्परः ॥५०
मया नैवास्य लाभार्द्धं सद्रव्यं भणितं तदा। उक्तं तदोचितं तस्मान्नाधिकं प्रददाम्यहम् ॥५१

कुगतियोंके कारण है, गूँगे, बहिरे आदि अनेक रोगोंके बीजभूत हैं, नरकमें प्रवेश करानेवाले हैं, स्वर्गमोक्षके अद्वितीय शत्रु हैं, अनेक कठिन दुःख देनेवाले हैं और पाप-संतापके बीज हैं इसलिये हे मित्र ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ऐसे असत्य बचनोंका सर्वथा त्याग कर ॥३९॥ इसी प्रकार सत्य वचन नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ है, स्वर्ग-मोक्षके मित्र है, श्री जिनेन्द्रदेव और गणधरदेव भी इनकी सेवा करते हैं, ये समस्त विद्याओंके देनेवाले है, अपने आत्माका परम कल्याण करनेवाले हैं, सर्वथा निर्दोष हैं और जीवोंकी हिंसासे सर्वथा रहित हैं इसलिये हे वत्स । आगामी सुख प्राप्त करनेके लिये तू भी ऐसे सारभूत सत्य बचनोंके भाषण करनेका नियम ले ॥४०॥ जो बुद्धिमान् स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सदा प्रतिष्ठित सत्य बचन कहते है वे इस लोकमें ही राजा और देव विद्याधरोंके द्वारा पूज्य गिने जाते हैं ॥४१॥ प्रश्न—हे प्रभो ! इस सत्य व्रतके माहात्म्यसे जिसने इस ससारमें प्रतिष्ठा प्राप्त की है उसकी कथा कृपाकर मुझे सुना दीजिये ॥४२॥ उत्तर—हे मित्र ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कल्याण करने वाली धनदेवकी कथा तुझे सुनाता हूँ ॥४३॥ अनेक मनुष्योंसे भरे हुए इस जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें जैनधर्मसे अत्यन्त शोभायमान एक पुष्कलावती देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरीमें एक धनदेव नामका वैश्य रहता था। वह धनदेव सदा सत्य भाषण ही करता था। उसी नगरीमें एक दुष्ट जिनदेव रहता था ॥४३–४५॥ किसी एक समय धनदेव और जिनदेव दोनों ही व्यापारके लिये देशान्तर गये उन्होंने विना किसी अन्यकी साक्षीके परस्परमें यह तयकर लिया था कि हमारे व्यापारमें जो कुछ लाभ होगा उसे हम दोनों आधा आधा बाँट लेंगे ॥४६॥ वहाँ जाकर उन्होंने पुण्यकर्मके उदयसे बहुतसा द्रव्य कमाया और फिर वे दोनों शीघ्र ही लौटकर कुशलपूर्वक घर आ गये ॥४७॥ जिनदेव दुष्ट था इसलिये घर आनेपर उसने धनदेवको आधा द्रव्य नहीं दिया किन्तु उसे थोड़ासा द्रव्य देना चाहा। इसलिये उन दोनोंमें परस्पर झगड़ा हो गया। सो ठीक ही है क्योंकि मूर्ख लोग धनके लिये क्या क्या पाप नही करते हैं ? अर्थात् सब कुछ करते हैं ॥४८-४९॥ कोई साक्षी तो था ही नहीं, इसलिये झूठ बोलनेवाले पापी जिनदेवने सब लोगोंके सामने, कुटुम्बियों के सामने और राजादिके सामने यही कहा कि मैने इस व्यापारके लाभमेंसे इसे कुछ भी द्रव्य

धनदेवो नृपादीनां स्वजनानां वणिक्विदाम् । वदत्येव स्फुटं सत्यं सत्यव्रतप्रतिष्ठितम् ॥५२
ततो राज्ञा तयोर्दत्तं द्रव्यं वह्निसमुद्भवम् । धनदेवोऽतिशुद्धोऽभूदग्निना नेतरोऽनृतात् ॥५३
अतो हि धनदेवस्य धनं सर्वं समर्पितम् । राज्ञानुपूजितः साधुः कारितो भूतले शुभात् ॥५४
तथा सर्वजनैर्लोकैः संस्तुतोऽभ्यर्चितो नुतः । धनदेवोति विख्यातो जातः सत्यप्रभावतः ॥५५

अमलगुणनिधानो वैश्यपुत्रो धनाढ्यो, नृपतिजनगणैश्च लोकमध्ये स पूज्यः ।
विमलवचनसत्यात् प्राप्त एवात्र ख्यातिं, स जयतु धनदेवः सत्यवादी वरिष्ठः ॥५६

गुणं सत्यवचो जातं श्रुत्वा शिष्यः प्रपृच्छति । भगवन् सत्यवाक्त्यागात्प्राप्तं दुःखं च केन भो ॥५७
शृणु शिष्य प्रवक्ष्येऽहं कृत्वा स्वं निश्चलं मनः । कथां ते सत्यघोषस्य सत्यहीनस्य भीतिदाम् ॥५८
जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन् क्षेत्रे सद्भारताभिधे । जातः सिंहपुरे राजा सिंहसेनो नृपाग्रणीः ॥५९
तद्राज्ञो रामदत्ताख्या जाता तस्य सुखप्रदा । आसीत् क्षुद्रः पुरोधाश्च श्रीभूतिः कपटान्वितः ॥६०
स बद्ध्वा कर्तिकां तीक्ष्णां ब्रह्मसूत्रे परिभ्रमन् । वदत्येवानृतं किंचिद् ब्रवीमि यदि लोभतः ॥६१
तदा कर्तिकया जिह्वाच्छेदं स्वस्य करोम्यहम् । एवं स वर्तते लोके कपटेनैव प्रत्यहम् ॥६२
सत्यघोषाह्वयं तस्य जातं नाम द्वितीयकम् । विश्रुतौ बहवो लोकाः पार्श्वे तस्य धरन्ति स्वम् ॥६३

देना नहीं कहा था इसलिये मैं इसे उचित द्रव्यके सिवाय और कुछ अधिक नही दे सकता ॥५०-५१॥ धनदेव अपने सत्यव्रतमें निश्चल था इसलिये उसने राजा, कुटुम्बी और वैश्योंके सामने परस्परमें तय हुए आधे आधे द्रव्यकी ही बात कही ॥५२॥ तब राजाने वह सब धन दोनोंसे लेकर जलती हुई अग्निमें रख दिया और कह दिया कि जो सत्यवादी हो वही अग्निमें जाकर ले आवे। धनदेव सत्यवादी और शुद्ध था इसलिये वह झट अग्निमें जाकर द्रव्यको ले आया तथा झूठ बोलने के कारण जिनदत्त उस द्रव्यको न ला सका ॥५३॥ इसलिये वह सब धन राजाने धनदेवको ही सौंप दिया तथा राजाने व अन्य लोगोने उनका यथेष्ट आदरसत्कार किया और संसारमें वह बहुत ही श्रेष्ठ और धन्य गिना गया ॥५४॥ यह बात देखकर अन्य लोगोंने भी उसकी स्तुति की, पूजा की ओर उसे नमस्कार किया। इस प्रकार धनदेव सत्यके प्रभावसे संसारभरमें प्रसिद्ध हुआ ॥५५॥ देखो—वैश्यपुत्र धनदेव निर्मल सत्यवचनोंके ही प्रभावसे अनेक निर्मल गुणोंका निधि हो गया था, धनाढ्य हो गया था, राजाके द्वारा और अन्य संसारी लोगोंके द्वारा पूज्य हो गया था और संसारमें उसकी निर्मल कीर्ति फैल गई, ऐसा सत्यवादी धनदेव सदा जयशील हो ॥५६॥ इस प्रकार सत्यवचनोंके गुणोंको सुनकर शिष्य फिर पूछने लगा कि हे भगवन्! सत्य वचनोंके त्याग करनेसे किसीको दुःख पहुँचा है उसकी कथा और सुना दीजिये ॥५७॥ इसके उत्तरमें आचार्य कहने लगे कि हे शिष्य! तू चित्त लगाकर सुन, अब मै झूठ बोलनेवाले सत्यघोष की भय उत्पन्न करनेवाली कथा कहता हूँ ॥५८॥ इसी जम्बूद्वीपके प्रसिद्ध भरत क्षेत्रमें एक सिंहपुर नगर है। उसमें राजा सिंहसेन राज्य करता था ॥५९॥ उसको सुख देनेवाली उसकी रानीका नाम रामदत्ता था। उसी राजाके एक श्रीभूति नामका अत्यन्त कपटी पुरोहित था ॥६०॥ वह अपने जनेऊमें एक कैंची बाँधे फिरता था और लोगोंसे कहता फिरता था कि यदि कभी लोभसे मेरे मुंहसे कुछ झूठ निकल जाता है तो मैं इस कैंचीसे उसी समय अपनी जीभ काट डालता हूँ। इस प्रकार वह प्रतिदिन अपना सब व्यवहार कपटपूर्वक ही करता था ॥६१-६२॥ परन्तु उसका यह कपट किसीको मालूम नहीं हुआ था इसलिये उसका दूसरा नाम सत्यघोष पड़ गया था। तब

स्वल्पं द्रव्यं पुनस्तेषां स ददाति कुमार्गगः । ते पूत्कर्तुं समर्था न लोकास्तत्ख्यातिहेतुतः ॥६४
तस्य सत्यं परिज्ञाय न शृणोति स पूत्कृतम् । राजा मत्वेति लोका हि तूष्णीभावं भजन्ति ते ॥६५
अथैकदा पुरे तत्र पद्मखण्डपुरात्सुधीः । श्रेष्ठी सागरदत्ताख्य आगतो धनहेतवे ॥६६
सत्यघोषसमीपे स धृत्वा रत्नानि पञ्च वै । अनर्घ्याणि गतोऽतीव धनार्थं सागरान्तिकम् ॥६७
समुपार्ज्य धनं लक्ष्मीं यावदायाति तत्र सः । व्याघुटच पापयोगेन स्फुटितं पोतमञ्जसा ॥६८
संप्राप्य फलकं ह्येकं तितीर्यागाधसागरम् । समीपं सत्यघोषस्य स प्राप्तः पुण्यपाकतः ॥६९
आगच्छन्तं तमालोक्य रङ्केन सदृशं परम् । समीपस्थजनानां सः प्रत्ययार्थमुवाच सः ॥७०
श्रूयध्वं भो जनाः वाचं जातोऽयं विफलो नरः । द्रव्यनाशादिहागत्य रत्नानि प्रार्थयिष्यति ॥७१
तेनागत्य प्रणम्योक्तं देहि रत्नानि मे प्रभो । न्यासार्थं यानि दत्तानि स्वात्मानं प्रोद्धरामि यैः ॥७२
आकर्ण्य तद्वचस्तेन सत्यघोषेण भाषितम् । तद्द्रव्यहरणार्थं स्वपार्श्ववर्तिजनान् प्रति ॥७३
भो जना वचनस्याद्य मे जातो निश्चयो न किम् । भवतां तैः पुनरुक्तं सर्वं वेत्सि त्वमेव हि ॥७४
ततः प्रोक्तं पुनस्तेन नाऽयं तु गृहिलो गृहात् । अस्मान्निस्सार्यतामेव स तैर्निस्सारितो हठात् ॥७५
भ्रमन् लोके स पूत्कारं कुर्वन्नित्यं प्रति स्थितः । सत्यघोषेण पञ्चैव माणिक्यानि हृतानि मे ॥७६

बहुतसे लोग उसका विश्वास करने लग गये थे और उसके पास आ आकर अपना धन धरोहर रखने लग गये थे ॥६३॥ परन्तु जो द्रव्य रख जाते थे उनको वह कुमार्गगामी पुरोहित सब नहीं देता था, थोड़ी ही देता था। तथापि संसारमें उसके सत्यकी प्रसिद्धि हो रही थी इसलिये उससे कोई कुछ कह नहीं सकता था ॥६४॥ जो पुरुष उसके इस कृत्यका जान लेता था वह उसके सत्य की प्रसिद्धिको सुनकर यही सोच लेता था कि 'क्या कहूँ। यदि मैं कुछ कहूँगा भी तो मेरे महाराज मेरे लिये ही नाम रक्खेंगे। इसके सत्यकी प्रसिद्धिके सामने मेरी कुछ चल नहीं सकेगी' यही सोच कर सब चुप हो जाते थे ॥६५॥

किसी एक समय उस नगरमें धन कमानेके लिये बुद्धिमान सागरदत्त नामका सेठ पद्मखंडपुर नामके नगरसे आया ॥६६॥ वह अपने अमूल्य पाँच रत्न सत्यघोषके समीप रख गया और स्वयं आगे धन कमानेके लिये गया ॥६७॥ बाहर जाकर उसने बहुत धन कमाया और लौटकर सिंहपुर आ रहा था कि पापकर्मके उदयमें उसका जहाज नष्ट हो गया ॥६८॥ परन्तु सागरदत्तका कुछ पुण्यकर्म बाकी था इसलिये वह किसी एक लकड़ीके तख्तेपर बैठकर समुद्रके किनारे पर आ गया और फिर वहाँसे चलकर सत्यघोषके पास आ पहुँचा ॥६९॥ उस समय वह सागरदत्त एक रंकके समान आ रहा था। उसे दूरसे ही आते हुए देखकर सत्यघोषने अपना विश्वास जमानेके लिये समीपवर्ती लोगोंमें कहा कि हे लोगों! देखो यह मनुष्य जो आ रहा है सो ऐसा मालूम होता है कि इसका द्रव्य सब नष्ट हो गया है इसलिये यह व्याकुल हो रहा है। अब यह यहाँ आकर मुझसे रत्न माँगेगा ॥७०–७१॥ इतनेमें ही सागरदत्त वहाँ आ गया और उसने प्रणामकर सत्यघोषसे कहा कि मैं जिन रत्नोंको धरोहर रख गया था कृपाकर अब उनको दे दीजिये ॥७२॥ सागरदत्तकी यह बात सुनकर सत्यघोषने उसका समस्त द्रव्य हरण करनेके लिये समीपवर्ती लोगोंसे कहा कि देखो जो बात मैंने पहिले कही थी वह ठीक निकली। तब सागरदत्तने कहा कि आप सब जानते हैं ॥७३–७४॥ तब सत्यघोषने कहा कि नहीं यह एक पागल मनुष्य है इसे यहाँसे निकाल देना चाहिये। यह सुनते ही उन मनुष्योंने उसे जबरदस्ती वहाँसे निकलवा दिया ॥७५॥ विचारा

चिञ्चावृक्षं समारुह्य स पूत्कारं करोति वै । राजगृहसमीपे तु रात्रौ यामे च पश्चिमे ॥७७
एवं प्रतिदिनं कुर्वन् षण्मासात्स वणिग्वरः । स्थितः पूत्कृतिमाकर्ण्य सुराज्ञ्या भणितो नृपः ॥७८
नायं ना गृहिलो देव सादृश्यवचनात्सदा । राज्ञोक्तं सत्यघोषस्य किं चौर्यं हि प्रभाव्यते ॥७९
पुनर्निरूपितं रामदत्तया देव भाव्यते । ततोऽपि सिंहसेनेन प्रोक्तं त्वं हि परीक्षय ॥८०
लब्ध्वादेशं प्रभाते स प्रणामार्थं समागतः । राज्ञ्या तया समाकार्य पृष्ठो दुष्टपुरोहितः ॥८१
किमागतोऽपि भो मित्र वृहद्वेलामुवाच सः । आगतः श्यालको मेऽद्य तस्य भुक्त्यै गृहे स्थितः ॥८२
पुनर्निरूपितं राज्ञ्या क्षणैकं चात्र तिष्ठ भो । ममातिकौतुकं जातं द्यूतक्रीडाविहेतवे ॥८३
करोम्यद्य त्वया सार्द्धमक्षक्रीडामहं स्वयम् । तत्रागत्य नृपेणापि प्रोक्तः कुरु समीहितम् ॥८४
ततो द्यूते[1] समं जाते प्रोक्तं कर्णे तदा तया । निपुणादिमतीनामविलासिन्याः प्रपञ्चतः ॥८५
पुरोहितः स्थितः राज्ञोपार्श्वेऽहं तेन प्रेषिता । याचित्वा गृहिलस्यैव माणिक्यानि स्वकार्यतः ॥८६
तद्भार्यायै भणित्वेति शीघ्रं नीत्वापि तानि वै । आगच्छात्र ततः साऽगात्तद्गृहं रत्नहेतवे ॥८७
रत्नानि याचितान्येव विलासिन्या निषिद्धया । तद्भार्यया न दत्तानि तरां पूर्ववचोऽनृतात् ॥८८

सागरदत्त सब तरहसे लाचार होकर रोता हुआ उसी नगरमे घूमने लगा और चिल्ला चिल्लाकर कहने लगा कि सत्यघोषने मेरे पाँच माणिक्य मार लिये है ॥७६॥ राजभवनके पास एक इमलीका वृक्ष था। उसीपर चढ़कर सवेरेके समय यही कह कहकर वह प्रतिदिन पुकार मचाने लगा ॥७७॥ इस प्रकार पुकार करते करते उसे छह महीने हो गये। तब एक दिन रानीने राजासे कहा कि हे देव! यह पुरुष सदा एकसी पुकार करता है इसलिये यह पागल नही हो सकता। तब राजाने कहा कि क्या सत्यघोष ऐसी चोरी कर सकता है? इसके उत्तरमे रानीने कहा कि हे देव! सम्भव है ऐसा हो। रानीके इतना कहनेपर महाराजने आज्ञा दी कि तू ही इसकी परीक्षा कर ॥७८-८०॥ इस प्रकार रानीको परीक्षा करनेकी आज्ञा मिल चुकी थी और प्रातःकाल ही वह पुरोहित महाराजके पास प्रणाम करनेके लिये आया था। रानीने उस दुष्ट पुरोहितको देखते ही बुलाया और पूछा कि हे मित्र! आज सवेरे ही कैसे आये? पुरोहितने कहा कि आज मेरा साला आया है वह भोजन करनेके लिये घर बैठा है इसीलिये मैं यहाँ चला आया ॥८१-८२॥ रानीने फिर कहा कि अच्छा आज कुछ देरतक यहाँ ही ठहरना। हे तात! आज मुझे कुछ पाशा खेलनेकी इच्छा हुई है, मैं आज तुम्हारे ही साथ पासेसे खेलूँगी। रानीके इतना कहते ही वहाँपर महाराज आ पहुँचे और उन्होंने भी आज्ञा दे दी कि महारानीकी इच्छा पूरी करो ॥८३-८४॥ इस प्रकार रानीने पुरोहितको तो रोक लिया और निपुणमती नामकी किसी चतुर वेश्याको बुलाकर और उसे एकान्तमें ले जाकर उसके कानमें सब बात समझाकर कह दी और कहा कि देख, तू पुरोहितके घर जा, पुरोहितानीसे कहना कि 'पुरोहितजी महारानीके पास बैठे है उन्होंने उस परदेशी पागलके माणिक मँगाये हैं उन माणिकोंसे उन्हें आवश्यक कार्य है मुझे इसीलिये आपके पास भेजा है।' इस प्रकार उसकी स्त्रीसे कहकर और उन माणिकोंको लेकर शीघ्र ही मेरे पास आ जा। यह सब समझ बूझकर वह पुरोहितानीके पास गई, उससे जाकर सब बात कही परन्तु उस पुरोहितानीको भी सदा झूठ बोलनेका अभ्यास था और पुरोहित न देनेके लिये कह रक्खा था इसलिये उसने वे माणिक दिये ही नहीं ॥८५-८८॥ तब लाचार होकर वह वेश्या रानीके पास लौट आई और

---

१. द्यूतिसंजाते ।

आगत्य तद्विलासिन्या राज्याः कर्णे निरूपितम् । ददाति नैव सा तानि माणिक्यानि कदाचन ॥८९
साभिज्ञानं प्रदत्त्वा सा प्रेषिता निजमुद्रिका । तस्यास्तथा न दत्तानि तद्ब्राह्मणातिभीतया ॥९०
ततस्तया जिते यज्ञोपवीतच्छुरिके तदा । साभिज्ञानद्वयं दत्त्वा प्रेषिता साऽनु तद्गृहे ॥९१
कर्तिकां ब्रह्मसूत्रं च दृष्ट्वा दत्तानि भीतया । तद्भामया विलासिन्याः शीघ्रं रत्नानि पञ्च वै ॥९२
तयाऽऽगत्य प्रदत्तानि राज्यस्तानि तथा पुनः । राज्ञः प्रदर्शितान्येव माणिक्यानि वराणि च ॥९३
ततोऽतिबहुसद्रत्नमध्ये निक्षिप्य तानि सः । आकर्ण्य गृहिलो राज्ञा भणितः सत्यहेतवे ॥९४
माणिक्यानि त्वदीयानि परिज्ञाय गृहाण रे । परीक्ष्य श्रेष्ठिना तानि गृहीतानि निजानि च ॥९५
प्रतिपन्नश्च स तासां पुरस्तोषाच्छुभोदयात् । श्रेष्ठी समुद्रदत्तो नु राज्ञा श्रेष्ठी कृतः पुरे ॥९६
सत्यसन्तोषमाहात्म्यात् किं न स्यादिह भूतले । भृत्यायन्ते सुरा नृणां राजसौख्यस्य का कथा ॥९७
ततो नृपतिना पृष्टः सत्यघोषोऽनृताकरः । इदं कर्म कृतं मूढ त्वया वा न निरूपय ॥९८
तेनोक्तं देव नात्राहं निन्द्यं कर्म करोमि तत् । ममेदृशं महापापं कर्तुं किं कर्म युज्यते ॥९९
ततो रुष्टेन भूपेन तस्य दण्डत्रयं कृतम् । गोमयेन भृतं स्थालत्रयं भक्षय निश्चितम् ॥१००
मल्लमुष्टेर्दृढं घातत्रयं चाप्यद्य दुर्मते । स्वद्रव्यं सकलं देहि स्वदोषस्यातिशान्तये ॥१०१
आलोच्य तेन प्रारब्धं खादितुं गोमयं मलम् । तस्याशक्तेन तन्मुष्टिघातं सोढुं च पापतः ॥१०२

आकर कहा कि वह पुरोहितानी उन माणिकोंको किसी तरह नही देती है ॥८९॥ इसी बीचमें रानीने उस पासेके खेलमें पुरोहितकी एक अंगूठी जीत ली थी अतएव रानीने पुरोहितके चिन्ह रूपमें वह अंगूठी भेजी तथापि पुरोहितानीने ब्राह्मणके डरसे वे रत्न नही दिये ॥९०॥ इधर रानी ने पुरोहितजीका यज्ञोपवीत (जनेऊ) और उसमें बँधी हुई वह कैंची भी जीत ली थी इसलिये रानीने उस वेश्याके साथ चिन्हरूपमें वे दोनों चीज भेजकर वे रत्न मंगाये ॥९१॥ अबकी बार जनेऊ और कैंची दोनों चीजें देखकर पुरोहितानीको विश्वास हो गया और उसने शीघ्र ही वे रत्न निकालकर दे दिये ॥९२॥ वेश्याने वे रत्न लाकर रानीको दे दिये और रानीने वे बहुमूल्य माणिक राजाको दिखाये ॥९३॥ अब राजाने उस सेठकी भी परीक्षा लेनी चाही। इसलिये उसने अपने घरके बहुतसे माणिकोंमे मिलाकर वे माणिक रख दिये और सेठको बुलाकर कहा कि इनमें जो माणिक तुम्हारे हों वे परीक्षा करके निकाल लो। तब सेठने अपने माणिक छाँट लिये ॥९४–९५॥ सागरदत्तके इस कार्यसे राजाको बहुत सन्तोष हुआ। शुभ कर्मके उदयसे सागरदत्त सेठको अपने नगरका राजश्रेष्ठी बना लिया ॥९६॥ सो ठीक ही है क्योंकि सत्य और सन्तोषके माहात्म्यसे इस ससारमें क्या क्या प्राप्त नहीं होता है। सत्यके माहात्म्यसे देव भी सेवक समान हो जाते हैं फिर मनुष्योको राज्यके सुखकी तो बात ही क्या है ॥९७॥ तदनन्तर राजाने महा झूठ बोलनेवाले सत्यघोषसे पूछा कि बता तू यह काम किया है या नही ॥९८॥ इसके उत्तरमें पुरोहितने कहा कि हे देव ! मै ऐसा निंद्य कर्म नहीं कर सकता। क्या मै ऐसा महा पाप करने वाला काम कर सकता हूँ ? ॥९९॥ तदनन्तर महाराज उसके कामसे बहुत ही क्रोधित हुए और उन्होंने उसके लिये तीन प्रकारका दण्ड निश्चित किया। या तो वह तीन थाली गोबरकी खावे, या वह दुर्मति किसी मल्लके तीन घूंसे खावे अथवा उस दोषको शान्त करनेके लिये अपना सब धन दे देवे ॥१००–१०१॥ पुरोहितने सोच विचारकर पहिले गोबर खाना प्रारम्भ किया। जब वह उसे न खा सका तब मल्लके घूंसे खाये, उनकी भी पूरी चोट न सह सका तब अपना सब धन

तदाशक्यं धनं दातुमारब्धं लोभिना स्वयम् । तस्यासक्तेन प्रारब्धं गोमयादिकभक्षणम् ॥१०३
एवं दण्डं त्रयं भुक्त्वा भाण्डागारे नृपस्य सः । मृत्वा लोभवशाज्जातः सर्पो गन्धनसंज्ञकः ॥१०४
दिव्याग्निना ततो मृत्वा कुर्कुटो हि समाह्वयः । जातो वने महापापोदयाद्राजाविभक्षणात् ॥१०५
ततो मृत्वा गतः श्वभ्रं तद्वनेभादिखादनात् । ततोऽतिदीर्घसंसारी जातो दुःखाकुलोऽनृतात् ॥१०६
अनृतवचनयोगात्सत्यघोषः पुरोधाः, सकलभुवननिन्द्यं घोरदुःखं प्रभुक्त्वा ।
नृपतिकृतकुदण्डान्मृत्युमासाद्य चान्तौ, दुरितजलप्रपूर्णे दुःखदे वै भवाब्धौ ॥१०७
वसुराजादयोऽन्ये ये श्वभ्रं च बहवो गताः । असत्यवचनान्निन्द्याज्जीवघातकराः शठाः ॥१०८
गदितुं कः कथां तेषां समर्थोऽत्र महीतले । भूरिपापकृतानां स प्रलोकादिकलङ्कितम् ॥१०९
इमां कथां समाकर्ण्य बुधैः प्राणात्यये सदा । असत्यं नैव वक्तव्यं चेहामुत्राशुभप्रदम् ॥११०
सकलश्रुतकरं त्वं कीर्तिवल्लीसुनीरं, शुभवनघनमेघं सेवितं धर्मनाथैः ।
अमलसुखसमुद्रं बुद्धिदं सिद्धिदं च । वद शुभगतिहेतुं सत्यवाक्यं प्रमुक्त्यै ॥१११

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे असत्यविरतिव्रत-
धनदेवसत्यघोष-कथाप्ररूपको नाम त्रयोदशमः परिच्छेदः ॥१३॥

देना प्रारम्भ किया। तब उस लोभी और पापीने फिर गोबर खाना आदि तीनों प्रकारके दण्डोंको सहा। इस प्रकार उस नीचको तीनों प्रकारके दण्ड सहन करने पड़े ॥१०२-१०३॥ इस प्रकार तीनों प्रकारके दण्डोंको भोगकर वह मरा और अतिशय लोभके कारण राजाके भण्डारमें गन्धन् नामका सर्प हुआ ॥१०४॥ वहाँपर वह दिव्य अग्निसे मरकर यहाँ पाप-कर्मके उदयसे किसी वनमें कुर्कुट नामका सर्प हुआ ॥१०५॥ वहाँपर उसने किसी व्रती राजाको काटा था इसलिये मरकर नरकमें जा उत्पन्न हुआ। इस प्रकार केवल मिथ्या भाषण करनेसे अनेक दुःखोंको भोगता हुआ बहुत दिनतक संसारमें परिभ्रमण करता रहा ॥१०६॥ देखो केवल मिथ्या भाषण करनेसे ही सत्यघोष पुरोहितने तीनों लोकोमें निन्द्य ऐसे घोर दुःख सहे, राजाके दिये हुए तीनों प्रकारके दण्ड सहे और फिर मरकर पापरूपी जलसे भरे हुए तथा अनेक दुःखोंसे परिपूर्ण संसार सागरमें गोते खाये ॥१०७॥ इस महा निन्द्य असत्य वचनके फलसे जीवोंका घात करनेवाला मूर्ख राजा वसु आदि और भी अनेक जीव नरकमें गये है वे सब असत्य रूप महापापसे कलंकित थे इसलिये इस संसारमें उन सबकी कथा भी कोई नहीं कह सकता ॥१०८-१०९॥ इस कथाको सुन कर विद्वान् लोगोंको इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाले असत्य वचन प्राणोंका नाश होनेपर भी कभी नही कहने चाहिये ॥११०॥ हे वत्स ! यदि तुझे मोक्ष प्राप्त करना है तो तू सदा सत्य वचन ही बोल, क्योंकि संसारमें सत्य वचन ही समस्त श्रुतज्ञानको प्रगट करनेवाले हैं, कीर्तिरूपी बेलको बढ़ानेके लिये अच्छे पानीके समान हैं, पुण्यरूपी वनके लिये बरसाती मेघ हैं, निर्मल सुखके समुद्र हैं, बुद्धि-सिद्धिके देनेवाले हैं, शुभ गतिके कारण हैं और धर्मके स्वामी तीर्थंकर भी इसकी सेवा करते हैं। इसलिये तू सदा सत्य वचन ही बोल ॥१११॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सत्यव्रतका निरूपण करनेवाला तथा धनदेव और सत्यघोषकी कथाको कहनेवाला यह तेरहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१३॥

●

चौदहवाँ परिच्छेद

अनन्तं श्रीजिनं वन्दे अन्तातीतगुणप्रदम् । अनन्तगुणसम्प्राप्त्यै स्वानन्तगुणसागरम् ॥१
सत्यं व्रतं समाख्याय सर्वसौख्यमहार्णवम् । अदत्तविरतिं वक्ष्ये दयादिव्रतहेतवे ॥२
कृपासत्यादिरक्षार्थं अदत्तविरतिव्रतम् । प्रणीतं जिननाथेन त्यक्तदोषं यशःप्रदम् ॥३
अदत्तं यो न गृह्णाति स्थूलं वस्तु धनादिकम् । मनोवाक्काययोगेन तत्तस्यास्तेयाणुव्रतम् ॥४
पतितं विस्मृतं नष्टं स्थापितं निहितं सदा । अरण्ये पथि वा गेहे परद्रव्यादिकं त्यज ॥५
यदि त्यक्तुं समर्थो न तदादाय धनादिकम् । पूजाद्यर्थं स्वपुण्याय ददस्व श्रीजिनालये ॥६
सर्पादानं वरं लोके भवैकप्राणनाशनम् । न चादानं परस्वं हि विसंख्यभवदुःखदम् ॥७
वरं भिक्षाटनेनैव स्वस्योदरप्रपूरणम् । परद्रव्यं समादाय न च शाल्योदनैर्नृणाम् ॥८
वरं हालाहलं भुक्तं चैकजन्मभयप्रदम् । न परस्वं व्यतीतान्तभवकोटि कुदुःखदम् ॥९
अतिस्तोकं परस्वं यो लोके गृह्णाति दुष्टधीः । वधबन्धादिकं प्राप्य श्वभ्रनाथो भवेत्स वै ॥१०
अरण्ये वा गृहे लोके स्वस्थं चित्तं न जायते । चौरस्य भोजने स्वस्य वाशंक्य मरणादिकम् ॥११
चौर्यासक्तं स्वजनं च मत्वा माता भयात्त्यजेत् । पुत्री च जनको भार्या बान्धवाश्च त्यजन्ति भो ॥१२

जो अनन्त गुणोंके सागर हैं, अनन्त गुणोंको प्राप्त हुए हैं और अनन्त गुण देनेवाले है ऐसे श्री अनन्तनाथ भगवान्को मै नमस्कार करता हूँ ॥१॥ समस्त सुखोंके महासागर ऐसे सत्यव्रतका निरूपण हो चुका, अब अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये अचौर्यव्रतको कहते है ॥२॥ श्री जिनेन्द्रदेवने इस अचौर्यव्रतको अहिंसासत्यादिकी रक्षाके लिये ही निरूपण किया है। यह व्रत सब दोषोंसे रहित हैं और यश देनेवाला है ॥३॥ जो धन धान्य आदि स्थूल पदार्थोंको मन वचन कायसे विना दिया हुआ ग्रहण नही करता है उसके यह अचौर्याणुव्रत कहलाता है ॥४॥ हे वत्स ! किसी वनमें, मार्गमें वा किसी घरमें पड़े हुए, भूले हुए, स्थापन किये हुए, और धरोहर रक्खे हुए धनको दूरसे ही छोड़ ॥५॥ यदि तू उसके ग्रहण करनेका त्याग नही कर सकता, उसे नही छोड़ सकता तो उस धनको लेकर अपना पुण्य बढ़ानेके लिये पूजा आदि कामोंके लिये श्री जिनालयमें दे देना चाहिये ॥६॥ इस संसारमें सर्पको पकड़ लेना अच्छा, परन्तु, दूसरेका धन लेना अच्छा नही, क्योंकि सर्पके पकड़नेसे एक जन्म ही नष्ट होगा किन्तु दूसरेका धन लेनेसे असंख्य भवोंतक दुःख प्राप्त होते रहते हैं ॥७॥ भीख माँगकर पेटभर लेना अच्छा परन्तु दूसरेके द्रव्यको लेकर घी बूरेसे तर शालि चावलोंका खाना अच्छा नही ॥८॥ हलाहल विष खा लेना, अच्छा परन्तु दूसरेका धन ले लेना अच्छा नहीं, क्योंकि विष खानेसे एक ही जन्मका भय है किन्तु दूसरेका धन लेनेसे उन्हें करोड़ों जन्मतक दुःख भोगना पड़ेगा ॥९॥ इस संसारमें जो दुष्ट दूसरेका थोड़ा धन भी लेता है वह वध-बन्धनके अनेक दुःखोंको पाकर अन्तमें नरकका ही स्वामी होता है ॥१०॥ चोरी करनेवालेका हृदय न तो किसी वनमें स्वस्थ रहता है न किसी घरमें स्वस्थ रहता है न ससारमें कही स्वस्थ रहता है और न भोजन करनेमें कहीं जी लगता है क्योंकि उसे अपने मरने की, पकड़े जानेकी आशंका सदा बनी रहती है ॥११॥ यदि चोरी करनेवाला अपना कुटुम्बी ही हो तो उससे डरकर माता भी उसे छोड़ देती है, पुत्री भी छोड़ देती है, पिता भी छोड़ देता है, स्त्री भी छोड़ देती है

यः परश्रियमादत्ते प्रपञ्चरचनैः परैः । स्तोकां बहुतरां तस्य गृहात्सा याति निश्चितम् ॥१३
चौरं विज्ञाय सन्तोऽपि घ्नन्ति तृणमिवानिशम् । परवस्त्वाविकेऽत्यन्तलोलुपं कपटान्वितम् ॥१४
न्यायमार्गात्समायाति लक्ष्मीर्लोकत्रये स्थिता । पुण्याढ्यस्य गृहं सर्वा महापुण्यविधायिनी ॥१५
अन्यायाचरणात्सोपि स्थिता गेहात्प्रयाति वै । पुण्यहीनमनुष्यस्य धर्मवतां गृहम्प्रति ॥१६
स्थितिं करोति सा गेहे चौरव्यापारतो यदि । भवन्ति किं धनाढ्या न दुष्टभिल्लादितस्कराः ॥१७
सदोषं व्यवसायं यो विधत्ते धनहेतवे । सङ्कटं तं समायाति दारिद्रं च भवे भवे ॥१८
येन केनाप्युपायेन परद्रव्यं हरन्ति ये । हस्तच्छेदादिकं प्राप्य ते श्वभ्रं यान्ति सप्तमम् ॥१९
नष्टे धने भवेद् दुःखं यादृशं मरणेङ्गिनाम् । तादृशं न च लोकेस्मिन्नत्यन्तं प्राणवल्लभे ॥२०
अञ्जलिद्वयधान्यार्थं कः सुधीः पापमाचरेत् । चौर्यकूटप्रयोगादिजातं दुर्गतिदुःखदम् ॥२१
कुटुम्बादिप्रभोगार्थं ये हरन्ति परश्रियम् । तेऽपि त्यक्त्वा कुटुम्बं तन्मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥२२
यदर्थं धनमादत्ते कूटोपायात् शठो नरः । तत्कुटुम्बं विना श्वभ्रे भुङ्क्ते दुखं स केवलम् ॥२३
इति मत्वा परस्वं भो त्यज सर्वविषादिवत् । अभक्ष्यमिव चासारं पापक्लेशायशः प्रदम् ॥२४
त्यक्त्वा सर्वानतीचारानस्तेयं यो व्रतं चरेत् । सन्तोषात्सोपि सम्प्राप्य स्वर्गं याति क्रमाच्छिवम् ॥२५

और भाई बन्धु आदि सब कुटुम्बी उसे छोड़ देते हैं ॥१२॥ जो अनेक प्रकारके छल कपटोंसे दूसरे का थोड़ा भी धन लेता है उसके घरका सब धन नष्ट हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१३॥ दूसरोंके वस्त्र आदिकी लालसा रखनेवाले कपटी चोरको चोर समझकर सज्जन लोग भी तृणके समान उसे मारते हैं ॥१४॥

महापुण्यको प्रगट करनेवाली और तीनों लोकोंमें रहनेवाली ऐसी समस्त लक्ष्मी नीतिमार्गसे ही पुण्यवानके घर आ जाती है ॥१५॥ अन्यायरूप आचरण करनेसे घरमें रहनेवाली लक्ष्मी भी उस पुण्यहीन मनुष्यके घरसे निकलकर धर्मात्माके घर चली जाती है ॥१६॥ यदि चोरीके व्यापारसे ही लक्ष्मी घरमें रहने लगे तो दुष्ट भील आदि चोर लोगोंके घर ही बहुतसा धन क्यों नहीं दिखाई देता ॥१७॥ जो पुरुष केवल धनके लिये सदोष व्यापार करता है वह कोढ़ी होता है और भवभवमें दरिद्री होता है ॥१८॥ जो पुरुष जिस किसी भी उपायसे दूसरेके धनको हरण करते हैं उनके हाथ पैर आदि अंग उपांग काटे जाते है और अन्तमें उन्हें सातवें नरकके दुःख भोगने पड़ते हैं ॥१९॥ संसारी जीवोंको धन नष्ट होनेपर अथवा मरनेपर जैसा दुःख होता है वैसा दुःख इस संसारमें और कहीं नहीं होता, क्योंकि प्राण और धनके समान और कोई प्रिय है ही नहीं ॥२०॥ अरे ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो केवल दो मुट्ठी धान्यके लिये चोरी ठगी आदिसे होनेवाले और अनेक दुर्गतियोंके दुःख देनेवाले पापोंको करे ॥२१॥ जो कुटुम्बी लोगोंके उपभोगके लिये दूसरोंका धन हरण करते हैं वे भी कुटुम्बको छोड़कर नरकरूपी महासागरमें गोते खाते हैं ॥२२॥ यह प्राणी जिस कुटुम्बके लिये धन लेता है वह कोढ़ आदि अनेक रोगोंको भोगता है, तथा विना कुटुम्बके केवल अकेला ही नरकके दुःख भोगता है ॥२३॥ यही समझकर हे भव्य ! तू विषले सर्पके समान अथवा अभक्ष्य भक्षणके समान असारभूत तथा पाप क्लेश और अपयशको देनेवाले दूसरेके धन ग्रहण करनेका त्यागकर ॥२४॥ जो प्राणी सन्तोषपूर्वक सब अतीचारोंको छोड़कर इस अचौर्य-व्रतको पालन करता है वह स्वर्गादिक सुख पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥२५॥

सन्ति स्वामिन्नतीचारा ये चाचौर्यव्रतस्य भो । निरूपयतु तान् सर्वानद्यैवानुग्रहाय मे ॥२६
शृणु त्वं व्रतशुद्धयर्थं वक्ष्येऽतीचारपञ्चकम् । एकचित्तेन भो धीमन् ! सर्वव्रतमलप्रदम् ॥२७
स्तेनप्रयोगश्च तदाहृतादानं हि सम्भवेत् । ततो विरुद्धराज्यादिक्रमोपि तृतीयो मतः ॥२८
पश्चाद्धीनाधिकमानोन्माननाम प्ररूपितः । जिनेन्द्रैः प्रतिरूपैकव्यवहारोऽप्यतिक्रमः ॥२९
अन्येषामुपदेशं यो दत्ते चौर्यादिकर्माणि । अतीचारो भवेत्तस्य प्राद्यो व्रतविनाशकः ॥३०
आनीतमुपदेशेन विना चौरेण यद्धनम् । तत्स्वं गृह्णाति यो मूढो व्यतीपातो लभेत् सः ॥३१
राजनीतिं परित्यज्य व्यवसायं करोति यः । परेषां वञ्चनाद्यर्थं लभते सोप्यतिक्रमम् ॥३२
तुलाप्रस्थादिमानेन हीनं दत्ते परस्य यः । गृह्णाति चाधिकं वस्तु व्रतदोषं भजेत्स ना ॥३३
श्रेष्ठवस्त्वादिके यस्तु हीनवस्त्वादिकं क्षिपेत् । करोति हेमहिंग्वादि कृत्रिमं तस्य स्यात्स वै ॥३४
सर्वातीचारसन्त्यक्तं धत्ते यस्तृतीयं व्रतम् । कृत्वा सन्तोषमेकं हि स्युस्तस्य सर्वसम्पदः ॥३५

> **विविधदुखकरं वै धर्मविध्वंसहेतु, दुरितकुवनमेघं दुःखसन्तापगेहम् ।**
> **नरकगृहकुमार्गं धर्मवृक्षव्रजाग्निं, त्यज सकलमदत्तं दुर्धनं भो परेषाम् ॥३६**
> **बुधैकसेव्यं हतसर्वदोषं सन्तोषमूलं सुयशःप्रदम् भो ।**
> **स्वर्मुक्तिहेतोर्व्रतधर्मगेहं, व्रतं तृतीयं भज सर्वकालम् ॥३७**

प्रश्न—हे स्वामिन् ! मुझपर कृपा कर आज इस अचौर्य व्रतके सब अतिचारोंको कहिये ॥२६॥ उत्तर—हे धीमन् ! व्रतोंकी शुद्धिके लिये मैं व्रतोंको दूषित करनेवाले पाँचो अतिचारोंको कहता हूँ, तू चित्त लगा कर सुन ॥२७॥ स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक-मानोन्मान, और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच अचौर्य व्रतके अतिचार श्री जिनेन्द्रदेवने कहे हैं ॥२८-२९॥ चोरी करनेके लिये दूसरोंको उपदेश देना या चोरीके उपाय बतलाना अचौर्य व्रतका स्तेनप्रयोग नामका पहिला अतिचार है ॥३०॥ अपने विना किसी उपदेशके जो चोर चोरी करके लाया है उसके धनको घरमें रख लेना तदाहृतादान (चोरीका धन ग्रहण करना) नामका दूसरा अतिचार है ॥३१॥ जो राजनीतिको छोड़कर व्यापार करता है और अधिक धन ग्रहण करता है उसके विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥३२॥ जो तौलनेके बाँट और नापनेके गज पायली आदिको लेनेके लिये अधिक रखता है और देनेके लिये कम रखता है उसके हीनाधिक मानोन्मान नामका चौथा अतिचार लगता है ॥३३॥ जो उत्तम पदार्थोंमें कम कीमतके पदार्थ मिलाकर चलाता है और सुवर्ण हीग आदिको कृत्रिम बनाता है उसके प्रतिरूपक व्यवहार नामका अतिचार लगता है ॥३४॥ जो प्राणी इन सब अतिचारोंको छोड़कर और केवल एक सन्तोष धारणकर इस अचौर्यव्रतको पालन करता है उसके समस्त सम्पदा स्वयमेव आ जाती है ॥३५॥ इस संसारमें दूसरेका धन ग्रहण करनेसे अनेक प्रकारके दुःख सहने पड़ते हैं, धर्मका विध्वंस हो जाता है, यह पापरूपी वनको सींचनेके लिये मेघके समान है. दुःख और सन्तापोंका घर है, नरकरूपी घरका कुमार्ग है और धर्मरूपी वृक्षको जलानेके लिये अग्नि है इसलिये हे भव्य ! ऐसे इस परधनहरण करनेका तू सदा त्यागकर ॥३६॥ यह अचौर्य अणुव्रत सब दोषोंसे रहित है, सन्तोषकी जड़ है, यश और प्रसन्नताको बढ़ानेवाला है, स्वर्ग-मोक्षका कारण है, धर्म और व्रतोंका घर है और समस्त विद्वान् इसकी सेवा करते हैं इसलिये हे भव्य ! तू भी सदा इसका पालन कर॥ ३७॥ जो प्राणी विना दिये हुए पदार्थोंको ग्रहण नहीं करता वह देवोंके द्वारा भी पूज्य

अदत्तं यो न गृह्णाति स स्यात्पूज्योऽमरैरिह । यः परस्वं समादत्ते बधबन्धादिकं भजेत् ॥३८
योगिन् ! येन फलं प्राप्तं चादत्तविरतिव्रतात् । तद्विनेह महादुःखं तयोः कथां निरूपय ॥३९
एकचित्तेन भो मित्र ! शृणु तेऽहं कथाद्वयम् । वक्ष्ये धर्माय मुक्त्यै वा चौर्याचौर्यान्वितात्मनोः ॥४०
अदत्तपरिहारेण वारिषेणो नृपात्मजः । इहैव पूजितो देवैर्जनै राजादिभिः पुनः ॥४१
ज्ञेया तस्य कथा दक्षैः सा स्थितीकरणे गुणे । निरूपिता मया पूर्वं धीरवीरस्य साम्प्रतम् ॥४२
वत्सदेशे च कौशांबीपुरे सिंहरथो नृपः । अभवत्पुण्ययोगेन राज्ञ्यस्य विजयाभिधा ॥४३
तत्रैव तस्करो दुष्टो धत्ते पञ्चाग्निसाधनम् । तापसत्वं समादाय कौटिल्येनातिपापधीः ॥४४
शिक्यमारुह्य न्यग्रोधे परभूमिं स्पृशाम्न च । चौर्यं विधाय रात्रौ च दिने तिष्ठति प्रत्यहम् ॥४५
एकदा नगरं मुष्णं समाकर्ण्य महाजनात् । नृपेण भणितो रोषात्कोट्टपालः समागतः ॥४६
त्वं सप्तदिनमध्ये रे चौरं शीघ्रं समानय । निजं वा मस्तकं देहि चौरव्यापारयोगतः ॥४७
चौरं सोऽलभमानो हि तलारश्चिन्तयान्वितः । ब्राह्मणेनापराह्णेऽपि केनचित्प्रार्थितोऽशनम् ॥४८
तेनोक्तं शृणु भो विप्र ! सन्देहो वर्तते मम । प्राणानां भोजनं त्वं च कथं प्रार्थयसि ध्रुवम् ॥४९
श्रुत्वा तद्वचनं विप्रो बभाषे तं प्रति स्वयम् । कुतस्ते प्राणसन्देहो जातोऽद्यैव निरूपय ॥५०

होता है और जो विना दिये हुए दूसरेके धनको ले लेता है वह बन्धन आदिके अनेक दुःखोंको भोगता है ॥३८॥

प्रश्न—हे प्रभो ! अचौर्य व्रतके पालन करनेसे किसको उत्तम फल मिला है तथा चोरी करनेसे किसको दुःख मिला है उन दोनोंकी कथा कृपाकर मुझसे कहिये ॥३९॥ उत्तर—हे मित्र ! तू चित्त लगाकर सुन । मैं धर्म बढ़ानेके लिये अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये दोनोंकी कथा कहता हूँ ॥४०॥ बिना दिये हुए पदार्थोंका त्यागकर देनेसे (अचौर्य व्रत पालन करनेसे) राजपुत्र वारिषेण इस जन्ममें देवोंके द्वारा, प्रजाके द्वारा और राजा आदिके द्वारा पूज्य हुआ है ॥४१॥ इस धीरवीर वारिषेणकी कथा हमने पहिले सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण अंगके वर्णन करनेमें कही है, चतुर पुरुषोंको वहाँसे जान लेना चाहिये ॥४२॥ अब आगे चोरी करनेवालेकी कथा कहता हूँ । वत्सदेशके कौशांबी नगरमें पुण्यकर्मके उदयसे सिंहरथ नामका राजा राज्य करता था । उसकी रानीका नाम विजया था ॥४३॥ उसी नगरमें एक दुष्ट चोर रहता था वह पापी अपने छल कपटसे दिनमें तपसीका भेष बनाये रखता था, पंचाग्नि तप तपता था और "मैं दूसरेकी भूमिका भी स्पर्श नहीं करता" इस प्रकार प्रगट करता हुआ वह एक वडके पेड़के नीचे छीका टाँगकर रहता था । परन्तु वह दुष्ट रात्रिको प्रतिदिन चोरी करता था ॥४४–४५॥ प्रतिदिन चोरी होनेके कारण किसी एक दिन सब महाजनोंने मिलकर महाराजसे प्रार्थना की कि महाराज, सब नगर लुटा जा रहा है । महाराजने क्रोधित होकर कोतवालको बुलाया और कहा कि तू सात दिनके भीतर या तो चोरको लाकर उपस्थित कर, अथवा चोरी होनेके अपराधमें तू अपना मस्तक दे ॥४६–४७॥ कोतवालने बहुत ढूँढ़ा, परन्तु चोरका पता न चला तब वह बड़ी चिन्तामें पड़ा । वह इसी चिन्तामें डूबा हुआ था कि इतनेमें ही सायंकालके समय किसी ब्राह्मणने आकर उससे भोजनकी प्रार्थना की ॥४८॥ कोतवालने कहा कि हे ब्राह्मण ! यहाँ तो मेरे प्राणोंमें भी सन्देह है और तू मुझसे ही भोजन माँग रहा है ? ॥४९॥ कोतवालकी यह बात सुनकर वह ब्राह्मण कहने लगा कि तुझे आज अपने प्राणोंका सन्देह क्यों है, तू मुझसे सब कथा कह ॥५०॥ इसके उत्तरमें कोतवालने सब हाल कह सुनाया, तब

वृत्तान्तं कथितं तेन कोट्टपालेन तस्य तत् । विप्रेणापि पुनः पृष्टः सोऽपि किं कोऽपि चास्ति ना ॥५१
अत्यन्तनिस्पृहो लोके तेनोक्तं चास्ति तापसः । महातपस्विनस्तस्य नैतत्सम्भाव्यते स्फुटम् ॥५२
प्रोक्तं द्विजेन सोऽपि स्याच्चौरोऽत्यन्तनिःस्पृहात् । शृणु मित्र मदीयां त्वं कथां संवेगकारिणीम् ॥५३
ममैव ब्राह्मणी जाता ख्याता सातिमहासती । अन्येषां पुरुषाणां चास्पृशन्ती कायमेव भोः ॥५४
शरीरं निजपुत्रस्य प्रच्छाद्य कपटेन सा । स्तनं ददाति निःशीला पापिष्ठात्यन्तकौटिला ॥५५
रात्रौ स्वस्यैव गेहस्य गोपालेन समं सदा । कुकर्म विदधे पापलम्पटा विषयेषु सा ॥५६
तदकृत्यं समालोक्य जातं वैराग्यमेव मे । कृत्वा निन्दां स्वरामायाः भोगदेहगृहादिषु ॥५७
शलाकां हेमजां क्षिप्य संवलार्थं विनिर्गतः । सद्वंशयष्टिकामध्ये तीर्थयात्रादिहेतवे ॥५८
अग्रे प्रगच्छतश्चैको वटुको मिलितो मम । न विश्वासं दधे तस्य यष्टिरक्षां करोम्यहम् ॥५९
तेन सा कलिता यष्टिः सर्गभिता प्रयत्नतः । कुम्भकारगृहे रात्रौ सुप्तस्तेनैकदा सह ॥६०
दूरं गत्वा तृणं लग्नं तेन दृष्टं स्वमस्तके । अति जीर्णं ममाग्रेति कुटिलेन निरूपितम् ॥६१
हा ! हाऽन्यस्य मयादत्तं तृणमद्यैव हिंसितम् । ममेत्युक्त्वा स व्याघुटय कुम्भकारगृहं गतः ॥६२
धृत्वा तृणं समागत्य मिलितो मे दिनात्यये । कृताशनस्य भिक्षार्थं गच्छन् सा तेन याचिता ॥६३
श्वानादिवारणार्थं सा मया तस्मै समर्पिता । निर्लोभं तं परिज्ञाय विश्वासान्वितचेतसा ॥६४
ततो यष्टिं समादाय नष्टो लोभात्स दुष्टधीः । ये गृह्णन्ति परस्वं भो छला ते यान्ति दुर्गतिम् ॥६५

ब्राह्मणने फिर पूछा कि क्या इस नगरमें कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जो अत्यन्त निस्पृह हो ? कोतवालने कहा कि हाँ है, एक तपसी है जिसके साथ अन्य बड़े-बड़े तपस्वी है, क्या उसके चोर होनेकी सम्भावना हो सकती है ? ॥५१-५२॥ तब ब्राह्मणने कहा कि वह अत्यन्त निःस्पृह है इसलिये वही चोर है । हे मित्र ! तू संवेग उत्पन्न करनेवाली मेरी कथा सुन ॥५३॥ मेरी ही ब्राह्मणी बड़ी प्रसिद्ध महासती थी । वह अपने शरीरसे दूसरे पुरुषके शरीरका स्पर्श तक नहीं होने देती थी ॥५४॥ जब वह व्यभिचारिणी पापिनी अपने पुत्रको भी दूध पिलाती थी तो कपटपूर्वक अपने शरीरको ढककर पिलाती थी ॥५५॥ परन्तु वही ब्राह्मणी विषयोंमें लंपट होकर अपने ही घरपर किसी गवालियेके साथ बड़े आनन्दसे कुकर्म करती थी ॥५६॥ हे मित्र ! उसीके कृत्यको देखकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ है । इसप्रकार उस ब्राह्मणने अपनी स्त्रीकी निन्दा की तथा भोग शरीर और घर आदिकी निन्दा की ॥५७॥ वह ब्राह्मण फिर कहने लगा कि मैं मार्ग खर्चके लिये किसी बनी हुई लकड़ीमें थोड़ासा सोना रखकर तीर्थयात्राके लिये निकला ॥५८॥ चलते चलते मार्गमें एक ब्रह्मचारी मिला । परन्तु मैं उसका विश्वास नहीं करता था । मैं बड़े यत्नसे उस लकड़ीकी रक्षा करता था ॥५९॥ जिसके भीतर सोना रक्खा हुआ है ऐसी वह लकड़ी उस ब्रह्मचारीने ताड़ ली । किसी एक दिन हम दोनों रातको एक कुम्भारके घर सोए ॥६०॥ सबेरे ही उठकर वहाँसे चल पड़े । दूर जाकर उसने देखा कि उसके मस्तकपर एक बहुत पुराना तृण लगा हुआ है । उसे देकखर उस दुष्टने मुझसे कहा कि "हा हा देखो, यह विना दिया हुआ तृण मेरे साथ चला आया है और टूट गया है" यह कहकर वह लौटा, उस कुम्भारके घर गया, तृणको वहाँ रक्खा और फिर शामको आकर मुझसे मिला । फिर सन्यासी भिक्षाके लिये गया और कुत्ता आदिको मारनेके लिये वह लकड़ी मुझसे माँगी ॥६१-६३॥ मैंने भी उसे अत्यन्त निर्लोभ जानकर उसपर विश्वास किया और वह अपनी लकड़ी कुत्ता आदिके निवारणके लिये उसको दे दी ॥६४॥ परन्तु वह दुष्ट लोभके वश होकर उस लकड़ीको लेकर न जाने कहाँ चला गया । अरे ! इस

पश्चात्तापं विधायोच्चैः स्थितस्त्यक्तधनादिकः । गच्छता भो मयाऽटव्यां दृष्टमेकं प्रकुर्कुटम् ॥६६
मयैकस्मिन्नगे तुङ्गे समूहो मिलितो निशि । पक्षिकाणां प्रवृद्धेन पक्षिणा भाषितं तदा ॥६७
रे पुत्राः अतिवृद्धोऽहं गन्तुं शक्नोमि नैव हि । करोमि भवदीयानां पुत्राणां भक्षणं क्वचित् ॥६८
ततो मम मुखं बध्वा यूयं गच्छत निश्चितम् । प्रभाते ते पुनस्तस्य मुखं बध्वा गताः स्वयम् ॥६९
गतेषु तेषु सर्वेषु चरणाभ्यां स्वबन्धनम् । मुखादुत्तार्य वृद्धेन भक्षितास्तेऽपि बालकाः ॥७०
तेषामागमने काले मुखे संयोज्य बन्धनम् । भूत्वा क्षीणोदरः पश्चात् कौटिल्येन स्थितो हि सः ॥७१
ततः पुरगतेनैव मया दृष्टः प्रकुर्कुटः । तपस्विरूपमादाय स्थितश्चौरोऽतिपापधीः ॥७२
मस्तकस्योपरि दोर्भ्यामूर्द्ध्वं धृत्वा बृहच्छिलाम् । भ्रमत्यपसराख्यो हि प्राहोरात्रिं स तत्पुरे ॥७३
गर्तादिनिर्जनस्थाने जनं हेमादिभूषितम् । नमन्तं शिलया हत्वा हेमं गृह्णाति लोभतः ॥७४
इत्येवं हि समालोक्य कोट्टपाल विचार्यताम् । संसारे दुखदं पापं श्लोकोऽयं संकृतो मया ॥७५
बालमस्पर्शिका नारी ब्राह्मणोऽतृणग्राहकः । वने गृद्धश्च पक्षी स्याद् भ्रमेदपसरः पुरे ॥७६
इत्येवं कथयित्वा स तत्कथानां चतुष्टयम् । धीरयित्वा च सन्ध्यायां गतस्तापससन्निधिम् ॥७७
सः तपस्विनरैस्तस्मात्स्थितो मायान्वितो द्विजः । निर्घाटितोऽपि न याति भूत्वा रात्र्यंध एव सः ॥७८

संसारमें जो जबर्दस्ती दूसरेका धन ले लेते हैं वे अनेक दुर्गतियोंके दुःख भोगते हैं ॥६५॥ सब धन नष्ट हो जानेके कारण मुझसे बहुत पश्चात्ताप हुआ परन्तु अन्तमें चुप हो जाना पड़ा। फिर मैं वहाँसे अकेला चल पड़ा। चलते चलते देखा कि किसी पर्वतपर जंगलमें एक गीध रहता था उसी वृक्षपर रातको बहुतसे पक्षी आकर ठहरते थे। जब अन्य पक्षियोंने उसे हटाना चाहा तो उस बूढ़े गीधने कहा कि "हे प्रभो ! मैं अत्यन्त बूढ़ा हूं कहीं दूसरी जगह जानेका सामर्थ्य मुझमें नहीं है। कदाचित् मैं तुम्हारे बच्चोंका भक्षण कर लूँ यह तुम्हे डर है तो तुम सब लोग मेरी मुख (मेरी चोंच) बाँध दो और फिर निश्चिन्त होकर चले जाओ।" उसकी यह बात सबने मान ली सवेरे ही उसका मुँह बाँधकर सब पक्षी चले गये ॥६६-६९॥ उन पक्षियोंके चले जानेपर उस बूढ़े गीधने अपने पजोंसे चोंचके बन्धनको उतारा और पक्षियोंके बच्चोंको खा डाला ॥७०॥ जब उन पक्षियोंके आनेका समय हुआ तब उस गीधने पजोंमे वह बन्धन चोंचके ऊपर चढा लिया और फिर खालीसा पेट दिखलाता हुआ कपटपूर्वक चुपचाप बैठ गया ॥७१॥ यह कृत्य देखकर मैं आगे चला। मार्गमें मैंने देखा कि एक अपसर नामका पापी चोर तपसीका रूप धारण कर खडा है। उसने अपने मस्तकके ऊपर दोनों हाथ ऊँचे कर रक्खे थे और उन दोनों हाथोमें एक पत्थरकी शिला ले रक्खी थी। इस प्रकार शिला लिये वह रातदिन फिरा करता था ॥७२-७३॥ वह प्रायः गढ़े आदि निर्जन स्थानमें जाकर खड़ा होता था, जब कभी सुवर्णालंकारोंसे सुशोभित कोई धनी आदमी आकर उसे नमस्कार करता तभी वह उसके ऊपर वही शिला पटक देता था और लोभके वश हो इस प्रकार उसे मारकर उसका सब धन हरणकर लेता था ॥७४॥ इस प्रकार संसारभरको दुःख देनेवाले चार पापियोंको देखकर हे कोट्टपाल, मैंने यह श्लोक बनाया है ॥७५॥

इस संसारमें अपने बच्चेको भी स्पर्श न करनेवाली स्त्री, तृणको भी वापस लौटा देनेवाला ब्राह्मण, वनमें रहनेवाला बूढ़ा गीध और अपसर नामका चोर भी पुरमें फिरा करता है ॥७६॥ इस प्रकार उस ब्राह्मणने उस कोतवालसे चार कथाएँ कहीं तथा उसको धैर्य बँधाकर सायंकालके समय वह स्वयं उस तपसीके पास गया ॥७७॥ वह ब्राह्मण छल कपटकर वहीं बैठ गया, हटानेसे

तैस्तस्य च नयनाग्रे तृणांगुल्यादिकं धृतम् । परीक्षणाय पश्यत्स स्थितो मौनं विधाय वै ॥७९
अर्द्धरात्रौ पुनस्तेषां सर्वं दृष्टं धनादिकम् । गुहायामन्धकूपे च तेन प्रच्छन्नयोगतः ॥८०
प्रभाते मार्यमाणोऽपि तलारस्तेन रक्षितः । रात्रिदृष्टं समावेद्य राज्ञस्तापसवृत्तकम् ॥८१
स तपस्वी तलारेण मारितोऽत्यन्तकोपतः । अनेकवधबंधादिच्छेदनैश्च कदर्थनैः ॥८२
मृत्वा सोऽपि महादुःखं तीव्रं वाचामगोचरम् । अनुभूय गतः पापाद् दुर्गतिं बहुयोनिजाम् ॥८३
तापसस्य कथां ज्ञात्वा पापभीतैर्महाजनैः । अदत्तं तृणमात्रं च न ग्राह्यं दन्तशुद्धये ॥८४
अन्ये ये बहवो नष्टाः शिवभूत्यादयोऽधमाः । चौर्याच्च कः कथां तेषां गदितुं स्यात्क्षमो भुवि ॥८५
अशुभसकलपूर्णां घोरदुःखादिखानिं, परधनहरणाच्च दुर्गतिं तापसोऽगात् ।
विविधकुवधबन्धं प्राप्य त्यक्त्वा च प्राणान्, इह दुरितकुकीर्तिं पापतोऽमुत्र मूढः ॥८६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अदत्तादानविरतिव्रत-
वारिषेण-तापसकथाप्ररूपको नाम चतुर्दशमः परिच्छेदः ॥१४॥

●

भी नहीं हटा और कहने लगा कि मुझे रात्रिमें कुछ दिखाई नहीं देता है ।।७८।। उन तपसियोंने उसके नेत्रोंके सामने बहुतसी उँगली दिखाकर पूछा, बहुतसे घास पात आदि रक्खे और सब तरहसे उसकी परीक्षा करनी चाही परन्तु वह ब्राह्मण तो मौन धारणकर चुप हो रहा ।।७९।। आधी रातके समय उस ब्राह्मणने देखा कि सब तपसी धन ला लाकर एक अन्धे कूएमें रख रहे हैं। ब्राह्मणने छिपकर सब कृत्य देख लिया ।।८०।। सबेरे ही वह कोतवाल मारा जानेवाला था परन्तु उस ब्राह्मणने आकर उसकी रक्षा की और उस तपसी चोरको पकड़वाया । वहाँपर उसे वध बन्धन आदिके अनेक दुःख भोगने पड़े और ऐसे ऐसे महा दुःख भोगने पड़े जो वचनसे भी नहीं कहे जा सकते । उन सबको भोगकर और कोतवालके द्वारा मारा जाकर उस पापीने अनेक दुर्गतियोमें परिभ्रमण किया ।।८१-८३।। तपसीकी यह कथा सुनकर पापोंसे डरनेवाले महाजनोंको दाँतोंको साफ करनेके लिये विना दिया हुआ एक तृण भी नहीं लेना चाहिये ।।८४।। इस चोरी करनेके कारण शिवभूति आदि और भी बहुतसे नीच पुरुष नष्ट हुए हैं । इस संसारमें उन सबकी कथाओंको भला कौन कह सकता है ।।८५।। देखो, दूसरेका धन हरण करनेके कारण मूर्ख तपसीको वध वन्धन आदिके अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़े और उन्हीं पापोंके कारण प्राणोंका त्यागकर सब तरहके पापोंसे परिपूर्ण घोर दुःखोंकी खानि तथा पाप और अपकीर्तिको बढ़ानेवाली ऐसी अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ा । यही समझकर चोरी करनेका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ।।८६।।

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें अचौर्याणुव्रतका स्वरूप और वारिषेण तथा तपसीकी कथाको कहनेवाला यह चौदहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ।।१४।।

●

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

धर्मनाथजिनं देवं धर्मदं धर्मनायकम् । सर्वधर्ममयं धर्मकरं सद्धर्महेतवे ॥१
अणुव्रतं प्रवक्ष्येऽहं चतुर्थं ब्रह्मसंज्ञकम् । तृतीयं व्रतमाख्याय सर्वसौख्याकरं परम् ॥२
प्रणीतं जिननाथेन सारं तुर्याणुसद्व्रतम् । पवित्रमङ्गिनां सर्वपरस्त्रीत्यागलक्षणम् ॥३
स्वरामयातिसन्तोषं कृत्वा योऽत्र हि पश्यति । मातृवत्पररामां स स्थूलं शीलव्रतं भजेत् ॥४
चतुर्थं व्रतमादाय कृत्वा वैराग्यमञ्जसा । किंपाकफलवन्नारीं सुरूपामपराम् त्यज ॥५
परभार्यादिसंसर्गात् कलङ्कं जायते नृणाम् । व्रतभङ्गो भवेच्चैव यावज्जीवायशःप्रदम् ॥६
संसर्गं हि न कुर्वन्ति क्षणमेकं सुधीजनाः । कलङ्ककारणं निन्द्यं परेषां रामया सह ॥७
नवनीतसमं ज्ञेयं मनःस्त्री चाऽनलोपमा । पुंसां कथं भवेत्तद्धि स्थिरं तन्नं खु स्त्र्यग्निना ॥८
वरमालिङ्गिता क्रुद्धाः सर्पिणी प्राणहारिणी । परस्त्री न च रूपाढ्येहामुत्र प्राणनाशिनी ॥९
परस्त्रियः समं पापं न भूतं न भविष्यति । नास्ति लोके महानिन्द्यं पुंसां सप्तमश्वभ्रदम् ॥१०
परस्त्रिया समं भोगो भवेन्मा वा शठात्मनाम् । तद्वाञ्छाचिन्तया तेषां महापापं प्रजायते ॥११
परभार्यां परिप्राप्य निर्जनेऽत्र क्वचिच्छठः । कथं संलभते सौख्यं वधमाशंक्य चात्मनः ॥१२

जो धर्मके देनेवाले है, धर्मके स्वामी हैं, पूर्ण धर्ममय हैं और धर्मकी खानि है ऐसे श्री धर्मनाथ जिनेन्द्रदेवको मै केवल धर्मकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अब मै तीसरे अचौर्याणुव्रतका स्वरूप कहकर समस्त सुखोंको देनेवाले और परम उत्कृष्ट ऐसे चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप कहता हूँ ॥२॥ परस्त्रीके त्याग करनेरूप यह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत श्री जिनेन्द्र-देवने सबमें सार बतलाया है, यही व्रत समस्त जीवोंके लिये परम पवित्र और श्रेष्ठ है ॥३॥ जो अपनी स्त्रीमें सन्तोष रखकर अन्य स्त्रियोंको माताके समान देखता है, उसके यह स्थूल शीलव्रत या स्थूल ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रत होता है ॥४॥ इस चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रतको पालनकर जीवोंको विरक्त होना चाहिये और किंपाकफलके समान परस्त्रियोंका त्याग कर देना चाहिए ॥५॥ परस्त्रीके संसर्गसे मनुष्योंको कलंक लगता है और जीवनपर्यन्त अपयशको देनेवाला व्रत भंग होता है ॥६॥ बुद्धिमान पुरुषोंको परस्त्रियोंके साथ एक क्षणभर भी संसर्ग नहीं करना चाहिये। क्योंकि परस्त्रियोंका संसर्ग कलंक उत्पन्न करनेवाला है और अत्यन्त निंद्य है ॥७॥ पुरुषोंका मन मक्खनके समान है और स्त्री अग्निके समान है फिर भला दोनोंका संसर्ग होनेपर वे दोनों कबतक स्थिर रह सकते हैं ॥८॥ केवल इस लोकमें प्राणोंको हरण करनेवाली क्रोधित हुई सर्पिणीका आलिंगन कर लेना अच्छा, परन्तु इस लोकमें प्राणोंको हरण करनेवाली और परलोकमें प्राणोंको नाश करनेवाली परस्त्रीका आलिंगन करना अच्छा नहीं ॥९॥ इस संसारमें परस्त्रीसेवनके समान अन्य कोई पाप न हुआ है न हो सकता है, संसारमें इसके समान और कोई महानिंद्य काम नहीं है और न इसके समान मनुष्योंके दुःख देनेवाला अन्य कोई काम है ॥१०॥ मूर्ख लोगोंको परस्त्रीके साथ भोगोंकी प्राप्ति हो या न हो, किन्तु परस्त्रीकी इच्छा और चिन्तासे ही उन्हें महापाप लग जाता है ॥११॥ जो मूर्ख किसी निर्जन स्थानमें परस्त्रीके समीप जाता है वह सुखी किस प्रकार

मन्येहमेवं मूढानां परस्त्रीसङ्गसम्भवम् । यद्दुःखं तद्धि सौख्यं च भासते बुद्धिनाशतः ॥१३
परनारीं समीहन्ते ये चेह विषयाकुलाः । वधबन्धादिकं क्लेशं सर्वस्वहरणं तथा ॥१४
प्राप्यतेऽमुत्र लोकेऽहो मज्जन्ति श्वभ्रसागरे । दुस्सहे विषमे घोरे दुःखमीनसमाकुले ॥१५
परस्त्रिया समं येऽत्र कुर्वन्त्यालिङ्गनादिकम् । तदामुत्र भवेत्तेषाम् तप्तलोहाग्निरामया ॥१६
कामदाहो न शाम्येत परस्त्रीतैलसिञ्चितः । स एवोपशमं याति ब्रह्मचर्याम्बुसिञ्चितः ॥१७
कामज्वरमपोहन्ते निराकर्तुं हि येऽधमाः । पररामौषधेन तैलेनाग्निं सिञ्चन्ते बुधाः ॥१८
वरं हालाहलं भुक्तमग्नौ वा सागरेऽचले । झंपापातो न पुंसां च शीलादिच्युतजीवितम् ॥१९
वैराग्याधिष्ठितं कृत्वा हृदयं शीलवासितम् । परदारां त्यज त्वं भो सर्पिणीमिव सर्वथा ॥२०
मद्यमांसादिसंसक्तां मातङ्गादिषु लम्पटाम् । अयश पापदुःखादिकरां वेश्यां त्यजेद् बुधः ॥२१
सर्वव्यसनदां क्रूरां कुटिलां कुटिलाननाम् । त्यज त्वं गणिजां पापां धनधर्मेषु तस्करीम् ॥२२
गौरचर्मावृतां बाह्ये वस्त्राभरणमण्डिताम् । मधुरां मधुरालापां गीतनृत्यकरां वराम् ॥२३
स्वरूपां हीनसत्त्वानां मनः क्षोभकरां सुहृत् । स्वैरिणीं गणिकां चान्यां दृष्ट्वा मध्ये विचारय ॥२४

हो सकता है क्योंकि वहाँ तो उसे सदा अपने मारे जानेकी ही आशका लगी रहती है ॥१२॥ मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि परस्त्री समागम करनेवालोंकी बुद्धि नष्ट हो जाती है इसलिये उन मूर्खोंको परस्त्रीके समागमसे जो दुःख उत्पन्न होता है उसे ही वह सुख मान लेता है ॥१३॥ विषयोंसे व्याकुल हुए जो मनुष्य परस्त्रीकी इच्छा करते है वे वध बन्धनके अनेक क्लेश सहते है, उनका सब धन हरण कर लिया जाता है और मरकर परलोकमे दुःखरूपी अनेक मछलियोंसे भरे हुए असह्य, विषम और घोर ऐसे नरकरूपी महासागरमें डूबते है ॥१४–१५॥ जो पुरुष परस्त्रियोंके साथ आलिंगनादिक करते है, परलोकमें नरकमे जाकर उनके शरीरसे, अग्निसे लालकी हुई लोहेकी पुतलियाँ चिपकाई जाती है ॥१६॥ परस्त्रीरूपी तेलके सीचनेसे यह कामरूपी अग्नि कभी शान्त नही होती और ब्रह्मचर्यरूपी जलके सीचनेसे यह कामाग्नि अपने आप शान्त हो जाती है ॥१७॥ जो नीच पुरुष कामज्वरको परस्त्री रूपी औषधिसे दूर करना चाहते है वे अग्निको तेलसे बुझाना चाहते है ॥१८॥ हालाहल विष खा लेना अच्छा, अग्निमे जल मरना अच्छा, समुद्रमें डूब जाना अच्छा, तथा पर्वतसे गिर पड़ना अच्छा, परन्तु मनुष्योंका शीलरहित जीवित रहना अच्छा नही ॥१९॥ इसलिये हे भव्य ! अपने हृदयमे वैराग्य धारण कर और हृदयको शीलव्रतसे सुशोभित कर सर्पिणीके समान परस्त्रीका सर्वथा त्याग कर ॥२०॥

इसी प्रकार मद्य, मांस आदिमें आसक्त होनेवाली चांडालादिकके साथ लम्पटता धारण करनेवाली तथा अपयश, पाप और दुःखादिको उत्पन्न करनेवाली वेश्याका भी तू सर्वथा त्याग कर ॥२१॥ यह वेश्या समस्त व्यसनोंको उत्पन्न करनेवाली है, क्रूर है, कुटिल है, पापिनी है, धन और धर्मको चुरानेवाली है और इसका मुख स्वाभाविक कुटिल है (कहती कुछ है करती कुछ है) ऐसी वेश्याका तू दूरसे ही त्याग कर ॥२२॥ यद्यपि यह वेश्या ऊपरसे गोरे चमड़ेसे मढी हुई है, बाहरसे वस्त्र आभरणोंसे सुशोभित हो रही है, इसका स्वर भी मधुर है, गीत नृत्य करने वाली है, रूपवती है और अच्छीसी जान पड़ती है तथापि हे मित्र ! यह नीच प्राणियोंके ही मनमें क्षोभ उत्पन्न करती है, यही विचार कर हे मित्र ! इस स्वेच्छाचारिणी वेश्याका तू त्याग कर

मद्यलालांबुसङ्क्लिष्टं खर्परं मण्डला इव । वेश्यास्यं ये हि लिह्यन्ति श्वानपुत्राः कथं न ते ॥२५
निषेवन्ते हि नारीं ये जातिहीनां कुमार्गगाः । सम्प्राप्य जातिनाशं ते गर्दभीमश्ववत्तथा ॥२६
जातिहीनो दिवं याति धर्माचरणयोगतः । पापात्मा दुर्गतिं याति कुलजो धर्मव्यत्ययात् ॥२७
जीवन्तोपि मृता ज्ञेया शीलहीना हि मानवाः । न तिष्ठन्ति गुणास्तेषु केचिद्धो मृतके यथा ॥२८
स्वनारीं यः परित्यज्य परनारीं निषेवते । भुङ्क्ते मातङ्गगेहे स त्यक्त्वा स्वान्नं वरं खलः ॥२९
वेश्यादिपरनारीणां सङ्गं कुर्वन्ति येऽधमाः । मातङ्गवत् तेऽप्यस्पृश्याः भवन्ति भुवनत्रये ॥३०
इति मत्वा हि भो मित्र ! पररामां सदा त्यज । पूर्वं कृत्वातिसन्तोषं पुण्यदं स्वस्य रामया ॥३१
ब्रह्मचर्यं चरेद्यस्तु मुक्तिस्त्रीचित्तरञ्जकम् । प्राप्य स्वर्गं च राज्यं स मुक्तिनाथो भवेद् ध्रुवम् ॥३२
एकचित्तेन ये शीलं पालयन्ति बुधोत्तमाः । सेवां कुर्वन्ति देवेन्द्रास्तेषां भृत्या इव स्वयम् ॥३३
दिनैकं ब्रह्मचर्यं यो विधत्तेऽभयदानतः । वै नवलक्षजीवानां तस्य पुण्यं न वेद्म्यहम् ॥३४
शीलयुक्त इहामुत्र भवेत्पूज्यः पदे पदे । नृदेवखेचरेन्द्रैश्च नाकमोक्षाधिपः स ना ॥३५
कुर्वन्ति भुवने शीलाभरणं याः स्त्रियोऽमरैः । प्राप्य पूजामिहामुत्र यान्ति षोडशमे दिवे ॥३६
मन्ये स एव पुण्यात्मा शीलरत्नं सुनिर्मलम् । स्त्रीकटाक्षादिलुण्टाकैर्न हृतं यस्य भो हठात् ॥३७
ते धन्याः शीलसद्रत्नं येषां सारं न लुण्ठितम् । कामेन्द्रियादिचौरैश्च मनोराजादिप्रेरितैः ॥३८

॥२३-२४॥ जिस प्रकार कुत्ता खप्परको चाटता है उसी प्रकार जो नीच मद्यकी लारसे झरे हुए वेश्याके मुँहको चाटते हैं उन्हे श्वानपुत्र (कुत्ते) क्यों नहीं कहना चाहिये ॥२५॥ जिस प्रकार घोड़ा गर्दभीका सेवनकर अपनी जातिको नष्ट करता है उसी प्रकार जो कुमार्गगामी पुरुष नीच जातिकी स्त्रियोंका सेवन करते है वे खच्चरोंके समान अपनी जातिको नष्टकर देते है क्योंकि खच्चरोंके फिर सन्तान नहीं होती ॥२६॥ धर्मरूप आचरण करनेसे जातिहीन पुरुष भी स्वर्गमें जा उत्पन्न होता है किन्तु पाप करनेसे वा धर्मका नाश करनेसे यह प्राणी दोनों लोकोंमें दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥२७॥ जो मनुष्य शीलरहित है वे जीवित रहते हुए भी मरे हुएके समान है क्योंकि जिस प्रकार किसी मरे हुए पुरुषमें कोई गुण नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार उस शीलरहित पुरुषमें भी कोई गुण नही ठहर सकते ॥२८॥ जो मूर्ख अपनी स्त्रीको छोड़कर परस्त्रीका सेवन करते हैं वे अपने उत्तम भोजनोंको छोड़कर चांडालके घर सबका उच्छिष्ट खाते है ॥२९॥ जो नीच पुरुष वेश्याओंका वा परस्त्रियोंका समागम करते हैं वे चांडालके समान तीनों लोकोंमें अस्पृश्य (न छूने योग्य) गिने जाते है ॥३०॥ यही समझकर हे मित्र ! पहिले अपनी स्त्रीमें ही पुण्य बढ़ानेवाला सन्तोष धारणकर और फिर सदाके लिये परस्त्रीका त्याग कर ॥३१॥ जो मनुष्य मुक्तिरूपी स्त्री के चित्तको प्रसन्न करनेवाला ब्रह्मचर्य पालन करते है वे स्वर्गका साम्राज्य पाकर अन्तमें मुक्तिके स्वामी होते हैं ॥३२॥ जो उत्तम विद्वान् एकाग्रचित्तसे शीलका पालन करते है उनकी इन्द्र भी आ कर स्वयं सेवा करता है ॥३३॥ जो एक दिन भी ब्रह्मचर्य पालन करता है वह नौ लाख जीवों के अभयदान देनेका पुण्य प्राप्त करता है ॥३४॥ शीलवान पुरुष इस लोक और परलोकमें मनुष्य, देव, विद्याधरोंके द्वारा पद पदपर पूज्य होता है और अन्तमें स्वर्ग-मोक्षका स्वामी होता है ॥३५॥ इस संसारमें जो स्त्रियाँ शीलरूपी आभरणको धारण करती हैं वे देवोंके द्वारा पूजा प्रतिष्ठा पाकर सोलहवें स्वर्गमें जाकर देव होती हैं ॥३६॥ जिसका निर्मल शीलरूपी रत्न स्त्रियोंके कटाक्षरूपी लुटेरोंके द्वारा नही हरा गया, वही पुरुष संसारमें पुण्यवान है ऐसा मैं मानता हूँ ॥३७॥ जिनका

परीषहभटैरुच्चैः स्त्रीकृतोपद्रवैस्तथा । न त्यक्तं शीलमाणिक्यं यैश्च तेभ्यो नमोऽस्तु मे ॥३९
किमत्र बहुनोक्तेन त्वं शीलं भज सर्वथा । सारं सर्वव्रतादीनां धर्मरत्नादिसद्गृहम् ॥४०
शीलं यो मतिमान् धत्ते सदातिचारप्रच्युतम् । यशः पूजां स आसाद्य स्वर्गं वा याति निर्वृतिम् ॥४१
निर्मलस्यापि शीलस्य मलसम्पादनक्षमान् । आदिश त्वं हि भो नाथ ! व्यतिचारान् ममादरात् ॥४२
शृणु भो वत्स ! ते वक्ष्ये अतीचारान् मलप्रदान् । नारीसंसर्गतो जातान् मोहाद्वाप्यशुभोदयात् ॥४३
अन्यविवाहकरणं गृहीतेतरभेदतः । इत्वरिकागमनं च द्विधा स्यान्मलकारणम् ॥४४
चतुर्थोऽनङ्गक्रीडा स्यादतीचारो विरूपकः । पञ्चमः कामतीव्राभिनिवेशश्च जिनैर्मतः ॥४५
परेषां यो मनुष्याणां विवाहं पापकारणम् । करोति मूढधीस्तस्य भवेद्दोषो मलप्रदः ॥४६
इच्छन्ति ये खला नूनमित्वरिकां सभर्तृकाम् । अतीचारो भवेत्तेषां रागाच्छीलव्रतस्य वै ॥४७
समीहन्ते शठा येऽपि परस्त्री भर्तृविच्युताम् । गणिकां वातिलोभेन व्यतीपातं भजन्ति ते ॥४८
मुक्त्वा योनिं हि ये क्रीडां प्रकुर्वन्ति मुखादिके । यत्र तत्र शरीरे वा रागात्तेषामतिक्रमः ॥४९
अतितृष्णां विधत्ते यः कामसेवादिके बुधः । अग्निवच्च न सन्तोषमतीचारं श्रयेत्स ना ॥५०
परनारीं तिरश्चीं च सेवन्ते ये व्रतच्युताः षण्ढत्वं प्राप्य ते दुष्टाः श्वभ्रनाथा भवन्ति वै ॥५१

शीलरूपी श्रेष्ठ भण्डार मनरूपी राजाके द्वारा प्रेरणा किये गये काम और इन्द्रियरूपी चोरोंके द्वारा नहीं लूटा गया वे ही पुरुष संसारमें धन्य है ॥३८॥ जिन्होंने स्त्रियोंके किये हुए अनेक उपद्रवोंके होनेपर तथा सैकड़ों कठिन परीषहोंके उपस्थित होनेपर अपना शीलरूपी माणिक-रत्न नहीं छोड़ा है उनके लिये मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥३९॥ बहुत कहनेसे क्या, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि यह शीलव्रत सब व्रतोंका सार है और धर्मरूपी रत्नोंका भण्डार है इसलिये हे मित्र ! तू इसको सब तरहसे पालन कर ॥४०॥ जो बुद्धिमान अतिचार-रहित इस शीलव्रतको पालन करता है वह इस संसारमें पूजा प्रतिष्ठा पाकर अन्तमें स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करता है ॥४१॥ प्रश्न—हे प्रभो ! यद्यपि यह शीलव्रत स्वय निर्मल है तथापि इसमें मल उत्पन्न करनेवाले अतिचारोंको आप कृपाकर कहिये ॥४२॥ उत्तर—हे वत्स ! सुन ! इस व्रतमे मल उत्पन्न करनेवाले स्त्रियोंके संसर्गसे और अत्यन्त अशुभ कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए अतिचारोंको मैं कहता हूँ ॥४३॥ अन्य विवाहकरण, परिग्रहीता इत्वरिकागमन, अपरिग्रहीता इत्वरिकागमन, अनंगक्रीड़ा, और काम तीव्राभिनिवेश ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार कहलाते हैं ॥४४-४५॥ जो अज्ञानी जीव दूसरोंके पुत्र पुत्रियोंके विवाह करते है उनके ब्रह्मचर्यमें मल उत्पन्न करनेवाला अन्यविवाहकरण नामका पहिला अतिचार लगता है ॥४६॥ जो पुरुष रागपूर्वक किसीकी विवाहिता व्यभिचारिणीको इच्छा करते हैं उनके शीलव्रतमें परिग्रहीता इत्वरिकागमन नामका दूसरा अतिचार होता है ॥४७॥ जो मूर्ख पतिरहित परस्त्रियोंकी अथवा अविवाहित वेश्या आदिकोंकी इच्छा करते हैं उनके व्रतमें अपरिग्रहीता इत्वरिकागमन नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥४८॥ जो पुरुष योनिको छोड़कर रागपूर्वक मुखादिकमें क्रीड़ा करते हैं अथवा शरीरपर यत्र तत्र क्रीड़ा करते हैं उनके अनंगक्रीड़ा नामका चौथा अतिचार लगता है ॥४९॥ जो बुद्धिमान कामसेवनमें अत्यन्त तृष्णा रखता है और अग्निके समान जिसे सन्तोष होता ही नहीं, उसके काम-तीव्राभिनिवेश नामका पाँचवाँ अतिचार लगता है ॥५०॥ जो मूर्ख अपने शीलव्रतको छोड़कर परस्त्रीका अथवा किसी तिर्यंचिनीका सेवन करता है वह परलोकमें नपुंसक होकर नरकका स्वामी

त्यक्तपञ्चव्रतोपातं ब्रह्मचर्यमणुव्रतम् । धत्ते यः प्राप्य नाकं च राज्यं गच्छति निर्वृतिम् ॥५२
नरकगृहप्रतोलीं धर्मवृक्षे कुठारीं दुरितवनकुवृष्टिं बन्धुविध्वंसदां त्वम् ।
सुरगतिशिवगेहेऽप्यर्गलां साधुनिन्द्यां त्यज सकलपरस्त्रीं स्थूलब्रह्म विधाय ॥५३
अखिलकुजनसेव्यां मद्यमांसादिसक्तामशुभभुवनभूमिं तस्करीं धर्मरत्ने ।
कुगतिकुमतिदां त्वं मुक्तिमार्गार्गलां भो त्यज भुवि बुध वेश्यां शीलगेहं प्रविश्य ॥५४

स्वर्मोक्षैककरं यशःशुभप्रदं त्यक्तोपमं निस्पृहं
सद्धर्मामलरत्नभाण्डमसमं पापस्य निर्नाशकम् ।
सत्सौख्याकरमेकमेव शुचिदं धीरैः सदा सेवितं
संसाराम्बुधितारकं हि भज भो त्वं सारशीलं शुभम् ॥५५

ब्रह्मचर्यफलाज्जीवः प्राप्य पूजामिहामरैः । कृताममुत्र लोकेऽपि स्वर्गमुक्त्यादिकं व्रजेत् ॥५६
शीलमाहात्म्यतः केन फलं लब्धं निरूपय । भगवन्निह लोकेऽपि विधायानुग्रहं मम ॥५७
शृणु धीमन्नहं वक्ष्ये कथां शीलसमुद्भवाम् । एकचित्तान्वितो भूत्वा नील्याः पुण्यफलप्रदाम् ॥५८
लाटदेशे मनोज्ञेऽस्मिन् वसुपालो नरेश्वरः । पत्तने भृगुकच्छाख्ये जातः पुण्योदयात्सुधीः ॥५९
जिनदत्तो भवेत् श्रेष्ठी जिनदत्ताभिधा प्रिया । पुत्री जाता तयोर्नीली रूपशीलसमन्विता ॥६०

होता है ॥५१॥ जो मनुष्य इन पाँचों अतिचारोंका त्यागकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है वह स्वर्गका राज्य पाकर अन्तमें मुक्त होता है ॥५२॥ हे भव्य ! परस्त्रीका सेवन नरकरूपी घरकी देहली है, धर्मरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठार (कुल्हाड़ी) के समान है, पापरूपी वनको बढ़ानेके लिये वर्षाके समान है, भाई बन्धु आदिको नाश करनेवाला है, देवगति और स्वर्गरूपी घरको बन्द करनेके लिये अर्गल (वेंडा) के समान है और सज्जन पुरुषोंके द्वारा सदा निंद्य है इसलिये हे भव्य ! स्थूल ब्रह्मचर्य धारण करके तू सब प्रकारकी परस्त्रियोंका त्याग कर ॥५३॥ इसी प्रकार वेश्या भी मद्य मांसादिकमें सदा आसक्त रहती है, संसारमें जितने दुष्ट हैं सब उसे सेवन करते हैं, पापरूपी वनको उत्पन्न करनेके लिये भूमिके समान है, धर्मरूपी रत्नोंकी चोर है, दुर्गति और दुर्बुद्धियोंको उत्पन्न करनेवाली है, और मोक्षमार्गको रोकनेके लिये अर्गलके समान हैं। इसलिये हे विद्वन् ! तू शीलरूपी घरमें प्रवेशकर इस वेश्या सेवनका भी सदा त्याग कर ॥५४॥ यह शीलरत्न स्वर्ग मोक्षको देनेवाला है, यश और पुण्यको बढ़ानेवाला है, संसारमें इसकी कोई उपमा नहीं, यह अत्यन्त निस्पृह है, सद्धर्मरूपी निर्मल रत्नोंका पिटारा है, पापोंका नाश करनेवाला है, उत्तम सुख देनेवाला है, अत्यन्त पवित्र है, धीरवीर पुरुषोंके द्वारा ही यह सेवन किया जाता है, अत्यन्त शुभ है, सार है और संसाररूपी महासागरसे पारकर देनेवाला है। इसलिये हे भव्य ! तू ऐसे शीलव्रतका पालन कर ॥५५॥ ये जीव ब्रह्मचर्य व्रतके फलसे इस लोकमें भी देवोंके द्वारा पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और परलोकमें भी स्वर्ग मोक्षके स्वामी होते हैं ॥५६॥

प्रश्न—हे भगवन् ! इस शीलव्रतके माहात्म्यसे इसी लोकमें किसको फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कह दीजिये ॥५७॥ उत्तर—हे चतुर ! तू चित्त लगाकर सुन। मैं पुण्य फल देनेवाली शीलव्रतकी कथा कहता हूँ ॥५८॥ इसी मनोहर ललाट देशके भृगुकक्ष नामके नगरमें पुण्यकर्मके उदयसे बुद्धिमान् राजा वसुपाल राज्य करता था ॥५९॥ उसी नगरमें एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था। जिनदत्ता उसकी सेठानीका नाम था। उन दोनोंके रूप और शीलसे

श्रेष्ठी समुद्रदत्ताख्यस्तिष्ठत्येव पुरेऽपरः । भार्या सागरदत्ताख्या जाता तस्य सुखप्रदा ॥६१
पुत्रः सागरदत्तो हि तयोर्जातोऽतियौवने । गतो जिनालयं सोऽपि मित्रेण सममेकदा ॥६२
कायोत्सर्गान्विता नीली वस्त्राभरणमण्डिता । महापूजां विधायोच्चैर्जिनस्याग्रे स्थिता स्वयम् ॥६३
आलोक्य स्वयं तेन पृष्टो मित्रस्तदा स्फुटम् । एषा किं देवता काचित् रूपलावण्यसंयुता ॥६४
तदाकर्ण्याशु मित्रेण प्रियदत्तेन भाषितम् । श्रेष्ठिनो जिनदत्तस्य नीली पुत्रीयमेव हि ॥६५
तद्रूपालोकनाज्जातो तीव्रासक्तः स तत्क्षणम् । ताडितः कामबाणेन हृदये रागहेतुतः ॥६६
रूपलावण्यसीमेयं कथं लभ्या मयाऽधुना । परिणेतुं महापुण्या चेत्यभूच्चिन्तया कृशः ॥६७
ज्ञात्वा समुद्रदत्तेन तत्पुत्रो भणितस्तदा । मुक्त्वा जैनं खु हे पुत्र ! पुत्रीं नैव ददाति भो ॥६८
श्रेष्ठ्ययं जिनदत्ताख्यो मातङ्गानिव पश्यति । अस्मान् कथं स्वपुत्रीं स परिणेतुं ददाति वै ॥६९
पर्यालोच्य ततो जातौ श्रावकौ तौ मुनीश्वरात् । कौटिल्येन जिनेन्द्रस्य शासने धर्मदीपकौ ॥७०
परिणेतुं प्रदत्ता सा पुत्रिका तस्य श्रेष्ठिना । त्यक्त्वा मिथ्यात्वसर्वस्वं गृहीतजिनधर्मत. ॥७१
नीत्वा नीलीं स्वयं गेहे निषिध्य गमनं पुन. । पितृगृहे ततो जातौ बुद्धभक्तौ कुमार्गगौ ॥७२
ज्ञात्वा तद्वचनं श्रेष्ठी जगादेयं न मे सुता । जाता वा पतिता कूपे नीता वा च यमेन वै ॥७३
वरं क्षिप्तान्धकूपादौ पुत्री सन्मृत्युहेतवे । न च दातुं कुमिथ्यात्वाधिष्ठिताय जडात्मने ॥७४

सुशोभित नीली नामकी पुत्री थी ॥६०॥ उसी नगरमें एक समुद्रदत्त नामका दूसरा सेठ रहता था और उसको सुख देनेवाली उसकी सेठानीका नाम सागरदत्ता था ॥६१॥ उन दोनोके सागरदत्त नामका पुत्र था । वह सागरदत्त अत्यन्त यौवनावस्थामें किसी एक दिन अपने किसी मित्रके साथ जिनालयमें गया था । वहाँपर सेठ जिनदत्तकी पुत्री नीली वस्त्राभरणोंसे सुशोभित होकर भगवान्‌की पूजा कर भगवान्‌के ही सामने कायोत्सर्ग धारण कर खड़ी थी ॥६२–६३॥ उसे देखकर सागरदत्तने अपने मित्रसे पूछा कि रूप और लावण्यसे सुशोभित क्या यह कोई देवता है ? ॥६४॥ सागरदत्तकी यह बात सुनकर उसके मित्रने कहा कि यह देवता नही है, किन्तु सेठ जिनदत्तकी पुत्री नीली है ॥६५॥ उसके रूपको देखकर वह सागरदत्त उसमें तीव्र आसक्त हो गया, वह कामवाणसे बीधा गया और उसका हृदय रागसे भर गया ॥६६॥ वह रात-दिन यही चिन्तवन करने लगा कि यह नीली रूप-लावण्य की सीमा है और महा पुण्यवती है, मै इसके साथ किस प्रकार विवाह करूँ ? इसी चिन्तामें वह रात-दिन कृश होने लगा ॥६७॥ उसके पिता समुद्रदत्तने यह बात जानकर अपने पुत्र सागरदत्तसे कहा कि हे पुत्र ! जिनदत्त जैनको छोड़कर और किसीको अपनी पुत्री नहीं देगा ॥६८॥ वह जिनदत्त सेठ हम लोगोको चण्डालके समान देखता है फिर भला विवाहके लिये वह हमे अपनी कन्या देगा ? ॥६९॥ यही सोच-विचारकर वे दोनों बाप बेटे कपट धारण कर किसी मुनिराजके पास गये और वहाँ पर जिनधर्म धारण कर दोनों ही धर्मको बढ़ानेवाले श्रावक बन गये ॥७०॥ सागरदत्तने मिथ्यात्व छोड़ दिया है और जिनधर्म धारण कर लिया है यह सब जगह प्रसिद्ध हो गया और फिर सेठ जिनदत्तने भी सागरदत्तके लिये अपनी पुत्री दे दी ॥७१॥ जब नीली सागरदत्तके घर चली गई तब उन्होंने उसे अपने पिताके घर जानेसे रोक दिया और फिर वे दोनों कुमार्गगामी बाप बेटे बुद्धके भक्त बौद्ध हो गये ॥७२॥ जब यह बात जिनदत्तने सुनी तब वह बहुत पश्चात्ताप करने लगा और कहने लगा कि मेरे पुत्री हुई ही नहीं थी, अथवा होकर कूएँमें पड़ गई अथवा मर गई ॥७३॥ पुत्रीको अन्धे कूएँमें डाल देना अच्छा

सा कूपे पतिता दुःखं भुङ्क्ते चैकभवं पुनः । अनन्तभवजं पापान्मिथ्यादृष्टिगृहे गता ।।७५
बालहत्या भवेद्दोषः कन्याकूपाविक्षेपणात् । नृणां भवेत्कुनीचाय दानात्पापमनेकशः ।।७६
श्वसुरस्य गृहे नीली पृथग्भूत्वा प्रियान्विता । जैनं धर्मं करोत्येव चैकचित्तेन प्रत्यहम् ।।७७
धर्माविश्रवणाद्दानात्संसर्गाद्वा भविष्यति । कालेन बौद्धभक्तेयं श्रेष्ठी मत्वेति संजगौ ।।७८
हे नीलि ! ज्ञानिनां त्वं हि वन्दकानां सुभोजनम् । आमन्त्र्य विदुषां देहि अस्मदर्थं सुखाकरम् ।।७९
नील्याहूय पुनस्तेषां भोक्तुं दत्तातिखण्डिता । एकैका पादरक्षिका संस्कार्यातिरसान्विता ।।८०
गच्छद्भिर्भोजनं कृत्वाऽदृष्टा प्राणहिता वरा । क्व गता नैव पश्यामस्तैरागाङ्कितविग्रहैः ।।८१
तयोक्तं यत्र ताः सन्ति यूयं जानीत शीघ्रतः । ज्ञानेन यदि तन्नास्ति कथं पूज्या बुधोत्तमैः ।।८२
तैरुक्तं नास्ति चास्माकं ज्ञानमीदृग्विधं पुनः । तयोक्तं तर्हि ताः सन्ति प्रोदरे धीमतां स्थिताः ।।८३
नोचेद्वचनविश्वासः कुर्वीध्वं वमनं तदा । दृष्टानि चर्मखण्डानि तैः कृते वमने बलात् ।।८४
ततोऽतिनष्टसन्मानाः गताः लज्जाकुला हि ते । श्वसुरस्य जनाः सर्वे रुष्टास्तन्मानखण्डनात् ।।८५
कोपात्सागरदत्तस्य भगिन्यादिभिरप्यघात् । नील्याः दत्तो महादोषः परनृगमनादिकः ।।८६

परन्तु मिथ्यात्वको सेवन करनेवाले मूर्खके लिये देना अच्छा नहीं ।।७४।। इसका भी कारण यह है कि यदि वह कूएँमें डाल दी जायगी तो केवल इसी एक भवमें दुःख भोगेगी, परन्तु मिथ्यादृष्टिके घर जानेपर वह मिथ्यात्वसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पाप करेगी और फिर अनन्त भवोंतक दुःख पावेगी ।।७५।। कन्याको कूएँमें डाल देनेसे मनुष्योंको बालहत्याका दोष लगाता है और नीच मनुष्यको देनेमें अनेक प्रकारके पाप होते हैं ।।७६।।

इधर नीली अपने श्वसुरके घर अपने पतिके साथ अलग रहती हुई प्रतिदिन चित्त लगाकर जैनधर्मका पालन करने लगी ।।७७।। समुद्रदत्तने यह सोचा कि धर्म श्रवण करनेसे और बौद्ध भिक्षुकोंको दान देनेसे समय पाकर यह बुद्धकी भक्ति करने लगेगी । यही विचार कर किसी एक दिन उसने नीलीसे कहा कि हे नीली ! हमारे जो बौद्ध भिक्षु है वे बड़े ज्ञानी हैं, बड़े विद्वान् हैं, इसलिये तू उन्हें आमन्त्रण कर किसी एक दिन भोजन दे । उनको भोजन देनेसे हमें बहुत सुख होगा ।।७८–७९।। नीलीने यह बात स्वीकार करली, भिक्षुकोंको आमन्त्रण दिया गया, वे आये और नीलीने सबको भोजन दिया परन्तु उनकी अनेक प्राणियोंको नाश करनेवाली एक एक जूती बारीक कतर कतर कर घी बूरेमें पागकर खिला दी ।।८०।। जब वे भिक्षु भोजन करके जाने लगे और उन्हें एक एक जूती नहीं मिली तब उन्होंने क्रोधित होकर पूछा कि प्राणोंका हित करनेवाली हमारी एक एक जूती कहाँ है ।।८१।। इसके उत्तरमें नीलीने कहा कि आप तो बड़े ज्ञानी और विद्वान् हैं आप ही बतलाइये कि आपकी जूती कहाँ है ? यदि आपमें इतना ज्ञान नहीं है तो फिर विद्वान् लोग आपको पूज्य कैसे मान सकते हैं । यह सुनकर भिक्षुकोंने कहा कि हमलोगोंमें ऐसा ज्ञान नहीं है । तब नीलीने कहा कि तो सब जूतियाँ आप लोगोंके पेटमें हैं । यदि आपको मेरे वचनोंका विश्वास न हो तो वमन कर डालिये । इसपर उन्होंने जबर्दस्ती वमन किया और उसमें चमके छोटे टुकड़े दिखाई दिये ।।८२-८४।। तदनन्तर बड़े निरादरके साथ और लज्जासे व्याकुल होकर वे सब भिक्षु चले गये । नीलीके इस कर्तव्यसे और भिक्षुकोंका मान खण्डन हो जानेके कारण श्वसुरके घरके सब लोग नीलीसे रुष्ट हो गये ।।८५।। क्रोधित होकर सागरदत्तकी बहिन आदिने पापकर्मके उदयसे नीलीके लिये पर मनुष्यके साथ गमन करनेका महादोष लगाया ।।८६।। जब

जातो दोषः प्रसिद्धोऽस्मिन् लोकमध्ये यदा तदा । जिनाग्रे सत्प्रतिज्ञात्र गृहीताशु तया दृढा ॥८७
यदि नश्यति दोषोऽयमहं भक्ष्ये तदा स्फुटम् । नोचेदनशनं चास्तु यावज्जीवं सुखाकरम् ॥८८
इति संन्यासमादाय कार्योत्सर्गेण संस्थिता । निश्चलाङ्गा महाधीरा सा स्मरन्ती जिनं हृदि ॥८९
पुरदेवतयागत्य रात्रौ सा भणिता सती । पुरः क्षुभितया शीघ्रं शीलमाहात्म्ययोगतः ॥९०
हे महासति ! प्राणानां त्यागं त्वं मा कुरु वृथा । स्वप्नं ददाम्यहं राज्ञः प्रधानानां च श्रेष्ठिनाम् ॥९१
प्रतोल्यो नगरे सर्वा उद्घाटिष्यन्ति कीलिताः । स्पृष्टा महासतीवामपादेनैव न चान्यथा ॥९२
तासां संस्पर्शनं कुर्याः पादेनैवातिशीघ्रतः । उद्घटिष्यन्ति चेत्पादस्पर्शाच्छुद्धा त्वमेव ताः ॥९३

इत्युक्त्वा सा ततो गत्वा दत्वा स्वप्नं हि तादृशम् ।
राजादीनां प्रतोलीश्च कीलित्वाऽपि स्वयं स्थिता ॥९४

प्रतोलीरक्षकाच्छ्रुत्वा प्रभाते ताः प्रकीलिताः । राजादयोपि तत्स्मृत्वा स्वप्नं तत्रागताः स्वयम् ॥९५
आकार्य नगरस्त्रीणां वामपादेन ताडनम् । प्रकारितं प्रतोलीनां राज्ञा नोद्घटिता हि ताः ॥९६
पश्चान्नीली समुत्क्षिप्य तत्रानीता शुचिव्रतात् । तत्पादस्पर्शनात्ता हि सर्वा उद्घटितास्तदा ॥९७
ततो राजादिभिर्नीली ज्ञात्वा शीलं प्रशंसिता । पूजिता वस्त्राभरणैः स्तुता लोकैस्तथा परैः ॥९८
त्यक्तदोषास्तदा जाता लोकमध्येऽतिसत्त्वतः । इहामुत्र च विख्याता पूज्या नीली नरामरैः ॥९९

सकलविगतदोषा शीलसारेण जाता, अमरनृपजनैश्च पूजिताऽत्रैव लोके ।
यमदमशमपूर्णा श्रेष्ठिपुत्री हि नीली, विमलगुणधरित्री शीलरत्नाविखानिः ॥१००

नीलीका यह महादोष संसारमें प्रसिद्ध हो गया तब नीली नीचे लिखी प्रतिज्ञाकर भगवानके सामने खड़ी हो गई कि "यदि मेरा यह झूठा लगा हुआ दोष नष्ट हो जायगा तब मै भोजन करूँगी अन्यथा जीवनपर्यन्त जोवोंको सुख देनेवाला अनशन व्रत धारण करूँगी ॥८७–८८॥ इस प्रकारकी प्रतिज्ञा कर और निश्चल शरीरको धारण कर, धीर वीर महासती नीली हृदयमें भगवान जिनेन्द्र-देवको स्मरण करती हुई कायोत्सर्ग धारण कर भगवानके सामने खड़ी हो गई ॥८९॥ उसके शीलके माहात्म्यसे नगरके देवताको भी क्षोभ उत्पन्न हुआ और उसने रात्रिमें उसके सामने आकर कहा कि–॥९०॥ हे महासती ! तू व्यर्थ ही प्राणोंका त्याग मत कर, मै आज रातको ही यहाँके राजाको, मन्त्रीको तथा मुख्य मुख्य सेठ लोगोंको एक स्वप्न देता हूँ कि नगरके जो दरवाजे कीलित हो गये हैं वे किसी महासतीके बांये पैरके स्पर्श होते ही खुल जायँगे ।' इसके बाद तू अपने बांये पैरसे उनका स्पर्श करना, तेरे पैरका स्पर्श होते ही वे सब किवाड खुल जायंगे और तेरी शुद्धता प्रगट हो जायगी ॥९१–९३॥ यह कहकर वह देवता चला गया, उसने जाकर राजा और मन्त्रियों को वैसा ही स्वप्न दिया और फिर नगरके दरवाजोंको कीलितकर स्वयं वहाँ बैठ गया ॥९४॥ दरवाजोंके रक्षकोंने सवेरे ही आकर महाराजसे निवेदन किया । उधर उन्हें स्वप्न आया ही था इसलिये रक्षकोंकी बात सुनते ही स्वप्नकी बात याद की और नगरकी सब स्त्रियोंको बुलाकर सबके बांये पैरका स्पर्श उन दरवाजोंसे कराया परन्तु वे दरवाजे किसीसे नहीं खुले ॥९५–९६॥ तब पवित्र प्रभाको धारण करनेवाली नीली वहाँसे उठाकर लाई गई । उसका पैरका स्पर्श कराते ही दरवाजे झट खुल गये ॥९७॥ तब राजा प्रजा सबने नीलीको अत्यन्त शीलवती समझा और वस्त्राभरणोंसे उसकी पूजा की तथा अन्य लोगोंने भी उसकी स्तुति की ॥९८॥ इस प्रकार वह नीली संसारभरमें निर्दोष प्रसिद्ध हुई, सबके द्वारा पूज्य हुई और परलोकमें भी देवोंके द्वारा पूज्य हुई ॥९९॥ देखो, यम नियम इन्द्रिय-दमन और शान्त परिणामोंसे परिपूर्ण तथा निर्मल गुणोंको

सीताशीलप्रभावेन चाग्निकुण्डं सरोवरम् । जातं देवैः कृतं नूनं श्रीरामादिगोचरैः ॥१०१
तथा देवैर्नरैः पूज्या या सीतातिमहासती । तस्याः कथा जनैर्ज्ञेया शास्त्रे रामायणादिके ॥१०२
सुदर्शनमहाश्रेष्ठी कामदेवोऽतिरूपवान् । पूज्योऽमरैस्तथा भूपैः शीलात् त्यक्तोपसर्गतः ॥१०३
योऽत्रैव तस्य धीरस्य गुणरत्नाकरस्य वै । सुदर्शनाभिधे शास्त्रे कथा ज्ञेया बुधोत्तमैः ॥१०४
चक्रिसेनाधिपो धीरो जयो नाम गुणाकरः । देवराजसभायां यः स्तवनीयः सुराधिपैः ॥१०५
तथा पूज्यो महाशीलान्मुक्तिभर्तुश्च तस्य वै । आदिनाथपुराणेऽपि कथा ज्ञेया बुधैर्वरा ॥१०६
अन्ये ये बहवः ख्याताः सुकेत्वादिवणिग्वराः । पूज्याः सुरैः कथास्तेषां कः क्षमो गदितुं भुवि ॥१०७
सच्छीलेन विना प्राणी वधबन्धादिक्लेशजम् । प्राप्य दुःखमिहामुत्र श्वभ्रादिकुगतिं व्रजेत् ॥१०८
शीलादृते महादुःखं येन प्राप्तं प्रभो ! मम । कथां तस्य दयां कृत्वा सद्धर्माय प्ररूपय ॥१०९
विधाय स्ववशे चित्तं शृणु वक्ष्ये कथां तव । आरक्षकभवां शीलत्यक्तलोकस्य भीतिदाम् ॥११०
अहीराख्ये शुभे देशे नाशिक्यनगरे वरे । कनकादिरथो राजा जातः पुण्यफलोदयात् ॥१११
राज्ञी कनकमालाभूत्तस्य शीलादिवर्जिता । तलारो यमदण्डाख्यो माता तस्य वसुंधरी ॥११२
एकदा पुंश्चली रात्रौ रण्डातितरुणा शुभा । वध्वा धर्तुं प्रदत्तानि गृहीत्वाभरणानि वै ॥११३

उत्पन्न करनेके लिये पृथ्वीके समान और शीलरूपी रत्नोंकी खानि ऐसी सेठकी पुत्री नीली शील-रत्नके प्रभावसे समस्त दोषोंसे रहित हुई तथा इसी लोकमें देव राजा प्रजा आदि सब लोकोंके द्वारा पूज्य हुई ॥१००॥ इस शीलरत्नके प्रभावसे ही सती सीताका अग्निकुण्ड रामचन्द्र आदि सब महापुरुषोंके सामने देवोंके द्वारा सरोवर बन गया था ॥१०१॥ जो महासती सीता देव और मनुष्योंके द्वारा पूज्य हुई थी उसकी कथा रामायण (पद्मपुराण) आदि शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये ॥१०२॥ महासेठ सुदर्शन कामदेव थे, और अत्यन्त रूपवान थे, वे भी शीलरत्नके प्रभावसे उपसर्गसे छूटे और राजा तथा देवोंके द्वारा पूज्य हुए थे ॥१०३॥ गुणोंके सागर और अत्यन्त धीरवीर ऐसे उन सुदर्शनसेठकी कथा विद्वानोंको सुदर्शनचरित्र नामके ग्रन्थसे जान लेनी चाहिये ॥१०४॥ इसी प्रकार धीर वीर चक्रवर्ती तथा राजा भरतके सेनापति और गुणोंकी खानि राजा जयकुमार इन्द्रकी सभामें भी इन्द्रोंके द्वारा स्तुति करनेयोग्य समझे गये थे ॥१०५॥ तथा महाशीलके प्रभावसे वे पूज्य हुए थे, और मुक्तिके स्वामी हुए थे। विद्वानोंको उनकी कथा आदिनाथपुराणसे जान लेनी चाहिये ॥१०६॥ इस शीलव्रतके कारण सुकेतु आदि कितने ही पुरुष देवोंके द्वारा पूज्य हुए हैं उन सबकी कथाओंको कोई कह भी नहीं सकता ॥१०७॥ जो प्राणी इस शीलव्रतको पालन नहीं करते वे इस जन्ममें भी अनेक वध बन्धन आदि महा दुःखोंको पाते हैं और परलोकमें मरकर नरक आदि दुर्गतियोंमें जन्म लेते हैं ॥१०८॥ प्रश्न—हे प्रभो, इस शीलको पालन नहीं करनेसे जिसने अनेक दुःख पाये हैं उसकी कथा भी कृपाकर मेरे लिये कह दीजिये ॥१०९॥ उत्तर—हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन। जिसने अपने शीलव्रतको छोड़ दिया है उसकी भय उत्पन्न करने वाली कथा कहता हूँ ॥११०॥ अहीर नामके देशके नाशिक्य नामके नगरमें अपने पुण्यके फलसे राजा कनकरथ राज्य करता था ॥१११॥ उसकी रानीका नाम कनकमाला था। दैवयोगसे वह शील-रहित थी। उसी राजाके यहाँ एक यमदण्ड नामका कोतवाल था और उसकी माताका नाम वसुन्धरी था ॥११२॥ वह वसुन्धरी विधवा थी, रूपवती, तरुणी और व्यभिचारिणी थी। किसी एक दिन शामके समय यमदण्डकी स्त्रीने अपने कुछ आभूषण अपनी सासु वसुन्धरीके पास

गच्छन्ती जारपार्श्वे सा यमदण्डेन सेविता। दृष्ट्वा तद्भूषणं नीत्वा स्वभार्यादत्तमेव च ॥११४
तद्दृष्ट्वा तु तया प्रोक्तं मदीयं भूषणं स्फुटम्। एतद्दिनावसाने च मया श्वश्रुः करे धृतम् ॥११५
तस्या वाचं समाकर्ण्य चिन्तितं तेन तत्क्षणे। या मया सेविता नूनं सा मे माता भविष्यति ॥११६
ततोऽसौ जारसंकेतगृहं गत्वा सदा निशि। कुकर्म गूढवृत्त्या हि करोत्येव तया समम् ॥११७
मात्रासमं स मूढात्मा प्रत्यहं दुरितोदयात्। अत्यासक्तो हि सञ्जातः प्रच्छन्नेन कुमार्गतः ॥११८
एकदा रुष्टया प्रोक्तं रजक्यास्तस्य भार्यया। निजमात्रासमं भर्ता तिष्ठत्येव सदा मम ॥११९
रजक्या कथितं मालाकारिण्याः प्रीतियोगतः। तद्वृत्तान्तमहो याति व्यक्तं पापं स्वयं भुवि ॥१२०
सत्पुष्पाणि समादाय सा राज्ञीनिकटं गता। अपूर्वा च कथा काचिद् तया पृष्टा कुतूहलात् ॥१२१
तयोक्तं देवि पापात्मा कामक्रीडां करोति वै। यमदण्डतलारोऽयं स्वाम्बया सह प्रत्यहम् ॥१२२
राज्याशु भणितो राजा देव वै रक्षकस्तव। अम्बया सह लुब्धोऽयं तिष्ठत्येव विमूढधीः ॥१२३
ततो राज्ञा तदाकर्ण्य प्रच्छन्नपुरुषैः स्फुटम्। गूढवृत्तं समालोक्य कृतं तन्निश्चयं स्वयम् ॥१२४
ततो राज्ञा महादुःखैश्छेदबन्धवधादिजैः। निगृहीतोऽतिसंघोरैर्यमदण्डोऽति पापतः ॥१२५
अनुभूय महादुःखं सोऽपि पापकुकर्मजम्। मृत्वा गतोऽतिसङ्घोरां दुर्गतिं तीव्रक्लेशदाम् ॥१२६
परस्त्रीदोषतः प्राप्तो रावणः त्रिप्रमाक्षितिम्। राज्यनाशादिकं प्राप्य तस्य ख्याता कथा भुवि ॥१२७

रखनेके लिये दे दिये थे। उन आभूषणोंको लेकर वह वसुन्धरी रात्रिके समय जारके पास जा रही थी। मार्गमें यमदण्डने उसे रोक लिया, उसके साथ विषयसेवन किया और उसके पास जो आभूषण थे वे लेकर अपनी स्त्रीको दे दिये ॥११३–११४॥ उन आभूषणोंको देखकर उसकी स्त्रीने कहा कि ये तो मेरे आभूषण हैं, मैंने ये शामको रखनेके लिये अपनी सासुको दिये थे ॥११५॥ अपनी स्त्रीकी यह बात सुनकर यमदण्डने उसी समय सोच लिया कि रातको जिसे मैंने सेवन किया है वह मेरी माता ही होगी ॥११६॥ तदनन्तर वह मूर्ख जान-बूझकर भी प्रतिदिन रातको जार बनकर उसके संकेत किये हुए घर जाने लगा और उस अपनी माताके साथ कुकर्म करने लगा ॥११७॥ वह कुमार्गगामी महामूर्ख यमदण्ड अपने पापकर्मके उदयसे छिपकर प्रतिदिन अपनी माताके पास जाने लगा और उसमें अत्यन्त आसक्त हो गया ॥११८॥

किसी एक दिन यमदण्डकी स्त्रीने क्रोधित होकर धोबिनसे कह दिया कि "मेरा पति अपनी माताके साथ सदा रहता है" ॥११९॥ धोबिनने यह बात मालिनसे कह दी। इस प्रकार वह यमदण्डका पाप समस्त संसारमें प्रसिद्ध हो गया ॥१२०॥ किसी एक दिन सुन्दर फूल लेकर वह मालिन रानीके पास गई। रानीने कौतूहलपूर्वक उससे कोई अपूर्व बात पूछी ॥१२१॥ मालिनने कहा कि हे देवी! पापी यमदण्ड कोतवाल प्रतिदिन अपनी माताके साथ विषय-सेवन करता है ॥१२२॥ रानीने यह बात राजासे कह दी कि हे देव! आपका मूर्ख कोतवाल अपनी माताके साथ आसक्त हो गया है ॥१२३॥ राजाने रानीकी यह बात सुनकर गुप्तचरोंके द्वारा छिपकर सब बात देखी और फिर उसपर विश्वास किया ॥१२४॥ तदनन्तर राजाने उस पापी यमदण्डको वध, बन्धन, छेदन, आदि महा घोर दुःख देकर दण्डित किया ॥१२५॥ पाप और कुमार्ग चलनेके महा दुःखोंको भोगकर वह यमदण्ड मरकर अत्यन्त दुःख देनेवाली घोर दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करने लगा ॥१२६॥ परस्त्रीहरण करनेके दोषसे ही रावणका त्रिखण्ड राज्य नष्ट हो गया और वह मरकर तीसरे नरकमें पहुँचा उसकी कथा संसारमें प्रसिद्ध है ॥१२७॥ अमृतादेवी

अमृताख्या महादेवी षष्ठं च नरकं गता। या शीलेन विना भुक्त्वा दुःखं कुष्ठादिसम्भवम् ॥१२८
तस्याः कथा जनैर्ज्ञेया वैराग्यादिकरा वरा। यशोधरमहीपालचरित्रे शीलहेतवे ॥१२९
एकादश गता रुद्रा दशपूर्वाङ्गपारगाः। जिनमुद्राधराः श्वभ्रं शीलभङ्गाघपाकतः ॥१३०
अन्ये ये बहवो जाता प्राघूर्णा दुर्गतेः भुवि। वासुदेवादयः ख्यातास्ते शीलव्रतवर्जनात् ॥१३१

अशुभसकलपूर्णां दुर्गतिं दुःखतप्तामतिकुपथगतत्वाद् दुष्ट आरक्षकोऽत्र।
विषयपरवशाद्वा सङ्गतः पापपाकात् नृपकृतमपि तीव्रं दुःखभारं च भुक्त्वा ॥१३२

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे स्थूलब्रह्मचर्यव्रते
नील्यारक्षककथाप्ररूपको नाम पञ्चदशमः परिच्छेदः ॥१५॥

●

नामकी महा पट्टरानी इस शीलव्रतके अभावसे ही अनेक प्रकारके कष्ट और दुःखोंको सहकर छठवें नरकमें पहुँची ॥१२८॥ वैराग्यको बढ़ानेवाली उसकी कथा महाराज यशोधरके जीवन-चरित्रसे (यशोधरचरित्र अथवा यशस्तिलकचम्पूसे) जान लेना चाहिये ॥१२९॥ ग्यारह रुद्र दश-पूर्वोके जानकार थे और जिनमुद्राको धारण करनेवाले थे तथापि केवल शीलभंगके पापसे उन्हें नरकके दुःख भोगने पड़े थे ॥१३०॥ वासुदेव आदि और भी अनेक पुरुष हुए हैं जिन्हें दुर्गतियोंके घोर दुःख भोगने पड़े है वे सब शीलव्रतके खण्डन करनेसे ही भोगने पड़े हैं ॥१३१॥ देखो ! यमदंड कोतवाल विषयोंके वश होकर कुमार्गगामी हुआ था इसलिये उस पापके फलसे उसे राजाके द्वारा दिये हुए अत्यन्त तीव्र दुःख भोगने पड़े और फिर समस्त दुःखोंसे परिपूर्ण दुर्गतियोंके दुःख भोगने पड़े। इसलिये ऐसे पापोंसे बचना ही कल्याणकारक है ॥१३२॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप, नीलीबाई और कोतवालकी कथाको कहनेवाला यह पन्द्रहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१५॥

●

सोलहवाँ परिच्छेद

शान्तिनाथं नमस्यामि जगच्छान्तिविधायकम् । शान्तकर्मारिसंचक्रं शान्तिदं कर्मशान्तये ॥१॥
पञ्चमाणुव्रतं वक्ष्ये सन्तोषाधिकरं परम् । परिग्रहप्रमाणाख्यं लोभाद्यादिप्रशान्तये ॥२
परिग्रहप्रमाणं सद्व्रतं प्रोक्तं गणाधिपैः । लोभादिकविनाशार्थं श्रावकाणां जिनागमे ॥३
कृत्वा सन्तोषसारं ये संख्यां कुर्वन्ति सद्बुधाः । परिग्रहस्य तेषां स्यात्सत्स्थूलं पंचमं व्रतम् ॥४
क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् । आसनं शयनं वस्त्रं भाण्डं स्याद्गृहमेधिनाम् ॥५
जिनेन्द्रैर्दशधाः प्रोक्ता गृहस्थानां परिग्रहाः । तेषां संख्या नरैः कार्या पापारम्भादिहानये ॥६
अथ हिंसाकरं क्षेत्रं त्यज त्वं धर्महेतवे । यदि त्यक्तुं समर्थो न संख्यां कुरु हलादिके ॥७
ममत्वजनके सारे स्थावरत्रसघातके । सन्तोषधर्मसिद्धयर्थं भज संख्यां गृहादिके ॥८
द्रव्यरूप्यसुवर्णादौ स्तोकां संख्यां विधेहि भो । लोभं पापकरं त्यक्त्वा पीत्वा सन्तोषजामृतम् ॥९
शाल्यादि-सर्वधान्यानां प्रमाणं भज सर्वथा । कीटाद्युत्पत्तिहेतूनां ह्रस्वव्रतविशुद्धये ॥१०
भृत्यानां दासदासीनां भार्याणां च शुभाय वै । परिमाणं प्रकर्तव्यं श्रावकैः गुरुसन्निधौ ॥११
अश्ववृषभगोसर्वचतुष्पदकदम्बके । त्रसादिहिंसके स्तोकां कुरु संख्यां प्रपापदे ॥१२

जिन्होंने कर्मरूप शत्रुओंके समूहको शान्त कर दिया है, जो शान्ति देनेवाले हैं, और संसार-भरमें शान्तिके स्थापक हैं ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान्को मै अपने कर्म शान्त करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अब मै उत्कृष्ट सन्तोषको उत्पन्न करनेवाले और लोभके नाश करनेवाले परिग्रहपरिमाण नामके पाँचवें अणुव्रतको कहता हूँ ॥२॥ गणधरादि देवोंने परिग्रहपरिमाणको सबसे श्रेष्ठ व्रत कहा है तथा श्रावकोंका लोभ दूर करनेके लिये ही शास्त्रोंमें इसका निरूपण है ॥३॥ जो बुद्धिमान् सन्तोष धारणकर परिग्रहोंकी संख्या नियत कर लेते है उनके यह पाँचवाँ परिग्रह-परिमाण नामका व्रत होता है ॥४॥ खेत, घर, धन, धान्य, नौकर चाकर, घोड़ा बैल आदि पशु, आसन, शयन, वस्त्र और भाड ये गृहस्थोंके दश प्रकारके परिग्रह भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहे हैं। गृहस्थोंको पापरूप आरम्भोंको घटानेके लिये इन सब परिग्रहोंकी संख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥५-६॥ इनमें पहिला परिग्रह खेत है वह सबसे अधिक हिंसा करनेवाला है अतएव धर्म-पालन करनेके लिये तू उसका त्याग कर। यदि तू उसका त्यागकर नही सकता तो हल आदिकोंकी संख्या नियत कर ले ॥७॥ संसारमें जितनी भी घर आदिकी सम्पत्ति है वह सब ममत्व बढ़ानेवाली है और त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसा करनेवाली है इसलिये सन्तोषधर्मको सिद्ध करनेके लिये तू घर आदिकोंकी भी संख्या नियत कर ले ॥८॥ हे वत्स ! पाप उत्पन्न करनेवाले लोभको छोड़कर और सन्तोषरूपी अमृतको पीकर सोना चांदी आदि धनकी भी थोड़ीसी संख्या नियत कर ले ॥९॥ चावल, गेहूँ, चना आदि अनेक कीड़ोके उत्पन्न होनेके कारण हैं अतएव अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये तू इनका भी थोड़ासा प्रमाण नियत कर ले ॥१०॥ श्रावकोंको अपने गुरु के पास जाकर दास दासी आदि सेवकोंका तथा स्त्रियोंका प्रमाण नियत कर लेना चाहिये ॥११॥ घोड़ा, बैल, गाय आदि जितने पशु हैं सबके पालन करनेमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है इसलिये इनका भी प्रमाण

याने सिंहासने चैव शकटादौ तथा भज । प्रमाणं मित्र ! धर्माय खट्वाविशयने वरे ॥१३
क्षौमादिके सुवस्त्रे च भज संख्यां व्रताय भोः । मञ्जिष्ठादौ वसद्भाण्डे महार्घे भाजने तथा ॥१४
परिग्रहप्रमाणेन लोभश्चैव विलीयते । नृणां सन्तोषसाम्राज्यं भवत्येव गृहेशिनाम् ॥१५
सन्तोषाज्जायते धर्मो धर्मात्स्वर्गस्ततः सुखम् । तस्मात्सुखार्थिनां लोके त्याज्यो लोभोऽतिदूरतः ॥१६
सन्तोषसदृशं सौख्यं न भूतं भुवनत्रये । भविष्यति न सारं च नास्ति धर्माकरं परम् ॥१७
सन्तोषासनमासीनो यद्यद्वस्तु समीहते । तत्तदेव समायाति स्थितं लोकत्रयेऽचिरात् ॥१८
सन्तोषाख्यसुधां पीत्वा जन्ममृत्युजराविषम् । हत्वा भुक्त्वा महासौख्यं शिवं यान्ति बुधोत्तमाः ॥१९
न लभन्ते यथा लोके याच्ञाशीला धनं नराः । तथा लोभात्समीहन्ते ये ते द्रव्यं भजन्ति न ॥२०
यथा च निस्पृहा जीवाः प्राप्नुवन्ति धनं हठात् । तथा सन्तोषद्रव्येण द्रव्यमायाति देहिनाम् ॥२१
सन्तोषाच्छ्री समायाति लोभाद्याति गृहात् पुनः । विचार्येति कुरु त्वं भो यदिष्टं धर्मदं पुनः ॥२२
अथवा सातिपुण्येन नृणामायाति भो स्वयम् । तद्विना सा गृहाच्छ्रीघ्रं नश्यत्येव चिरार्जिता ॥२३
तस्माद्धनार्थिना लोके पुण्यं कार्यं स्वशक्तितः । येनायाति महालक्ष्मीस्तद्विना काङ्क्षया हि किम् ॥२४
धर्माद् गृहे स्थितिः कुर्युःश्रियश्चक्रादिगोचराः । तीर्थादिका इहामुत्र शक्रादिसुखदा नृणाम् २५

कर संख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥१२॥ इसी प्रकार गाड़ी, पालकी आदि सवारियोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिए और धर्म-पालन करनेके लिये पलङ्ग आदि सोने व आराम करनेके साधनोंकी भी संख्या नियत कर लेनी चाहिए ॥१३॥ इसी तरह वस्त्रोंकी संख्या तथा वर्तन आदि अन्य सामग्रियोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिए ॥१४॥ इस परिग्रहके परिमाण करनेसे गृहस्थोंका लोभ नष्ट हो जाता है और तृष्णा सन्तोष रूपमें परिणत हो जाती है ॥१५॥ सन्तोषसे धर्म होता है, धर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और स्वर्ग प्राप्त होनेसे सुख मिलता है इसलिये सुख चाहनेवाले लोगोंको यह लोभ दूरसे ही छोड़ देना चाहिये ॥१६॥ सन्तोषके समान सुख तीनों लोकमें न तो हुआ है न हो सकता है न इसके समान अन्य कुछ सार है और न कोई इसके समान उत्तम धर्म प्रगट करनेवाला है ॥१७॥ सन्तोषरूपी आसन पर बैठा हुआ मनुष्य जो-जो पदार्थ चाहता है वह चाहे तीनों लोकोंमें कहीं भी क्यों न हो उसे उसी समय मिल जाता है ॥१८॥ जो उत्तम विद्वान् सन्तोषरूपी थोड़ेसे अमृतको भी पी लेता है वह जन्म मरण बुढ़ापा आदि विषको नष्टकर और महा सुखोंको भोगकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥१९॥ जिस प्रकार माँगनेवाले लोगोंको धनकी प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार जो लोभसे द्रव्यकी इच्छा करते हैं उन्हे द्रव्यकी भी प्राप्ति नहीं होती ॥२०॥ जिस प्रकार निःस्पृह जीवोंको विना इच्छाके भी धनकी प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार सन्तोष धारण करनेसे मनुष्योंको धनकी प्राप्ति अपने आप हो जाती है ॥२१॥ सन्तोष धारण करनेसे द्रव्य आता है और लोभ करनेसे घरमें रक्खा हुआ द्रव्य भी चला जाता है । यही विचार कर हे भव्यपुरुषो ! जो धर्म और धन प्राप्त करना इष्ट हो तो सन्तोष धारण करना चाहिए ॥२२॥ अथवा पुण्यकर्मके उदयसे मनुष्योंके लक्ष्मी स्वयं आ जाती है और विना पुण्यके बहुत दिनसे इकट्ठी की हुई और घरमें रक्खी हुई लक्ष्मी भी नष्ट हो जाती है ॥२३॥ इसलिये धन चाहनेवाले लोगों-को अपनी शक्तिके अनुसार पुण्यकार्य करना चाहिये । क्योंकि लक्ष्मी पुण्यसे ही आती है विना पुण्यके केवल इच्छा करनेसे कुछ नहीं होता ॥२४॥ इस लोकमें चक्रवर्तीकी लक्ष्मी तथा तीर्थंकरोंकी लक्ष्मी और परलोकमें इन्द्रादिकको सुख देनेवाली लक्ष्मी धर्मात्मा मनुष्यके ही घर स्थिरताके साथ

परिग्रहप्रमाणं ये स्वल्पं कुर्वन्ति धीधनाः । आगच्छति हठात्तेषां परीक्षार्थं महद्धनम् ॥२६
नियमेन विना प्राणी पशुरेव न संशयः । परिग्रहप्रमाणस्य स्वेच्छाचारणकारणात् ॥२७
क्वचित्सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं च सुराचलः । विना न नियमात्पुंसां पुण्यं सञ्जायते तराम् ॥२८
यथा हि पशवो नग्नाः पुण्यं सन्नियमाद्विना । न लभन्ते तथा ज्ञेयाः प्राणिनो धनवर्जिताः ॥२९
नियमेन सदा नृणां पुण्यं जायेत पुष्कलम् । सन्तोषं च यशो लोके इन्द्रियादिजयं शमम् ॥३०
मनोगजो वशं याति नियमाङ्कुशताडनात् । भ्रमन् स विषयारण्ये मूलयन् धर्मसद्द्रुमान् ॥३१
हत्वा लोभं दुराचारं स्वशक्तिमनिगुह्य भोः । सन्तोषखड्गतीक्ष्णेन भज त्वं नियमादिकम् ॥३२
यतो लोभाकुलः प्राणी हन्ति सद्गुरुसज्जनान् । धनार्थं पापमाचष्टे येन श्वभ्रालयं व्रजेत् ॥३३
लोभाविष्टो न जानाति धर्मं पापं सुखासुखम् । हिताहितं गुरुं देवं कुगतिं च गुणागुणम् ॥३४
लोभावज्ञो भ्रमेद्देशान्द्वीप-सागरगोचरान् । धनार्थं प्रविधत्ते च कपटादिसहस्रकान् ॥३५
लोभाकृष्टो व्रजेन्नैव सन्तोषं धनभूरिभिः । इन्धनैरनलो यद्वत्सागरो वा सरिज्जलैः ॥३६
लोभाविष्टमनुष्याणामाशा विश्वं विसर्पति । तस्या न शान्तये विश्वं दत्तं रत्नादिसम्भृतम् ॥३७
अर्थं दुःखेन चायाति स्थिरं दुःखेन रक्ष्यते । गते दुःखं भवेन्नृणां धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥३८

निवास करती है ॥२५॥ जो बुद्धिमान् थोड़ेसे भी परिग्रहका परिमाण कर लेते हैं उनके घर उनकी परीक्षा करनेके लिये बहुत-सा धन स्वयमेव आ जाता है ॥२६॥ परिग्रहोंका नियम किये विना यह प्राणी पशुके समान है इसमें कोई सदेह नहीं, क्योंकि दोनों ही परिग्रहका परिमाण किये विना अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करते हैं ॥२७॥ कदाचित् सूर्य अपना तेज छोड़ दे और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता छोड़ दे तो भी विना नियमके मनुष्योंको पुण्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥२८॥ जिस प्रकार पशु नग्न रहते हुए भी विना किसी प्रकारका नियम धारण किये पुण्य प्राप्त नही कर सकते, उसी प्रकार धर्मरहित प्राणी भी बिना नियमके पुण्य सम्पादन नहीं कर सकते ॥२९॥ यम नियम पालन करनेसे मनुष्योंको प्रचुर पुण्यकी प्राप्ति होती है और सन्तोष धारण करनेसे संसारमें यश फैलता है तथा इन्द्रियां वशमें हो जाती है, मन शान्त हो जाता है ॥३०॥ नियमरूपी अंकुशके ताड़न करनेसे विषयरूपी वनमें इच्छानुसार घूमता हुआ और धर्मरूपी श्रेष्ठ वृक्षोंको उखाड़ता हुआ मनरूपी हाथी वशमें हो जाता है ॥३१॥ हे भव्य ! सन्तोषरूपी तीक्ष्ण तलवारसे अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर लोभरूपी दुराचारका नाशकर और नियमादिक वा परिग्रहका परिमाण धारण कर ॥३२॥ इसका भी कारण यह है कि लोभके फंदेमें फँसा हुआ यह प्राणी धनके लिये गुरु और सज्जन लोगोंको भी मार देता है और अनेक प्रकारके पाप उपार्जन करता है जिन पापोंके फलसे उसे नरकमें ही जाना पड़ता है ॥३३॥ लोभी मनुष्य न तो धर्मको समझता है, न पापको जानता है, न सुख-दुःखको जानता है, न हित-अहितको जानता है, न गुरुको समझता है, न देवको समझता है, न कुगतिको जानता है और न गुण-अवगुणको जानता है ॥३४॥ यह जीव लोभके ही कारण अनेक देशोंमें तथा द्वीप-समुद्रोंमें परिभ्रमण करता है और धनके लिये ही हजारों कपट बनाता है ॥३५॥ जिस प्रकार अग्निको बहुतसे ईंधनसे भी सन्तोष नहीं होता और समुद्रको अनेक नदियोंके जलसे भी सन्तोष नहीं होता उसी प्रकार लोभी पुरुषको बहुत-सा धन मिल जानेपर भी सन्तोष नहीं होता ॥३६॥ लोभी मनुष्योंकी आशा समस्त संसारमें फैल जाती है और रत्न आदि संसारभरका समस्त धन दे देनेपर भी वह शान्त नहीं होती ॥३७॥ यह धन दुःखसे आता

अर्थात्सञ्जायते चिन्ता रक्षणादिकृताङ्गिनाम् । इहामुत्र महादुःखं सर्वं श्वभ्रादियोनिजम् ।।३९
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वदुःखाकरं धनम् । दानं विना गृहस्थानां शोकक्लेशाशुभप्रदम् ।।४०

इति मत्वा हि भो मित्र ! हत्वा लोभं कुकीर्तिदम् ।
नीत्वा सन्तोषजं राज्यं भज संख्यां धनादिके ।।४१
गणधरमुनिनिन्द्यं सर्वदानादिवक्त्रं, दुरितकुवनमेघं धर्मकल्पद्रुमाग्निम् ।
नरककुगतिमार्गं मुक्तिगेहे कपाटं, सुभग त्यज कुलोभं सङ्गसंख्यां विधाय ।।४२

पञ्चातिचारनिर्मुक्ताः सत्परिग्रहसंख्यया । प्राप्य षोडशमं नाकं क्रमाद्यान्ति शिवं बुधाः ।।४३
भट्टारक ! व्यतीचारानादिश व्रतशुद्धये । पञ्चमाणुव्रतस्यैव कृपां कृत्वा शुभाय मे ।।४४
एकाग्रचेतसा सर्वान् शृणु श्रावक ! तेऽधुना । कथयामि व्यतीपातान् त्याज्यान् व्रतमलप्रदान् ।।४५
स्यादतिवाहनं चादौ ततोऽतिसंग्रहो भवेत् । अतिविस्मयोऽतिलोभश्चातिभाराधिरोपणम् ।।४६
कुर्वन्ति वृषभादीनामतिरेकेण वाहनम् । मार्गे प्रमाणतो लोभात् ये विक्षेपं भजन्ति ते ।।४७
अत्यन्तसंग्रहं योऽपि धान्यादीनां करोति वै । लोभावेशवशात्तस्य व्यतीपातो बुधैः स्मृतः ।।४८
क्रयाणकं च विक्रीय मूलतो गृहणे तथा । लोभाद् धत्ते विषादं यस्तस्य स्यादतिविस्मयः ।।४९
लब्धेऽप्यर्थे विशिष्टे च तृष्णां कुर्वन्ति ये पुनः । लोभार्थं लोभतस्तेषां व्यतिचारो मलप्रदः ।।५०

है, पुनः आये हुए धनकी बड़े दुःखसे रक्षा होती है और इसके चले जानेपर भी मनुष्योंको दुःख ही होता है इस प्रकार सब जगह दुःख देनेवाले इस धनको धिक्कार हो ।।३८।। धन प्राप्त हो जानेसे मनुष्योंको उसकी रक्षा आदिकी चिन्ता उत्पन्न हो जाती है इसके सिवाय वह परलोकमें भी नरक आदि दुर्गतियोंके महा दुःख देनेवाला है ।।३९।। बहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि यह धन समस्त दुःखोंकी खानि है और विना दानके गृहस्थोंको अनेक प्रकारके शोक क्लेश और दुखोंको देनेवाला है ।।४०।। यही समझकर हे मित्र ! सन्तोषरूपी सार पदार्थको धारणकर अपकीर्ति देनेवाले लोभको नाशकर और धनादिककी संख्या नियत कर ।।४१।। हे मित्र ! देख, यह कुलोभ गणधर और मुनियोंके द्वारा निन्द्य है, दानादिक शुभ कार्योंसे रहित है, पापरूपी वनको बढ़ानेके लिये मेघ है, धर्मरूपी कल्पवृक्षको जलानेके लिये अग्नि है, नरकादिक दुर्गतियोंका मार्ग है और मुक्तिरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़के समान है इसलिये तू परिग्रहका परिमाण नियत कर इस कुलोभका त्यागकर ।।४२।। जो पुरुष पाँचों अतिचारोंको छोड़कर परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण करता है वह बुद्धिमान् सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करता है ।।४३।। प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर इस व्रतको शुद्ध करनेके लिये इस व्रतके पाँचों अतीचारोंको कहिये ।।४४।। उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू चित्त लगाकर सुन । इस व्रतमें मल उत्पन्न करनेवाले और त्याग करने योग्य अतिचारोंको कहता हूँ ।।४५।। अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभारारोपण ये पाँच परिग्रहपरिमाणके अतिचार हैं ।।४६।। घोड़े बैल आदिको उनकी शक्तिसे अधिक चलाना और मार मारकर चलाना अतिवाहन नामका पहिला अतिचार है ।।४७।। लोभके वश होकर धन धान्यादिकका अतिशय संग्रह करना अतिसंग्रह नामका दूसरा अतिचार है ।।४८।। जो खरीनेयोग्य पदार्थ बेच दिया हो अथवा उस खरीदने योग्य पदार्थकी प्राप्ति ही न हुई हो उस समय लोभके वश होकर विषाद करना अतिविस्मय नामका तीसरा अतीचार है ।।४९।। जो धन प्राप्त हो जानेपर भी उसको देने वा खर्च करनेमें अत्यन्त तृष्णा करते हैं अथवा धनकी प्राप्तिके

उल्लंघ्य न्यायमार्गं यो धत्ते भाराधिरोपणम् । दयां विना भवेत्तस्य व्यतिपातोऽशुभप्रदः ॥५१
सुगतिगृहप्रवेशं धर्मरत्नादिभाण्डं, नरकगृहकपाटं धर्मरत्नाकरं वै ।
अशुभतरुसमीरं लोभमातङ्गसिंहं, कुरु धनपरिमाणं तोषसारं गृहीत्वा ॥५२
पञ्चमाणुव्रतं धत्ते यः पूजां प्राप्य देवजाम् । इहैवाशु क्रमाद्याति स्वर्गं मुक्तिं च शुद्धधीः ॥५३
सम्प्राप्ता येन सत्पूजा व्रताविहामरैः कृता । विधायानुग्रहं स्वामिन् ! कथां तस्य निरूपय ॥५४
शृणु श्रावक ! संकृत्वा मनः संकल्पवर्जितम् । जयाख्यस्य नृपस्यैव कथां वक्ष्ये शुभप्रदाम् ॥५५
कुरुजाङ्गलसद्देशे हस्तिनागपुरे शुभे । कुरुवंशे नृपः पुण्यादभवत्सोमप्रभाह्वयः ॥५६
तस्य पुत्रो जयो नाम कृतसंख्यां परिग्रहः । भार्या सुलोचनायां तु प्रवृत्तिस्तस्य नान्यथा ॥५७
एकदा दम्पती पूर्वं विद्याधरभवस्य तौ । कथयित्वा कथां यावत्स्थितौ अवधिवीक्षणौ ॥५८
तावदागत्य विद्याभिर्भणितोऽसौ नराधिपः । आदेशं देहि भो देव सर्वकार्यकरं भुवि ॥५९
तद्बलाद्रूपमादाय तद्विद्याधरगोचरम् । हिरण्यवर्म तद्भार्या प्रभावत्योः परिस्फुटम् ॥६०
सुमेर्वादौ विधायाशु यात्रां पुण्यकरां शुभाम् । कैलाशमागतौ तौ वन्दितुं जिनपुङ्गवान् ॥६१
भरतेशकृतान् तत्र चतुर्विंशतिसद्गृहान् । पूजयित्वा स्थितौ यावत्पृथग्भूतौ परस्परम् ॥६२

लिये अतिशय लोभ करते हैं उनके लोभ नामका चौथा अतिचार लगता है ॥५०॥ जो निर्दय होकर न्यायमार्गको छोड़कर (शक्तिसे अधिक) बोझा लाद देते है उनके अतिभारारोपण नामका अतिचार लगता है ॥५१॥ हे मित्र । यह परिग्रहका परिमाण करना शुभगतिरूपी रत्नोंका पात्र है, नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ोके समान है, धर्मरूपी रत्नोकी खानि है, अशुभरूप वृक्षोंको उखाड़नेके लिये वायुके समान है और लोभरूपी हाथीको मारने के लिये सिंह है । इसलिये तू साररूप सन्तोषको धारणकर परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण कर ॥५२॥ जो बुद्धिमान् इस परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण करता है वह देवोंके द्वारा आदर सत्कार पाकर अनुक्रमसे स्वर्गमोक्षके सुख प्राप्त करता है ॥५३॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! जिसने इस व्रतको पालनकर इस लोकमे भी देवोके द्वारा आदर सत्कार प्राप्त किया उसकी कथा कृपाकर निरूपण करिये ॥५४॥ उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू मनके अन्य सब संकल्प छोडकर सुन ! मे पुण्य बढानेवाली राजा जयकुमारकी कथा कहता हूँ ॥५५॥ कुरुजांगलदेशके हस्तिनापुर नामके शुभ नगरमे पुण्य-कर्मके उदयसे कुरुवंशी राजा सोमप्रभ राज्य करता था ॥५६॥ उसके पुत्रका नाम जयकुमार था उसने परिग्रहपरिमाणका व्रत लिया था और स्त्रीपरिमाणमे उसके केवल सुलोचना ही थी, और सबका त्याग था ॥५७॥ किसी एक दिन जयकुमार और सुलोचना दोनों दम्पती अपने पहिले विद्याधर भवकी कथा कहकर अनेक प्रकारके दृश्य देखते हुए बैठे थे कि इतनेमे ही पहिले भवकी विद्याने आकर कहा कि हे राजन् ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं इस संसारमे आपके सब काम कर सकूँगी ॥५८-५९॥ उस विद्याके बलसे उन दोनोंने पहिले भवके हिरण्यवर्मा और प्रभावती नामके विद्याधर विद्याधरीका रूप धारण किया ॥६०॥ उन दोनोंने पुण्य बढानेवाली सुमेरुपर्वत आदिकी यात्रा की और फिर चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करनेके लिये वे दोनों कैलास पर्वतपर आये ॥६१॥ वहाँपर महाराज भरतने जो चौबीस तीर्थकरोंके जिन भवन बनवाये थे उनकी वन्दना की और फिर वे दोनों अलग अलग स्थानपर जा विराजमान हुए ॥६२॥ इसी समय सुधर्मा सभामें सौधर्म इन्द्रने जयकुमारके सन्तोषव्रतकी

तत्प्रस्तावे जयस्यैव प्रशंसा हि कृता वरा। सौधर्मस्वर्गनाथेन जाता सन्तोषसद्व्रतात् ॥६३
परीक्षितुं जयं तत्रागतो रविप्रभाह्वयः। परिवारेण संयुक्तो देवो दिव्यगुणान्वितः ॥६४
हावभावविलासाढ्यं लावण्यरसवर्द्धितम्। रूपं कृत्वा गुणोपेतं खेचरीगोचरं वरम् ॥६५
चतुर्विलासिनीभिश्च सह प्रागत्य शीघ्रतः। स्त्रीरूपधारिणा तेन भणितोऽसौ नरेश्वरः ॥६६
स्वयंवरे कृतो येन संग्रामोपि त्वया सह। रौद्रः सुलोचनाया हि भीरुभीतिप्रदो हठात् ॥६७
नमेर्विद्याधराधीशपतेस्तस्य गुणाकराम्। स्वरूपाख्यां महाराज्ञीं तद्विरक्तां सुयौवनाम् ॥६८
महाविद्यान्वितां शीघ्रं मामिच्छ पुरुषोत्तम। यदि वाञ्छसि तस्यैव राज्यं च स्वस्य जीवितम् ॥६९
तदाकर्ण्य जयेनोक्तं हे सुन्दरि विरूपकम्। प्रोक्तं त्वयातिनिन्द्यं च पापसन्तापकरि यत् ॥७०
नित्यं स्यान्नियमो मेऽपि परस्त्रीगमनादिके। सुलोचनां विना सर्वा नार्यो मे जननीसमाः ॥७१
तस्माच्छीलवती त्वं च भव नित्यं बुधार्चिता। कुत्सितं परिणामं स्वं त्यक्त्वा धर्मव्रतान्विता ॥७२
इत्युक्त्वा संस्थितो यावत्कार्योत्सर्गं विधाय च। चित्तं विधाय तीर्थेशपादमूले गुणाकरे ॥७३
तावत्तथा कृतो घोर उपसर्गोऽतिदुस्सहः। हावभावकटाक्षैश्च दृढैरालिंगनादिभिः ॥७४
संस्थितोऽकम्पमानोऽसौ महामेरुरिवानिशम्। जित्वा परीषहान् सर्वान् तत्कृतान् घोरदुःखदान् ॥७५
ततोसावुपसंहृत्य मायां वक्ति जयं प्रति। प्रकटीभूय सन्तुष्टस्तत्परोक्षणतोऽमरः ॥७६
त्वं देव! महतां पूज्यो धीरोऽसि त्वं बुधैःस्तुतः। तव कीर्तिः श्रुतास्माभिः स्वर्गे देवसभादिषु ॥७७

प्रशंसा की ॥६३॥ इसलिये उसकी परीक्षा करनेके लिये दिव्य गुणोंसे सुशोभित ऐसा रविप्रभ नामका देव अपने परिवारके साथ आया ॥६४॥ रविप्रभने हावभाव विलास और लावण्यरससे परिपूरित ऐसा विद्याधरीका उत्तमरूप धारण किया ॥६५॥ तथा चार विलासिनी उसने अपने साथ लीं। इस प्रकार स्त्रीका रूप धारणकर वह शीघ्र ही जयकुमारके पास आया और जयकुमारसे कहने लगा कि हे नरेश्वर! जिस विद्याधरोंके स्वामी राजा नमिने सुलोचनाके स्वयम्बरमें तेरे साथ कातरोंको भय उत्पन्न करनेवाला भयंकर युद्ध किया था उसकी मै समस्त गुणोंसे परिपूर्ण स्वरूपा नामकी महारानी हूँ, मै इस समय अत्यन्त युवती हूँ, मेरे पास अनेक विद्याएँ हैं और मैं महाराज नमिसे विरक्त हो गई हूँ। इसलिये हे पुरुषोत्तम! यदि आप महाराज नमिका राज्य चाहते है और अपनेको जीवित रखना चाहते है तो मुझे स्वीकार कीजिये ॥६६-६९॥ उस बनी हुई विद्याधरीकी यह बात सुनकर जयकुमारने कहा कि तूने यह बड़ी ही प्रतिकूल, निंद्य, पाप सन्तापको उत्पन्न करनेवाली, और बुरी बात कही ॥७०॥ मेरे परस्त्रीगमन करनेका सदाके लिये त्याग है। सुलोचनाके बिना अन्य स्त्रियाँ मेरे लिये माताके समान हैं ॥७१॥ इसलिये हे देवी! तू भी कुत्सित परिणामोंको छोड़, धर्म और व्रतोंको धारण कर तथा विद्वानोंके द्वारा पूज्य होती हुई शीलवती हो ॥७२॥ इतना कहकर जयकुमार गुणोंकी खानि और ध्यानके मूल कारण ऐसे श्री तीर्थंकर भगवानको हृदयमें विराजमान कर कायोत्सर्ग धारणकर खड़ा हो गया ॥७३॥ तब उस देवने कोई उपाय न देखकर हावभाव कटाक्षोंके द्वारा तथा दृढ़ आलिंगनोंके द्वारा अत्यन्त असह्य और घोर उपसर्ग किया ॥७४॥ जयकुमार मेरु पर्वतके समान अचल होकर खड़ा रहा, उसने घोर दुःख देनेवाली और त्याग करनेयोग्य ऐसी समस्त घोर परीषह सहन की ॥७५॥ तब उस देवने अपनी माया संकोची और प्रगट होकर जयकुमारसे कहा कि मै तेरी परीक्षासे अत्यन्ती सन्तुष्ट हुआ है ॥७६॥ हे देव! आप महा पुरुषोंके द्वारा भी पूज्य हैं, धीर वीर हैं, विद्वानोंके द्वारा स्तुति करने योग्य हैं, हमने आपकी कीर्ति स्वर्गमें भी देवोंकी सभामें सुनी है। हे देव! सौधर्म

सौधर्मपतिना नाके ते प्रशंसा यथा कृता । साधिकातो भवेन्नूनं सन्तोषव्रतसम्भवा ॥७८
तां समाकर्ण्य देवाहं प्रागतस्ते परीक्षितुम् । अद्य मे निर्णयो जातो दृष्ट्वा त्वां पुरुषोत्तमम् ॥७९
इत्युक्त्वा पूजयित्वा च वस्त्राभरणमण्डनैः । प्रणम्य सोऽमरो नाकं प्रशस्य मुहुरभ्यगात् ॥८०
ततो जयकुमारोपि गृहमागत्य प्रत्यहम् । धृत्वा स्वमानसे धर्मं भुङ्क्ते संसारजं सुखम् ॥८१
कदाचिज्जातवैराग्यस्त्यक्त्वा राज्यं तृणादिवत् । हत्वा मोहं महापापं दीक्षां जग्राह पुण्यधीः ॥८२
कृत्वातिदुस्सहं सारं तपो वैराग्यभावतः । हत्वा कर्माणि सर्वाणि जयोऽगादव्ययं पदम् ॥८३
अन्ये ये बहवः प्राप्ताः सुखं सन्तोषसद्व्रतात् । श्रावकाः कः कथां तेषां क्षमः कथयितुं भुवि ॥८४

अखिलगुणसमुद्रः पूजितो नाकदेवैः, सुरपतिकृतशंसो धीरवीरो बुधार्च्यः ।
विगतसकलशङ्कस्त्यक्तलोभो मुनीन्द्रो, जयतु भुवनसेव्यो मुक्तिनाथो जयाख्यः ॥८५

व्रतसन्तोषजं त्यक्त्वा धर्मसारगुणाकरम् । लोभं करोति यो मूढः प्राघूर्णो दुर्गतेः स ना ॥८६
भो भट्टारक ! येनैव प्राप्तं दुःखं व्रतं विना । परिग्रहप्रमाणाख्यं कथां तस्य निरूपय ॥८७
उपासक ! शृणु त्वं हि कृत्वा चित्तं सुनिश्चलम् । प्रवक्ष्येऽहं कथां सारां ते श्मश्रुनवनीतजाम् ॥८८
अत्रैव भारते वर्षेऽयोध्यायां श्रेष्ठिनन्दनः । भवत्तोऽभवद्भार्या धनदत्ता सुखप्रदा ॥८९
तयोः पुत्रोऽभवल्लुब्धदत्तो लोभसमाकुलः । वाणिज्येन गतो दूरमेकदा द्रव्यहेतवे ॥९०

इन्द्रने आपके सन्तोष व्रतकी बहुत अधिक प्रशंसा की थी परन्तु वास्तवमें आपकी प्रशंसा उससे भी अधिक है उसे सुनकर ही हम आपकी परीक्षा लेनेके लिये आये थे। हे पुरुषोत्तम ! आपको देखकर अब हमारा निर्णय हो गया ॥७७-७९॥ इस प्रकार कहकर तथा वस्त्राभरणोंसे उसकी पूजाकर नमस्कारकर और अनेक प्रकारसे प्रशंसाकर वह देव अपने स्थानको चला गया ॥८०॥ तदनन्तर जयकुमार भी अपने घर आया और प्रतिदिन धर्मको हृदयमें धारणकर संसारके सुख भोगने लगा ॥८१॥ किसी समय उस पुण्यवानको वैराग्य उत्पन्न हुआ, उसने तृणके समान राज्यका त्याग कर दिया, और मोहरूपी महा पापका नाश कर दीक्षा धारण कर ली ॥८२॥ तदनन्तर उन जयकुमारने वैराग्यभावनाओंके द्वारा सारभूत असह्य तपश्चरण किया और समस्त कर्मोंको नाश कर अजर अमर मोक्षपद प्राप्त किया ॥८३॥ और भी बहुतसे श्रावकोंने इस सन्तोष व्रतको धारणकर अनुपम सुख प्राप्त किया है, इस संसारमें उन सबकी कथाओंको कौन कह सकता है ॥८४॥ जो समस्त गुणोंके समुद्र थे, स्वर्गके देवोंने भी जिनकी पूजा की थी, इन्द्रने भी जिनकी प्रशंसा की थी, जो धीरवीर थे, विद्वानोंके द्वारा पूज्य थे, समस्त शंकाओंसे रहित थे, लोभके सर्वथा त्यागी थे, संसारभर जिनकी सेवा करता था और जो मुक्ति-लक्ष्मीके स्वामी हुए थे ऐसे मुनिराज जयकुमार सदा जयशील हो ॥८५॥ जो मूर्ख धर्मरूप और साररूप गुणोंकी खानि ऐसे सन्तोष व्रतको छोड़कर लोभ करता है वह अनेक दुर्गतियोंके दुःख भोता है ॥८६॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! इस परिग्रहपरिमाण नामके व्रतके विना जिसने दुःख पाया है उसकी कथा कृपाकर कहिये ॥८७॥ उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं परिग्रहपरिमाण व्रतको न पालनेवाले अत्यन्त लोभी ऐसे श्मश्रुनवनीतकी कथा कहता हूँ ॥८८॥ इसी भरतक्षेत्रके अयोध्या नगरमें भवदत्त नामका एक सेठका लड़का था उसको सुख देनेवाली धनदत्ता नामकी उसकी स्त्री थी ॥८९॥ उन दोनोंके एक पुत्र हुआ था उसका नाम लघुदत्त था। वह अत्यन्त लोभी था। किसी एक समय द्रव्य कमाने और व्यापार करनेके लिये वह दूर देशान्तरमें गया ॥९०॥ वहांपर

दुर्गमार्गे हठान्नीतं सर्वद्रव्यमुपार्जितम् । तस्करैर्दुःखदैस्तस्य पूर्वपापविपाकतः ॥९१
एकदा निर्धनेनैवागच्छतागृहमात्मनः । कुमार्गे गोकुले तक्रं तेन पीतुं हि याचितम् ॥९२
तस्मिन्पीते समालोक्य कूर्चे लग्नं कथंचन । स्वल्पं सुनवनीतं च गृहीत्वा तेन चिन्तितम् ॥९३
प्रभविष्यति मेऽनेन कालेनैव धनादिकम् । तृणकुटयां स्थितेनैव सद्व्यवसायहेतवे ॥९४
इति सञ्चिन्त्य तत्रैव स्थितोऽसौ तस्य प्राप्तये । तावल्लोकैः कृतं नाम हि श्मश्रुनवनीतकम् ॥९५
अथैकदा घृते जाते कालात्प्रस्थप्रमाणके । संस्तरे शीतकाले स कुटीद्वारे ससंकटे ॥९६
पादान्ते स तृणं धृत्वा वह्निं च घृतभाजनम् । मानसे चिन्तयत्येव महारम्भादिसंग्रहम् ॥९७
इदानीं सद्व्रतेनाहं करोमि क्रयविक्रयम् । कार्पासादिभवं पश्चात्सार्थवाहो भवामि वै ॥९८
अश्वहस्त्यादिसल्लक्ष्म्या सामन्तादिपदं ततः । राज्याधिराजजं प्राप्य पदं च व्यवसायतः ॥९९
क्रमेण चक्रवर्ती च भविष्यामि न संशयं । अवाप्स्यामि तदा भोगान् सर्वेन्द्रियसुखप्रदान् ॥१००
यदा सप्ततले रम्ये प्रासादे शयने शुभे । स्त्रीरत्नं प्रोपविष्टं मे पादान्ते शुभलक्षणम् ॥१०१
महारूपान्वितं सारं मुष्टया पादौ गृहीष्यति । पादमर्दनमाकर्तुं भोगतत्परमानसम् ॥१०२
न जानासि त्वमेवाहं भणित्वेति तदा स्वयम् । पादेन ताडयिष्यामि स्नेहेनाति वरं हि तत् ॥१०३

जाकर उसने द्रव्य भी कमाया परन्तु पापकर्मके उदय होनेसे मार्गमें ही दुःख देनेवाले चोरोंने उसका सब धन लूट लिया ॥९१॥ इस प्रकार अत्यन्त निर्धन होकर वह अपने घरको आ रहा था। मार्गमें किसी एक दिन उसने गवालियेके घरसे पीनेके लिये छाछ माँगी ॥९२॥ छाछके पी लेनेपर उसने देखा कि उस छाछमेंके मक्खनके कुछ कण मूछोंमें लग गये है। उन्हें देखकर उसने अपने हृदयमें विचार किया कि थोड़े दिन इसी प्रकार छाछ पी पीकर मक्खनके कण इकट्ठे करनेसे व्यापार करने योग्य धन हो सकता है इसलिये कुछ दिनतक घासकी एक झोंपड़ी बनाकर यहाँ ही रहना चाहिये ॥९३-९४॥ इस प्रकार विचारकर वह वहीं एक झोंपड़ी बनाकर उसीमें रहने लगा। वह प्रतिदिन मूछोंमें लगे हुए मक्खनको इकट्ठा करता था इसलिये लोगोंने उसका नाम श्मश्रुनवनीत रखलिया था ॥९५॥ कुछ समय पाकर इकट्ठा होते होते वह घी लगभग एक सेरके हो गया तब किसी एक दिन शीतकालके समय उस छोटी झोंपड़ीको बन्दकर वह लघुदत्त दरवाजेकी ओर पैरकर सो गया। दरवाजेके पास ही घीका वर्तन रक्खा हुआ था और उसके पास ही शीतसे बचनेके लिये अग्नि जला रक्खी थी। इस प्रकार लेटे लेटे वह बड़े भारी आरम्भ और संग्रहका विचार करने लगा ॥९६-९७॥ वह सोचने लगा कि अब मैं इस घीसे कपास आदिका व्यापार कर सकता हूँ। इस प्रकार धीरे धीरे व्यापार करते करते बाहरसे माल लानेवाला ले जानेवाला बड़ा व्यापारी हो जाऊँगा ॥९८॥ तदनन्तर मेरे हाथी, घोड़े आदिकी विभूति हो जायगी। बड़े बड़े सामान्त हो जायंगे, राज्य मिल जायगा और फिर इसी व्यवसायसे राजाधिराज पद मिल जायगा ॥९९॥ तदनन्तर मैं चक्रवर्ती हो जाऊँगा इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर मुझे समस्त इन्द्रियोंके सुख देनेवाले भोगोपभोग प्राप्त हो जायंगे ॥१००॥ तब मैं सतखने महा मनोहर शुभ राजभवनमें सोऊँगा, अनेक शुभ लक्षणोंसे सुशोभित स्त्री—रत्न मेरे पैरोंके पास बैठेगी ॥१०१॥ वह बड़ी रूपवती होगी और हृदयमें भोगोंकी लालसा करती हुई वह मेरे पैर दबानेके लिये अपने हाथोंसे मेरे पैर पकड़ेगी ॥१०२॥ तब मैं बड़े प्रेमके साथ उस सुन्दर स्त्रीको यह कहकर स्वयं लात मारूँगा कि अरी, यह क्या करती है, तू नहीं जानती कि मैं स्वयं तेरे रूपमें मिल गया हूँ ?

एवं चिन्तयतो तेन मूढेन रभसा स्वयम् । पादप्रसारितश्चक्रे विवर्त्यान्धितचेतसा ॥१०४
पतितं तेन पादेन तस्यैव घृतभाजनम् । द्वारे संधुक्षितोग्निश्च घृतेन ज्वलितस्तराम् ॥१०५
महाग्निज्वलिताद्द्वारान्निस्सर्तुं सोऽक्षमो मृतः । दग्धदेहोऽतितीव्रं प्रभुज्य दुःखं कुवह्निजम् ॥१०६
दुर्ध्यानेन गतो घोरां दुर्गतिं दुःखपूरिताम् । व्रतादिरहितो मूढस्तीव्रलोभाकुलोत्पथात् ॥१०७
अन्ये ये बहवो लोके लोभाकुलितचेतसः । चक्रवर्तिसुभौमादिप्रमुखा धनलोलुपाः ॥१०८
श्वभ्रतिर्यग्गतिं प्राप्ता बह्वारम्भपरिग्रहात् । प्राज्ञः पुमान् कथां लोके कस्तेषां कथितुं क्षमः ॥१०९

अखिलदुरितमूलां दुर्गतिं दुःखयोनिं विबुधजनविनिन्द्यां लुब्धदत्तो वणिग् भो ।
गत इह धन लोभाच्चेति मत्वा मनुष्य ! त्वमपि हन कुलोभं सारसन्तोषशस्त्रैः ॥११०

निःशंकादिगुणान्विता हि मुदिताः श्रीजैनसच्छासने,सन्तोषादिषु तत्परा जिनपतेः भक्ता मुनीनां तथा ।
धर्मध्यानपरायणाः शुभधियः पञ्चैव चाणुव्रतान् धृत्वा यान्ति शिवालयं सुखकरं प्राप्याच्युतं श्रावकाः॥

सुरगतिसुखगेहं दानरत्नादिभाण्डं धृतिकरमपि सारं मुक्तिकन्दं गुणाढ्यम् ।
कुगतिगृहकपाटं पापवृक्षव्रजाग्निमणुव्रतमपि मित्र ! पञ्चकं प्राचर त्वम् ॥११२

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे परिग्रहपरिमाणव्रत-
जयश्मश्रुनवनीतकथाप्ररूपको नाम षोडशमः परिच्छेदः ॥१३॥

॥१०३॥ इस प्रकार चिन्तन करते और अपने हृदयमें अपनेको चक्रवर्ती मानकर लोभमें अन्धे बने हुए उस मूर्खने वेगके साथ पैर फैलाये ॥१०४॥ दैवयोगसे वे पैर घीके वर्तनपर जा लगे जिससे वह सब घी फैलकर अग्निमे जा पड़ा और उस घीसे दरवाजेके पास की अग्नि बड़ी तेजीके साथ जलने लगी ॥१०५॥ वह अग्निकी भारी ज्वाला दरवाजेके पास ही जल रही थी इसलिये वह बाहर निकल भी न सका और उस अग्निमें ही जलकर मर गया ॥१०६॥ व्रत-रहित होने और अत्यन्त तीव्र लोभी होनेके कारण रौद्रध्यानसे उसके प्राण छूटे और इसीलिये उसे अनेक दुःखोंसे भरपूर अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ा ॥१०७॥ इसके सिवाय सुभौम चक्रवर्तीको आदि लेकर और भी ऐसे बहुतसे लोग हो गये है जिनका हृदय लोभसे सदा व्याकुल रहता था और जो अत्यन्त लोभी थे, और इसीलिये बहुतसे आरम्भ और परिग्रहके कारण उन्हें नरक और तिर्यंच गतियोंके दुःख भोगने पड़े । उन सबकी कथाओंको कोई भी विद्वान् नही कह सकता ॥१०८-१०९॥ हे मित्र ! देख ! यह कुलोभ समस्त पापोंकी जड़ है, अनेक दुर्गतियोंके दुःख देनेवाला और विद्वानोंके द्वारा निंद्य है । इसी कुलोभके कारण लघुदत्त वैश्यको दुर्गतिमें जाना पड़ा, इसलिये सारभूत सन्तोष-रूपी शस्त्रोंके द्वारा कुलोभको नष्टकर ॥११०॥ इस संसारमें जो श्रावक निःशकित आदि अङ्गोंको पालन करते हैं, जैनधर्मको पालनकर प्रसन्न होते है, सन्तोष आदि सद्गुणोंको धारण करनेमें तत्पर हैं, श्री जिनेन्द्रदेव और मुनियोके भक्त हैं, धर्मध्यानमें लीन रहते है, और जिनकी बुद्धि शुभ है ऐसे श्रावक पाँचों अणुव्रतोंको पालनकर सुख देनेवाले अच्युत स्वर्गको पाते हैं और फिर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१११॥ ये पाँचों अणुव्रत देवगतिके सुखके घर हैं, ज्ञानरूपी रत्नके पिटारे हैं, मोक्षकी जड़ हैं, अनेक गुणोंसे सुशोभित हैं, दुर्गतिरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ हैं, पाप-रूपी वृक्षोंको जलानेके लिये अग्नि है । हे मित्र ! ऐसे इन पाँचों अणुव्रतोंको तू पालन कर ॥११२॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें परिग्रहपरिमाणका स्वरूप और जयकुमार तथा श्मश्रुनवनीतकी कथाको कहनेवाला यह सोलहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१६॥

सत्रहवाँ परिच्छेद

**कुंथुं कुंथ्वादिजीवानां दयादक्षं जिनाधिपम् । वन्दे चक्रधरं देवं कुंथ्वंग्यादिदयाप्तये ॥१
अणुव्रतानि व्याख्याय त्रिःप्रकारं गुणव्रतम् । गुणाकरं प्रवक्ष्यामि गृहस्थानां सुखप्रदम् ॥२
दिग्विरतिव्रतं प्रोक्तं चानर्थदण्डवर्जनम् । भोगोपभोगसंख्याख्यं श्रावकाणां गणाधिपैः ॥३
गुणव्रतानि साराणि गुणानामपि बृंहणात् । भवन्ति धर्मसिद्धयर्थं दयादिव्रतकारणात् ॥४
संख्यां विधाय यो धीमान् दिक्समूहे बहिः कदा । न याति तस्य धर्माय भवेद्दिग्विरतिव्रतम् ॥५
सागराद्रिनदीद्वीपदेशोऽटव्यादयो मताः । मर्यादा जिननाथेन दिग्विरतिव्रतस्य वै ॥६
गृहस्थैरथवा कार्या योजनैर्गणनाविभिः । संख्या दशदिशां यावज्जीवहिंसाविहानये ॥७
मर्यादा परतः पापं स्थूलं सूक्ष्मं न जायते । बन्धादिपञ्चकोपेतं सङ्कल्पाभावतो नृणाम् ॥८
महाव्रतानि कथ्यन्तेऽणुव्रतान्यऽपि धीधनैः । कृतसंख्याबहिर्भागे सर्वसावद्यवर्जनात् ॥९
हिंसादिपञ्चपापानां यस्त्यागस्तन्महाव्रतम् । मनोवाक्काययोगैः स्यान्नृणां स्वान्यकृतादिकैः ॥१०
सद्भिश्चैवोपचारेण प्रणीतं सन्महाव्रतम् । देशहिंसादित्यक्तानां दिग्विरतिकृतात्मनाम् ॥११
महापुण्यं भजेदंगी सद्दिग्विरतिसंख्यया । सन्तोषाद् गमनाभावान्नित्यं हिंसादिवर्जनात् ॥१२**

जो कुन्थु आदि समस्त जीवोंकी दया पालन करनेमें चतुर हैं, जो तीर्थंकर और चक्रवर्ती हैं और जो देवाधिदेव है ऐसे श्री कुंथुनाथ भगवानको मै कुंथु आदि समस्त जीवोंकी दया पालन करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ इस प्रकार अणुव्रतोंका स्वरूप कहकर अब आगे गृहस्थोंको सुख देनेवाले और गुणोंकी खानि ऐसे तीनों प्रकारके गुणव्रतोंका वर्णन करते हैं ॥२॥ गणधरदेवोंने दिग्विरतिव्रत, अनर्थदण्ड विरतिव्रत, और भोगोपभोग संख्यान ऐसे श्रावकोंके तीन गुणव्रत बतलाये हैं ॥३॥ ये गुणव्रत दया आदि व्रतोके कारण है और गुणोंको बढानेवाले है। इसलिये धर्मकी सिद्धिके लिये इनको सारभूत गुणव्रत कहते हैं ॥४॥ जो बुद्धिमान् समस्त दिशाओंकी मर्यादा नियत कर उसके बाहर कभी नहीं जाता है उसके दिग्विरति नामका पहिला गुणव्रत होता है ॥५॥ स्वामी जिननाथने समुद्र, नदी, पर्वत, द्वीप, देश, व आदि इस दिग्व्रतकी मर्यादा बतलाई है ॥६॥ अथवा जीवोंकी हिंसा बचानेके लिये गृहस्थोंको योजनोंके द्वारा दशों दिशाओंकी मर्यादा नियतकर लेनी चाहिये ॥७॥ नियत की हुई मर्यादाके बाहर स्थूल अथवा सूक्ष्म सब तरहके हिंसा आदि पापोंका त्याग हो जाता है तथा मर्यादाके बाहर पापोंके लिये मनुष्योंके संकल्प और भाव भी नहीं होते इसीलिये बुद्धिमान् मर्यादाके बाहर समस्त पापोंका त्याग हो जानेसे उन अणुव्रतोंको मर्यादाके बाहर महाव्रत कह देते हैं ॥८-९॥ हिंसादिक पांचों पापोंका मन, वचन, कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना महाव्रत कहलाता है ॥१०॥ यद्यपि इस प्रकारका त्याग दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके नहीं होता, तथापि एक देश हिंसादिकका त्याग करनेवाले और दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके मर्यादाके बाहर उपचारसे महाव्रत माना जाता है ॥११॥ इस दिग्व्रतको धारण करनेसे सन्तोष होता है, मर्यादाके बाहर भ्रमणका त्याग हो जाता है और हिंसादि पापोंका सर्वथा त्याग हो जाता है इसलिये दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंको महा पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥१२॥

कर्तव्यो नियमः सारो दिग्विरतिव्रते बुधैः । यावज्जीवं व्रतायोच्चैः कृत्वा स्वान्तं वशे स्वयम् ॥१३
अतीचारपरित्यक्तं दिग्विरतिव्रतं चरेत् । यो गृही तस्य जायेत सत्पुण्यं च सुखाकरम् ॥१४
भगवन्तो व्यपीपातान् संदिशध्वं व्रतस्य मे । एकचित्तेन भो मित्र ! शृणुतात् कथयाम्यहम् ॥१५
ऊर्ध्वव्यतिक्रमश्चाधो व्यतिपातो भवेन्नृणाम् । तिर्यग्व्यतिक्रमं क्षेत्रवृद्धिर्विस्मरणं दिशाम् ॥१६
प्रमादाज्ञानतो येऽपि कार्यत्वाल्लंघयन्ति ये । ऊर्ध्वसंख्यामतीचारं लभन्ते मलदायकम् ॥१७
क्वचित्कार्यवशाद् येऽपि अधःसंख्यां त्यजन्ति ते । प्राप्नुवन्ति व्यतीपातं व्रतस्य नाशकं नराः ॥१८
तिर्यग्दिक्षु सुमर्यादां ये त्यजन्ति कुलोभतः । अतिक्रमो भवेत्तेषां दुस्सहो व्रतघातकः ॥१९
क्षेत्रवृद्धि प्रकुर्वन्ति दिक्समूहस्य ये बुधाः । अतीचारो भवेत्तेषां प्रमादाज्ञातलोभतः ॥२०
यो दिग्विरतिभूमीनां धत्ते विस्मरणं शठः । व्यतीपातं श्रयेत्सोऽपि पापसन्तापदुःखदम् ॥२१
व्यतीपातविनिष्क्रान्तं दिग्विरतिव्रतं दृढम् । भज त्वं परलोकार्थं दयार्थं च शुभप्रदम् ॥२२
गुणव्रतं द्वितीयं ते व्याख्यायैकं गुणव्रतम् । वक्ष्ये धर्माय चानर्थदण्डविरतिलक्षणम् ॥२३
मध्ये दिग्विरतेर्नित्यं यः करोति नरोत्तमः । कारणेन विना पापत्यागं तस्याऽपि तद्भवेत् ॥२४
अनेकभेदयुक्तस्यानर्थदण्डस्य साम्प्रतम् । पञ्चभेदान् प्रवक्ष्यामि वृथा पापप्रदायकान् ॥२५
आद्यः पापोपदेशश्च हिंसादानं भवेत्ततः । अपध्यानं दुराचारं दुःश्रुतिः श्रुतिदूषितः ॥२६

इस दिग्व्रतको धारण करते समय बुद्धिमान गृहस्थोंको अपने स्वार्थको वशमें कर जीवन-पर्यंततकके लिये नियम करना चाहिये ॥१३॥ जो गृहस्थ अतिचार-रहित इस दिग्व्रतको पालन करता है वह सुख देनेवाले महा पुण्यको प्राप्त होता है ॥१४॥ प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर इस व्रतके अतिचारों-का निरूपण कीजिये । उत्तर—हे मित्र तू चित्त लगाकर सुन, मै उन अतिचारोंको कहता हूँ ॥१५॥ ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और विस्मरण ये पाँच इस दिग्व्रतके अतिचार हैं ॥१६॥ जो प्रमादसे अज्ञानसे अथवा किसी कार्यके वश होकर ऊपरकी (ऊर्ध्व दिशाकी) नियत की हुई मर्यादाको उल्लंघन करते है उनके दोष उत्पन्न करनेवाला ऊर्ध्वव्यतिक्रम नामका पहिला अतिचार होता है ॥१७॥ जो किसी कार्यके वशसे नियत की हुई अधोलोककी मर्यादाका उल्लंघन करते हैं उनके व्रतको नाश करनेवाला दूसरा अधोव्यतिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥१८॥ जो लोभके वश होकर आठों दिशाओंकी मर्यादाका त्याग कर देते हैं उनके व्रतको घात करनेवाला और असह्य ऐसा तिर्यग्व्यतिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥१९॥ जो पुरुष प्रमाद अज्ञान अथवा लोभसे सब दिशाओंके क्षेत्रकी मर्यादाको बढा लेते है उनके क्षेत्रवृद्धि नामका अतिचार होता है ॥२०॥ जो दिग्व्रतमें धारण की हुई मर्यादाको ही भूल जाते हैं उनके पाप-सन्ताप और दुःख देनेवाला विस्मरण नामका अतिचार होता है ॥२१॥ हे भव्य ! तू दयाको पालन करनेके लिये और व्रतोंको शुद्ध करनेके लिये अतिचारोंको छोड़कर पुण्य बढ़ानेवाले दिग्व्रतको धारण कर ॥२२॥ इस प्रकार पहिले गुणव्रतका व्याख्यानकर अब तेरे लिये अनर्थदण्डविरति नामके दूसरे गुणव्रतका व्याख्यान करता हूँ ॥२३॥ जो पुरुषोत्तम दिग्व्रतका पालन करता हुआ भी विना कारणके लगने-वाले पापोंका त्याग करता है उसके अनर्थदण्डविरति नामका व्रत होता है ॥२४॥ यद्यपि अनर्थ-दण्डके बहुतसे भेद हैं तथापि व्यर्थ ही पापोंको उत्पन्न करनेवाले उसके पाँचों भेदोंको मैं कहता हूँ। भावार्थ—बहुतसे भेद इन्हीं पाँचोमें अन्तर्भूत हैं ॥२५॥ पापोपदेश, हिंसादान, दुराचरणोंको करनेवाला अपध्यान, कानोंको दूषित करनेवाली दुःश्रुति और प्रमादके वश रहनेवालोंकी प्रमादचर्या

जिनैः प्रमादचर्यापि प्रमादवशवर्तिनाम् । उत्सर्गात्पञ्चभेदं चानर्थदण्डं व्रतं मतम् ॥२७
तिर्यग्हस्त्यश्वबन्धादौ क्रयविक्रयकारणे । सत्त्वहिंसादिके कृष्यारम्भादौ वञ्चनादिके ॥२८
विवाहविषयेऽसत्यस्तेयादौ च परिग्रहे । कुदेवे कुगुरौ पापमिथ्यात्वादिप्रप्रेरणे ॥२९
गृहव्यापारसावद्ये सद्धर्मादिनिवारणे । द्रव्यार्जननिमित्ते च प्रव्रज्यादिनिषेधने ॥३०
दीयते प्रोपदेशो योऽन्येषां वा बुधैर्नरैः । पापोपदेश उक्तोऽयं जिननाथेन पापदः ॥३१
शठैः पापादियुक्तो य उपदेशोऽत्र दीयते । निरूपितः बुधैः पापोपदेशः सकलोऽपि सः ॥३२
मुक्त्वा धर्मोपदेशं च हितं स्वस्य परस्य च । न दातव्यो बुधैः पापोपदेशो दुःखसागरः ॥३३
यतः करोति य पापमुपदेशं ददाति यः । अनुमन्ये तयोर्मूढः सर्वेषां तद्भवेद् ध्रुवम् ॥३४
तस्मात्त्वं कुरु भो मित्र ! नित्यं धर्मोपदेशनम् । त्यज पापोपदेशं च प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥३५
खड्गसर्वायुधान्येव खनित्रादिकमञ्जसा । कुठारो यष्टिका रज्ज्वाद्यग्निभृशृङ्खलिकादिकम् ॥३६
शकटे वा बलीवर्दे घोटके वधकारणम् । हिंसोपकरणं कृत्स्नं सर्वं सूना हि पापदाः ॥३७
यत्किञ्चिद्धिंसकं वस्तु परेषां दीयते शठैः । हिंसादानं जिनैरुक्तं तत्सर्वं बन्धकारणम् ॥३८
यज्जीवबाधकं मूढैरन्येषां वस्तु दीयते । हिंसादानं च तत्सर्वं प्रणीतं गौतमादिभिः ॥३९
गृहस्थैर्नैव कर्तव्यो व्यवसायोऽतिपापदः । महाहिंसाकरो दक्षैर्लोहादिजनितोऽशुभः ॥४०
क्वचिल्लोहं न नेतव्यं बन्धविध्वंसकारणम् । आयुधादिकरं पापगेहं द्रव्याय सन्नरैः ॥४१

ये पाँच अनर्थदण्डके औत्सर्गिक वा मुख्य भेद है ॥२६-२७॥ हाथी घोडे आदि तिर्यचोंके बाँधने, उनके खरीदने बेचनेके लिये, जीवोंकी हिंसा करनेके लिये, खेती आरम्भ आदिके वचन कहनेके लिये, विवाहके लिये, झूठ चोरी परिग्रहके लिये, कुगुरु कुदेव आदिकी पूजा करने, पाप बढ़ाने मिथ्यात्व सेवन करनेके लिये, घरके निंद्य व्यापार करनेके लिये, श्रेष्ठ धर्मकी क्रियाओंको रोकनेके लिये, धन कमानेके लिये, दीक्षा लेनेसे रोकनेके लिये, जो अज्ञानी जीव दूसरे लोगोंको उपदेश दिया करते है उसके भगवान जिनेन्द्रदेवने पापोपदेश नामका पहिला अनर्थदण्ड कहा है ॥२८-३१॥ जो मूर्ख लोगोंके द्वारा पापरूप उपदेश दिया जाता है उसको विद्वान् लोग दुःख देनेवाला पापोपदेश अनर्थदण्ड कहते ॥३२॥ विद्वान् लोगोंको धर्मोपदेश छोड़कर अपने वा दूसरेके लिये दुःखका सागर ऐसा पापोपदेश कभी नहीं देना चाहिये ॥३३॥ इसका भी कारण यह है कि जो उन पापोंको करता है या उनका उपदेश देता है, या उनमें अपनी सम्मति देता है उन सब मूर्खोंके एकसा पाप लगता है ॥३४॥ इसलिये हे मित्र ! तू सदा धर्मोपदेश कर । कण्ठगत प्राण होनेपर भी पापोपदेश मत कर, पापोपदेशका सर्वथा त्याग कर ॥३५॥ तलवार आदि सब प्रकारके शस्त्र, कुदाल, कुठार लकड़ी, रस्सी, अग्नि, साँकल आदि जो जो बैल घोड़ा आदि पशुओंके मारने वा बाँधनेके कारण हों, जो जो हिंसाके उपकरण हों, चक्की, उखली, चूलि, बुहारी आदि पाप उत्पन्न करनेवाले हों तथा विष आदि और भी जो जो जीवोंके घातक हों उन सबका दूसरोंके लिये देना हिंसादान कहलाता है । क्योंकि ये सब कर्मोंके बन्धका कारण है ॥३६-३८॥ मूर्ख लोग जीवोंको दुःख देनेवाले, बाधा पहुँचानेवाले जो जो पदार्थ दूसरोंको देते हैं वह सब गौतमादि देवोंने हिंसादान कहा है ॥३९॥ गृहस्थोंको महा हिंसा करनेवाला लोह आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा व्यापार सब अशुभ है और पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥४०॥ हिंसा और जीवोंका विध्वंस करनेवाला लोहा आदि कहीं नहीं ले जाना चाहिये, क्योंकि उस लोहेसे पाप उत्पन्न करनेवाले शस्त्र

मधु पापाकरं नैव गृहीतव्यं विवेकिभिः । जीवहिंसाविसञ्जातं बहुसत्त्वसमाकुलम् ॥४२
शृङ्गवेरादिकाः कन्दाः सत्त्वानन्तसमुद्भवा । महापापप्रदाः दक्षैः स्वीकर्तव्या धनाय न ॥४३
तिलाश्नीत्वा न दातव्या कीटाढ्या धनहेतवे । तेषां तैलं न कार्यं च नरैर्जीवविनाशकम् ॥४४
वापीकूपतडागादि न कर्तव्यमघप्रदम् । पञ्चेन्द्रियादिजन्तूनां घातकं कीर्तिसिद्धये ॥४५
छेदं कार्यं न वृक्षाणां गृहस्थैर्गृहहेतवे । असंख्यैनःप्रदं दुःखधाम सत्त्ववधाकरम् ॥४६
इष्टादिकं विधेयं न मनुष्यैर्धामसिद्धये । स्थावरत्रससर्वासु क्षयदं दुरितार्णवम् ॥४७
द्रव्याय शकटं नीत्वा न गन्तव्यं नरोत्तमैः । ग्रामादौ हि चतुर्मासे महीसत्त्वाकुले क्वचित् ॥४८
नवनीताबनल्पाल्पाहःस्थितात्त्रससंभृतात् । काराप्यं न घृतं दक्षैः परगेहेऽशुभप्रदम् ॥४९
त्रसाढ्यं गुडपुष्पं च लाक्षामैणादिकं तथा । वस्त्रादिशोधनं वस्तु द्विपदं च चतुष्पदम् ॥५०
कीटादिसम्भृतं यच्च पापाढ्यं हि क्रयाणकम् । जीवहिंसाकरं लोके निन्द्यं च साधुदूषितम् ॥५१
तत्सर्वं द्रव्यलोभाय न नेतव्यं विवेकिभिः । न दातव्यं परेषां चाहिंसादिव्रतशुद्धये ॥५२
लक्ष्मीर्गृहात्स्वयं याति कुक्रयाणकसंग्रहात् । लोभातुरस्य पापेन दारिद्र्यं सन्मुखायते ॥५३
उत्तमाचरणात्लक्ष्मीश्चायाति पुण्यतो नृणाम् । न्यायमार्गरतानां हि लोभादित्यक्तचेतसाम् ॥५४

आदि बन सकते है ॥४१॥ विवेकी पुरुषोंको पाप उत्पन्न करनेवाला मधु वा शहद नहीं लेना चाहिये क्योंकि वह अनेक जीवोकी हिंसासे उत्पन्न होता है और अनेक जीवोसे भरा रहता है ॥४२॥ अदरख आदि कन्दमूल भी अनेक जीव उत्पन्न करनेवाले महा पाप प्रकट करनेवाले हैं इसलिये इनका व्यवसाय कर धन कमाना भी उचित नही है ॥४३॥ तिल आदि ऐसे धान्य जो कि कीड़ोंके घर हैं नही भरने चाहिये और न ऐसे धान्योका तेल निकलवाना चाहिये, क्योंकि ऐसे धान्योंका तेल निकलवानेसे अनेक जीवोंका विनाश होता है ॥४४॥ अपनी कीर्ति बढ़ानेके लिये भी बावड़ी कूआ तालाब आदि भी नहीं बनवाना चाहिये, क्योंकि इन सबका बनवाना पाप उत्पन्न करनेवाला और अनेक पंचेन्द्रिय जीवोंका घात करनेवाला है ॥४५॥ गृहस्थोंको अपने घरके कामोंके लिये भी वृक्षोंको नही कटवाना चाहिये । क्योंकि वृक्षोका कटवाना अनेक पापोंका उत्पन्न करनेवाला, दुःखोंका घर और अनेक जीवोंका नाश करनेवाला है ॥४६॥ अपना घर बनवानेके लिये भी गृहस्थोंको ईंटे नहीं पकवाना वा बनवाना चाहिये । क्योंकि ईंटोंका बनवाना वा पकवाना त्रस स्थावर सब जीवोंकी हिंसा करनेवाला और पापोंका सागर है ॥४७॥ उत्तम पुरुषोंको बरसातके दिनोंमें द्रव्य कमानेके लिये गाड़ी लेकर नहीं जाना चाहिये, क्योंकि बरसातमें गाड़ी ले जानेसे अनेक जीवोंकी हिंसा होती हैं ॥४८॥ बहुत दिनके रक्खे हुए मक्खनमें अनेक त्रस जीव भरे रहते हैं । इसलिये चतुर पुरुषोंको उसका घी नही बनवाना चाहिये, क्योंकि यह कार्य भी परलोकमें पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥४९॥ इसी प्रकार अनेक त्रस जीवोकी हिंसा करनेवाले गुड़, पुष्प, लाख, मृगचर्म, वस्त्र धोनेकी सामग्री, कीड़ोंसे भरे हुए पशु सेवक आदि तथा और भी जो जो पाप उत्पन्न करनेवाले, जीवोंकी हिंसा करनेवाले, निन्द्य और सज्जन पुरुषोंके द्वारा वर्जित पदार्थ हैं वे सब पदार्थ द्रव्य कमानेके लिये विवेकी पुरुषोको नही ले जाना चाहिये और अहिंसाव्रतको शुद्ध रखनेके लिये न ऐसे पदार्थ किसी दूसरेको देने चाहिये ॥५०-५२॥ जो पुरुष अत्यन्त लोभी हैं तथा हिंसा करनेवाले पदार्थोंका व्यापार करते हैं, पाप-कर्मके उदयसे उनके घर रहनेवाली लक्ष्मी भी अपने आप चली जाती है और वे दरिद्रताके सन्मुख हो जाते है ॥५३॥ जो न्यायमार्गमें रहकर काम

इति मत्वा जनैर्निन्द्यं ग्राह्यं नैव क्रयाणकम् । द्रव्यार्थं धनलाभाय दारिद्र्यादिप्रपीडितैः ॥५५
ख्यातिलोभातिमानेन हिंसाकारणवस्तु यत् । तत्सर्वं हि न दातव्यं बुधैः प्राणात्यये क्वचित् ॥५६
वधबन्धादिके द्वेषादुच्चाटनकदम्बके । शोकक्लेशमहादुःखे रागाद्भोगादिवस्तुषु ॥५७
परराभादिसंयोगे द्रव्यादिहरणे च यत् । चिन्तनं क्रियते मूढैरपध्यानं च तद्भवेत् ॥५८
यत्किञ्चिच्चिन्तनं पुंसां पापाढ्यं दुःखकारणम् । अहितं स्वान्ययोस्तद्धि कुध्यानं स्याच्च श्वभ्रदम् ॥
अपध्यानं करोत्येव योऽतिदुष्टो वृथा स वै । महाघसङ्ग्रहं कृत्वा श्वभ्रकूपे पतिष्यति ॥६०
तस्मादादाय सद्धर्मध्यानं स्वर्गगृहाङ्गणम् । दुर्ध्यानं दुःखसञ्जातं त्यज त्वं मुक्तिहेतवे ॥६१
द्रव्यार्जनस्य वाणिज्यकृष्यारम्भकरस्य च । गृहादिशिल्पशास्त्रस्य पश्वादिपोषणस्य च ॥६२
संग्रामवर्णनस्यापि मिथ्यैकान्तमतस्य च । वशीकरणविद्वेषहेतुभूतस्य प्रत्यहम् ॥६३
कुधर्मस्य कुशास्त्रस्य कुदेवस्यागुरोस्तथा । कुश्रृंगारस्य रागाढ्याकरस्य दुःश्रुतेः स्फुटम् ॥६४
या कथा श्रूयते मूढैरेनोदुर्गतिदुःखदा । दुश्रुतिः सा जिनैः प्रोक्ता स्वर्गमुक्तिगृहार्गला ॥६५
या काश्चिद् विकथा राजाचौरभुक्तादिजा बुधैः । श्रूयते दुःश्रुतिः सोऽपि सर्वस्वाध्यायवर्जिता ॥६६
कुज्ञानाद् द्वेषरागादि सर्वं सञ्जायते ततः । पापं पापाच्च श्वभ्रं हि ततो दुःखं परं नृणाम् ॥६७

करते हैं और जिन्होंने लोभको अपने हृदयसे निकाल दिया है ऐसे मनुष्योंके उत्तम आचरण करनेसे और पुण्यकर्मके उदयसे लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥५४॥ ऐसा जानकर दारिद्र्य आदिसे पीड़ित भी गृहस्थोको धन कमानेके लिये निन्द्य पदार्थोंको स्वीकार नहीं करना चाहिये ॥५५॥ अपनी कीर्ति बढ़ानेके लिये, लोभके लिये वा अपनी प्रतिष्ठा प्रगट करनेके लिय कंठगत प्राण होनेपर भी हिंसा करनेवाले पदार्थोंको कभी नहीं देना चाहिये, क्योंकि इनका देना हिंसादान है ॥५६॥

जो मूर्ख लोग राग अथवा द्वेषसे दूसरोंके वध बन्धनका, उच्चाटन, मारण वशीकरण आदिका, शोक क्लेश महा दुःख देने आदिका, दूसरेके भोगोपभोगके पदार्थोंके हरण करने वा परस्त्रीके हरण करनेका अथवा किसीके द्रव्य मारनेका चिन्तवन करते है उसको अपध्यान कहते है ॥५७–५८॥ दूसरे मनुष्योंका जो कुछ पापरूप चिन्तवन करना है अथवा दूसरोंको दुःख देनेके कारणोंका चिन्तवन करना है, और दूसरोंके अहितका चिन्तवन करना है वह सब नरकमें पटकनेवाला अपध्यान वा कुध्यान है ॥५९॥ जो दुष्ट व्यर्थ ही अपध्यान करता रहता है वह महा पाप इकट्ठे कर अन्तमें नरकरूपी कूएमें पड़ता है ॥६०॥ इसलिये हे भव्य ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये स्वर्गरूपी घरके आंगनके समान धर्मध्यान धारणकर और दुःखसे उत्पन्न होनेवाले अपध्यानका त्याग कर ॥६१॥ जो द्रव्य कमानेकी, व्यापार, खेती आरम्भ आदि करनेकी, घर बनाने आदि शिल्पशास्त्रकी, पशुओंके पालन करनेकी, युद्ध वर्णन करनेकी, मिथ्या एकान्त मतके पुष्ट करनेकी, वशीकरण आदिके कारणोंकी, कुधर्म, कुशास्त्र, कुदेव, कुगुरुकी, कुसंस्कारकी और राग प्रगट करनेकी कथाएँ कही वा सुनी जाती हैं और जिन्हे मूर्ख लोग ही कहते वा सुनते हैं उसे दुःश्रुति कहते हैं। यह दुःश्रुति अनेक पाप और दुःख देनेवाली और स्वर्ग मोक्षरूपी घरको बन्द करनेके लिये अर्गलके समान है ॥६२–६५॥ जो अज्ञानी लोग राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा आदि विकथाओंको सुनते है वह भी स्वाध्यायसे रहित दुःश्रुति ही है ॥६६॥ ऐसी दुःश्रुतिरूप कथाओंके सुननेसे मिथ्याज्ञान होता है, मिथ्याज्ञानसे रागद्वेष आदि विकार उत्पन्न होते हैं, विकारोंसे पाप होता है, पापोंसे नरकमें पड़ता है और नरकोंमें अनेक प्रकारके दुःख सहने पड़ते है ॥६७॥ जो अज्ञानी इन विकथाओं-

करोति विकथां यस्तु यः शृणोति विमूढधीः । द्वयोः पापं समानं स्यात् श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् ॥६८
इति मत्वा कुशास्त्रं च पापदं धूर्त्तनिर्मितम् । श्रुत्वा जिनोदितं शास्त्रं किंपाकफलवत्त्यज ॥६९
भूखननं बहुनीरक्षेपणं चाग्निज्वालनम् । वातप्रकरणं हस्ताद्वनशाखाः प्रछेदनम् ॥७०
वृथा पर्यटनं लोके गमनागमनं तथा । प्रेरणं वा परस्यापि सत्कार्येण विनापि यत् ॥७१
गृहस्थैः क्रियते मूढैः प्रमादादिसमन्वितैः । प्राहुः प्रमादचर्या च तामेव श्रीगणाधिपाः ॥७२
विना कार्यं शठैर्लोके काचिदाचर्यते क्रिया । पापाढ्या च प्रमादाख्या चर्या सर्वापि सा भवेत् ॥७३
प्रमादाज्जायते घातो घातादेनस्ततोऽङ्गिनाम् । नरकं च ततो दुःखं दीर्घं वाचामगोचरम् ॥७४
यत्नं विधाय सद्धर्मे सुखागारं वृषाकरम् । त्यज प्रमादचर्यां सद्व्रतादिभङ्गदुःखदाम् ॥७५
कारणेन विनाऽनर्थं दुःखदं पापसङ्ग्रहं । करोत्येव ततोऽनर्थदण्डः स उच्यते बुधैः ॥७६
सर्वपापकरं पञ्चभेदं चानर्थसंज्ञकम् । त्यज यत्नं विधायोच्चैर्मनोवाक्कायनिग्रहम् ॥७७
त्यक्त्वा सर्वानतीचारान् यो वृत्तादिप्रसिद्धये । भजेदनर्थदण्डाख्यविरतिं गच्छेत्स्वर्गृहम् ॥७८
भगवन्तो दिशध्वं मे कृत्वा कृपां सर्वव्यतिक्रमान् । महाशय ! शृणु त्वं ते व्यतीपातांश्च ब्रूमहे ॥७९
कन्दर्पो वत् कौत्कुच्यं ततो मौखर्यमिष्यते । चासमीक्ष्याधिकरणं त्वतिप्रसाधनं भवेत् ॥८०
भण्डिमादिकरो रागोद्रेकाद्वा समन्वितः । योऽतिनिन्द्यो हि दुर्वाक्यः कन्दर्पो हि स उच्यते ॥८१

को कहता है और जो इनको सुनता है उन दोनोंको नरक और तिर्यग्गतिके दुःख देनेवाला समान पाप लगता है ॥६८॥ इसलिये हे भव्य ! इन कुशास्त्रोंको पाप उत्पन्न करनेवाले और धूर्तोके बनाये हुए जानकर और जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोको सुनकर किंपाकफलके समान अवश्य ही इनका त्यागकर देना चाहिये ॥६९॥ विना किसी प्रयोजनके पृथ्वी खोदना, बहुतसा पानी फैलाना, अग्नि जलाना, वायु करना, अपने हाथसे किसी वन-शाखाको काटना, व्यर्थ ही घूमना, आना जाना, वा विना किसी कार्यके दूसरोंको आने-जानेकी प्रेरणा करना, इत्यादि जो अज्ञानी गृहस्थ प्रमादसे करते हैं उसको गणधरादि देव प्रमादचर्या नामका अनर्थदण्ड कहते है ॥७०-७२॥ अज्ञानी लोग जो विना किसी प्रयोजनके पापरूप कुछ भी क्रियाएँ करते है उन सब क्रियाओंको प्रमादचर्या अनर्थदण्ड कहते हैं ॥७३॥ प्रमादचर्या अनर्थदण्डसे जीवोका घात होता है, जीवोंका घात होनेसे पाप होता है, पापसे नरक मिलता है और नरकोंमें जो वचनोंसे भी नहीं कहा जा सके ऐसा घोर दुःख मिलता है ॥७४॥ यह श्रेष्ठ धर्म ही सुखका घर है और धर्मको खानि है, यही समझकर इस श्रेष्ठ धर्मको धारण करनेके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये और दुःख देनेवाले और व्रतोका भंग करनेवाले प्रमादचर्याका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥७५॥ ये पाँचो ही अनर्थदण्ड विना ही कारणके दुःख देते हैं और पापोंका संग्रह करते है इसीलिये बुद्धिमान् लोग इनको अनर्थदण्ड कहते है ॥७६॥ ये पाँचो ही प्रकारके अनर्थदण्ड समस्त पापोको उत्पन्न करनेवाले है इसलिये मन वचन शरीरका निग्रहकर अपने वशमें कर प्रयत्नपूर्वक इनका त्याग करना चाहिये ॥७७॥ जो बुद्धिमान अपने चारित्रको प्रसिद्धिके लिये अतिचारोंको छोड़कर इस अनर्थदण्डविरति नामके व्रतको धारण करता है वह स्वर्गरूपी घरमें अवश्य पहुँचता है ॥७८॥ प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर मुझे इस व्रतके सव अतिचारोंका निरूपण कीजिये । उत्तर—हे महाभाग ! सुन, मै उन सब अतिचारोंको कहता हूँ ॥७९॥ कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, और अतिप्रसाधन ये पाँच अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार कहे जाते हैं ॥८०॥ जो रागपूर्वक हँसीसे मिले हुए अत्यन्त निन्द्य और भंड वचन कहे जाते हैं उन दुर्वचनोंको कंदर्प कहते हैं ॥८१॥ जो हँसी और भंडरूप दुर्वचनोंके साथ शरीरकी निन्द्य और दुष्ट

प्रहासभण्डिमोपेतं वक्ति कुर्वंश्चमं हि यः । दुष्टकार्यक्रियायुक्तं कौत्कुच्यं तस्य जायते ॥८२
धाष्टर्यं बहुप्रलापित्वं ब्रूते यः कारणं विना । वचनं तस्य लोकेस्मिन् मौखर्यातिक्रमो भवेत् ॥८३
कार्यं हिताहितं किञ्चिद्योऽविचार्यं करोति ना । लभेत सोऽसमीक्ष्याधिकरणं दुःखपापदम् ॥८४
भोगोपभोगसंख्याया योऽधिकं च करोत्यधीः । भोगादिकं भवेत्तस्य व्यतीपातो व्रतस्य वै ॥८५
अनेकभेदसंकीर्णं वृथा पापप्रदं त्यज । व्रतायानर्थदण्डं च स्वर्गमोक्षसुखाप्तये ॥८६
भोगोपभोगसंख्यानं तृतीयं सद्गुणव्रतम् । कामेन्द्रियदमनार्थं वक्ष्ये च गुणहेतवे ॥८७
भोगस्यैवोपभोगस्य संख्यायाक्रियते बुधैः । तदेवाहुर्जिनाः भोगोपभोगाख्यं व्रतं शुभम् ॥८८
पानाशनादि ताम्बूलगन्धपुष्पादिगोचरः । वारैकसुखदो भोग उक्तः श्रीगणनायकैः ॥८९
वस्त्राभरणसद्यानगृहस्त्रीतुरगादिजः । उपभोगो बुधैर्ज्ञेयो मुहुर्मुहुः सुखप्रदः ॥९०
शृङ्गवेरादिकन्दादिभक्षणं त्यज सर्वथा । अनन्तानन्तजीवानामभक्ष्यमिव पापदम् ॥९१
यत्रैको म्रियते जीवस्तत्रैव मरणं भवेत् । प्राणिनामप्यनन्तानामार्द्रकादिविघातनात् ॥९२
यत्रैको जायते प्राणी तत्रोत्पत्तिर्भवेद्ध्रुवम् । अनताङ्गिनां लोके च नीरबीजादियोगतः ॥९३
यत्र न ज्ञायते दक्षैः सिरा सन्धिश्च निश्चलम् । पर्वापि स्यान्नगादीनां तत्रानन्ताङ्गिसंस्थितिः ॥९४
समभङ्गो भवेद्यस्तु छिन्नभिन्नः प्ररोहति । वृक्षः स एव विज्ञेय आगमेऽनन्तकायिकः ॥९५

चेष्टाकी जाती है उसको कौत्कुच्य कहते हैं ॥८२॥ जो विना ही कारणके धृष्टता पूर्वक बहुत बोलता है उसके मौखर्य नामका अतिचार लगता है ॥८३॥ जो मनुष्य हिताहितको विना सोचे समझे किसी कार्यको कर बैठता है उसके पाप और दुःख देनेवाला असमीक्ष्याधिकरण नामका अतिचार लगता है ॥८४॥ जो अज्ञानी भोगोपभोगकी सामग्रीको आवश्यकतासे अधिक इकट्ठी कर लेता है उसके अतिप्रसाधन नामका अतिचार लगता है ॥८५॥ हे भव्य ! व्रतोंको पालन करनेके लिये और स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये अनेक भेदोंसे भरे हुए और व्यर्थ ही पाप उत्पन्न करनेवाले इन अनर्थदण्डोंका तू त्यागकर ॥८६॥ अब आगे गुण बढ़ानेके लिये भोगोपभोग संख्यान नामके तीसरे गुणव्रतको कहते है। यह गुणव्रत कामेन्द्रियको दमन करनेके लिये है ॥८७॥ जो बुद्धिमान् लोग भोग और उपभोगोंकी संख्या नियत कर लेते हैं उसीको भगवान् जिनेन्द्रदेव भोगोप भोग परिमाण नामका श्रेष्ठ व्रत कहते हैं ॥८८॥ पीनेके पदार्थ, भोजनके पदार्थ, तांबूल, गंध, पुष्प आदि जो पदार्थ एकवार काममें आते है उनको श्रीगणधरदेव भोग कहते हैं ॥८९॥ वस्त्र, आभूषण, शय्या, सवारी, घर, स्त्री, हाथी, घोड़े आदि जो बार-बार सुख देते हैं उनको विद्वान् लोग उपभोग कहते हैं ॥९०॥ हे भव्य ! तू अदरक आदि कंदमूलका भक्षण करना सर्वथा छोड़ दे, क्योंकि वह पाप देनेवाला अनन्तानंत जीवोंका समुदाय है इसलिये वह अभक्ष्य ही है ॥९१॥ उन अदरक आदि कंदमूलोंके विदारण करनेसे जहाँ एक जीवका मरण होता है वहीं पर अनन्तानन्त जीवोंका मरण अवश्य हो जाता है ॥९२॥ कंदमूलोंमें पानी और बीजका संयोग होनेसे जहाँ एक प्राणीकी उत्पत्ति होती है वहीं अनन्तानन्त जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है ॥९३॥ ककड़ी आदि जिन फलोंमें सिरा सन्धिका निश्चय न हो वा गन्ना आदिकी गांठ हो उसमें अनन्तानन्त प्राणियोंका निवास रहता है ॥९४॥ तोड़नेसे जिसका समान भाग हो जाय (जिस प्रकार चाकूसे काटते हैं वैसा एकसा टुकड़ा हो जाय) अथवा छिन्न-भिन्न हो जानेपर भी जो उग आवे, पैदा हो जाय ऐसे फल वा वृक्ष अनन्त-कायिक कहलाते हैं ॥९५॥ जो मूर्ख सरसोंके समान भी कंदमूल खाते हैं वे अनन्त जीवोंका भक्षण

सर्षपेण समं कन्दं ये खादन्ति शठा ध्रुवम् । दुर्गतिं यान्ति तेऽमुत्रानन्तजीवप्रभक्षणात् ॥९६
रोगादिपीडितो यस्तु अत्ति कन्दं सुखाप्तये । स रोगभाजनं भूत्वा श्वभ्रकूपे पतिष्यति ॥९७
तिलमात्रसमे कन्दे चानन्तजीवसंस्थितिः । तस्य भक्षणतो भुक्ताः सर्वे जीवाः कुदृष्टिभिः ॥९८
योऽनन्तजीवसंयुक्तं ज्ञात्वा कन्दं च खादति । निकृष्टस्तस्य किं पापं का गतिर्वा न वेद्म्यहम् ॥९९
अतस्त्याज्यं नरैरेतत्कन्दमूलकदम्बम् । हालाहलमिवानन्तं जीवराशिसमुद्भवम् ॥१००
निम्बादिकुसुमं सर्वं सूक्ष्मसत्त्वसमाकुलम् । त्रसाङ्गिसम्भृतं मित्र ! सर्वपापाकरं त्यज ॥१०१
पत्रशाकं त्यजेद्धीमान् पुष्पं कीटसमन्वितम् । ज्ञात्वा पुण्याय जिह्वादिदमनायाशुभप्रदम् ॥१०२
कीटाढ्यं विल्वजम्ब्वादिबदरीनां फलं बुधः । त्यजेत्पापाकरं सर्वंजीवरक्षादिहेतवे ॥१०३
वृन्ताकं हि कलिङ्गं वा कूष्माण्डादिफलं तथा । अन्यद्वा दूषितं लोके शास्त्रे वा वर्जयेत्सुधीः ॥१०४
अज्ञातादिफलं दोषादोषसंशयदं त्यजेत् । धर्माय पापसंत्रस्तो वरं वा पुण्यधीः पुमान् ॥१०५
सूक्ष्मजीवभृतं श्वभ्रे नवनीतं कुदुःखदम् । दोषाकरं महानिन्द्यं जहि त्वं पापहानये ॥१०६
पुङ्गीफलादिसर्वं चाभग्नं जीवसमन्वितम् । अभक्ष्यपरिहारार्थं त्याज्यं नित्यं विवेकिभिः ॥१०७
अभग्नं कीटसंयुक्तं फलं भुङ्क्ते हि योऽधमः । आमिषाशीसमो ज्ञेयः सोऽपि कीटादिभक्षणात् ॥१०८

करनेके कारण मरकर परलोकमें अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते है ॥९६॥ जो रोगी सुख प्राप्त करनेके लिये कंदमूलका भक्षण करता है वह अनेक प्रकारके रोगोंसे पीड़ित होकर नरकरूपी कूएमें पड़ता है ॥९७॥ तिलके समान जरासे कंदमूलमें भी अनन्त जीवोंका निवास रहता है इसलिये जो मिथ्यादृष्टि उस कंदमूलका भक्षण करते हैं वे उन सब जीवोंको खा जाते हैं ॥९८॥ कंदमूल अनन्त जीवोंका पिण्ड है यह समझकर भी जो उसे भक्षण करते है उन्हे कौनसे पाप लगेंगे अथवा उनकी कौनसी गति होगी इस बातको हम जान भी नही सकते ॥९९॥ इसलिये मनुष्योंको विषके समान सब तरहके कंदमूलका त्याग कर देना चाहिये क्योंकि उसमें अनन्त जीवोंकी राशि सदा उत्पन्न होती रहती है ॥१००॥ नीम आदिके फूल भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे हुए होते है तथा उनमें त्रस जीव उत्पन्न होते रहते है उनके खानेसे सब तरहके पाप होते है इसलिये हे मित्र ! इनका शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिये ॥१०१॥ बुद्धिमानोंको पुण्य सम्पादन करने जिह्वा आदि इन्द्रियोंको दमन करनेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले पत्तोवाले शाक व कीड़ोंसे भरे हुए पुष्प आदि सबको जानकर त्याग कर देना चाहिये ॥१०२॥ विद्वानोंको जीवोकी रक्षा करनेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले बेलकी गिरी जामुन छोटे बेर आदि सबका त्याग कर देना चाहिये ॥१०३॥ बैंगन, तरबूज, कुंहड़ा (पेठा या काशीफल) तथा ओर भी जो कुछ लोकमें वा शास्त्रोमें सदोष कहे गये हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥१०४॥ पुण्यवान् मनुष्योंको पापोंसे डरनेके लिये और धर्म पालन करनेके लिये जिनमें दोष-अदोषका सन्देह हो ऐसे अजान फलोंका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१०५॥ हे भव्य ! पापोंको दूर करनेके लिये मक्खनका भी त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि मक्खन भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरा हुआ है, महा निन्द्य है अनेक दोषोंको उत्पन्न करनेवाला है और नरकके दुःख देनेवाला है ॥१०६॥ बिना कतरी हुई साबूत सुपारी छुहारे आदि फलोंमें भी जीव रहते हैं इसलिये अभक्ष्य पदार्थोंका त्याग करनेके लिये विवेकी पुरुषोंको ऐसे फलोंका भी सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ॥१०७॥ जो नीच कीड़ोंसे भरे हुए साबूत फलोंको खाता है वह अनेक कीड़ोंको खा जानेके कारण मांस-भक्षीके समान समझा जाता है ॥१०८॥ पापोंसे

दधितक्रादिकं सर्वं त्यजेदूर्ध्वं दिनद्वयात् । सुधीः पापादिभीतस्तु भृतं द्व्येकेन्द्रियादिभिः ॥१०९
सर्वाशनं न च ग्राह्यं दिनद्वययुतं नरैः । एकद्वित्र्यक्षसंयुक्तमेनोभीतैः सुखाप्तये ॥११०
स्वस्वादुपरिसंत्यक्तं दुर्गन्धादिसमन्वितम् । अन्नं तद्वह्निसञ्जातं त्यजाखाद्यमिदाशुभम् ॥१११
अत्थानकं प्रखादन्ति जिह्वया दण्डिता हि ते । नीचजातिसमा ज्ञेयास्ते कीटामिषभक्षणात् ॥११२
अत्थानकं नखादेयं सुहृत् प्राणात्ययेऽपि भो । पुष्पिकाकीटसंछन्नं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् ॥११३
भक्षयन्ति शठा ये भो अन्नं तक्रादिकं स्थितम् । दिनद्वयेन कीटादिखादनान्नीचनृसमाः ॥११४
ये जिह्वालम्पटा मूढा अभक्ष्यं भक्षयन्ति च । तेऽमुत्र पापभारेण मज्जन्ति नरकार्णवे ॥११५
वरं विषाशनं नृणां वारैकप्राणनाशनम् । न भक्षणं भवानन्तजन्मदुःखविधायकम् ॥११६
इति मत्वा फलं त्याज्यमभक्ष्यं श्रावकोत्तमैः । धर्मव्रतादिशुद्ध्यर्थममेध्यमिव दूरतः ॥११७
अनिष्टं यद्भवेत्स्वस्यानुपसेव्यं हि वस्तु यत् । उष्ट्री दुग्धादिकं तच्च सर्वं त्यक्त्वा व्रतं कुरु ॥११८
यमश्च नियमः प्रोक्तो भोगादीनां गणाधिपैः । यावज्जीवेतरेणैव गृहस्थस्य सुखाप्तये ॥११९
यावज्जीवं त्यजेद्वस्तु किञ्चिद् वस्त्वादिकं बुधः । सदोषं निर्दोषं वा भजेन्निर्वृतिदं यमम् ॥१२०
भोगादिकं त्यजेद्वस्तु मासवर्षादिसंख्यया । धर्माय नियमं सोऽपि श्रयेन्नाकगृहाङ्गणम् ॥१२१

डरनेवाले बुद्धिमानोंको दो दिनसे ऊपरके दही और छाछका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि दो दिनके बाद उसमें अनेक एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय आदि जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०९॥ पापोंसे डरने-वाले मनुष्योंको सुख प्राप्त करनेके लिये दो दिनके ऊपरका सब प्रकारका भोजन छोड़ देना चाहिये क्योंकि उसमें दो दिनके बाद एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि जीव उत्पन्न हो जाते है ॥११०॥ अग्नि पर पका हुआ जो अन्न दुर्गन्धयुक्त हो गया हो, जिसका स्वाद बिगड़ गया हो तो अभक्ष्य और अशुभ समझकर उसे भी छोड़ देना चाहिये ॥१११॥ जो जिह्वा इन्द्रियसे पीडित होकर अचार खाते हैं वे उसमें पड़नेवाले अनेक कीड़ोंका मांस खानेके कारण नीच लोगोंके समान समझे जाते हैं ॥११२॥ हे मित्र ! प्राणोंका नाश होनेपर भी अचार नहीं खाना चाहिये और जिस पर सफेदी आ जाती है ऐसी फूली हुई चीज भी अनेक कीड़ोंसे भरी हुई होती है इसलिये वह भी नहीं खानी चाहिये, क्योंकि ऐसे पदार्थोंका खाना भी नरक और तिर्यंचगतिके दुःखोंका कारण है ॥११३॥

जो मूर्ख छाछमें अन्नको दो दो दिन रखकर (रावरी वा महेरी बनाकर) खाते हैं वे अनेक कीड़ोंको खा जानेके कारण नीचोंके समान समझे जाते हैं ॥११४॥ जो जिह्वालम्पटी मूर्ख अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करते हैं वे अपार पाप-भारके कारण परलोकमें नरकरूपी महासागरमें डूबते हैं ॥११५॥ मनुष्योंको विष मिला भोजन खा लेना अच्छा, एक प्राणीको मार डालना अच्छा परन्तु अनन्त जन्मोंतक दुःख देनेवाले अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करना अच्छा नहीं ॥११६॥ यही समझकर श्रावकोंको धर्म और व्रतोंको शुद्ध रखनेके लिये अभक्ष्य फलोंका विष्टाके समान दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥११७॥ जो पदार्थ अपने लिये अनिष्ट हों अथवा उँटनीका दूध आदि अनुपसेव्य (जिसे सद्गृहस्थ सेवन न करते हों) हों ऐसे समस्त पदार्थोंका त्यागकर व्रत धारण करना चाहिये ॥११८॥ गणधर देवोंने गृहस्थोंको सुख पहुँचानेके लिये भोगोपभोगोंका त्याग करनेके लिये यम और नियम बतलाये हैं । भोगोपभोगोंका जन्म पर्यन्त त्याग करना यम है और कुछ दिनके लिये त्याग करना नियम है ॥११९॥ जो सदोष वा निर्दोष पदार्थ जन्म पर्यन्तके लिये त्याग किया जाता है वह बुद्धिमानोंको मोक्ष देनेवाला है ॥१२०॥ तथा धर्म पालन करनेके लिये जो भोगोपभोग पदार्थोंका महीना पन्द्रह दिन दो महीना चार महीना वर्ष दिन आदिकी संख्या नियत

यमं वा नियमं कुर्यात्सुधीर्भोगादिवस्तुषु । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य परलोकसुखाप्तये ॥१२२
भोजने षट्रसे पाने कुंकुमादिविलेपने । पुष्पताम्बूलगीतेषु नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके ॥१२३
स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने शयनासने । सचित्तवस्तुसंख्यादौ प्रमाणं भज प्रत्यहम् ॥१२४
भोगोपभोगवस्तूनां व्रतानां नियमं कुरु । मुहूर्तदिनसद्रात्रिपक्षमासायनादिभिः ॥१२५
भोगादिसंख्यया यान्ति वशं चित्तेन्द्रियादयः । पुंसां नश्यति तृष्णा च क्रोधलोभादिविद्विषः ॥१२६
भोगसन्तोषतो नृणां सुखं सन्तोषजं भवेत् । ख्यातिपूजादिलाभं च बहुभोगादिसम्पदः ॥१२७
आनन्दश्च महाधर्म्यध्यानं स्वर्मुक्तिसाधनम् । इहामुत्र महत् ऋद्धिरिन्द्रचक्र्यादिगोचरा ॥१२८
त्रैलोक्यक्षोभकं तीर्थकरत्वं चापि जायते । भोगादिसंख्यया लोके सदा सज्ज्ञानचेतसाम् ॥१२९
तस्माद्भोगादिसंख्यानं कर्तव्यं विधिवद् बुधैः । व्रतशून्या न कर्तव्या चैकापि घटिका क्वचित् ॥१३०
भोगसंख्यां न कुर्वन्ति येऽधमा नष्टबुद्धयः । पशवस्ते मता सद्भिः सर्वभक्षणतो भृशम् ॥१३१
नियमेन विना मूढा दारिद्र्याविसमन्विताः । तृष्णया पापमादाय दुर्गतिं यान्ति निश्चितम् ॥१३२

इच्छया येऽपि गृह्णन्ति धनाढ्या भोगसम्पदः ।
ते नियमाद्विना प्राप्य दारिद्र्यं यान्ति दुर्गतिम् ॥१३३

त्यजन्ति भोगतृष्णां ये पीत्वा सन्तोषजामृतम् । गृहस्था मुनितुल्यास्ते कीर्तिताः श्रीजिनागमे ॥१३४

कर त्याग किया जाता है वह स्वर्गकी सम्पदा देनेवाला नियम कहलाता है ॥१२१॥ बुद्धिमान् लोगोंको परलोकके सुख प्राप्त करनेके लिये अपनी शक्तिको प्रगट कर समस्त भोगोपभोगके पदार्थोंमें यम नियम धारण करना चाहिये ॥१२२॥ छहों रसोंसे परिपूर्ण भोजन, पान, कुंकुम, पुष्प, ताम्बूल, गीत, नृत्य, ब्रह्मचर्य स्नान, आभूषण, वस्त्र, वाहन, शयन, आसन और सचित्त पदार्थोंकी संख्या नियतकर प्रतिदिन इन सबका प्रमाण नियतकर लेना चाहिये ॥१२३–१२४॥ मुहूर्त, दिन रात्रि, पक्ष महीना छह महीना आदिका नियम लेकर भोगोपभोगोंकी मर्यादा नियत कर लेनी चाहिये ॥१२५॥ भोगोपभोगोंकी संख्या नियतकर लेनेसे मन और इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं और मनुष्योंके तृष्णा, क्रोध, लोभ आदि सब विकार वा अन्तरङ्ग शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥१२६॥ भोगोंमें सन्तोष धारण करनेसे मनुष्योंको सन्तोपजन्य सुख प्राप्त होता है, कीर्ति और प्रतिष्ठा बढ़ती है तथा भोगोपभोगोंकी अनेक सम्पदाएँ प्राप्त होती है ॥१२७॥ ज्ञानी पुरुषोंको भोगोपभोगोंका परिमाण नियतकर लेनेसे इस संसारमें आनन्द प्राप्त होता है, स्वर्ग-मोक्षका साधन महा धर्मध्यान प्रगट होता है तथा परलोकमें इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी ऋद्धियाँ और विभूतियाँ प्राप्त होती है और तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाला तीर्थंकर पद प्राप्त होता हे ॥१२८–१२९॥ इसलिये बुद्धिमानोंको विधिपूर्वक भोगोपभोग पदार्थोंकी संख्या नियतकर लेनी चाहिये । विना व्रतों के एक घड़ी भी कभी व्यतीत नहीं करनी चाहिये ॥१३०॥ जो नष्ट बुद्धिवाले नीच पुरुष भोगोपभोगोंकी संख्या नियत नहीं करते वे सदा समस्त पदार्थोका भक्षण करते रहनेके कारण सज्जन लोगोंमें पशु माने जाते हैं ॥१३१॥ विना यम नियमके मूर्ख लोग दरिद्री होते है और तृष्णासे अनेक पापोंको उत्पन्नकर दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं ॥१३२॥ जो धनी पुरुष इच्छापूर्वक भोगोपभोग सम्पदाओंको ग्रहण करते हैं वे विना नियमके दरिद्री होकर दुर्गतिमें परिभ्रमण करते हैं ॥१३३॥ जो गृहस्थ सन्तोषरूपी अमृतको पीकर भोगोंकी तृष्णाका त्याग कर देते हैं वे जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके समान माने जाते हैं ॥१३४॥ समस्त भोगोपभोगोंका त्यागकर देनेसे गृहस्थ

गृहस्थो मुनितां याति सर्वभोगादिवर्जनात् । गृहस्थाश्नीचतां नित्यं मुनिस्तु भोगवाञ्छया ॥१३५
इति मत्वा त्वया धीमन् ! विधेया स्वल्पभोगदा । भोगोपभोगसत्संख्या धर्ममुक्तिसुखाप्तये ॥१३६
अतीचारविनिर्मुक्तां भोगसंख्यां भजन्ति ये । गत्वा षोडशमे नाके क्रमाद्यान्ति शिवालयम् ॥१३७
प्रभो ! मह्यं दयां कृत्वा व्यतीपातान्निरूपय । श्रृणु वत्सैकचितेन वक्ष्येऽहं ते व्यतिक्रमान् ॥१३८
स्याद्विषयानुपेक्षा हि ततोऽनुस्मृतिरुच्यते । अतिलौल्यं भवेच्चातितृषा चानुभवोङ्गिनाम् ॥१३९
य उपेक्षां परित्यज्य भुङ्क्ते भोगाननारतम् । आदरात्तस्य जायेत चानुपेक्षाव्यतीक्रमः ॥१४०
यो भुक्त्वा विषयान् पश्चाद्दधेऽनुस्मरणं शठः । अतीचारो भवेत्तस्य सुखसौन्दर्यलक्षणम् ॥१४१

कामातुरोऽतिगृद्ध्या यो भुङ्क्ते भोगान्पुनश्च तान् ।
इच्छेच्च सोऽतिलोभेन भजेद्व्रतव्यतिक्रमम् ॥१४२

भाविकालेऽपि भोगान् यो वाञ्छत्यत्यन्तलोभतः । अतितृषाव्यतीपातो व्रतस्य जायते पुनः ॥१४३
भुङ्क्ते भोगादिकं योऽत्यासक्त्याऽकाले यदा तदा । गुणव्रतस्य तस्याप्यनूभवः स्यादतिक्रमः ॥१४४
स्वल्पं भोगादिकं योऽपि सेवन्ते गृहमेधिनः । कामपीडा व्यथार्थं ते न लभन्ते व्यतिक्रमान् ॥१४५
चौरो मृत्युं समीहेत कोट्टपालात् यथा तथा । सद्दृष्टिर्विषयान् भुङ्क्ते वृत्ताचरणयोगतः ॥१४६

शिवसुखगृहमार्गं सर्वभोगस्य नित्यं, शुभवनघनमेघं पापवृक्षव्रजाग्निम् ।
अतिसुखगुणगेहं स्वर्गसोपानभूतं कुरु बुध परिमाणं चोपभोगस्य मुक्त्यै ॥१४७

भी मुनिके समान माना जाता है और भोगोंकी इच्छा करता हुआ मुनि भी गृहस्थके समान नीच श्रेणीमें गिना जाता है ॥१३५॥ हे विद्वन् ! यही समझकर तुझे धर्म मोक्ष और सुखकी प्राप्तिके लिये थोड़ेसे भोगोंमें सन्तोष देनेवाली भोगोभोगोंकी संख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥१३६॥ जो बुद्धिमान् अतीचारोंको छोड़कर भोगोंकी संख्या नियत करते है वे सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१३७॥

प्रश्न—हे प्रभो ! मुझपर दयाकर उन भोगोपभोगपरिमाणके अतीचारोंको कहिये । उत्तर—हे भव्य ! तू चित्त लगाकर सुन, मै उन अतीचारोंको कहता हूँ ॥१३८॥ विषयानुपेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृष्णा और अनुभव ये पाँच भोगोपभोग परिमाणके अतिचार गिने जाते हे ॥१३९॥ जो उपेक्षा त्याग वा उदासीनताको छोड़कर आदरपूर्वक सदा भोगोपभोगोंको भोगता रहता है उसके विषयानुपेक्षा (विषयोंसे उदासीन न होना) नामका अतिचार लगता है ॥१४०॥ जो मूर्ख विषयोंको भोगकर पीछेसे उनके सुख और सुन्दरताका स्मरण करता है उसके अनुस्मरण नामका अतिचार लगता है ॥१४१॥ जो अत्यन्त कामातुर और लोलुपी होकर उन भोगोंका भोग करना है और अत्यन्त लोभके कारण फिर भी उनकी इच्छा करता है उसके अतिलौल्य नामका अतिचार होता है ॥१४२॥ अत्यन्त लोलुपताके कारण जो आगामी कालके लिये भी भोगोंकी इच्छा करता है उसके व्रतमें अतितृष्णा नामका अतिचार लगता है ॥१ ३॥ जो अत्यन्त आसक्त होनेके कारण जब कभी असमयमें भी भोगोंका भोग करता है उसके भोगोपभोग परिमाण नामके गुण व्रतमें अनुभव नामका अतिचार लनता है ॥१४४॥ जो गृहस्थ केवल काम-पीड़ाको दूर करनेके लिये थोड़े समयसे भोगोंको सेवन करते हैं उनके ये अतिचार नहीं लगते ॥१४५॥ जिस प्रकार चोर कोतवालसे मृत्यु चाहता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे विषयोंका सेवन करते है ॥१४६॥ यह समस्त भोगोपभोगका परिमाण मोक्षके सुखका कारण है,

सकलगुणसमुद्रं दोषवृक्षानलं वै, बुधजनपरिसेव्यं नाकधामैकमार्गम् ।
नरकगृहकपाटं पापसन्तापदूरं, भज मनुज गुणाढ्यं सद्व्रतं त्वं त्रिधा भो ॥१४८

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे गुणव्रतत्रयप्ररूपको नाम सप्तदशमः परिच्छेदः ॥१७॥

●

पुण्यरूपी वनको बढानेके लिये प्रबल मेघ है, पापरूपी वृक्षको जलानेके लिये अग्नि है, अनन्त-सुखरूपी गुणका कारण है और स्वर्गकी सीढियोंके समान है इसलिये हे विद्वन् ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू भोग और उपभोगोंका परिमाण सदाके लिये नियत कर ॥१४७॥ हे भव्य जीव ! यह भोगोपभोग परिमाण नामका व्रत समस्त गुणोंका समुद्र है, दोपरूपी वृक्षोंको जलानेके लिये अग्नि है, विद्वान् लोग भी इसकी सेवा करते हैं, स्वर्ग मोक्षका यह एक अद्वितीय कारण है, नरक-रूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड है, पाप तथा सन्तापोंको दूर करनेवाला है और गुणोसे परिपूर्ण है। इसलिये हे मित्र ! तू मन वचन कायसे इस व्रतका पालन कर ॥१४८॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें तीनो गुणव्रतोंका निरूपण करनेवाला यह सत्रहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१७॥

●

अठारहवाँ परिच्छेद

अरतीर्थकरं वन्दे अनन्तगुणसागरम् । नष्टकर्मारिसन्तानं जिनेशमरिशान्तये ।।१
गुणव्रतानि व्याख्याय वक्ष्ये शिक्षाव्रतान्यहम् । उपकाराय भव्यानां शिक्षासम्पादनानि च ।।२
देशावकाशिकं पूर्वं ततः समायिकं भवेत् । सत्प्रोषधोपवासश्च वैयावृत्यं सुदानजम् ।।३
मर्यादीकृत्य देशस्य मध्ये तिष्ठन्ति धीधनाः । बहिर्न च ततो गीतं जिनैर्देशावकाशिकम् ।।४
देशावकाशिकं लोके भवेदेच्छस्यं हि सन्नृणाम् । दिनादिसंख्यया सर्वं दिक्संहारोघशान्तये ।।५
वनदेशनदीग्रामक्षेत्रक्रोशादियोजनैः । देशावकाशिकस्यैव जिनाः सीमामुशन्ति वै ।।६
दिनादिपक्षमासैक-ऋत्वयनाब्दगोचरा । कालावधिर्जिनैरुक्ता आद्यशिक्षाव्रतस्य भो ।।७
मर्यादापरतो न स्यात्पञ्चपापप्रवर्तनम् । मनोवाक्काययोगेन व्रताधिष्ठितचेतसा ।।८
तस्मान्महाव्रतायैव कल्पन्तेऽणुव्रतान्यपि । प्रमाणतो बहिर्भागे नृणां घातादिवर्जनात् ।।९
सन्तोषं स समाधत्ते पुण्यं जीवदयादिकम् । आशालोभादिविनाशं च धत्ते देशव्रताद् गृही ।।१०
चञ्चलत्वं परित्यज्य कुरु देशावकाशिकम् । कालादिसंख्यया मित्र ! सद्धर्माय व्रताय च ।।११

जो अनन्त गुणोंके सागर है जो गुणस्वरूप है जिनराज है और जिन्होंने कर्मरूप शत्रुओंकी सब सन्तान नाश कर दी हैं ऐसे श्री अरनाथ तीर्थंकरको मै कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ।।१।। इस प्रकार गुणव्रतोंका निरूपणकर अब मै भव्य जीवोंका उपकार करनेके लिये शिक्षाको संपादन करनेवाले शिक्षाव्रतोंको कहता हूँ ।।२।। देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और दानके साथ होनेवाला वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हे ।।३।। दशों दिशाओंकी मर्यादा नियतकर जो बुद्धिमान उसके बाहर नहीं जाते भीतर ही रहते है उनके श्रीजिनेन्द्रदेव देशावकाशिक व्रत कहते है ।।४।। इस ससारमें जो दिनोकी सख्या नियत कर उतने दिनोंके लिये दिग्व्रतका उपसंहार करना, दिशाओंकी मर्यादा और घटा लेना यह सज्जनोंका प्रशंसनीय देशावकाशिक व्रत कहलाता है ।।५।। श्री जिनेन्द्रदेव वन, घर, नदी, गाँव, खेत, कोस, योजन आदिको देशावकाशिककी सीमा बतलाते है अर्थात् देशावकाशिक व्रतमें इनकी सीमा नियत करनी चाहिये अथवा कोस और योजनोंके द्वारा सीमा नियत करनी चाहिये ।।६।। श्री जिनेन्द्रदेव इस देशावकाशिक व्रतकी दिन पक्ष महीना छह महीना एक वर्ष आदिको कालकी मर्यादा कहते हैं अर्थात् कालकी अवधि नियतकर देशावकाशिक व्रत धारण करना चाहिये ।।७।। जिसने अपने हृदयमें देशावकाशिक व्रत धारण कर लिया है उसके मर्यादाके बाहर मन वचन कायसे पाँचों पापोंकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये मर्यादाके बाहर समस्त जीवोंकी हिंसाका त्याग हो जानेसे उसके अणुव्रत भी महाव्रतके लिये कल्पना किये जाते हैं। भावार्थ—प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे उसके महाव्रत हो तो सकते नहीं परन्तु मर्यादाके बाहर उससे कोई पाप भी नहीं होता इसलिये उसके अणुव्रत मर्यादाके बाहर महाव्रतके समान गिने जाते है ।।८-९।। देशावकाशिक व्रतको धारण करनेवाले पुरुषके सन्तोष धारण होता है, जीवोंकी दया करने रूप महा पुण्यकी प्राप्ति होती है और तृष्णा लोभ आदि विकार सब उसके नष्ट हो जाते हैं ।।१०।। इसलिये हे मित्र !

त्यक्त्वा सर्वानतीचारान् ये देशविरतिं नराः । कुर्वन्ति च भवेत्तेषां स्वर्गलक्ष्मीर्गृहाङ्गणे ॥१२
स्वामिनो मे व्यतीपातान् सन्दिशध्वं व्रतस्य वै । वक्ष्येऽहं शृणु ते वत्स ! व्रतपञ्चव्यतिक्रमान् ॥१३
प्रथमं प्रेषणं शब्दो भवेच्चानयनं ततः । रूपाभिव्यक्तिरप्येव पुद्गलक्षेप एव हि ॥१४
यो मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थित्वा ततो बहिः । अन्यस्य प्रेषणं दत्ते व्यतीचारं लभेत् सः ॥१५
संख्याद्देशाद् बहिर्दृष्ट्वा यो ना कर्मकरान् प्रति । खात्करणादिकं चक्रे कार्यार्थं सोऽपि दोषभाक् ॥१६
तद्देशाद्बहिरन्यस्मान्नराद्वस्त्वादिकं हि यः । आनापयति कार्यार्थं दोषमानयनं भवेत् ॥१७
स्थित्वा मर्यादिदेशे यो विधत्ते रूपसंज्ञया । कार्यं कर्मकराणां च व्यतीपातं भवेद् ध्रुवम् ॥१८
सेवकेभ्योऽपि यत्कार्यं लोष्टादिक्षेपसंज्ञया । कारापयति तस्यैव भवेद्दोषो व्रतस्य वै ॥१९
मर्यादादेशतो बाह्ये कारापयति यो जनः । प्रेषणादोन्न तस्य स्यादतीचारो मनागपि ॥२०
इति मत्वा कुरु त्वं भो देशावकाशिकं सदा । प्रयत्नेन व्रतायैव धर्मदं पापनाशनम् ॥२१
उक्तं शिक्षाव्रतं चाद्यं वक्ष्ये सामायिकं ततः । सागाराणां विशुद्धयर्थं व्रतायाशुभघातकम् ॥२२
नामसंस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालेषु श्रीजिनैः । उक्तं सामायिकं भावे षड्विधं धर्मशुक्लदम् ॥२३

धर्म धारण करनेके लिये और व्रतोंको पालन करनेके लिये चंचल परिणामोंको छोड़कर कालकी मर्यादाकर तथा घर आदिकी सीमा नियतकर तुझे यह देशावकाशिक व्रत अवश्य धारण करना चाहिये ॥११॥ जो मनुष्य समस्त अतिचारोंको छोड़कर इस देशावकाशिक व्रतको धारण करते हैं उनके घरके आंगनमे स्वर्गकी लक्ष्मी आपने आप आ जाती है ॥१२॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर देशावकाशिक व्रतके अतिचारोंको निरूपण कीजिये। उत्तर—हे वत्स ! सुन, अब मैं इस व्रतके पाँचों अतिचारोंको कहता हूँ ॥१३॥ प्रेषण, शब्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेपण, ये पाँच अतिचार देशावकाशिकके कहलाते है ॥१४॥ जो स्वयं मर्यादा किये हुए देशके भीतर रहकर भी मर्यादाके बाहर किसी दूसरेको भेजता है उसके प्रेषण नामका पहिला अतिचार लगता है ॥१५॥ जो मनुष्य मर्यादाके भीतर रहता हुआ भी काम करनेवालोंको मर्यादाके बाहर देखकर उनको काम लगानेके लिए या भीतर बुलानेके लिए खकारकर या और किसी प्रकारके शब्दोंका इशारा करता है वह भी दोषी ही है अर्थात् उसके शब्द नामका दूसरा अतिचार लगता है ॥१६॥ अपनी नियतकी हुई मर्यादाके बाहर रक्खे हुए पदार्थोंको अपने किसी कामके लिये किसी मनुष्यके द्वारा मँगाना आनयन नामका अतिचार है ॥१७॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके भीतर रहकर भी काम करनेवालोंको अपना रूप दिखाकर उनसे कोई काम लेना रूपाभिव्यक्ति नामका अतिचार है ॥१८॥ जो मर्यादाके भीतर रहकर भी मर्यादाके बाहर ईंट पत्थर ढेले आदि फेंककर उनके इशारेसे अपने सेवकोंसे वा अन्य किसीसे काम कराना पुद्गलक्षेपण नामका अतिचार है ॥१९॥ जो नियत की हुई मर्यादाके बाहर न तो किसीको भेजता है न बाहरसे कुछ मंगाता है और न किसी प्रकारका इशारा करता है उसके व्रतमें कोई दोष नहीं लग सकता ॥२०॥ यही समझकर हे भव्य ! व्रतोंको पालन करनेके लिये तू धर्मको बढानेवाले और पापोंको नाश करने वाले इस देशावकाशिक व्रतको बड़े प्रयत्नसे पालन कर ॥२१॥ इस प्रकार शिक्षाव्रत कह चुके। अब आगे व्रतोंके लिए और श्रावकोंकी विशुद्धता बढ़ानेके लिए पापोंको नाश करनेवाले सामायिकको कहते हैं ॥२२॥ यह धर्मध्यान और शुक्लध्यानको प्रगट करनेवाला सामायिक श्री जिनेन्द्रदेवने नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे छह प्रकारका बतलाया है ॥२३॥ जो

शुभेतरविकल्पं यः श्रुत्वा नाम कदम्बकम् । रागादिकं त्यजेद्धीमान् नाम सामायिकं श्रयेत् ॥२४
दृष्ट्वा शुभाशुभं रूपं चेतनेतरजं हि यः । त्यजेद्रागादिकं स स्थापनासामायिकं भजेत् ॥२५
लोष्टहेमादिद्रव्येषु समचित्तं करोति यः । द्रव्यसामायिकं तस्य भवेन्नान्यस्य सर्वथा ॥२६
शुभेतरप्रवेशं यः सुखदुःखादिसङ्कुलम् । प्राप्य रागादिकं हन्यात् क्षेत्रसामायिकं भजेत् ॥२७
शीतोष्णादिषु कालेषु समतां ये विलम्बते । कालसामायिकं तेषां भवत्येव न संशयः ॥२८
त्यक्त्वा रागादिकं योऽरिमित्रादिषु करोति ना । समताधिष्ठितं भावं भावसामायिकं श्रयेत् ॥२९
स्वचित्तं यो विधत्ते हि सर्वसावद्यवर्जितम् । त्यक्त्वा रागादिसन्दोहं धर्मध्यानसमन्वितम् ॥३०
तस्य सामायिकं सारं भवेत्सर्वसुखाकरम् । स्वर्गमुक्तिकरं कर्मकक्षदावानलोपमम् ॥३१
गह्वरादिवनाद्रौ वा शून्यागारे जिनालये । स्वगृहे तीव्रशीतादिविवर्जिते चित्तसाम्यदे ॥३२
त्यक्तकर्कशशब्दस्त्रीपशुलोकादिके सुहृत् । एकान्ते ध्यानयोगे च दंशकीटाद्यगोचरे ॥३३
एकवस्त्रं विना त्यक्त्वा सर्वबाह्यपरिग्रहान् । प्रोषधं चैकभक्तं वा कृत्वा सामायिकं कुरु ॥३४
कृत्वा सुनिश्चलं देहं भ्रूविकारादिवर्जितम् । मुखादिसाम्यतापन्नं त्यक्तहस्तादिसंज्ञकम् ॥३५
उत्तराभिमुखं चैत्यगेहादौ चाह्निसंस्थितः । सामायिकं सुधीः स्वस्थो विदध्यात्करकुड्मलम् ॥३६
मनःस्थिरं विधायोच्चैः सङ्कल्पादिविवर्जितम् । गृहचिन्तादिसंत्यक्तं ध्यानाध्ययनतत्परम् ॥३७

बुद्धिमान् शुभ और अशुभके भेदोंको सुनकर राग-द्वेषका त्याग कर देता है उसके नाम सामायिक होता है ॥२४॥ जो शुभ और अशुभरूप चेतन तथा जड़ पदार्थोंको देखकर राग-द्वेषादिकका त्याग करता है उसका वह स्थापना सामायिक कहलाता है ॥२५॥ जो सुवर्ण मिट्टी आदि पदार्थोंमें समान भाव रखता है उसके द्रव्य सामायिक होता है। यह द्रव्य सामायिक समतावालेके ही होता है अन्य किसीके नहीं ॥२६॥ जो किसी शुभ देशमें सुख पाकर और अशुभ देशमे दुःख पाकर राग-द्वेषका त्यागकर देता है वह क्षेत्र सामायिक कहलाता है ॥२७॥ जो शीतकालमें तथा उष्णकालमें समता धारण करते है किसी कालको भी सुख वा दुःख देनेवाला नहीं मानते उनके काल सामायिक होता है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥२८॥ जो मित्र शत्रु आदिमें रागद्वेष छोड़कर अपने हृदयको समस्त पापोसे रहित बना लेता है और धर्मध्यान धारण करता है उसके समस्त सुखोंकी खानि, स्वर्गमोक्षको देनेवाला और कर्मरूपी वनको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान सारभूत भावो सामायिक होता है ॥२९-३१॥ वह सामायिक किसी गुफामें, वनमें, पर्वतपर, सूने मकानमें जिनालयमें वा अपने घरमें जहाँ कि न तो अधिक शीत हो न अधिक उष्णता हो, जहाँपर चित्तमें समता बनी रहे, जहाँपर कठोर शब्द न होते हों, स्त्रियाँ न हों, पशु न हों, लोग न हों, मित्र न हों, जो ध्यानके योग्य एकान्त स्थान हो और जहाँपर डाँस मच्छर कीड़े आदि न हों ऐसे स्थानपर एक धोतीके (एक वस्त्रके) विना अन्य सर्व बाह्य परिग्रहोंका त्यागकर प्रोषधोपवास अथवा एकाशन करके अवश्य सामायिक करना चाहिये ॥३२-३४॥ उस समय शरीरको निश्चल रखना चाहिये, भौंह चलाना मुँह मटकाना आदि सबका त्याग कर देना चाहिये, मुखपर समताभाव प्रगट होना चाहिये, हाथसे इशारा करना आदि सबका त्यागकर देना चाहिये ॥३५॥ बुद्धिमानोंको जिनालय अथवा घरमें उत्तरकी ओर मुँहकरके हाथ जोड़कर और स्वस्थचित्तसे स्थित होकर सामायिक करना चाहिये ॥३६॥ संकल्प-विकल्प आदिका त्यागकर मनको स्थिर रखना चाहिये, घरकी चिन्ता सब छोड़ देनी चाहिये, तथा ध्यान और अध्ययनमें तत्पर रहना चाहिये ॥३७॥

धर्मसंवेगवैराग्याधिष्ठितं रागदूरगम् । सामायिकादिसूत्रस्य चार्थं सञ्चिन्तयेद् बुधः ॥३८
त्यक्त्वा वाग्जालदुःशब्दविकथादिकदम्बकम् । तीव्रादिध्वनिनिर्मुक्तं त्यक्तहीनादिकं शुभम् ॥३९
स्वराक्षरपदार्थादिशुद्धं सामयिकस्य भो । मधुरादिस्वरेणैव पठ सूत्रं स्वशुद्धये ॥४०
कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं द्वयादिघटिकाङ्कितम् । मर्यादां च विधायादौ चैत्यभक्तिं भजस्व भो ॥४१
नमस्कारं कुरु त्वं भो प्रतिलिख्य धरां शुभाम् । वस्त्रेणान्येन वा धीरः पञ्चाङ्गादिसमन्वितम् ॥४२
ऊर्ध्वीभूय पुनश्चैव कार्योत्सर्गं विशुद्धिदम् । नमस्कारनवोपेतं कुरु त्वं भव्य ! मुक्तये ॥४३
आदावन्ते बृहन्नाम नमस्कारस्य त्वं भज । एकैकं सत्प्रणामं च त्रितयावर्तसंयुतम् ॥४४
चतुर्विंशतिलोकेशस्तवनस्यापि भो बुधाः । आदावन्ते नमस्कारं भजावर्तत्रयान्वितम् ॥४५
एकस्मिन्नेव व्युत्सर्गे नमस्कारचतुष्टयम् । भवेयुः द्वादशावार्ता सामायिकवशात्मजनाम् ॥४६
चैत्यादिस्तवनं कृत्वा नु पञ्चपरमेष्ठिनाम् । कायोत्सर्गादिकं सर्वं कुरु लोकोत्तमात्मनाम् ॥४७
एकचित्तेन मुक्त्यर्थं भव्य ! आदरसंयुतः । सुव्युत्सर्गादिकं सर्वं कुर्यात्सामायिकस्य वै ॥४८
विचिन्तय त्वमनुप्रेक्षा अनित्याशरणादिकाः । वैराग्यादिविवृद्धयर्थं धर्मसंवेगमाकृथाः ॥४९
देहसंसारभोगेषु वैराग्यं भावय स्फुटम् । अशुच्यातिमहादुःखश्वभ्रमार्गप्रदेषु भो ॥५०
षड्द्रव्यसप्ततत्त्वेषु सम्यक्त्वाद्याकरेषु च । भावनां कुरु भो भव्य ! साररत्नत्रयादिषु ॥५१

उस समय बुद्धिमानोंको अपने हृदयमें धर्म संवेग और वैराग्य धारण करना चाहिये, रागद्वेष छोड़ देना चाहिये और सामायिक पाठके अर्थका चिन्तवन करना चाहिये ॥३८॥

वाग्जाल, कठोर शब्द, विकथा आदिका त्याग कर देना चाहिये। सामायिक पाठको मधुर स्वरसे पढ़ना चाहिये, स्वर अक्षर पदार्थ आदिका शुद्ध उच्चारण करना चाहिये, न जोरसे न धीरे पढ़ना चाहिये, पाठके अक्षर न कम हो न अधिक हों। अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये शुभ और शुद्ध पाठ पढ़ना चाहिये ॥३९-४०॥ सबसे पहिले ईर्यापथ शुद्धि करनी चाहिये और फिर दो घड़ीका नियम लेकर चैत्य भक्तिका पाठ पढ़ना चाहिये ॥४१॥ फिर वस्त्रसे वा अन्य किसी पीछी आदि साधनसे पृथ्वीको शुद्ध कर पंचाग वा अष्टांग नमस्कार करना चाहिये ॥४२॥ फिर खड़े होकर आत्माको शुद्ध करनेवाला कायोत्सर्ग करना चाहिए, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नौवार नमस्कार मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥४३॥ आदि और अन्तमें वृहत् नमस्कार करना चाहिये अर्थात् एक एक प्रणाम करना चाहिये और तीन तीन आवर्त करना चाहिये ॥४४॥ तदनन्तर बुद्धिमानोंको चौबीस तीर्थकरोंकी स्तुति करनी चाहिये तथा इसके आदि अन्तमें भी एक-एक नमस्कार और तीन-तीन आवर्त करने चाहिये ॥४५॥ सामायिक करनेवालोंको एक-एक व्युत्सर्गमें (कायोत्सर्गमें जो कि आदि अन्तमें किया जाता है) चार-चार नमस्कार और बारह-बारह आवर्त करने पड़ते हैं ॥४६॥ फिर चैत्यस्तवन कर पाँचो परमेष्ठियोंका स्तवन करना चाहिये। और फिर कायोत्सर्गादि समस्त क्रियाएँ कर लोकोत्तम पाँचों परमेष्टियोका स्तवन करना चाहिये ॥४७॥ हे भव्य ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सामायिक करते समय चित्तको एकाग्रकर आदरपूर्वक व्युत्सर्ग आदि सब क्रियाएँ करनी चाहिये ॥४८॥ वैराग्य परिणामोंको बढ़ानेके लिये, आत्माका कल्याण करनेके लिये, और संवेग धारण करनेके लिये अनित्य अशरण आदि अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करना चाहिये ॥४९॥ यह शरीर अपवित्र है, संसार अनेक महा दुःखोसे परिपूर्ण है और भोग नरकोंके दुःख देनेवाले हैं इसलिए शरीर संसार और भोगोंसे सदा विरक्त रहना चाहिये ॥५०॥ छह द्रव्य और सातों तत्त्व

आज्ञापायविपाकाख्यसंस्थानविचयात्मकम् । धर्मध्यानं चतुर्भेदं भज स्वर्गगृहाङ्गणम् ।।५२
येनाक्षाणि विलीयन्ते मनो भवति निश्चलम् । तदेव चिन्तयेद्धीमान् स्थितः सामायिके समे ।।५३
अतिशीतोष्णदंसादिद्वाविंशति परीषहाः । प्रतिज्ञातात्परैः धीरैः सोढव्या भीरुभीतिदाः ।।५४
उपसर्गा हि सोढव्यास्तिर्यग्देवनृजा बुधैः । अचेतनादिजाताश्च दुःखदाः समसंयुतैः ।।५५
अनिष्टेष्टप्रसंयोगे वियोगादिरुगादिजम् । तिर्यग्योनिकरं चार्तं निदानं भव्य ! त्वं त्यज ।।५६
हिंसानन्दानृतस्तेयार्थसंरक्षणसम्भवम् । रौद्राख्यं श्वभ्रदं ध्यानं त्यजेत् सामायिके व्रती ।।५७
महापापकरं निन्द्यं दुर्ध्यानद्वयमञ्जसा, घोरोपसर्गसञ्जाते त्याज्यं सामायिकान्वितैः ।।५८
धर्मध्यानादिसंयोगैस्तत्त्वचिन्तावलम्बनैः । सामायिकादिकालस्य कुरु वृद्धि व्रताय भो ।।५९
सामायिके न सन्त्येव बाह्येतरपरिग्रहाः । आरम्भार्थेन्द्रियाद्यर्थाः कषायाश्च तदा नृणाम् ।।६०
त्रयोदशविधं वृत्तं जायते गृहिणां ध्रुवम् । सामायिकेन हिंसादिसर्वसावद्यवर्जनात् ।।६१
गृही सामायिकस्थो हि यतिभावं प्रपद्यते । सङ्गादित्यजनान्नूं वस्त्रयुक्तो मुनिर्यथा ।।६२

सम्यग्दर्शनकी खानि हैं इसलिये हे भव्य ! छहों द्रव्योंमें, सातों तत्त्वोंमें और सारभूत रत्नत्रयमें सामायिक करते समय सदा विशुद्ध भावनाएँ रखनी चाहिये ।।५१।। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय ये चारों ही धर्मध्यान स्वर्गरूपी घरके आँगन हैं इसलिए सामायिकमें इन चारों धर्मध्यानोंको अवश्य धारण करना चाहिये ।।५२।। सामायिक करते समय बुद्धिमानोंको ऐसा ही चिन्तवन करना चाहिये जिससे इन्द्रियाँ सब वशमें हो जायँ और मन निश्चल हो जाय ।।५३।। सामायिक करनेवाले धीर वीर पुरुषोंको प्रतिज्ञापूर्वक कातर लोगोंको भय उत्पन्न करनेवाली शीत, उष्ण, दंशमसक आदि बाईसों परीषह सहन करनी चाहिये ।।५४।। समताभावोंको धारण करनेवाले बुद्धिमानोको तिर्यंच, देव मनुष्य ओर अचेतनोंके किये हुए तथा घोर दुःख देनेवाले उपसर्गोको भी सहन करना चाहिये ।।५५।। अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग और रोगसे उत्पन्न होनेवाले आर्तध्यान तथा निदानका भी त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि यह चारों प्रकारका आर्त-ध्यान तिर्यंच योनिका कारण है ।।५६।। सामायिक करनेवाले पुरुषको हिंसानन्द, स्तेयानन्द, अनृतानन्द और विषय संरक्षणानन्द (हिंसामें आनन्द मानना, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, चोरी-में आनन्द मानना और परिग्रहोंकी रक्षा करनेमें आनन्द मानना) इन चारों प्रकारके रौद्रध्यानोंका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि ये चारों प्रकारके रौद्रध्यान नरकमें पटकनेववाले है ।।५७।। आर्त-ध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों प्रकारके ध्यान अपध्यान है, महा पाप उत्पन्न करनेवाले हैं और निन्द्य हैं इसलिये सामायिक करनेवाले पुरुषोंको घोर उपसर्ग होनेपर भी इनसे बचते रहना चाहिए (इनका त्यागकर देना चाहिए) ।।५८।। व्रतोंको निर्दोष पालन करनेके लिये सामायिक करनेवालोंको तत्त्वोंके चिन्तवनका अवलम्बन लेकर धर्मध्यान आदिके द्वारा सामायिकके समयकी वृद्धि करनी चाहिए, अर्थात् धर्मध्यान धारणकर अधिक समय तक सामायिक करनेका अभ्यास करना चाहिए ।।५९।। सामायिक करते समय बाह्य अन्तरंग परिग्रह नहीं होते और न आरम्भ इन्द्रियोंके विषय ही होते हैं तथा न कषाय ही होते हैं, अतएव सामायिकमें हिंसा आदि समस्त पापोंका त्याग हो जानेके कारण उस समय गृहस्थोंके तेरह प्रकारका चारित्र हो जाता है ।।६०-६१।। सामायिक करता हुआ गृहस्थ समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देनेके कारण वस्त्रसहित मुनिके समान साधु अवस्थाको प्राप्त हो जाता है ।।६२।। यह गृहस्थ सामायिकके बलसे पहिलेके इकट्ठे किये हुए पाप-

नाशं पूर्वार्जितानां स विधत्ते पापकर्मणाम् । नूतनानि न गृह्णाति सामायिकबलाद् गृही ॥६३
महापुण्यं समाधत्ते नाकराज्यादिकारणम् । समचित्तवशाद्धीमान् सामायिकसमन्वितः ॥६४
सामायिकं विधत्ते यो भव्यः शुभव्रतादिभाक् । याति निर्वाणमेकं स प्राप्य षोडशमं दिवम् ॥६५
मुनिः सामायिकेनैवभव्यः शास्त्रव्रतान्वितः । अत्यन्तसमभावेन याति ग्रैवेयकेऽग्रिमे ॥६६
सामायिकसमो धर्मो न स्याद् सद्गृहिणां क्वचित् । सर्वसङ्गपरित्यागात्सकलाशुभवर्जनात् ॥६७
इति मत्वा बुधैः पूर्वं प्रातरुत्थाय प्रत्यहम् । सामायिकं सुसम्पूर्णं कर्तव्यं धर्महेतवे ॥६८
पश्चाद् गृहादिकर्माणि कर्तव्यानि यतो जनैः । धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥६९
मध्याह्नेऽपि तथा दक्षैः कृत्वा सामायिकं शुभम् । कर्तव्यं भोजनं पश्चाद्धर्मसंवेगकारणम् ॥७०
प्रविधायापराह्णेऽपि सारं सामायिकादिकम् । कुर्वीध्वं शयनं पश्चाद्भो बुधाः धर्मसिद्धये ॥७१
दिने दिने सदा तद्धि कार्यं वारत्रयं नरैः । प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यं महारोगादिकेऽथवा ॥७२
कालत्रयेषु कुर्वन्ति धर्मध्यानादिकं बुधाः । हत्वा हिंसादिजं पापं पुण्यं समर्जयन्ति ते ॥७३
कुबह्वारम्भद्रव्यादिभृतः सामायिके न भो । याति संसारतोरं च गृही सद्यानपात्रवत् ॥७४
सामायिकादि सत्सूत्रं पाठीकर्तुं क्षमा न ये । शतपञ्चाशन्नमस्कारं ते जपन्त्वेकचित्ततः ॥७५
सामायिकं न कुर्वन्ति युक्ता गेहरथेऽधमाः । पापचिन्तान्विता नित्यं वृषभास्ते न संशयः ॥७६

कर्मोंका नाश करता है और नये कर्मोंको ग्रहण नहीं करता है ॥६३॥ सामायिक करनेवाला बुद्धिमान चित्तमें समता धारण करनेके कारण स्वर्ग राज्यका कारण ऐसा महापुण्य उपार्जन करता है ॥६४॥ जो भव्य जीव शुभ व्रतादिको करता है वह सोलहवें स्वर्गकी सम्पदा पाकर मोक्षमें जा विराजमान होता है ॥६५॥ शास्त्रोंको जाननेवाला और व्रतोंको पालन करनेवाला अभव्य मुनि भी सामायिकके कारण अत्यन्त समताभाव धारण करता है इसलिए वह अग्रिम (उत्तम) ग्रैवेयकमें जाकर जन्म लेता हैं ॥६६॥ सामायिकमें समस्त परिग्रहोंका त्याग हो जाता है और समस्त अशुभ कार्य छूट जाते हैं अतः गृहस्थोंके लिए सामायिकके समान अन्य कोई भी धर्म किसी तरह नहीं हो सकता ॥६७॥ यही समझकर बुद्धिमानोको प्रतिदिन सबेरे ही उठकर धर्म धारण करनेके लिए सबसे पहिले पूर्णरीतिसे सामायिक करना चाहिए ॥६८॥ तदनन्तर मनुष्योंको घरके काम करने चाहिए क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पदार्थोंमें सबसे पहिले धर्म पुरुषार्थ ही कहा है ॥६९॥ इसी प्रकार चतुर पुरुषोंको दोपहरके समय भी पहिले धर्म और संवेगका कारण ऐसा शुभ सामायिक करना चाहिए और फिर भोजन करना चाहिए ॥७०॥ तथा बुद्धिमानोंको धर्मकी सिद्धिके लिये शामके समयमे भी पहिले सारभूत सामायिक करना चाहिए और फिर शयन करना (सोना) चाहिए ॥७१॥ इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन तीन तीन बार सामायिक करना चाहिए और प्राण नाश होनेपर भी तथा महा रोगादिक होनेपर भी इस सामायिकके नियमका भग नही करना चाहिए ॥७२॥ जो बुद्धिमान सवेरे दोपहर शाम तीनों समय धर्मध्यान करते है, तथा सामायिक वा जप आदि करते हैं वे हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त पापोंको नष्टकर महापुण्य उपार्जन करते हैं ॥७३॥ सामायिकमें बहुतसे आरम्भ और बहुतसे परिग्रहका भार भरा नहीं रहता, इसलिए सामायिक करनेवाले गृहस्थ हलके जहाजके समान शीघ्र ही संसाररूपी समुद्रके पार हो जाते हैं ॥७४॥ जो सामायिकके सूत्रपाठोंका पाठ नही कर सकते उन्हें एकाग्रचित्त होकर एकसौ पचास वार पंच नमस्कारमन्त्रका जाप करना चाहिये ॥७५॥ जो गृहस्थाश्रमरूपी रथमें लगे रहनेपर भी

ये सत्पञ्चनमस्कारान्न जपन्ति दुराशयाः । वदनं बिलवत्तेषां महापापाकरं भवेत् ॥७७
सामायिकमहामन्त्रस्तवनादिकगोचरम् । धर्मध्यानं न कुर्वन्ति श्वभ्रे तेऽघात्पतन्त्यहो ॥७८
इति मत्वा जप त्वं च मन्त्रराजं पदे पदे । सुखे दुःखे भये मार्गे व्यधौ च शयनासने ॥७९
यथाप्यणोः परं नाल्पं न महद्गगनात्परम् । तथा पञ्चनमस्कारमन्त्रान्मन्त्रो न विद्यते ॥८०
शाकिनीगृहदुर्व्याधिचौरबन्धनृपादिजम् । पुंसां नश्याद् भयं सर्वं मन्त्रराजप्रतापतः ॥८१
सप्तव्यसनसंसक्ता महापापान्विता नराः । मरणे सर्वमन्त्रेशं प्राप्य स्वर्गं गताः शुभात् ॥८२
सल्लक्ष्मीर्गृहदासीव वशं याति विवेकिनाम् । मन्त्रराजप्रसादेन दारिद्र्यं च पलायते ॥८३
चिन्तामणिनिधिकल्पद्रुमकामदुघादयः । मन्त्रराजस्य सर्वेऽपि मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः ॥८४
इन्द्रतीर्थेशचक्र्यादिभुवां लक्ष्मीं भजन्त्यहो । सारं पञ्चगुरूणां सद्ध्यानादेकाग्रतो नराः ॥८५
किमत्र बहुनोक्तेन सुखं लोकत्रयोद्भवम् । प्राप्य मुक्तिं प्रयान्त्येव बुधा मन्त्रप्रभावतः ॥८६
अहोरात्र्यादिजातस्य पापस्य क्षयकारणम् । प्रतिक्रमद्वयं कार्यमुभयोः कालयोः बुधैः ॥८७
धर्मध्यानादिसिद्धयर्थं सत्स्वाध्यायचतुष्टयम् । यथाशक्ति हि कर्तव्यं नित्यमेव नरोत्तमैः ॥८८
योगद्वयमनुष्ठेयमुत्कृष्टश्रावकैः सदा । रात्रौ धर्माय चाहिंसाव्रतरक्षादिहेतवे ॥८९

सामायिक नहीं करते, सदा पापकार्योंकी चिन्तामें ही लगे रहते हैं वे नीच बैल है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥७६॥ जो अज्ञानी इस श्रेष्ठ पंच नमस्कार मन्त्रका जाप नहीं करते उनका मुँह महापाप करनेवाले बिलके समान समझना चाहिए ॥७७॥ जो मनुष्य सायायिक, महामन्त्र, स्तवन आदिसे भरपूर धर्मध्यानको नही करते हैं वे पापके कारण नरकमें ही पड़ते है ॥७८॥ यही समझकर तू सुखमें, दुःखमें, भयमें, मार्गमें, सोनेमें, बैठनेमें सर्व स्थानोमे पद पदपर इस मन्त्रराज (पंच नमस्कार मन्त्रका) का जप कर ॥७९॥ जिस प्रकार परमाणुसे कोई छोटा नहीं है और आकाशसे अन्य कोई बड़ा नहीं है उसी प्रकार पंचनमस्कारमन्त्रसे बढ़कर और कोई मन्त्र इस संसारमें नही है ॥८०॥ इस मन्त्रराजके प्रतापसे शाकिनी, भूत, पिशाच, रोग, चोर, राज्यबन्धन आदि किसी प्रकारका भय मनुष्योंको नहीं होता है ॥८१॥ जो जीव सातो व्यसनोमें आसक्त थे और महा पापी थे वे भी मरनेके समय सब मन्त्रोंके स्वामी इस पंच नमस्कार मन्त्रको जपकर शुभ कर्मके उदयसे स्वर्गमें जा पहुँचे है ॥८२॥ इस मन्त्रराजके प्रतापसे श्रेष्ठ लक्ष्मी भी विवेकी पुरुषोके घरकी दासीके समान वश हो जाती है और दरिद्रता सब नष्ट हो जाती है ॥८३॥ मुझे तो ऐसा निश्चय है कि चिन्तामणि रत्न, निधियाँ, कल्पवृक्ष और कामधेनु आदि सब इस पच नमस्कार मन्त्रके सदा कालसे चले आये सेवक ही है ॥८४॥ जो मनुष्य एकाग्रचित्तसे सारभूत पंच परमेष्ठियोंका ध्यान करते हैं वे इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकरकी सम्पदाको अवश्य प्राप्त होते है ॥८५॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिए कि मन्त्रके प्रभावसे तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाले जितने सुख हैं उन सबको पाकर बुद्धिमान लोग मोक्षमें ही विराजमान होते है ॥८६॥ दिन रातमें जो पाप उत्पन्न होते हैं उन सबके क्षय होनेका कारण प्रतिक्रमण है इसलिये बुद्धिमानोंको शाम सवेरे दोनों समय प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये ॥८७॥

उत्तम गृहस्थोंको धर्मध्यानकी सिद्धिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन चारों[1] प्रकार-

---

१. चारों प्रकारके स्वाध्यायसे बाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नायसे अभिप्राय जान पड़ता है क्योंकि धर्मोपदेश साधारण गृहस्थोंका मुख्य कार्य नही है ।

इत्याद्यावश्यकं येऽपि प्रकुर्वन्ति बुधोत्तमाः। यान्ति स्वर्गं क्रमान्मोक्षं चानगारा इवाशु ते ॥९०
सर्वमावश्यकं नित्यं क्षुल्लकव्रतधारिभिः। अनुष्ठेयं न मोक्तव्यं रोगक्लेशादिके क्वचित् ॥९१
दन्तहीनो गजो व्याघ्रो दंष्ट्राहीनः क्षमो न च। तथा नावश्यकेनापि हीनः कर्मनिपातने ॥९२
वटबीजं यथाकाले चोप्तं भूरिफलप्रदम्। भवेदावश्यकं तद्वत्कृतं कालान्वितात्मनाम् ॥९३
बीजमुप्तं यथाऽकाले न स्यात् सफलदायकम्। तथानावश्यकं पुंसामलं कर्मनिपातने ॥९४
आदौ मध्येऽवसाने च सद्घटिकाचतुष्टयम्। तद्दिनस्य समादाय मित्र ! सामायिकं भज ॥९५
अतिक्रमो न कर्तव्यो दक्षैरावश्यकादिषु। व्यतिक्रमोऽप्यतीचारोऽप्यनाचारश्च दुस्सहः ॥९६
मनसा शुद्धिहीनेन भवेच्चातिक्रमोऽङ्गिनाम्। विषयादिप्रसक्तेन श्रयेज्जीवो व्यतिक्रमम् ॥९७
आवश्यके व्यतीचारः स्यादालसः प्रमादतः। व्रतस्य भङ्गतः पुंसामनाचारो जडात्मनाम् ॥९८
इमे दोषा बुधैस्त्याज्या आवश्यकव्रतादिषु। सर्वव्रतविशुद्ध्यर्थं प्रतिज्ञातत्परैः सदा ॥९९
सर्वातिचारनिर्मुक्तं शुद्धं सामायिकं हि ये। भजन्ति जायते तेषामेनस्त्यक्तं महावृषम् ॥१००
भट्टारक ! व्यतीपातान् कथय त्वं समादरात्। शृणु भो ते व्यतीपातान् कथयामि विरूपकान् ॥१०१
त्रिधा दुःप्रणिधानानि वाक्कायमनसां बुध। अनादरोऽस्मरणं च त्यजातीचारपञ्चकम् ॥१०२
सामायिकसमापन्नो वक्ति दुर्वचनादिकम्। त्यक्त्वा मौनं भजेत्सोऽपि व्यतीपातं कुदुःखदम् ॥१०३

का स्वाध्याय करना चाहिए ॥८८॥ उत्कृष्ट श्रावकोंको रात्रिके समय धर्म पालन करनेके लिये और अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षा करनेके लिये प्रतिदिन दो योग धारण करने चाहिये अर्थात् सुबह शाम दोनों समय ध्यान करना चाहिए ॥८९॥ जो उत्तम बुद्धिमान् ऊपर लिखे आवश्यकोंको प्रतिदिन करते हैं वे मुनियोंके समान शुभ स्वर्गमें जाते हैं और फिर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते है ॥९०॥ क्षुल्लक व्रतोंको (एक देश व्रतोंको) धारण करनेवाले अणुव्रतियोंको प्रतिदिन समस्त आवश्यक करने चाहिए, तथा रोग क्लेश आदि आ जानेपर भी कभी नही छोडने चाहिए ॥९१॥ जिस प्रकार दांत-रहित हाथी और दाढ-रहित बाघ अपने काम करनेमे समर्थ नही होता, उसी प्रकार आवश्यकों-को न करनेवाला मनुष्य अपने कर्मोको नाश नही कर सकता ॥९२॥ जिस प्रकार समय पर बोया हुआ बटका बीज बहुतसे फलोंको फलता है उसी प्रकार अपने-अपने समय पर किये हुए आवश्यक भी बहुतसे फलोंको फलते है ॥९३॥ जिस प्रकार असमयमें बोये हुए बटके बीज पर उत्तम फल नही लगते, उसी प्रकार आवश्यक भी यदि समय पर नही किये जायँ तो उनसे कर्म नष्ट नही हो सकते ॥९४॥ इसलिये हे मित्र ! सबेरे, दोपहर और शामको तीनों समय चार-चार घड़ी पर्यन्त प्रतिदिन सामायिक करना चाहिये ॥९५॥ चतुर पुरुषोंको इन आवश्यक कार्योंमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और असह्य अनाचार कभी नहीं करना चाहिये ॥९६॥ अपने मनसे शुद्धताकी कमी करना अतिक्रम कहलाता है और विषयोंमें आसक्त होना गृहस्थोंके लिये व्यतिक्रम कहलाता है ॥९७॥ प्रमादके कारण आवश्यकोमें वा चारित्रमे आलस करना अतिचार है और अत्यन्त मूर्ख मनुष्य जो व्रतोंका भँग कर देते हैं उसे अनाचार कहते हैं ॥९८॥ अपनी प्रतिज्ञामें तत्पर रहनेवाले बुद्धिमानों-को समस्त व्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिये आवश्यकोंमें तथा व्रतादिकोंमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार आदि दोषोंका त्याग कर देना चाहिए ॥९९॥ जो समस्त अतिचारोंको छोड़कर शुद्ध सामायिक करते हैं उनको समस्त पापोंसे रहित महाधर्मकी प्राप्ति होती है ॥१००॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर मेरे लिए उन अतिचारोंका निरूपण कीजिए ? उत्तर—हे वत्स ! मै उन दुःख देनेवाले अतिचारोंको कहता हूँ, तू चित्त लगाकर सुन ॥१०१॥ वचनदुःप्रणिधान, कायदुःप्रणिधान,

कायचेष्टां विधत्ते यस्त्यक्त्वा स्थानासनादिकम् । हस्तादिसंज्ञया तस्य भवद्दोषो व्रतस्य वै ॥१०४
कुर्वन्ति चित्तसङ्कल्पमशुभं बधबन्धजम् । समभावं परित्यज्य व्यतिचारं व्रजन्ति ते ॥१०५
आदरेण विना योऽधीर्विधत्ते समयं शुभम् । प्रमादेन च शाठ्येन श्रयेद्दोषं व्रतस्य सः ॥१०६
नित्यकर्माणि एकाग्रचेतसा यः करोति न । सामायिकादिजातानि तस्य दोषं लभेत सः ॥१०७
क्रियाकर्म विधत्ते यस्त्यक्त्वातीचारपञ्चकान् । किल द्वात्रिंशद्दोषांश्च लभते सोऽव्ययं पदम् ॥१०८
गणिस्तान् मम दोषांश्च स्वपुण्याय प्ररूपय । वक्ष्येऽहं शृणु भो धीमन् कृत्वातिनिश्चलं मनः ॥१०९
अनादृतश्चस्तब्धः स्यात्प्रविष्टः परिपीडितः । दोलायितोऽङ्कुशितोऽपि भवेत्कच्छपरिङ्गित ॥११०
मत्स्योद्वर्तो मनोदुष्टो वेदिकाबद्ध एव हि । भयो विभ्यद्भवेदृद्धिगौरवो गौरवस्तथा ॥१११
स्तनितः प्रतिनीकश्च प्रदुष्टस्तर्जितस्तथा । शब्दश्च हेलितश्च त्रिवलितश्चैव कुञ्चितः ॥११२
दृष्टोऽदृष्टो भवेत्सङ्घकरमोचन एव हि । आलब्धः स्यादनालब्धो हीन उत्तरचूलिकः ॥११३
मूकश्च दर्दुरो दोषो भवेत्सुललितः सुहृत् । द्वात्रिंशत्प्रमितान् दोषांस्त्यक्त्वा सामायिकं भज ॥११४
क्रियते यत्क्रियाकर्म प्रादरेण विना नरैः । अल्पभावयुतैस्तद्धि अनादृत इवोच्यते ॥११५
विद्याविगर्वितो योऽधीरुद्धताशयसंयुतः । क्रियाकर्म विधत्ते यः स्तब्धदोषं श्रयेद् ध्रुवम् ॥११६
अत्यासन्नो हि यो भूत्वा सत्पञ्चपरमेष्ठिनाम् । कुर्यात्सामायिकं दोषं प्रविष्टाख्यं लभेत सः ॥११७

मनोदुःप्रणिधान, अनादर और अस्मरण सामायिकके इन पाँच अतिचारोंको हे ज्ञानिन्, तू त्याग कर ॥१०२॥ जो सामायिक करता हुआ भी अपने मौनव्रतको छोड़कर बुरे वचन (गाली, गलौच वा हिंसा आदि करनेवाले) कहता है उसके दुःख देनेवाला वचन दुःप्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०३॥ जो सामायिक करता हुआ भी अपने स्थान वा आसनको छोड़कर हाथ वा अन्य किसीके इशारेसे शरीरकी चेष्टा करते हैं उनके व्रतमें कायदुःप्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०४॥ जो सामायिक करते हुए भी समताभावको छोड़कर अपने मनमें वध बन्ध आदिसे उत्पन्न होनेवाला अशुभ संकल्प-विकल्प करते हैं उनके मनोदुःप्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०५॥ जो मूर्ख अत्यन्त प्रमादके कारण या शठतासे विना ही आदरके शुभ सामायिकको करता है उसके अनादर नामका अतिचार लगता है ॥१०६॥ जो सामायिकमें होनेवाले नित्य कर्मों-को चंचल हृदयसे करता है (चंचल हृदयके कारण कभी किसी क्रियाको व कभी किसी पाठको भूल जाता है) उसके अस्मरण नामका अतिचार लगता है ॥१०७॥ जो अपने समय पर पाँचों अतिचारोंको छोड़कर और बत्तीस दोषोंको टालकर सामायिक करता है वह अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त करता है ॥१०८॥ प्रश्न—हे प्रभो ! पुण्य उपार्जन करनेके लिये उन दोषोंको कृपाकर कहिये ? उत्तर—हे बुद्धिमान् ! मन लगाकर सुन, अब मै उन दोषोंको कहता हूँ ॥१०९॥ अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीड़ित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्यता, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तनित प्रतिनीक, प्रदुष्ट, तर्जित, शब्द, हेलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तरचूलिका, मूक, दुर्दर, सुललित इन बत्तीस दोषोंको छोड़कर हे मित्र ! तू सामायिक कर ॥११०–११४॥ जो मनुष्य सामायिककी क्रियाएँ विना आदरके अपने थोड़ेसे भाव लगाकर करते हैं उनके अनादर (अनादृत) नामका दोष लगता है ॥११५॥ जो मूर्ख विद्या आदिके अहंकारसे हृदयमे उद्धतता सामायिककी क्रियाओंको करता है उसके स्तब्ध नामका दोष अवश्य लगता है ॥११६॥ जो परमेष्ठियोंके अत्यन्त समीप बैठकर सामायिक करता है उसके प्रविष्ट नामका दोष लगता है ॥११७॥ जो अपने दोनों हाथोंमें

दोर्भ्यां जानुप्रदेशं यः संस्पृश्य परिपीड्य च। करोति वन्दनां तस्य दोषः स्यात्परिपीडितः ॥११८
आत्मानं च चलं कृत्वा संशयित्वा तनोति वा। तद्दोलामिव यः सोऽधीर्भजेद्दोलायिताभिधम् ॥११९
कराङ्गुष्ठं ललाटे यो विधायाधीर्यथाङ्कुशम्। करोति वन्दनां सोऽपि श्रयेद्दोषमिहाङ्कुशम् ॥१२०
कटिभागेन यः कृत्वा कच्छपस्येव चेष्टितम्। तद्विधत्ते स आप्नोति दोषं कच्छपरिंगितम् ॥१२१
मत्स्यस्येव कटीभारोद्वर्तनं यो विधाय वा। पार्श्वद्वयेन तां दध्यात् मत्स्योद्वर्तं लभेत सः ॥१२२
सूर्यादीनां हि यो दुष्टो भूत्वा तां मनसा भजेत्। क्लेशयुक्तेन वा तस्य मनोदुष्टोऽधिजायते ॥१२३
हस्ताभ्यां स्वशरीरं यो बद्ध्वा वापि प्रपीड्य तम्। जानुद्वयं विधत्ते स वेदिकाबद्धदोषभाक् ॥१२४
करोति वन्दनां योऽपि मरणादिभयान्वितः। सप्तभयेन वा त्रस्तो भयदोषं लभेत हि ॥१२५
गुर्वादिभ्यो विभीतो यः क्रियाकर्म करोति वै। अज्ञातपरमार्थोऽपि विभ्यद्दोषं लभेत सः ॥१२६
चातुर्वर्ण्यमहासङ्घाद्भक्त्यादिगौरवेच्छया। यो बुधो वन्दनां दध्याल्लभते ऋद्धिगौरवम् ॥१२७
प्रकटीकृत्य माहात्म्यमात्मन आसनादिभिः। सुखार्थं चाविधत्ते तद् व्रजेद्दोषं स गौरवम् ॥१२८
गुर्वादिभ्यो प्रच्छन्नां यो वन्दनां कुरुते बुध.। परेषां चोरयंस्तंश्च स्तनितं दोषमाश्रयेत् ॥१२९
भूत्वातिप्रतिकूलो यो देवगुर्वादियोगिनाम्। वन्दनां कुरुते दोषं प्रत्यनीकं लभेत ना ॥१३०
अन्यैः कृत्वापि प्रद्वेषं वैरं वा कलहादिकम्। प्रदुष्टं यो भजेच्चक्रे क्षन्तव्यं सो विधाय तत् ॥१३१

जंघाओंका स्पर्श करता हुआ अथवा दवाता हुआ सामायिक करता है अथवा वन्दना करता है उसके परिपीड़ित नामका दोष होता है ॥११८॥ जो अपने शरीरको झूलेके समान हिलाता हुआ सामायिक करता है अथवा जो अपने आत्माको चंचल रखता है, जिसके संदेह बना रहता है—सामायिक वन्दना वा उसके फलमें जो संदेह रखता है उसके दोलायित नामका दोष लगता है ॥११९॥ जो अज्ञानी अकुशके समान अपने अंगूठेको ललाट वा मस्तक पर रखकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके अंकुशित नामका दोष लगता है ॥१२०॥ जो कटिभागसे (कमरसे) कछुएके समान कुछ आगेको सरका कर वन्दना करता है उसके कच्छपरिंगिन नामका दोष लगता है ॥१२१॥ जो मच्छके समान एक ही बगलसे अथवा दोनो बगलोंसे वन्दना करता है उसके मत्स्योद्वर्त नामका दोष लगता है ॥१२२॥ जो दुष्ट आचार्य वा गुरुके ऊपर खेद प्रकाशित करता हुआ सामायिक वा वन्दना करता है उसके मनोदुष्ट नामका दोष लगता है ॥१२३॥ जो दोनों हाथोंसे अपने शरीरको वा दोनों जंघाओंको बाधकर, दबाकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके वेदिकाबद्ध नामका दोष लगता है ॥१२४॥ जो मरण भय आदि सातों भयोंसे डरकर सामायिक वा वन्दना करता है उसे भय नामका दोष लगता है ॥१२५॥ जो परमार्थको न जानकर केवल गुरु आदिके डरसे ही सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके विभ्यत् नामका दोष लगता है ॥१२६॥ चारों प्रकारका महासघ मेरी भक्ति करेगा, मेरा गौरव करेगा यही समझकर जो अज्ञानी सामायिक वा वन्दना करता है उसके ऋद्धिगौरव नामक दोष लगता है ॥१२७॥ जो अपने सुखके लिये आसन आदिके द्वारा अपने माहात्म्यको प्रगटकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके गौरव नामका दोष लगता है ॥१२८॥ जो गुरुको प्रसन्न करनेके लिये सबसे छिपकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके स्तनित नामका दोष लगता है ॥१२९॥ जो देव, गुरु वा योगियोके प्रतिकूल होकर उनकी आज्ञाको न मानकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके प्रत्यनीक नामका दोष लगता है ॥१३०॥ जो दूसरों-के साथ द्वेष वैर वा कलह करके भी मन वचन कायसे न तो दूसरोसे क्षमा कराता है न क्षमा करता

परेषां यो भयं कुर्वन्नाचार्यैर्वातितर्जित । नित्यकर्म विधत्ते स तर्जितं दोषमाप्नुयात् ॥१३२
यो मौनं हि परित्यज्य वक्ति सामयिके स्थितः । वचनं जायते तस्य शब्ददोषोऽशुभप्रद ॥१३३
कृत्वा परिभवं योऽपि नाचार्यादिसुयोगिनाम् । वचनेन विधत्ते तद्दोषं हेलितमाप्नुयात् ॥१३४
शरीरस्य त्रिभङ्गं यो नाभे रेखां त्रयं हि वा । कृत्वा करोति सत्कर्म श्रयेत्त्रिवलितं स ना ॥१३५

यः कुर्वन् स्वशिरस्पर्शं हस्ताभ्यां विदधाति तत् ।
भूत्वा सङ्कुचितो वा हि स दोषं कुञ्चितं भजेत् ॥१३६

आचार्यादिगणैर्दृष्टः सत्कर्म कुरुते हि यः । अन्यथा स्वेच्छया दृष्टं श्रयेद्वा दिग्विलोकनात् ॥१३७
आचार्यादिषु प्रच्छन्नं कार्यं वाऽप्रतिलेख्य यः । अनेकाग्रो विधत्ते तत्सोऽदृष्टं दोषमाप्नुयात् ॥१३८
सङ्घस्य रञ्जनार्थं यस्तस्माद्भक्त्यादिवाञ्छया । वन्दनां विधदे तस्य स्यात्सङ्घकरमोचनम् ॥१३९
आवश्यकं विधत्ते यः प्राप्योपकरणादिकम् । नान्यथा जायते तस्यालब्धदोषो मदप्रदः ॥१४०
विदध्याद्य. षट्कर्मोपकरणादिकवाञ्छया । लोभाविष्टो भजेद्दोषं सोऽत्रानालब्धसंज्ञकम् ॥१४१
कालव्यञ्जनग्रन्थार्थहीनमावश्यकं हि यः । करोति जायते तस्य हीनदोषोऽशुभप्रदः ॥१४२
वन्दनां स्तोककालेन निर्वर्त्य वेगतो ध्रुवम् । वन्दना चूलिकायाश्च किञ्चिदुद्धरतिस्म यः ॥१४३

है—विना क्षमा करे कराये योंही सामायिक वा वन्दना करता है उसके प्रदुष्ट नामका दोष लगता है ॥१३१॥ जो अन्य शैक्ष्य आदिकोंको उँगलीसे तर्जनाकर भय उत्पन्न कर अथवा आचार्य वा गणसे तर्जित होकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके तर्जित नामका दोष लगता है ॥१३२॥ जो सामायिक करता हुआ भी मौन छोडकर बातें करता है उसके पाप वढ़ानेवाला शब्द नामका दोष लगता है ॥१३३॥ जो आचार्य आदि अन्य मुनियोंका तिरस्कार कर वचनसे उनका उपहासकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके हेलित नामका दोष लगता है ॥१३४॥ जो कमर मोड़कर, गर्दन टेढ़ीकर वा छाती नवाकर अथवा भोंह चलाकर अथवा ललाट पर तीन रेखा चढ़ाकर सामायिक आदि सत्कर्म करता है उसके त्रिवलित नामका दोष लगता है ॥१३५॥

जो दोनों हाथोंसे अपने मस्तकको स्पर्शकर सामायिक वा वन्दना करता है, अथवा संकुचित होकर मस्तकोंको जंघाओंके समीप ले जाकर सामायिक वा वन्दना करता है उसके कुंचित दोष लगता है ॥१३६॥ जो आचार्य वा अन्य मुनियोंके देखने पर तो सामायिक आदि क्रियाओंको अच्छी तरह करता है और उनके न देखने पर अपनी इच्छानुसार सब दिशाओंकी ओर देखता हुआ सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके दृष्ट नामका दोष होता है ॥१३७॥ जो गुरुकी दृष्टिसे छिपकर सामायिक आदि करता है अथवा पीछी आदिसे विना शोधे, विना देखे चचल मनसे क्रियाओं-को करता है उसके अदृष्ट नामका दोष कहलाता है ॥१३८॥ जो संघको प्रसन्न करनेके लिये अथवा संघसे भक्ति आदि करानेकी इच्छासे सामायिक वा वन्दना करता है उसके संघकरमोचन नामका दोष लगता है ॥१३९॥ जो उपकरण आदिको पाकर आवश्यक आदि क्रियाओंको करता है—विना उपकरण आदिके मिले जो नही करता उसके मद उत्पन्न करनेवाला आलब्ध नामका दोष लगता है ॥१४०॥ जो लोभके वशीभूत होकर उपकरण आदिकी इच्छासे सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओंको करता है उसके अनालब्ध नामका दोष लगता है ॥१४१॥ जो काल, व्यंजन, ग्रन्थ अर्थ (अथवा मात्रा आदि) आदिसे रहित सामायिक वा आवश्यकोंके पाठोंको पढ़ता है उसके पाप उत्पन्न करनेवाला हीन नामका दोष लगता है ॥१४२॥ जो सामायिक वा वन्दनाको बड़ी शीघ्रता-

आलोचनादिकस्यातिकालेनापि विवर्तनम् । कृत्वा सामायिकं दध्याल्लभेतोत्तरचूलिकम् ॥१४४
मूकवन्मुखमध्ये वा हुङ्काराङ्गुलिसंज्ञया । युक्तो यः कुरुते तद्धि मूकदोषं लभेत सः ॥१४५
स्वशब्देन परेषां यः सच्छब्दमभिभूय वै । बृहद्गलेन तं दध्याद् दर्दुरं दोषमाप्नुयात् ॥१४६
स्थित्वैकस्मिन् प्रदेशे यः सर्वेषां वन्दनां भजेत् । श्रयेत्सुललितं दोषं पञ्चमादिस्वरेण वा ॥१४७
एतैर्मुक्तं हि द्वात्रिंशद्दोषैः सामायिकं च यः । करोति निर्जरां पापकर्मणां स भजेत्पराम् ॥१४८
त्यक्त्वाशुभं महापुण्यं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । सर्वसौख्याकरं सारं संसाराम्बुधितारकम् ॥१४९
अपरित्यज्य तान् दोषान् यः कुर्याद्वन्दनादिकम् । कर्मक्षयो भवेन्नैव तस्य क्लेशो हि केवलम् ॥१५०
कायोत्सर्गोऽपि कर्तव्यो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः । बुधैः कायममत्वादित्यजनार्थं सुधर्मदः ॥१५१
दुःखं यथा समायाति पादसञ्जातपीडया । तथा कर्माणि नश्यन्ति कायोत्सर्गस्थितस्य वै ॥१५२

कायोत्सर्गभवान् दोषान् मे गणेश प्ररूपय ।
भोः श्रावक प्रवक्ष्येऽहं तान् दोषान् शृणु ते स्फुटम् ॥१५३

घोटकश्च लतादोषः स्तम्भः कुड्योऽपि सम्भवेत् । मालदोषः शबरादिवधूः स्यान्निर्यल्पे ध्रुवम् ॥१५४

से थोड़े ही समयमें कर लेता है और आलोचना आदि उसकी चूलिकाको (अन्तिम क्रियाको) बड़ी देरसे करता है इस प्रकार जो सामायिक करता है उसके उत्तर चूलिका नामका दोष लगता है ॥१४३-१४४॥ जो गूंगेके समान मुखके भीतर ही भीतर सामायिक वा वन्दना करता है अथवा उँगलीके इशारे वा हुँकार आदि करता हुआ सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके मूक नामका दोष लगता है ॥१४५॥ जो अपने जोर-जोरके शब्दोंसे दूसरोंके अच्छे शब्दोंको भी दबाकर सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके दुर्दर नामका दोष लगता है ॥१४६॥ जो एक स्थान पर बैठकर ही सबकी वन्दना करता है अथवा जो पंचम स्वर आदिसे गा-गाकर वन्दना करता है उसके सुललित नामका दोष लगता है ॥१४७॥ जो इन बत्तीस दोषोंसे रहित होकर सामायिक करता है उसके पापकर्मोकी सबसे अधिक निर्जरा होती है ॥१४८॥ जो इन दोषोंको छोड़कर सामायिक करता है उसके स्वर्ग मोक्षको वश करनेवाला समस्त सुखोंकी खानि सारभूत और संसाररूपी महासागरसे पार कर देनेवाला शुभरूप महा पुण्य प्राप्त होता है ॥१४९॥ जो इन दोषों-का विना त्याग किये ही सामायिक वा वन्दना आदि क्रियाओंको करता है उसके कर्मोका नाश कभी नही हो सकता उसका सामायिक आदि करना केवल शरीरको दुःख पहुँचाना है ॥१५०॥ इसी प्रकार बुद्धिमानोंको शरीरसे ममत्वका त्याग करनेके लिये श्रेष्ठ धर्मको प्रगट करनेवाला कायोत्सर्ग भी बत्तीस दोषोंसे रहित होकर ही करना चाहिए, अर्थात् कायोत्सर्गके भी बत्तीस दोषों-का त्याग कर देना चाहिए ॥१५१॥ जिस प्रकार पैरमें उत्पन्न हुई पीड़ासे दुःख आ जाता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करनेवाले मनुष्यके अवश्य ही कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥१५२॥

प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर मेरे लिये कायोत्सर्गके दोषोंका निरूपण कीजिये ।

उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! सुन, अब मै कायोत्सर्गके दोषोंको कहता हूँ ॥१५३॥ घोटक, लता, स्तम्भ[1], कुड्य, माल शबर, लम्बोदर, तनुदृष्टि, वायस, खलित, युग, कपित्थ, शिरःप्रकंपन, मूकित,

---

१. इसमें स्तम्भ और कुड्य अलग-अलग लिखे है परन्तु अनगारधर्मामृतमें दोनों एक स्तम्भमें ही शामिल कर लिये हैं ।

लम्बोदरो वपुर्दृष्टिर्वायसस्खलिनो युगः । कपित्थाख्यो भवेद्दोषः शिरःप्रकम्पितो भवेत् ॥१५५
मूकितोऽङ्गुलिदोषश्च भ्रूविकारो हि सम्भवेत् । तथा च वारुणीपायी दिशामालोकनाभिधाः ॥१५६
ग्रीवोन्नमनमेव प्रणमनः स्यान्निष्ठीवनः । स्वाङ्गमर्षो बुधैस्त्याज्या अमी दोषा मलप्रदाः ॥१५७
उत्क्षिप्य चैकपादं यो चाविन्यस्येह तिष्ठति । कायोत्सर्गे भवेत्तस्य घोटकाख्यो मलोऽश्ववत् ॥१५८
अङ्गानि चालयन् योऽपि व्युत्सर्गं कुरुते यमी । लतेव संश्रयेत्सोऽपि लतादोषं प्रचञ्चलः ॥१५९
स्तम्भमाश्रित्य व्युत्सर्गं यो विधत्ते हि संयतः । स्तम्भदोषं भजेत्सोऽपि स्वशून्यहृदयोऽथवा ॥१६०
कायोत्सर्गं विधत्ते यः कुड्यमाश्रित्य श्रावकः । अन्यद्वाश्रित्य तस्यैव कुड्यदोषः प्रजायते ॥१६१
पीठिकादिकमारुह्य यो व्युत्सर्गं करोति च । मस्तकादूर्ध्वमाश्रित्य मालादोषं भजेत्स ना ॥१६२
जङ्घाभ्यां शबरवधूरिव निष्पीड्य तिष्ठति । यो जघनं व्युत्सर्गे शबरिदोषं लभेत सः ॥१६३
व्युत्सर्गस्थित एवोन्नोन्नमनं कुर्याद् यो बुधः । बाह्याधो नमनं प्रायः स लम्बोदरदोषभाक् ॥१६४
नयनाभ्यां शरीरं यः स्वस्य पश्यति रागदम् । कायोत्सर्गस्थितो दोषं तनुर्दृष्टि लभेत सः ॥१६५

अंगुलि, भ्रूविकार, वारुणीपायी, दिशावालोकन, ग्रीवोन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन, स्वांगस्पर्श ये कायोत्सर्गके दोष[1] कहलाते हैं अतः बुद्धिमानोंको इनका त्याग कर देना चाहिये ॥१५४–१५७॥ जिस प्रकार अच्छा घोड़ा एक पैर ऊँचा करके खड़ा होता है उसी प्रकार जो कायोत्सर्ग करते समय एक पैरको ऊँचा कर केवल एक पैरसे पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ खड़ा होता है उसके घोटक नामका दोष होता है ॥१५८॥ जो संयमी लताके समान अंग उपांगोंको कँपाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके लता नामका दोष लगता है ॥१५९॥ जो संयमी किसी खम्भेका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है अथवा जो अपने हृदयको शून्य बनाकर (आत्मा चिंतवन किये विना) कायोत्सर्ग करता है उसके स्तम्भ नामका दोष लगता है ॥१६०॥ जो श्रावक किसी दीवालका अथवा अन्य किसी पदार्थका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है उसके कुड्य नामका दोष लगता है ॥१६१॥ जो किसी वेदी, पटा आदिपर खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है उसके पट्टक नामका दोष लगता है। जो मस्तकसे ऊँचे स्थानपर माला वा रस्सी बाँधकर उसका सहारा लेकर कायोत्सर्गके लिये खड़ा होता है उसके माला नामका दोष लगता है ॥१६२॥ जो भीलिनियोंके समान जघनस्थलको (गुह्य प्रदेशको) दोनों जंघाओंसे दबाकर (अथवा हाथसे ढककर) कायोत्सर्गके लिये खड़ा होता है उसके शवरी नामका दोष होता है ॥१६३॥ जो कायोत्सर्गमें खड़ा होकर भी मस्तकको ऊँचा करता है अथवा नीचा करता है उसके लम्बोदर नामका दोष होता है ॥१६४॥ जो कायोत्सर्गमें खड़ा होकर भी अत्यन्त राग उत्पन्न करनेवाले अपने शरीरको अपने दोनों नेत्रोंकी दृष्टिसे देखता रहता है

---

१ बाकीके दोप इस प्रकार हैं। पट्टक—इसका स्वरूप ६२ वें श्लोकमें लिखा है। शृङ्खलित—जो अपने पैरोंको साँकलसे बँधे हुएके समान करके कायोत्मर्ग करे। उत्तीरत—मस्तकको ऊँचाकर कायोत्सर्ग करना। स्तनोन्नति—दूध पिलाने वालीके समान छातीको ऊँचा उठाकर कायोत्सर्ग करना। न्यूनत्व—मात्रा आदि छोड़कर कायोत्सर्गका पाठ पढ़ना। मायाप्रायस्थितिश्चित्र—दूसरोंको ठगनेवाली और अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली शरीरकी स्थिति बनाना। वयोपेक्षाविवर्जन—अपना बुढापा समझकर कायोत्सर्गका छोड़ देना। व्याक्षेपासक्तचित्तत्व—चित्तको इधर-उधर भटकाते हुए कायोत्सर्ग करना। कालापेक्षाव्यतिक्रम—समय देखकर कायोत्सर्गका कुछ अंश छोड़ देना। लोभाकुलत्व—लोभके कारण कुछ अंश छोड़ देना। मूढत्व—कर्तव्य अकर्तव्यका विचार न करना। पापकर्मैकसर्गता—हिंसादिकके कामोंमें अत्यन्त उत्साह होना।

कायोत्सर्गान्वितो योऽपि पार्श्वं पश्यति काकवत् । तस्य वायसदोषोऽत्र जायते नेत्रसम्भवः ॥१६६
यो दन्तकटकं सीसं कृत्वा व्युत्सर्गमाश्रयेत् । अश्ववत्खलिनाख्यं स श्रयेद्दोषं मलप्रदम् ॥१६७
ग्रीवां प्रसार्य यः कुर्यात् व्युत्सर्गं बलीवर्दवत् । युगदोषो भवेत्तस्य कायोत्सर्गस्य दोषदः ॥१६८
कृत्वा कपित्थवन्मुष्टिं यो व्युत्सर्गेण तिष्ठति । व्रजेत्कपित्थदोषं स कायोत्सर्गमलप्रदम् ॥१६९
कायोत्सर्गान्वितो यस्तु प्रकम्पयति मस्तकम् । शिरःप्रकम्पितं दोषं श्रयेत्सोऽपि मलार्विजम् ॥१७०
व्युत्सर्गेण स्थितो योऽपि नासिकामुखसम्भवम् । विकारं कुरुते तस्य मूकदोषः प्रजायते ॥१७१
त्यक्त्वा देहादिसङ्गोऽयं विकारं कुरुते नरः । अङ्गुल्यादिभवं दोषमङ्गुल्याख्यं लभेत सः ॥१७२
कायोत्सर्गेण युक्तो यो भ्रूविकारं करोति ना । भ्रूदोषस्तस्य स्यान्नूनं वा पादाङ्गुलिनर्तनात् ॥१७३
घूर्णमानो हि व्युत्सर्गे सुरापायीव तिष्ठति । दोषः स्याद्वारुणीपायी तस्य दोषविधायकः ॥१७४
आलोकनं दशदिशां त्यक्तदेहाः श्रयन्ति ये । नेत्रचञ्चलतस्तेऽत्र दृतदोषान् भजन्ति वै ॥१७५
यो ग्रीवोन्नमनं कुर्यात्कायोत्सर्गान्वितो नरः । दोषं ग्रीवोन्नमनं स भजेद् ग्रीवादिसम्भवम् ॥१७६
कायोत्सर्गेण संयुक्तो धत्ते प्रणमनं पुमान् । दोषं प्रणमनं सोऽपि श्रयेन्मलविधायकम् ॥१७७
निष्ठीवनं करोत्युच्चैः यो वा खात्करणादिकम् । कायोत्सर्गसमायुक्तो दोषं निष्ठीवनं भजेत् ॥१७८
शरीरस्पर्शनं योऽत्र करोति स्वस्य कारणात् । कायोत्सर्गादिसंयुक्तो स्पर्शदोषं लभेत सः ॥१७९

उसके तनुदृष्टि नामका दोष लगता है ॥१६५॥ जो कायोत्सर्गमें खड़ा होकर भी कौएके समान अपनी दोनों अगल बगलोंकी ओर देखता है उसके नेत्रोंसे उत्पन्न होनेवाला वह वायस नामका दोष कहलाता है ॥१६६॥ जिस प्रकार लगामके दुःखसे दुःखी हुआ घोड़ा दाँत कटकटाकर मस्तक हिलाता है उसी प्रकार जो कायोत्सर्गके समय दाँतोंको कटकटाता हुआ मस्तक हिलाता है उसके मल उत्पन्न करनेवाला खलीन नामका दोष लगता है ॥१६७॥ जिस प्रकार जूँआके दुःखसे दुःखी हुआ बैल गर्दन फैलाता है उसी प्रकार जो गर्दनको फैलाकर सामायिक करता है उसके कायोत्सर्गमें दोष उत्पन्न करनेवाला युग नामका दोष होता है ॥१६८॥ जो कपित्थ या कैथके समान अपनी मुट्ठियोंको बांधकर कायोत्सर्गके लिये खड़ा होता है उसके कपित्थ नामका दोष लगता है ॥१६९॥ जो कायोत्सर्गके समय मस्तकको कँपाता है वह मलको पैदा करनेवाला शिरः प्रकम्पित दोष है ॥१७०॥ जो कायोत्सर्गमें खड़ा होकर भी गूँगेके समान मुँह और नाकके विकार उत्पन्न करता रहता है उसके मूक नामका दोष लगता है ॥१७१॥ जो शरीरसे ममत्व छोड़कर भी उँगली आदिसे विकार उत्पन्न करता रहता है (अथवा उँगलियोंसे गिनती करता रहता है) उसके अँगुली नाम-का दोष लगता है ॥१७२॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी भौंह चलाता रहता है अथवा पैरकी उँगलियोंको नचाता रहता है उसके भ्रूविकार नामका दोष होता है ॥१७३॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी शराब पीनेवालेके समान घूमता (हिलता) रहता है उसके कायोत्सर्गमें दोष लगानेवाला वारुणीपायी (उन्मत्त) नामका दोष लगता है ॥१७४॥ जो शरीरसे ममत्व छोड़कर भी दशों दिशाओंकी ओर देखते रहते हैं उनके नेत्र चंचल होनेके कारण दिशावलोकन नामका दोष लगता है ॥१७५॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी अपनी गर्दनको बहुत उँची कर लेता है उसकी ग्रीवा वा गर्दनसे उत्पन्न होनेवाला ग्रीवोन्नमन नामका दोष होता है ॥१७६॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी अपनी गर्दनको नीची कर लेता है उसके प्रणमन नामका दोष लगता है ॥१७७॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी थूकता रहता है उसके निष्ठीवन नामका दोष लगता है ॥१७८॥ जो कायोत्सर्ग करता हुआ भी किसी कारणसे अपने शरीरका स्पर्श करता रहता है उसके स्पर्श

एते दोषाः परित्याज्या गृहस्थैश्च मुनीश्वरैः। व्युत्सर्गसंयुतैर्धीरैर्मलदाः कर्मशान्तये ॥१८०
चतुरङ्गुल्यन्तरितौ समपादौ विधाय यः। व्युत्सर्गं कुरुते तस्यैको दोषोऽपि न जायते ॥१८१
चञ्चलत्वं परित्यज्य काष्ठवन्निश्चलो यतिः। एकाग्रमनसा युक्तदेहादिविक्रिया सदा ॥१८२
सर्वाङ्गस्पन्दनिर्मुक्तस्त्यक्तदोषं सुधीर्भजेत्। यो व्युत्सर्गं भजेत्सोऽपि स्वर्गमुक्तिसुखादिकम् ॥१८३
एकचित्तेन व्युत्सर्गं यः कुर्याद् घटिकाद्वयम्। अनेकजन्मजं पापं क्षिपेद् ज्ञानी स शुद्धधीः ॥१८४
ममत्वं देहतो नश्येत् कायोत्सर्गेण धीमताम्। निर्ममत्वं भवेन्नूनं महाधर्मसुखाकरम् ॥१८५
न भूतं भुवने नृणां कायोत्सर्गसमं तपः। नाममोक्षगृहद्वारं नास्ति चाग्रे भविष्यति ॥१८६
मन्ये तावेव पादौ यौ कायोत्सर्गान्वितौ दृढौ। पुंसां धर्मप्रदौ धन्यौ धीरौ स्वर्मुक्तिदायकौ ॥१८७
कायोत्सर्गं विना पादौ हिंसादिपरिवर्तिनौ। ज्ञेयौ व्यर्थौ मनुष्याणां गमनादिकतत्परौ ॥१८८
येऽधमाः शक्तिमापन्नाः कायोत्सर्गं न कुर्वते। तेषां जन्म वृथा याति भृत्या इव कुमार्गगाः ॥१८९
कायोत्सर्गं समादाय जित्वा घोरपरीषहान्। ये गता मुक्तिसाम्राज्ये ते धन्या विदुषां मताः १९०
इति मत्वा विधातव्यः कायोत्सर्गो बुधोत्तमैः। स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य प्रत्यहं सत्सुखाकरः ॥१९१

सकलसुखनिधानं स्वर्गसोपानभूतं नरकगृहकपाटं दुःखदावाग्निमेघम्।
अतुलगुणसुखं वा धर्मवृक्षस्य बीजं भज शिवसुखहेतोस्त्वं हि व्युत्सर्गमेकम् ॥१९२

नामका दोष लगता है ॥१७९॥ कायोत्सर्ग करनेवाले धीर वीर श्रावकोंको व मुनियोंको कर्मोंको शान्त करनेके लिये मल उत्पन्न करनेवाले इन दोषोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१८०॥ जो चार अंगुलके अन्तरसे दोनों पैरोंको एक-सा रखकर कायोत्सर्ग करता है उसके कोई दोष नहीं लग सकता ॥१८१॥ जो बुद्धिमान् मुनि चंचलताको छोड़कर काष्ठके समान निश्चल होकर शरीर-के समस्त विकारोंको छोड़कर अंग उपांगोंके हलन चलनको छोड़कर तथा समस्त दोषोंका त्यागकर एकाग्रचित्तसे कायोत्सर्ग करता है उसे स्वर्ग मोक्षके सुख अवश्य ही प्राप्त होते हैं ॥१८२-१८३॥ जो शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला ज्ञानी पुरुष दो घड़ी पर्यन्त एकाग्रचित्तसे कायोत्सर्ग करता है वह उस कायोत्सर्गसे अनेक जन्मके पापोंको नष्ट कर देता है ॥१८४॥ कायोत्सर्ग धारण करनेसे बुद्धिमानोंका शरीरसे ममत्व छूट जाता है तथा शरीरसे ममत्वका छूट जाना ही महा धर्म और सुखकी खानि है ॥१८५॥ इस संसारमें मनुष्योंको कायोत्सर्गके समान तपश्चरण न तो आजतक हुआ है और न आगे कभी हो सकता है। यह कायोत्सर्ग स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका द्वार है ॥१८६॥ मनुष्योंके जो पैर कायोत्सर्ग धारण कर दृढताके साथ खड़े हैं संसारमें उन्हीको पैर समझना चाहिये, वे ही पैर धन्य हैं, वे ही धीरवीर हैं, वे ही धर्म धारण करनेवाले हैं और वे ही पैर स्वर्ग मोक्ष देनेवाले हैं ॥१८७॥ जिन पैरोंसे कभी कायोत्सर्ग नही हुआ—जो केवल आने जानेमें ही काम आते हैं और हिंसादिक पाप करते रहते हैं मनुष्योंके ऐसे पैरोंको सर्वथा व्यर्थ समझना चाहिये ॥१८८॥ जो नीच समर्थ होकर भी कायोत्सर्ग नहीं करते हैं उनका जन्म कुमार्गगामी सेवकके समान व्यर्थ ही बीत जाता है ॥१८९॥ जो कायोत्सर्ग धारण कर और घोर परीषहोंको जीतकर मोक्षके साम्राज्यमें जा विराजमान हुए है, संसारमें वे ही धन्य है और वे ही विद्वान् लोगोंके द्वारा माननीय वा पूज्य माने जाते हैं ॥१९०॥ यही समझकर उत्तम बुद्धिमानोंको प्रतिदिन अपनी शक्तिको प्रगट-कर मोक्षका श्रेष्ठ सुख देनेवाला यह कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥१९१॥ यह कायोत्सर्ग समस्त सुखोंका निधि है, स्वर्गकी सीढ़ी है, नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ है, दुःखरूपी दावानल अग्निके लिये मेघोंकी वर्षा है, निरुपम गुणोंकी खानि है और धर्मरूपी वृक्षका बीज है,

शमदमयमजातं मुक्तिकान्तासुनाथं, सुरगतिसुखगेहं तीर्थनाथैः सुसेव्यम् ।
भज हि सकलर्द्धेर्बीजभूतं गुणाढ्यं, दुरिततिमिरसूर्यं मित्र सामायिकं वै ॥१९३
दुरितवनकुठारं चित्तमातङ्गसिंहं, विषयसफरजालं कर्मकक्षानलं भोः ।
दमशमयमगेहं धर्मशुक्लादिहेतुं, भज विगतविकारं सारसामायिकं त्वम् ॥१९४
प्राप्ता ये मुनयः श्रुतार्णवधरा ग्रैवेयकं चाग्रिमं
तेऽप्याराध्य सुधर्मदं सुखकरं सामायिकं केवलम् ।
प्राभव्याः शिवसौख्यसारमपि ये रत्नत्रयालङ्कृताः
तस्मात्त्वं बुधसारमेकमसमं सामायिकं भो भज ॥१९५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे देशावकाशिकसामायिकप्ररूपको नामाष्टदशमः परिच्छेदः ॥१८॥

●

इसलिये हे भव्य ! तू मोक्ष-सुख प्राप्त करनेके लिये इस कायोत्सर्गको धारण कर ॥१९२॥ हे मित्र ! यह सामायिक शम (परिणामोका शान्त होना), दम (इन्द्रियोको दमन करना) और यम (यम नियम-रूपसे त्याग करना) से उत्पन्न होता है, मुक्ति रूपी स्त्रीका स्वामी है, स्वर्गके सुखोका घर है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते है, यह समस्त ऋद्धियोंका बीजभूत या कारण है, अनन्त-गुणोंसे भरपूर है और पापरूप अन्धकारको नाश करनेके लिये सूर्य है । हे मित्र ! ऐसे सामायिकको तू प्रतिदिन धारण कर ॥१९३॥ यह सामायिक पापरूपी वनको उखाड़नेके लिये कुठार या कुल्हाड़ी है, मनरूपी हाथीको वश करनेके लिये सिंह है, विषयरूपी मछलियोंको पकड़नेके लिये जाल है, कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्नि है, दम शम यमका घर है, धर्मध्यान और शुक्लध्यानका कारण है तथा समस्त विकारोंसे रहित है और सबमे सारभूत है । हे मित्र ! ऐसे सामायिकको तू अवश्य धारण कर ॥१९४॥ जो रत्नत्रयसे सुशोभित मुनिराज श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पारगामी हुए हैं, अथवा उत्तम ग्रैवेयकमें जा विराजमान हुए है वे केवल इस सामायिककी आराधनासे ही हुए हैं । यह सामायिक श्रेष्ठ धर्मको देनेवाला सुखकी खानि है, मोक्षसुखका सारभूत है, विद्वानोंके लिये सारभूत है, इसके समान ससारमें अन्य कोई पदार्थ नही है, यह अद्वितीय है इसलिये हे भव्य ! ऐसे सामायिकको तू अवश्य धारण कर ॥१९५॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे देशावकाशिक और सामायिक व्रतका निरूपण करनेवाला यह अठारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१८॥

●

उन्नीसवाँ परिच्छेद

मल्लिनाथं महामल्लं कामारातिनिपातने । वन्दे कर्मविनाशाय भव्यजीवप्रबोधकम् ॥१
सामायिकं समाख्याय ततो वक्ष्ये गुणप्रदम् । शिक्षाव्रतं तृतीयं हि प्रोषधादिभवं नृणाम् ॥२
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां कर्तव्यः श्रावकैः सदा । सत्प्रोषधोपवासोऽपि सर्वसावद्यवर्जितः ॥३
दिने धारणके चैकभक्तं यत् क्रियते नरैः । तथा पारणके प्रोषधोपवासः स उच्यते ॥४
सर्वाशनं च पानं च खाद्यं स्वाद्यं त्यजेद् बुधः । उपवासदिने मुक्त्यै कृत्स्नमाहारमञ्जसा ॥५
उपवासदिने धीरैः ग्राह्यं नीरं न खण्डकम् । उपवासस्य सारस्य कृत्वा प्राद्भुतसाहसम् ॥६
नीरादानेन हीयेत भागश्चैवाष्टमो नृणाम् । उष्णेनैवोपवासस्य तस्मान्नीरं त्यजेत्सुधीः ॥७
कषायद्रव्यसन्मिश्रं जलं गृह्णाति यो नरः । उपवासं समादाय तेषां स हीयतेतराम् ॥८
तन्दुलादिकसन्मिश्रं ये पिबन्ति जलं शठाः । आदाय प्रोषधं तेषां स स्याद्भग्नस्ततो ध्रुवम् ॥९
उपवासो जिनैरुक्तः पानाहारादिवर्जितः । उत्कृष्टः सर्वसावद्यचिन्तादिकपराङ्मुखः ॥१०
उपवासदिने सारे सर्ववस्तुकदम्बकम् । विनैकं भूषणं स्नानं गन्धं पुष्पाणि कुङ्कुमम् ॥११
अञ्जनं मुखसंस्कारं चाङ्गोपाङ्गादिविक्रियाम् । शय्यादिकं त्यजेद्धीमान् वीतरागगुणाप्तये ॥१२

जो कर्मरूपी शत्रुको चूर चूर करनेके लिये महामल्ल है और भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देनेवाले हैं ऐसे श्रीमल्लिनाथ भगवान्‌को मैं अपने कर्म नष्ट करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ इस प्रकार सामायिकका निरूपण कर अब आगे अनेक गुणोंको उत्पन्न करनेवाले प्रोषधोपवास नामके तीसरे शिक्षाव्रतको कहते है ॥२॥ श्रावकोंको अष्टमी और चतुर्दशीके दिन सब तरहके पापोंका त्यागकर सदा प्रोषधोपवास करना चाहिये ॥३॥ जिस दिन प्रोषधोपवास करना हो उसके एक दिन पहिले धारणा और उपवासके दूसरे दिन पारणा की जाती है। मनुष्योंको धारणाके दिन एकाशन करना चाहिये। और पारणाके दिन भी एकाशन करना चाहिये। इस प्रकार एक एकाशन, दूसरे दिन उपवास व तीसरे दिन एकाशन करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं ॥४॥ बुद्धिमानोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये उपवासके दिन अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये ॥५॥ धीरवीर पुरुषोंको उपवासके दिन अद्भुत साहस प्रगट कर पानीकी एक बूँद भी ग्रहण नहीं करनी चाहिये ॥६॥ उपवासके दिन उष्ण जलके पीनेसे उपवासके फलका आठवाँ भाग कम हो जाता है, अतः बुद्धिमानोंको उपवासके दिन जल पीनेका त्याग करना चाहिए ॥७॥ जो उपवास ग्रहण करके कषाय द्रव्योंसे मिले हुए जलको (किसी काढ़ेको वा शरबत आदिको) पीते है उनके उपवासमें अवश्य कमी होती है ॥८॥ जो प्रोषधोपवास ग्रहण करके भात मिले हुए जलको (चावलोंके मांडको जिसमें कुछ चावलोंका तत्त्व मिला रहता है) पीते है उन मूर्खोंका प्रोषधोपवास अवश्य नष्ट हो जाता है ॥९॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने आहार पानी सबका त्याग करने व समस्त पाप और चिन्ताओंसे अलग रहनेको उत्कृष्ट उपवास कहा है ॥१०॥ उपवासके दिन वीतराग भगवान्‌के गुण प्राप्त करनेके लिये बुद्धिमानोंको एक वस्त्रको (धोतीको) छोड़कर अन्य सब वस्त्रोंका त्याग कर देना चाहिये तथा आभूषण, स्नान, गन्ध, पुष्प, कुंकुम,

गृहव्यापारजां हिंसामसत्यं विकथादिकम् । स्तेयमब्रह्मसेवां च द्रव्यादिकपरिग्रहम् ॥१३
अशुभं सर्वसङ्कल्पं वचो हिंसादिकारणम् । गमनादिप्रयुक्तं न कार्यं वस्तु च पापदम् ॥१४
मनोवाक्काययोगेन त्यक्त्वा सर्वाशुभं बुधाः । उपवासदिने धीराः तिष्ठन्ति मुनयो यथा ॥१५
आदाय प्रोषधं धीरस्तिष्ठेत्साधुसमाश्रये । जिनागारेऽथवा शून्यगेहे गिरिगुहादिषु ॥१६
श्रुतामृतं पिबेत्तत्र धर्म-संवेगकारणम् । एकचित्तेन तीर्थेशमुखोत्पन्नं शुभं सुधीः ॥१७
ज्ञानवान् धर्मसंयुक्तः स्वयं धर्मामृतं पिबेत् । अन्येषां पाययेद्वापि प्रोपकाराय स्वान्ययोः ॥१८
अनुप्रेक्षाश्च षट्द्रव्यसप्ततत्त्वादिकान् सुधीः । धर्मध्यानं चतुर्भेदं स्वागमं वा विचिन्तयेत् ॥१९
संसारदेहभोगेषु पापश्वभ्रप्रदेषु वै । वैराग्यं भावयेद्धीमान् नाकमुक्तिगृहाङ्गणम् ॥२०
अनन्तगुणसन्दोहं केवलज्ञानभास्करम् । मुक्तिबीजं जिनैर्ध्येयं लोकालोकप्रकाशकम् ॥२१
असंख्यमहिमायुक्तं परमात्मानमञ्जसा । भजेद्धीमान् पुमान् धीरो मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ॥२२
एकचित्तेन वा धीमान् जपेत्पञ्चपदानि वै । अर्हदादिगुरूणां हि नामोत्पन्नानि निश्चितम् ॥२३
किमत्र बहुनोक्तेन त्यक्त्वा सावद्यमञ्जसा । यतिवत्तिष्ठ भो मित्र प्रोषधे स्वर्गमुक्तये ॥२४

अञ्जन, तांबूल, अङ्ग उपांगोंके विकार और शय्या आदि सबका त्याग कर देना चाहिये ॥११-१२॥ घरके व्यापारसे होनेवाली हिंसा, विकथा आदि असत्य, चोरी, अब्रह्म, द्रव्यपरिग्रह आदि सब पापोंका त्याग कर देना चाहिये। मनके सब अशुभ संकल्पोंका, हिंसा आदि पापोंके करनेवाले वचनोंका, आने जाने आदि क्रियाओंका तथा और भी पाप उत्पन्न करनेवाले कामोंका सबका त्याग कर देना चाहिये ॥१३-१४॥ धीरवीर बुद्धिमानोंको उपवासके दिन मन, वचन, काय तीनों योगसे समस्त अशुभोका त्याग कर मुनियोंके समान विराजमान रहना चाहिये ॥१५॥ धीरवीर पुरुषोंको उपवास ग्रहण कर मुनियोके आश्रममें (मुनियोंके समुदायमें वा उनके रहने योग्य स्थानोंमें) जिनालयमें, किसी सूने मकानमें अथवा पर्वतकी गुफा आदिमें रहना चाहिये ॥१६॥ बुद्धिमानोंको ऐसे स्थानोंमें रहकर चित्त लगाकर धर्म और संवेगको बढ़ानेवाले तथा श्री तीर्थंकरके मुखसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानरूपी शुभ अमृतका पान करना चाहिये अर्थात् शास्त्र श्रवण करना चाहिये ॥१७॥ यदि प्रोषधोपवास करनेवाला ज्ञानवान् और धर्मात्मा हो तो उसे स्वयं धर्मरूपी अमृतका पान करना चाहिये और अपना वा दूसरोंका उपकार करनेके लिये अन्य भव्य जीवोंको उसका पान कराना चाहिये अर्थात् उसे स्वयं शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए और दूसरोंको सुनाना चाहिए ॥१८॥ इसी प्रकार बारह अनुप्रेक्षाएँ, छह द्रव्य, सात तत्त्व, चारों प्रकारका धर्मध्यान और शास्त्रों-का मनन वा चितवन भी उन बुद्धिमानोंको करना चाहिए ॥१९॥ इसी प्रकार बुद्धिमानोंको पाप और नरक देनेवाले संसार, शरीर और भोगोंसे वैराग्य भावनाओंका चितवन करना चाहिए, क्योंकि यह वैराग्य ही स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका आँगन है ॥२०॥ धीरवीर बुद्धिमान् मनुष्योंको केवलज्ञानरूपी सूर्यका चितवन करना चाहिए, क्योंकि यह केवलज्ञानरूपी सूर्य लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, अनन्तगुणोंका समुद्र है, मोक्षका कारण है और जिनेन्द्रदेव भी इसका ध्यान करते हैं। इसी प्रकार अनन्त महिमाओंसे सुशोभित परमात्माका ध्यान भी उनको करना चाहिए ॥२१-२२॥ इसी प्रकार उस दिन बुद्धिमानोंको चित्त लगाकर अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु इन पाँचों परमेष्ठियोंके वाचक पंच नमस्कार मन्त्रका जप और ध्यान करना चाहिए ॥२३॥ हे मित्र ! बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? थोड़ेसेमें इतना समझ ले, कि प्रोषधोपवासके

एवं यः प्रोषधं कुर्यात्सर्वहिंसाविवर्जितम् । क्षिपेद्वैराग्यमापन्नः एनः संख्याविवर्जितम् ।।२५
उपवासं विधत्ते यः कुर्यात्पापं गृहादिजम् । गजस्नान इव खेदस्तस्य पापक्षयो न च ।।२६
तस्माद्धीरैर्न कर्तव्य उपवासदिने शुभे । गृहपापादिकारम्भः प्राणान्तेऽपि कदाचन ।।२७
यः पर्वण्युपवासं हि विधत्ते भावपूर्वकम् । नाकराज्यं च सम्प्राप्य मुक्तिनारीं वरिष्यति ।।२८
प्रोषधं नियमेनैव चतुर्दश्यां करोति यः । चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमाप्नुयात् ।।२९
चतुर्दश्या समं पर्व नास्ति कालत्रये वरम् । धर्मयोग्यं महापूतमुपवासादिगोचरम् ।।३०
प्रोषधं यश्चतुर्दश्यामेकचित्तेन सम्भजेत् । प्राप्य षोडशकं नाकं व्रजेन्मुक्तिवराङ्गनाम् ।।३१
द्विसप्ताद्युपवासेन पापं हत्वा गृहादिजम् । चतुर्दशादिसञ्जातं महापुण्यं लभेत ना ।।३२
प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यश्चतुर्दश्यां हि धीधनैः । उपवासोऽखिलधर्मार्थकाममोक्षफलप्रदः ।।३३
अष्टम्यामुपवासं हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमाः । हत्वा कर्माष्टकं तेऽपि यान्ति मुक्तिं सुदृष्टयः ।।३४
अष्टमीदिवसे सारे यः कुर्यात्प्रोषधं वरम् । इन्द्रराज्यपदं प्राप्य क्रमाद्याति स निर्वृतिम् ।।३५
नियमेनोपवासं यस्त्वष्टम्यां कुरुते पुमान् । स्वाष्टकर्माणि हत्वा स भजेत्सारं गुणाष्टकम् ।।३६
सदाष्टम्युपवासस्य धर्मेण गृहनायकाः । अष्टादिदिनजं पापं हत्वा पुण्यं भजन्ति वै ।।३७

दिन स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त पापोंका त्याग कर मुनिके समान रह ।।२४।। इस प्रकार जो बुद्धिमान् वैराग्य धारण कर तथा हिंसा आदि समस्त पापोंका त्याग कर प्रोषधोपवास करते हैं वे असंख्यात पापोंको नष्ट करते हैं ।।२५।। जो उपवास धारण करके भी गृहस्थीके आरम्भ व्यापार आदिके समस्त पाप करते हैं उनका वह उपवास हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है—उस उपवाससे केवल खेद ही होता है, पाप नष्ट नहीं होते ।।२६।। इसलिये धीरवीर पुरुषोंको उपवासके शुभ दिनमें प्राण नष्ट होनेपर भी घर सम्बन्धी आरम्भादिक पाप कभी नहीं करना चाहिए ।।२७।। जो पुरुष पर्वके दिनोंमें भावपूर्वक उपवास धारण करते हैं वे स्वर्गके राज्यका उपभोग करके अन्तमें अवश्य मुक्ति स्त्रीके स्वामी होते हैं ।।२८।। जो चतुर्दशीके दिन नियमपूर्वक प्रोषधोपवास करता है वह चौदह गुणस्थानोंको पार कर मोक्षमें जा विराजमान होता है ।।२९।। चतुर्दशीके समान धर्म करने योग्य महा पवित्र और उपवास प्रोषधोपवास आदि करने योग्य उत्तम पर्व तीनों कालोंमें भी अन्य कोई नहीं हो सकता ।।३०।। जो चतुर्दशीके दिन चित्त लगाकर प्रोषधोपवास करता है वह सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर मुक्तिरूपी सर्वोत्तम स्त्रीके समीप जा पहुँचता है ।।३१।। जो प्रत्येक चतुर्दशीके दिन घर सम्बन्धी समस्त पापोंको छोड़कर उपवास करता है वह चतुर्दशीको उपवास करनेसे महा पुण्य उपार्जन करता है ।।३२।। बुद्धिमानोंको चतुर्दशीके दिन धारण किया हुआ उपवास प्राण नष्ट होनेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि चतुर्दशीके दिन धारण किया हुआ उपवास धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है ।।३३।। जो सम्यग्दृष्टि उत्तम पुरुष अष्टमीके दिन उपवास करते हैं वे आठों कर्मोंको नष्ट कर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ।।३४।। अष्टमीका दिन सबमें सारभूत है । उस दिन जो उत्तम प्रोषधोपवास करता है वह इन्द्रका साम्राज्य पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ।।३५।। जो पुण्य प्राप्त करनेके लिये अष्टमीके दिन नियमपूर्वक उपवास करता है वह अपने आठों कर्मोंको नष्ट कर सम्यक्त्वज्ञान दर्शन आदि सिद्धोंके सर्वोत्तम आठों गुणोंको धारण करता है ।।३६।। जो गृहस्थ अष्टमीके दिन उपवास धारण कर धर्म पालन करते हैं वे इस दिनके समस्त पापोंको नष्ट कर महा पुण्य उपार्जन करते हैं ।।३७।।

तस्मान्न प्रोषधस्त्याज्यस्तैरष्टम्यां च गृहान्वितैः । धर्मार्थकाममोक्षादिप्रदः प्राणात्यये क्वचित् ॥३८
इति मत्वा सदा सारमुपवासचतुष्टयम् । मासमध्ये कुरु त्वं हि धर्माय त्यज काम्यया ॥३९
कायसेवां प्रकुर्वन्ति शठाः सर्वदिनेषु ये । उपवासादिकं त्यक्त्वा मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥४०
अष्टम्यादिदिने सारे रमन्ते रामया सहः । तस्या अमेध्यमध्ये ते कृमियोनिं भजन्त्यघात् ॥४१
चतुर्दश्यादिकं पर्वव्रतं कुर्वन्ति ये न वै । दरिद्रत्वं च क्लीबत्वं ते भजन्ति भवे भवे ॥४२
इति मत्वा बुधैः कार्यं तपोऽनशनगोचरम् । पर्वादिषु विशिष्टेषु स्वर्मुक्तिश्रीवशीकरम् ॥४३
तपो मुक्तिपुरीं गन्तुं पाथेयं स्याद्धि पुष्कलम् । मुक्तिरामावशीकर्तुं तपो मन्त्रोऽङ्गिनां भवेत् ॥४४
तपः समीहितस्यैव दातुं कल्पद्रुमो भवेत् । तपश्चिन्तामणिर्ज्ञेयश्चिन्तितार्थप्रदोऽङ्गिनाम् ॥४५
तपः कामदुघाप्युक्ता कामितार्थप्रदा बुधैः । तपोनिधिश्च रत्नादि सर्ववस्त्वाकरो भवेत् ॥४६
तपः आकर्षणे मन्त्रं सर्वलोकस्थितश्रियाः । तपः औषधमेव स्याज्जन्मज्वरविघातने ॥४७
तपः कर्ममहारण्यदहने ज्वलनोपमम् । तपः पापमलापाये जलं प्रोक्तं गणाधिपैः ॥४८
तपो वज्रं जिनैरुक्तं दुरिताद्रिविखण्डने । तपोऽशुभमहाशत्रुं हन्तुं तीक्ष्णायुधोपमम् ॥४९
तपः सिंहो भवेद्दक्षो मत्तमातङ्गघातने । मनोमर्कटसंरोधे तपः पाशोऽङ्गिनां मतः ॥५०

इसलिये गृहस्थी पुरुषोंको प्राण नष्ट होनेपर भी अष्टमीके दिनका प्रोषधोपवास कभी नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि अष्टमीके दिन किया हुआ उपवास धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है ॥३८॥ इसलिये हे भव्य ! तू विना किसी इच्छाके केवल धर्मपालन करनेके लिये प्रत्येक महीनेमें सारभूत चार (दो अष्टमीके दो चतुर्दशीके) उपवास कर ॥३९॥ जो मूर्ख पर्वके दिनोंमें उपवासको छोड़कर कामसेवन करते हैं वे नरकरूपी महासागरमें अवश्य डूबते हैं ॥४०॥ जो सारभूत अष्टमीके दिन स्त्रीसेवन करते है वे उस पापकर्मके उदयसे मरकर विष्टाके कीड़ा होते है ॥४१॥ जो चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें व्रत नही करते वे भव-भवमें दरिद्री और नपुंसक होते है ॥४२॥ यही समझकर बुद्धिमानोंको पर्व आदिके विशेष दिनोंमें उपवास नामका तपश्चरण अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह पर्वके दिनोंमें किया हुआ उपवास स्वर्ग मोक्षरूपी लक्ष्मीको वश करनेवाला है ॥४३॥ यह उपवासजन्य तपश्चरण मुक्तिरूपी नगरमें जानेके लिये भरपूर पाथेय (मार्गमें खाने योग्य पदार्थ) है तथा यही उपवासरूपी तपश्चरण मुक्तिरूपी स्त्रीको वश करनेके लिये परम मन्त्र है ॥४४॥ यह उपवासरूपी तपश्चरण इच्छानुसार पदार्थोंके देनेके लिये कल्पवृक्ष है और यही तपश्चरण मनमें सोचे हुए पदार्थोंको देनेके लिये चिन्तामणि रत्नके समान है ॥४५॥ विद्वान् लोग इसी तपश्चरणको रत्न आदि समस्त पदार्थोंकी खानिभूत निधि कहते है ॥४६॥ तीनों लोकोंमें रहनेवाली लक्ष्मीको आकर्षण करने—अपनी ओर खीचनेके लिये यही उपवासरूपी तप परम मन्त्र है तथा जन्ममरण-रूपी ज्वरको दूर करनेके लिये यही उपवास परम औषध है ॥४७॥

कर्मरूपी महा वनको जला देनेके लिये यही तपश्चरण अग्निके समान है और पापरूपी मलको धोनेके लिये गणधर देवोंने इसी उपवासरूपी तपश्चरणको जलके समान बतलाया है ॥४८॥ पापरूपी पर्वतको चूर चूर करनेके लिये भगवान् जिनेन्द्रदेवने इसी तपको वज्र बतलाया है और यही तपश्चरण अशुभरूपी महा शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये तीक्ष्ण शस्त्रोंके समान है ॥४९॥ इन्द्रिय-रूपी मदोन्मत्त हाथीको मारनेके लिये यह तपश्चरण सिंहके समान है और मनरूपी बन्दरको रोकने वा वश करनेके लिये यही तपश्चरण जालके समान माना जाता है ॥५०॥ तपश्चरणसे

तपसालङ्कृतो धीमान् यद् यद् वस्तु समीहते । तत्तदेव समायाति त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ॥५१
एकचित्तेन यो धीमान् मुक्तिस्त्रीरञ्जिताशयः । तपः करोति तस्यैव किञ्चिल्लोके न दुर्लभम् ॥५२
ये बुधाः मुक्तिमापन्ना यान्ति यास्यन्ति निश्चितम् । केवलं तपसा तेऽपि नान्येन केन हेतुना ॥५३
हीने संहनने धीरा ये कुर्वन्ति तपोधनम् । स्वशक्ति प्रकटीकृत्य ते धन्या विदुषां मताः ॥५४
तीर्थनाथा ध्रुवं मुक्तिनाथा इन्द्रादिपूजिताः । तपः कुर्वन्ति तेऽत्यन्तं षण्मासावधिगोचरम् ॥५५
आदिश्रीजिनदेवोऽपि समं गणधरादिभिः । तपः करोति लोकेऽस्मिंस्तद्यन्यैः क्रियते न किम् ॥५६
तप्तं यथाग्निना हेमं शुद्धं भवति योगतः । जीवस्तपोऽग्निना तप्तः शुद्धो दृष्टयादियोगतः ॥५७
यद्वन्मलभृतं वस्त्रं शुद्धं नीरेण स्याद् ध्रुवम् । तपोजलेन धौतो हि जीवः शुद्धो भवेन्महान् ॥५८
ये तपो नैव कुर्वन्ति स्थूलदेहादिलम्पटाः । रोगक्लेशादिजं दुःखं ते लभन्ते भवे भवे ॥५९
तपोहीनो भवेद्रोगी दुःखदारिद्रचपीडितः । इहामुत्र महापापात् श्वभ्रतिर्यग्गतिं व्रजेत् ॥६०
तपोलंकारत्यक्तो यो लिप्तः पापमलादिभिः । तस्य दुःखं न शक्तोऽहं वक्तुं श्वभ्रादिगोचरम् ॥६१
तपो यो न विधत्ते ना कुर्याद्रागादिरोगतः । लङ्घनादिसमूहं स पक्षमासादिगोचरम् ॥६२

सुशोभित होनेवाला बुद्धिमान् तीनों कालोंमें उत्पन्न होनेवाले और तीनों लोकोंमें रहनेवाले जिन जिन पदार्थोंकी इच्छा करता है वे सब पदार्थ उसके समीप अपने आप आ जाते हैं ॥५१॥ जिसका हृदय मुक्तिरूपी स्त्रीमें आसक्त है ऐसा जो बुद्धिमान् पुरुष एकाग्रचित होकर तपश्चरण करता है उसके लिये इस संसारमें कोई पदार्थ दुर्लभ नही है ॥५२॥ जो बुद्धिमान् पहिले मोक्ष जा चुके हैं, अब जा रहे हैं अथवा आगे जायँगे वे केवल तपश्चरणसे ही गये हैं, तपश्चरणसे ही जा रहे हैं और तपश्चरणसे ही जायँगे। तपश्चरणके सिवाय अन्य किसी भी कारणसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता ॥५३॥ जो धीरवीर पुरुष अपनी शक्तिको प्रगट कर तपश्चरणरूपी धनका संग्रह करते हैं वे विद्वानोंके द्वारा इस संसारमें धन्य माने जाते हैं ॥५४॥ तीर्थंकर परमदेव होनहार मोक्षके स्वामी हैं और इन्द्रादिक सब उनकी पूजा करते हैं परन्तु वे भी दो दिन चार दिन महीने दो महीने वा छह छह महीनेतकके उपवासवाले तपश्चरणको करते हैं ॥५५॥ इस संसारमें भगवान् श्री ऋषभदेवने भी गणधरोंके साथ तपश्चरण किया था फिर भला अन्य लोगोंकी तो बात ही क्या है, उन्हें तो अवश्य करना चाहिए ॥५६॥ जिस प्रकार सुहागा आदिके संयोगसे अग्निके द्वारा तपाया हुआ सोना शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-संयोगसे तपरूपी अग्निके द्वारा तप्त हुआ यह जीव कर्ममल कालिमासे रहित होकर शुद्ध हो जाता है ॥५७॥ जिस प्रकार मैल लगा हुआ वस्त्र पानीसे धोनेपर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपरूपी जलसे धुल जानेपर अत्यन्त नीच पुरुष भी शुद्ध हो जाता है ॥५८॥ स्थूल शरीरमें आसक्त होकर जो पुरुष तपश्चरण नहीं करते वे पुरुष भव-भवमें रोग क्लेश आदिके बहुतसे दुःखोंको भोगते रहते है ॥५९॥ जो तपश्चरण नहीं करता वह इस लोकमें रोग दुःख और दरिद्रता आदिसे महादुःखी होता है तथा परलोकमे अनेक पापों का उपार्जन कर नरक और तिर्यंच गतिके अनेक दुखोंको भोगता है ॥६०॥ जिसने तपरूपी आभूषण छोड़ दिया है और जो पापरूपी मैलमें सदा आसक्त रहता है उसको मिलनेवाले नरक आदिके दुःखोंको हम लोग कह भी नहीं सकते हैं ॥६१॥ जो राग द्वेषरूपी रोगोंके कारण तपश्चरण नहीं करता उसे पन्द्रह पन्द्रह दिन महीने महीने भरके लंघन करने पड़ते है अथवा और भी ऐसे ही अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं ॥६२॥ तपश्चरणके विना यह मनुष्य पशु ही है इसमें कोई सन्देह

तपो विना पुमान् ज्ञेयः पशुरेव न संशयः । इहामुत्र भवेद् दुःखी सर्वाह्नि परिभक्षणात् ॥६३
इति मत्वा तपो मित्र ! स्वशक्त्या कुरु प्रत्यहम् । धीर त्वं प्रकटीकृत्य स्वकर्मक्षयहेतवे ॥६४
नियमेनैव यो दध्याच्चतुःपर्वसु प्रोषधम् । पञ्चातिचारनिष्क्रान्तः श्रयेत् त्रैलोकजं सुखम् ॥६५
भगवन्तो व्यतीपातान् दिशध्वं कृपया मम । प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं ते स्थिरं कृत्वा मनो हि तान् ॥६६
अदृष्टामृष्टव्युत्सर्गादानसंस्तरणानि स्युः । प्रोषधेऽनादरः प्रोक्तस्ततश्चास्मरणं भवेत् ॥६७
प्रमार्जनावलोकाभ्यां विना भूमौ हि यः क्षिपेत् । कायादिजं मलं दोषमुत्सर्गाख्यं लभेत ना ॥६८
विना यो दृष्टमृष्टाभ्यां वस्त्रं पूजादिवस्तु वा । क्षुत्पीडितोऽभिगृह्णाति चादानातिक्रमं श्रयेत् ॥६९
पिच्छिकानेत्रकर्मभ्यां विना रात्रौ प्रमादतः । विधत्ते संस्तरं योऽस्य संस्तरातिक्रमो भवेत् ॥७०
क्षुधादिपीडितो योऽपि पुमानावश्यकादिषु । अनादरं विधत्ते सः श्रयेद्दोषमनादरम् ॥७१
गृहकार्यादिसंसक्तो यः करोति न निश्चलम् । चित्तं कामार्थसंयुक्तं भजेदस्मरणं स ना ॥७२
कृत्वातिनिश्चलं चित्तं यो धत्ते प्रोषधं सुधीः । प्रमादानपि संत्यक्त्वा सोऽतीचारं लभेत न ॥७३

दुरितवनमहाग्निं धर्मवृक्षस्य मेघं, सकलसुखसमुद्रं दुःखदावाग्निवृष्टिम् ।
सुरशिवगतिमार्गं साधुलोकैः सुसेव्यं, भज विमलगुणाप्त्यै प्रोषधं पर्वसारे ॥७४

नहीं। उपवासरूपी तपश्चरणके विना लगातार सब दिन भक्षण करनेसे यह जीव अवश्य ही दुःखी होता है ॥६३॥ यही समझकर हे धीर वीर मित्र ! अपने कर्मोको नष्ट करनेके लिये अपनी शक्तिको प्रगट कर तू प्रतिदिन तपश्चरण कर ॥६४॥ जो पाँचों अतीचारोको छोड़कर प्रत्येक महीनेके चारों पर्वोमें नियमपूर्वक प्रोषधोपवास करता है वह तीनों लोकोंके समस्त सुखोको प्राप्त होता है ॥६५॥ प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर उन अतिचारोंको मेरे लिये निरूपण कीजिये ? उत्तर—हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं उन अतिचारोंका निरूपण करता हूँ ॥६६॥ अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग, अदृष्टमृष्ट आदान, अदृष्टमृष्ट संस्तरोपकरण, प्रोषधमें अनादर और अस्मरण ये पाँच प्रोषधोपवासके अतिचार गिने जाते हैं ॥६७॥ जो विना देखे विना शोधे अपने काममें आने योग्य जल आदिको पृथ्वीपर रख देता है उसके अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग नामका दोष लगता है ॥६८॥ जो मनुष्य क्षुधासे पीड़ित होकर वा अन्य किसी कारणसे विना देखे विना शोधे वस्त्र वा पूजाके पदार्थोंको ग्रहण करता है उसके अदृष्टमृष्टदान नामका अतिचार लगता है ॥६९॥ जो मनुष्य प्रमादके कारण रात्रिमें पीछेसे विना शोधे वा नेत्रोंसे विना देखे बिछौना वा माँथरा (सोनेके लिये चटाई आदिका बिछाना) करता है उसके अदृष्टमृष्ट संस्तरोपकरण नामका अतिचार लगता है ॥७०॥ जो मनुष्य क्षुधासे पीड़ित होकर (भूखसे घबड़ाकर) आवश्यक आदि कार्योंमें अनादर करता है उसके अनादर नामका दोष लगता है ॥७१॥ अपने हृदयको घरके काममें आसक्त रखनेवाला अथवा काम अर्थ इन दो ही पदार्थोंमें हृदयको आसक्त रखनेवाला जो पुरुष अपने चित्तको निश्चल नहीं करता है उसके अस्मरण नामका दोष लगता है। (जिसका चित्त निश्चल नहीं है उससे भूल हो जाना स्वाभाविक ही है इसलिये चित्तका स्थिर न रहना ही अस्मरण कहलाता है।) ॥७२॥ जो बुद्धिमान् समस्त प्रमादोंको छोड़कर और अपने हृदयको निश्चल कर प्रोषधोपवास करता है उसके कोई अतिचार नहीं लग सकता ॥७३॥ यह प्रोषधोपवास पापरूपी वनको जलानेके लिये महा अग्नि है, धर्मरूपी वृक्षको बढ़ानेके लिये मेघकी धारा है, समस्त सुखोंका सागर है, दुःखरूपी दावानल अग्निको शान्त करनेके लिये पानीकी वर्षा है, स्वर्ग मोक्षका कारण

अमलगुणनिधानं स्वान्तसर्पस्य मन्त्रं, विषयवनदवाग्नि कर्मकक्षे कुठारम् ।
सकलभुवनपूज्यं तीर्थनाथैः प्रणीतं, बुध भज परिमुक्त्यै चोपवासं सदा त्वम् ॥७५

स्वर्गश्रीरुपयाति तं च विमला मुक्तिस्तमालोक्यते,
सद्वाणी स्वयमेव कीर्तिरतुला राज्यादिलक्ष्मीः ध्रुवम् ।
दुर्दान्तेन्द्रियमत्तहस्तिहनने सिंहोपमं धर्मदं
पापारिक्षयदं बुधो हि कुरुते यः प्रोषधं पर्वसु ॥७६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे प्रोषधोपवासप्ररूपको नाम एकोनविंशतिमः परिच्छेदः ॥१९॥

●

है और साधु लोग भी इसकी सेवा करते हैं इसलिये हे भव्य ! निर्मल गुणोंको प्राप्त करनेके लिये सारभूत पर्वके दिनोंमें तू इस प्रोषधोपवासको धारण कर ॥७४॥ यह प्रोषधोपवास निर्मल गुणोंका निधान है, अपने हृदयरूपी सर्पको वश करनेके लिये महामन्त्र है, विषयरूपी वनको जला देनेके लिये दावानल अग्नि है, कर्मरूपी वनको काटनेके लिये कुठार है, तीनों लोक इसकी पूजा करता है और तीर्थंकर परमदेवने इसका निरूपण किया है। इसलिये हे विद्वन् ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इस प्रोषधोपवासको सदा धारण कर ॥७५॥ यह प्रोषधोपवास किसीके वश न होनेवाली इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हाथीको मारने वा वश करनेके लिये सिंहके समान है, धर्मको प्रगट करनेवाला वा देनेवाला है और समस्त पापोंको नाश करनेवाला है इसलिये जो बुद्धिमान् प्रत्येक पर्वके दिनोंमें इस प्रोषधोपवासको धारण करता है उसके समीप स्वर्गकी लक्ष्मी अपने आप आ जाती है, निर्मल मुक्ति भी उसे सदा देखती रहती है, श्रेष्ठ वाणी वा सरस्वती अपने आप आ खड़ी होती है, उसकी कीर्ति चारों ओर फैल जाती है और अनुपम मोक्षरूपी राज्यकी लक्ष्मी उसे अवश्य प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थोंको पर्वके दिनोंमें अवश्य प्रोषधोपवास करना चाहिए ॥७६॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें प्रोषधोपवासको निरूपण करनेवाला यह उन्नीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१९॥

●

बीसवाँ परिच्छेद

महाव्रतधरं धीरं वन्देऽहं मुनिसुव्रतम् । अनेकव्रतसन्दानप्रणीतं पुण्यहेतवे ॥१
शिक्षाव्रतं तृतीयं च व्याख्याय कथयाम्यहम् । चतुर्थं दानसञ्ज्ञातं स्वस्यान्यस्य हिताय वै ॥२
आहारं चौषधं शास्त्रदानं वसतिका जिनैः । चतुर्धा गृहिणां दानं प्रणीतं पुण्यहेतवे ॥३
ज्ञात्वा दानं तथा पात्रं विधिं स्वर्मुक्तिप्राप्तये । चतुर्विधं महादानं दधीध्वं गृहनायकाः ॥४
उत्कृष्टमध्यनिकृष्टैर्भजन्ति पात्रतां भुवि । मुनिश्रावकसद्दृष्टिर्जनाः दर्शनशालिनः ॥५
सर्वसङ्गपरित्यक्ताः उक्ता सद्वृत्तगुप्तिभिः । धीरवीरास्तपस्तप्ता सुखसंस्कारवर्जिताः ॥६
मलेन लिप्तसर्वाङ्गास्त्यक्तदेहाः सुदुर्लभाः । तपसा क्षामसर्वाङ्गाः परीषहसहा वराः ॥७
मूलोत्तरगुणाढ्याश्चाप्यसंख्यगुणसागराः । लाभालाभे समा धीरा निन्दास्तुतिपराङ्मुखाः ॥८
तृणहेमादिसंतुल्याः संसारं दुःखवारिधिम् । स्वयं तरन्ति भव्यानां क्षमास्तारयितुं बुधाः ॥९
कृतादिभिर्महादोषैस्त्यक्ताहारावलोकिनः । उच्चनीचगृहेष्वेव प्रविश्यन्तोऽतिनिस्पृहाः ॥१०
इन्द्रियादिजये शूराः सर्वजीवहितप्रदाः । रत्नत्रयसमायुक्ता ज्ञानध्यानपरायणाः ॥११
सदेर्यापथसन्नेत्रा ये मुनीन्द्राः शुभाशयाः । रागद्वेषमदोन्मादभयमोहादिवर्जिताः ॥१२

जो महाव्रतोंको धारण करनेवाले है, धीरवीर है और अनेक व्रतोंको प्रदान करनेमें समर्थ है ऐसे श्री मुनिसुव्रत भगवान्को मै पुण्य उपार्जन करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ऊपरके परिच्छेदमें प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रतका व्याख्यान कर चुके । अब आगे अपने और दूसरोंके हित के लिये चौथे दान वा वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतको कहते हैं ॥२॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने गृहस्थोंको पुण्य सम्पादन करनेके लिये आहारदान, औषधदान, शास्त्रदान और वसतिका दान ऐसे चार प्रकारका दान बतलाया है ॥३॥ गृहस्थोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये दान, पात्र और विधि-को जानकर चारो प्रकारका महादान देना चाहिए ॥४॥ इस संसारमें पात्र तीन प्रकारके है— उत्तम, मध्यम और जघन्य । मुनि उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है और असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं ॥५॥ जो मुनिराज बाह्य आभ्यन्तर सब तरहके परिग्रहोंसे रहित हैं, जो श्रेष्ठ व्रत और गुप्तियोंसे शोभायमान है, धीरवीर आदि अनेक प्रकारके तपश्चरण करनेवाले है, जो सुखके सब संस्कारोंसे रहित है, धूल मिट्टी आदि मैलसे जिनका समस्त शरीर लिप्त हो रहा है, जिन्होंने अपने शरीरसे ममत्व छोड़ दिया है, जो संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है, तपश्चरणसे जिनका सब शरीर कृश हो रहा है, जो परीषह सहन करनेमे चतुर हैं, मूलगुण उत्तरगुणोसे सुशोभित हैं, असंख्यात गुणोंके सागर हैं, लाभ अलाभमें जिनके परिणाम एकसे रहते है, जो धीरवीर हैं, जो निन्दा स्तुति दोनोंसे प्रतिकूल है, तृण सुवर्ण दोनोंमें समान भाव रखते है, जो अनेक दुःखोंके सागर ऐसे संसारको स्वयं तरते है और दूसरोंको तार देने—पार कर देनेमें समर्थ है, जो कृत कारित अनुमोदना आदिके द्वारा किये हुए दोषोंसे सर्वथा रहित है, जो आहार करनेके लिये उच्चकुली नीचकुली सबके घर विना किसी इच्छाके प्रवेश करते है, जो इन्द्रियोंको जीतनेमें शूरवीर है, सब जीवोंका हित करने-वाले है, रत्नत्रयसे सुशोभित है, ज्ञान ध्यानमें सदा तल्लीन रहते है, जिनके नेत्र सदा ईर्यापथमें लगे रहते है, जिनका हृदय शुभ है, जो राग द्वेष मोह मद उन्माद भय आदि विकारोंसे रहित हैं,

तानेवोत्तमसत्पात्रान् विद्धि त्वं मुनिनायकान् । दानयोग्यान् महापूज्यान् दातृसन्तारकान् भुवि ॥१३
सम्यक्त्वादिगुणोपेतान् श्रावकव्रततत्परान् । धर्मसंवेगसंयुक्तान् सत्प्रोषधविधायिनः ॥१४
देवगुर्वादिसम्भक्तान् दानपूजादिकारकान् । विद्धि त्वं श्रावकानेन पात्रमध्यमसंज्ञकान् ॥१५
सम्यग्दर्शनसंशुद्धा भक्ताः श्रीजिनशासने । पूजादितत्परा लोके संवेगादिविभूषिताः ॥१६
तत्त्वज्ञानादिश्रद्धानयुक्ता येऽष्टगुणान्विताः । ते एव पात्रतां प्राप्ता जघन्याख्यं सुदृष्टयः ॥१७
शुद्धं सत्प्रासुकं स्निग्धं कृतादिदोषवर्जितम् । तपो वृद्धिकरं सारं त्यक्तमिश्रसचित्तकम् ॥१८
कुटुम्बकारणोत्पन्नमन्नदानं सुखप्रदम् । स्वयमागतपात्राय दातव्यं गृहनायकैः ॥१९
श्रद्धा शक्तिश्च सद्भक्तिरलुब्धत्वं दया क्षमा । विज्ञानं सद्गुणा उक्ता दातॄणां हि मुनीश्वरैः ॥२०
प्रतिग्रहो मुनीन्द्राणामुच्चस्थानं तथैव च । पादप्रक्षालनं पूजा प्रणामश्चैकचित्ततः ॥२१
कायवाङ्मनसां शुद्धिरेषणाशुद्धिरेव हि । विधेर्नव सुभेदाः स्युर्गृहिणां पुण्यहेतवे ॥२२
संसप्तगुणयुक्तेन दानमाहारसंज्ञकम् । नवपुण्यान्वितेनैव देयं पात्राय भक्तितः ॥२३
प्रासुकं सर्वहिंसादित्यक्तं योग्यं सुखप्रदम् । लोकनिन्दाविनिष्क्रान्तं सर्वामयविनाशकम् ॥२४
व्याधिग्रस्तमुनीन्द्राय चौषधं श्रावकोत्तमैः । ज्ञात्वा रोगं प्रदातव्यं तद्व्याध्याद्युपशान्तये ॥२५
विश्वतत्त्वादिसम्पूर्णं लोकालोकप्रकाशम् । जिनेश्वरमुखोत्पन्नं ग्रथितं गौतमादिभिः ॥२६

जो दान देने योग्य हैं, महा पूज्य हैं, और दाताओंको संसारसे पार कर देनेवाले है ऐसे मुनिराजोंको ही तू उत्तम पात्र समझ ॥६-१३॥ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सुशोभित हैं, श्रावकोंके धर्मको पालन करनेमें सदा तत्पर रहते है, धर्म और संवेग (संसारसे डर) से सुशोभित हैं, प्रोषधोपवास आदि आवश्यक क्रियाओंको करनेवाले हैं, देव गुरु शास्त्रके भक्त हैं, और और दान पूजा आदि कर्तव्यकर्मोंको सदा पालन करते हैं, ऐसे श्रावकको तू मध्यम पात्र समझ ॥१४-१५॥ जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं, श्री जिनेन्द्रदेवके शासनके भक्त हैं, जो पूजा प्रतिष्ठा आदि करनेमें तत्पर है, सवेग आदि गुणोंसे सुशोभित हैं, जिनको सातों तत्त्वोंका वा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानादिका पूर्ण श्रद्धान है और जो आठ मूलगुणोंसे विभूषित हैं ऐसे असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र गिने जाते है ॥१६-१७॥ गृहस्थोंको अपने आप आये हुए पात्रोंके लिये शुद्ध, प्रासुक, चिकना वा मुलायम, कृत कारित अनुमोदना आदि दोषोंसे रहित, तपश्चरणको बढ़ानेवाला, सचित्त-रहित, सचित्तकी मिलावटसे रहित, सारभूत, सुख देनेवाला और जो कुटुम्बी आदिके लिये बनाया गया हो ऐसा आहार दान देना चाहिये ॥१८-१९॥ मुनिराजोंने श्रद्धा, भक्ति, शक्ति, अलुब्धता, दया, क्षमा और विज्ञान ये सात दाताओंके श्रेष्ठ गुण बतलाये है ॥२०॥ मुनियोंका पडगाहन करना, उनको ऊँचा आसन देना, उनके चरणकमल धोना, पूजा करना, चित्त लगाकर प्रणाम करना, मनको शुद्ध रखना, वचनको शुद्ध रखना, शरीरको शुद्ध रखना और आहारकी शुद्धि रखना ये नौ गृहस्थोंको पुण्य बढ़ानेवाले दानकी विधिके भेद कहलाते हैं इन्हींको नवधाभक्ति कहते हैं ॥२१-२२॥ नवधा भक्ति करनेवाले और ऊपर लिखे हुए सातों गुणोंसे सुशोभित गृहस्थोंको भक्तिपूर्वक उत्तम पात्रोंके लिये प्रासुक, हिंसादिक समस्त पापोंसे रहित योग्य सुख देनेवाला, लोकनिन्दासे रहित और समस्त रोगोंको दूर करनेवाला आहार दान देना चाहिए ॥२३-२४॥ उत्तम गृहस्थोंको किसी मुनिराजको रोगी जानकर उस रोगको शान्त करनेके लिये उन्हें औषधि दान देना चाहिए ॥२५॥ इसी प्रकार बुद्धि और संवेगको धारण करनेवाले ज्ञानी मुनियोंके लिये विवेकी गृहस्थोंको ज्ञानदान देना चाहिए तथा समस्त तत्त्वोंके कथनसे भरे हुए, लोक अलोकको

आचारसूचकं सारं मुनीनां गृहिणामपि । द्रव्याणां गुणपर्यायभेदाभेदप्ररूपकम् ॥२७
पूर्वापरविरुद्धादिदोषदूरं विवेकिभिः । ज्ञानिनो हि सुपात्राय बुद्धिसंवेगशालिने ॥२८
ज्ञानदानं प्रदातव्यं पुस्तकं वा मुनीश्वरैः । गृहस्थैः स्वोपकाराय पात्राज्ञानादिहानये ॥२९
शीतवातादिसंत्यक्ता शून्यगृहमठादिका । सूक्ष्मजीवादिनिर्मुक्ता कारितादिविवर्जिता ॥३०
स्वभावनिर्मिता सारा देया वसतिकाऽमला । गृहस्थैः सारपात्राय धर्मध्यानादिसिद्धये ॥३१
मृत्यवादिभयभीतेभ्यस्त्रस्तेभ्योऽपि निरन्तरम् । दुःखशोकादिग्रस्तेभ्यः स्थावरेभ्योऽपि सुपुण्यदम् ॥३२
अभयाख्यं महादानं सर्वजीवेभ्य एव हि । दातव्यं व्रतशुद्धयै सद्गृहस्थैर्मुनिनायकैः ॥३३
आहारदानतः सम्यग्ज्ञानवृत्तादयो गुणाः । वृद्धि यान्ति यतीशानां यथानन्दाः सुध्यानतः ॥३४
वपुः स्थिरं भवेन्नूनं व्युत्सर्गादितपोगुणे । आहारदानयोगेन मुनीनां पर्वतादिवत् ॥३५
प्राणास्तिष्ठन्ति नश्येच्च क्षुधादिजनिता व्यथा । अन्नात्सत्पात्रवृन्दानां यथा रोगो वरौषधात् ॥३६
आहारेण विना किंचित्तपोवृत्तादिकं मुनिः । अनुष्ठातुं न शक्नोति त्यक्तग्रासो यथा गजः ॥३७
आहारबलसामर्थ्यात्तपः सर्वे यतीश्वराः । आचरन्ति महाघोरं ग्रासपुष्टा गजा इव ॥३८
तस्माद् दत्तो वराहारो येन पात्राय भावतः । सर्वं यमादिकं तेन दत्तं ज्ञानादिभिः समम् ॥३९

प्रकाशित करनेवाले, भगवान जिनेन्द्रदेवके मुखसे उत्पन्न हुए, गौतमादि गणधरोंके द्वारा गूँथे हुए गृहस्थ व मुनियोंके चारित्रको निरूपण करनेवाले, द्रव्योंके गुण पर्यायोंके द्वारा होनेवाले भेद अभेदोंको प्रगट करनेवाले तथा पूर्वापर विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित ऐसे शास्त्र अपना उपकार करनेके लिये और पात्रोंका अज्ञान दूर करनेके लिये अवश्य देने चाहिए। यह ज्ञान दान वा शास्त्र दान गृहस्थ भी मुनियोंके लिये करते है तथा मुनि भी परस्पर एक दूसरेके लिये करते है ॥२६–२९॥ इसी प्रकार उत्तम पात्रोंको धर्मध्यानादिकी सिद्धिके लिये गृहस्थोंको ऐसी वसतिकाका दान देना चाहिए जिसमें शीत वायु आदि न जा सके, जो सूने घरके रूपमें हो वा सूने मठके रूपमें हो, जिसमे सूक्ष्म जीवोंका निवास न हो, जो कारित आदि दोषोंसे रहित हो, स्वभावमे बनी हो, अच्छी हो और निर्मल हो। ऐसे वसतिकाका दान मुनियोंके लिये अवश्य देना चाहिए ॥३०–३१॥ श्रेष्ठ गृहस्थोंको अथवा मुनियोंको अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये पुण्य बढानेवाला अभयदान नामका महादान देना चाहिए और वह ऐसे जीवोंको देना चाहिए जो मृत्युके भयसे भयभीत हों, जो सदा दुःखी रहते हों और दुःख शोक आदिके फन्देमें पड़ गये हों, ऐसे त्रस वा स्थावर जीवोंको भी वह अभयदान देना चाहिए ॥३२–३३॥

आहारदान देनेसे मुनियोंके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणोंकी वृद्धि होती है और फिर उत्तम ध्यान होनेसे उनके आत्मानुभवका आनन्द आया करता है ॥३४॥ आहारदानके सम्बन्धसे मुनियोंका शरीर कायोत्सर्ग आदि गुणरूप तपश्चरणमे पर्वतके समान स्थिर हो जाता है ॥३५॥ जिस प्रकार उत्तम औषधिसे रोग नष्ट हो जाते हैं और प्राण बच रहते हैं उसी प्रकार आहारसे उत्तम पात्रोंकी क्षुधा आदिक व्याधियाँ दूर हो जाती हैं और उनके प्राण बने रहते हैं ॥३६॥ जिस प्रकार आहार छोड़ देनेपर हाथी कुछ नही कर सकता, उसी प्रकार विना आहारके मुनि भी तपश्चरण, चारित्र, ध्यान आदि कुछ नही कर सकते ॥३७॥ जिस प्रकार भोजनसे पुष्ट हुआ हाथी सब कुछ कर सकता है उसी प्रकार समस्त मुनिराज आहारके बलकी सामर्थ्यसे ही महा घोर तपश्चरण करते हैं ॥३८॥ इसलिये जिसने भावपूर्वक उत्तम पात्रके लिये श्रेष्ठ आहार

पात्रदानं जिनाः प्राहुः पोतं संसारसागरे। गृहस्थानां महाघोरे दुःखमीनाकुले वरे ॥४०
महाहिंसादिजे पापकर्मेन्धनसमुत्करे। जगुः सुपात्रदानं हि बुधाः सञ्ज्वलनोपमम् ॥४१
पापं विलीयते दानाद् हस्ते न्यस्तांबुवत्क्षणम्। वर्द्धते च महापुण्यमिंदुयोगेन वार्धिवत् ॥४२
जायते च महासौख्यं ध्यानजातमिवाङ्गिनाम्। दुःखं पलायते दानात् प्रभाते तस्करादिवत् ॥४३
वृद्धिं यान्ति गुणाः सर्वे दोषा यान्ति पुनः क्षयम्। कीर्तिरालिङ्गनं दत्ते कुकीर्तिर्नाशमिच्छति ॥४४
लक्ष्मीः सम्मुखमायाति स्वभार्येव कृतादरा। दारिद्रयं च विनश्येच्च यथा व्याधिर्वरौषधात् ॥४५
सञ्जायन्ते महाभोगाः सर्वेन्द्रियसुखप्रदाः। सर्वे रोगा विनश्यन्ति कृत्स्नदुःखप्रदा भुवि ॥४६
उत्तमाचारमायाति दुराचारं न तिष्ठति। महासत्पात्रदानेन श्रावकाणां विवेकिनाम् ॥४७
गृहस्थतापि दानेन भवेद्गुणवती नृणाम्। पूज्यपात्रोपकारश्च यथा सञ्जायतेतराम् ॥४८
यादृशं पात्रदानेन महत्पुण्यं भवेन्नृणाम्। तादृशं च व्रते नैव जीवघातादिदूषिते ॥४९
धन्यास्ते सद्गृहे येषां समायान्ति मुनीश्वराः। आहारार्थं महापूज्या इन्द्रचक्रधरादिभिः ॥५०
पात्रदानानुमोदेन तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः। भोगभूमौ सुखं भुक्त्वा परमाह्लादकारणम् ॥५१
वारैकदानयोगेन दृष्टिहीना नरा गताः। देवालयं सुखं भुक्त्वा भोगभूम्यादिजं सुखम् ॥५२
महापात्रस्य दानेन दर्शनादिविभूषिताः। अच्युताख्यं बुधा नाकं प्रगच्छन्ति सुखाकरम् ॥५३

दिया उसने ज्ञानादिकके साथ-साथ यम नियम आदि सब कुछ दिया ॥३९॥ यह संसार अनेक दुःखरूपी मगरमच्छोंसे भरा हुआ महा घोर सागर है इससे पार होनेके लिये गृहस्थोंको एक पात्र दान ही जहाज है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥४०॥ विद्वान् लोग इस पात्र दानको महा हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए पापकर्मरूपी ईंधनके समूहको जलानेके लिये अग्निके समान बतलाते है ॥४१॥ जिस प्रकार हाथकी अंजलिमें रक्खा हुआ जल क्षणभरमें नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इस पात्रदानसे सब पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते है और जिस प्रकार चन्द्रमाके निमित्तसे समुद्र बढ़ता है उसी प्रकार इस पात्रदानसे महापुण्य बढ़ता रहता है ॥४२॥ इस पात्रदानसे प्राणियोंको महासुखकी प्राप्ति होती है और जिस प्रकार सवेरेके समय चोर भाग जाते है उसी प्रकार इस पात्रदानसे सब दुःख भाग जाते है ॥४३॥ विवेकी श्रावकोंको उत्तम पात्रोंके लिये श्रेष्ठ दान देनेसे गुण सब बढ़ते रहते हैं और दोष सब नष्ट हो जाते हैं, कीर्ति अपने आप आकर आलिंगन करती है, अपकीर्त्ति स्वयं नष्ट होना चाहती है, लक्ष्मी अपनी स्त्रीके समान आदरपूर्वक अपने आप सामने आती है, जिस प्रकार औषधिसे व्याधि नष्ट हो जाती है उसी प्रकार दरिद्रता सब नष्ट हो जाती है, समस्त इन्द्रियोंको सुख देनेवाले महा भोगोंकी प्राप्ति होती है, अनेक दुःख देनेवाले रोग सब नष्ट हो जाते हैं, सदाचार आ जाता है और दुराचार अपने आप नष्ट हो जाता है ॥४४-४७॥ आहारदान देनेसे जिस प्रकार पूज्य पात्रोंका अत्यन्त उपकार होता है उसी प्रकार सातों गुणोंसे सुशोभित गृहस्थ मनुष्योंका उपकार भी दानसे ही होता है ॥४८॥ उत्तम पात्रोंको दान देनेसे मनुष्योंको जैसे महापुण्यकी प्राप्ति होती है वैसे पुण्यकी प्राप्ति अन्य व्रत आदि किसीसे नही होती, क्योंकि उनमें भी जीव घात होनेकी सम्भावना है ॥४९॥ संसारमें वे मनुष्य धन्य है जिनके घर इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि सबके द्वारा महा पूज्य मुनिराज आहारके लिए आते हैं ॥५०॥ इस पात्रदानकी केवल अनुमोदना करनेसे अनेक तिर्यंच भी परम आनन्दको देनेवाले भोग भूमिके सुख भोगकर स्वर्गमें जा उत्पन्न हुए हैं ॥५१॥ जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे भी केवल एक बार पात्रोंको दान देनेसे भोग-भूमिके सुख भोगकर स्वर्गमें देव हुए हैं ॥५२॥ जो

लभन्ते पात्रदानेन इन्द्रचक्रधरादिजान् । दक्षा भोगांश्च लोकेऽस्मिन् तीर्थराजनिषेवितान् ॥५४
यथा शिल्पी व्रजेदूर्ध्वं कृतगेहादिभिः समम् । तथा दानोच्चपात्रेण समं दानादियोगतः ॥५५
पुंसां कल्पांह्रिपचिन्तामणिकामदुघादयः । मनोऽभिलषितं भोगं प्रदद्युर्भुवि दानतः ॥५६
किमत्र बहुनोक्तेन पात्रदानप्रभावतः । भुक्त्वा नृदेवजं सौख्यं यान्ति मुक्ति क्रमाद् बुधाः ॥५७
औषधाख्येन दानेन नश्येद्रोगकदम्बकम् । मुनीनां त्यक्तसङ्गानां स्वस्थं सञ्जायते वपुः ॥५८
ततः संज्ञानवृत्तादि सर्वमाचरितुं क्षमः । भवेन्मुनिस्ततो गच्छेत्स्वर्गमुक्तिगृहादिकम् ॥५९
तस्मादौषधदानेन महत्पुण्यं भवेन्नृणाम् । त्यक्तरोगं शरीरं च लावण्यादिविभूषितम् ॥६०
ज्ञानदानेन पात्राणामज्ञानं प्रपलायते । जायते च महज्ज्ञानं लोकाग्रपथदीपकम् ॥६१
ज्ञानात्सद्ध्यानवृत्तादि सर्वं यमकदम्बकम् । आचरित्वा व्रजेन्मुक्ति मुनिः सर्वसुखाकराम् ॥६२
ज्ञानपोतं समारूढः संसाराब्धिदुस्तरम् । स्वयं तरति भव्यानां तारयेच्च मुनीश्वरः ॥६३
ज्ञानहीनो न जानाति कृत्याकृत्यं शुभाशुभम् । हेयाहेयं विवेकं च बन्धमोक्षादिकं मुनिः ॥६४
तस्माद् ज्ञानं महादानं यः पात्राय ददाति ना । बहुभव्योपकारत्वात्तस्य पुण्यं न वेद्म्यहम् ॥६५
मनोज्ञां सुस्वरां वाणीं मधुरां कर्णसौख्यदाम् । कवित्वं चैव पाण्डित्यं वादित्वं च प्रतापताम् ॥६६

पुरुष सम्यग्दर्शनसे विभूषित हैं वे बुद्धिमान् महापात्रोको दान देनेसे सुखकी खानि ऐसे अच्युत स्वर्गमें उत्तम देव होते है ॥५३॥ उत्तम पात्रोंको दान देनेसे चतुर पुरुषोंको इस संसारमें इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदिके द्वारा सेवन करने योग्य उत्तम भोग प्राप्त होते हैं ॥५४॥ जिस प्रकार मकान बनानेवाला कारीगर ज्यों-ज्यो मकान बनाता जाता है त्यों-त्यों ऊँचा चढ़ता है उसी प्रकार दान देनेवाला गृहस्थ जैसे-जैसे उत्तम पात्रोंको दान देता है वह उस दानके प्रभावसे वैसा ही उत्तम वा उच्च होता जाता है ॥५५॥ इस संसारमें दान देनेसे ही मनुष्योंको कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु आदि इच्छानुसार भोग देते है ॥५६॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि इस पात्रदानके ही प्रभावसे बुद्धिमान् लोग मनुष्य और देवोंके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते है ॥५७॥ इसी प्रकार औषधदानसे समस्त परिग्रहोंका त्याग करनेवाले मुनियोंके सब रोग नष्ट हो जाते है और उनका शरीर स्वस्थ हो जाता है ॥५८॥ शरीर स्वस्थ होनेसे ही वे मुनिराज सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण करनेमें समर्थ होते हैं और फिर उस सम्यग्ज्ञान वा सम्यक्चारित्रके प्रभावसे वे स्वर्ग मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥५९॥ इसलिये औषधदानसे मनुष्योंको महापुण्यकी प्राप्ति होती है, उनका शरीर सदा नीरोग रहता है और लावण्यता आदिसे सुशोभित रहता है ॥६०॥ ज्ञान दान देनेसे मुनियोंका वा पात्रोंका अज्ञान दूर होता है और मोक्षमार्गको दिखानेवाला महाज्ञान प्रगट होता है ॥६१॥ सम्यग्ज्ञानके कारण ही मुनि श्रेष्ठ ध्यान, चारित्र, यम, नियम आदि सबको पालनकर समस्त सुखोंकी निधि ऐसे मोक्षमें जा विराजमान होते है ॥६२॥ मुनिराज ज्ञानरूपी जहाजपर बैठकर अत्यन्त कठिनतासे पार करने योग्य इस संसाररूपी महासागरसे स्वयं पार हो जाते है और अन्य कितने ही भव्य जीवोंको पार कर देते हैं ॥६३॥ जो मुनि ज्ञान-रहित हैं वे करने योग्य, न करने योग्य, शुभ, अशुभ, हेय, उपादेय, विवेक, बन्ध, मोक्ष आदि कुछ नहीं जानते हैं ॥६४॥ इसलिये जो मनुष्य पात्रोंके लिये (मुनिराजोंके लिये) ज्ञानदानरूपी महादान देते है वे अनेक भव्योंका उपकार करते हैं, अतएव उनके उपार्जन किये हुए पुण्यको हम लोग जान भी नही सकते ॥६५॥ उत्तम विद्वान् इस ज्ञानदाता-के प्रतापसे इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें मनोहर, मुस्वर, मधुर और कानोंको सुख

समस्तशास्त्रविज्ञानं मतिबाहुल्यमेव च । अवधिं षड्विधं द्वेधा मनःपर्ययसंज्ञकम् ॥६७
कलाविज्ञानकौशल्यं लोकचेष्टादिकं तथा । लभन्ते ज्ञानदानेन चेहामुत्र बुधोत्तमाः ॥६८
शास्त्रदानेन सारेण द्वादशाङ्गमहोदधेः । व्रजन्ति ज्ञानिनः पारं संसारस्य क्रमात् पुनः ॥६९
केवलज्ञानसाम्राज्यं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् । ज्ञानदानप्रसादेन लभन्ते सुधियो भुवि ॥७०
ज्ञानदानप्रभावेन विभूतिं गौतमादिजाम् । प्राप्य हत्वा स्वकर्माणि बुधा यान्ति परं पदम् ॥७१
श्रुतज्ञानप्रदानेन लब्ध्वा नाकं महाग्रिमम् । सद्राज्यं केवलं चापि यान्ति मोक्षं नरोत्तमाः ॥७२
यो ना वसतिकां दत्ते सत्पात्राय सुखाप्तये । उच्चैर्गेहं विमानं स चेहामुत्र श्रयेत्स्फुटम् ॥७३
प्राप्य वसतिकां सारां ध्यानं वाध्ययनं तपः । मुनिः संहनने हीने कर्तुं शक्नोति नान्यथा ॥७४
वज्रकाया महाधैर्या महासत्त्वा शुभाशयाः । परीषहसहा धीरा ह्याद्विसंहननान्विताः ॥७५
ध्यानाध्ययनकर्मादि सर्वं गिरिगुहादिषु । भवन्ति मुनयः कर्तुं समर्थास्त्यक्तदेहिनः ॥७६
तस्माद्वसतिकादानं यः पात्राय ददाति ना । सारं गेहं विमानं च प्राप्य मुक्त्यालयं व्रजेत् ॥७७
सर्वाङ्गिभ्योऽभयं दानं वरिष्ठं यो ददाति सः । नृदेवजं सुखं भुक्त्वा निर्भयं स्थानमाप्नुयात् ॥७८
अभयाख्येन दानेन विना दानचतुष्टयम् । व्यर्थं भवति लोकानां तपोहीनं यथा वपुः ॥७९

देनेवाली वाणी प्राप्त करते हैं। कविता करना, पांडित्य प्राप्त करना, वादी होना, प्रतापी होना, समस्त शास्त्रोंका सबसे अधिक ज्ञान होना, छह प्रकारका अवधिज्ञान प्राप्त होना, दोनों प्रकारका मनःपर्यय प्राप्त होना, कला विज्ञान आदिमें कुशल होना, समस्त लौकिक व्यवहारका प्राप्त होना आदि सब ज्ञानदानके ही प्रतापसे प्राप्त होता है ॥६६-६८॥ इस सारभूत ज्ञानदानके प्रतापसे ज्ञानी पुरुष द्वादशांग, श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पार हो जाते हैं और फिर वे अनुक्रमसे इस संसारके भी पार हो जाते हैं ॥६९॥ बुद्धिमान् लोग इस संसारमें ज्ञानदानके ही प्रसादसे तीनों लोकोंको क्षोभित करनेका कारण ऐसे केवलज्ञानरूपी साम्राज्यको प्राप्त होते हैं ॥७०॥ बुद्धिमान् लोग इस ज्ञानदानके ही प्रभावसे गौतमादि गणधरोंकी विभूति पाकर तथा समस्त कर्मोंको नाशकर मोक्षरूपी परमपदमें जा विराजमान होते हैं ॥७१॥ उत्तम मनुष्य इस ज्ञानदानके ही प्रसादसे सबसे अन्तिम स्वर्गको पाकर तथा श्रेष्ठ राज्य भोगकर और केवलज्ञान पाकर मोक्षमें जा विराजमान् होते हैं ॥७२॥ जो मनुष्य सुख प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ पात्रोंको (मुनियोंको) वसतिका दान देते हैं वे इस लोक वा परलोकमें ऊँचे भवनोंमें अथवा उत्तम विमानोंमें जा विराजमान होते हैं ॥७३॥ मुनिराज हीन संहनन होनेपर उत्तम वसतिकाको पाकर ही ध्यान, अध्ययन वा तपश्चरण कर सकते हैं। विना वसतिकाके वे ध्यानादिक नहीं कर सकते। हाँ जिनका शरीर वज्रके समान है, जो महा धीरवीर हैं, महा पराक्रमी हैं, जिनका हृदय शुभ है, जो परीषहोंको सहन करनेमें धीरवीर हैं, जो वज्र-वृषभनाराच संहननको धारण करनेवाले हैं और जिन्होंने अपने शरीरसे ममत्वका त्याग कर दिया है, ऐसे मुनिराज पर्वतकी गुफाओंमें वा अन्यत्र भी ध्यान अध्ययन आदि समस्त कर्म कर सकते हैं ॥७४-७६॥ इसलिये जो मनुष्य उत्तम पात्रोंके लिये वसतिका दान देते हैं वे उत्तम भवन और सुन्दर विमानोंको पाकर अन्तमें मोक्षमहलमें जा विराजमान होते हैं ॥७७॥

जो मनुष्य समस्त जीवोंके लिये उत्तम अभयदान देता है वह मनुष्य और देवोंके उत्तम सुख भोगकर अन्तमें निर्भयस्थानमें सब तरहके भयोंसे रहित मोक्षस्थानमें जा विराजमान होता है ॥७८॥ जिस प्रकार विना तपश्चरणके शरीर व्यर्थ है उसी प्रकार अभयदानके विना लोगोंके

दत्तं येनाभयं दानं सर्वजीवसुखप्रदम् । तेन दत्तं च पूर्वोक्तं सर्वं दानकदम्बकम् ॥८०
यथात्मनोऽपृथग्भूता भवन्ति दर्शनादयः । गुणा दानादयस्तद्वदभयेन सदैव च ॥८१
अद्रिमध्ये यथा मेरुर्देवमध्ये जिनो यथा । प्रधानोऽपि सुदानानां चाभयाख्यं वरं भवेत् ॥८२
अभयेन समं दानं न स्याल्लोकत्रये क्वचित् । मुनीनां श्रावकाणां वा महाफलप्रदेन वै ॥८३
प्रदत्ते मरणार्थे ना कोऽपि कृत्स्नां धरां यदि । रत्नपूर्णां तथाप्यङ्गी नैव मृत्युं समीहते ॥८४
त्यक्तरोगवपुः कान्तं लावण्यादिविराजितम् । आदिसंहननोपेतं लभन्ते प्राणिनोऽभयात् ॥८५
मनोहरा शुभा सारा दक्षा धर्मोपदेशने । व्यक्ताक्षरान्विता वाणी पुंसां स्यादभयेन च ॥८६
तत्त्वचिन्तादिसंयुक्तं रागद्वेषपराङ्मुखम् । अभयाख्येन दानेन मनो धीरं भवेन्नृणाम् ॥८७
यो ना दत्तेऽभयं दानं सर्वजीवेभ्य एव हि । तस्य श्रीर्गृहदासीव वशं याति जगत्स्थिता ॥८८
आलिङ्गनं समादत्ते स्वर्गश्रीः स्वयमेव हि । गृहस्त्रीव गृहस्थानां कृपादानविपाकतः ॥८९
स्थूलसूक्ष्मादिजन्तुभ्यो यो ददात्यभयं सदा । स्वप्ने न तस्य जायन्ते सर्वे रोगभयादिकाः ॥९०
षट्खण्डवसुधारत्ननिधिदेव्यादिसंयुतम् । चक्रवर्तित्वमेव स्यात्कृपादानान्विताङ्गिनाम् ॥९१
अनेककोटिदेवैश्च पूज्यमिन्द्रत्वमेव भो । श्रयेन्नभयदानेन महाभोगप्रदं वरम् ॥९२
अनन्तमहिमोपेतं पूज्यं शक्रनृपादिभिः । भवेत्तीर्थकरत्वं हि नृणां प्राभयदानतः ॥९३

चारों दान सब व्यर्थ हैं ॥७९॥ जिस बुद्धिमान्‌ने समस्त जीवोंको सुख देनेवाला अभयदान दिया उसने पहिले कहे हुए चारों दान इकट्ठे दिये ऐसा समझना चाहिये ॥८०॥ जिस प्रकार ज्ञान दर्शन आदि आत्माके गुण आत्मासे भिन्न माने जाते है और उनका दान दिया जाता है उसी प्रकार अभयदानको समझना चाहिये अर्थात् अभय भी आत्माका ही गुण है और आत्माके साथ रहता है, परन्तु भिन्न मानकर उसका दान दिया जाता है ॥८१॥ जिस प्रकार पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत मुख्य है और देवोंमें भगवान् जिनेन्द्रदेव मुख्य हैं उसी प्रकार समस्त दानोंमें अभयदान ही मुख्य है और यही सबसे उत्तम है ॥८२॥ मुनि वा श्रावकोंको महाफल देनेवाले इस अभयदानके समान अन्य तीनों लोकोंमें कोई नहीं हो सकता ॥८३॥ यदि किसीको मरनेके बदलेमे रत्नोंसे भरी हुई समस्त पृथ्वी भी दे दी जाय तो भी कोई मरना स्वीकार नहीं करता ॥८४॥ अभयदानके प्रभावसे यह प्राणी वज्रवृषभनाराच संहननसे सुशोभित लावण्य आदि गुणोंसे विभूषित और समस्त रोगोंसे रहित ऐसे मनोहर शरीरको पाता है ॥८५॥ अभयदानके प्रतापसे मनुष्योंको मनोहर, शुभ, सार-भूत धर्मोपदेश देनेमें चतुर और व्यक्त अक्षरोंसे सुशोभित ऐसे उत्तमवाणी प्राप्त होती है ॥८६॥ इस अभयदानके ही प्रतापसे मनुष्योंका हृदय सातो तत्त्वोंके चिन्तवन करनेसे भरपूर, रागद्वेष रहित और अत्यन्त धीरवीर हो जाता है ॥८७॥ जो मनुष्य समस्त जीवोंको अभय दान देता है उसके घर तीनों लोकोंकी लक्ष्मी घरकी दासीके समान अपने आप वश हो जाती है ॥८८॥ गृहस्थों को दयादानके फलसे स्वर्गकी लक्ष्मी घरकी स्त्रीके समान आप आकर आलिंगन करती है ॥८९॥ जो स्थूल सूक्ष्म समस्त जीवोंको सदा अभयदान देता रहता है उसके रोग भय आदिक सब स्वप्न में भी कभी नही होते हैं ॥९०॥ दयादान करनेवाले मनुष्योंको छहों खण्ड पृथ्वी, नौनिधि, चौदह रत्न और अनेक सुन्दर रानियोंसे भरपूर चक्रवर्तीकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥९१॥ अभयदानके प्रतापसे यह मनुष्य—अनेक करोड़ देव जिसकी पूजा करते है, जो महा भोगोंको देनेवाला है और सबसे उत्तम है ऐसे—इन्द्रपदको प्राप्त होता है ॥९२॥ अभयदानके ही प्रतापसे मनुष्योंको अनन्त महिमासे सुशोभित और इन्द्र, नरेन्द्र आदिके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकरपदकी प्राप्ति होती है ॥९३॥

दयादानेन पापस्य संवरो निर्जरा भवेत् । जायते प्रत्यहं नृणां महाधर्मः सुखाकरः ॥९४
अनर्घ्यं यद्दुराराध्यमसाध्यं तपसादिभिः । तत्सर्वमभयात्पुंसां भवेल्लोकत्रये स्थितम् ॥९५
अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यसौख्यादिको नृणाम् । पूज्यः शक्रादिभिर्मोक्षो दयादानेन जायते ॥९६
इति मत्वा हि दातव्यं दानं चाभयसंज्ञकम् । धर्माय सर्वजीवेभ्यः श्रावकैः मुनिभिः सदा ॥९७
इत्यादिकं महादानं ये ददन्ति निरन्तरम् । सुपात्रस्य भवेत्तेषां सफलं जन्म सद्गृहम् ॥९८
ये धनाढ्या न सत्पात्रदानं कुर्वन्ति नैव भो । व्यर्थं जन्म भवेत्तेषामजाकण्ठे स्तनादिवत् ॥९९
दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः । तदारूढा निमज्जन्ति संसाराब्धौ सुदुस्तरे ॥१००
मुनिपादोदकेनैव यस्य गेहं पवित्रितम् । नैव श्मशानतुल्यं हि तस्यागारं बुधैः स्मृतम् ॥१०१
यदि विनात्र दानेन गृहस्था हि भवन्ति भो । तदा खगाः गृहस्था स्युः गृहव्यापारयोगतः ॥१०२
दत्ते दानं न पात्राय यल्लोके कृपणो नरः । यः स मोहेन मृत्वा हि सर्पादिकुगतिं व्रजेत् ॥१०३
वरं दारिद्र्यमेवार्थं न च मोहकरं धनम् । दानहीनं नृणामग्रे श्वभ्रादिगतिकारणम् ॥१०४
समर्थो यो महालोभी ददाति मुनये न वै । दानं परत्रयं शर्म सोऽपि छिनत्ति चात्मनः ॥१०५
दत्ते दानं न पात्राय तपो नैव करोति यः । स ज्ञेयो मनुजत्वेऽपि त्यक्तश्रृङ्गपशोरिव ॥१०६
स्वोदरं पूरयन्त्येव पशवोऽपि मुनीशिनाम् । कुर्वन्ति चोपकारं ये ते श्लाघ्याः भुवनत्रये ॥१०७

इस दयादानसे ही पापकर्मोका संवर होता है और निर्जरा होती है तथा इस दयादानसे ही प्रति-दिन मनुष्योंको सुख देनेवाले महाधर्मकी प्राप्ति होती है ॥९४॥ संसारमें जो पदार्थ अमूल्य है, जो कठिनतासे प्राप्त हो सकते हैं अथवा जो तपश्चरण आदिसे भी सिद्ध नहीं हो सकते ऐसे तीनों लोकोंमें रहनेवाले समस्त पदार्थ मनुष्योंको केवल अभयदानसे प्राप्त हो जाते हैं ॥९५॥ इस दया-दानके प्रतापसे मनुष्योंको अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य और इन्द्रादिके द्वारा पूज्य ऐसा परम मोक्ष प्राप्त होता है ॥९६॥ यही समझकर श्रावकोंको और मुनियोंको केवल धर्मपालन करनेके लिये समस्त जीवोंको सदा अभयदान देते रहना चाहिये ॥९७॥ जो मनुष्य सुपात्रोंके लिये ऊपर कहे हुए समस्त दान सदा देते रहते हैं उन्हीका जन्म और उन्हींका गृहस्था-श्रम सफल समझना चाहिये ॥९८॥ जो मनुष्य धनी होकर भी कभी पात्रोंको दान नही देते उनका जन्म बकरीके गलेके स्तनोंके समान व्यर्थ समझना चाहिये ॥९९॥ जिस गृहस्थाश्रममे दान नहीं दिया जाता वह गृहस्थाश्रम पत्थरकी नावके समान समझना चाहिये । ऐसे गृहस्थाश्रममें रहकर मूर्ख लोग अत्यन्त अथाह संसाररूपी महासागरमें डूब जाते है ॥१००॥ जिनका घर मुनियोंके चरणकमलोंके जलसे पवित्र नहीं हुआ है उनका घर श्मशानके समान है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥१०१॥ यदि दान दिये विना ही गृहस्थ गृहस्थ कहलाने लगे तो फिर घरके व्यापारमें लगे रहनेके कारण सब पक्षियोंको भी गृहस्थ कहना चाहिये ॥१०२॥ ससारमें जो कंजूस मनुष्य पात्रो को दान नहीं देता वह धनके मोहसे मरकर सर्प आदिकी कुगतिमें जन्म लेता है ॥१०३॥ इस संसारमें दरिद्रता अच्छी परन्तु मनुष्योंको आगे नरकादिक कुगतियोंको देनेवाला तथा मोह उत्पन्न करनेवाला दान रहित धन अच्छा नहीं ॥१०४॥ जो महालोभी मनुष्य समर्थ होकर भी मुनियोंको दान नहीं देता वह अपने परलोकके समस्त सुखोंको नष्ट कर देता है ॥१०५॥ जो न तो पात्रोंको दान देता है और न तपश्चरण करता है वह मनुष्य होकर भी सीग रहित पशुके समान समझा जाता है क्योंकि जिस प्रकार वह अपना ही पेट भरता है उसी प्रकार पशु भी अपना पेट भर लेते हैं ॥१०६॥ इसलिये जो गृहस्थ मुनियोंका उपकार करते रहते हैं वे तीनों लोकोंमें प्रशंसनीयगि ने

**इति ज्ञात्वा कुपात्रं चापात्रं त्यक्त्वा विधेहि भो । त्रिभेदाय सुपात्राय मित्र ! दानं सुखाकरम् ॥१०८
कुपात्रापात्रयोः स्वामिन् ! लक्षणं कथय स्फुटम् । प्रवक्ष्येऽहं शृणु त्वं भो तयोर्लक्षणमत्र ते ॥१०९
सम्यक्त्वेन बिना यो ना व्रतानि सकलान्यपि । मुनीनां श्रावकाणां च धत्ते भोगादिवाञ्छया ॥११०
तपः करोति घोरं च शास्त्रं पठति प्रत्यहम् । कायक्लेशं विधत्तेऽपि स कुपात्रो मतो जिनैः ॥१११
इन्द्रियादिषु संसक्तः सम्यक्त्वव्रतवर्जितः । त्यक्तधर्मादिसंवेगः सर्वपापप्रवर्तकः ॥११२
देवशास्त्रगुरूणां यो निन्दाकरणतत्परः । गृहकर्मरतोऽपात्रः स प्रोक्तः श्रीजिनाधिपैः ॥११३
तपोवृत्तादिसंयुक्तो मुनिर्मिथ्यात्वपोषणैः । श्रावको वा कुपात्रस्य पदं प्राप्नोति निश्चितम् ॥११४
यः कुपात्राय ना दत्ते सदन्नं पुण्यहेतवे । कुभोगभूषु तिर्यक्त्वं कुनृत्वं वा लभेत सः ॥११५
कालोदधौ नृणां यः स्यात्कुनृत्वं लवणार्णवे । लम्बकर्णादिसंयुक्तं कोलविद्युन्मुखादिजम् ॥११६
भोगभूमिषु तिर्यक्त्वं सदीर्घायु सुखान्वितम् । तत्सर्वं विबुधैर्ज्ञेयं कुपात्रदानजं फलम् ॥११७
तिर्यग्द्वीपेष्वसंख्येषु नरत्यक्तेषु जायते । पशुत्वं प्राणिनां नूनं कुपात्रादिप्रदानतः ॥११८
भोगान्वितं गजत्वं च घोटकत्वं भजन्ति वै । जनाः कुपात्रदानेन राजगेहेषु निश्चितम् ॥११९
म्लेच्छाखेटकभिल्लादिकुलेषु जन्मसम्भवम् । लभन्ते नीचपात्रेण धनाढ्येषु शठाः भुवि ॥१२०
लक्ष्मीः कुपात्रदानेन लभ्यते प्राणिभिः स्फुटम् । कुमार्गजातिपापाढ्याः श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदाः ॥१२१**

जाते है ॥१०७॥ यही समझकर हे मित्र ! कुपात्र और अपात्रोंको छोड़कर तीनों प्रकारके पात्रोंके लिये (उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रोके लिये) सुख देनेवाला दान सदा देते रहना चाहिये ॥१०८॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर कुपात्र और अपात्रोंका लक्षण निरूपण कीजिये। उत्तर—हे वत्स ! चित्त लगाकर सुन, मै उन दोनोंके लक्षण कहता हूँ ॥१०९॥ जो मनुष्य सम्यग्दृष्टी नही हैं किन्तु भोगोंकी इच्छासे मुनि वा श्रावकोंके समस्त व्रत पालन करते हैं तथा घोर तपश्चरण करते है, प्रतिदिन शास्त्र पढ़ते हैं और अनेक प्रकारके कायक्लेश करते हैं उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव कुपात्र कहते हैं ॥११०-१११॥ जो इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं, सम्यग्दर्शन और व्रतोंसे रहित है, जो धर्म संवेग आदिसे रहित है, समस्त पापोंकी प्रवृत्ति करनेवाले है, जो देव शास्त्र और गुरुओंकी निन्दा करनेमे तत्पर है ओर सदा घरके ही कामोंमें लगे रहते है उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव अपात्र कहते है ॥११२-११३॥ जो श्रावक अथवा मुनि तप वा चारित्र आदिसे सुशोभित होकर भी मिथ्यात्वकी पुष्टि करता है वह भी कुपात्रके ही पदको प्राप्त होता है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥११४॥ जो मनुष्य पुण्य सम्पादन करनेके लिये कुपात्रोंको श्रेष्ठ अन्न दान देता है वह कुभोग-भूमिमें तिर्यंच अथवा कुमनुष्य होता है ॥११५॥ कालोद समुद्रमें वा लवण समुद्रमें कुभोग भूमियाँ है उनमें लम्बकर्ण, लोकमुख, विद्युन्मुख आदि कुमनुष्य होते हैं तथा भोगभूमियोंमें अत्यन्त सुखी और दीर्घ आयुको धारण करनेवाले तिर्यंच होते है वे सब कुपात्र दानके फलसे ही होते है ऐसा विद्वान् लोगोंको समझ लेना चाहिये ॥११६-११७॥ ढाई द्वीपसे बाहर तिर्यंच लोकके असंख्यात द्वीप समुद्रोमें जो पशु प्राणी उत्पन्न होते हैं वे सब कुपात्र दानके फलसे ही होते हैं ॥११८॥ राजघरोंमे जो घोड़े और हाथी बड़े सुखी होते है वे कुपात्र दानके ही फलसे होते हैं यह निश्चित है ॥११९॥ नीच पात्रोंको दान देनेसे ही मूर्ख प्राणी म्लेच्छ, खेटक, भील आदि धनाढ्य कुलोंमें जन्म लेता है ॥१२०॥ कुपात्रोंको दान देनेसे प्राणियोंको जो लक्ष्मी प्राप्त होती है वह कुमार्गमें खर्च होती है, बड़ी पापिनी होती है और नरक तिर्यंच आदि दुर्गतियोंको देनेवाली होती है

अन्यायतोऽपि या लक्ष्मीः समायाति गृहे नृणाम् । कुपात्रदानजा सोऽपि बुधैर्ज्ञेयाऽघकारिणी ॥१२२
यत्सुखं प्राप्यते लोकैर्महानीचकुलेषु भो । श्वभ्रादिकारणं तच्च कुपात्रदानजं भवेत् ॥१२३
महापापेन आयाति या नृणां दुःखदायिका । अन्यायकारिणी साऽपि बुधैरुक्ता कुपात्रजा ॥१२४
यो भोगो लभते लोके दुष्टैरन्यायतोऽशुभः । कुपात्रदानसंभूतः सोऽपि ज्ञेयोऽशुभप्रदः ॥१२५
कुपात्रदानतो जीवाः प्राप्य भोगं कुयोनिषु । स्वल्पं पापकरं पापान्मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥१२६
कुपात्रदानदोषेण भुक्त्वा तिर्यग्गतौ सुखम् । स्तोकं भ्रमन्ति संसारवने जीवाः कुदुःखिताः ॥१२७
या काचिज्जायते लक्ष्मीः पुंसां नीचकुलेषु भो । सा सर्वाऽपि जिनैरुक्ता पापयुक्ता कुपात्रजा ॥१२८
कुपात्रदानतो नाकभोगं वाञ्छन्ति ये शठाः । गोशृङ्गतोऽपि ते क्षीरं समीहन्ते कुबुद्धयः ॥१२९
इति मत्वा कुपात्रं हि त्यक्त्वा दानं ददस्व भो । स्वर्गमुक्तिकरं सारं सत्पात्राय विमुक्तये ॥१३०
अपात्रदानजं दोषं वक्तुं शक्नोति को बुधः । दृषत्पोतसमं दानं ह्यपात्रगतमञ्जसा ॥१३१
शिलोपरि यथा चोप्तं बीजं भवति निष्फलम् । तथापात्राय यद्दत्तं तद्दानं निष्फलं भवेत् ॥१३२
येन दत्तमपात्राय दानं तत्तेन नाशितम् । कुमार्गे हि यथारण्ये गृहीतं तस्करैर्धनम् ॥१३३
पोषितोऽपि यथा शत्रुरहिर्वा दुःखमञ्जसा । ददाति प्राणिनां तद्वदपात्रो दुरितं परम् ॥१३४

॥१२१॥ मनुष्योंके घर जो लक्ष्मी अन्यायसे आती है वह लक्ष्मी पाप उत्पन्न करनेवाली होती है और वह कुपात्र दानसे ही आती है ऐसा विद्वानोंको जान लेना चाहिये ॥१२२॥ महा नीच कुलोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी जो नरकादिके कारण रूप पापोंको उत्पन्न करनेवाला सुख प्राप्त होता है वह सब कुपात्र दानके फलसे ही होता है ॥१२३॥ मनुष्योंको दुःख देनेवाली और अनेक प्रकारके अन्याय करनेवाली जो लक्ष्मी महापापके कामोंसे आती है वह भी कुपात्र दानके फलसे ही आती है ऐसा विद्वान् लोगोंने कहा है ॥१२४॥ इस संसारमें दुष्ट लोग जो अन्यायसे अशुभ भोगोपभोग को प्राप्त करते हैं वे भी कुपात्र दानसे ही होते हैं और आगेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले होते हैं ऐसा निश्चित रूपसे समझ लेना चाहिये ॥१२५॥ ये प्राणी कुपात्र दानके फलसे नीच योनियोंमें थोड़ेसे भोगोपभोग प्राप्त करते हैं परन्तु उन भोगोंसे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करते हैं और उन पापकर्मोंके उदयसे नरकरूपी महासागरमें ही डूबते हैं ॥१२६॥ इस कुपात्रदानके दोषसे तिर्यंच-गतिके थोड़ेसे सुख भोगकर फिर संसाररूपी वनमें जा पड़ते हैं और वहाँपर अनेक प्रकारके दुःख भोगते हैं ॥१२७॥ मनुष्योंको जो नीच कुलोंमें लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है वह सब पाप उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मी कुपात्रदानसे ही होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने बतलाया है ॥१२८॥ जो मूर्ख इस कुपात्रदानसे स्वर्गोंके भोग चाहते हैं वे कुबुद्धि लोग गायके सीगोंसे दूध दुहना चाहते हैं ॥१२९॥ यही समझकर हे भव्य ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू कुपात्रोंको छोड़कर सुपात्रोंके लिये स्वर्ग मोक्ष देनेवाला दान दे ॥१३०॥

इसी प्रकार अपात्रदानके दोषोंको कौन बुद्धिमान् कह सकता है । यह अपात्रदान इस लोक और परलोकके लिये पत्थरकी नावके समान है ॥१३१॥ जिस प्रकार पत्थरकी शिलापर बोनेसे बीज निष्फल हो जाता है उसी प्रकार अपात्रके लिये जो कुछ दिया जाता है वह सब निष्फल हो जाता है ॥१३२॥ जिस प्रकार किसी वनमें चोर लोग धनको छीन लेते हैं उसी प्रकार जिसने अपात्रको दान दिया वास्तवमें उसने वह द्रव्य कुमार्गमें नष्ट कर दिया समझना चाहिये ॥१३३॥ जिस प्रकार पालन किया हुआ शत्रु वा सर्प प्राणियोंको दुःख ही देता है उसी प्रकार अपात्रको

अश्मपोताधिरूढो ना यथा मज्जति सागरे । अपात्रपोषकस्तद्वत् संसाराब्धौ प्रमज्जति ॥१३५
अपात्राय प्रदत्ते यो दानं धर्माय मूढधीः । तद्दानजेन पापेन श्वभ्रादिकुर्गतिं व्रजेत् ॥१३६
यथाऽपात्रो भ्रमत्येव संसारे पापयोगतः । तद्दातापि तथा पापाच्चतुर्गतिषु प्रत्यहम् ॥१३७
अपात्रदानयोगेन यच्च पापं करोत्यधीः । मैथुनादिभवं दाता श्रयेत्तस्यात्रमेव हि ॥१३८
अन्धकूपे वरं क्षिप्तं धनं निर्नाशहेतवे । नैव दानमपात्राय यतो दुर्गतिदायकम् ॥१३९
पोषितो हि यथा व्याघ्रः बलादत्ति स्वस्वामिनम् । तथाऽपात्रोऽपि दातॄणां श्वभ्रं नयति शीघ्रतः ॥
यथा मेघजलं भूमियोगान्निम्बेक्षुतां व्रजेत् । सुपात्रापात्रयोर्दानं तथा च पुण्यपापदम् ॥१४१
स्वातिनक्षत्रजं बिंदु शुक्तिकायां च मौक्तिकम् । विषं सर्पमुखे तद्वद्दानं पात्रादिकं भवेत् ॥१४२
यथाहिः पोषितो दत्ते विषं क्षीरं च गौ च नुः । तथाऽपात्रो महत्पापं पुण्यं सत्पात्र एव च ॥१४३
यथा कल्पद्रुमो दत्ते भोगं धत्तूरको विषम् । तथा स्वर्गं सुपात्रो वै कुपात्रः श्वभ्रमेव च ॥१४४
तृणानत्ति यथा गौश्च दत्ते दुग्धामृतं नृणाम् । तथा च यमिनः स्तोकं भुक्तं स्वर्गामृतं धनम् ॥१४५
वटबीजं यथा स्तोकं चोप्तं भूरिगुणं भवेत् । सुक्षेत्रे च महापात्रदानं भोगधरादिषु ॥१४६

दिया हुआ दान केवल पाप ही उत्पन्न करता है ॥१३४॥ जिस प्रकार पत्थरकी नावपर बैठा हुआ मनुष्य समुद्रमें डूबता ही है उसी प्रकार अपात्रको पालन पोषण करनेवाला मनुष्य भी संसाररूपी सागरमें डूब ही जाता है ॥१३५॥ जो मूर्ख धर्म पालन करनेके लिये अपात्रोंको दान देता है वह उस अपात्रदानसे उत्पन्न हुए पापसे नरकादिक दुर्गतियोंमें जा पहुँचता है ॥१३६॥ जिस प्रकार अपात्र पापोके संयोगसे ससारमें परिभ्रमण करता है उसी प्रकार दाता भी पाप कर्मोंके संयोगसे प्रतिदिन चारो गतियोमे ही परिभ्रमण करता रहता है ॥१३७॥ मूर्ख लोग अपात्रदानसे जो पाप उत्पन्न करते है वैसे पाप कुशील सेवन आदि अन्य पापोंसे भी नहीं होते ॥१३८॥ धनको नाश करनेके लिये अन्धे कुँएमें डाल देना अच्छा, परन्तु अपात्रको देना अच्छा नहीं, क्योंकि अपात्रको देनेसे धन भी नष्ट होता है और नरकादिक दुर्गतियाँ भी प्राप्त होती हैं ॥१३९॥ जिस प्रकार पाला हुआ बाघ छलसे अपने स्वामीको खा ही जाता है उसी प्रकार अपात्र भी अपने दाताओंको शीघ्र ही नरकमे पहुंचा देता है ॥१४०॥ जिस प्रकार बादलोसे बर्षा हुआ पानी भूमिके सम्बन्धसे नीम और ईखरूप (नीममें पड़कर कड़वा और ईखमें पड़कर मीठा) हो जाता है उसी प्रकार सुपात्र और अपात्रको दिया हुआ दान भी पुण्य पापरूप हो जाता है अर्थात् सुपात्रको दिया हुआ दान पुण्यरूप हो जाता है और अपात्रोको दिया हुआ दान पापरूप हो जाता है ॥१४१॥ जिस प्रकार स्वाति नक्षत्रमें पड़ी हुई पानीकी बूँद (वर्षाकी बूँद) सीपमें जाकर मोती हो जाती है और सर्पके मुँहमें जाकर विष हो जाती है उसी प्रकार सुपात्रोंको दान देनेसे पुण्य होता है व अपात्रोंको देनेसे पाप होता है ॥१४२॥ जिस प्रकार पाला हुआ सर्प विष ही देता है और पाली हुई गाय दूध ही देती है उसी प्रकार अपात्रोंको दिया हुआ दान महा पाप उत्पन्न करता है और सुपात्रको दिया हुआ दान महा पुण्य उत्पन्न करता है ॥१४३॥ जिस प्रकार कल्पवृक्षोंसे भोगोपभोगोंकी ही प्राप्ति होती है और धतूरेसे विषकी ही प्राप्ति होती है उसी प्रकार सुपात्रोंको दान देनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और कुपात्रोंको देनेसे नरककी ही प्राप्ति होती है ॥१४४॥ जिस प्रकार गाय तृणोंको खाती है और दूधरूपी अमृतको देती है उसी प्रकार मुनिराज थोड़ासा आहार लेते हैं, परन्तु उसीसे मनुष्योंको स्वर्गरूपी बहुतसे अमृतकी प्राप्ति हो जाती है ॥१४५॥ जिस प्रकार अच्छे स्थानपर बोया हुआ वटका बीज बहुतसी छाया और फलोंसे फलता है उसी प्रकार सुपात्रोंको दिया हुआ दान भी

सुपात्राय कुपात्राय वापात्राय बुधोत्तमैः । कुदानं नैव दातव्यं यतः स्यात्स्वान्ययोरघम् ॥१४७
भगवन् ! किं कुदानं तद्यत सञ्जायतेऽशुभम् । प्रवक्ष्येऽहं कुदानं च दशभेदं कुदुःखदम् ॥१४८
गोकन्याहेमहस्त्यश्वगेहक्ष्मातिलस्यन्दिनः । दासी चेति कुदानानि प्रणीतानि शठैर्भुवि ॥१४९
गोदानं योऽत्ति मूढात्मा दत्ते पुण्यादिहेतवे । वधबन्धाङ्गिघातादिजातं पापं लभेत सः ॥१५०
कन्यादानं प्रदत्ते यः पुण्याय दुरितार्णवम् । गेहमैथुनहिंसादिजातं पापं च तस्य हि ॥१५१
सुवर्णं यः प्रदत्ते ना शुभाय पापकारणम् । हिंसामोहादिजं पापं तस्य जायेत दुस्तरम् ॥१५२
हस्त्यश्वरथसद्दासीभूमिगेहतिलादिकम् । यो दत्ते मूढधीर्जीवघातात्पापं परं श्रयेत् ॥१५३
द्रव्यदानं न दातव्यं सुपुण्याय नरैः क्वचित् । महामोहकरं ज्ञानवृत्तादिगुणघातकम् ॥१५४
द्रव्यदानं प्रदत्ते यो हिंसामोहादिवर्द्धनम् । पापारम्भस्य मूलं सः श्रयेद्दुरितमुल्वणम् ॥१५५
महापात्रं प्रणश्येच्च मोहः क्रोधो भयस्तथा । लोभः शोको महाचिन्ता ध्यानाध्ययनविच्युतिः ॥१५६
जीवघातो वचो दुष्टं द्वेषो रागोऽपि देहिनाम् । लोकनिन्दादिकं पापमब्रह्म च मनोऽशुभम् ॥१५७
आर्तरौद्रद्वयं ध्यानं विघ्नं च धर्मशुक्लयोः । मदश्चेन्द्रियव्यापारो गुणहानिर्व्रतच्युतिः ॥१५८
दोषो रत्नत्रयाणां च येन सञ्जायतेतराम् । तद्दानं नैव दातव्यं प्राणान्तेऽपि बुधोत्तमैः १५९

भोगभूमि और स्वर्गादिके अनेक फलोंको फलता है ॥१४६॥ दान चाहे सुपात्रको दिया जाय, चाहे कुपात्रको दिया जाय, चाहे अपात्रको दिया जाय परन्तु उत्तम विद्वानोंको कुदान कभी नहीं देना चाहिये, क्योंकि कुदान देनेसे अपनेको भी पाप लगता है और दूसरेको भी (लेनेवालेको भी) पाप लगता है ॥१४७॥

प्रश्न—हे भगवन् ! जिनसे पाप उत्पन्न होता है ऐसे कुदान कितने है और कौन-कौन हैं ? उत्तर—हे वत्स, मै उन दुःख देनेवाले कुदानोंके दस भेद कहता हूँ, तू सुन ॥१४८॥ गौ, कन्या, सुवर्ण, घोड़ा, घर, पृथ्वी, तिल, रथ और दासी आदिका दान करना कुदान कहलाते है। संसारमें इन कुदानोंको अज्ञानी ही किया करते हैं ॥१४९॥ जो अत्यन्त अज्ञानी पुरुष पुण्य सम्पादन करनेके लिये गायका दान देता है वह बन्धन घात आदिसे उत्पन्न हुए अनेक पापोंको उत्पन्न करता है ॥१५०॥ इसी प्रकार जो पुरुष पुण्य बढ़ानेके लिये पापोंका महासागररूप कन्यादान करता है वह घर, मैथुन, हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त पापोंको प्राप्त होता है ॥१५१॥ जो मनुष्य शुभ कर्मोंके लिये अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाले सुवर्णका दान देते है वे हिंसा, मोह आदिसे उत्पन्न हुए अत्यन्त भारी पापोंको उत्पन्न करते हैं ॥१५२॥ जो अज्ञानी हाथी, घोड़े, रथ, दासी, पृथ्वी, घर, तिल आदिकोंका दान करता है वह अनेक जीवोंके घातका कारण होनेसे महा पापकर्मोंको उपार्जन करता है ॥१५३॥ मनुष्योंको पुण्य उपार्जन करनेके लिये धनका दान तो कभी देना ही नहीं चाहिये, क्योंकि धनका दान देना महा मोहको उत्पन्न करनेवाला है और ज्ञान चारित्र आदि गुणोंको घात करनेवाला है ॥१५४॥ जो मनुष्य हिंसा मोह आदिको बढ़ानेवाले धनका दान करता है वह पाप और आरम्भोंका मूल कारण ऐसे भारी पापोंको इकट्ठा करता है ॥१५५॥ जिस दानसे महापात्रता नष्ट हो जाय, मोह, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता आदि उत्पन्न हो जाँय, जीवोंका घात हो, वचन दुष्ट वा कठोर कहने पड़ें, मनुष्योंको राग वा द्वेष उत्पन्न हो जाय, लोक निन्दा हो वा और भी अनेक प्रकारके पाप हों, ब्रह्मचर्यका घात हो, मन मलिन हो जाय, आर्तध्यान रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति हो जाय, धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें विघ्न हो जाय, मद उत्पन्न हो जाय, इन्द्रियाँ अपने व्यापारमें लग जाँय, गुण नष्ट हो जाँय, व्रत छूट जाँय और रत्नत्रयमें दोष लग जाय

वरं हालाहलं दत्तं भवैकप्राणनाशनम् । न कुदानं कुपात्रेभ्यो वृत्तज्ञानादिघातकम् ॥१६०
कुदानं सन्मुनिभ्यो यो दत्ते मूढोऽशुभप्रदम् । वृत्तघातादिसञ्जातपापाच्छ्वभ्रे पतत्यधीः ॥१६१
कृपणत्वं वरं लोके नैव दातृगुणो नृणाम् । कुदानप्रभवो दुःखकारणं पापसागरः ॥१६२
यो धनाढ्यो मुनीशेभ्यो दत्ते चारित्रनाशकम् । कुदानं स श्रयेत्पापाद्दारिद्र्यं च भवे भवे ॥१६३
कुदानस्यैव यो दाता स दाता कथ्यते न च । सुदानस्य प्रदत्ता यो दाता स उच्यते जिनैः १६४
तस्मात्त्यक्त्वा कुदानं हि दानमुत्तममञ्जसा । महत्पुण्यप्रदं दक्षैर्दातव्यं कर्महानये ॥१६५
यदि स्वामिन्न दातव्यमन्यद्दानं गृहाश्रितैः । धनाढ्यैश्च महद्द्रव्यं लोकैः किं क्रियते वद ॥१६६
कुरु वत्स जिनागारं बिम्बं च नित्यजिनम् । प्रतिष्ठादिकसत्कर्म मुक्त्यै द्रव्येण प्रत्यहम् ॥१६७
चैत्यगेहं विधत्ते यो जिनबिम्बसमन्वितम् । फलं तस्य न जानामि नित्यं धर्मप्रवर्द्धनात् ॥१६८
अनेकजीवसाधारं जिनागारं करोति यः । धर्मप्रवर्द्धकं तस्य प्रत्यहं स्यान्महद्वृषम् ॥१६९
जिनगेहसमं पुण्यं न स्याच्च सद्गृहिणां क्वचित् । स्वर्गसोपानमाद्यौ च मुक्तिस्त्रीदायकं क्रमात् ॥१७०
जिनेन्द्रमन्दिरे सारे स्थितिं कुर्वन्ति येऽङ्गिनः । तेभ्यः संवर्द्धते धर्मो धर्मात्संपत्परं नृणाम् ॥१७१
सारचन्दनपुष्पादिद्रव्यैः पूजां विधाय वै । समर्जयन्ति सत्पुण्यं भव्याः श्रीजिनमन्दिरे ॥१७२

ऐसा दान उत्तम विद्वानोंको कंठगत प्राण होनेपर भी नहीं देना चाहिये ॥१५६–१५९॥ हलाहल विष देना अच्छा परन्तु कुपात्रोंको व्रत और ज्ञानको घात करनेवाला कुदान देना अच्छा नहीं, क्योंकि हलाहल विष देनेसे एक भवमें ही प्राण नष्ट होते हैं, परन्तु कुपात्रोंको कुदान देनेसे अनेक भवोंमें दुःख भोगना पड़ता है ॥१६०॥ जो अज्ञानी उत्तम मुनियोंके लिये पाप उत्पन्न करनेवाला कुदान देता है, वह सम्यक्चारित्रके घात करनेसे उत्पन्न हुए पापसे नरकमें ही पड़ता है ॥१६१॥ संसारमें कृपण होना अच्छा परन्तु कुदानसे होनेवाले अनेक दुःखोंके कारण और पापोंके महासागर ऐसे दाताके दुर्गुण होना अच्छा नहीं ॥१६२॥ जो धनी पुरुष मुनिराजोंके लिये सम्यक्चारित्रको नाश करनेवाला कुदान देता है वह महापापी होता है और उस पापसे भव-भवमें दरिद्रता धारण करता है ॥१६३॥ जो कुदानोंको देनेवाला है वह दाता कभी दाता नहीं कहा जा सकता और जो सुदानका देनेवाला है, भगवान् जिनेन्द्रदेवने उसीको दाता बतलाया है ॥१६४॥ इसलिये चतुर पुरुषोंको अपने कर्म नष्ट करनेके लिये कुदानोंको छोड़कर महापुण्य उत्पन्न करनेवाला उत्तम दान देना चाहिये ॥१६५॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! यदि गृहस्थ लोगोंको धन आदिका दान नहीं देना चाहिये तो फिर संसारमें प्राप्त हुए बहुतसे धनका क्या करना चाहिये ॥१६६॥ उत्तर—हे वत्स ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये शुभ कर्मके उदयसे प्राप्त हुए धनसे जिनभवन बनवाना चाहिये और भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिष्ठाकर पूजा आदि सत्कर्म सदा करते रहना चाहिये ॥१६७॥ जो धनी जिनबिम्बके साथ-साथ जिनभवन बनवाता है वहाँपर पूजा, स्वाध्याय आदि नित्य कर्म सदा होते रहते हैं इसलिये उसके पुण्यरूप फलोंको हम जान भी नहीं सकते ॥१६८॥ जो धनी अनेक जीवोंका आधारभूत (जिसमें अनेक जीव आकर पुण्य उपार्जन करते हैं) जिनभवन बनवाता है उसके प्रतिदिन धर्मकी वृद्धि होनेसे महाधर्म वा महापुण्य प्राप्त होता है ॥१६९॥ गृहस्थोंको जिन-भवन बनवानेके समान अन्य कोई पुण्य नहीं है। यह प्रथम तो स्वर्गकी सीढ़ी है और फिर अनुक्रमसे मुक्तिरूपी स्त्रीको देनेवाला है ॥१७०॥ सारभूत मनोहर जिनभवनोंमें मुनिराज आकर निवास करते हैं, उन मुनिराजोंसे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मसे मनुष्योंको परम सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ॥१७१॥ भव्य जीव श्री जिनभवनमें जाकर चन्दन पुष्प आदि उत्तम-उत्तम द्रव्योंसे भगवान्

प्रणामं नृत्यसद्गीतं सत्तूर्यादिकवम्बकम् । कृत्वा पुण्यार्जनं तत्र प्रकुर्वन्ति गृहेशिनः ॥१७३
चन्द्रोपकमहाघण्टाचामरध्वजदीपकान् । झल्लरीतालकंसालभृङ्गारकलशादिकान् ॥१७४
दत्त्वा चान्यानि साराणि धर्मोपकरणानि वै । अर्जयन्ति बुधा धर्मं धर्माधारे जिनालये ॥१७५
स सङ्घाधिपतिर्ज्ञेयो यः कुर्याच्छ्रीजिनालयम् । धर्महेतुं हि सर्वस्य सङ्घस्य धर्मवर्द्धनम् ॥१७६
यथा शिल्पी जिनागारं कुर्वन्नूर्ध्वं शनैर्व्रजेत् । तथा तत्कारको धीमान् स मोक्षं धर्मयोगतः ॥१७७
दिनैकजातसत्पुण्यं चैत्यगेहकरस्य ते । अनेकभव्यसंयोगाद्वक्तुं कः स्यात्क्षमो बुधः ॥१७८
चैत्यालयं विधत्ते यः सः पूज्यश्चाखिलैर्जनैः । वन्दनीयो जगल्लोके भव्यपुण्योपकारतः ॥१७९
आलयं जिनदेवस्य यः कुर्याद्भक्तितत्परः । प्राप्य षोडशमे नाके राज्यं च मुक्तिमाप्नुयात् ॥१८०
कारापयति यो भव्यो जिनेन्द्रभवनं शुभम् । तस्यैव जायते लक्ष्मीः सफला स्वर्गमुक्तिदा ॥१८१
करोति जिनबिम्बानि यो भव्योऽत्यन्तभक्तिमान् । नित्यपूजादिसंयोगात्तस्य पुण्यं न वेद्म्यहम् १८२
सज्जिनार्चां विधत्ते यो महत्पुण्यप्रदां सदा । शक्रत्वं चक्रवर्तित्वं न स्यात्कस्यैव दुर्लभम् ॥१८३
पूजयन्ति बुधा यावत्कालं सत्प्रतिमां वराम् । तावत्कालं च तत्कर्ता श्रयेत्पुण्यांशमेव हि ॥१८४
यस्य गेहे जिनेन्द्रस्य बिम्बं न स्याच्छुभप्रदम् । पक्षिगृहसमं तस्य गेहं स्याददतिपापदम् ॥१८५

जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं और इस प्रकार जिनभवनसे महा पुण्य उपार्जन करते हैं ॥१७२॥ गृहस्थ लोग जिनभवनमें जाकर भगवान्‌को प्रणाम करते हैं, नृत्य, स्तुति करते हैं, उत्तम बाजे बजाते हैं और इस प्रकारके अनेक कामोंसे महापुण्य उपार्जन करते हैं ॥१७३॥

विद्वान् लोग धर्मके आधारभूत जिनभवनमें चन्दोवा, घण्टा, चमर, दीपक, झल्लरी, ताल, कंसाल, भृङ्गार, कलश आदि उत्तम उत्तम धर्मोपकरण देकर महापुण्य सम्पादन करते हैं ॥१७४-१७५॥ जो गृहस्थ धर्मके कारणभूत श्री जिनभवनको बनवाता है वह समस्त संघके धर्मकी वृद्धिका कारण होता है इसलिये वह संघाधिपति (संघका स्वामी) कहलाता है ॥१७६॥ जिस प्रकार जिन-भवनको बनाता हुआ कारीगर धीरे धीरे ऊपरको चढ़ता जाता है उसी प्रकार उस जिनभवनको बनवानेवाला बुद्धिमान् गृहस्थ भी धर्मके निमित्तसे मोक्षमें जा विराजमान होता है ॥१७७॥ जिन-भवन बनवानेवालेको उस भवनमें अनेक भव्योंके द्वारा होनेवाली पूजा आदिके सम्बन्धसे जो एक दिनमें पुण्य होता है उसको भी कोई विद्वान् कह नहीं सकता ॥१७८॥ जो पुरुष चैत्यालय वा जिनभवन बनवाता है वह अनेक भव्य जीवोंको पुण्य उपार्जन करने रूप उपकारको करता है इसलिये वह सब लोगोंके द्वारा पूज्य होता है और समस्त लोकमें वन्दनीय गिना जाता है ॥१७९॥ जो पुरुष भक्तिमें तत्पर होकर जिनभवन बनवाता है वह सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर मोक्षका राज्य प्राप्त करता है ॥१८०॥ जो भव्य पुण्य उत्पन्न करनेवाले जिनभवनको बनवाता है उसीकी लक्ष्मी सफल और स्वर्ग मोक्ष देनेवाली होती है ॥१८१॥ श्री जिनेन्द्रदेवका भक्त जो भव्य पुरुष जिनबिम्बोंका निर्माण कराता है वह नित्यपूजा आदिके सम्बन्धसे अपरिमित पुण्यको प्राप्त करता है, उसके पुण्यको कोई जान भी नहीं सकता ॥१८२॥ जो पुरुष महा पुण्यको देनेवाली भगवान्‌की पूजा प्रतिदिन करते हैं उनके लिये इन्द्रपद अथवा चक्रवर्तीका पद कुछ कठिन नहीं है ॥१८३॥ विद्वान् लोग जबतक उस प्रतिमाकी पूजा करते रहते हैं तबतक उसके निर्माण करनेवाले कर्ताको पुण्यकी प्राप्ति होती रहती है ॥१८४॥ जिसके घरमें पुण्य उपार्जन करनेवाली भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा नहीं है उसका घर पक्षियोंके घोंसलेके समान है और वह अत्यन्त पाप उत्पन्न करने

धन्यास्ते ये नरा बिम्बं पूजयन्ति स्तुवन्ति च । कारापयन्ति धर्माय जिनस्य भुवनत्रये ॥१८६
चतुर्विंशतिकां सारां प्रतिमां यः करोति ना । नाकराज्यं नृराज्यं च प्राप्य मोक्षं व्रजेदनु ॥१८७
हेमरूपादिजां सारां रत्नाश्मादिमयामपि । विधत्ते यो जिनेन्द्रस्य तस्य श्रीधर्मसौख्यदा ॥१८८
न प्रतिष्ठासमो धर्मो विद्यते गृहिणां क्वचित् । बहुभव्योपकारत्वाद् धर्मसागरवर्द्धनात् ॥१८९
यः प्रतिष्ठां विधत्ते ना शक्रत्वं चक्रवर्तिताम् । प्राप्य मुक्तिं प्रयात्येव स धर्मोदयकारणात् ॥१९०
ये कुर्वन्ति बुधाः सारां प्रतिष्ठां श्रीजिनेशिनाम् । तीर्थराज्यपदं लब्ध्वा मुक्तिकान्तां भजन्ति ते ॥
यावन्ति जिनबिम्बानि पूजां नित्यं श्रयन्ति वै । प्रतिष्ठायां च तत्कर्ता तद्धर्मा सम्भजेत् सदा ॥१९२
प्रतिष्ठां ये प्रकुर्वन्ति ते पूज्या नृसुरासुरैः । स्तुत्या वन्द्या इहामुत्र भजन्ति सुखसागरम् ॥१९३
किमत्र बहुनोक्तेन यः प्रतिष्ठां करोति ना । तस्यैव सफलं जन्म सा धर्मार्थसुखप्रदा ॥१९४
कर्तव्या जिनसत्पूजा गृहस्थैर्भुक्तिमुक्तिदा । भक्त्या शक्त्याऽनुसारेण प्रत्यहं स जलादिभिः ॥१९५
जिनाङ्गं स्वच्छनीरेण क्षालयन्ति स्वभावतः । येऽतिपापमलं तेषां क्षयं गच्छति धर्मतः ॥१९६
अर्चयन्ति जिनेन्द्रं ये नित्यं कर्पूरकुङ्कुमैः । मिश्रैः सच्चन्दनैः स्वर्गे सुगन्ध्यङ्गं भजन्ति ते ॥१९७

वाला है ॥१८५॥ वे लोग तीनों लोकोंमें धन्य है जो केवल धर्म पालन करनेके लिये भगवान्‌की पूजा करते हैं, उनकी स्तुति करते हैं और जिनभवन अथवा जिनबिम्बोंका निर्माण कराते हैं ॥१८६॥ जो भव्य पुरुष चौबीस तीर्थंकरोंकी उत्तम प्रतिमाओंका निर्माण कराता है वह स्वर्गके राज्यको व मनुष्य लोकके राज्यको पाकर अन्तमें मोक्षका साम्राज्य प्राप्त कर लेता है ॥१८७॥ जो भव्य पुरुष सुवर्णकी, चाँदीकी, रत्नोंकी अथवा पाषाण आदिकी उत्तम जिनप्रतिमा बनवाता है उसके धर्म और सुख देनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥१८८॥ गृहस्थोंको बिम्बप्रतिष्ठाके समान और कोई धर्म नहीं है, क्योंकि बिम्बप्रतिष्ठामें अनेक भव्य जीवोंका उपकार होता है और धर्मरूपी महासागरकी वृद्धि होती है ॥१८९॥ जो भव्य जीव बिम्बप्रतिष्ठा कराता है वह श्रेष्ठ धर्मकी वृद्धिका कारण होता है इसलिये वह इन्द्र और चक्रवर्तीके सुख भोगकर अन्तमें मोक्षरूप महा ऋद्धिको प्राप्त करता है ॥१९०॥ जो बुद्धिमान् श्री जिनेन्द्रदेवकी उत्तम प्रतिष्ठा करते हैं वे तीर्थंकरका परम पद पाकर मुक्तिरूपी ललनाका सेवन करते हैं ॥१९१॥ प्रतिष्ठामें जितनी प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा होती है और उनकी जबतक नित्य पूजा आदि होती रहती है[1] तबतक उसके कर्ताओंको धर्मकी प्राप्ति होती रहती है ॥१९२॥ जो भव्य जीव प्रतिष्ठा कराते हैं वे देव विद्याधर सबके द्वारा पूज्य होते है, स्तुति और वन्दना करने योग्य होते हैं और इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें महासागरके समान महा सुखको प्राप्त होते है ॥१९३॥ बहुत कहनेसे क्या जो मनुष्य प्रतिष्ठा कराता है, संसारमें उसीका जन्म सफल है क्योंकि वह प्रतिष्ठा धर्म, अर्थ और सुख देनेवाली है ॥१९४॥ गृहस्थोंको भक्तिपूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन जल चन्दनादिकसे भुक्ति मुक्ति देनेवाली भगवान् जिनेन्द्रदेवकी उत्तम पूजा करनी चाहिये ॥१९५॥ जो स्वभावसे ही स्वच्छ जलसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाका अभिषेक करते हैं उस धर्मके प्रभावसे उनका समस्त पापरूपी कर्म नष्ट हो जाता है ॥१९६॥ जो प्रतिदिन कपूर और कुंकुमसे मिले हुए चन्दनसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं वे उसके प्रभावसे स्वर्गमें अत्यन्त सुगन्धित शरीर

---

१. यह ऐसा कथन उपचारसे है वास्तवमें इतना पुण्य उसी समय हो जाता है ।

शाल्यक्षतैरखण्डैश्च सदुज्ज्वलैर्जिनेश्वरान् । समर्चयन्ति ये भव्याः ते भजन्त्यक्षयं सुखम् ॥१९८
जातीचम्पकसत्पद्मकेतक्यादिप्रसूनकैः । पूजयन्ति जिनान् भव्या नाके ते यान्ति पूज्यताम् ॥१९९
क्षीरमोदकपक्वान्नशाल्यन्नवटकादिभिः । जिनपूजां विधत्ते यो भजद्भोगं त्रिलोकजम् ॥२००
अभ्यर्चयन्ति ये दीपैः सत्कर्पूरघृतादिजैः । अर्हन्तं केवलज्ञानं ते भजन्ते सुदृष्टयः ॥२०१
चन्दनागुरुकर्पूरसद्द्रव्यादि दहन्ति ये । जिनाग्रे कर्मकाष्ठानां भस्मीभावं क्षयन्ति ते ॥२०२
सदाम्रकदलीनालिकेरपूगीफलादिकान् । ढौकयन्ति जिनाग्रे ये लभन्ते फलमीप्सितम् ॥२०३
पुष्पाञ्जलिं जिनेन्द्राणां ये क्षिपन्ति गृहाधिपाः । पुष्पवृष्टिसमाकीर्णं भजन्ति नाकमुत्तमम् ॥२०४
इत्यष्टभेदसञ्जातैर्महापूजामहोत्सवैः । अर्चयन्ति जिनेन्द्रान्ये तेषां स्युः सर्वसम्पदः ॥२०५
पादपद्मौ जिनेन्द्राणां ये बुधाः पूजयन्ति वै । इन्द्रभूतिं शुभात्प्राप्य देवैस्ते यान्ति पूज्यताम् ॥२०६
जिनेन्द्रपूजया भव्या लभन्ते चक्रवर्तिताम् । षट्खण्डवसुधायुक्तां रत्ननिध्यादिसंयुताम् ॥२०७
जिनपूजाप्रभावेन सत्तीर्थेशपदं नृणाम् । जायते महिमोपेतं त्रैलोक्यपतिपूजितम् ॥२०८
पूजां विना जिनेन्द्राणां भोगसौख्यादिकं सदा । जायते न मनुष्याणां तस्मात्सा क्रियते बुधैः ॥२०९
त्रिकालं जिननाथान् ये पूजयन्ति नरोत्तमाः । लोकत्रयभवं शर्म भुक्त्वा यान्ति परं पदम् ॥२१०

पाते हैं ॥१९७॥ जो भव्य जीव अखण्ड और उज्ज्वल अक्षतोंसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं वे अक्षयपद वा मोक्षके परम सुखको प्राप्त होते हैं ॥१९८॥ जो भव्य जीव जाती, चम्पा, कमल, केतकी आदिके सुन्दर पुष्पोंसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं वे स्वर्गमें भी पूज्य गिने जाते हैं ॥१९९॥ जो भव्य दूध, लड्डू, पकवान, शाली चावल, बड़े आदि नैवेद्यसे भगवान्‌की पूजा करते हैं वे तीनों लोकोंमें उत्पन्न हुए समस्त भोगोंको प्राप्त होते हैं ॥२००॥ जो सम्यग्दृष्टी पुरुष कपूर और घीके बने हुए दीपकसे भगवान्‌की पूजा करते है वे केवलज्ञानको अवश्य प्राप्त करते हैं ॥२०१॥ जो भव्य भगवान्‌के सामने चन्दन, अगुरु, कपूर आदि श्रेष्ठ द्रव्योंको दहन करते हैं, इनकी धूप बनाकर खेवते है वे कर्मरूपी ईंधनको भस्म कर डालते हैं ॥२०२॥ जो गृहस्थ आम, केला, नारियल, सुपारी आदि फलोंको भगवान्‌के सामने समर्पण करते है वे इच्छानुसार फलको प्राप्त होते हैं ॥२०३॥ जो गृहस्थ भगवान् जिनेन्द्रदेवपर पुष्पाजलि क्षेपण करते है वे पुष्पवृष्टिसे भरे हुए उत्तम स्वर्गमें जा विराजमान होते है ॥२०४॥ इस प्रकार आठ भेदोंसे उत्पन्न हुई महा पूजाके महोत्सवोंसे जो भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते है उनके सब तरहकी सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥२०५॥ जो विद्वान् भगवान् जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंको पूजा करते है वे प्राप्त हुए उस पुण्य कर्मके उदयसे इन्द्रकी विभूति पाकर अनेक देवोंके द्वारा पूज्य होते हे ॥२०६॥

भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे भव्य जीवोंको छहों खण्ड पृथ्वीसे सुशोभित तथा रत्न और निधियोंसे विभूषित चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है ॥२०७॥ भव्य जीवोंको इस भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजाके प्रभावसे अनन्त महिमासे सुशोभित और तीनों लोकोंके स्वामियोंके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है ॥२०८॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा किये विना मनुष्योंको भोग और सुखकी प्राप्ति कभी नहीं होती है इसीलिये विद्वान् लोग भगवान्‌की पूजा सदा किया करते हैं ॥२०९॥ जो उत्तम पुरुष सवेरे, दोपहर और शाम तीनों समय भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं वे तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाले समस्त भोगोंको भोगकर मोक्षपदमें जा विराजमान होते हैं ॥२१०॥ जो भव्य पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेवकी एक बार भी उत्तम पूजा कर

जिनाधीशस्य सत्पूजां वारैकं यः करोति सः। सुखं संसारजं लब्ध्वा मुक्तिस्त्रीं च वशं नयेत् ॥२११
पूजा कल्पद्रुमः पूजा कामधेनुश्च स्यान्नृणाम्। निधिश्चिन्तामणिः पूजा समीहितफलप्रदा ॥२१२
पूजयन्ति जिनेन्द्रान्न पूजया ये शठाः नराः। हस्तौ व्यर्थौ वृथा जन्म तेषां चात्र गृहाश्रमः ॥२१३
इति मत्वा बुधैर्नित्यं सुकर्तव्या श्रीजिनेशिनाम्। पूजा द्रव्यानुसारेण चेहामुत्र हितप्रदा ॥२१४
जिनानां पूजया रोगा नश्यन्ति बहुदुःखदा। दुःसहा ज्वरसम्पित्तवातकुष्ठादयोऽङ्गिनाम् ॥२१५
शाकिनी ग्रहदुष्टारिचौरक्षोभनृपादिजाः। उपद्रवाः क्षयं यान्ति पुंसां श्रीजिनपूजनात् ॥२१६
वधबन्धाद्भवं दुःखं शृङ्खलाहिविषादिजम्। नश्यत्येव नृणां लोके श्रीतीर्थेश्वरपूजया ॥२१७
जिनपूजायुतं दक्षं लक्ष्मीः संवरते स्वयम्। भुवनत्रये च सञ्जाता स्वयंवरवधूरिव ॥२१८
ये जिनार्चां विधायोच्चैर्ग्रामं गच्छन्ति भावतः। द्रव्यार्थं जायते लाभस्तेषां बहुरैदायकः ॥२१९
निर्विघ्नेन भवन्त्येव मङ्गलानि गृहेशिनाम्। विवाहादिस्वभावानि सर्वाणि जिनपूजया ॥२२०
तस्मात्पूर्वं गृहस्थैश्च कार्या पूजा जिनेशिनाम्। मङ्गलादिककार्यादौ निर्विघ्नार्थं शुभाय च ॥२२१
इहामुत्र हितार्थाय कर्तव्या गृहनायकैः। सदा पूजा जिनेन्द्राणां सर्वाभ्युदयसाधिनी ॥२२२
सद्दृष्टयः प्रकुर्वन्ति चाभिषेकं जिनस्य ये। जन्मस्नानं च ते प्राप्य मेरौ यान्ति शिवालयम् ॥२२३
घण्टां श्रीजिनदेवस्य ये दद्युः पुण्यहेतवे। घण्टादिसहितं यानमारूढा हि व्रजन्ति ते ॥२२४

लेता है वह समस्त सुखोंको पाकर मुक्तिस्त्रीको वश कर लेता है ॥२११॥ यह भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा मनुष्योंको इच्छानुसार फल देनेवाले कल्पवृक्षके समान है, कामधेनुके समान है, निधिके समान है अथवा चिन्तामणि रत्नके समान है ॥२१२॥ जो मूर्ख मनुष्य अष्टद्रव्यसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा नहीं करते उनके हाथ व्यर्थ हैं, उनका जन्म व्यर्थ है और इस लोकमें उनका गृहस्थाश्रम व्यर्थ है ॥२१३॥ यही समझकर विद्वानोंको अपने द्रव्यके अनुसार इस लोक व परलोकमें हित करनेवाली भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा नित्य और अवश्य करनी चाहिये ॥२१४॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे जीवोंके असह्य, वात, कोढ आदि घोर दुःख देनेवाले रोग सब नष्ट हो जाते है ॥२१५॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे मनुष्योंके शाकिनी, डाकिनी, भूत, पिशाच, दुष्ट, शत्रु, चोर, कोतवाल, राजा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त उपद्रव नष्ट हो जाते है ॥२१६॥ भगवान् तीर्थंकर परमदेवकी पूजा करनेसे वध बन्धनसे होनेवाले दुःख तथा सांकल, सर्प, विष आदिसे उत्पन्न होनेवाले संसारी मनुष्योके दुःख सब नष्ट हो जाते हैं ॥२१७॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवाले चतुर पुरुषको स्वयंवरमें आयी हुई कन्याके समान तीनों लोकोंमे रहनेवाली लक्ष्मी अपने आप आकर स्वीकार कर लेती है ॥२१८॥ जो भावपूर्वक भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करके द्रव्य कमानेके लिये दूसरे गाँवोंको जाते हैं उनको बहुतसी लक्ष्मी देनेवाला भारी लाभ होता है ॥२१९॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे गृहस्थोंके विवाह आदि समस्त मंगलकार्य निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो जाते है ॥२२०॥ इसलिये गृहस्थ लोगोको निर्विघ्नतापूर्वक कार्यकी समाप्तिके लिये अथवा पुण्योपार्जन करनेके लिये भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥२२१॥ इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंका हित करनेके लिये समस्त कल्याणोंको करनेवाली भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा सदा करते रहना चाहिये ॥२२२॥ जो सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करते हैं वे मेरु पर्वतपर जन्माभिषेक पाकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं—अर्थात् वे तीर्थंकर होते हैं, इसलिये मेरुपर्वतपर उनका जन्माभिषेक किया जाता है और अन्तमें वे मोक्ष जाते हैं ॥२२३॥ जो मनुष्य पुण्य उपार्जन करनेके लिये श्री जिनेन्द्रदेवको (उनके भवनमें) घण्टा समर्पण

दत्ते चन्द्रोपकं यो ना जिनागारे मनोहरे। एकछत्रं महद्राज्यं श्रयेत्सोऽपि शुभोदयात् ॥२२५
शोभार्थं श्रीजिनागारे दद्युः सच्चामराणि ये। चामरैर्वीज्यमाणं ते नाकराज्यं व्रजन्ति वै ॥२२६
धर्मोपकरणान्येव ये ददन्ति जिनालये। भोगोपकरणान्येव ते लभन्ते भवे भवे ॥२२७
सिद्धान्तादिसमुद्धारे दातव्यं द्रव्यमञ्जसा। सफलं येन तत्पुंसां भवेज्ज्ञानसुखादिकम् ॥२२८
चतुर्विधाय संघाय दानं देयं चतुर्विधम्। द्रव्याढ्येन गृहस्थेन यथायोग्यं शुभाय वै ॥२२९
जिनालये च तद्बिम्बे पूजोद्धारादिहेतवे। सिद्धान्तलेखने चाऽपि धनं देयं शुभाय वै ॥२३०
इत्युक्तेऽतिसुक्षेत्रे यो दानं दद्याद्वृषाप्तये। परलोके श्रयेत्सोऽपि संख्यातीतं धनं शुभात् ॥२३१
दीनानाथमनुष्येभ्यः प्रारौद्रेभ्यो गृहान्वितैः। अन्नदानं च दातव्यं कृपयातिदयाप्तये ॥२३२
कृपादानं न कुर्वन्ति ये तेषां कठिनं मनः। स्यादतो जायते पापं तस्माद्देयं हि तत्सदा ॥२३३
वापीकूपतडागादि सर्वं कार्यं न सन्नरैः। महाहिंसाकरं लोके नित्यं दुरितदायकम् ॥२३४
कूपादिखननाच्छिल्पी यथाऽधो याति निश्चितम्। तद्वत्तत्कारको मूढो यावच्छ्वभ्रं च सप्तकम् ॥२३५
यथा चैत्यालये पुण्यं नित्यं तत्कारिणां भवेत्। तथा कूपादिके पापं जीवोत्पत्तिविनाशतः ॥२३६
तडागेऽति महामत्स्यः प्रात्ति मीनलघून् बहून्। वकसारससङ्घश्च चक्रवाककदं वकम् ॥२३७

करते हैं वे परलोकमें अनेक घंटाओंसे सुशोभित विमानपर चढ़कर गमन करते हैं ॥२२४॥ जो मनुष्य मनोहर जिनभवनमें चन्दोवा देते हैं वे अपने पुण्य कर्मके उदयसे एक छत्र महाराज्यका उपभोग करते हैं ॥२२५॥ जो मनुष्य श्री जिनभवनकी शोभा बढ़ानेके लिये उसमें चमर समर्पण करता है वह अनेक ढुलते हुए चमरोंसे शोभायमान स्वर्गके साम्राज्यका उपभोग करता है ॥२२६॥ जो मनुष्य श्री जिनालयमें धर्मोपकरण देते हैं वे भव-भवमें भोगोपभोगके उपकरण (साधन) प्राप्त करते हैं ॥२२७॥ मनुष्योंको सिद्धान्त ग्रन्थोंका उद्धार करनेके लिये अवश्य द्रव्य प्रदान करना चाहिये। क्योंकि सिद्धान्तोंका उद्धार करनेसे ही मनुष्योंका ज्ञान वा सुख आदि सब सफल गिना जाता है ॥२२८॥ धनाढ्य पुरुषोंको पुण्य उपार्जन करनेके लिये चारों प्रकारके संघको यथायोग्य रीतिसे चारों प्रकारका दान देना चाहिये ॥२२९॥ गृहस्थोंको अपना पुण्य बढ़ानेके लिये, जिनालय के लिये, जिन प्रतिमाओंके लिये, जिन पूजाका उद्धार करनेके लिये और सिद्धान्त ग्रन्थोंका उद्धार करनेके लिये अपना धन देना चाहिये ॥२३०॥ जो गृहस्थ धर्मकी वृद्धिके लिये ऊपर कहे हुए पुण्यक्षेत्रोंमें दान देता है वह उस पुण्य कर्मके उदयसे परलोकमें अनन्त धनको प्राप्त होता है ॥२३१॥ गृहस्थोंको अपना दयाधर्म बढ़ानेके लिये दयापूर्वक जो हिंसक वा रुद्रपरिणामी नही है ऐसे दीन और अनाथ लोगोंको अन्नदान अवश्य देना चाहिये ॥२३२॥ जो पुरुष करुणादान नहीं करते उनका मन कठोर हो जाता है और मन कठोर हो जानेसे पाप लगता है इसलिये गृहस्थोंको सदा करुणादान देते रहना चाहिये ॥२३३॥ उत्तम पुरुषोंको बावड़ी, कूँआ और तलाव आदि नहीं करना चाहिये क्योंकि इनके बनवानेमें महा हिंसा होती है और इनसे संसारमें सदा पाप उत्पन्न होते रहते हैं ॥२३४॥ कुँआ खोदनेवाला कारीगर जिस प्रकार नीचे ही नीचेको चलता जाता है उसी प्रकार उसका खुदानेवाला अज्ञानी पुरुष भी सातवें नरकतक नीचे ही नीचे चला जाता है ॥२३५॥ जिस प्रकार चैत्यालयके बनवानेमें उसके बनवानेवालेको सदा पुण्यकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार कुँआमें भी सदा जीवोंकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है इसलिये उनके बनवानेवालोंको भी सदा ही पापकी प्राप्ति होती रहती है ॥२३६॥ तलावोंमें बड़े बड़े मगरमच्छ छोटी छोटी अनेक मछलियोंको खा जाते हैं, बगला, बाज, चकवा चकवी आदि अनेक पक्षियोंका

आखेटिनः समागत्य तत्र जालं क्षिपन्ति भो। मत्स्यार्थं ततस्तेभ्यो महाहिंसा प्रवर्तते ॥२३८
इति मत्वा न कर्तव्यं सर्वं कूपादिकं क्वचित्। अहिंसाव्रतरक्षार्थं पापभीतैरघप्रदम् ॥२३९

सकलसुखनिधानं सर्वभोगैकखानिं, विमलगतिकरं वै स्वर्गसोपानभूतम्।
नरकगृहकपाटं स्वान्ययोः सौख्यहेतुं सुभग! सुमुनये त्वं प्रान्नदानं ददस्व ॥२४०
मुनिजनसुखहेतुं रोगमातङ्गसिंहं, विमलगुणसमुद्रं प्रासुकं धर्मसिद्धयै।
मनुज हि यतये त्वं रोगग्रस्तापसारं, प्रचुरसुखसुगेहं स्वौषधं वै ददस्व ॥२४१
शिवगतिगृहमार्गं सर्वलोकोपकारं, त्रिभुवनपतिसेव्यं विश्वतत्त्वप्रदीपम्।
दुरिततिमिरसूर्यं धर्मवृक्षस्य कन्दं, बुध! कुरु श्रुतप्राप्त्यै ज्ञानदानं मुनिभ्यः ॥२४२

ये कुर्वन्ति जिनालयं बुधजना धर्माकरं धर्मदं
स्वर्मोक्षैकनिबन्धनं यतिजनैः सेव्यं निधानोपमम्।
ते वन्द्याः परलोकसाधनधियः प्राप्याच्युतं शर्मदं
राज्यं चानुव्रजन्ति मोक्षमतुलं धर्मोदयान्निश्चितम् ॥२४३
कुर्वन्ति बिम्बं भुवनैकपूज्यं जिनेश्वराणां सुसमर्चनीयम्।
सत्पुण्यगेहं च महास्वरूपं भुक्त्वा सुखं तेऽपि व्रजन्ति मोक्षम् ॥२४४

समुदाय मछलियोंकी हिंसा करते रहते हैं, और अनेक शिकारी आ आकर मछलियोंके लिये जाल फैलाते हैं। इन सब कामोंसे महा हिंसा होती है ॥२३७-२३८॥ यही समझकर अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेके लिये पापोंसे डरनेवाले श्रावकोंको पाप उत्पन्न करनेवाला बावड़ी कुँआ तलाव आदि कभी नहीं बनवाना चाहिये ॥२३९॥

हे भव्य! मुनियोंके लिये आहारदान देना समस्त सुखोंकी निधि है, समस्त भोग उपभोग-की खानि है, स्वर्गादिक निर्मल गतियोंको देनेवाला है, स्वर्गकी सीढ़ी है, नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ है, अपने और दूसरोंके लिये सुखका कारण है और सबसे सुन्दर वा उत्तम है इसलिये हे भव्य! तू मुनिराजोंके लिये सदा आहारदान दे ॥२४०॥ इसी प्रकार मुनियोंके लिये औषधदान देना मुनियोंके लिये सुखका कारण है, रोगरूपी हाथीको मारनेके लिये सिंहके समान है, निर्मल गुणोंका समुद्र है और अनन्त सुखका घर है, इसलिये हे भव्य, तू धर्मकी सिद्धिके लिये रोगी मुनियोंका सारभूत और प्रासुक औषधि दे, अर्थात् औषधदान कर ॥२४१॥ आहारदान और औषधिदानके समान ज्ञानदान भी मोक्षमहलमें पहुँचानेका कारण है, समस्त जीवोंका उपकार करनेवाला है, तीनों लोकोंके स्वामी तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, यह समस्त तत्त्वोंके प्रकट करने-दिखलानेके लिये दीपक है, पापरूपी अँधेरेको दूर करनेके लिये सूर्य है और धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, इसलिये हे विद्वन्! श्रुतज्ञानको प्राप्त करनेके लिये तू मुनियोंके लिए ज्ञानदान दे ॥२४२॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवका जिनभवन धर्मकी खानि है, धर्मकी वृद्धि करनेवाला है, स्वर्ग मोक्षका कारण है, मुनिराज भी इसकी सेवा करते है (वन्दना करते है) और यह जिनालय एक विधानके समान है। ऐसे जिनालयको जो विद्वान् लोग बनवाते है वे संसारमें वन्दना करने योग्य हैं। उन्होंने अपनी बुद्धिको परलोककी सिद्धिमें ही लगा रक्खा है। ऐसे लोग उस इकट्ठे किये हुए धर्मके प्रभावसे सुख देनेवाले अच्युत स्वर्गके राज्यको पाकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥२४३॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवका प्रतिबिम्ब भी संसारभरमें पूज्य है, सदा पूजनीय है और श्रेष्ठ

ये कुर्वन्ति जिनेशिनां सुविमलां सारां प्रतिष्ठां बुधाः
सद्धर्मैकधुरामसंख्यजनसत्पुण्यप्रदां सौख्यदाम् ।
ते धन्याः सुभगां श्रियं सुखकरां लब्ध्वा त्रिलोकोद्भवां
पश्चाद्यान्ति शिवालयं सुखनिधिं सद्धर्मसंवर्द्धनात् ॥२४५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे चतुर्विधदानप्ररूपको नाम विंशतितमः परिच्छेदः ॥२०॥

●

पुण्यका घर है, इसलिये जो भव्य पुरुष ऐसे महा सुन्दर प्रतिबिम्बका निर्माण कराते हैं, जिनप्रतिमा बनवाते हैं वे अनेक सुखोंको भोगकर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२४४॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिष्ठा कराना सबमें सारभूत है, निर्मल गुणोंकी खानि है, श्रेष्ठ धर्मकी एक मात्र पृथ्वो है अर्थात् श्रेष्ठ धर्मकी उत्पत्ति प्रतिष्ठासे ही होती है, यह असंख्यात लोगोंको पुण्य कर्मोंका उपार्जन करानेवाली है और अनन्त सुख देनेवाली है इसलिये जो विद्वान् जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराते हैं वे संसारमें धन्य हैं और वे ही सुन्दर हैं। ऐसे लोग श्रेष्ठ मोक्ष मार्गरूप धर्मकी वृद्धि करनेके कारण तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाली और अपरिमित सुख देनेवाली लक्ष्मीका उपभोग कर अन्तमें अनन्त सुखकी निधि ऐसे मोक्षस्थानमें जा विराजमान होते हैं ॥२४५॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें चारों प्रकारके दानके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह बीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२०॥

●

इक्कीसवाँ परिच्छेद

नमिनाथं जिनाधीशं नमिताशेषविद्विषम् । धर्मामृतमहामेघं नमस्यामि सुखाप्तये ॥१
पञ्चातिचारसन्त्यक्तं मुनिभ्यो यो ददाति सः । अन्नदानं शिवं याति प्राप्य भोगं त्रिलोकजम् ॥२
भगवन् ! मे व्यतीपातान् दयां कृत्वा निरूपय । वक्ष्येऽहं शृणु ते मित्र ! दोषान् दानमलप्रदान् ॥३
स्यातां सचित्तनिक्षेपपिधाने स्यादनादरः । मत्सरत्वं च कालातिक्रमो दानस्य दोषतः ॥४
सचित्तपद्मपत्रादावन्नं संस्थापयेन्नरः । प्रासुकस्यैव वा मध्येऽपुण्यार्थं सोऽपि तं श्रयेत् ॥५
पत्रादिनापि यः कुर्यादन्नं यतेश्च हेतवे । आच्छादनं श्रयेत्सोऽपि दोषं लोके पिधानकम् ॥६
आदरेण विना दानं सत्पात्राय ददाति यः । दानस्यानादरो दोषो जायते तस्य पापतः ॥७
अन्येषां योऽपि दातॄणां गुणं दानसमुद्भवम् । सहते नैव तद्दोषं भजते दानमदान्वितः ॥८
स्थापयित्वा गृहे पात्रं दत्ते दानं प्रमादतः । योग्यकालं परित्यज्य स कालातिक्रमं भजेत् ॥९
दूरीकृत्य जनो दोषान्सर्वान् दानं ददाति यः । महापात्राय प्राप्नोति मनोऽभीष्टं फलं स वै ॥१०
चतुर्विधं महादानं दत्ते पात्राय यो बुधः । इहाऽमुत्र सुखं भुक्त्वा क्रमाद्याति शिवालयम् ॥११
चतुर्विधमहादानात्प्राप्तं यैश्च सुखं शुभम् । दक्षैस्तेषां कथां स्वामिन् ! कथय त्वं ममादरात् ॥१२

जिन्हें समस्त शत्रुमंडल भी नमस्कार करता है और जो धर्मरूपी अमृतको बरसानेके लिये महामेघके समान हैं ऐसे श्री नमिनाथ जिनेन्द्रदेवको मै सुखकी प्राप्तिके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जो बुद्धिमान् पाँचों अतिचारोंका त्यागकर मुनिराजके लिये आहारदान देता है वह तीनों लोकोंके भोगोंका अनुभव कर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥२॥ प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर मेरे लिये उन अतिचारोंका निरूपण कीजिये। उत्तर—हे मित्र ! सुन, मै दानमें मल उत्पन्न करनेवाले उन अतिचारोंको कहता हूँ ॥३॥ सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, अनादर, मत्सर और कालातिक्रम ये पाँच दानमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतिचार हैं ॥४॥ जो कमलपत्र आदि सचित्त पदार्थोंपर मुनिराज-के लिये देनेयोग्य प्रासुक आहार रखता है अथवा प्रासुक आहारके मध्यमें सचित्त वस्तुको रखता है उसके सचित्तनिक्षेप नामका अतिचार लगता है, यह भी पापके लिए होता है ॥५॥ जो पुरुष मुनिराजके लिये देनेयोग्य दानको कमलपत्र आदि सचित्त पदार्थसे ढकता है उसके सचित्तापिधान नामका अतिचार लगता है ॥६॥ जो उत्तम पात्रोंके लिये विना आदर सत्कारके दान देता है उसके पाप उत्पन्न करनेवाला अनादर नामका अतिचार लगता है ॥७॥ जो पुरुष अन्य दाताओंके दानमें उत्पन्न होनेवाले गुणोंको सहन नहीं कर सकता है उसके मत्सर नामका अतिचार लगता है ॥८॥ जो घरमें पात्रको स्थापन करके प्रमादके कारण योग्य कालको उल्लंघन कर दान देता है उसके कालातिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥९॥ जो पुरुष सदा दोषोंको छोड़कर महापात्रोंके लिये उत्तम दान देता है उसके सब मनोरथ फलीभूत होते हैं ॥१०॥ जो विद्वान् सुपात्रोंके लिये चारों प्रकारका महादान देता है वह इस लोक और परलोक दोनों लोकोंके सुख भोगकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥११॥ प्रश्न—हे स्वामिन् ! चारों प्रकारके दान देनेसे जिन्होंने बहुत अच्छा सुख प्राप्त किया है उनकी कथा कृपाकर कहिये ॥१२॥ उत्तर—हे महाभाग ! सुन मैं श्री शान्तिनाथ-

शृणु त्वं भो महाभाग ! कथयामि कथां तव । महापुण्यकराद्दानाज्जातां शान्तिभवाविजाम् ॥१३
श्रीषेणो यो नृपो ख्यातो दाने लोकत्रये भवेत् । कथां तस्य प्रवक्ष्यामि संक्षेपेण शुभप्रदाम् ॥१४
मलयाख्ये शुभे देशे रत्नसञ्चयसत्पुरे । नृपः श्रीषेणनामाभूद्धीरो दाता गुणैकभूः ॥१५
तस्य राज्ये शुभे सिंहनिन्दितानिन्दिते वरे । स्यातां पुण्यप्रभावेन हावभावविभूषिते ॥१६
तयोः पुत्रौ समुत्पन्नाविन्द्रोपेन्द्रौ सुलक्षणौ । दक्षौ शास्त्रविचारज्ञौ दानपुण्यादिसंयुतौ ॥१७
सात्यकाख्यो भवेत्तत्र विप्रो जम्बूश्च ब्राह्मणी । सत्यभामा तयोः पुत्री जाता रूपगुणान्विता ॥१८
पुरे पाटलिपुत्राख्ये रुद्रभट्टो द्विजो वसन् । पापवान् द्विजपुत्राणां वेदान् पाठयति क्रमात् ॥१९
तदीयः चेटिकापुत्रः कपिलाख्यो मतेर्बलात् । शृण्वानः कर्णसंघातान् जातस्तत्पारगोऽचिरात् ॥२०
रुद्रभट्टेन स तस्मात्पुरान्निर्घाटितो हठात् । सोत्तरीयं च यज्ञोपवीतं वस्त्रादिकं दधौ ॥२१
विप्रवेषं समादाय स रत्नसञ्चयाभिधे । पुरे कपटसंयुक्तो गतः कुज्ञानतत्परः ॥२२
दृष्ट्वाशु सात्यकिस्तं च सुरूपं वेदपारगम् । नीत्वा गृहमदात्तस्मै सत्यभामां सतीं शुभाम् ॥२३
रतिकाले समालोक्य विटचेष्टां कुकाकजाम् । विषादं विदधे सा न कुलजोऽयं भविष्यति ॥२४
एकदा रुद्रभट्टश्च तीर्थयात्रां परिभ्रमन् । समायातः पुरे तत्र यत्र स्यात्कपिलो द्विजः ॥२५
कपिलेन नमस्कारं कृत्वा नीतं स्वमन्दिरे । भोजनं कारयित्वा स दत्तं वस्त्रादि भूषणम् ॥२६
भार्यायांश्च लोकादीनामग्रेऽपि कथितं स्फुटम् । मदीयोऽयं पिता ख्यातस्तेन मूढेन तत्क्षणम् ॥२७

स्वामीकी महा पुण्य उत्पन्न करनेवाली कथा कहता हूँ ॥१३॥ आहारदान देनेमें राजा श्रीषेण तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये मैं उनकी पुण्य उत्पन्न करनेवाली कथा संक्षेपसे कहता हूँ ॥१४॥ मलय नामके शुभदेशमें रत्नसंचयपुर नामके नगरमें अनेक गुणोंका घर धीरवीर दाता ऐसा श्रीषेण नामका राजा राज्य करता था ॥१५॥ उस राजा श्रीषेणके पुण्यके प्रभावसे सिंहनन्दिता और अनिन्दिता नामकी दो रानी थीं जो कि हाव भाव आदि समस्त गुणोंसे सुशोभित थीं ॥१६॥ उनके इन्द्र और उपेन्द्र नामके दो पुत्र थे जो अत्यन्त चतुर थे, शास्त्रोंके जानकार थे और दान पुण्य करनेमें निपुण थे ॥१७॥ उसी नगरमें एक सात्यकी नामका ब्राह्मण रहता था उसकी ब्राह्मणीका नाम जम्बू था, उनके रूप और गुणोंसे सुशोभित सत्यभामा नामकी पुत्री थी ॥१८॥ इधर पाटलिपुत्र नामके नगरमें रुद्रभट्ट नामका ब्राह्मण रहता था। वह विद्वान् था और ब्राह्मणोंके पुत्रोंको पढ़ाया करता था ॥१९॥ उसके घरमें कपिल नामका उसकी दासीका पुत्र रहता था। वह उन पाठोंको सुनते-सुनते सब शास्त्रोंका पारगामी हो गया था ॥२०॥ उन दासीपुत्रको शास्त्रोंका पारगामी होता देखकर रुद्रभट्टने अपने घरसे निकाल दिया। तब उसने यज्ञोपवीत और उत्तरीय (जनेऊ, दुपट्टा आदि) आदि वस्त्र पहिनकर ब्राह्मणका भेष धारण किया तथा मिथ्याज्ञानमें तत्पर रहने-वाला वह कपिल इस प्रकार कपट धारण कर रत्नसंचयपुरमें पहुँचा ॥२१-२२॥ वहाँपर उसे सात्यकी ब्राह्मणने देखा। उसे रूपवान् तथा वेदका पारगामी जानकर अपने घर ले आया और सत्यभामा नामकी शुभ और सती कन्या उसे ब्याह दी ॥२३॥ रात्रिके समय सत्यभामाने उसका अच्छा व्यवहार न देखकर हृदयमें खेद माना और एक प्रकारसे निश्चय सा कर लिया कि यह उत्तम कुलीन नहीं है ॥२४॥ किसी एक समय रुद्रभट्ट ब्राह्मण तीर्थयात्राके लिये परिभ्रमण करता हुआ उसी रत्नसंचयपुरमें आ पहुँचा जहाँ कि कपिल ब्राह्मण रहता था ॥२५॥ कपिलने देखते ही उसे नमस्कार किया और अपने घर ले जाकर भोजन कराकर तथा वस्त्र आभूषण देकर उसका खूब ही आदर सत्कार किया ॥२६॥ उस मूर्ख कपिलने अपनी स्त्री और समस्त लोगोंके सामने उसी

विशिष्टं भोजनं दत्वा बहु स्वर्णं च तस्य वै। लगित्वा पादयोः पृष्टं कपिलस्य कुलं तथा ॥२८
ततस्तेन स्वयं सत्यमुक्तं पुत्रि ! तव प्रियः। मदीयश्चेटिकासूनुः कपिलोऽयं द्विजोऽधमः ॥२९
तदाकर्ण्य विरक्ता सा चिन्तयामास मानसे। वरं भुक्तं विषान्नं न नरं हीनकुलप्रजम् ॥३०
ततस्त्यक्त्वाऽपि तं दुष्टं शीलभङ्गभयाद् द्रुतम्। सिंहादिनिन्दिता देव्याः प्रविष्टा शरणं च सा ॥३१
तया सा प्रतिपन्नाऽपि धर्मपुत्री शुभोदयात्। सत्यभामा स्थिता तत्र दानपूजादिसंयुता ॥३२
एकदा तद्गृहे धीरावागतौ चारणौ मुनी। आहारार्थं जगत्पूज्यौ ध्यानाध्ययनतत्परौ ॥३३
दृष्ट्वा तौ स्थापितौ राज्ञा प्रणम्य चरणद्वयम्। अर्ककीर्तिर्मुनिर्ज्येष्ठश्चामितादिगतिः लघुः ॥३४
ततो दत्तो वराहारो मुनिभ्यां विधिवत्स्वयम्। श्रीषेणनरेशेण भक्तितत्परचेतसा ॥३५
दानकाले महापुण्यं श्रीषेणेन यथार्जितम्। तथा दानानुमोदेन राज्ञीभ्यां सत्यभामया ॥३६
तत्फलेन मृतो राजा राज्ञीभ्यां सह निश्चितम्। उत्कृष्टभोगभोमौ च सादृश्यशुभयोगतः ॥३७
ब्राह्मणी सत्यभामापि तत्र जाता मनोहरा। आर्यादानानुमोदादिजातपुण्यविपाकतः ॥३८
सद्वस्त्रगृहसन्मालाभूषणादिसमन्वितम्। मनोभिलषितं नित्यं निरौपम्यं शुभावहम् ॥३९
सर्वेन्द्रियसमाह्लादकारणं समप्रीतिजम्। पल्यत्रयप्रमाणायुःरोगक्लेशादिविच्युतम् ॥४०
ईदृशं दशभेदं सा कल्पद्रुमद्विपञ्चजम्। भुङ्क्ते तत्र सुखं चायुः स्वपुण्यफलपाकतः ॥४१

समय स्पष्ट शब्दोंमें कह सुनाया कि ये मेरे पिता हैं ॥२७॥ किसी एक दिन सत्यभामाने रुद्रभट्टको बहुत ही उत्तम भोजन खिलाया और उसे बहुत-सा सुवर्ण देकर तथा उसके पैरो पड़कर कपिलका कुल पूछा ॥२८॥ तब रुद्रभट्टने सच बात कह दी और कह दिया कि हे पुत्री ! यह कपिल नामका तेरा पति मेरी दासीका पुत्र नीच ब्राह्मण है ॥२९॥ इस बातको सुनकर वह अपने मनमें बड़ी विरक्त हुई और विचार करने लगी कि विष मिला भोजन खा लेना अच्छा, परन्तु हीन कुल मनुष्यके साथ रहना अच्छा नही ॥३०॥ तदनन्तर उसने उस दुष्टका त्याग कर दिया और अपने शीलभंग होनेके भयसे वह महाराज श्रीषेणकी रानी सिहनन्दिता तथा अनिन्दिताके शरणमें जा पहुँची ॥३१॥ सिंहनन्दिताने उसे अपनी धर्मपुत्री मानकर रक्खा। इस प्रकार दान पूजा आदि कार्योंको करती हुई वह सत्यभामा वहाँ रहने लगी ॥३२॥ किसी एक दिन ध्यान और अध्ययनमें तत्पर रहनेवाले दो चारण मुनिराज आहारके लिये महाराज श्रीषेणके घर पधारे ॥३३॥ उन्हें देखते ही महाराजने उन्हें स्थापन किया और उनके चरणकमलोंको नमस्कार किया। उन दोनों मुनिराजोंमें अर्ककीर्ति बड़े थे और अमितगति छोटे थे ॥३४॥ तदनन्तर भक्ति करनेमें तत्पर रहनेवाले महाराज श्रीषेणने उन दोनों मुनिराजोंको विधि-पूर्वक उत्तम आहार दिया ॥३५॥ जिस प्रकार महाराज श्रीषेणने वह आहारदान देकर महापुण्य उपार्जन किया उसी प्रकार उस दानकी अनुमोदना करनेके कारण दोनों रानियोंने और सत्यभामाने भी पुण्य उपार्जन किया ॥३६॥ उस दानके फलसे राजा श्रीषेण अपनी दोनों रानियोंके साथ उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। तथा ब्राह्मणी सत्यभामा भी आहारदानकी अनुमोदना करनेसे और उसके ही सदृश पुण्यके फलसे उसी उत्तम भोगभूमिमें आर्या हुई ॥३७–३८॥ वहाँपर वस्त्रांग, गृहांग, मालांग, भूषणांग आदि सब तरहके कल्पवृक्ष थे, उनके कारण अपनी इच्छानुसार, उपमा रहित, स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले, समस्त इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाले और समान प्रेम उत्पन्न करनेवाले भोग अपने पुण्य कर्मके उदयसे भोगने लगे। इस प्रकार दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए दश प्रकारके भोग विना किसी रोग क्लेश आदि बाधाओंके उन आर्य और आर्याओंने तीन पल्य तक भोगे ॥३९–४१॥ इस प्रकार सुखपूर्वक अपनी आयु पूरीकर राजा श्रीषेण-

कालान्तरेऽपि परिप्राप्य देवभूतिं महर्द्धिकाम् । भुक्त्वा नृदेवजं शर्म स द्वादशभवे शुभे ॥४२
क्रमाच्छ्रीशान्तिनाथोऽयं जातस्तीर्थकराह्वयः । पात्रदानसुपुण्येन कामदेवश्च चक्रभृत् ॥४३
दानेनैव सुकेत्वाख्यो देवानां दुर्जयोऽप्यभूत् । अनेकऋद्धिसंयुक्तो विख्यातो यो जगत्त्रये ॥४४
मुक्तिरामां करे प्राप्तः सद्वैश्यकुलमण्डनः । तस्य ज्ञेया कथा दक्षैः शास्त्रे पुण्यास्रवाभिधे ॥४५
यो धन्यादिकुमारोऽत्र वैश्यपुत्रो गुणैकभूः । विविधर्द्धिसमायुक्तः सञ्जातो निधिसंयुतः ॥४६
भोगोपभोगसम्पन्नो दानपुण्यफलोदयात् । तस्य धीरस्य संज्ञेया कथा शास्त्रे प्ररूपिता ॥४७
श्रेयो नाम नृपो जातो विख्यातो भुवनत्रये । वृषभाय जिनेन्द्राय स्वब्देकोपोषिताय यः ॥४८
दत्त्वा दानं च सम्प्राप्य रत्नवृष्ट्यादिकं सुरैः । मुक्तिभर्तुः कथा तस्य ज्ञेया शास्त्रे वृषेशिनः ॥४९
वज्रजङ्घो नृपो दत्त्वा चारणाभ्यां सुभावतः । अन्नदानं क्रमादासीदादिनाथोऽपि यो जिनः ॥५०
कथा तस्य बुधैर्ज्ञेया विख्याता भुवि कीर्तिता । आदिनाथपुराणेऽपि धर्मसंवेगकारणे ॥५१
अन्ये ये बहवः प्राप्ताः पशवश्च नराः सुखम् । दानतोऽमुत्र कस्तेषां कथां सङ्गदितुं क्षमः ॥५२
त्रिभुवनपतिपूज्यो धर्मतीर्थस्य कर्ता सकलगुणवराब्धिः शान्तिनाथो जिनेशः ।
शिवगतिसुखहेतुर्येन दानेन जातः कुरु बुध ! सुखबीजं पात्रदानं सदा त्वम् ॥५३
अन्नदानभवां सारां कथां व्याख्याय ते पुनः । वक्ष्ये वृषभसेनायाः कथामौषधदानजाम् ॥५४

के जीवने अनेक महा ऋद्धियोंसे सुशोभित देवोंकी विभूति पाई और इस प्रकार देव और मनुष्योंके उत्तम उत्तम सुख भोगकर अपने उस भवसे बारहवें शुभ भवमें शान्तिनाथ तीर्थंकर चक्रवर्ती और कामदेवका पद प्राप्त था ॥४२-४३॥ इस दानके ही प्रभावसे वैश्यकुलको सुशोभित करनेवाला सुकेतु देवोंसे भी अजेय हुआ था अर्थात् उसे देव भी नही जीत सकते थे तथा उसने अनेक ऋद्धियों-से सुशोभित होनेवाले तथा तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध ऐसे देवोंके सुख भोगे । तदनन्तर उसने मुक्तिरूपी वधू अपने वशमें की, उसकी कथा चतुर पुरुषोंको पुण्यास्रव पुराणसे जान लेनी चाहिये ॥४४-४५॥ इसी प्रकार अत्यन्त गुणवान् वैश्यपुत्र धन्यकुमारको दानसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यके फलसे अनेक प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं, निधियाँ प्राप्त हुई थीं और अनेक प्रकारके भोगोपभोग प्राप्त हुए थे, उस धीरवीरकी कथा भी शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये ॥४६-४७॥ राजा श्रेयांसने भी एक वर्षके उपवासे श्री वृषभदेव तीर्थंकरको दान दिया था इसलिये वे तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हुए थे । देवोंने उनके घर रत्नवृष्टि आदि पञ्चाश्चर्य किये थे और अन्तमें उन्हे मोक्ष पद प्राप्त हुआ था, उनकी कथा आदिपुराणसे जान लेनी चाहिये ॥४८-४९॥ राजा वज्रजंघने भी चारण मुनियोंको आहार दान दिया था इसलिये वे अनुक्रमसे श्री वृषभदेव तीर्थंकर हुए थे । उनकी कथा धर्म और संवेगको प्रगट करनेवाले आदिनाथपुराणमें प्रसिद्ध है, वहाँसे जान लेनी चाहिये ॥५०-५१॥ इस दानके प्रभावसे अन्य भी कितने ही मनुष्योंने तथा कितने ही पशुओंने सुख पाया है उन सबकी कथा कौन कह सकता है ॥५२॥ देखो इस दानके ही प्रभावसे भगवान् शान्तिनाथ तीनों लोकोंके स्वामी व तीनों लोकोंमें पूज्य हुए थे, धर्म तीर्थके कर्ता हुए थे, समस्त गुणोंके समुद्र और मोक्षके अनुपम सुख प्राप्त करनेवाले हुए थे । यह पात्र दान अनेक सुखोंका कारण है इसलिये हे मित्र ! तू सदा पात्रदान कर ॥५३॥

इस प्रकार आहारदानमें प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेणकी कथा कहकर अब औषधि दानमें प्रसिद्ध होनेवाली वृषभसेनाकी कथा कहते हैं ॥५४॥ जनपद नामके देशके कावेरी नगरमें पूर्वोपार्जित

देशे जनपदाख्ये च कावेरीपत्तने शुभे। उग्रसेननृपो जातः पूर्वोपार्जितपुण्यतः ॥५५
श्रेष्ठी धनपतिस्तत्र धनश्रीर्वल्लभा शुभा। तयोर्वृषभसेनाख्या पुत्री जाता गुणान्विता ॥५६
तस्या रूपवती नाम धात्री शुद्धिसमन्विता। स्नानाञ्जनान्नसद्वस्त्रैः पोषिका स्याच्छुभोदयात् ॥५७
एकदा स्नानगर्तायां पुण्याद् रोगाढ्यकुर्कुरः। पतित्वा च लुठित्वापि त्यक्तरोगो बभूव सः ॥५८
त्यक्तरोगं हि तं दृष्ट्वा श्वानं सञ्चिन्तितं तया। पुत्रीस्नानजलं चात्र भवेदारोग्यकारणम् ॥५९
तया तदा परीक्षार्थं धौते मातुश्च लोचने। द्वादशाब्दमहाव्याधिग्रस्ते जाते शुभे स्वयम् ॥६०
ततो जाता प्रसिद्धा सा धात्रीलोके सुलक्षणा। सर्वामयविनाशेषु मान्या सर्वजनैस्तथा ॥६१
एकदाऽप्युग्रसेनेन मन्त्री पिङ्गलसंज्ञकः। बहुसैन्यसमायुक्तः प्रेषितः शत्रुशान्तये ॥६२
मेघपिङ्गलराज्यस्य देशे यावत्स्थितस्य सः। तावज्ज्वरेण संग्रस्तो विषोदकप्रसेवनात् ॥६३
तत्र स्थातुमशक्तोऽपि ततो व्याघुट्य चागतः। रूपवत्याशु नीरोगी कृतस्तेन जलेन सः ॥६४
उग्रसेनो महाकोपादागतस्तत्र तथा ज्वरी। भूत्वा पुनः समायातोऽसमर्थः सङ्गरादिके ॥६५
जलवार्तां समाकर्ण्य राज्ञा मन्त्रिमुखात्स्वयम्। तज्जलं याचितं धात्र्याः पार्श्वे व्याधिविनाशनम् ॥६६
ततो धनश्रियाः प्रोक्तं पुत्रीस्नानजलं कथम्। क्षिप्यते मस्तके राज्ञः श्रेष्ठस्त्वं हि विचारय ॥६७
स आह जलवार्ता स नृपो यदि च पृच्छति। कथनीयं तदा सत्यं दोषो नास्ति कदाचन ॥६८

पुण्यकर्मके उदयसे राजा उग्रसेन राज्य करता था ॥५५॥ उसी नगरमें एक धनपति नामका सेठ रहता था और उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। उन दोनोंके अनेक गुणोंसे सुशोभित वृषभसेना नामकी पुत्री हुई थी ॥५६॥ उसकी एक धाय थी जो बड़ी बुद्धिमती थी और रूपवती उसका नाम था। वह वृषभसेनाको स्नान कराया करती थी और वस्त्र पहिनाया करती थी ॥५७॥ किसी एक दिन जिस गड्ढेमें वृषभसेनाके स्नानका जल भर रहा था उसमें एक रोगी कुत्ता गिर गया। वह उस गड्ढेमें कुछ लोटा पोटा और फिर नीरोग होकर उसमेंसे निकल आया ॥५८॥ उसे नीरोग होकर निकलते देखकर धायने यह विचार किया कि अवश्य ही इस वृषभसेनाके स्नानका जल रोगोंको दूर करनेका कारण है ॥५९॥ तब उसने परीक्षा करनेके लिये अपनी माताकी आँखोंपर वह जल लगाया। माताकी आँखें बारह वर्षसे बिगड़ रही थीं वे उस जलके लगाते ही अच्छी हो गईं ॥६०॥ तब तो वह सुलक्षणा धाय समस्त रोगोंके दूर करनेमें प्रसिद्ध हो गई और सब लोग उसे मानने लगे ॥६१॥ किसी एक समय राजा उग्रसेनने अपने पिंगल नामके मन्त्रीको बड़ी सेनाके साथ अपने शत्रु राजा मधुपिंगलके साथ युद्ध करनेके लिये उसीके देशमें भेजा, परन्तु मधुपिंगलने वहाँके जलोंमें विष डलवा रक्खा था इसलिये सेनाके सब लोग एक प्रकारके ज्वरसे रोगी हो गये ॥६२–६३॥ वे लोग वहाँपर ठहर नहीं सके इसलिये लौटकर चले आए और रूपवती धायके द्वारा उसी वृषभसेनाके स्नानके जलसे अच्छे हो गये ॥६४॥ तब क्रोधित होकर राजा उग्रसेन स्वयं युद्ध करनेके लिये गया और उसी प्रकार रोगी होकर तथा युद्ध करनेमें असमर्थ होकर लौट आया ॥६५॥ राजाने उस जलकी बात मंत्रीके मुखसे स्वयं सुनी और फिर रूपवती धायसे वह रोगोंको दूर करनेवाला जल मँगवाया ॥६६॥ तब वृषभसेनाकी माता धनश्रीने सेठसे कहा कि पुत्रीके स्नानका जल राजाके मस्तकपर किस प्रकार डालना चाहिये जरा इसका भी तो विचार कीजिये ॥६७॥ तब सेठने उत्तर दिया कि यदि महाराज जलकी बात पूछेंगे तो सच बात ज्योंकी त्यों कह दी जायगी फिर इसमें कोई दोष

ततस्तया जलेनैव नीरोगी स कृतो नृपः । राज्ञा नीरस्य माहात्म्यं पृष्टा रूपवती तदा ॥६९
निरूपितं तया सत्यं राज्ञा श्रेष्ठी समाहूतः । विधाय गौरवं कन्यां परिणेतुं स याचितः ॥७०
ततः स श्रेष्ठिना प्रोक्तं यदि राजन् ! करोषि वै । अष्टाह्निकीं महापूजां बिम्बानां श्रीजिनालये ॥७१
पञ्जरस्थान् खगान् सर्वान् मनुष्यांश्चैव मुञ्चसि । कारागारात्तदा तेऽहं तां ददामि न चान्यथा ॥७२
उग्रसेनेन तत्सर्वं कृत्वा परिणीता हि सा । पट्टराज्ञी कृता स्नेहाज्जाता तस्यातिवल्लभा ॥७३
एकस्मिन् योऽपि प्रस्तावे वाणारस्या नृपो धृतः । आस्तेऽत्र पृथिवीचन्द्रस्तद्विवाहे न मोचितः ॥७४
या नारायणदत्ताख्या तस्य राज्ञी तया सह । मन्त्रीभिर्मन्त्रितो मन्त्रो मोहनार्थं महीपतेः ॥७५
वाणारस्यां तया नित्यं सत्काराः कारिताः शुभाः । राज्ञी वृषभसेनाया नाम्ना भर्तृविमुक्तये ॥७६
ये तेषु भोजनं कृत्वा कावेरीपत्तनं गताः । श्रुतं तेभ्यो द्विजादिभ्यो धाव्या वृत्तान्तमेव तत् ॥७७
तदोक्तं रूपवत्या मां वाणारस्यां खु हे सखे । अपृच्छन्ती हि सत्काराह्वयं कारयसि स्वयम् ॥७८
प्ररूपितं महिष्याऽहं कारयामि स्फुटं न तान् । मन्नाम्ना कारितास्तेऽपि केनापि कारणाद्विना ॥७९
तेषां शुद्धिं कुरु त्वं हि धाव्या चरनरादिभिः । परिज्ञाय यथार्थं तदग्रे राज्ञ्या निरूपितम् ॥८०
ततो विज्ञाय राजानं पृथ्वीचन्द्राभिधो नृपः । मोचितस्तत्क्षणादेव राज्ञ्या वृषभसेनया ॥८१
तेन सम्फलके रूपे नृपराज्ञोश्च कारिते । अधः प्रणामसंयुक्तं निजरूपं सुकारितम् ॥८२
नीत्वा चित्रान्वितः सोऽपि फलकस्तेन दर्शितः । तयोः कृत्वा नमस्कारं सद्राज्ञी शंसिता मुहुः ॥८३

नहीं है ॥६८॥ तदनन्तर वह राजा उस वृषभसेनाके स्नानके जलसे नीरोग हो गया। तब राजाने रूपवतीसे उस जलके माहात्म्यकी बात पूछी ॥६९॥ रूपवतीने सब ज्योंकी त्यों कह सुनाई। तब राजाने सेठको बुलाया, उस कन्याकी बड़ी प्रशंसा की और फिर अपने साथ विवाह करनेके लिये माँगी ॥७०॥ इसके उत्तरमें सेठने कहा कि हे महाराज ! यदि आप अष्टाह्निकाके दिनोंमें जिनालय-में जाकर भगवान् अर्हन्तदेवकी पूजा कर, पिंजड़ोंमें रहनेवाले सब पक्षियोंको छोड़ दें और अपने कारागारसे (जेलसे) सब मनुष्योंको छोड़ दें तो मै आपके लिये उस कन्याको दे सकता हूँ ॥७१-७२॥ महाराज उग्रसेनने यह सब स्वीकार कर उसके साथ विवाह कर लिया और उसे पट्टरानी बनाया। प्रेमके कारण वह वृषभसेना राजाकी बहुत ही प्यारी हो गई थी ॥७३॥ विवाहके समय राजा उग्रसेनने जब सबको छोड़ा था तब भी बनारसके राजा पृथ्वीचन्द्रको नहीं छोड़ा था ॥७४॥ पृथ्वीचन्द्रकी रानीका नाम नारायणदत्ता था, उसने अपने पतिको छुड़ानेके लिये मन्त्रियोंसे सलाह लेकर रानी वृषभसेनाके नामसे बनारसमें बहुतसे उत्तम-उत्तम सत्कारघर बनवाये ॥७५-७६॥ जो ब्राह्मणादिक उन सत्कारघरोंमें उत्तम भोजनकर कावेरी नगरमें पहुँचे थे उनसे उन सब सत्कार घरोंका हाल रूपवती धायने सुना ॥७७॥ तब उसने वृषभसेनासे कहा कि तूने बनारसमें अपने नामसे बहुतसे सत्कारघर बनवाये है सो क्या तूने विना मुझसे पूछे हो बनवा डाले ? ॥७८॥ इसके उत्तरमें पट्टरानी वृषभसेनाने कहा कि बनारसमें मैंने कुछ नहीं बनवाया है, किसी कारणसे मेरे नामसे किसी औरने बनवाये होंगे ॥७९॥ तब इसकी खोज करनेके लिये रूपवतीने बनारसके लिये बहुतसे गुप्तचर (छिपकर जाँच करनेवाले) भेजे और यथार्थ बात जानकर रानीसे सब हाल कह सुनाया ॥८०॥ तब महारानी वृषभसेनाने महाराजसे प्रार्थनाकर उसी समय राजा पृथ्वीचन्द्रको छुड़वा दिया ॥८१॥ वहाँसे छूटकर पृथ्वीचन्द्रने एक चित्र बनवाया जिसमें राजा उग्रसेन और रानी वृषभसेनाका चित्र बनवाया और उनके नीचे प्रणाम करते हुए अपना चित्र बनवाया ॥८२॥

गन्तव्यं हि त्वया मेघपिङ्गलस्योपरि ध्रुवम् । इत्युक्त्वा प्रेषितस्ताभ्यां तूर्णं वाणारसीं प्रति ॥८४
तदाकर्ण्य समालोच्य मर्मभेदी ममाप्ययम् । ज्ञात्वेति पृथिवीचन्द्रः आगतो मेघपिङ्गलः ॥८५
नमस्कारं विधायोच्चैरुग्रसेननृपस्य सः । अति सम्मानितो जातः सामन्तो हितकारकः ॥८६
राज्ञोक्तं हि ममास्थानस्थितस्य प्राभृतं वरम् । यदागच्छति तत्सारं वस्तु वस्त्रादिकं स्फुटम् ॥८७
मेघपिङ्गलराजस्य तस्यार्द्धं खु ददाम्यहम् । सार्द्धं वृषभसेनाया व्यवस्थेति कृता स्वयम् ॥८८
एकदा प्रागतं रत्नकम्बलद्वयमेव हि । राजा नामाङ्कितं कृत्वा तयोर्दत्तं पृथक् पृथक् ॥८९
प्रावृत्य कम्बलं राज्ञी मेघपिङ्गलसत्पतेः । गता प्रयोजनेनैव रूपवत्या गृहे स्वयम् ॥९०
जातं पापोदयेनैव तत्र कम्बलपल्लिहः (?) । अघोदयेन जन्तूनां किं किं न स्याद्विरूपकम् ॥९१
ततो वृषभसेनायाः कम्बलं मेघपिङ्गलः । प्रावृत्य खु समायातः उग्रसेनसभां स्वयम् ॥९२
राजाऽभूच्च तमालोक्य रक्ताक्षोऽतिप्रकोपतः । तथाविधं नृपं दृष्ट्वा नष्टोऽतो मेघपिङ्गलः ॥९३
उग्रसेनेन रुष्टेन निक्षिप्ताब्धिजले घने । राज्ञी वृषभसेनापि मारणार्थं च पापतः ॥९४
तदा तया गृहीतेति प्रतिज्ञा चोपसर्गतः । उद्धरियामि चेद् वृत्तं करिष्यामि तपोऽनघम् ॥९५
ततो व्रतप्रभावेण जलदेवतया कृतम् । सिंहासनादिसत्प्रातिहार्यं तस्या शुभोदयात् ॥९६

वह चित्र ले जाकर राजा उग्रसेनकी भेंट की और फिर राजा उग्रसेनको नमस्कार कर रानी वृषभसेनाकी बहुत प्रशंसा की ॥८३॥ राजा उग्रसेनने कहा कि तुम पिंगलको (मेघपिंगलको) पकड़कर लाना यह कहकर राजा रानी दोनोंने पृथ्वीचन्द्रको बनारसके लिये बहुत शीघ्र विदा कर दिया ॥८४॥ पृथ्वीचन्द्रके छूट जानेपर राजा मेघपिंगलने विचारा कि मेरे मर्मको जाननेवाला पृथ्वीचन्द्र आ गया है यह सोच समझकर वह स्वयं राजा उग्रसेनके समीप आया और नमस्कारकर उसका सेवक बन गया। राजा उग्रसेनने भी उसका आदर-सत्कार किया और हित करनेवाले सामन्त पदपर नियुक्त किया ॥८५-८६॥ राजा उग्रसेनने आज्ञा दी कि मेरे यहाँ जो भेंट आवेगी तथा जो वस्त्र आभूषण आवेंगे उनमेंसे आधे राजा मेघपिंगलको दिये जाँय और आधे रानी वृषभसेनाको दिये जाँय। ऐसी व्यवस्था महाराज उग्रसेनने स्वयं कर दी ॥८७-८८॥ किसी एक समय राजाकी भेंटमे दो रत्नकम्बल आए। राजाने दोनोंपर अलग-अलग नाम लिखकर दोनोंको दे दिये अर्थात् वृषभसेनाका नाम लिखकर वृषभसेनाको दे दिया और मेघपिंगलका नाम लिखकर मेघपिंगलको दे दिया ॥८९॥ किसी एक समय किसी कामके लिये राजा मेघपिंगलकी रानी रूपवतीके (वृषभसेनाकी धायके) घर आई। दैवयोगसे वा पापकर्मके उदयसे वहाँपर दोनोंके कंबल परस्पर बदल गये अर्थात् मेघपिंगलका कंबल वहाँ रह गया और वृषभसेनाका कम्बल मेघपिंगलकी रानी ओढ़ गई। सो ठीक ही है, पापकर्मके उदयसे मनुष्योंके क्या-क्या विपरीत कार्य नहीं हो जाता है।.९०-९१॥ किसी समय उस बदले हुए वृषभसेनाके कम्बलको ओढ़कर राजा मेघपिंगल बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा उग्रसेनकी राजसभामें आया ॥९२॥ राजा उग्रसेन उस कंबलपर वृषभसेनाका नाम देखकर बहुत ही क्रोधित हुआ और क्रोधसे उसके नेत्र लाल हो गये। अपने आनेसे ही राजाको इस प्रकार क्रोधित देखकर राजा मेघपिंगल वहाँसे भाग गया ॥९३॥ मेघपिंगलको भागता हुआ देखकर राजा उग्रसेनका सन्देह और भी बढ़ गया। उसने वृषभसेनाके समीप आकर उसका कंबल देखा और उसपर मेघपिंगलक नाम देखकर रानी वृषभसेनाको मारने लिये अथाह जलसे भरे हुए किसी सागरमें डलवा दिया ॥९४॥ उस समय रानी वृषभसेनाने प्रतिज्ञा की कि यदि मैं इस उपसर्गसे बचूँगी तो पाप रहित तीव्र तपश्चरण करूँगी ॥९५॥ तदनन्तर वृषभ-

यत्प्रासाध्यं च यद्दूरं तत्सर्वं जायते नृणाम् । अहो सद्व्रतमाहात्म्यादिन्द्रोऽपि किंकरायते ॥९७
तच्छ्रुत्वा नृपतिः पश्चात्तापं कृत्वा स्वयं गतः । तामानेतुं क्षमां सापि कारिता वचनादिभिः ॥९८
आगच्छन्त्या तया दृष्टो मार्गे गुणधराधिपः । वनमध्येऽवधिज्ञानी मुनिर्भव्यप्रबोधकः ॥९९
प्रणम्य चरणौ तस्य पार्श्वे दृष्टं स्वचेष्टितम् । प्राग्भवार्जितपुण्येन भवं वृषभसेनया ॥१००
मुनिराह वशं कृत्वा शृणु देवि मनो निजम् । वक्ष्ये पूर्वभवं तेऽहं शुभाशुभसमन्वितम् ॥१०१
अत्रैव नगरे पुत्री नागश्रीः स्याद् द्विजस्य वै । सम्मार्जनं करोषि त्वं राज्ञो देवकुले सदा ॥१०२
तत्र देवकुले चैकदाऽपराह्ले समागतः । मुनिदत्ताभिधो धीरः प्राकाराभ्यन्तरे मुनिः ॥१०३
स्थितो निर्वातगर्तायां कायोत्सर्गं विधाय च । मौनं ध्यानसमारूढो ज्ञानी पर्यङ्कसंयुतः ॥१०४
प्रजल्पितं त्वया लोकमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ भो मुने । सम्मार्जनं करोम्यत्र प्रागतः कटकान्नृपः ॥१०५
आगमिष्यति त्वत्रैव गच्छान्यत्र त्वमेव हि । मुनिर्ध्यानसमालम्ब्य स्थितो मौनेन काष्ठवत् ॥१०६
रुष्टया च त्वया तस्योपरि सम्मार्जनं कृतम् । पूरयित्वा हि तद्गतं कचवारेण तत्क्षणम् ॥१०७
त्यक्तदेहो मुनिस्तत्र स्थितो मेरुरिवाचलः । जित्वा घोरोपसर्गं स स्वकर्मक्षयहेतवे ॥१०८
प्रभाते चागतेनैव तत्र क्रीडादिहेतवे । उच्छ्वसितं प्रदेशं तं दृष्ट्वा निच्छ्वसितं पुनः ॥१०९

सेनाके व्रतके प्रभावसे, उसके शीलके माहात्म्यसे तथा पुण्यकर्मके उदयसे जलदेवताने आकर सिंहासन रच दिया तथा और भी प्रातिहार्योंकी रचना कर दी ॥९६॥ देखो, व्रतोंके माहात्म्यसे संसारमें जो कुछ हो सकता है वह सब मनुष्योंको हो जाता है। इन व्रतोंके माहात्म्यसे स्वर्गका इन्द्र भी दास बन जाता है ॥९७॥ वृषभसेनाकी यह महिमा सुनकर राजा उग्रसेन पश्चात्ताप करने लगा। उसको लेनेके लिये वह स्वयं गया और वचनोंके द्वारा उससे अनेक प्रकारकी क्षमा माँगी ॥९८॥ वह रानी वृषभसेना आ ही रही थी कि उसे मार्गके एक वनमें भव्य जीवोंको धर्मोपदेश करनेवाले अवधिज्ञानी श्री गुणधरमुनिके दर्शन हुए ॥९९॥ रानी वृषभसेनाने उनके चरणकमलोंको नमस्कार किया और समीप बैठकर अपने पहिले जन्मके भव पूछे ॥१००॥ मुनिराज कहने लगे—हे पुत्री ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं तेरे पुण्य-पापको सूचित करनेवाले पहिले भव कहता हूँ ॥१०१॥ इसी पुण्यवती नगरीमें तू पहिले एक ब्राह्मणकी पुत्री थी। नागश्री तेरा नाम था। तू राजाके जिनभवनमें झाड़ू बुहारी देनेका काम किया करती थी ॥१०२॥ किसी एक दिन महाराजके उसी जिनभवनमें भीतर मुनिदत्त नामके धीरवीर मुनिराज आकर वायुसे रहित एक गढ़ेमें विराजमान हो गये ॥१०३॥ वे ज्ञानी मुनिराज मौन और कायोत्सर्ग धारणकर पर्यकासनसे विराजमान हो गये ॥१०४॥ झाड़ू देते जब वह नागश्री मुनिराजके समीप आ गई तब वह मुनिराजसे कहने लगी कि "हे मुनिराज ! उठो उठो, मैं यहाँ झाड़ू दूँगी, महाराज आते ही होंगे, आप अब दूसरी जगह चले जाइये।" परन्तु मुनिराज न तो कुछ बोले और न हटे, क्योंकि वे तो ध्यानमें लीन थे, वे मौन धारण कर काठके समान अचल विराजमान थे ॥१०५-१०६॥ तब नागश्रीने क्रोधित होकर सब जगहसे झाड़ बुहार कर सब कचरे-कूड़ेका ढेर मुनिराजके चारों ओर लगा दिया और उस कूड़ेसे उस गढ़ेको ढक दिया ॥१०७॥ मुनिराज शरीरसे ममत्व छोड़कर मेरुपर्वतके समान निश्चल होकर अपने कर्मोंको नाश करनेके लिये घोर उपसर्ग सहन करने लगे ॥१०८॥ प्रातःकाल ही वहाँपर क्रीड़ा आदिके लिए राजा आया। मुनिराजके श्वास लेनेसे वह कूड़ा-कचरा कुछ हिल रहा था, उसे देखकर राजाको सन्देह हुआ और उसने उसी समय उस स्थानसे कचरा-कूड़ा हटाकर मुनिराजको निकाला। उन धीरवीर मुनिराजको देखकर राजाको बहुत ही आश्चर्य हुआ

अनुत्सवस्य प्रवेशं तं मुनिः निस्सारितो द्रुतम् । राज्ञा कृत्वा महाश्चर्यमहो धीरगुणो मुनिः ॥११०
ततः कृत्वाऽऽत्मनो निन्दां सद्धर्मस्य रुचिर्मुहुः । गर्हा च मुनिसत्पादौ प्रणम्य च क्षमा त्वया ॥१११
पश्चाद्रोगविनाशार्थं दत्तं चैवौषधं त्वया । वैयावृत्तिं विधायोच्चैः मुनये भक्तिपूर्वकम् ॥११२
ततो मृत्वा निदानेन कुले वैश्यसमुद्भवे । इहोत्पन्ना सुरूपा हि त्वं पुण्याढ्यफलान्विता ॥११३
सर्वौषर्धाद्धरेवात्र जाता चौषधदानतः । कलङ्किताऽपि ते निन्द्या कचवारप्रपूरणात् ॥११४
पुण्यपापफलान्येव भुङ्क्ते जीवो भवार्णवे । मज्जनोन्मज्जनं कुर्वन्नित्यं चेन्द्रियलालसः ॥११५
श्रुत्वा तद्वचनं सागाद्वैराग्यं कर्मघातकम् । संसारदेहभोगेषु दुःखशोकविधायिषु ॥११६
मोचयित्वा तदात्मानं तत्समीपेऽपि सार्यिका । जाता प्रणम्य तत्पादौ ततः कुर्यात्तपोऽनघम् ॥११७

इति विमलसुदानादौषधाद्रोगयुक्ता अजनि वृषभसेना श्रेष्ठिपुत्री गुणाढ्या ।
सुवरनृपतिभार्या ऋद्धियुक्ता तपो नु विमलमपि सुकृत्वा देवलोकं गता सा ॥११८

कथामौषधदानस्य व्याख्याय कथयाम्यहम् । कथां श्रीश्रुतदानस्य कौण्डेशमुनिसम्भवाम् ॥११९
जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन् क्षेत्रे भरतनामनि । सद्ग्रामं कुरुमर्याख्यं भवेद्धर्मसुखप्रदम् ॥१२०
गोविन्दो नाम गोपालो भवेत्तत्र शुभाशयः । दृष्टं तेनैकदा सारं पुस्तकं वृक्षकोटरे ॥१२१

और उसने विचार किया कि ये मुनि बड़े ही धीरवीर है, इनकी धीरवीरता आश्चर्यके योग्य है ॥१०९-११०॥ नागश्रीने यह देखकर अपनी बड़ी निन्दा की और अपनेको बारबार धिक्कारा। उसका धर्ममें प्रेम बढ़ गया और मुनिराजके चरणकमलोंमें नमस्कार कर उनसे क्षमा प्रार्थना की ॥१११॥ तदनन्तर मुनिराजका रोग दूर करनेके लिये नागश्रीने उन्हे औषधि दी और भक्तिपूर्वक उन मुनिराजकी बहुत ही वैयावृत्य की ॥११२॥ वहाँसे मरकर तू इस वैश्य कुलमें अत्यन्त रूपवान और पाप-पुण्यके फलको प्रगट करनेवाली वृषभसेना हुई है ॥११३॥ पहिले जन्ममें तूने मुनिराजको औषधदान दिया था उसके फलसे ही तेरे स्नानके जलमें समस्त रोगोंके दूर करनेकी शक्ति हो गई है। तथा मुनिराजकी अवज्ञा की थी इसलिए तू सागरमें फेंक दी गई थी ॥११४॥ देखो इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी लालसा करता हुआ यह प्राणी इस संसाररूपी समुद्रमें बारबार डूबता और उछलता हुआ अपने किये हुए पुण्य और पापोंका फल सदा भोगता रहता है ॥११५॥ मुनिराजके वचन सुनकर उस वृषभसेनाको कर्मोंको नाश करनेवाला अत्यन्त दुःख देनेवाले संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥११६॥ तदनन्तर वृषभसेनाने अपने आत्माको संसारके बन्धनसे छुड़ाया, वह मुनिराजके चरणकमलोंको नमस्कार कर उन्हीके समीप अर्जिका हो गई और निर्दोष घोर तपश्चरण करने लगी ॥११७॥ इस प्रकार निर्मल औषधिदानके फलसे ही नागश्री अनेक प्रकारके भोगोंको सेवन करनेवाली और अनेक गुणोंसे सुशोभित सेठकी पुत्री और राजाकी पट्टरानी वृषभसेना हुई थी उसे सर्वोषधि ऋद्धि प्राप्त हुई थी तथा निर्दोष तपश्चरण कर उसने स्वर्गलोककी सम्पदा प्राप्त की थी इसलिये प्रत्येक गृहस्थको सदा दान देते रहना चाहिये ॥११८॥

इस प्रकार औषध दानमें प्रसिद्ध होनेवाली श्री वृषभसेनाकी कथा कहकर अब शास्त्रदानमें प्रसिद्ध होनेवाले कौंडेश मुनिकी कथा कहता हूँ ॥११९॥ इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें धर्म और सुखसे भरपूर एक कुरुमरी नामका गाँव था ॥१२०॥ वहाँपर एक गोविन्द नामका गवालिया रहता था जो कि शुभ परिणामी था। उसने किसी एक दिन एक वृक्षके कोटरमें एक शास्त्रजी देखे ॥१२१॥ उन्हें वह घर ले आया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा। कितने दिनके बाद

तदादाय प्रपूज्याशु पश्चाद्दत्तं शुभप्रदम् । पद्मनन्दिमुनीन्द्राय भक्तिनिर्भरचेतसा ॥१२२
तत्पुस्तकमटव्यां च केचिद्भट्टारकाः जनैः । कारयित्वा महापूजां कृत्वा व्याख्याय प्रत्यहम् ॥१२३
धृत्वा तु कोटरे तत्र गतो देशान्तरं ततः । गोपालेनापि तद्दृष्ट्वा कृत्वा पूजा निरन्तरम् ॥१२४
गोविन्दोऽपि निदानेन मृत्वा तत्र शुभे दिने । ग्रामेऽपि ग्रामकूटस्य कौण्डेशाख्यः सुतोऽप्यभूत् ॥१२५
एकदा तं समालोक्य पद्मनन्दिमुनीश्वरम् । जातो जातिस्मरः सोऽपि ज्ञानदानप्रभावतः ॥१२६
तत्क्षणं जातसंवेगो देहभोगभवादिषु । आददे जिनमुद्रां स स्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ॥१२७
ततः पारं गतो धीमान् समस्तश्रुतवारिधेः । ज्ञानावृत्युदयाभावाद् भव्यश्रेणिप्रबोधकः ॥१२८

सकलश्रुतसमुद्रे पारमेवाप्त एव विदितनिखिलतत्त्वो ज्ञानदानप्रभावात् ।
धृतचरणसमग्रोऽपीह कौण्डेशनामा जयतु भुवनपूज्यः सन्मुनीन्द्रो गुणाढ्यः ॥१२९

प्रव्याख्याय श्रुतज्ञानफलं वक्ष्ये ततः कथाम् । वरां वसतिकाजातां शूकरस्योपमान्विताम् ॥१३०
जम्बूपलक्षिते द्वीपे सत्क्षेत्रे भरताभिधे । मालवाख्ये शुभे देशे ग्रामोऽस्ति घटसंज्ञकः ॥१३१
देविलाख्यो भवेत्तत्र कुम्भकारोऽतिभद्रकः । धर्मिलाख्यो महादुष्टो नापितश्च कुमार्गगः ॥१३२
ताभ्यां प्रकारितं देवकुलं स्थित्यर्थमेव हि । पथिकादिजनानां च धर्मकीर्त्यादिहेतवे ॥१३३
एकदा वसतिर्दत्ता मुनये देवलेन वै । प्रथमं तत्र धर्मादिध्यानेनैव स्थितो मुनिः ॥१३४
परिव्राजक आनीय धर्मिलेन ततो धृतः । तत्र देवकुलाच्छीघ्रं ताभ्यां निस्सारितो यतिः ॥१३५

वे शास्त्रजी उसने बड़ी भक्तिके साथ मुनिराज श्री पद्मनन्दिके लिये दे दिये ॥१२२॥ मुनिराज पद्मनन्दि आदि कितने ही मुनियोंने वे शास्त्रजी पढ़कर अनेक लोगोंको धर्मोपदेश दिया, लोगोंसे उनकी महापूजा कराई और फिर उन्हें किसी कोटरमें रखकर देशान्तरको चले गये। गोपाल उन शास्त्रजीको कोटरमें देखकर फिर प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा ॥१२३-१२४॥ अन्तमें वह निदान करके मरा और किसी गाँवमें उस गाँवके स्वामीके यहाँ कौंडेश नामका पुत्र हुआ ॥१२५॥ किसी एक दिन उसे उन्हीं मुनिराज श्री पद्मनन्दिके दर्शन हुए और पहिले जन्ममें दिये हुए ज्ञान-दानके प्रतापसे मुनिराजको देखते ही उसे जातिस्मरण हो आया ॥१२६॥ उसी समय उसे संसार, शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाली जिन दीक्षा धारण कर ली ॥१२७॥ थोड़े ही दिनमें ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे बुद्धिमान् और अनेक भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देनेवाला वह कौंडेश समस्त श्रुतज्ञानरूपी महासागरका पारगामी हो गया ॥१२८॥ देखो ज्ञानदानके प्रभावसे श्री कौंडेश मुनिराज समस्त श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पारगामी हो गये थे, समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता हो गये थे, पूर्ण चारित्रको धारण करनेवाले हो गये थे, वे अनेक गुणोंसे विभूषित हो गये थे और समस्त संसारमें पूज्य हो गये थे ऐसे श्री कौंडेश मुनिराज सदा जयशील हों ॥१२९॥ इस प्रकार ज्ञानदानमें प्रसिद्ध होनेवाले कौंडेशकी कथा कह चुके। अब वसतिका दानमें प्रसिद्ध होनेवाले शूकरकी कथा कहते हैं ॥१३०॥ इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें मालवा देशके घटगाँवमें एक देवल नामका भद्र कुम्हार रहता था तथा उसी गाँवमें धर्मल नामका महा-दुष्ट और कुमार्गगामी एक नाई रहता था ॥१३१-१३२॥ उन दोनोंने मिलकर धर्म और कीर्तिकी वृद्धिके लिये तथा पथिकोंके ठहरनेके लिये एक धर्मशाला बनवाई थी ॥१३३॥ किसी एक दिन देवलने वह धर्मशाला किसी मुनिराजके लिये दे दी। वे मुनिराज उसमें आकर धर्मध्यान धारण कर बैठ गये। तदनन्तर धर्मलने एक संन्यासीको लाकर वहाँ बिठा दिया। वहाँपर मुनिराजको देखकर धर्मल और संन्यासी दोनोंने मिलकर मुनिराजको बाहर कर दिया ॥१३४-१३५॥ शुद्ध

स मुनिः वृक्षमूलेऽपि स्थितो ध्यानेन शुद्धधीः । सहमानो महाबाधां दंशशीतादिसम्भवाम् ॥१३६
प्रभातेऽतिमहाकोपात्कृत्वा युद्धं परस्परम् । तन्निमित्तेन घातेन मृतौ देवलधर्मलौ ॥१३७
विद्वेषेण क्रमेणैव चार्तध्यानप्रयोगतः । प्रजातौ शूकरव्याघ्रौ क्रूरौ तौ कोपसंयुतौ ॥१३८
तिष्ठति शूकरो यत्र गुहायां तत्र चैकदा । स्थितौ समाधिगुप्ताख्यत्रिगुप्ताख्यमुनीश्वरौ ॥१३९

दृष्ट्वा तौ सोऽपि पुण्येन भूत्वा जातिस्मरः स्वयम् ।
प्रणम्य मुनिसत्पादौ स्थितः शाम्यान्वितोऽशठः ॥१४०

तस्याग्रे कथितो धर्मः मुनिना कृपया स्वयम् । स्वर्गमुक्तिकरः सारः श्रावकव्रतसूचकः ॥१४१
श्रुत्वा धर्मं सुखागारं त्यक्त्वा पापं सुदुस्त्यजम् । स्थितो मुनिसमीपे स आदाय श्रावकव्रतम् ॥१४२
तत्प्रस्तावे मनुष्यस्य गन्धमाघ्राय दुष्टधीः । व्याघ्रस्तत्रागतः शीघ्रं भक्षणार्थं च सन्मुनेः ॥१४३
शूकरस्तं समालोक्य गत्वा तूर्णं स सन्मुखम् । गुहाद्वारे स्थितस्तत्र तयो रक्षाविहेतवे ॥१४४
तौ तत्रापि महायुद्धं कृत्वा कोपात्परस्परम् । मृतौ घातप्रहारेण वेदनान्वितविग्रहौ ॥१४५
शूकरो मुनिरक्षाभिप्रायेणैव महर्द्धिकः । सौधर्मे हि सुरो जातो यः पूर्वं देवलाभिधः ॥१४६
मुनेर्भक्षणध्यानेन गतो व्याघ्रोऽपि पापतः । तीव्रं घोरतरं श्वभ्रं महादुःखाकरं भुवि ॥१४७

इति व्रतगुणयुक्तः सारसौधर्मकल्पे धृतमुनिवरपादौ मानसे स्वस्य जातः ।
सुकृतविमलयोगाच्छूकरो निर्जरोऽत्र विपुलसुखसमुद्रः सन्मुने रक्षणाच्च ॥१४८

बुद्धिको धारण करनेवाले वे मुनिराज शीत और डास मच्छरोंकी महाबाधाको सहन करते हुए किसी वृक्षके नीचे ध्यान लगाकर विराजमान हो गये ॥१३६॥ सवेरा होते ही देवल और धर्मल दोनों ही क्रोधपूर्वक लड़ने लगे और दोनों ही एक दूसरेकी चोटसे मर गये ॥१३७॥ वे दोनों एक दूसरेपर द्वेष करते हुए आर्तध्यानसे मरे थे इसलिये वे दोनों बड़े क्रोधी और क्रूर सूकर और बाघ हुए (देवलका जीव सूकर हुआ था और धर्मलका जीव बाघ हुआ था) ॥१३८॥ जिस गुफामें सूकर रहता था उसमें किसी एक दिन समाधिगुप्त और त्रिगुप्त नामके मुनिराज आ विराजमान हुए ॥१३९॥ उन्हे देखते ही उस सूकरको पुण्यकर्मके उदयसे जाति स्मरण हो गया। उसने उन मुनिराजके चरणकमलोंको नमस्कार किया और शान्त होकर बैठ गया ॥१४०॥ मुनिराजने स्वयं कृपाकर उसके सामने स्वर्ग मोक्ष देनेवाला, सारभूत और श्रावकोंके व्रतोंको सूचित करनेवाले धर्मका स्वरूप कहा ॥१४१॥ सुख देनेवाले धर्मका स्वरूप सुनकर उसने अत्यन्त कठिनतासे त्याग करने योग्य पापोंका भी त्याग कर दिया और श्रावकके व्रतोंको धारण कर मुनिराजके समीप ही बैठ गया ॥१४२॥ ठीक इसी समय वह दुष्ट बाघ मनुष्यकी गन्ध सूँघकर उन मुनिराजको भक्षण करनेके लिये शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा ॥१४३॥ सूकर उस बाघको देखकर शीघ्र ही उसके सामने गया और उन मुनिराजकी रक्षा करनेके लिये उस गुफाके दरवाजेपर जा बैठा ॥१४४॥ बाघ आया ही था कि दोनोंका युद्ध होने लगा और दोनों बड़े क्रोधसे युद्ध करने लगे। दोनों एक दूसरे पर चोट करने लगे और उस चोटसे दोनों मर गये ॥१४५॥ देवलका जीव जो सूकर था वह मुनिराजकी रक्षाके लिये लड़ा तथा मरा था इसलिये वह सौधर्म स्वर्गमें जाकर बड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥१४६॥ बाघ मुनिराजको भक्षण करनेके अभिप्रायसे लड़ा और मरा था इसलिये वह पापकर्मके उदयसे अत्यन्त दुःख देनेवाले महा घोर और तीव्र नरकमें जाकर पड़ा था ॥१४७॥ इस प्रकार मुनिकी रक्षा करनेके अभिप्रायसे केवल वसतिका दान देने रूप व्रतको पालन करनेके

परिप्राप्तं फलं येन स्वामिन् ! श्रीजिनपूजया । कथां तस्य ममाग्रे त्वं कृपां कृत्वा निरूपय ॥१४९
एकचित्तान्वितो भूत्वा शृणु श्रावक ते कथाम् । वक्ष्ये पूजासमासक्तभेकपुण्यफलोद्भवाम् ॥१५०
जम्बूद्वीपेऽतिविख्याते सद्देशे मगधाभिधे । रम्यं राजगृहं भाति पुरं धर्मादिसद्‌गृहम् ॥१५१
तत्र स्यात् श्रेणिको भूपो भव्यलोकशिरोमणिः । क्षायिकालङ्कृतो धीमान् धीरो धर्मप्रभावकः ॥१५२
स चैकदा समाकर्ण्य वनपालमुखात्स्वयम् । गतो नन्तुं महावीरं महासैन्यसमन्वितः ॥१५३
विपुलाद्रिस्थितं वीरं त्रिःपरीत्य जगद्‌गुरुम् । स्वहस्तौ मस्तके धृत्वा सोऽनमच्छ्रीजिनाधिपम् ॥१५४
अष्टभेदान्वितां पूजां कृत्वा भक्तिभरात्पुनः । स्तवनं कर्तुमारब्धं श्रेणिकेनातिधीमता ॥१५५
त्वं देव जगतां नाथस्त्वं त्राता कारणं विना । कथं स्तुवे हि सर्वज्ञं त्वामहं बुद्धिवर्जितः ॥१५६
तथापि प्रेरितो देव भक्तिभारेण त्वां प्रति । करोमि स्तवनं किञ्चिदहं मन्दधियान्वितः ॥१५७
त्राताऽत्राता महात्राता भर्ताऽभर्ता जगत्प्रभो ! । वीरोऽवीरो महावीरस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१५८
कर्ताऽकर्ता सुकर्ता च धर्मोऽधर्मश्च धर्मदः । पूज्योऽपूज्योऽतिसम्पूज्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१५९
सिद्धोऽसिद्धः प्रसिद्धस्त्वं बुद्धोऽबुद्धोऽतिबुद्धिदः । धीरोऽधीरोऽतिधीरश्च त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६०

कारण सूकर मुनिराजके चरणकमलोंको हृदयमें रखकर मरा था इसलिये वह निर्मल पुण्यके प्रभाव से सारभूत सौधर्म स्वर्गमें निर्मल गुणोंका समुद्र ऐसा उत्तम देव हुआ था ॥१४८॥

प्रश्न—हे प्रभो ! भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे जिसकोउ त्तम फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कहिये ॥१४९॥ उत्तर—हे श्रावकोत्तम, तू एक चित्त होकर सुन । भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेमें तल्लीन हुए एक मेढकके पुण्यसे होनेवाले फलको मैं कहता हूँ ॥१५०॥ इसी प्रसिद्ध जम्बूद्वीपके मगध नामके शुभ देशमें एक मनोहर राजगृह नगर शोभायमान है जिसके सब घर प्रायः धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थोंसे भरपूर हैं ॥१५१॥ उस नगरमें राजा श्रेणिक राज्य करता था। वह राजा भव्य जीवोंका शिरोमणि था, धीरवीर था, धर्मकी प्रभावना करनेवाला था और क्षायिक सम्यग्दर्शनसे सुशोभित था ॥१५२॥ किसी एक दिन उसने वनपालसे (मालीसे) विपुलाचल पर्वतपर श्रीमहावीरस्वामीके आनेके समाचार सुने इसलिये वह स्वयं अपनी बड़ी सेनाको साथ लेकर उनकी वन्दना करनेके लिये निकला वहाँपर जाकर उसने जगद्‌गुरु भगवान् जिनेन्द्रदेव महावीरस्वामीकी तीन प्रदक्षिणाएँ दी और हाथ मस्तकपर रखकर उनको नमस्कार किया ॥१५३–१५४॥ तदनन्तर उस बुद्धिमानने बड़ी भक्तिसे आठों द्रव्य लेकर भगवान्‌की पूजा की और फिर वह राजा श्रेणिक भगवान् महावीरस्वामीकी स्तुति करने लगा ॥१५५॥ हे देव ! आप जगत्के स्वामी हैं विना ही कारणके समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं और सर्वज्ञ है तथा मै नितान्त बुद्धि रहित हूँ फिर भला मैं आपकी स्तुति किस प्रकार कर सकता हूँ ॥१५६॥ तथापि मैं अत्यन्त मंदबुद्धि होकर भी केवल भक्तिके भारसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता हूँ ॥१५७॥ हे देव ! आप सबकी रक्षा करनेवाले हैं और किसीकी भी रक्षा करनेवाले नहीं है, तथापि महा रक्षक हैं। आप सबके स्वामी हैं, किसीके भी स्वामी नहीं हैं तथापि तीनों लोकोंके स्वामी है। आप वीर हैं, वीर नहीं हैं और महावीर हैं इसलिये हे देव ! आपको नमस्कार हो ॥१५८॥ हे देव, आप कर्ता हैं, कर्ता नहीं भी हैं और सुकर्ता हैं, धर्म भी हैं, अधर्मरूप भी हैं और धर्मदाता भी है। पूज्य हैं, अपूज्य हैं और अतिसंपूज्य भी हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१५९॥ आप सिद्ध हैं, महा सिद्ध हैं और प्रसिद्ध हैं, आप बुद्ध (सर्वज्ञ) हैं, महा बुद्ध हैं और अतिशय बुद्धिको देनेवाले है। आप धीर हैं, महा धीर हैं और धीरता रहित हैं इसलिये हे नाथ ! आपके लिये नमस्कार हो ॥१६०॥ आप

हिंसकोऽहिंसकोऽहिंस्यः सधनः सुधनोऽधनी । रूपोऽरूपो समो रूपस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६१
देवदेवो महादेवो निधानो निधिनायकः । नाथोऽनाथो जगन्नाथस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६२
ध्याताऽध्याता महाध्याता सदयो सदयोऽदयः । योग्योऽयोग्यो महायोग्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥
वक्ताऽवक्ता सुवक्ता च सस्पृहोऽसस्पृहोऽस्पृहः । ब्रह्माऽब्रह्मा महाब्रह्मा त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६४
देहोऽदेहो महादेहो निश्चलोऽनिश्चलोऽचलः । रत्नोऽरत्नः सुरत्नाढ्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६५

त्वं देवस्त्रिदशेश्वरार्चितपदस्त्वं मुक्तिनाथोऽव्ययः
त्वं धर्मामृतसागरः सुखनिधिस्त्वं केवलोद्योतकः ।
त्वं लोकत्रयतारणैकचतुरस्त्वं मोहदर्पापहः
प्राप्तोऽहं शरणं जिनेश्वर प्रभो ! ते पाहि मां भो गुरो ! ॥१६६

इति स्तुत्वा महावीरं प्रणम्य च सुरार्चितम् । श्रितः श्रेणिकभूपालो मर्त्यकोष्ठं प्रहृष्टधीः ॥१६७
तत्र शुश्राव षड्द्रव्यसप्ततत्त्वान् नरेश्वरः । यतीनां च गृहस्थानां धर्म सर्वसुखाकरम् ॥१६८

अहिंसाधर्मकी प्रवृत्ति करनेवाले है, तथापि कर्मोंको वा रागद्वेषादिको नष्ट करनेके कारण हिंसक कहलाते हैं। अनन्त विभूति होनेके कारण आप सधन है, और धनी है। आप अत्यन्त रूपवान हैं। शुद्ध आत्मस्वरूप होनेके कारण अरूपी है तथापि परम मनोहर है इसलिये हे देव ! आपके लिये नमस्कार हो ॥१६१॥ हे देव ! आप देव है, देवाधिदेव हैं और महादेव है, आप गुणोके निधान है, निधियोंके स्वामी है, आप नाथ हैं, आपका कोई स्वामी नही है इसलिये आप अनाथ है, तथापि आप जगन्नाथ कहलाते है इसलिये हे देव ! आपको नमस्कार हो ॥१६२॥ हे नाथ ! आप ध्यान करनेवाले ध्याता है, महाध्याता है तथापि सब आपका ध्यान करते है। आप किसीका ध्यान नहीं करते इसलिये आप ध्याता नही है। आप दयालु है, महादयालु है और निर्दयतासे कर्मोंको नाश करनेके कारण दया रहित हैं। आप सब तरह योग्य है, महायोग्य है परन्तु सांसारिक कार्योंके लिये अयोग्य हैं इसलिये हे देव ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥१६३॥ आप प्रतिदिन तीनों समय उपदेश देनेके कारण वक्ता है, सुवक्ता हैं अथापि आपकी भाषा दिव्यध्वनि निरक्षरी होनेके कारण आप अवक्ता ही हैं। आप इच्छा रहित है तथापि समस्त जीवोंका कल्याण करनेकी भावना होनेके कारण इच्छावाले गिने जाते हैं। फिर भी आप स्वय इच्छारहित है। आप ब्रह्मा है, महाब्रह्मा हैं तथापि सृष्टिके कर्ता न होनेके कारण आप ब्रह्मा नहीं है। हे नाथ ! ऐसे आपको बारबार नमस्कार हो ॥१६४॥ हे देव ! आप सशरीर है, परमोत्कृष्ट शरीरको धारण करनेवाले हैं तथापि शरीर रहित है। आप निश्चल है, स्थिर है तथापि सब जगह विहार करनेके कारण अस्थिर हैं। आप एक रत्न है, महारत्न है और परिपूर्ण रत्नत्रयसे सुशोभित है इसलिये हे देव ! आपके लिये बार बार नमस्कार हो ॥१६५॥ हे प्रभो ! इन्द्र भी आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं, आप मुक्तिके स्वामी हैं, सदा इसी अवस्थामें रहनेवाले अव्यय हैं, धर्मरूपी अमृतके समुद्र हैं, सुखके निधि है, केवलज्ञानको प्रकाशित करनेवाले हैं, तीनों लोकोंको इस असार संसारसे पार कर देनेके लिये अद्वितीय विद्वान् है और मोहके महा अभिमानको चूर-चूर करनेवाले हैं। हे जिनराज ! हे गुरुदेव ! हे प्रभो ! मैं आपकी शरण आया हूँ, आप कृपाकर मेरी रक्षा कीजिये ॥१६६॥ इस प्रकार देवोंके द्वारा परम पूज्य भगवान् महावीरस्वामीकी स्तुति कर और उनको प्रणाम कर राजा श्रेणिक प्रसन्नचित्त होकर मनुष्योंके कोठेमें जा बैठा ॥१६७॥ वहाँपर बैठकर उसने छहों द्रव्य, सातों तत्त्वों-

तत्रागतो महाभूत्या युक्तो देवो महर्द्धिकः । मुकुटे भेकचिह्नं च कृत्वा पूजयितुं जिनम् ॥१६९
श्रेणिकेन समालोक्य भेकचिह्नस्य कारणम् । प्रणम्य गौतमस्वामी पृष्टो ज्ञानविलोचनः ॥१७०
उक्तं श्रीगौतमेनैव सञ्जातोऽयं सुरो दिवि । इदानीं चैव पूजार्थमागतोऽत्र जिनेशिनः ॥१७१
अनेन किं कृतं स्वामिन् ! दानं पूजा तपोऽथवा । जातोऽयं येन पुण्येन तत्सर्वं मे निरूपय ॥१७२
तच्छ्रुत्वा गौतमः प्राह शृणु श्रेणिक ! सच्छुभाम् । कथयामि कथामस्य स्थिरं कृत्वा निजं मनः ॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी नागदत्ताह्वयोऽभवत् । भार्यास्य भवदत्ताभूस्त्रियं मायान्वितात्मनः ॥१७४
अथैकदार्तध्यानेन मृत्वा श्रेष्ठी गृहाङ्गणे । पापी फलेन वाप्यां स भेको जातोऽतिपापतः ॥१७५
नीरार्थमागतां भार्यां दृष्ट्वा जातिस्मरोऽजनि । तस्या अङ्के स उत्पेत्य चढितोऽत्यन्तमोहतः ॥१७६
तया निर्घाटितो दूराद्रटत्येव वराककः । पुनर्वेगेन चागत्य चढत्येव विधेर्वशात् ॥१७७
ततस्तया मदीयोऽयं कोऽप्यभीष्टो भविष्यति । इति सञ्चिन्तितं स्वस्य मानसे धीसमन्विते ॥१७८
श्रेष्ठिन्या चैकदा पृष्टः सुव्रताख्यतपोधनः । अवधिज्ञानसम्पन्नस्तद्भेकस्य कथां शुभाम् ॥१७९
अनूक्तं मुनिना तस्या अग्रे श्रेष्ठी तव प्रियः । पापार्जनेन सञ्जातो भेकोऽयं दुःखपीडितः ॥१८०
ज्ञात्वा भर्ता स्वकीयोऽतिगौरवेण धृतस्तया । भेको मोहेन वानीय स्वगेहे भक्तिहेतवे ॥१८१

का स्वरूप सुना और मुनि तथा गृहस्थोंके सुख देनेवाला धर्मका स्वरूप सुना ॥१६८॥ उसी समय वहाँपर एक बड़ी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव बड़ी विभूतिके साथ भगवान्‌की पूजा करनेके लिये आया जिसके मुकुटमें मेंढकका चिन्ह था ॥१६९॥ महाराज श्रेणिकने उसे देखकर ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले गौतमस्वामीको नमस्कार किया और उस देवके मुकुटमें लगे हुए मेंढकके चिन्हका कारण पूछा ॥१७०॥ इसके उत्तरमें श्री गौतमस्वामी कहने लगे कि यह अभी जाकर स्वर्गमें देव हुआ है और तुरन्त ही भगवान्‌की पूजा करनेके लिये आया है ॥१७१॥ यह सुनकर महाराज श्रेणिकने फिर पूछा कि हे स्वामिन् ! पहिले भवमें इसने कौनसा दान दिया था, कौनसी पूजा की थी अथवा कौनसा तप किया था जिसके पुण्यसे यह ऐसा देव हुआ है, हे स्वामिन् ! आप कृपाकर सब मुझसे कहिये ॥१७२॥ यह सुनकर श्री गौतम गणधर कहने लगे कि हे श्रेणिक ! तू मन लगाकर सुन, मैं पुण्य बढ़ानेवाली इसकी कथा कहता हूँ ॥१७३॥

इसी तेरे नगरमें एक नागदत्त नामका सेठ रहता था । वह सेठ अत्यन्त मायाचारी था; उसकी स्त्रीका नाम भवदत्ता था ॥१७४॥ किसी एक दिन वह सेठ आर्तध्यानसे मरा और उस आर्तध्यानके पापके फलसे अपने ही घरके आँगनकी बावड़ीमें मेढक हुआ ॥१७५॥ जब पानी भरनेके लिये उसकी स्त्री उस बावड़ीमें आई तब उसे देखकर उसे जातिस्मरण हो गया और पहिले भवके मोहके कारण वह उस भवदत्ताके शरीरपर उछलकर चढ़ने लगा, परन्तु भवदत्ताने वह नीच मेंढक बहुत दूर फेंक दिया, परन्तु पूर्वकर्मोंके उदयसे वह मेंढक चिल्लाता हुआ टर्रटर्र करता हुआ फिर शीघ्रतासे आकर उसके ऊपर चढ़ने लगा ॥१७६–१७७॥ तब उस बुद्धिमती भवदत्ताने अपने मनमें समझ लिया कि सह मेरा कोई अभीष्ट (सम्बन्धी–या मुझसे प्रेम रखनेवाला) होगा ॥१७८॥ तदनन्तर किसी एक दिन उस सेठानीने अवधिज्ञानसे सुशोभित श्री सुव्रत नामके मुनिराजसे उस मेंढककी कथा पूछी ॥१७९॥ तब मुनिराजने कहा कि हे पुत्री ! यह तेरे पतिका जीव पापकर्मके उदयसे अत्यन्त दुःखी मेंढक हुआ है ॥१८०॥ भवदत्ताने उस मेंढकको अपने पतिका जीव जानकर मोहके कारण तथा उसपर भक्ति करनेके लिये उसे अपने घर लाकर बड़े आदरसे

दापयित्वा त्वमानन्दभेरीमत्रागतोऽसि भो। राजन्! श्रीवर्द्धमानस्य वन्दनार्थं स्वभक्तितः ॥१८२
तदागत्य महाभव्याः श्रेष्ठिनी सह बान्धवैः। आगता जिनपूजार्थं सारे वैभारपर्वते ॥१८३
भेकोऽपि निजवाप्या हि नीत्वा सत्कमलं पथि। निर्गतस्तीर्थनाथस्य पूजार्थं भक्तितत्परः ॥१८४
मार्गे सम्मार्जिते गच्छन् यावत्पादेन हस्तिना। चूर्णयित्वा जिनाधीशपूजाभावान्विताशयः ॥१८५
सोऽनुपूजादिसद्भावजातपुण्यप्रभावतः। देवो महर्द्धिको जातः सौधर्मे सौख्यसागरे ॥१८६
अन्तर्मुहूर्तमध्येऽभूद्यौवनान्वितविग्रहः। दिव्याम्बरधरो धीर आभरणादिविभूषितः ॥१८७
पूर्वं भवं परिज्ञायावधिज्ञानेन सोऽमरः। आगतो जिनपूजार्थं महापूजोपलक्षितः ॥१८८
शुभाः श्रेणिक! स्वर्गेऽस्य देवस्यातिविभूतयः। जाता बहुतरा भोग्या पूजाभावेन केवलम् ॥१८९
अहो पूजाफलं नृणां महाश्रीसुखसाधनम्। इहामुत्र भवेन्नूनं सर्वानिष्टविनाशनम् ॥१९०
इति सञ्चिन्त्य सञ्जाताः पूजाभावान्वितो नृपः। पादपद्मे जिनेन्द्रस्य प्रत्यहं स सुखाकरे ॥१९१
तद्भेकस्य कथां श्रुत्वा भव्याः पूजान्विताशयाः। सन्त्रस्ताः पापतो जाताः संवेगादिरताश्च ते ॥१९२
ततो नत्वा गणाधीशं गौतमं च जगद्गुरुम्। जगाम स्वगृहं राजा परमानन्दनिर्भरः ॥१९३
इति जिनेश्वरयज्ञसुभावतः, सकलसौख्यगृहे त्रिदशालये।
भो! महर्द्धिकसुरोऽजनि शुद्धधीः विमलपुण्यवशादपि भेककः ॥१९४

रक्खा ॥१८१॥ हे राजन्! श्री महावीरस्वामीके यहाँ पधारने पर तू आनन्दभेरी दिलाकर भक्ति-पूर्वक भगवान्‌की वन्दना करनेके लिये आया ॥१८२॥ तब वह भवदत्ता सेठानी भी बड़ी भक्तिसे अपने भाई कुटुम्बियोंके साथ वैभार पर्वतपर भगवान् वर्द्धमानस्वामीकी पूजा करनेके लिये आई ॥१८३॥ यह देखकर वह मेंढक भी भक्तिमें तल्लीन होकर अपनी बावड़ीमेसे एक कमलका दल लेकर भगवान्‌की पूजा करनेके लिये निकला ॥१८४॥ वह मार्गमें आ रहा था और उधर हाथी आ रहा था इसलिये वह मेंढक मार्गमें ही हाथीके पैरसे दबकर चूरचूर हो गया, परन्तु उसके हृदयमें भगवान्‌की पूजा करनेके भाव बने ही रहे ॥१८५॥ भगवान्‌की पूजा करनेके परिणाम बने रहनेके कारण उसके पुण्य प्रभावके कारण यह सुखके सागर ऐसे सौधर्म स्वर्गमें बड़ी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव हुआ है ॥१८६॥ उत्पन्न होनेके समयसे अन्तर्मुहूर्तमें ही यह युवा हो गया था और धीरवीर दिव्य वस्त्रोंको धारण करनेवाला तथा अनेक आभूषणोंसे सुशोभित हो गया था ॥१८७॥ यह देव अपने अवधिज्ञानसे पहिले भवकी सब बात जानकर अपनी बड़ी भारी विभूतिके साथ भगवान् महावीरस्वामीकी पूजा करनेके लिये आया है ॥१८८॥ हे श्रेणिक! केवल भगवान्‌की पूजाके परिणाम होनेके कारण इस देवको स्वर्गमें बहुतसी विभूतियां और बहुतसे भोग प्राप्त हुए है ॥१८९॥ देखो, भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजाका फल मनुष्योंको महा लक्ष्मी और सुखका कारण है तथा इसलोक परलोक दोनों लोकोंके सब अनिष्ट दूर करनेवाला है ॥१९०॥ यही विचारकर राजा श्रेणिकके अत्यन्त सुख देनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंकी प्रतिदिन पूजा करनेके भाव उत्पन्न हो गये ॥१९१॥ मेंढककी इस कथाको सुनकर कितने ही भव्य जीव पापोंसे डरकर और संवेग वैराग्यमें तल्लीन होकर प्रतिदिन भगवान्‌की पूजा करनेके भाव करने लगे ॥१९२॥ तदनन्तर राजा श्रेणिक परम आनन्दित होकर और जगद्गुरु भगवान् महावीरस्वामीको तथा गौतम गणधरको नमस्कार कर अपने घर जा पहुँचा ॥१९३॥ देखो, शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला मेंढक केवल भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके भाव उत्पन्न करनेके कारण प्राप्त हुए निर्मल पुण्यके प्रतापसे समस्त सुखोंके घर ऐसे स्वर्गमें बड़ी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव हुआ था

वितनुते वरनरो जिनपूजां प्राप्य ऋद्धिमपि त्रिलोकसंस्थताम् ।
शिवपदं स प्रयाति सुखाकरं निजसमर्जितकर्मक्षयाद्ध्रुवम् ॥१९५
पूजां श्वभ्रगृहार्गलां गुणाकरां सोपानमालां घनां
स्वर्गस्यैव सुखादिखानिममलां दुःखार्णवोत्तारिकाम् ।
तीर्थेशस्य कुपापकक्षदहने ज्वालोपमां धर्मदां
सत्तीर्थङ्करकर्मदां बुधजना नित्यं कुरुध्वं भुवि ॥१९६

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे श्रीषेणवृषभसेनाकोण्डेशशूकरभेक-कथाप्ररूपको नामैकविंशतितमः परिच्छेदः ॥२१॥

●

॥१९४॥ जो मनुष्य भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता है वह तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाली समस्त ऋद्धियोंको पाकर तथा अन्तमें समस्त कर्मोंको नष्ट कर देनेके कारण सुखकी खानि ऐसे मोक्षमें अवश्य ही विराजमान होता है ॥१९५॥ यह भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये अर्गला है, गुणोंकी खानि है, स्वर्गमें चढनेके लिये सीढी है, अपरिमित सुखकी खानि है, अत्यन्त निर्मल है, दुःखरूपी महासागरसे पार कर देनवाली है, अशुभ वा पापरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्निके समान है, धर्मको देनवाली है और श्री तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करनेवाली है इसलिये हे बुद्धिमानो ! इस संसारमें भगवान् तीर्थंकर परमदेवकी पूजा प्रतिदिन करो ॥१९६॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरोपासकाचारमें चारों दानोंमें प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेण, वृषभसेना, कौंडेश और शूकरकी कथाको तथा भगवान्‌की पूजामे प्रसिद्ध होनेवाले मेंढककी कथाको कहनेवाला यह इक्कीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२१॥

●

बाईसवाँ परिच्छेद

नेमिनाथं जगत्पूज्यं कामदं कामघातकम् । सर्वेन्द्रियगजानीकसिंहं वन्दे महाबलम् ॥१
व्रतान्यपि समाख्याय द्वादशैव विमुक्तये । ततः सल्लेखनां वक्ष्ये मुक्तिपर्यन्तसौख्यदाम् ॥२
वृद्धत्वेऽपि जराग्रस्ते मन्ददृष्ट्यादिकेन्द्रिये । शक्तित्यक्तशरीरे च व्रतभङ्गादिकारणे ॥३
धर्मनाशे महारोगे प्रतीकारादिवर्जिते । महाघोरोपसर्गे च तिर्यङ्मर्त्यादिसम्भवे ॥४
दुर्भिक्षे च सुधर्माय प्रानुष्ठेया नरोत्तमैः । सल्लेखना समाध्यर्थं नाकमोक्षसुखप्रदम् ॥५
कृत्वा तपोऽनघं यावज्जीवं सल्लेखनां पुनः । प्राणान्ते यो मुनिः कुर्यात्तस्य स्यात्सफलं तपः ॥६
धृत्वा वृत्तानि योऽगारी संन्यासं कुरुते पुनः । मरणं सफलं तस्य व्रतं सर्वसुखाकरम् ॥७
अकाले यदि चायाति मृत्युः सर्पादिदंशतः । ससंशयो मनुष्याणां प्रोपसर्गादियोगतः ॥८
ईदृशं हि तदा कार्यं सन्यासं सत्वरेण वै । मृत्युः स्याद्यदिमेऽत्रैव घोरात्यन्तपरीषहात् ॥९
चतुर्विधे महाहारे ममास्तु नियमं ध्रुवम् । जीविष्यामि कथंचिच्चेत्ततो भोक्ष्येऽशनादिकम् ॥१०
अथवा स्वस्य निश्चित्य मरणं प्रागतं ध्रुवम् । सल्लेखनां कुरु त्वं भो ! इमां सद्विधिनान्वितम् ११
नारीमित्रादिके स्नेहं रागं मोहं च सर्वथा । धनधान्यादिके देहे ममत्वं त्यज शुद्धये ॥१२

जो नेमिनाथ भगवान् जगत्पूज्य हैं, इच्छानुसार फल देनेवाले हैं, कामदेवको नष्ट करनेवाले हैं, समस्त इन्द्रियरूपी हाथियोंकी सेनाको वश करनेके लिये सिंह हैं और महा बलवान् हैं ऐसे श्री नेमिनाथस्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ मोक्ष प्राप्त करनेके लिये बारह व्रतोंका निरूपण कर अब मोक्ष प्राप्त होने पर्यन्त सुख देनेवाली सल्लेखनाको कहते हैं ॥२॥ अत्यन्त बुढ़ापा आ जानेपर दृष्टि, इन्द्रिय आदि सब शिथिल हो जानेपर, शरीरकी शक्ति छूट जानेपर, व्रतोंके भंग होनेके कारण उपस्थित हो जानेपर, धर्मके नाश हो जानेपर, जिसका कोई उपाय नहीं हो सकता ऐसे महारोगके हो जानेपर, तिर्यंच वा मनुष्योंसे होनेवाले महाघोर उपसर्गके होनेपर और महादुर्भिक्षके पड़नेपर उत्तम पुरुषोंको धर्मपालन करने और समाधि धारण करनेके लिये स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाली सल्लेखना अवश्य धारण करनी चाहिये ॥३–५॥ जो मुनि जीवनपर्यन्त घोर तपश्चरण करते हैं वे जब प्राण छूटनेके समय सल्लेखना धारण करते हैं तभी उनका वह तप सफल होता है ॥६॥ जो गृहस्थ समस्त व्रतोंको पालन कर अन्तमे समाधिमरण धारण करता है उसीके सब प्रकारके सुख देनेवाले व्रत सफल कहे जाते हैं ॥७॥ कदाचित् सर्प आदिके काट लेनेसे अथवा किसी भारी उपसर्गके आ जानेपर असमयमें ही मृत्यु आ जाय और वह सन्देहरूपमें हो अर्थात् जिसमें जीने मरने दोनोंका सन्देह हो तो उस समय इस प्रकार समाधिमरण धारण करना चाहिये कि यदि इस घोर परीषहसे इसी समय मेरी मृत्यु हो गई तो मेरे चारों प्रकारके आहारके त्यागका नियम है। यदि मै किसी प्रकार जीवित हो गया तो फिर भोजन करूँगा ॥८–१०॥ अथवा अपने आए हुए मरणका निश्चयकर हे भव्य ! तू विधिपूर्वक इस समाधिमरणको धारण कर ॥११॥ हे मित्र ! तू स्त्री मित्र आदिकोंमें होनेवाले प्रेम, स्नेह, मोहको सर्वथा छोड़ दे तथा आत्माको शुद्ध करनेके लिये धन धान्य और शरीरादिकमें होनेवाले ममत्वका सर्वथा त्याग कर दे ॥१२॥ हे

वैरं द्वेषं च कालुष्यं सर्वं शत्रुकदम्बकं । रोगादिकेऽथवान्यत्र जहि संन्याससिद्धये ॥१३
क्षान्त्वापि स्वजनं सर्वं भार्यापुत्रादिकं स्वयम् । भृत्यादिकं महाशत्रुं पूर्ववैरानुबन्धिनम् ॥१४
कोमलैर्वचनालापैर्मनोवाक्कायकर्मभिः । स्फुटं च क्षमयेद्धीरः संन्यासोद्यतशुद्धधीः ॥१५
कृतस्य कारितस्यापि पापस्यानुमतस्य च । यावज्जीवाश्रितस्यैव गृहव्यापारजस्य च ॥१६
मिथ्यात्वाविरतेर्योगात्कषायातिप्रमादतः । कुसङ्गविषयाच्चापि जातस्याप्यन्यहेतुतः ॥१७
सर्वाघौघविनाशार्थं सत्सूरिनिकटे स्वयम् । आलोचनं कुरु त्वं हि दशदोषविवर्जितम् ॥१८
आकम्पिताख्यदोषोनुमानितो दृष्ट एव च । बादरः सूक्ष्म एव छन्न स्याच्छब्दाकुलो ध्रुवम् ॥१९
दोषो बहुजनो नामा व्यक्ता आलोचनस्य वै । तत्सेवी स्युर्दशैवास्य दोषादोषविधायकः ॥२०
सर्वान् दोषान् परित्यज्य बालवत्सूरिसन्निधौ । कुर्यादालोचनां यो ना तस्य दोषाः भवन्ति न ॥२१
इति मत्वा मनःशुद्धिं कृत्वा स्वालोचनां गुरोः । पार्श्वे कुरु स्वपापस्य क्षयार्थं शुद्धिहेतवे ॥२२
ततो गृहाण सम्पूर्णं महाव्रतकदम्बकम् । सर्वसङ्गपरित्यागं कृत्वा मुक्त्यर्थमञ्जसा ॥२३
निर्ममत्वं शरीरादौ बन्धुवर्गादिके परे । भावय त्वं महाधीर ! निर्विकल्पेन चेतसा ॥२४
ततः शोकं भयं स्नेहं कालुष्यमरतिं तथा । रतिं मोहं विषादं च रागद्वेषं त्यज स्वयम् ॥२५
संसारदेहभोगेषु श्वभ्रतिर्यक्प्रदेषु च । सर्वदुःखनिदानेषु वैराग्यं चिन्तयस्व भो ॥२६

भव्य ! विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करनेके लिये रोग आदिके हो जानेपर अथवा दूसरी जगह भी वैर, द्वेष और कलुषता आदि समस्त शत्रुओंके समुदायका त्याग कर देना चाहिये ॥१३॥ समाधिमरण धारण करनेमें तत्पर होनेवाले और शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले धीरवीर आराधकको कोमल वचनोंके द्वारा मन वचन कायसे अपने सब कुटुम्बियोंसे, स्त्रीसे, पुत्रादिकोंसे, सेवकोंसे तथा पहिलेसे वैरभाव रखनेवाले महा शत्रुओंसे क्षमा करानी चाहिये और सबको स्वयं क्षमा कर देना चाहिये ॥१४–१५॥

इसी प्रकार हे भव्य ! समाधिमरण धारण करते समय जो पाप कृत कारित अनुमोदनासे किये हैं, जो पाप जीवनपर्यन्त होनेवाले घरके व्यापारसे हुए है, जो पाप मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, प्रमाद और योगोंसे हुए हैं, जो बुरी संगतिसे, विषयोसे वा अन्य कारणोसे हुए हैं उन सब पापोंको नाश करनेके लिये आचार्यके समीप दश दोषोंसे रहित होकर स्वयं आलोचना कर ॥१६–१८॥ आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवित ये दश दोष उत्पन्न करनेवाले आलोचनाके दोष गिने जाते हैं ॥१९-२०॥ जो इन सब दोषोंका त्यागकर आचार्यके निकट बालकके समान (विना किसी छल कपटके) आलोचना करता है उसकी आलोचनामें कोई दोष नही लग सकता ॥२१॥ यही समझकर हे भव्य ! पापोंको नाश करनेके लिये और आत्माको शुद्ध करनेके लिये तू मनको शुद्धकर गुरुके समीप आलोचना कर ॥२२॥ तदनन्तर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त परिग्रहोंका त्यागकर समस्त महाव्रत धारण करने चाहिये ॥२३॥ हे धीरवीर ! तू मनके समस्त संकल्प विकल्पोंको छोड़कर शरीरादिकमें तथा भाई, बन्धु आदि कुटुम्बी लोगोंमें निर्ममता (ममताके त्याग करने) का चिन्तवन कर ! अर्थात् ममताका त्याग कर ॥२४॥ तदनन्तर तू शोक, भय, स्नेह, कलुषता, अरति, रति, मोह, विषाद और रागद्वेष आदिको स्वयं छोड़ ॥२५॥ ये संसार, देह, भोग, नरक और तिर्यंच गतिके दुःख देनेवाले हैं और सब प्रकारके दुःखोंके घर हैं इसलिये हे भव्य ! तू इनमें वैराग्य धारण कर ॥२६॥

उदीर्य त्वमुत्साहं च स्ववीर्यं च तपोऽनघम् । द्विषड्भेदं स्वसिद्धयर्थं तपोग्रं कुरु शर्मदम् ॥२७
प्रशान्तं स्वमनः कार्यं सिद्धान्तामृतपानकैः । बृहदाराधनाग्रन्थैस्तत्त्ववैराग्यतन्त्रकैः ॥२८
आहारं प्रावमोदर्यं तपसा सन्त्यजेद्बुधः । क्रमाद्दिनं प्रति स्तोकं स्तोकेन सर्वमेव हि ॥२९
सर्वाहारं ततस्त्यक्त्वा ग्राह्यं दुग्धादिपानकम् । ततो दुग्धं परित्यज्य ग्राह्यं तक्रं समाधये ॥३०
त्यक्त्वा तक्रं क्रमान्नीरमादेयं ध्यानसिद्धये । परिहाप्य जलं कार्याः केवलाः प्रोषधाः शुभाः ॥३१
निर्यापकं महाचार्यं सर्वसिद्धान्तपारगम् । विधाय प्रोषधाः कार्या यावज्जीवं प्रयत्नतः ॥३२
अन्तकाले जपेन्मन्त्रं गुरुपञ्चकनामजम् । एकचित्तेन मुक्त्यर्थं संन्यासस्थितमानवः ॥३३
यदि सर्वं महामन्त्रं जपितुं न क्षमो भवेत् । क्षीणदेहे जपेदेकं पदं तीर्थेशगोचरम् ॥३४
वचसा जपितुं मन्त्रं न समर्थो भवेद्यदि । जपेत्स्वमनसा धीमान् यावज्जीवं स्वभावतः ॥३५
संन्यासयुक्तसत्पुंसो हीनकण्ठस्य प्रत्यहम् । कर्णे जपन्तु मन्त्रेशं अन्ये प्रोत्तरसाधकाः ॥३६
इति सर्वप्रयत्नेन त्याज्या प्राणा विवेकिभिः । जिनमुद्रां समादाय संन्यासं च विमुक्तये ॥३७
यदि स्याच्चरमं देहं संन्यासे न बुधोत्तमः । हत्वा कर्माष्टकं गच्छेन्मोक्षं सौख्याकरं ध्रुवम् ॥३८

हे मित्र ! तू अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अपना उत्साह प्रगट कर और अपनी शक्तिको प्रगट कर सुख देनेवाले बारह प्रकारके घोर तपश्चरणको धारण कर ॥२७॥ इसी प्रकार सिद्धान्त ग्रन्थोंका अमृत पान कर तथा महा आराधना ग्रन्थोंको पढ़कर और तत्त्व व वैराग्यको निरूपण करनेवाले ग्रन्थोंको पढ़कर तू अपना मन अत्यन्त शान्त कर ॥२८॥ बुद्धिमानोंको अवमोदर्य तपश्चरणके द्वारा अपना आहार प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा घटाना चाहिये और इस प्रकार अनुक्रमसे थोड़ा थोड़ा घटाते घटाते समस्त आहारका त्याग कर देना चाहिये ॥२९॥ आराधकको इस प्रकार समस्त आहारका त्याग कर दूधका सेवन करना चाहिये और फिर समाधि धारण करनेके लिये दूधका भी त्यागकर तक्र व छाछका सेवन करना चाहिये ॥३०॥ फिर ध्यानकी सिद्धिके लिये अनुक्रमसे छाछका भी त्यागकर गर्म जल लेना चाहिये और फिर गर्म जलका भी त्यागकर केवल शुभ उपवास करना चाहिये ॥३१॥ समस्त सिद्धान्तशास्त्रोंके पारगामी निर्यापक (समाधिमरण करानेवाले) महाचार्यको निवेदन कर उनकी आज्ञानुसार जन्मपर्यन्ततकके लिये उपवास धारण करना चाहिये और उसका निर्वाह बड़े प्रयत्नसे करना चाहिये ॥३२॥ समाधिमरण धारण करनेवाले आराधकको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अन्तसमयमें एकचित्त होकर पाँचों परमेष्ठियोंके नामको प्रगट करनेवाले मन्त्रोंका जप करना चाहिये ॥३३॥ यदि उसका शरीर क्षीण हो गया हो और वह पाँचों परमेष्ठियोंके वाचक मन्त्रोंका जप करनेमें असमर्थ हो तो उसे श्री तीर्थंकरके वाचक 'णमो अरहंताणं' इस एक पदका ही जप करना चाहिये ॥३४॥ यदि वह अत्यन्त क्षीण हो गया हो और उस मन्त्रको वचनसे न जप सकता हो तो उसे अपने स्वभावसे ही जीवन पर्यन्त अपने मनमें ही उन मन्त्रोंका जप करना चाहिये ॥३५॥ यदि संन्यास धारण करनेवालेका कण्ठ सर्वथा क्षीण हो गया हो और वह अपने मनमें भी उन मन्त्रोंका जप न कर सकता हो तो फिर उसकी उत्तरसाधना करनेवाले वैयावृत्य करनेवाले अन्य लोगोंको प्रतिदिन उसके कानमें मन्त्रराजका (पंचनमस्कारमन्त्रका) जप करना चाहिये अर्थात् उसके कानमें सुनाना चाहिये ॥३६॥ इस प्रकार विवेकी आराधकको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समाधिमरण धारण कर और अन्तमें जिन मुद्रा धारणकर बड़े प्रयत्नके साथ प्राणोंका त्याग करना चाहिये ॥३७॥ यदि समाधिमरण धारण करने-

अथवा चरमं देहं दुष्कर्माणि विमुच्य ना। सर्वार्थसिद्धिमेवासौ याति पुण्यमुपार्ज्य वै ॥३९
केचित्संन्यासयोगेन यान्ति ग्रैवेयकं बुधाः। केचित्षोडशमं नाकं धर्मसौख्याकरं परम् ॥४०
संन्यासविधिना केचित् सौधर्मादिसुखालयम्। यावदच्युतकल्पं च बहुभोगसमन्वितम् ॥४१
संन्यासमरणात्केचित् त्यक्त्वा प्राणान् नरोत्तमाः। प्राप्य शक्रपदं नूनं पश्चाद्यान्ति शिवालयम् ॥४२
सल्लेखनाविधानेन केचिद्भुक्त्वा महासुखम्। स्वर्गे भुञ्जन्ति तीर्थेशसम्पदं दर्शनान्विताः ॥४३
मरणाराधनेनैव देवलोकभवं सुखम्। भुक्त्वा व्रजन्ति चक्रेशभूतिं धर्मान्विता नराः ॥४४
जघन्याराधनेनैव सुखं भुक्त्वा नृदेवजम्। सप्ताष्टभवपर्यन्तं यान्ति मुक्तिं क्रमाद् बुधाः ॥४५
किमत्र बहुनोक्तेन संन्यासेन समो वृषः। न स्यात्कालत्रये नूनं नराणां शर्मसाधनः ॥४६
एवं करोति संन्यासं प्राणान्ते योऽपि श्रावकः। अतिचारविनिर्मुक्तं सफलं तस्य सव्रतम् ॥४७
संन्यासस्य व्यतीपातान् दिशध्वं कृपया मम। भगवंश्च सुधर्माय संन्यासादिप्रसिद्धये ॥४८
एकचित्तेन भो धीमन्! शृणु वक्ष्ये व्यतिक्रमान्। संन्यासस्य विमुक्त्यर्थं संन्यासव्रतदोषदान् ॥४९
भवेच्च जीविताशंसा मरणेच्छा ततो भयः। मित्रस्मृतिनिदानं च स्युः संन्यासे व्यतिक्रमाः ॥५०
यः संन्यासं समादाय वाञ्छेत्स्वस्यैव जीवितम्। सल्लेखनाव्रतस्यैव तस्य दोषो भवेद्ध्रुवम् ॥५१

वाला उत्तम विद्वान् चरमशरीरी हुआ तो वह आठों कर्मोंको नाशकर अनन्त सुख देनेवाले मोक्षमें अवश्य ही जा विराजमान होगा ॥३८॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला चरमशरीरी नहीं है तो वह उस शरीरको तथा पाप कर्मोंको नष्टकर और महा पुण्य उपार्जन कर सर्वार्थसिद्धिमें जा विराजमान होता है ॥३९॥ इस समाधिमरणको धारण करनेसे कितने ही विद्वान् ग्रैवेयकोंमें जन्म लेते हैं, और कितने ही विद्वान् धर्म और सुखकी खानि ऐसे परमोत्तम सोलहवें स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं ॥४०॥ विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करनेसे कितने ही लोग सुखके घर और अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंकी सामग्रियोंसे भरे हुए सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युतस्वर्ग तक किसी भी स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं ॥४१॥ कितने ही उत्तम पुरुष इस समाधिमरणसे प्राणोंको छोड़कर और इन्द्रका उत्तम पद पाकर पीछे मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥४२॥ कितने ही सम्यग्दृष्टी पुरुष इस समाधिमरणके प्रभावसे स्वर्गके महा सुखोंका उपभोग कर अन्तमें तीर्थंकरके परम पदको प्राप्त होते हैं ॥४३॥ धर्मात्मा पुरुष इस समाधिमरणके प्रभावसे ही स्वर्गके सुख भोगकर चक्रवर्ती की विभूतिको पाते हैं ॥४४॥ जो विद्वान् इस समाधिमरणको जघन्य रीतिसे धारण करते हैं वे देव और मनुष्योंके सुख भोगकर सात आठ भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥४५॥ बहुत कहनेसे क्या ? थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि मनुष्योंको इस समाधिमरणके समान कल्याण करनेवाला धर्म तीनों कालमें नहीं हो सकता ॥४६॥ इस प्रकार जो श्रावक मरनेके समय अतिचार रहित समाधिमरण धारण करता है संसारमें उसीके व्रत सफल होते हैं ॥४७॥

प्रश्न—हे भगवन् ! धर्म पालन करनेके लिये और समाधिमरणको शुद्धतापूर्वक धारण करनेके लिये कृपाकर उन समाधिमरणके अतिचारोंका निरूपण कीजिये ॥४८॥ उत्तर—हे विद्वन् ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं समाधिमरणको विशुद्ध रखनेके लिये उस समाधिमरणरूपी धर्ममें दोष लगानेवाले समाधिमरणके अतिचारोंको कहता हूँ ॥४९॥ जीविताशंसा, मरणेच्छा, भय, मित्रस्मृति और निदान ये पाँच समाधिमरणके अतिचार गिने जाते हैं ॥५०॥ जो समाधिमरण धारण करके भी अपने जीवित रहनेकी इच्छा रखता है उसके सल्लेखना व्रतमें जीविताशंसा नामका अतिचार

गृहीत्वाऽनशनं यस्तु रोगक्लेशपरीषहात् । इच्छेत्स्वमरणं सोऽपि व्यतीचारं भजेन्नरः ।।५२
करोति यो भयं तीव्रमिहामुत्र भवादिजम् । श्रयेत्सोऽपि व्यतीपातं संन्यासस्य मलप्रदम् ।।५३
मित्रानुस्मरणं योऽपि बाल्यावस्थादिक्रीडितम् । करोति मोहतस्तस्य जायतेऽतिक्रमोऽशुभः ।।५४
कुर्याद् योऽपि निदानं ना स्वर्गराज्यादिगोचरे । भोगहेतुं भजेत्सोऽपि मलं घोराशुभप्रदम् ।।५५
यो गृहस्थोऽतिधीयुक्तस्त्यक्त्वातीचारपञ्चकम् । संन्यासं कुरुते तस्य फलं मुनिसमं भवेत् ।।५६

सकलगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकहेतुं जिनगणधरसेव्यं पापवृक्षे कुठारम् ।
सकलकरणपाशं सद्व्रतानां शुभाढ्यं बुध कुरु मरणे त्वं सारसंन्यासमेव ।।५७

करोति नियमेनैव नित्यं सामायिकं सुधीः । कालत्रये लभेत् सोऽपि तृतीयां प्रतिमां वराम् ।।५८
प्रोक्तं सामायिकस्यैव पूर्वं सल्लक्षणं मया । शिक्षाव्रते पुनर्नोक्तं द्विवारोक्तिभयात्स्फुटम् ।।५९
ज्ञातव्यं तत्त्वतस्तत्र शुद्धं सामायिकं बुधैः । तृतीयप्रतिमायुक्तैरावर्तनुतिसंयुतम् ।।६०
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां प्रोषधं यो भजेत्सुधीः । प्राणान्तेऽपि त्यजेन्नैव चतुर्थीप्रतिमां श्रयेत् ।।६१
सत्प्रोषधोपवासस्य प्रोक्तं पूर्वं सुलक्षणम् । पुनरुक्तिभयान्नैव प्रोक्तं तद्विस्तरं मया ।।६२
ज्ञेयं तत्रोपवासस्य विधिकर्तव्यमञ्जसा । सर्वसावद्यत्यक्तस्य चतुर्थप्रतिमान्वितैः ।।६३

लगता है ।।५१।। जो उपवास धारण करके रोग क्लेश वा परीषहोंके कारण शीघ्र ही अपने मरने की इच्छा करता है उसके मरणाशंसा नामका अतिचार लगता है ।।५२।। जो इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी तीव्र भय करता है उसके संन्यासमें मल उत्पन्न करनेवाला भय नामका अतिचार लगता है ।।५३।। जो मोहके कारण अपने मित्रोंका तथा बालकपनके खेल कूदोंका स्मरण करता है उसके मित्रानुराग नामका अशुभ अतिचार लगता है ।।५४।। जो पुरुष भोगोपभोगोंके कारणोंकी इच्छा करता है, आगेके लिये स्वर्गादिक राज्य चाहता है और इस प्रकार निदान करता है उसके अत्यन्त पाप उत्पन्न करनेवाला निदान नामका अतिचार लगता है ।।५५।। जो बुद्धिमान् गृहस्थ पाँचों अतिचारोंको छोड़कर समाधिमरण धारण करता है उसको मुनिके समान फल मिलता है ।।५६।। यह समाधिमरण समस्त गुणोंका निधान है, स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, जिनराज और गणधरदेव भी इसकी प्रशंसा करते है, यह पापरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठार है, समस्त इन्द्रियोंको वश करनेके लिये जाल है, व्रतोंसे परिपूर्ण है और पुण्यसे भरपूर है, इसलिये हे भव्य ! तू भी मरनेके समय होनेवाला समाधिमरण अवश्य धारण कर ।।५७।। यहाँतक व्रत प्रतिमा का निरूपण किया । जो बुद्धिमान् प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल तीनों समय नियमपूर्वक सदा सामायिक करता है उसके तीसरी सामायिक प्रतिमा कही जाती है ।।५८।। सामायिकका लक्षण उसकी विधि आदि सब हमने पहिले सामायिक नामके शिक्षाव्रतमें निरूपण किया है अतएव दूसरा कथन हो जानेके कारण यहाँ नहीं कहा ।।५९।। तीसरी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमानों को आवर्त नमस्कार आदि सहित सामायिकका स्वरूप वहाँसे जान लेना चाहिये ।।६०।।

जो गृहस्थ अष्टमी और चतुर्दशीके दिन प्रत्येक महीनेके चारों पर्वोमें प्रोषधोपवास करता है और प्राण नष्ट होनेपर भी उसको नहीं छोड़ता उसके चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा समझना चाहिये ।।६१।। इस प्रोषधोपवासका स्वरूप पहिले प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रतमें कह चुके हैं अब पुनरुक्त दोषके कारण और विस्तार होनेके डरसे यहाँ नहीं कहते है ।।६२।। चौथी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोंको जिसमें समस्त पापोंका त्याग किया जाता है ऐसे इस प्रोषधोपवासकी विधि लक्षण कर्तव्य आदि सब वहींसे जान लेना चाहिये ।।६३।। सचित्तविरत नामकी पाँचवीं प्रतिमा धारण

आम्रनारङ्गखर्जूरकदल्यादिभवं फलम् । सर्वं क्षीरादिजं पुष्पं निम्बादिप्रभवं तथा ॥६४
गोधूमतिलसच्छालिमुद्गसच्चणकादिकम् । एलाजीरादिजं बीजं पृथक् जीवसमन्वितम् ॥६५
शृङ्गबेरादिजं कन्दमूलं वृक्षादिसम्भवम् । आर्द्रां तरुत्वक्शाखां कोपलादिकमेव च ॥६६
नागवल्यादिजं पत्रं सर्वजीवसमाकुलम् । सचित्तं वर्जयेद्धीमान् सचित्तविरतो गृही ॥६७
अनग्निपक्वमन्यद्वा चेतनादिगुणान्वितम् । सचित्तविरतैर्धीरैर्नादेयं प्रतिमाप्तये ॥६८
अत्यक्तात्मीयसद्वर्णसंस्पर्शादिकमञ्जसा । अप्रासुकमथातप्तं नीरं त्याज्यं व्रतान्वितैः ॥६९
वारि प्रात्मीयवर्णादित्यक्तं द्रव्यादियोगतः । तप्तं वाचाग्निनादेयं नयनाभ्यां परीक्ष्य भो ॥७०
अपक्वमर्द्धपक्वं वा कन्दबीजफलादिकम् । सचित्तं नात्ति यस्तस्य पञ्चमी प्रतिमा भवेत् ॥७१
सचित्तं नात्ति यो धीमान् सर्वप्राणिसमायुतम् । दयामूर्तेर्भवेत्तस्य सफलं जीवितं भुवि ॥७२
सचित्तं जीवसंयुक्तं ज्ञात्वा योऽश्नाति दुष्टधीः । स्वजिह्वालम्पटात्किं स स्वं वेत्ति मरणच्युतम् ॥७३
अश्नात्येव सचित्तं यस्तस्य स्यान्निर्दयं मनः । मनो निर्दयतः पापं जायते श्वभ्रसाधकम् ॥७४
इति मत्वा न तद्द्रव्यं ग्राह्यं प्राणात्यये क्वचित् । पापभीतैर्महापापदायकं जन्तुघातकम् ॥७५

अशुभसकलखानिं श्वभ्रसन्दानदक्षं कुजनगणगृहीतं सत्त्वयुक्तं सचित्तम् ।
विषयसुखकरं भो धीर ! धर्मस्य शत्रुं त्यज विषमिव सर्वं स्वर्गमोक्षादिसिद्धयै ॥७६

करनेवाले बुद्धिमान् गृहस्थोंको आम, नारंगी, खजूर, केला आदि सब प्रकारके फल, नीब आदिक फूल, गेहूँ, तिल, चावल मूग, चना, इलाइची, जीरा आदि जिनमें अलग जीव रहनेकी सम्भावना है, अदरक आदि कन्द वृक्षोंकी जड़, मूली, गीली छाल, पत्तियाँ, शाखा, कोंपल और अनन्त जीवोंसे भरे हुए नागवेलके पान आदि सब प्रकारके सचित्त पदार्थोंका त्याग करना चाहिये ॥६४-६७॥ सचित्तविरत नामकी पाँचवी प्रतिमा धारण करनेवाले धीरवीर पुरुषोंको अपनी पाँचवी प्रतिमाका पालन करनेके लिये जो पदार्थ अग्निपर पकाये हुए नहीं हैं, अथवा जिनमें किसी प्रकारका भी चेतना गुण है ऐसे सचित्त पदार्थोंका अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥६८॥ पाँचवीं प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोंको जिसका निजका वर्ण वा रंग बदला नहीं है, न जिसका स्पर्श बदला है, ऐसे अप्रासुक और विना गर्म किये हुए जलका त्याग कर देना चाहिये ॥६९॥ पाँचवीं प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोंको लौंग, काली मिरच आदि द्रव्योंके सम्बन्धसे जिसके निजका वर्ण बदल गया है अथवा जो अग्निसे गर्म कर लिया गया है ऐसा जल आँखोंसे परीक्षा कर ग्रहण करना चाहिये ॥७०॥ जो गृहस्थ विना पके हुए अथवा आधे पके हुए सचित्त कन्द, बीज, फल आदिको ग्रहण नहीं करता है उसके सचित्त विरत नामकी पाँचवीं प्रतिमा होती है ॥७१॥ जो बुद्धिमान् सब तरहके प्राणियोंसे भरे हुए सचित्त पदार्थोंको नहीं खाता वह दयाकी मूर्ति समझा जाता है और संसारमें उसीका जन्म सफल गिना जाता है ॥७२॥ जो दुष्ट अपनी जिह्वाको लम्पटताके कारण जीव सहित सचित्त पदार्थोंको जानकर भी खाता है वह क्या अपनेको अमर समझता है ॥७३॥ जो समस्त सचित्त पदार्थोंको खाता है उसका मन निर्दय हो जाता है और मनके निर्दय होनेसे नरकको ले जानेवाला पाप उत्पन्न होता है ॥७४॥ यही समझकर पापोंसे डरनेवाले चतुर पुरुषोंको प्राण नाश होनेपर भी महापाप उत्पन्न करनेवाले और अनेक जीवोंका घात करनेवाले सचित्त पदार्थ कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये ॥७५॥ हे भव्य ! इन सचित्त पदार्थोंका ग्रहण करना समस्त पापोंकी खानि है, नरकमें पहुँचानेके लिये चतुर है, दुष्ट पुरुष ही इसका

अन्नपानं च खाद्यं च स्वाद्यं यो नास्ति शुद्धधीः । भजेत् रात्रौ सदा सोऽपि षष्ठीं सुप्रतिमां वराम् ॥७७
दंशकीटपतङ्गादिसूक्ष्मजीवा अनेकधाः । स्थालमध्ये पतन्त्येव रात्रिभोजनसङ्गिनाम् ॥७८
दीपकेन विना स्थूला दृश्यन्ते नाङ्गिनः क्वचित् । तदुद्योतवशादन्ये प्रागच्छन्तीव भाजने ॥७९
पाकभाजनमध्येषु पतन्त्येवाङ्गिनो ध्रुवम् । अन्नादिपचनाद्रात्रौ म्रियन्तेऽनन्तराशयः ॥८०
इत्येवं दोषसंयुक्तं त्याज्यं सम्भोजनं निशि । विषान्नमिव निःशेषं पापभीतैर्नरैः सदा ॥८१
दक्षैर्निशि न चादेयं साध्यं सन्मोदकादिकम् । अन्यद्वा चाम्रसन्नालिकेरक्षीरफलादिकम् ॥८२
भक्षितं येन रात्रौ च खाद्यं तेनान्नमञ्जसा । यतोऽन्नखाद्ययोर्भेदो न स्याद्वान्नादियोगतः ॥८३
भक्षणीयं भवेन्नैव पत्रपूगीफलादिकम् । कीटाढ्यं सर्वदा दक्षैर्भूरिपापप्रदं निशि ॥८४
न ग्राह्यं प्रोदकं धीरैर्विभावर्यां कदाचन । तृट्शान्तये स्वधर्माय सूक्ष्मजन्तुसमाकुलम् ॥८५
चतुर्विधं सदाहारं ये त्यजन्ति बुधा निशि । तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते ॥८६
इति मत्वा सदा त्याज्यं जनै रात्रौ चतुर्विधम् । आहारं धर्मसिद्धयर्थं तपोऽर्थं वा विमुक्तये ॥८७
पानादिसर्वमाहारं ये त्यजन्ति जना निशि । व्रताय जायते पुण्यं तेषां सारं सुखाकरम् ॥८८

ग्रहण करते हैं, इसमें अनेक जीव रहते हैं, यह विषयसुखोंको उत्पन्न करनेवाला है और धीरवीर धर्मका शत्रु है इसलिये हे भव्य ! स्वर्ग मोक्षादिको सिद्ध करनेके लिये तू विषके समान इन सचित्त पदार्थोंका त्याग कर ॥७६॥ जो बुद्धिमान् रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि चारों प्रकारके आहार पानीका त्याग कर देता है उसके रात्रिभोजन त्याग नामकी छठी प्रतिमा होती है ॥७७॥ रात्रिमें मनुष्योंकी थालियोंमें डाँस, मच्छर, पतंगें आदि छोटे-छोटे अनेक जीव आ पड़ते हैं ॥७८॥ रात्रिमें यदि दीपक न जलाया जाय तो स्थूल जीव भी दिखाई नहीं पड़ सकते। यदि दीपक जला लिया जाय तो उसके प्रकाशसे थाली आदिमें और अनेक जीव आ जाते है ॥७९॥ भोजन पकते समय भी उस अन्नकी वायु चारों ओर फैलती है इसलिये उस वायुके कारण उन पात्रोंमें अनन्त जीव आ आकर पड़ते हैं ॥८०॥ पापोंसे डरनेवाले मनुष्योंको ऊपर लिखे हुए अनेक दोषोंसे भरे हुए रात्रि भोजनको विष मिले हुए अन्नके समान सदाके लिये अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥८१॥ चतुर पुरुषोंको लड्डू, पेड़ा, बरफी आदि खानेकी चीजें वा नारियलका दूध, फल आदि कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥८२॥ जो पुरुष रात्रिमे पेड़ा, बरफी आदि स्वाद्य पदार्थोंको खाते है—अन्नके पदार्थ नहीं खाते वे भी पापी है, क्योंकि अन्न व स्वाद्य पदार्थोंमें कोई भेद नहीं है ॥८३॥

चतुर पुरुषोंको रात्रिमें सुपारी जावित्री आदि भी नहीं खानी चाहिये क्योंकि इनमें भी अनेक कीड़ोंकी सम्भावना रहती है। इसलिये इनका खाना भी महा पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥८४॥ धीरवीर पुरुषोंको अपना दयाधर्म पालन करनेके लिये प्यास लगनेपर भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे हुए जलको भी रात्रिमें कभी नहीं पीना चाहिये ॥८५॥ जो विद्वान् रात्रिमें चारों प्रकारका आहार त्याग कर देते हैं उन्हें प्रत्येक महीनेमें पन्द्रह दिन उपवास करनेका फल प्राप्त होता है ॥८६॥ यही समझकर मनुष्योंको धर्मकी सिद्धिके लिये, तपके लिये वा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये, रात्रिमे चारों प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥८७॥ जो मनुष्य व्रत पालन करनेके लिये रात्रिमें अन्नपान आदि सब प्रकारके आहारका त्याग कर देता है उसके आत्माको शुद्ध करनेवाला अपार पुण्य होता है ॥८८॥ रात्रिमें आहारका त्याग कर देनेसे इन्द्रियाँ

वातपित्तादिजं रोगं सर्वं नश्यंति देहिनाम् । रजन्याहारसंत्यागादिन्द्रियादिकशोषणात् ॥८९
नीरादिकं गृहस्था ये वर्जयन्ति निशि स्वयम् । तांश्च लक्ष्मीः समायाति लोकत्रितयसंस्थिता ॥९०
रोगमुक्तं श्रयेत् प्राणी वपुर्लावण्यसंयुतम् । गुणाढ्यं कमनीयं च रात्रिभोजनवर्जनात् ॥९१
भूरिभोगोपभोगाढ्यं राज्यं सौख्याकरं भुवि । निशाहारपरित्यागाद्व्रजेत् जीवो न संशयः ॥९२
अनौपम्यं सुखं नृणां जायते स्वर्गगोचरम् । देवविभवसम्पन्नं भुक्तावित्यजनान्निशि ॥९३
निशीथिन्यां सदाहारं ये खादन्ति खला इह । महारोगा हि स्युस्तेषां कुष्टवातादिजाः सदा ॥९४
लक्ष्मीः पलायते पुंसां रात्रिभोजनकारिणाम् । भूरिदुःखप्रदं घोरं दारिद्रयं सम्मुखायते ॥९५
अश्नन्त्येव शठा रात्रौ ये भक्तं स्वादलम्पटाः । भूरिपापभरादग्रे श्वभ्रकूपे पतन्ति ते ॥९६
शृगालश्वानमार्जारवृषभादिगतिं खलाः । व्रजन्ति परलोकेऽपि रात्रिभोजनलालसाः ॥९७
भिल्लमातङ्गव्याधादिकुलं दारिद्रयसङ्कुलम् । रात्रिभोजनसञ्जातपापादग्रे श्रयेन्नरः ॥९८
दोषाढ्यां पापदा घोरा रागान्धा शीलवर्जिता । कुरूपा जायते नारी भोजनान्निशि दुःखदा ॥९९
पुत्रान् दुर्व्यसनोपेतान् सुताः शीलादिवर्जिताः । बान्धवान् शत्रुतुल्यांश्च भजेन्ना रात्रिभक्षकः ॥१००
अन्धत्वं वामनत्वं च कुब्जत्वं च दरिद्रताम् । दुर्भगत्वं कुरूपित्वं पङ्गुत्वं शीलहीनताम् ॥१०१
व्यसनत्वं च दुःखित्वं भीरुत्वं च कुकीर्तिताम् । अल्पायुश्च कुजन्मत्वं पापित्वं विकलाङ्गताम् ॥१०२

सब वशीभूत हो जाती हैं और इन्द्रियोंके वशीभूत होनेसे जीवोंके वात पित्त आदिसे उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥८९॥ जो गृहस्थ रात्रिमें स्वयं पानी तकका भी त्याग कर देते हैं उनके लिये तीनों लोकोंमें रहनेवाली लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥९०॥ रात्रिभोजनका त्याग करनेसे प्राणियोंके रोग सब नष्ट हो जाते हैं, उनके शरीरमें लावण्यता आ जाती है, अनेक गुण आ जाते हैं और वे सब तरहसे सुन्दर हो जाते हैं ॥९१॥ रात्रिभोजनका त्याग करनेसे जीवोंको अनेक भोगोपभोगोंसे भरे हुए और अपरिमित सुखसे भरे हुए राज्यकी प्राप्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥९२॥ रात्रिमें आहार पानीका त्याग कर देनेसे जीवोंको स्वर्गके देवोंकी विभूतियों-से सुशोभित निरुपम सुखकी प्राप्ति होती है ॥९३॥ जो अज्ञानी सदा रात्रिमें भोजन करते रहते हैं उनके इस लोकमें भी कोढ़ वा वायु आदिके अनेक प्रकारके महा रोग उत्पन्न होते हैं ॥९४॥ रात्रिमें भोजन करनेवाले मनुष्योंकी लक्ष्मी सब भग जाती है और महा दुःख देनेवाली घोर दरिद्रता उनके सामने आ उपस्थित होती है ॥९५॥ जो मनुष्य जिह्वाके स्वादसे लम्पटी होकर रात्रिमें भोजन करते हैं उनके महा पाप उत्पन्न होता है और वे अगले जन्ममें नरकमें ही जाकर पड़ते हैं ॥९६॥ रात्रिभोजनमें लालसा रखनेवाले मनुष्य मरकर परलोकमें गीदड़, कुत्ता, बिल्ली, बैल आदि नीच गतियोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं ॥९७॥

रात्रि भोजनके पापसे यह मनुष्य परलोकमें भील, चांडाल, बहेलिया आदिके नीच कुलोंमें महा दरिद्री उत्पन्न होता है ॥९८॥ रात्रिमें भोजन करनेके पापसे अनेक दोषोंसे परिपूर्ण, पाप उत्पन्न करनेवाली, मलिन, रागद्वेषसे अन्धी, शीलरहित, कुरूपिणी और दुःख देनेवाली स्त्री मिलती है ॥९९॥ रात्रिभक्षण करनेसे इस मनुष्यको पुत्र अनेक बुरे व्यसनोंसे रंगे हुए मिलते हैं, पुत्रियाँ शीलरहित मिलती हैं और भाई बन्धु आदि शत्रुओंके समान दुःखदायी मिलते हैं ॥१००॥ यह जीव रात्रिभोजनके पापसे भवभवमें अन्धा, बौना, कुब्जा, दरिद्री, कुरूप, बदसूरत, लंगड़ा, कुशीलो, अनेक बुरे व्यसनोंका सेवन करनेवाला, दुःखी, डरपोक, अपनी ही अपकीर्ति फैलानेवाला,

दुर्गतित्वं कुमार्गत्वं परलोकेऽतिनिन्दिताम् । रात्रिभोजनपापेन लभेत्प्राणी भवे भवे ॥१०३
किमत्र बहुनोक्तेन संसारे दुःखमेव यत् । तत्सर्वं जायते पुंसां रात्रिभोजनपापतः ॥१०४
रात्रावपि न ये मूढा आहारं सन्त्यजन्ति भोः । पशवस्ते नरा नैव चाष्टप्रहरभक्षणात् ॥१०५
आमिषाशीसमो ज्ञेयो रात्रिभोजनतत्परः । सूक्ष्मकीटपतङ्गादिजीवराशिप्रभक्षणात् ॥१०६
ये रात्रौ च प्रखादन्ति शठाः पत्रादिकं सदा । कीटादिभक्षणात्तेषामामिषे नियमः कथम् ॥१०७
ये पिबन्ति जना नीरं कीटाढ्यं दृष्ट्यगोचरम् । अन्धा इव कथं तेषामहिंसाख्यं व्रतं निशि ॥१०८
महापापप्रदं त्याज्यं सदाहारं चतुर्विधम् । जीवहिंसाकरं दक्षैः स्वर्गमुक्तिप्रसिद्धये ॥१०९
वरं हालाहलं लोके भक्षितं प्राणनाशकम् । वारैकं हि न चाहारं संख्यातीतं भवे नृणाम् ॥११०
इति ज्ञात्वा बुधैः सर्वमाहारं निशि सर्वथा । प्राप्ते प्राणवियोगेऽपि न भोक्तव्यमखाद्यवत् ॥१११
क्षुधातुराय कस्मैचिन्न दातव्यं गृहान्वितैः । भोजनं निशि पापाय भीतैः पापकरं त्रिधा ॥११२
कायवाङ्मनसा योऽपि नात्ति चाहारमञ्जसा । संकृतादिकसंकल्पैः तस्य स्यान्निर्मलं व्रतम् ॥११३

नरकगृहकपाटं स्वर्गगेहाग्रमार्गं सकलसुजनसेव्यं सद्व्रतस्यापि मूलम् ।
स्वसुखकरमपापं धर्मरत्नस्य खानिं व्रतमपि भज मित्र ! रात्र्यभुक्ताख्यनाम ॥११४

थोड़ी आयुवाला, पापी, कुजन्मा, अङ्ग भङ्ग शरीरवाला, दुर्गतियोंमे जानेवाला, कुमार्गगामी और अत्यन्त निंद्य होता है ॥१०१–१०३॥ बहुत कहनेसे क्या ! थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ दुःख हैं वे सब मनुष्योंको रात्रिभोजनके पापसे ही उत्पन्न होते है ॥१०४॥ जो मूर्ख रात्रिमें भी आहार पानी नहीं छोड़ते वे आठों पहर भक्षण करनेके कारण पशु ही समझे जाते हैं ॥१०५॥ रात्रिभोजनमें सदा तत्पर रहनेवाले मनुष्य कीड़े, मकोड़े, पतगे आदि अनेक सूक्ष्म जीवोंको भक्षण कर जाते है इसलिये वे मांस भक्षियोंके ही समान गिने जाते है ॥१०६॥ जो अज्ञानी मनुष्य पान सुपारी आदि भी रात्रिमें खाते है वे भी उसके साथ अनेक कीड़े मकोड़ेका भक्षण कर जाते है इसलिये मांस त्यागका नियम उनके भी नहीं निभ सकता ॥१०७॥ जो मनुष्य आँखसे न दिखाई देनेवाले अनेक कीड़ोंसे भरे हुए जलको रात्रिमे पीते है वे अन्य पापोंके समान अहिंसाव्रतको किस प्रकार पालन कर सकते है अर्थात् जैसे अन्य पापोंमें अहिंसाव्रत नहीं पल सकता उसी प्रकार रात्रिभोजनमें भी अहिंसाव्रत नही पल सकता ॥१०८॥ चतुर पुरुषोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाला, महा पाप उत्पन्न करनेवाला और महा पापरूप ऐसे चारों प्रकारके आहारका रात्रिभोजन अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥१०९॥ संसारमें एक बार प्राणोंको नाश करनेवाला हलाहल विष खा लेना अच्छा, परन्तु अनेक भवोंतक दुःख देनेवाला रात्रिभोजन करना अच्छा नहीं ॥११०॥ यही समझकर विद्वानोंको प्राणोंके वियोग होनेका समय आनेपर भी अभक्ष्यके समान रात्रिमें सब प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥१११॥ पापोंसे डरनेवाले गृहस्थोंको मन वचन कायसे रात्रिमें किसी भूखेको भी पाप उत्पन्न करनेवाला भोजन नहीं देना चाहिये ॥११२॥ जो मनुष्य मन वचन कायसे व कृत कारित अनुमोदनासे रात्रिभोजन नहीं करता उसके यह रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत निर्मल रीतिसे पालन होता है ॥११३॥ हे मित्र ! यह रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ है, स्वर्गरूपी घरके लिये मुख्य मार्ग है, समस्त सज्जन इसका पालन करते हैं, समस्त श्रेष्ठ व्रतोंकी जड़ है, पाप रहित है, आत्माको सुख देनेवाला है और धर्मरत्नकी

आद्याः षट्प्रतिमाः योऽपि धत्ते सच्छ्रावको भुवि । स जघन्यो जिनैरुक्तः पूज्यो नाकेश्वरैरपि ।।११५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे सल्लेखनासामायिकादिप्रतिमा-चतुष्टयप्ररूपको नाम द्वाविंशतितमः परिच्छेदः ।।२०।।

●

खानि है। हे मित्र! ऐसे इस रात्रिभोजनका त्याग नामके व्रतको तू सदा पालन कर ।।११४।। जो इन पहिली छह प्रतिमाओंका पालन करता है वह जघन्य श्रावक कहलाता है और इन्द्रके द्वारा भी पूज्य होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ।।११५।।

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सल्लेखना, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग और रात्रिभोजन त्याग प्रतिमाओंको निरूपण करनेवाला यह बाईसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ।।२२।।

●

तेईसवाँ परिच्छेद

पार्श्वनाथं जिनं वन्दे सुपार्श्वं पार्श्वदायकम् । विनेयानां सुरैरर्च्यं प्रभुं तत्पार्श्वहेतवे ॥१
भुवनत्रयसम्पूज्यां वक्ष्ये स्वमुक्तिहेतवे । प्रतिमां ब्रह्मचर्याख्यां दुष्करां कातराङ्गिनाम् ॥२
बालां सत्कन्यकां सारां रूपलावण्यभूषिताम् । नारीं सद्यौवनोन्मत्तां वृद्धां सर्वगुणाकराम् ॥३
स्वपुत्री-भगिनीमातृसमां पश्यति यः सदा । त्यक्त्वा च मनसा रागं ब्रह्मचारी भवेत्स ना ॥४
मुखं श्लेष्मादिसंसक्तं चर्मबद्धास्थिसञ्चयम् । सर्वामनोज्ञताधारं दुर्गन्धं कुटिलान्वितम् ॥५
मांसपिण्डौ स्तनौ रक्तभृतौ नेत्रादिलोभदौ । प्रोदरं सप्तसन्धातुविष्ठाक्रिम्यादिसङ्कुलम् ॥६
स्रवन्मूत्रादिकं निन्द्यं बीभत्सं जघनं सदा । पूतिगन्धाकरं घोरं श्वभ्रकूपमिवाशुभम् ॥७
इत्येवं च वरस्त्रीणां रूपं चित्ते स चिन्तयेत् । बाह्ये सत्सुन्दरं मध्येऽपवित्रं ब्रह्मतत्परः ॥८
ईदृग्विधं सुनारीणां रूपं चर्मावृतं सदा । पश्येद् यो ना भजेत्सोऽपि ब्रह्मचर्यं सुनिर्मलम् ॥९
कासश्वासादिसंरोगाः कफवातादिसम्भवाः । अब्रह्मचारिणां पुंसां जायन्ते दुःखदायकाः ॥१०
अतृप्तजनकं सेवा प्रान्ते चात्यन्तनीरसम् । अपवित्रकरं निन्द्यं निन्द्यकर्मसमुद्भवम् ॥११

जो पार्श्वनाथ भगवान् देवोंके द्वारा पूज्य है, शिष्योंको अपने समीप ही स्थान देनेवाले है, और जिनके समीपका निवास अनन्त सुख देनेवाला है ऐसे श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर परम देवको मैं उनके समीप पहुँचनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अब मैं मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तीनों लोकोंमे पूज्य और कातर जीवोंके लिये अत्यन्त कठिन ऐसी ब्रह्मचर्य प्रतिमाको कहता हूँ ॥२॥ जो मनुष्य मनके सब राग भावोंको छोड़कर छोटी कन्याओंको अपनी पुत्रीके समान देखता है, रूप लावण्यसे सुशोभित यौवनवती स्त्रियोको अपनी बहिनके समान देखता है और अत्यन्त गुणवती वृद्ध स्त्रियोंको अपनी माताके समान देखता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है ॥३-४॥ देखो, स्त्रियोंका मुँह कफसे भरा हुआ है, चमड़ेसे मढ़ा हुआ हड्डियोंका समूह है, सब बुरी चीजोंका आधार है, दुर्गन्धमय है और कुटिल है ॥५॥ स्त्रियोंके स्तन मांसके पिंड हैं, रक्तसे भरे हुए हैं, नेत्रोंको लोभ उत्पन्न करनेवाले हैं और नरककी सीढी हैं, पेट सात धातु विष्ठा तथा अनेक प्रकारके कीड़ोंसे भरा हुआ है ॥६॥ स्त्रियोंका जघनस्थल अत्यन्त घृणाजनक है, निन्द्य है, मूत्रादिक मल सदा उससे बहता रहता है, अत्यन्त दुर्गन्ध सहित है और घोर नरक-कूपके समान अशुभ है ॥७॥ पवित्र ब्रह्मचर्यमें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको अपने हृदयमें स्त्रियोंका स्वरूप इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये कि यह स्त्रियोंका रूप केवल बाहरसे ही सुन्दर दिखता है किन्तु भीतर तो अति अपवित्र है ॥८॥ स्त्रियोंका स्वरूप इसी प्रकारका है, यह केवल ऊपरसे चमड़ेसे ढका हुआ है, जो पुरुष ऐसी स्त्रियोंका त्याग करता है उसके निर्मल ब्रह्मचर्य होता है ॥९॥ जो पुरुष ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करते उनके अत्यन्त दुःख देनेवाले काम, श्वास, कंप, वायु आदि अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०॥ स्त्रीसेवनसे कभी तृप्ति नही होती, प्राप्त होनेपर यह अत्यन्त नीरस होता है, अत्यन्त अपवित्र है, अपवित्रता करनेवाला है, निंद्य है, निंद्य क्रियासे उत्पन्न होता है, अशुद्ध स्थानोंसे उत्पन्न होता है, भयानक है, तीव्र दुःख उत्पन्न करनेवाला है, महा मुनिराज

अशुचिस्थानजं घोरं तीव्रदुःखाकरं भुवि । महामुनिजनैस्त्याज्यं सर्पागारमिवानिशम् ॥१२
सेव्यं नीचजनैर्नित्यं पशुभिर्गर्दभादिभिः । आदरेण शठैर्दुष्टैः मन्यमानैरिवामृतम् ॥१३
नार्यङ्गघट्टनोद्भूतं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् । दाहकं पापदं दुष्टं पापमूलं घृणास्पदम् ॥१४
बहुदोषसमायुक्तं मैथुनं चिन्तयेत्सदा । ब्रह्मचारी विनिर्मुक्तो दोषैर्ब्रह्मव्रताप्तये ॥१५
स्त्रीणां स्वभावतः काये निन्द्ये जन्तुसमाकुले । जीवोत्पत्तिप्रदेशे च को ज्ञानी रमतेऽशुचौ ॥१६
योनिस्तनप्रदेशेषु हृदि कक्षान्तरेष्वपि । अतिसूक्ष्माः मनुष्याश्च जायन्ते योषितां सदा ॥१७
नवलक्षाङ्गिनोऽत्रैव म्रियन्ते मैथुनेन भोः । इत्येवं जिननाथेन प्रोक्तं केवललोचनात् ॥१८
कर्पासेन भृता यद्वान्नालिकानलयोगतः । ज्वलत्येव तथा जीवा म्रियन्ते लिङ्गघट्टनात् ॥१९
मैथुनेन महापापं जायते प्राणिनां ध्रुवम् । जीवघातान्महारागसम्भवात् श्वभ्रसाधकम् ॥२०
वरं हालाहलं भुक्तमङ्गिनां न च मैथुनम् । भवैकमृत्युदं संख्यात्यतीतभवदुःखदम् ॥२१
वरमालिङ्गिता क्रुद्धा सर्पिणी फणसंयुता । न च स्त्री श्वभ्रगेहस्य प्रतोली भूरिदुःखदा ॥२२
ब्रह्मचारी पुमान् नित्यं त्यजेत्सङ्गं सुयोषिताम् । कलङ्कशङ्कयात्यन्तमहिसङ्गमिवाशुभम् ॥२३
एकत्र वसतिः श्लाघ्या सर्पव्याघ्रारितस्करैः । न च नारीसमीपेऽपि क्षणमेकं कलङ्कवत् ॥२४

दूरसे ही इसका त्याग कर देते हैं, यह सर्पके घरके समान है, रात्रिमें नीच लोगोंके द्वारा सेवन किया जाता है, गधा आदि नीच पशु सदा इसका सेवन करते हैं अथवा दुष्ट मूर्ख इसे अमृत समझकर इसका आदर करते हैं, यह स्त्रियोंके शरीरके संघट्टनसे उत्पन्न होता है, नरक तिर्यंच आदि कुगतियोंको देनेवाला है, दाह कंपा आदि अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है, पापकी जड़ है, अत्यन्त घृणित है, और अनेक दोषोंसे भरपूर है ! ब्रह्मचारियोंको अपने निर्दोष ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिये इस स्त्रीसेवनका सदा इसी प्रकार चितवन करते रहना चाहिये ॥११–१५॥ स्त्रियोंका शरीर स्वभावसे ही निंद्य है, अनेक जन्तुओंसे भरा हुआ है और अनेक जीवोंके उत्पन्न होनेका स्थान है ऐसे अपवित्र और अशुद्ध स्त्रियोंके शरीरमें भला कौन ज्ञानी प्रेम करेगा ॥१६॥ स्त्रियोंकी योनिमें, स्तनोंमें, काँखोंमें अत्यन्त सूक्ष्म मनुष्य सदा उत्पन्न रहते हैं ॥१७॥ उन जीवोंकी संख्या नौ लाख है और वे सब स्त्रीसेवन करनेसे मर जाते हैं ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने अपने केवलज्ञान रूपी नेत्रोंसे देखकर बतलाया है ॥१८॥ जिस प्रकार कपास वा रुईसे भरी हुई नाली अग्निके सयोगसे जल जाती है उसी प्रकार स्त्री सेवन करनेसे योनिके सब जीव मर जाते हैं ॥१९॥ स्त्री सेवन करनेसे अनेक जीवोंका घात होता है और नरकमें पहुँचानेवाला महा राग उत्पन्न होता है इसलिये मनुष्योंको स्त्री सेवन करनेसे महापाप उत्पन्न होता है ॥२०॥ मनुष्योंको हलाहल विष खा लेना अच्छा, परन्तु स्त्री सेवन करना अच्छा नहीं, क्योंकि हलाहल विष खानेसे एक भवमें ही मृत्यु होगी परन्तु स्त्रीसेवन करनेसे असख्यात भवोंमें महा दुःख प्राप्त होगा ॥२१॥ फणा निकाले हुए क्रोधित हुई सर्पिणीका आलिंगन कर लेना अच्छा परन्तु महा दुःख देनेवाली और नरकरूपी घरकी देहलीके समान स्त्रीका आलिंगन करना अच्छा नहीं ॥२२॥ जिस प्रकार सर्पिणीकी दुःख देनेवाली संगति अच्छी नहीं उसी प्रकार ब्रह्मचारियोंको कुछ नही तो कलंक लगनेकी शंकासे ही स्त्रियोंकी संगतिका त्याग कर देना चाहिये ॥२३॥ साँप, बाघ, शत्रु व चोर आदिकोंके साथ रहना तो अच्छा परन्तु स्त्रियोंके समीप क्षणभर भी रहना अच्छा नहीं क्योंकि स्त्रियोंके साथ रहनेमें क्षणभरमें ही कलंक लगनेकी शंका रहती है ॥२४॥ जिस मकानमें स्त्रियोंके

चित्रादिनिर्मिता नारी यत्र स्यान्मन्दिरेऽशुभा । तत्र स्थातुं न योग्यं च व्रतीनां किं तदाश्रिते ॥२५
कलङ्कं लभते पूर्वं दुस्त्यजं योषिताश्रयात् । व्रतिभिर्व्रतभङ्गं च पश्चात् श्वभ्रगतिप्रदम् ॥२६
वरं सम्मरणं लोके ब्रह्मचर्यसमायुतम् । तद्विना न च जीवानां जीवितव्यमसंख्यशः ॥२७
शास्त्रवान् गुणयुक्तोऽपि तपसालङ्कृतो व्रती । ब्रह्मचर्यच्युतो लोके सर्वत्रैवावमन्यते ॥२८
दन्तभग्नो यथा नागो हस्तहीनो भटो नरः । दानहीनो गृही नाभाद्ब्रह्मचर्यच्युतो व्रती ॥२९
विध्यापितोऽनलो यद्वल्लभ्यते चापमानताम् । सद्ब्रह्मतेजसा हीनो व्रती लोके च सर्वथा ॥३०
विकलो ब्रह्मचर्येण यो यतिः स्वजनादिभिः । असत्कारं लभेतात्र किन्न सोऽन्यजनैरपि ॥३१
क्वचित्सर्पारिव्याघ्राणां सङ्गमिच्छन्ति योगिनः । न च स्वप्नेऽघभीत्येव ब्रह्मव्रतच्युतात्मनाम् ॥३२
राजादिकजनात्सर्वं वधबन्धसमुच्चयम् । अब्रह्मचारिणो जीवा लभन्तेऽत्र न संशयः ॥३३
अमुत्र दुर्गतिं यान्ति ब्रह्मव्रतच्युताः शठाः । महापापभरेणैव घोरदुःखाकुलां ध्रुवम् ॥३४
जीवितव्यं वरं चैकदिनं ब्रह्मव्रतान्वितम् । तद्विना न च पूर्वाणां कोटीकोटीविशेषतः ॥३५
ब्रह्मचर्यं परित्यक्तं व्रतिना येन सौख्यदम् । सर्वं व्रतादिकं तेन तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥३६
अब्रह्माज्जायते हिंसा वचोऽसत्यं नृणां ध्रुवम् । आकाङ्क्षा च परस्यैव लक्ष्मीरामादिगोचरा ॥३७

चित्र भी हों उस मकानमें भी व्रतियोंको रहना ठीक नहीं है फिर भला जिनमें स्त्रियाँ स्वयं रहती हों उनमें तो रहना बहुत ही बुरा है ॥२५॥ व्रतियोंको स्त्रियोंके साथ रहनेमें पहिले अमिट कलंक लगता है, फिर व्रतभंग होता है और फिर नरकगतिमें महा दुःख भोगने पड़ते हैं ॥२६॥

ब्रह्मचर्यको पालन करते हुए उस व्रतके साथ श्रेष्ठ मरण कर जाना अच्छा परन्तु ब्रह्मचर्य व्रतके विना असंख्यात वर्ष भी जीवित रहना अच्छा नही ॥२७॥ जो कोई मनुष्य अनेक शास्त्रोंका जानकार हो, गुणवान हो और तपश्चरणसे सुशोभित हो परन्तु ब्रह्मचर्य पालन न करता हो तो फिर संसारमें उसका कही कोई आदर सत्कार नहीं करता ॥२८॥ जिस प्रकार विना दाँतोंके हाथी शोभायमान नही होता, विना हाथोंके शूरवीर शोभा नहीं देता और विना दानके गृहस्थ शोभा नहीं देता उसी प्रकार ब्रह्मचर्यके विना व्रती मनुष्य भी शोभा नहीं देता ॥२९॥ जिस प्रकार बुझाया हुआ अग्नि अपमानको प्राप्त होता है, निन्द्य समझा जाता है उसी प्रकार संसारमें ब्रह्मचर्यरूपी तेजसे रहित होनेपर व्रती मनुष्य भी सर्वथा निन्द्य समझा जाता है ॥३०॥ जो ब्रह्मचर्यसे रहित है वह घरका स्वामी होकर भी अपने ही कुटुम्बी लोगोंसे अपमानित होता है फिर भला वह अन्य लोगोंसे अपमानित क्यों न होगा ॥३१॥ कही कहीपर योगीलोग सर्प, शत्रु और बाघ आदिके साथ रहना अच्छा समझते हैं परन्तु पापोंसे डरकर ब्रह्मचर्य व्रतको भंग करनेवालोंके साथ स्वप्नमें भी रहना स्वीकार नहीं करते ॥३२॥ ब्रह्मचर्यको भंग करनेवाले मनुष्योंको इस लोकमें भी राजाकी ओरसे भी वध बन्धन आदिके अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥३३॥ ब्रह्मचर्य को न पालनेवाले महा मूर्ख मनुष्य महा पापके भारसे परलोकमें भी घोर महा दुःखोंसे भरे हुए दुर्गतियोंके दुःख भोगते हैं ॥३४॥ ब्रह्मचर्य व्रतके साथ साथ एक दिन भी जीवित रहना अच्छा परन्तु विना ब्रह्मचर्यके करोड़ों पूर्वोंतक भी जीवित रहना अच्छा नही ॥३५॥ जिस व्रतीने समस्त सुख देनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत छोड़ दिया उसने समस्त व्रतोंको छोड़ दिया ही समझना चाहिये क्योंकि विना ब्रह्मचर्यके कोई व्रत हो ही नहीं सकता ॥३६॥ ब्रह्मचर्यका भंग करनेसे हिंसा होती है, झूठ बोलना पड़ता है और स्त्री आदि पर पदार्थोंकी इच्छा करनी पड़ती है । इस प्रकार उसे सब प्रकार

दिवसेन विना सूर्यो तथा नैवोपलभ्यते । यथा सर्वव्रतं दक्षैर्ब्रह्मचर्यं विना न च ॥३८
सर्वव्रतच्युतं ह्येकं श्लाघ्यं ब्रह्मव्रतं भुवि । तद्विना न च सत्पुंसां सर्वं व्रतसमुच्चयम् ॥३९
इति मत्वा जनैर्धीरैः ग्राह्यं शीलव्रतं दृढम् । प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यं निधानमिव दुर्लभम् ॥४०
धीरैर्वीरैर्नरैर्दक्षैर्ज्ञानिभिर्व्रततत्परैः । ब्रह्मचर्यं व्रतं धर्तुं शक्यते न च कातरैः ॥४१
बाणवृष्टिसमाकीर्णे रणे तिष्ठन्ति ये भटाः । योषित्कटाक्षसंग्रामे न च स्थातुं क्षमा हि ते ॥४२
दृश्यन्ते बहवः सूराः हस्तिव्याघ्रादिपातने । काममल्लनिपाते ते नैव सन्मुनयः परे ॥४३
ब्रह्मव्रतात्मनां पुंसां सिद्ध्यन्त्येव न संशयः । महाविद्याः समस्तार्थसाधका ज्ञानसम्भवाः ॥४४
धन्यास्ते भुवने पूज्या यैरखण्डं व्रतं धृतम् । शीलं स्वप्नेऽपि न त्यक्तं योषिदादिपरीषहैः ॥४५
इन्द्राद्याः हि सुराः सर्वे शिरसा प्रणमन्ति भो । भक्तिभारेण सन्नम्राः पादौ शीलयुतात्मनाम् ॥४६
शीलव्रतप्रभावेन कम्पयत्यासनानि भो । सुराणां भक्तिनम्राणां किं किं वा नोपजायते ॥४७
ब्रह्मसच्चेतसां पादौ चक्रवर्त्यादयो गुणात् । नमन्ति भक्तिभारेण का कथान्यनृपेषु च ॥४८
ब्रह्मव्रतफलेनैव स्वर्गं स्यात्स्वगृहाङ्गणम् । महाविभवसम्पन्नं सर्वभोगान्वितं नृणाम् ॥४९
शीलव्रतधरा धीरा इन्द्रभूतिं भजन्ति वै । अत्यन्तमहिमोपेतां सर्वामरनमस्कृताम् ॥५०

के पाप करने पड़ते हैं ॥३७॥ जिस प्रकार दिनके विना सूर्य दिखाई नहीं देता उसी प्रकार चतुर पुरुषोंको विना ब्रह्मचर्यके कोई भी व्रत दृष्टिगोचर नहीं होता ॥३८॥ अन्य सब व्रतोंके विना इस संसारमें एक ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना सबसे उत्तम है क्योंकि विना ब्रह्मचर्यके मनुष्योंको कोई व्रत हो ही नही सकता है ॥३९॥ यही समझकर धीरवीर पुरुषोंको बड़ी दृढ़ताके साथ शील-व्रत पालन करना चाहिये और दुर्लभ निधिके समान उसे प्राण नाश होनेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये ॥४०॥ इस ब्रह्मचर्य व्रतको धीरवीर ज्ञानी व्रतोंके पालन करनेमें सदा तत्पर रहनेवाले मनुष्य ही पालन कर सकते है अन्य कातर मनुष्योंसे यह कभी पालन नहीं हो सकता ॥४१॥ जो शूरवीर मनुष्य बाणोंकी वर्षासे भरे हुए युद्धमें अचल खड़े रहते हैं वे ही शूरवीर स्त्रियोंके कटाक्षों के युद्धमें कभी नहीं ठहर सकते ॥४२॥ हाथी बाघ और शत्रुओंको गिरा देनेवाले बहुतसे शूरवीर देखे जाते हैं परन्तु कामदेवरूपी मल्लको गिरा देनेवाला कोई भी दिखाई नहीं देता। काम मल्ल को मारनेवाले केवल उत्तम मुनि ही हैं ॥४३॥ इस संसारमें ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंको ही ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली सब पदार्थोंको सिद्ध करनेवाली महाविद्याएँ सिद्ध होती हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥४४॥ संसारमें वे ही मनुष्य धन्य है और वे ही मनुष्य तीनों लोकोंमें पूज्य हैं जो बड़ी दृढ़ताके साथ अखण्ड शीलव्रतका पालन करते हैं और जो स्त्रियोंके द्वारा वा अन्य लोगोंके द्वारा घोर उपसर्ग और परीषहोंके आ जानेपर भी स्वप्नमें भी उसे नहीं छोड़ते ॥४५॥ ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंके चरकमलोंको इन्द्र आदि समस्त देव भी भक्तिके बोझसे नम्र होकर मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं ॥४६॥ इस शीलव्रतके प्रभावसे भक्तिसे नम्रीभूत हुए देवोंके भी आसन कम्पायमान हो जाते हैं अथवा इस शीलव्रतके प्रभावसे इस संसारमें क्या-क्या महिमा प्राप्त नहीं होती है अर्थात् सब प्रकारकी महिमा प्राप्त हो जाती है ॥४७॥ ब्रह्मचर्यव्रतको पालन करनेवाले मनुष्योंके चरणकमलोंको चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी भक्तिके बोझसे दबकर नमस्कार करते हैं फिर भला अन्य राजाओंकी तो बात ही क्या है ॥४८॥ इस ब्रह्मचर्यव्रतके फलसे ही मनुष्योंको महा विभूतियोंसे सुशोभित स्वर्ग भी अपने घरका आँगन बन जाता है ॥४९॥ शीलव्रत-को धारण करनेवाले धीर पुरुषोंको इन्द्रकी भी विभूति प्राप्त होती है जो महा महिमासे सुशोभित

भजन्ति चक्रवर्तित्वं रत्ननिध्यादिसङ्कुलम् । षट्खण्डविभवोपेतं ब्रह्मचर्यफलान्नराः ॥५१
प्राप्नुवन्ति जिनेशत्वं ब्रह्मरत्नविभूषितम् । चमत्कारकरं लोके वन्द्यं सर्वामरेश्वरैः ॥५२
ब्रह्मसिंहासनासीनो यद्यदङ्गी समीहते । तत्तदेव समायाति पुण्याल्लोकत्रयेषु च ॥५३
किमत्र बहुनोक्तेन संसारे यत्सुखं वरम् । ब्रह्मचर्यफलात्तच्च सर्वं सम्प्राप्यते जनैः ॥५४
दुर्लभं स्वर्गलोकेऽयं महाशीलं सुखाकरम् । नराणां सुलभं चात्र तत्किं दक्षैर्न गृह्यते ॥५५
मुक्तिनारी वृणोत्येव शीलाभरणभूषितम् । मुनिं रागेण चागत्य का कथा स्वर्गयोषिताम् ॥५६
महारत्नमिवानर्घ्यं प्राप्य शीलं नरोत्तमाः । महायत्नं प्रकुर्वन्ति तद्रक्षादिकहेतवे ॥५७
हावभावविलासाढ्यं वस्त्राभरणमण्डितम् । नारीरूपं न पश्यन्ति ब्रह्मरक्षादितत्पराः ॥५८
स्त्रीरूपदर्शनाच्चित्तं मोमुह्यति न संशयः । इति मत्वा न पश्यन्ति तन्नरा चित्तशुद्धये ॥५९
मोदकादिवराहारं दुग्धात्यन्तघृतादिजम् । न चात्ति सबलाहारं ब्रह्मचारी तदाप्तये ॥६०
सबलान्नेन स्यात्पुंसां स्वप्ने शुक्रच्युतिः ध्रुवम् । नार्यादिसङ्गमं प्राप्य भवेद्भङ्गं व्रतस्य भो ॥६१
इति मत्वा त्यजेत्सर्वमाहारं सबलं सदा । विषान्नमिव सुज्ञानी तद्व्रताक्षयहेतवे ॥६२
मुखप्रक्षालनैर्नित्यं स्नानाञ्जनविभूषणैः । गन्धमाल्यादिकैर्भोगैः कोमलैः शयनासनैः ॥६३

होती है और जिसे सब देव नमस्कार करते है ॥५०॥ इस ब्रह्मचर्यके फलसे मनुष्योंको नौ निधि, चौदह रत्न और छहो खण्ड पृथ्वीकी विभूतिसे सुशोभित चक्रवर्तीकी विभूति और उपभोग प्राप्त होते हैं ॥५१॥ इस ब्रह्मचर्यरूपी रत्नसे सुशोभित होनेवाले मनुष्य तीर्थंकर पदको प्राप्त होते हैं, जो तीनों लोकोंमें चमत्कार करनेवाला है और समस्त देवों वा इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय है ॥५२॥ इस ब्रह्मचर्यरूपी सिंहासनपर विराजमान हुआ मनुष्य इस संसारमें जो-जो चाहता है वह चाहे तीनों लोकोंमें कही भी क्यों न हो उसके पुण्यके प्रभावसे उसे अवश्य प्राप्त हो जाता है ॥५३॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ उत्तम सुख है वह सब ब्रह्मचर्यके फलसे ही मनुष्योंको प्राप्त होता है ॥५४॥ यह सुखकी खानि शीलव्रत स्वर्ग लोकमें भी दुर्लभ है परन्तु इस लोकमें मनुष्योंको सुगमतासे प्राप्त हो जाता है इसलिये चतुर पुरुषोंको क्या वह स्वीकार नहीं करना चाहिये? अवश्य करना चाहिये ॥५५॥ शीलव्रतरूपी आभूषणोंसे सुशोभित होनेवाले मुनियोंको मुक्ति स्त्री भी आकर रागपूर्वक स्वयं स्वीकार करती है फिर भला स्वर्गकी देवांगनाओंकी तो बात ही क्या है ॥५६॥ उत्तम पुरुष इस शीलव्रतरूपी बहुमूल्य महारत्नको पाकर उसकी रक्षा करनेके लिये महाप्रयत्न करते हैं ॥५७॥ इस ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करनेमें तत्पर रहनेवाले मनुष्य हावभाव विलासोंसे सुशोभित और वस्त्र व आभूषणोंसे विभूषित ऐसे स्त्रीके रूपको कभी नहीं देखते है ॥५८॥ इसमें सन्देह नहीं कि स्त्रियोंका रूप देखनेसे चित्त मोहित हो जाता है यही समझकर उत्तम पुरुष अपने चित्तको शुद्ध रखनेके लिये स्त्रियोंके रूपको कभी नहीं देखते है ॥५९॥ ब्रह्मचारी पुरुष अपना ब्रह्मचर्य पालन करनेके लिये लड्डू आदि अत्यन्त उत्तम पदार्थ, दूध, अधिक घी और पौष्टिक पदार्थ आदिकोंको कभी सेवन नहीं करते हैं ॥६०॥ पौष्टिक आहार करनेसे स्वप्नमें मनुष्योंका वीर्य च्युत हो जाता है तथा स्त्रियोंका समागम मिलनेपर उसके व्रत (ब्रह्मचर्य) का भंग हो जाता है। यही समझकर सम्यग्ज्ञानी पुरुषों को अपने ब्रह्मचर्य व्रतकी पूर्ण रक्षा करनेके लिये विष मिले हुए अन्नके समान सब प्रकारके पौष्टिक आहारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥६१–६२॥ ब्रह्मचारी पुरुषोंको अपना मुँह धोकर सदा स्नानकर, अँजन लगाकर, आभूषण पहिनकर, सुगन्धित द्रव्य लगाकर, माला, कोमल शय्या,

धौतवस्त्रैस्तथान्यैश्च रागोत्पादककारणैः । स्वशरीरस्य संस्कारं ब्रह्मचारी चरेन्न च ॥६४
वपुःसंस्कारयोगेन कामाग्निः प्रकटो भवेत् । मत्वेति सद्व्रती नैव कुर्यात्स्वाङ्गस्य मण्डनम् ॥६५
हावभावविलासाढ्यां कथां शृङ्गारसंयुताम् । स्त्रीणां रागकरां नैव कुर्याच्छृणुयान्न सद्यतिः ॥६६
शृङ्गारकथया रागो जायते ब्रह्मचारिणाम् । ततो नश्येद्व्रतं तस्मात्तां न शृण्वन्ति योगिनः ॥६७
पूर्वानुभूतसम्भोगान् न स्मरन्ति जितेन्द्रियाः । मनोभङ्गमिवात्यन्तरागदं योगिनिन्दितम् ॥६८
कामवह्निर्ज्वलत्येव पूर्वभोगानुचिन्तनात् । ज्ञात्वेति व्रतिनो भोगं चिन्तयन्ति न पूर्वजम् ॥६९
नार्या समं न कुर्वन्ति हास्यवार्ताविजल्पनम् । गोष्ठी-वासं क्वचित्प्रीतिं व्रतिनश्चित्तशुद्धये ॥७०
स्त्रीसंयुक्तालये नैव कुर्यात्सच्छयनाशनम् । स्थितिं वा क्षणमेकं हि व्रती पापादिशङ्कया ॥७१
सर्पादिसंयुते गेहे केचित्तिष्ठन्ति धीधनाः । न पुनर्योषिदागारे महानिन्द्ये कलङ्कदे ॥७२
नष्टा ये मुनयः पूर्वं सङ्गमासाद्य योषिताम् । केवलं श्रूयते दक्षैः कथा तेषां श्रुतार्णवे ॥७३
तपत्येव यथा नीरमग्निना भाजनाश्रितम् । पुंसां चित्तं तथा रामाश्रयसञ्जातवह्निना ॥७४
दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं स्त्रीमुखे स्वल्पचेतसाम् । पश्चाद्भवन्ति सङ्कल्पाः तस्याः सङ्गमहेतवे ॥७५
ततो विजृम्भते कामदाहः सर्वाङ्गतापनः । तेन सम्पीडितो जीवस्त्यजेल्लज्जाभिमानताम् ॥७६

कोमल आसन, धुले हुए वस्त्र, तथा और भी राग उत्पन्न करनेवाले भोगोपभोगोंसे अपने शरीरका संस्कार नहीं करना चाहिये ॥६३–६४॥ अपने शरीरका संस्कार करनेसे कामाग्नि प्रगट हो जाती है यही समझकर उत्तम ब्रह्मचारियोंको अपने शरीरका संस्कार कभी नहीं करना चाहिये ॥६५॥ ब्रह्मचारियोंको हावभाव विलासोंसे भरी हुई, शृंगारको बढ़ानेवाली और स्त्रियोंमें राग उत्पन्न करनेवाली कथाएँ न कभी करनी चाहिये और न कभी सुननी चाहिये ॥६६॥ शृंगारकी कथाएँ कहने सुननेसे ब्रह्मचारियोंको राग उत्पन्न होता है और राग उत्पन्न होनेसे उनका व्रत नष्ट होता है इसलिये ब्रह्मचारी लोग ऐसी कथाएँ कभी नहीं सुनते हैं ॥६७॥ इसी प्रकार जितेन्द्रिय पुरुष पहिले भोगे हुए भोगोंका स्मरण भी कभी नहीं करते हैं क्योंकि उनका स्मरण करनेसे मनकी स्थिरता नष्ट हो जाती है और मनकी स्थिरता नष्ट होनेके साथ साथ योगियोंके द्वारा निन्दा करने योग्य ऐसा अत्यन्त राग उत्पन्न होता है ॥६८॥ पहिले भोगे हुए भोगोंको स्मरण करनेसे कामाग्नि प्रज्वलित हो उठती है इसलिये व्रती लोग पहिले भोगे हुए भोगोंको कभी स्मरण नहीं करते हैं ॥६९॥ व्रती लोग अपना चित्त शुद्ध करनेके लिये स्त्रियोंके साथ न तो कभी हँसी करते हैं न उनके साथ बात करते हैं न कथा वार्ता करते हैं न गोष्ठी-वास (एक साथ बैठना, उठना, चलना आदि) करते हैं और न उनके साथ प्रेम करते हैं ॥७०॥ ब्रह्मचारी व्रती केवल पापोंकी शंका से ही जिस घरमें स्त्रियाँ रहती हैं, उसमें न तो सोते हैं, न बैठते हैं और न क्षणभर वहाँ रहते हैं ॥७१॥ कोई कोई बुद्धिमान् सांप आदि भयानक जन्तुओंसे भरे हुए घरमें ठहर सकते हैं परन्तु महा निन्द्य और कलंक उत्पन्न करनेवाले स्त्रियोंके घरमें कभी नहीं ठहरते ॥७२॥ पहिले समयमें जो मुनि स्त्रियोंकी संगति पाकर नष्ट हो गये हैं उनकी कथा चतुर पुरुष शास्त्रोंमें सुनते ही हैं ॥७३॥ जिस प्रकार अग्निके सम्बन्धसे बर्तनमें रक्खा हुआ जल भी गर्म हो जाता है उसी प्रकार स्त्रियोंके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाली अग्निसे मनुष्योंका हृदय भी तप जाता है ॥७४॥ पहिले तो स्त्रियोंमें थोड़ेसे चित्तसे (ऊपरी मनसे) दृष्टिपात होता है अर्थात् मन स्त्रियोंके देखनेमें लगता है, फिर उनके समागमके लिये मनमें संकल्प होता है। तदनन्तर हृदयमें समस्त शरीरको सन्तप्त करनेवाली कामकी जलन उत्पन्न होती है, उस जलनसे पीड़ित होकर यह जीव लज्जा और

ततः कामाग्निना तप्त एकान्ते प्राप्य सुन्दरीम् । निमज्जति व्रतं त्यक्त्वा सर्वं तत्कायकर्दमे ॥७७
ततो भस्मीभवत्येव तपोज्ञानव्रतादिकम् । कीर्तिपूजाभिमानं च तस्य कामादिसेवया ॥७८
एवं दोषं परिज्ञाय स्त्रीजातं व्रतभङ्गदम् । रामासङ्गं त्यजेद्धीमान् यथा दृष्टिविषामहीम् ॥७९
हस्तपादविहीनां च नासिकाकर्णवर्जिताम् । कुरूपां दूरतो नारीं वर्जयेन्मुनिनायकः ॥८०
अग्निज्वालोपमा नारी नवनीतसमो नरः । तिष्ठतः कथमेकत्र तावनर्थं विना नृणाम् ॥८१
मनःशुद्धं भवेत्तेषां तपोज्ञानयमादिकम् । निर्विघ्नेन व्रतं सर्वं स्त्रीसङ्गं न भजन्ति ये ॥८२
इति मत्वा बुधैस्त्याज्यं नारीसङ्गं कलङ्कदम् । स्वप्नेष्वपि न कर्तव्यं चेहामुत्रादि दुःखदम् ॥८३

कायवाक्चित्तयोगं च स्थिरं कृत्वा भजेत्तपः ।
त्यक्त्वा स्त्रीसङ्गमं यो ना तस्य स्यान्निर्मलं व्रतम् ॥८४

धन्यास्ते भुवने पूज्याः ब्रह्मचर्यं चरन्ति ये । उन्मत्तयौवने हत्वा कामारिं च तपोऽसिना ॥८५
जन्मेह सफलं तेषां शीलरत्नं सुदुर्लभम् । नार्यादितस्करैर्येषां स्वप्नेऽपि न हृतं क्वचित् ॥८६
ब्रह्मचर्यमहं मन्ये तेषां यैर्यौवनान्वितैः । रुद्धे रामादिभिस्त्यक्तं न च प्राणात्ययेऽपि भो ॥८७
यौवनेन्धनसंयोगाद्रामावातप्रप्रेरणात् । सबलाहारतैलेन कामाग्निः प्रकटो भवेत् ॥८८

अभिमान सबको छोड़ देता है। फिर कामाग्निसे सन्तप्त होकर और किसी सुन्दरीको एकान्तमें पाकर सब व्रतोंको छोड़कर पाप कर्ममें डूब जाता है ॥७५-७७॥ तदनन्तर कामसेवन करनेसे उसका तप, ज्ञान, व्रत, कीर्ति, बडप्पन, अभिमान आदि सब जलकर भस्म हो जाता है ॥७८॥ इस प्रकार व्रतोंको भंग करनेवाले स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए दोषोंको समझकर बुद्धिमानोंको जिसके देखने मात्रसे विष चढ़कर मनुष्य मर जाता है ऐसी दृष्टिविष सर्पिणीके समान स्त्रियोंके समागम का त्याग कर देना चाहिये ॥७९॥ जिस प्रकार हाथ पैर रहित और नाक कान रहित कुरूपा स्त्रीको छोड़ देते हैं उसी प्रकार व्रतियोंको दूरसे ही स्त्रियोंका त्याग कर देना चाहिये ॥८०॥ संसारमें अग्निकी ज्वालाके समान स्त्रियाँ समझी जाती हैं और मनुष्योंका मन मक्खनके समान समझा जाता है फिर भला वे दोनों एक स्थानमें मिल जानेपर विना अनर्थ किये किस प्रकार रह सकते हैं ॥८१॥ जो पुरुष इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाले स्त्रियोंके स्मरणको स्वप्नमें भी नहीं करते हैं संसारमें उन्हींका मन शुद्ध हो सकता है और तप, ज्ञान, यम, नियम आदि सब कुछ उन्हीका पल सकता है जो स्त्रीका संगम नहीं करते हैं, उन्हींके सर्व व्रत निर्विघ्न पलते हैं ऐसा समझकर ज्ञानी जनोंको कलंक देनेवाला नारी-संग छोड़ना चाहिये ॥८२-८३॥ जो पुरुष स्त्रियोंके समागमको छोड़कर मन, वचन, काय तीनों योगोंको स्थिर कर तप करता है संसारमें उसीके व्रत निर्मल रीतिसे पल सकते हैं ॥८४॥

जो पुरुष उन्मत्त करनेवाली यौवन अवस्थामें तपश्चरण रूपी तलवारसे कामरूपी शत्रुको मारकर ब्रह्मचर्यको पालन करते हैं संसारमें वे ही पुरुष धन्य कहलाते हैं और तीनों लोकोंमें वे ही पुरुष पूज्य गिने जाते हैं ॥८५॥ जिनका अत्यन्त दुर्लभ शीलरूपी रत्न स्त्री आदि चोरोंने कहीं स्वप्नमें भी हरण नहीं किया उन्हींका जन्म इस संसारमें सफल माना जाता है ॥८६॥ जिन्होंने यौवन अवस्थामें अनेक स्त्रियोंसे घिरे रहनेपर भी और प्राण नाश होनेपर भी अपना ब्रह्मचर्य नहीं छोड़ा है उन्हींके ब्रह्मचर्यको मैं वास्तविक ब्रह्मचर्य मानता हूँ ॥८७॥ यौवनरूपी इंधनके संयोगसे तथा स्त्रीरूपी वायुकी प्रेरणासे और पौष्टिक आहाररूपी तैलसे यह कामरूपी अग्नि

तस्यैव शमने धीरैः शीलनीरं प्रकीर्तितम् । न चान्यद्भुवने वामसेवनादिकमेव हि ॥८९
योषित्सेवादिभिर्योऽधीः कामाग्निं हन्तुमिच्छति । स मूढश्च महाज्वालां घृतेनैव कुबुद्धितः ॥९०
इति मत्वा मनः कृत्वा निःशेषविषयच्युतम् । पालयध्वं बुधा ब्रह्मचर्यं सद्यौवने सदा ॥९१
आलोक्य पलितं केशं स्वमूर्ध्नि योऽतिलोलुपः । कामसेवां त्यजेन्नैव वञ्चितो विधिना शठः ॥९२
वृद्धत्वे विषयासक्ता ये न मुञ्चन्ति दुर्धियः । मण्डला इव ते मृत्वा यान्ति पापात्कुदुर्गतिम् ॥९३
यो वृद्धो मृत्युपर्यन्तं भार्यासेवां करोति सः । यमेन नीयमानोऽतिदुःखी स्यादतिचौरवत् ॥९४
इति मत्वा गृहस्थैश्च ग्राह्यं सङ्गतयौवने । पलिते ब्रह्मचर्यं तत् स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये ॥९५

सकलगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकहेतुं भवजलनिधिपोतं दुःखसन्तापदूरम् ।
दुरितवनमहाग्निं धर्मरत्नादिगेहं भज दृढतरशक्त्या ब्रह्मचर्यं स्वसिद्ध्यै ॥९६

संसाराम्बुधितारकां सुखकरां स्वर्मोक्षसोपानतां श्वभ्रद्वारदृढार्गलां शुभप्रदां सेव्यां जिनाधीश्वरैः ।
पूज्यां चेन्द्रपुरस्सरैः सुरगणैः सन्मानदानादिदां सारां सर्वगुणाकरां भज सदा त्वं ब्रह्मसद्देवताम् ॥९७
ब्रह्मचर्यं समाख्याय प्रारम्भरहितां वराम् । अष्टमीं प्रतिमां वक्ष्ये संवरादिकहेतवे ॥९८

प्रगट होती है उस अग्निको बुझानेके लिये धीरवीर पुरुषोंने शीलरूपी पानी ही बतलाया है, स्त्रियोंके सेवन करने आदि अन्य कार्योंसे वह अग्नि कभी नहीं बुझ सकती ॥८८–८९॥ जो मूर्ख स्त्रियोंके सेवन करने आदि कार्योंसे कामरूपी अग्निको बुझाना चाहता है वह मूर्ख अपनी कुबुद्धिके कारण घीसे अग्निकी भारी ज्वालाको बुझाना चाहता है ॥९०॥ यही समझकर हे विद्वानो ! अपने मनमें समस्त विषयोंको त्यागकर यौवन अवस्थामें भी पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करो ॥९१॥ जो मनुष्य कामसेवनमें अत्यन्त लोलुपी होता हुआ अपने मस्तकपर सफेद बालोंको देखकर भी (बूढ़ा होकर भी) कामसेवनका त्याग नहीं करता वह मूर्ख अपने भाग्यसे ठगा जाता है ॥९२॥ दुर्बुद्धिको धारण करनेवाले जो मूर्ख वृद्धावस्थामें भी विषयोंकी आसक्तता नहीं छोड़ते वे पापकर्मके उदयसे कुत्तेके समान मरकर अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं ॥९३॥ जो बूढ़ा होकर भी मृत्युपर्यन्त स्त्रीका सेवन करता है वह जिस समय यमराजके द्वारा पकड़ा जाता है—मरता है उस समय वह महाचोरके समान अत्यन्त दुःखी होता है ॥९४॥ यही समझकर गृहस्थोंको यौवन अवस्थामें स्त्रीको स्वीकार करना चाहिये और वृद्धावस्थामें बाल सफेद होनेपर स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ॥९५॥ यह ब्रह्मचर्य समस्त गुणोंकी निधि है, स्वर्ग मोक्षका अद्वितीय कारण है, संसाररूपी महासागरसे पार करनेके लिये जहाज है, दुःख और सन्तापको दूर करनेवाला है, पापरूपी वनको जलानेके लिये महा अग्नि है और धर्मरूपी रत्नोंका घर है इसलिये हे भव्य ! तू अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अत्यन्त सुदृढ़ शक्तिसे इस ब्रह्मचर्यका पालन कर ॥९६॥ यह ब्रह्मचर्य एक उत्तम देवता है, यह संसाररूपी महासागरसे पार कर देनेवाला है, नरकके द्वारको बन्द करनेके लिये अत्यन्त मजबूत अर्गल वा बेड़ा है, पुण्य बढ़ानेवाला है, श्री तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, इन्द्रादिक समस्त देव इसकी पूजा करते हैं यह अत्यन्त आदर सत्कार देनेवाला है, सबमें सार है और समस्त गुणोंकी खानि है। हे मित्र ! ऐसे इस ब्रह्मचर्यरूपी देवताकी सदा आराधना कर ॥९७॥ इस प्रकार सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाका निरूपण कर अब कर्मोंका संवर वा निर्जरा करनेके लिये आरम्भ त्याग नामकी आठवीं प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥९८॥ जो पुरुष मन, वचन,

सर्वारम्भं त्यजेद्यस्तु षड्जीवादिविराधकम् । त्रिशुद्धया जायते तस्य प्रतिमा स्वष्टमी शुभा ॥९९
धर्मध्यानेन शास्त्रादिपठनेन सदा च यः । स्वकालं गमयेद्धीमान् सोऽग्रणी व्रतिनां मतः ॥१००
आरम्भाज्जायते हिंसा प्राणिनां दुःखदायिका । तया सञ्जायते पापं चतुर्गतिनिबन्धनम् ॥१०१
तेन संसारकान्तारे दुःखव्याघ्रादिसङ्कुले । भ्रमत्येव न सन्देहो जीवो दुःखेन पूरितः ॥१०२
इति मत्वा सदारम्भं घोरं प्राघनिबन्धनम् । त्यक्त्वा धर्मं भजेद्दक्षो हिंसात्यक्तं गुणाकरम् ॥१०३
पृथिवीखननं नीरारम्भं वस्त्रादिधोवनम् । दीपादिज्वालनं निन्द्यं वातादिकरणं तथा ॥१०४
वनस्पत्यादिसंछेदं धान्यादिबीजमर्दनम् । द्वित्रीन्द्रियादिजन्तूनां बाधनं ताडनादिकम् ॥१०५
मनोवचनकायेन कारितादिभिरञ्जसा । नैव कुर्याद् व्रती नित्यं प्रारम्भपरिहानये ॥१०६
रथाद्यारोहणं निन्द्यं स्थूलजीवविघातकम् । प्राणान्तेऽपि न कर्तव्यं त्यक्तारम्भैः कदाचन ॥१०७
वाणिज्यादिमहारम्भं विवाहादिकमञ्जसा । गेहादिकरणे दक्षैस्त्याज्यं च कृपया सदा ॥१०८
यत्किञ्चिच्च गृहारम्भं जन्तुहिंसाकरं त्रिधा । त्यक्त्वा धर्मं चरेद्यस्तु तस्य स्याद्विशदं व्रतम् ॥१०९
चतुर्गतिकरं पापखानि श्वभ्रादिसाधकम् । स्वर्गगृहकपाटं च रोगक्लेशभयादिदम् ॥११०
जीवघातकरं दुःखमूलं स्वस्य परस्य च । धर्मशत्रुं परित्यक्तं दक्षैर्धीरैर्मुनीश्वरैः ॥१११

कायसे छहों कायके जीवोंका नाश करनेवाले सब तरहके आरम्भोंका त्याग करता है उसके पुण्य बढ़ानेवाली आठवीं प्रतिमा होती है ॥९९॥ जो बुद्धिमान धर्मध्यान धारण कर और अनेक शास्त्रोंका पठनकर सदा अपना समय व्यतीत करता है वह व्रत पालन करनेवालोंमें सबसे मुख्य गिना जाता है ॥१००॥ आरम्भ करनेसे अनेक जीवोंको दुःख देनेवाली हिंसा होती है, उस हिंसासे चारों गतियोंका कारण ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस पापसे अत्यन्त दुःखी हुआ वह जीव दुःखरूपी सिंह बाघोंसे भरे हुए इस संसाररूपी वनमें सदा परिभ्रमण किया करता है इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१०१–१०२॥ यही समझ कर चतुर पुरुषोंको महापापका कारण ऐसे घोर आरम्भका त्यागकर हिंसासे सर्वथा रहित और अनेक गुणोंकी खानि ऐसे धर्मका सेवन करना चाहिए ॥१०३॥ आरम्भ त्याग प्रतिमाको धारण करनेवाले धीरवीर व्रती पुरुषोंको अपने आरम्भ-का त्याग करनेके लिये मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे पृथ्वी खोदना, कपड़े धोना, दीपक मसाल आदिका जलाना, वायु करना, वनस्पतियोंको तोड़ना, काटना, छेदना, गेहूँ, जौ आदि बीजोंको कूटना, पीसना, दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय आदि जीवोंको बाधा पहुँचाना वा उनकी ताड़ना करना आदि निंद्य आरम्भोंका बहुत शीघ्र त्याग कर देना चाहिए ॥१०४–१०६॥ आरम्भ त्याग प्रतिमा धारण करनेवाले व्रतियोंको प्राण नष्ट होनेपर भी स्थूल जीवोंकी हिंसा करनेवाले और निंद्य ऐसे रथ आदि सवारियोंपर चढ़कर कभी नहीं चलना चाहिए ॥१०७॥ आरम्भ त्यागी चतुर पुरुषोंको दया धारण कर व्यापार आदिके महारम्भ, विवाहादिक कार्य और घर बनाना आदि आरम्भके कार्योंका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ॥१०८॥ जो पुरुष जीवोंकी हिंसा करनेवाले घर सम्बन्धी सब तरहके आरम्भोंका मन, वचन, कायसे त्याग कर धर्मसेवन करता है उसके आरम्भ त्याग नामका यह व्रत निर्मल रीतिसे पालन होता है ॥१०९॥ यह घर सम्बन्धी आरम्भ चारों गतियोंमें परिभ्रमण करानेवाला है, पापकी खानि है, नरकका मुख्य कारण है, स्वर्गरूपी घरको बन्द कर देनेके लिये किवाड़ है, रोग क्लेश, भय आदिको देनेवाला है, अनेक जीवोंका घातक है, अपने और दूसरोंके लिए दुःखकी जड़ है, धर्मका शत्रु है,

असत्यादिसमुद्रं च गृहारम्भं सुदुस्त्यजम् । त्यजेत्सन्तोषतो योऽत्र गच्छेत्सोऽप्यव्ययं पदम् ॥११२
सर्वारम्भं परित्यज्य तपः स्वल्पं करोति यः । इहाऽमुत्र भजेत्सोऽपि बृहत्सौख्यं त्रिलोकजम् ॥११३
आरम्भेन समं कुर्यात्तपो दुस्तरमेव यः । गजस्नानमिवेह स्यात्तस्य कर्मक्षयो न हि ॥११४
पापारम्भं त्यजेद्यस्तु व्रताय सर्वशक्तितः । प्राप्य षोडशमं नाकं क्रमाद्याति शिवालयम् ॥११५
मन्येऽहं सफलं जन्म तस्य येन विवर्जितः । गृहारम्भो जिनैर्निन्द्यस्तेन भूरपि भूषिता ॥११६
यो वर्जयेद्गृहारम्भं तस्य स्यात्पापसंवरः । पूर्वाघनिर्जरा मुक्तिरप्यायाति स्वयं च तम् ॥११७
इति ज्ञात्वा सदा त्याज्यः सर्वारम्भो व्रतान्वितैः । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य स्वस्य स्वर्मुक्तिहेतवे ॥११८

विबुधजनविनिन्द्यं पापसन्तापखानिं विषमनरकमार्गं तस्करं धर्मगेहे ।
सकलगुणवनाग्निं स्वर्गमोक्षैकशत्रुं निखिलमपि त्यज त्वं नित्यमारम्भमेव ॥११९
अखिलसुजनसेव्यं धर्मपीयूषकूपं दुरिततरुकुठारं नाकदानैकदक्षम् ।
सकलगुणसमुद्रं मुक्तिदं सौख्यधाम व्रतमपि भज सारं सर्वथारम्भमुक्तम् ॥१२०

अष्टमीं प्रतिमां पूर्वं व्याख्याय नवमीं वराम् । वक्ष्येऽहं प्रतिमां मुक्त्यै त्यक्तसङ्गां सुपुण्यदाम् ॥१२१
क्षेत्रवास्तुधनं धान्यं सेवकं च चतुष्पदम् । आसनं शयनं कुप्यं भाण्डं सर्वाशुभाकरम् ॥१२२

धीरवीर चतुर मुनियोंके द्वारा त्याग करने योग्य है, झूठ चोरी आदि पापोंका सागर है और बड़ी कठिनतासे त्याग किया जाता है। जो पुरुष सन्तोष धारण कर इसका त्याग करता है वह अवश्य ही मोक्षस्थानको प्राप्त करता है ॥११०–११२॥ जो मनुष्य सब तरहके आरम्भोंका त्यागकर थोड़ा भी तप करता है, वह इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें तीनों लोकोंमें उत्पन्न हुए समस्त महासुखोंको प्राप्त होता है ॥११३॥ जो पुरुष आरम्भोंके साथ-साथ तप करता है उसका वह तप करना हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है उस तपसे उसके कर्म कभी नष्ट नहीं हो सकते ॥११४॥ जो पुरुष अपने व्रत पालन करनेके लिए अपनी सब शक्ति लगाकर पापरूप आरम्भोंका त्याग करता है वह सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥११५॥ जिसने समस्त पापोंकी निर्जरासे रहित ऐसे आरम्भका त्याग कर दिया है मैं उसीके जन्मको सफल मानता हूँ और यह पृथ्वी भी उससे भूषित होती है ॥११६॥ यह घर सम्बन्धी आरम्भ अत्यन्त निन्द्य है। जो इस आरम्भका त्याग करता है उसीके नवीन पापका संवर होता है, पूर्वबद्ध पापकर्मकी निर्जरा होती है और मुक्ति उसके समीप स्वयं आती है ॥११७॥ यही समझकर व्रती पुरुषोंको स्वयं स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपनी पूर्ण शक्तिको प्रगट कर सब तरहके आरम्भोंका सदाके लिए त्याग कर देना चाहिए ॥११८॥ यह आरम्भ विद्वानोंके द्वारा निन्द्य है, पाप और सन्तापकी खानि है, भयंकर नरकका मार्ग है, धर्मरूपी घरका चोर है, समस्त गुणोंके वनको जलानेके लिए अग्नि है और स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय शत्रु है इसलिए हे भव्य ! तू इस सब तरहके आरम्भका सदाके लिए त्याग कर ॥११९॥ यह आरम्भ त्याग नामकी आठवीं प्रतिमाका व्रत समस्त सज्जनोंके द्वारा सेवा करने योग्य है, धर्मरूपी अमृतका कूँआ है, पापरूपी वृक्षके लिये कुठार है, स्वर्ग देनेके लिए अत्यन्त समर्थ है, सब गुणोंका समुद्र है, मुक्तिको देनेवाला है और सुखोंका घर है। इसलिए हे भव्य ! तू इस आरम्भ त्याग नामके व्रतको अर्थात् आठवीं प्रतिमाको अवश्य धारण कर ॥१२०॥ इस प्रकार आठवीं प्रतिमाका स्वरूप वर्णन कर अब मोक्ष प्राप्त करनेके लिए पुण्य बढ़ानेवाली परीग्रहत्याग नामकी नौवीं प्रतिमाको कहते हैं ॥१२१॥ जो पुरुष क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दास, पशु, आसन, शयन, कुप्य, भाँड इन सब पाप बढ़ानेवाले दस प्रकारके परिग्रहोंमेंसे केवल वस्त्रोंको

इत्येवं दशभेदं यः सङ्गं वस्त्रं विना त्यजेत् । हत्वा स्वमनसो मूर्च्छां नवमीं प्रतिमां श्रयेत् ॥१२३
सर्वं परिग्रहं योऽपि पीत्वा सन्तोषजामृतम् । त्यजेन्न प्रत्यहं तस्य सुखमत्रैव स्वात्मजम् ॥१२४
कामोद्रेकोऽतिमाया च लोभक्रोधोऽतिदुस्सहम् । मनोद्वेषश्च रागश्च चिन्ताशोकभयादिकम् ॥१२५
आशा तन्नाशतो दुःखं मानभङ्गो नृणां भुवि । रूप्यहेमादिकाद् द्रव्यादसत्यं जायते वचः ॥१२६
इति मत्वा न संग्राह्यं कृष्णाहिमिव तद्धनम् । स्वप्नेऽपि धर्मसिद्धयर्थं क्वचित्सद्व्रतधारिभिः ॥१२७
वस्त्रं नैव समादेयं रागदं बहुमूल्यजम् । वीतरागं परित्यज्य वस्त्रैश्चिन्ताविकारकम् ॥१२८
व्रतहीनो नरो नैव रक्षणीयः कदाचन । स्वपार्श्वे व्रतसंयुक्तैः शुश्रूषादिकहेतवे ॥१२९
मठादिकं न च ग्राह्यं स्वस्याधिष्ठानकारणम् । हिंसादिकरमप्युच्चैः ममत्वादिप्रदं बुधैः ॥१३०
चतुष्पदं न चादेयं जीवघातकरं सदा । भाजनं रागसंयुक्तं पापदं व्रततत्परैः ॥१३१
यत्किञ्चिन्मुनिना निन्द्यं सद्व्रतादिमलप्रदम् । तत्सर्वं नाश्रयेत्सङ्गं विषान्नमिव सद्व्रती ॥१३२
द्रव्यादिकं परित्यक्तुं योऽक्षमो नात्र लोभतः । स क्लीबः कथमग्रेति कर्मसैन्यं हनिष्यति ॥१३३
यः परित्यज्य सङ्गं न मुक्तिमिच्छति मन्दधीः । सः पङ्गुः प्रस्खलन्मार्गे कथं मेरुं च लङ्घयेत् ॥१३४
सङ्गेन सह ये मोक्षं वाञ्छन्ति विधिवञ्चिताः । खपुष्पैरिह ग्रन्थन्ति ते बन्ध्यासुतशेखरम् ॥१३५

छोड़कर तथा अपने मनकी इच्छाको रोककर बाकीके सब परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसके नौवीं प्रतिमा कही जाती है ॥१२२-१२३॥ जो मनुष्य सन्तोषरूपी अमृतको पीकर सब तरहके परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसके इस लोकमें भी आत्मासे उत्पन्न हुआ अनुपम सुख प्राप्त होता है ॥१२४॥ सोना चांदी आदि धनके होनेसे कामका उद्रेक, माया, लोभ, क्रोध, असह्य मनका द्वेष, राग, चिन्ता, शोक, भय, आशा आदि सब विकार उत्पन्न होते हैं, झूठ बोलना पड़ता है तथा उसके नाश होनेसे मनुष्योंको बडा भारी दुःख होता है, और मान भंग होता है। यही समझकर व्रत धारण करनेवालोंको अपना धर्म सिद्ध करनेके लिये काली सर्पिणीके समान इस धनको स्वप्नमें भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१२५-१२७॥ इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले व्रतियोंको वीतरागताको सूचित करनेवाले, वस्त्रोंको छोडकर अन्य चिन्ता उत्पन्न करनेवाले, रोग उत्पन्न करनेवाले अधिक मूल्यके वस्त्र कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये ॥१२८॥

व्रती मनुष्योंको अपनी सेवा चाकरी करनेके लिये अपने पासमें अव्रती मनुष्य कभी नहीं रखना चाहिये ॥१२९॥ विद्वान् त्यागियोंको अपने रहनेके लिये अत्यन्त ममता उत्पन्न करनेवाला और महा हिंसा करनेवाला मठ आदि कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१३०॥ इसी प्रकार व्रती मनुष्योंको अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाले हिंसाके पात्र, पाप बढानेवाले और राग उत्पन्न करनेवाले गाय, घोड़ा आदि पशु भी नहीं रखने चाहिये ॥१३१॥ संसारमें जो जो परिग्रह मनुष्योंके द्वारा निन्द्य गिने जाते हैं, और जो व्रतोंमें दोष उत्पन्न करनेवाले हैं वे सब परिग्रह विष मिले हुए अन्नके समान व्रती लोगोंको छोड़ देने चाहिए ॥१३२॥ जो मनुष्य लोभके कारण सोना, चाँदी आदि धनको छोड़ नहीं सकता वह पुरुष पुरुष नहीं नपुंसक है, ऐसा नपुंसक मनुष्य आगे चलकर कर्मरूपी सेनाको किस प्रकार नष्ट कर सकता है ॥१३३॥ जो मनुष्य परिग्रहोंका त्याग किये विना ही मोक्षकी इच्छा करता है वह मूर्ख है। भला जो लंगड़ा मार्गमें गिरता पड़ता हुआ चलता है वह मेरुपर्वतको किस प्रकार उल्लंघन कर सकता है ॥१३४॥ जो भाग्यहीन मनुष्य परिग्रहके साथ-साथ मोक्षकी इच्छा करते हैं वे आकाशके फूलोंसे वन्ध्यापुत्रका मुकुट बनाना चाहते हैं ॥१३५॥

परिग्रहवतां पुंसां शुद्धिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा। मनसो ध्यानसिद्धयर्थं पापहीनाः गुणाकराः ॥१३६
सङ्गत्यागो जिनैरुक्तो मनःशुद्धयर्थमञ्जसा। नृणां तस्यापरित्यागाद्व्रतं स्यात्तुषखण्डनम् ॥१३७
दृषन्नावसमारूढो यथा मज्जति नाऽर्णवे। तथा च सङ्गभारेण व्रती संसारसागरे ॥१३८
एवं दोषं परिज्ञाय सङ्गं यो वर्जयेत्सुधीः। मुक्तिश्रीः स्वयमायाति धर्मात्स्वर्गश्रिया समम् ॥१३९
मन्ये स एव पुण्यात्मा यस्या सा निधनं गता। द्रव्यादिष्वत्र तेनैव भूषिता पृथिवी गुणात् ॥१४०
द्रव्यादिके समावत्ते सन्तोषं यो नरोत्तमः। तं सुसम्पत्समायाति सर्वलोकत्रये स्थिता ॥१४१
शक्रत्वं चक्रवर्तित्वं गणेशत्वं जिनेशिता। भवत्येव न सन्देहः सन्तोषाद् व्रतिनां शुभात् ॥१४२
ये लोभं वर्जयन्त्येव धनादौ तेऽतिलोभिनः। स्युरत्रामुत्र स्वर्गादिमुक्तिपर्यन्तसौख्यके ॥१४३
लभ्यतेऽत्र यथा लोके ख्यातिपूजादिकं नरैः। निस्पृहत्वेन तद्वच्च परत्र सुखमञ्जसा ॥१४४
निस्पृहत्वेन स्याच्चित्तशुद्धिर्ध्यानं पुनस्तया। ध्यानात्कर्मक्षयस्तस्मान्मुक्तिरेव न संशयः ॥१४५
तत्रानन्तसुखं सारं नित्यं त्यक्तोपमं बुधैः। प्राप्यते विषयातीतं स्वात्मजं परमं वरम् ॥१४६
इत्येवं च परिज्ञाय गुणं सन्तोषजं बुधाः। हत्वा लोभं दुरायं तं कुरुध्वं भो सदा बलात् ॥१४७

अखिलगुणनिधानं धर्मसत्त्वैर्निषेव्यं सकलसुखसमुद्रं मुक्तिसन्दानदक्षम्।
निखिलभुवनपूज्यं दुःखचिन्तादिदूरं भज विमलगुणाप्त्यै त्यक्तसङ्गं व्रतं त्वम् ॥१४८

जो मनुष्य परिग्रह रखते है उनके ध्यान सिद्ध होनेके लिए समस्त पापोंसे रहित और गुणोंकी खानि ऐसी मनकी शुद्धि होना अत्यन्त कठिन है ॥१३६॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने परिग्रहोंका त्याग मनुष्योंका मन शुद्ध करनेके लिये बतलाया है, तथा परिग्रहोंका त्याग किये बिना व्रतोंका पालन करना (नौवी प्रतिमा धारण करना) छिलके कूटनेके समान है—अर्थात् छिलके कूटनेसे जैसे चावल नहीं निकलते उसी प्रकार परिग्रहोंका त्याग किए बिना यह प्रतिमा हो नहीं सकती ॥१३७॥ जिस प्रकार पत्थरकी नाव पर बैठा हुआ मनुष्य अवश्य ही समुद्रमें डूबता है उसी प्रकार व्रती मनुष्य भी परिग्रहके भारसे इस संसार-सागरमें अवश्य डूबता है ॥१३८॥ इस प्रकार परिग्रहके दोषोंको समझकर जो बुद्धिमान् इन परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसके पास स्वर्गरूपी लक्ष्मीके साथ-साथ मुक्तिरूपी लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥१३९॥ इस संसारमें जिसकी इच्छा धनादिकसे नष्ट हो जाती है, संसारमें मै उसीको पुण्यवान मानता हूँ और उसीसे ये पृथिवोके सब गुण सुशोभित होते हैं ॥१४०॥ जो उत्तम मनुष्य धनादिकमें सन्तोष धारण करता है उसके पास तीनों लोकोंमें रहनेवाली सब लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥१४१॥ सन्तोष धारण करनेसे व्रती पुरुषोंको पुण्य-कर्मके उदयसे इन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर और तीर्थंकर आदिके समस्त उत्तम पद प्राप्त होते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं ॥१४२॥ जो पुरुष इस लोकमें धनादिसे अपना लोभ छोड़ देते हैं वे परलोकमें स्वर्ग मोक्षतकके सुख प्राप्त करते हैं ॥१४३॥ निर्लोभी मनुष्य जिस प्रकार इस लोकमें यश, बड़प्पन आदि प्राप्त करते हैं उसी प्रकार उन्हें परलोकमें भी अनेक प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं ॥१४४॥ लोभका त्याग करनेसे मन शुद्ध होता है, मन शुद्ध होनेसे ध्यान होता है, ध्यानसे कर्म नष्ट होते हैं और कर्म नष्ट होनेसे मोक्ष प्राप्त होती है इसमें कोई सन्देह नही। तथा मोक्षमें विद्वानोंको समस्त विषयोंसे रहित, संसारमें अन्य कोई जिसकी उपमा नही ऐसा आत्मासे उत्पन्न हुआ परमोत्तम सारभूत अनन्त सुख सदा प्राप्त होता रहता है ॥१४५-१४६॥ विद्वानोंको सन्तोषके इस प्रकार गुण जानकर पाप उत्पन्न करनेवाला लोभ छोड़ देना चाहिए और परिग्रह त्याग नामका व्रत धारण करना चाहिए ॥१४७॥ यह परिग्रह त्याग नामका व्रत समस्त गुणोंकी निधि है, धर्मात्मा

अन्तातीतगुणप्रदं सुविमलं स्वर्मुक्तिसम्पादकं
धर्म्यध्याननिबन्धनं शुभनगारामं सुरैः पूजितम् ।
चिन्तात्यक्तसुखास्पदं बुधजनैः सेव्यं प्रणीतं जिनैः
भो हिंसाविविवर्जितं भज सदा त्वं त्यक्तसङ्गं व्रतम् ॥१४९

षष्ठ्यादि नव पर्यन्तं प्रतिमां योऽत्र पालयेत् । त्रिशुद्धया स जिनैरुक्तो मध्यमः श्रावको भुवि ॥१५०

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे ब्रह्मचर्यादिप्रतिमानवप्ररूपको नाम त्रयोविंशतितमः परिच्छेदः ॥२३॥

●

लोगोंके द्वारा धारण किया जाता है, समस्त सुखोंका सागर है, मोक्ष प्राप्त करानेमें चतुर है, समस्त संसारमें पूज्य है और दुःख चिन्ता आदिसे दूर है, इसलिए हे भव्य ! निर्मल गुणोंको प्राप्त करनेके लिये तू इस परिग्रह त्याग व्रतको (नौवीं प्रतिमाको) अवश्य धारण कर ॥१४८॥ यह परिग्रह त्याग व्रत अनन्त गुणोंको देनेवाला है, अत्यन्त निर्मल है, स्वर्ग मोक्षमें पहुँचा देनेवाला है, धर्म-ध्यानका कारण है, पुण्यरूपी वृक्षोंके लिये बाग है, देवोंके द्वारा पूज्य है, चिन्ता आदि दोषोंसे रहित है, सुखका घर है, विद्वानोंके द्वारा सेवा करने योग्य है, अत्यन्त पवित्र है और हिंसादि पापोंसे सर्वथा रहित है। हे भव्य ! ऐसे इस परिग्रह त्याग व्रतको तू सदा धारण कर ॥१४९॥ जो पुरुष मन, वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक दर्शन प्रतिमासे लेकर परिग्रह त्याग नामकी नौवीं प्रतिमा तक नौ प्रतिमाओंका पालन करते हैं वे इस संसारमें श्री जिनेन्द्रदेवके द्वारा मध्यम श्रावक कहे जाते हैं ॥१५०॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग प्रतिमाओंका निरूपण करनेवाला यह तेईसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२३॥

●

चौबीसवाँ परिच्छेद

महावीरं जगत्पूज्यं कर्मशत्रुविनाशकम् । भव्यपद्माकरे सूर्यं वन्दे सिद्ध्यै गुणार्णवम् ॥१
सङ्गत्यागं समाख्याय पापानुमतिवर्जनम् । व्रतं वक्ष्ये समासेन सर्वसावद्यशान्तये ॥२
आरम्भे गृहकर्मादौ कृष्यादिकरणे तथा । वाणिज्यादौ विवाहादौ कार्येऽन्यस्मिन् तथाविधौ ॥३
यो धत्तेऽनुमतिं नैव पापभीतो दयापरः । प्रतिमां दशमीं सोऽपि श्रयेत्पुण्यकरां वराम् ॥४
मनःसङ्कल्पतो लोके पापं सञ्जायते नृणाम् । विना प्रयोजनं घोरं श्वभ्रतिर्यग्निबन्धनम् ॥५
उत्पद्यते क्वचित्पापं कायेन वचसा तथा । चित्तप्रचलतो लोके पुंसां घोरं निरन्तरम् ॥६
अहोरात्रौ मनः पापं तनोति निग्रहं विना । अनुमत्यादियोगेन महासावद्यकर्मणा ॥७
यः करोति गृहारम्भं यो धत्तेऽनुमतिं शठः । द्वयोरपि समं पापं प्रोक्तं श्रीजिनस्वामिना ॥८
शालिशिक्थाख्यमत्स्योऽगात्स्वयंभूरमणार्णवे । महामत्स्यस्य पापेन श्वभ्रं स्वस्य विकल्पतः ॥९
इति मत्वा सुधीर्नित्यं न धत्तेऽनुमतिं क्वचित् । हिंसारम्भादिसत्कार्ये पापभीतो व्रतैर्युतः ॥१०
नीरसे सरसे वापि स्वान्यस्य गृहसम्भवे । आहारे विविधे ज्ञानी कुर्यान्नानुमतिं व्रती ॥११
दक्षैराहारमादेयं कृतादिकविवर्जितम् । हत्वा रागं यथालब्धं स्वगृहे वा परगृहे ॥१२
सर्वेषु गृहकार्येषु यः सङ्कल्पं निवारयेत् । न तस्याशुभकर्मादिबन्धः स्याद्धि क्वचित्क्षणे ॥१३

जो श्री वर्द्धमानस्वामी जगतपूज्य हैं, भव्यरूपी कमलोंके लिए सूर्य हैं और गुणोंके समुद्र हैं ऐसे श्री महावीरस्वामीको मैं सिद्धपद प्राप्त करनेके लिए नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ऊपर लिखे अनुसार परिग्रह त्याग प्रतिमाका निरूपण कर अब समस्त पापोंको शान्त करनेके लिए संक्षेपसे पापरूप अनुमतिका त्याग करने रूप अनुमति त्याग नामकी दशवीं प्रतिमाको कहते हैं ॥२॥ जो दयालु मनुष्य पापोंसे डरकर किसी आरम्भमें, घरके काममें, खेती करनेमें, व्यापारमें, विवाहादि कार्योंमें तथा और भी ऐसे ही कार्योंमें अपनी सम्मति नहीं देता है उसके पुण्य बढ़ानेवाली दशवीं उत्तम प्रतिमा होती है ॥३-४॥ संसारमें मनके संकल्प करने मात्रसे मनुष्योंको विना ही प्रयोजनके नरक तिर्यञ्च गतिका कारण ऐसा घोर पाप उत्पन्न होता है ॥५॥ शरीरसे और वचनसे तो कभी-कभी पाप होता है परन्तु संसारमें मनकी प्रबलतासे मनुष्योंको निरन्तर घोर पाप लगता रहता हैं ॥६॥ विना वश किया हुआ यह मन महापापरूप कार्योंमें सम्मति देकर रात्रि दिन पाप करता रहता है ॥७॥ जो मूर्ख घरके आरम्भ करता है और जो उसमें सम्मति देता है उन दोनोंको एकसा पाप लगता है ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है ॥८॥ स्वयंभूरमणसमुद्रमें जो तन्दुल मत्स्य है वह महामत्स्यके पापोंका संकल्प करनेसे ही नरकमें जाकर पड़ता है ॥९॥ यही समझकर व्रती बुद्धिमानोंको पापोंसे डरकर हिंसा आदि पापरूप कार्योंमें तथा धनमें अपनी सम्मति कभी नहीं देनी चाहिए ॥१०॥ व्रती श्रावकको अपने वा दूसरेके घर नीरस व सरस अनेक प्रकारके आहारमें जान-बूझकर कभी सम्मति नहीं देनी चाहिये ॥११॥ चतुर व्रतियोंको राग छोड़कर अपने घर वा दूसरेके घर जहाँ कहीं कृत कारित अनुमोदना आदि दोषोंसे रहित आहार मिल जाय वहीं कर लेना चाहिए ॥१२॥ जो व्रती घर सम्बन्धी समस्त कार्योंमें अपनी सम्मति देनेका त्याग कर देता है उसके किसी समयमें भी अशुभ कर्मोंका बन्ध नहीं होता

चित्तं विनिर्जितं येन निःसङ्कल्पासिना बलात् । तस्य समीहितं सिद्धं सर्वं मुक्त्यादि कारणम् ॥१४
ये हत्वा मानसं ध्यानखड्गेनेहाति निस्पृहाः । तिष्ठन्ति विगतारम्भा धन्यास्ते भुवनत्रये ॥१५
जितं स्वमानसं येन तेन चेन्द्रियसञ्चयम् । कर्मजालं महापुण्यं ननु प्राप्तं सुखाकरम् ॥१६
पापानुमतित्यागाच्च चक्रेशत्वं सुरेशताम् । अमुत्र तीर्थनाथत्वं प्राप्यते च व्रतान्वितैः ॥१७
जन्मेह सफलं तस्य मन्येऽहं येन संस्कृतम् । स्वचित्तं स्ववशे हत्वा सङ्कल्पादिकदम्बकम् ॥१८
किमत्र बहुनोक्तेन यैस्त्यक्तानुमतिस्त्रिधा । पूज्यास्ते महतां लोके परत्र विहितोद्यमैः ॥१९

सुगतिगमनमार्गं मुक्तिसोपानपङ्क्तिं दुरितगहनवह्निं धर्मरत्नादिभाण्डम् ।
रहितसकलपापं संव्रतं कर्मशत्रुमनुमतिरहितं स्वस्यात्मशुद्धयै भज त्वम् ॥२०

इदानीं सम्प्रवक्ष्येऽहमुद्दिष्टाहारवर्जनीम् । व्याख्याय प्रतिमां पूर्वं दशमीं धर्महेतवे ॥२१
गृहस्थः प्राप्य वैराग्यं देहभोगभवादिषु । त्यक्त्वा गृहं कुटुम्बं च प्रागाद्यो मुनिसन्निधिम् ॥२२
आराध्य मुनिसत्पादौ शक्रभूपेन्द्रपूजितौ । गृहीत्वा क्षुल्लकीं दीक्षां खण्डवस्त्रसमन्विताम् ॥२३
गुरुपार्श्वे स्थितो नित्यं सोऽत्ति भिक्षां परगृहात् । उद्दिष्टवर्जिताख्यैकां दशमीं प्रतिमां भजेत् ॥२४
मस्तके मुण्डनं लोचः कर्तनं वा समाचरेत् । द्वित्रिभिर्वा चतुर्मासैर्व्रती सद्व्रतसंयुतः ॥२५

है ॥१३॥ किसी प्रकारका संकल्प न करनेरूप तलवारके बलसे जिसने अपना चित्त जीत लिया है, उसके मोक्षके कारणकी प्राप्ति होना आदि सब मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं ॥१४॥ जो व्रती ध्यान-रूपी तलवारसे अपने चंचल मनको वश कर तथा अत्यन्त निस्पृह होकर समस्त आरम्भोंका त्याग कर रहते हैं, किसीमें अपनी सम्मति नही देते वे मनुष्य तीन लोकोंमें धन्य गिने जाते हैं ॥१५॥ जिसने अपना मन जीत लिया उसने समस्त इन्द्रियोंको जीत लिया और कर्मोंके समूहको जीत लिया तथा सुखकी खानि ऐसा महापुण्य उसने प्राप्त कर लिया ॥१६॥ इस दशवीं प्रतिमा-को धारण करनेवाले व्रतियोंको पापरूप सम्मतिके त्याग कर देनेसे परलोकमें चक्रवर्ती, इन्द्र और तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है ॥१७॥ जिसने अपने मनके संकल्प विकल्पोंके समूहको नाश कर अपना चित्त वशमें कर लिया है मैं इस संसारमें उसीका जन्म सफल मानता हूँ ॥१८॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि जिन्होंने अपना पूर्ण उद्योग कर मन, वचन, कायसे सम्मति देनेका त्याग कर दिया है वही मनुष्य परलोकमें पूज्य और महा-पुरुष होता है ॥१९॥ हे भव्य ! यह अनुमतित्याग व्रत शुभ गतियोंमें जानेका मार्ग है, मोक्ष महलकी सीढियोंकी पंक्ति है, पापरूपी वनको जला देनेके लिए अग्नि है, धर्मरूपी रत्नोंका पिटारा है, समस्त पापोंसे रहित है और कर्मोंका शत्रु है इसलिये हे भव्य ! तू अपने अपने आत्मा-को शुद्ध करनेके लिये इस अनुमति त्याग नामके व्रतको अवश्य धारण कर ॥२०॥

इस प्रकार दशवीं प्रतिमाका वर्णन कर अब धर्मके लिए उद्दिष्टाहार त्याग नामकी ग्यारहवी प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥२१॥ जो गृहस्थ संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर तथा घर और कुटुम्बका त्याग कर मुनिराजके समीप जाता है, तथा वहाँ जाकर इन्द्र चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंके द्वारा पूज्य ऐसे मुनिराजके चरणकमलोंका आराधन कर और खण्ड वस्त्र धारण कर क्षुल्लककी दीक्षा धारण करता है, सदा मुनिराजके समीप रहता है और भिक्षा भोजन करता है उसके उद्दिष्ट त्याग नामकी ग्यारहवीं प्रतिमा होती है ॥२२-२४॥ अपने व्रतोंको पालन करनेवाले क्षुल्लक श्रावकको दो तीन अथवा चार महीने बाद अपने मस्तकको मुडवा डालना

न केशधारणं कुर्यात्स्नानं च व्रततत्परः । यूकादिभयतो रागपापहिंसादिकारणम् ॥२६
लोचः प्रकल्पते नित्यं वैराग्यादिविवर्द्धकः । धीराणां त्यक्तलोभोऽपि कातराणां स्ववीर्यदः ॥२७
संस्तरे कोमले नैव रागयुक्ते भजेत्क्वचित् । कामादिभयतोऽघाद्वा शयनं ब्रह्मरक्षकः ॥२८
विधत्ते शयनं योऽत्र कोमले संस्तरे बुधः । मन्मथादिभयात्तस्य ब्रह्मचर्यं पलायते ॥२९
वरं सद्व्रतिनां शस्त्रादिकेषु शयनं न च । तूलिकादिषु संरागपापकामादिहेतुषु ॥३०
कदोपवेशनं नैव कर्तव्यं गद्यकादिषु । ब्रह्मव्रतधरैस्तस्य रागद्वेषसुखादिकैः ॥३१
आसनं ये प्रकुर्वन्ति गद्यकादिषु कोमले । कुतो ब्रह्मव्रतं तेषां स्वात्मसुखरतात्मनाम् ॥३२
शौचार्थं संगृहीतव्यो निष्पापः सत्कमण्डलुः । वीतरागपरित्यक्तभयः सद्ब्रह्मचारिभिः ॥३३
सद्धात्वादिसमुत्पन्नः संकीर्णमुख एव सः । अदृष्टमध्ये‌देशो न ग्राह्यो दक्षैर्भयप्रदः ॥३४
ततो बृहन्मुखो योग्यः स्वल्पमूल्यो कमण्डलुः । प्रासुको भयसंत्यक्तो ग्राह्यो हिंसादिवर्जितः ॥३५
कोपीनं खण्डवस्त्रं च गृहीतव्यं व्रतान्वितैः । अल्पमूल्यं परैर्दत्तं त्यक्तरागभयादिकम् ॥३६
बृहद्वस्त्रं न चादेयं दक्षैरत्यन्तमूल्यजम् । प्राणान्ते पापसंरागचिन्ताशोकभयादिदम् ॥३७
गृह्णन्ति सुन्दरं वस्त्रं ये लोभेन कुमार्गगाः । नश्येद्धर्म्यादिसद्ध्यानं तेषां नाशादिसम्भयात् ॥३८

चाहिये वा कैंचीसे कतरवा डालना चाहिये अथवा लोंच कर देना चाहिये ॥२५॥ व्रत पालन करनेमें तत्पर रहनेवाले क्षुल्लक श्रावकको लिख जूँ आदि पड़नेके डरसे बाल नहीं रखना चाहिए और राग पाप वा हिंसा होनेके डरसे स्नान नहीं करना चाहिए ॥२६॥ केशोंका लोंच करना वैराग्यको बढ़ानेवाला है, धीरवीर पुरुषोंको लोभका त्याग करनेवाला है और कातर जीवोंको अपनी शक्ति बढ़ानेवाला है। इसलिये सदा लोंच करना ही अच्छा है ॥२७॥ ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेवाले व्रती क्षुल्लकोंको राग बढ़ानेवाले कोमल बिछौनेपर कभी नहीं सोना चाहिए अथवा कामोद्वेग होनेके डरसे वा पाप उत्पन्न होनेके डरसे ऐसे बिछौनेपर कभी नहीं सोना चाहिए ॥२८॥ जो विद्वान् व्रती कोमल बिछौनेपर सोता है उसका ब्रह्मचर्य कामदेवके डरसे दूर भाग जाता है ॥२९॥ व्रती क्षुल्लकोंको शस्त्रोंपर सो जाना अच्छा परन्तु राग बढ़ानेवाले, पाप तथा कामको उत्पन्न करनेवाले ऐसे रुई आदिके बिछौनेपर सोना अच्छा नहीं ॥३०॥ राग द्वेष और सुखका त्याग कर देनेवाले ब्रह्मचारी व्रतियोंको गद्दा आदि कोमल आसनोंपर कभी नही बैठना चाहिए ॥३१॥ अपने आत्माको सुखमें तल्लीन कर देनेवाले जो व्रती गद्दा आदि कोमल आसनोंपर बैठते हैं उनके ब्रह्मचर्यव्रत किस प्रकार पल सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥३२॥ ब्रह्मचारी क्षुल्लकोंको शौचके लिये पापरहित, वीतरागरूप, और सब तरहके भयोंसे रहित ऐसा कमण्डलु ग्रहण करना चाहिए ॥३३॥ जो अच्छी (अधिक मूल्यकी) धातुओंसे बना हो, जिसका मुँह छोटा हो, और जिसका मध्यदेश दिखाई न पड़ता हो ऐसा भय उत्पन्न करनेवाला कमण्डलु वा बर्तन चतुर व्रतियोंको कभी नहीं लेना चाहिए ॥३४॥ इसलिए जिसका मुँह बड़ा हो, जो योग्य हो, थोड़े मूल्यका हो, प्रासुक हो, जिसके रखनेमें किसी तरहका भय न हो और जिससे वा जिसके निमित्त किसी तरहकी हिंसा न होती हो ऐसा कमण्डलु ग्रहण करना चाहिए ॥३५॥ व्रती क्षुल्लकोंको कौपीन और खण्ड वस्त्र रखना चाहिए और वह ऐसा रखना चाहिए जिसके रखनेमें न तो राग हो न किसी तरहका भय हो, जो थोड़े मूल्यका हो और दूसरेके द्वारा दिया गया हो ॥३६॥ चतुर क्षुल्लकोंको प्राण नाश होनेपर भी अधिक मूल्यका और बड़ा वस्त्र कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा वस्त्र पाप राग चिन्ता शोक और भय आदि अनेक विकार व पाप उत्पन्न करनेवाला

क्षालितव्यं न तद्वस्त्रं पापभीतैर्व्रतात्मजैः । अप्रासुकजलेनैव जन्तुसङ्घातघातनात् ॥३९
जीवयुक्तजलेनैव ये वस्त्रं क्षालयन्ति भो । अहिंसाख्यं व्रतं तेषां नश्येज्जन्तुविघातनात् ॥४०
भिक्षार्थं भाजनं स्वल्पं ग्राह्यं चौरभयातिगम् । विरागं त्यक्तसन्मानरक्षाचिन्तादिकं नरैः ॥४१
स्थाल्यादिकं महामूल्यं नादेयं व्रतधारिभिः । रागद्वेषमहाचिन्ताभयशोकादिसद्गृहम् ॥४२
द्रव्याढ्यभाजनान्न स्याद्धर्मध्यानं व्रतादिकम् । चौरादिग्रहणात्पुंसां चार्तध्यानं प्रजायते ॥४३
इति मत्वा न तद्ग्राह्यं धर्मध्यानादितत्परैः । वीतरागं परित्यज्य शङ्काचिन्ताकरं क्वचित् ॥४४
योग्यकाले तदादाय मुहूर्ते सप्तसङ्कृते । दिने परिग्रहे योग्ये भिक्षार्थं सम्भ्रमेत् व्रती ॥४५
न शीघ्रं गमनं चैव कुर्यान्मन्दं न सद्यतिः । विलम्बितं न सन्मार्गे स्थित्वा नैव प्रजल्पनम् ॥४६
निरीक्ष्य यत्नतो भूमिं चतुर्हस्तप्रमाणकम् । नयनाभ्यां न्यसेत्पादं सर्वसत्त्वदयापरः ॥४७
वैराग्यं भावयन् गच्छेत् देहभोगभवादिषु । सद्गृहं त्यक्तसन्दोषं भिक्षान्वेषणतत्परः ॥४८
श्रीहीनोऽयं धनाढ्योऽयं चेति चिन्तां परित्यजेत् । विशेदनुक्रमेणैव गृहपङ्क्तिं स संयमी ॥४९
गृहद्वारं समासाद्य प्राप्य भिक्षां न वा ततः । लाभालाभेन सन्तुष्टो विशेदन्यगृहं पुनः ॥५०

है ॥३७॥ जो कुमार्गगामी पुरुष लोभके कारण सुन्दर वस्त्रोंको ग्रहण करता है उनके उस वस्त्रके चले जाने आदिका सदा भय लगा रहनेके कारण धर्मध्यान आदि सब नष्ट हो जाता है ॥३८॥ व्रती क्षुल्लकोंको पापके डरसे अप्रासुक जलसे कभी उन वस्त्रोंको नहीं धोना चाहिए क्योंकि उन वस्त्रोंके धोनेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होगी ॥३९॥

जो व्रती अप्रासुक जलसे ही अपने वस्त्रोंको धो डालते हैं उनके अनेक जीवोंकी हिंसा होनेसे अहिंसाव्रत कभी नहीं पल सकता ॥४०॥ व्रती क्षुल्लकोंको भिक्षाके लिये एक छोटासा पात्र रखना चाहिये और वह ऐसा होना चाहिये जिसके रखनेमें चोरी आदिका डर न हो, जो वीतराग रूप हो और जिसके रखनेमें अपनी मान मर्यादा व रक्षा करनेकी चिन्ता आदि न करनी पड़े ॥४१॥ व्रती क्षुल्लकोंको अधिक मूल्यकी थाली आदि कभी नहीं रखना चाहिए क्योंकि ऐसे पात्रोंके रखनेमें राग, द्वेष, चिन्ता, भय, शोक आदि सब विकार उत्पन्न हो जाते है ॥४२॥ बहुमूल्यके पात्र रखनेमें धर्मध्यान नहीं हो सकता और न व्रत ही पल सकते हैं तथा उसके चोरी चले जानेसे मनुष्यके आर्तध्यान उत्पन्न होता है ॥४३॥ यही समझकर धर्मध्यानादिकमें तत्पर रहनेवाले क्षुल्लकोंको बहुमूल्यके और बड़े पात्र कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये । उनको वीतरागताको सूचित करनेवाला और जो शंका चिन्ता आदि न करनेवाला हो ऐसा छोटा पात्र ही रखना चाहिए ॥४४॥ उस पात्रको लेकर सात मुहूर्त दिन चढ़ जानेपर योग्य समयमें क्षुल्लक व्रतीको योग्य भिक्षाके लिए चर्या करनी चाहिए ॥४५॥ क्षुल्लकोंको भिक्षाके लिये न तो शीघ्र गमन करना चाहिए न धीरे-धीरे चलना चाहिए न देर करके जाना चाहिये और न मार्गमें खड़े होकर कुछ बातचीत करनी चाहिए ॥४६॥ सब जीवोंपर दया करनेवाले क्षुल्लकोंको अपने दोनों नेत्रोंसे चार हाथ भूमि देखकर यत्नाचार पूर्वक पैर रखना चाहिए ॥४७॥ भिक्षाके लिये चर्या करनेवाले क्षुल्लकको संसार शरीर और भोगोंमें वैराग्य धारण करते हुए निर्दोष श्रेष्ठ घरमें प्रवेश करना चाहिए ॥४८॥ यह घर गरीबका है या धनीका है ऐसा विचार संयमीको कभी नहीं करना चाहिये । तथा उसे घरकी पंक्तियोंमें अनुक्रमसे ही प्रवेश करना चाहिए बीचमें किसी घरको छोड़ना नहीं चाहिए ॥४९॥ संयमीको घरके दरवाजे तक जाना चाहिए, यदि भिक्षा मिल जाय तो ले लेना

अनग्निपक्कमाहारं बीजकन्दफलादिकम् । पत्र-पुष्पादिकं नैव निन्द्यं गृह्णाति सद्व्रती ॥५१
आहारं न समादेयं यद् रात्र्येकद्विसंस्थितम् । स्वस्वादचलितं जन्तुयुक्तं सद्ब्रह्मचारिणा ॥५२
न ग्राह्यं व्रतिना निन्द्यं प्राहारं मोदकादिकम् । कामाग्निदीपकं तीव्रं विषान्नमिव सर्वथा ॥५३
लम्पटत्वं भजेज्जिह्वा येन कामोत्कटो भवेत् । तत्त्याज्यं यतिना चान्नं दुग्धादिरससंयुतम् ॥५४
पश्चादेकगृहे स्थित्वा प्राप्तिभिक्षां तथाविधाम् । क्षुधारोगशमार्थं च जिह्वानिग्रहतत्परः ॥५५
रूक्षं स्निग्धं तथा शीतमुष्णं वा लवणान्वितम् । त्यक्तसल्लवणं वापि त्यक्तस्वादुं यथागतम् ॥५६
रात्रौ स्थितं न चादेयं तक्रं जीवसमाकुलम् । संयतैर्बहुपापादिभीतैः सावद्यकारणम् ॥५७
आमिषं रुधिरं चर्म वास्थि मद्यं वधोऽङ्गिनः । प्रत्याख्यानं स्वभुक्तेरन्तरायं सप्तधा भवेत् ॥५८
यः पश्यति पलं कुर्वन्भोजनं स व्रती स्वयम् । अन्तरायं भजेत्सोऽपि भोजनस्य स्ववीर्यदम् ॥५९
पश्येद्यो रुधिरस्यैव चतुरङ्गुलसम्मितम् । धारां भुक्त्वान्वितस्तस्य प्रान्तरायः प्रजायते ॥६०
पश्येद्यद्यार्द्रचर्मास्थि शुष्कं यो वा स्पृशेत्क्वचित् । भोजने चागतं चास्थि सोऽन्तरायं भजेद्यमी ॥६१
मद्यधारां समालोक्य त्यजेदाहारमञ्जसा । वधं च द्वीन्द्रियादीनां घृततक्रादिके व्रती ॥६२
अन्तरायो भवेन्नृणां त्यक्तवस्त्वादिभक्षणात् । व्रतादिभङ्गतश्चापि पापसङ्गादिहेतुतः ॥६३

चाहिए। यदि न मिले तो दूसरे घरमें जाना चाहिए। भिक्षाके मिलने न मिलने दोनोंमें सन्तोष धारण करना चाहिए ॥५०॥ व्रती क्षुल्लकोंको अग्निपर विना पकाया हुआ आहार, बीज, कन्द, फल, पत्र, पुष्प, आदि निन्द्य आहार कभी नहीं लेना चाहिए ॥५१॥ जो आहार एक या दो रात्रिका रखा हुआ हो, अपने स्वादसे चलित हो गया हो, और जिसमें जीव हों ऐसा आहार ब्रह्मचारी क्षुल्लकोंको कभी नहीं लेना चाहिए ॥५२॥ जो आहार कामाग्निको बढ़ानेवाला है और जो तीव्र है, ऐसे लड्डू आदि निन्द्य आहार विषमिले अन्नके समान क्षुल्लकोंको सर्वथा नहीं लेना चाहिए ॥५३॥ जिससे जिह्वामें लम्पटता आ जाय और जो कामको उत्तेजित करनेवाला हो ऐसा दूध आदिसे मिला हुआ अन्न व्रती क्षुल्लकोंको त्याग कर देना चाहिए ॥५४॥ तदनन्तर क्षुधा रोगसे असमर्थ हुए उस क्षुल्लकको किसी एक घरमें बैठकर वह भिक्षामें प्राप्त हुआ भोजन खा लेना चाहिए। उस समय उसे अपनी जिह्वा इन्द्रिय वशमें कर लेनी चाहिए और रूखा चिकना, ठंडा गर्म, नमकीन विना नमकका स्वाद रहित जैसा कुछ आ गया है वैसा सब भोजन उसे कर लेना चाहिए ॥५५-५६॥ पापसे डरनेवाले व्रती क्षुल्लकोंको अनेक पापोंका कारण और अनेक जन्तुओंसे भरा हुआ ऐसा रात्रिका रक्खा हुआ दही अथवा छाछ कभी नहीं लेना चाहिए ॥५७॥ मांस, रुधिर, चर्म, हड्डी, मद्य, जीवोंका वध और त्याग किया हुआ पदार्थ ये सात प्रकारके भोजनके अन्तराय गिने जाते हैं, क्षुल्लकोंको इनको टालकर भोजन करना चाहिए ॥५८॥ जो व्रती भोजन करता हुआ मांसको देख लेता है उसके शक्तिको बढ़ानेवाला भोजनका अन्तराय गिना जाता है ॥५९॥ जो व्रती भोजन करता हुआ चार अँगुल प्रमाण रुधिरकी धाराको देख लेता है उसके भी भोजनका अन्तराय समझा जाता है ॥६०॥ यदि भोजन करता हुआ व्रती गीले चमड़ेको देख ले अथवा सूखे चमड़ेसे उसका स्पर्श हो जाय वा किसी कारणसे भोजनमें हड्डी आ जाय तो वह भी भोजनका अन्तराय माना जाता है ॥६१॥ व्रतियोंको मद्यकी धारा देखकर आहार छोड़ देना चाहिए और घी अथवा छाछ आदिमें दो इन्द्रिय आदि जीवोंका घात हो गया तो भी आहार छोड़ देना चाहिए ॥६२॥ त्याग किये हुए पदार्थोंका भक्षण कर लेनेसे व्रतोंका भंग होता है इसलिए

विनान्तरायं न स्तोकं प्राप्नं त्याज्यं क्वचिन्न वै । हिंसादिविरतैर्दक्षैर्यतो हिंसा प्रवर्तते ।।६४
यद्यागतोऽत्र वै कोऽपि प्रान्तरायः स्वभोजने । तदा स्वान्नं प्रभुक्तं वा न भुक्तं वा त्यजेद्यतिः ।।६५
ततः प्रासुकनीरेण विधायाचमनं व्रती । प्रक्षाल्य भाजनं प्रायात् सद्गुरोः निकटं द्रुतम् ।।६६
गुरुं प्रणम्य सङ्ग्राह्यं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् । तन्मुखाद्व्रतिना धर्मध्यानसंयुक्तचेतसा ।।६७
एवं सदा प्रकर्तव्यं भिक्षाहारं व्रतोचितम् । यावज्जीवं प्रयत्नेन निष्पापाहारभोगिना ।।६८
स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य तपः कुर्याद् द्विषड्विधम् । सदोपवासभेदादिसम्भवं कर्मघातकम् ।।६९
षष्ठाष्टमादिसञ्जातं सोपानं स्वर्गधामनि । मुक्तेर्वशीकरं घोरं संसाराम्बुधितारकम् ।।७०
शक्रचक्रेशतीर्थेशपदादिप्रापणे क्षमम् । सर्वशक्त्या करोत्येव तपः कर्मादिशङ्किता ।।७१
कृत्वा बहूपवासं च न ग्राह्यं पारणादिके । अधःकर्मभवाहारं पापदं व्रतधारिभिः ।।७२
वरं प्रत्यहमाहारं निःसावद्यं यथोचितम् । न च मासोपवासादिपारणे दोषसंयुतम् ।।७३
यथोक्तव्यवहारस्य शुद्धिः सद्गृहमेधिनाम् । यतीनां च तथा सा हि भिक्षाशुद्धिरुदाहृता ।।७४
बहूपवासं मौनं च स्थानं वीरासनादिकम् । सदोषाहारिणां सर्वं व्यर्थं स्याद्विषदुग्धवत् ।।७५
अहिंसाख्यं व्रतं मूलं व्रतानां मुक्तिसाधकम् । नश्येत् षड्जीवघातेन सदोषाहारग्राहिणाम् ।।७६

व्रती मनुष्योंके लिये यह भी भोजनका अन्तराय माना जाता है ।।६३।। हिंसाका त्याग करनेवाले चतुर पुरुषोंको विना अन्तरायके थोड़ासा भी अन्न नहीं छोड़ना चाहिए, सब खा लेना चाहिए क्योंकि अन्नके छोड़नेसे हिंसाकी प्रवृत्ति होती है ।।६४।। यदि भोजनमें कोई अन्तराय आ जाय तो चाहे वह भोजन खाया हो, वा न खाया हो, उद्दिष्ट त्यागीको वह अवश्य छोड़ देना चाहिए ।।६५।। तदनन्तर व्रती श्रावकको (उद्दिष्ट त्यागीको) प्रासुक जलसे आचमन (कुल्ला) कर लेना चाहिए और फिर अपना पात्र धोकर शीघ्र ही अपने गुरुके समीप चले जाना चाहिए ।।६६।। गुरुको नमस्कार कर अपने हृदयको धर्म ध्यानमें तल्लीन करनेवाले व्रतीको उनके मुखसे ही चारों प्रकारका प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए ।।६७।। इस प्रकार पापरहित आहारकी प्रवृत्ति करनेवाले व्रती त्यागीको अपने जीवनपर्यन्त प्रयत्नपूर्वक सदा इसी प्रकार आहार ग्रहण करना चाहिए ।।६८।।

व्रती त्यागियोंको अपनी शक्तिको प्रगट कर अनशन आदि बारह प्रकारका तप करना चाहिए तथा बेला तेला आदि भी करना चाहिये । संसारमें यह तप ही स्वर्गरूपी महलकी सीढ़ी है, मुक्तिको वश करनेवाला है, अत्यन्त कठिन है, संसाररूपी समुद्रसे पार करनेवाला है, तथा इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदिके पद देनेवाला है । इसलिए कर्मोंसे डरनेवाले त्यागियोंको ऐसा तपश्चरण अवश्य करना चाहिए ।।६९-७१।। व्रती त्यागियोंको अनेक उपवास करके भी पारणाके दिन नीच वा निन्द्य क्रियाओंसे उत्पन्न हुआ और पाप बढ़ानेवाला आहार कभी नहीं लेना चाहिए ।।७२।। यथायोग्य और निर्दोष आहार प्रतिदिन ग्रहण करना अच्छा परन्तु एक महीनाके उपवासके बाद किये हुए पारणाके दिन सदोष आहार ग्रहण करना अच्छा नहीं ।।७३।। जिस प्रकार यथायोग्य व्यवहार करनेवाले सद्गृहस्थोंकी शुद्धि बतलाई है उसी प्रकार क्षुल्लक वा मुनियों-की भी भिक्षा शुद्धि कही गई है ।।७४।। जो त्यागी सदोष आहार ग्रहण करते हैं उनके विषमिले दूधके समान अनेक उपवास, मौन, और वीरासन आदि स्थान सब व्यर्थ हैं ।।७५।। समस्त व्रतोंमें अहिंसाव्रत ही प्रधान है, यह व्रत सब व्रतोंकी जड़ है और मोक्षका साधक है, वही अहिंसाव्रत सदोष आहार ग्रहण करनेवालोंके नहीं हो सकता क्योंकि सदोष आहार ग्रहण करनेसे छहों कायके

षडङ्गिवधिकानां च सावद्याहारसेविनाम् । कथं स्याद्वशनं लोके संवेगं चाङ्गिबाधनात् ॥७७
सदोषान्नरतो याति गृहस्थत्वं यतिः कुधीः । हिंसयोभयभ्रष्टत्वं वा दानादिकवर्जनात् ॥७८
गृहस्थत्वं परित्यज्य दीक्षामादाय योऽधमः । सदोषमत्ति प्राहारं तस्य दीक्षा वृथा भवेत् ॥७९
पापासनं महानिन्द्यं यो जिह्वालम्पटोऽस्ति ना । तस्येह जायते लोके कुकीर्तिर्जन्तुघातनात् ॥८०
न स्यात्सुखममुत्रापि निर्दयान्वितचेतसाम् । भूरिदुःखं भवेन्नूनं पापदुर्गतिजं घनम् ॥८१
अच्यं वरं गृहस्थत्वं यतित्वं न कलङ्कितम् । इन्द्रियाहारदोषैश्च रागद्वेषादिकैर्नृणाम् ॥८२
श्रेष्ठं हालाहलं भुक्तं यत्सकृत्प्राणनाशनम् । सदोषान्नं पुनर्नैव संसाराम्बुधिपातनम् ॥८३
इति मत्वा सदा त्याज्यं दोषाढ्यं प्राशमञ्जसा । अखाद्यमिव नादेयं प्राणान्तेऽपि व्रतान्वितैः ॥८४
निर्दोषाहारिणां सर्वं तपोव्रतयमादिकम् । भवेन्मोक्षतरोर्बीजं सफलं पुण्यपुण्यदम् ॥८५
जन्मेह सफलं तस्य येन जिह्वा वशीकृता । बद्ध्वा वैराग्यपाशेन त्यक्तेन्द्रियसुखस्य वै ॥८६
धर्मध्यानेन स्थातव्यं प्रत्यहं स्वर्गमुक्तये । संसारे भयभीतैश्च भावनादिपरायणैः ॥८७
ध्यानं वाध्ययनं नित्यं कार्यं सद्गुणशालिभिः । प्रयत्नेन क्षयायैव कर्मणां दुःखदायिनाम् ॥८८
प्रमादेन न नेतव्या चैका कालकला क्वचित् । मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य धर्मध्यानं विना बुधैः ॥८९

जीवोंकी हिंसा होती है ॥७६॥ जो त्यागी सदोष आहार ग्रहण करते है वे छहों कायके जीवोंकी विराधना करते है इसलिए जीवोंकी हिंसा होनेसे उनका आहार इस संसारमें संवेगको बढ़ानेवाला कैसे हो सकता है ? ॥७७॥ जो अज्ञानी मुनि सदोष आहारमें लीन रहता है वह गृहस्थपनेको प्राप्त होता है तथा हिंसा करनेके कारण वह दोनों ओरसे भ्रष्ट होता है क्योंकि गृहस्थपनेको प्राप्त होकर भी वह दान पूजा आदि गृहस्थोंके शुभ कर्म नही करता ॥७८॥ जो नीच गृहस्थाश्रम छोड़कर दीक्षा धारण करता है और फिर भी सदोष आहार ग्रहण करता है उसका दीक्षा लेना व्यर्थ ही समझना चाहिए ॥७९॥ जिह्वा लंपटी जो पुरुष महा निंद्य पापरूप आहार ग्रहण करता है वह अनेक जीवोकी हिंसा करता है और इसीलिए संसारमें उसकी अपकीर्ति होती है ॥८०॥ सदोष आहार ग्रहण करनेवाले व्रतियोंका हृदय निर्दय रहता है, इसलिए उनको परलोकमें भी सुख नहीं मिल सकता है, ऐसे लोगोंको परलोकमें पाप और दुर्गतियोंसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके भारी-भारी दुःख भोगने पड़ते हैं ॥८१॥ निर्दोष गृहस्थ पद अच्छा परन्तु इन्द्रिय सेवन, स्त्री जन्य दोष वा राग, द्वेष आदिसे कलंकित हुआ मनुष्योंका मुनिपद अच्छा नहीं ॥८२॥ एक बार प्राणोंका नाश करनेवाला हलाहल विष खा लेना अच्छा परन्तु संसाररूपी समुद्रमें डुबानेवाला सदोष आहार ग्रहण करना अच्छा नहीं ॥८३॥ यही समझकर व्रती पुरुषोंको प्राण नाश होनेपर भी अभक्ष्यके समान सदोष आहारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥८४॥ जो त्यागी निर्दोष आहार ग्रहण करते है उन्हींका तप, व्रत, यम आदि सब सफल है, उन्हीके तप यमादिक मोक्षरूपी वृक्षके बीज हैं और पुण्यको अतिशय संचय करनेवाले हैं ॥८५॥ जिसने अपने समस्त इन्द्रियोंके सुखोंका त्याग कर दिया है और वैराग्यरूपी जालमें फँसकर जिसने अपनी जीभको वशमें कर लिया है उसीका जन्म इस संसारमे सफल माना जाता है ॥८६॥ संसारसे भयभीत होनेवाले और भावनाओंमें तत्पर रहनेवाले व्रती त्यागियोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिए प्रतिदिन धर्मध्यानपूर्वक रहना चाहिए ॥८७॥ श्रेष्ठ गुणोंको धारण करनेवाले त्यागियोंको दुःख देनेवाले कर्म नाश करनेके लिए सदा प्रयत्नपूर्वक ध्यान और अध्ययनमें ही अपना समय बिताना चाहिए ॥८८॥ विद्वान् पुरुषोंको यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर सदा

पराम्नं हि समादाय न कार्या विकथा क्वचित् । महापापाकरा निन्द्या स्वप्नान्तेऽपि विरागिभिः ॥९०
भक्षयित्वा पराहारं विकथां ये वदन्ति ते । अमुत्र पापभारेण बलीवर्दा भवन्ति वै ॥९१
चौरराजान्ननारीणां कथा कार्या न धीधनैः । वृथा पापप्रदा घोरा देशभाषादिका परा ॥९२
विकथाचारिणां याति जन्म एव निरर्थकम् । वृथा दीक्षा भवेन्नूनं प्रमादाधिष्ठितात्मनाम् ॥९३
मौनमेव प्रकर्तव्यं वाशु धर्मोपदेशनम् । सिद्धान्तस्य पठनं वा ध्यानं वा परमेष्ठिनाम् ॥९४
चिन्तनीयाः सदा सारा अनुप्रेक्षा व्रतान्वितैः । वैराग्यादि प्रसिद्धयर्थं मानसे कर्मनाशिकाः ॥९५
क्षमादिदशसद्भेदं ब्रह्मचर्यान्तमञ्जसा । चित्ते सम्भावयेन्नित्यं धर्मं धर्मी स्वमुक्तये ॥९६
भावनीया सदा दक्षैः षोडशात्मकभावनाः । दृष्टयादिकविशुद्धयाढ्यास्तीर्थनाथविभूतिदाः ॥९७
आज्ञोपायविपाकाख्यं संस्थानविचयात्मकम् । धर्मध्यानं सदा धेयं व्रतिभिः स्वर्गमुक्तिदम् ॥९८
सङ्कल्पवर्जितं कृत्वा मनः कार्यात्मभावना । अनन्तकर्मसन्तानघातका स्वस्य सद्बुधैः ॥९९
आवश्यकं प्रकर्तव्यं षड्विधं यत्नतोऽनिशम् । शमनादिप्रदं दक्षैः स्वकर्मक्षयहेतवे ॥१००
प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यं सर्वसौख्याकरं परम् । आवश्यकं सदा धीरैर्व्रताविमलनाशकम् ॥१०१
दन्तहीनो यथा हस्ती दंष्ट्राहीनो मृगाधिपः । दानहीनो गृही नाभात्यक्तावश्यकसंयमी ॥१०२

धर्मध्यान करते रहना चाहिए। विना धर्मध्यानके प्रमादमें एक घड़ी भी कभी नहीं खोनी चाहिए ॥८९॥ दूसरोंका दिया हुआ अन्न ग्रहण करके विरागी पुरुषोंको महापाप उत्पन्न करनेवाली और निंद्य विकथाएँ स्वप्नमें भी कभी नहीं करनी चाहिए ॥९०॥ जो त्यागी दूसरेके घर आहार ग्रहण कर विकथा कहते हैं वे उस पापके भारसे मरकर परलोकमें बैल होते हैं ॥९१॥ बुद्धिमानोंको चोरकथा, राजकथा, भोजनकथा और स्त्रीकथा कभी नहीं करनी चाहिए क्योंकि ये विकथाएँ व्यर्थ ही पाप उत्पन्न करनेवाली हैं इसी प्रकार देश भाषा आदिकी अन्य ऐसी ही कथाएँ भी विकथाएँ है वे भी त्यागियोंको नहीं करनी चाहिए ॥९२॥ प्रमादमें डूबे हुए तथा विकथा करने सुननेवाले त्यागियोंका जन्म ही निरर्थक जाता है और उनकी ली हुई दीक्षा निःसन्देह व्यर्थ गिनी जाती है ॥९३॥ त्यागियोंको या तो मौन धारण करना चाहिए वा श्रेष्ठ धर्मका उपदेश देना चाहिए या सिद्धान्त शास्त्रोंका पठन-पाठन करना चाहिए अथवा परमेष्ठियोंका ध्यान करना चाहिए ॥९४॥ अथवा व्रती त्यागियोंको अपने वैराग्यको सुदृढ़ बनानेके लिये अपने मनमें सदा कर्मोंको नाश करनेवाली सारभूत बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करना चाहिए ॥९५॥ धर्मात्मा त्यागियोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अपने मनमें उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मोका सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥९६॥ चतुर त्यागियोंको तीर्थंकरकी विभूति देनेवाली दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका चिंतवन सदा करते रहना चाहिए ॥९७॥ व्रती त्यागियोंको स्वर्गमोक्ष प्राप्त करनेके लिए आज्ञा-विषय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय ये चारों प्रकारके धर्मध्यान सदा धारण करते रहना चाहिए ॥९८॥ बुद्धिमान त्यागियोंको अपने मनके समस्त संकल्प विकल्प छोड़कर अनन्त कर्मोंके समूहको नाश करनेवाली, अपने आत्माके चिंतवन करनेकी भावना सदा करते रहना चाहिए ॥९९॥ चतुर त्यागियोंको अपने कर्म नाश करनेके लिये समता वन्दना आदि छहों प्रकारके आवश्यक प्रयत्नपूर्वक रात दिन पालन करते रहना चाहिए ॥१००॥ धीरवीर त्यागियोंको प्राण नाश होनेपर भी व्रतोंके दोषोंको नाश करनेवाले और सब प्रकारके सुखोंकी खानि ऐसे सर्वोत्तम आवश्यक कभी नहीं छोड़ने चाहिये ॥१०१॥ जिस प्रकार विना दाँतोंके हाथी शोभायमान नहीं

विधायावश्यकं पूर्वं सम्पूर्णं व्रतसंयुतैः । ततः सर्वं विधातव्यं सद्ध्यानाध्ययनादिकम् ॥१०३
यत्किञ्चिच्च समादेयं पुस्तकं नीरभाजनम् । वस्त्रादिकमथान्यद्वा धर्मोपकरणं वरम् ॥१०४
पूर्वं निरीक्ष्य तत्सर्वं ग्राह्यं त्याज्यं दयान्वितैः । सूक्ष्मोपकरणेनैव प्रतिलेख्य पुनः पुनः ॥१०५
एवं दक्षैः प्रकर्तव्यं वस्तूनां प्रतिलेखनम् । निक्षेपे वा सदाऽऽदाने जन्तुपीडाप्रहानये ॥१०६
दिने निद्रा न कर्तव्या प्रमादाशुभदायका । कृत्स्नदोषकरा तीताचारैरपि न संयतैः ॥१०७
प्रमार्ज्य यत्नतो दक्षैः कार्यो भूमौ स्वसंस्तरः । वपुस्तुल्यो विरागश्च स्त्रीजन्त्वादिविवर्जितः ॥१०८
कायोत्सर्गो विधातव्यो रजन्यां वा दिने बुधैः । कालत्रयेऽथवा नित्यं कर्मेन्धनहुताशनः ॥१०९
रात्रावावश्यकं कृत्वा सार्द्धयामे गते सति । निद्रां मौहूर्तिकीं कुर्यात्सद्व्रती श्रमशान्तये ॥११०
बहुनिद्रा न कर्तव्य ब्रह्मचर्यादिनाशिका । परलोकार्थिभिस्त्यक्तसुखैः सद्व्रतसिद्धये ॥१११
धनुःशय्या विधातव्या दण्डाख्या मृतका तथा । तीव्रनिद्राविनाशार्थं व्रतिभिः सौख्यहानये ॥११२
रजन्याः पश्चिमे यामे शयनादुत्थाय संयतैः । धर्मध्यानं विधातव्यं षडावश्यकगोचरम् ॥११३
किमत्र बहुनोक्तेन त्यक्तगेहैश्च क्षुल्लकैः । धर्मध्यानेन नेतव्यः कालः सर्वोऽपि शास्त्रतः ॥११४

होता और विना दानके गृहस्थ शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार विना आवश्यकोंके संयमी भी शोभायमान नहीं होता ॥१०२॥ पूर्ण व्रतोंको पालन करनेवाले त्यागियोंको सबसे पहिले आवश्यकोंका पालन करना चाहिये और फिर ध्यान अध्ययन आदि अन्य समस्त कार्य करने चाहिये ॥१०३॥ पुस्तक, जल, पात्र, वस्त्र अथवा और भी धर्मोपकरण जो कुछ दयालु व्रतियोंको लेना वा रखना हो वह सब मुलायम उपकरणसे बार-बार देख शोधकर तथा उस पदार्थ वा स्थानको अच्छीतरह देखकर उठाना वा रखना चाहिए ॥१०४–१०५॥ इस प्रकार चतुर त्यागियोंको जीवोंके दुःख दूर करनेके लिए किसी पदार्थको उठाने वा रखनेमें प्रत्येक पदार्थको देख व शोध लेना चाहिए ॥१०६॥ दिनमें कभी नींद नहीं लेनी चाहिए क्योंकि दिनमें नीद लेना प्रमाद बढ़ानेवाला, पाप उत्पन्न करनेवाला, और समस्त दोषोंको प्रगट करनेवाला है इसलिए पूर्ण व्रतोंको न पालनेवाले क्षुल्लकोंको भी दिनमें नहीं सोना चाहिए ॥१०७॥

चतुर त्यागियोंको यत्नपूर्वक भूमिपर संस्तर करना चाहिये वह संस्तर शरीरके समान हो बड़ा न हो, वीतरागरूप हो और स्त्री जन्तु आदिसे सर्वथा रहित हो ॥१०८॥ बुद्धिमानोंको दिनमें अथवा रातमें तीनों समय अथवा सदा कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्निके समान ऐसा कायोत्सर्ग अवश्य करना चाहिये ॥१०९॥ उत्तम व्रतियोंको पहिले तो अपने आवश्यक करने चाहियें और फिर रातमें डेढ पहर (साढ़े चार घण्टे) रात बीत जानेपर केवल परिश्रमको शान्त करनेके लिये दो घडी नींद लेनी चाहिये ॥११०॥ परलोकको सिद्ध करनेवाले और इन्द्रिय सम्बन्धी सुखोंका त्याग कर देनेवाले उत्तम व्रतियोंको अपने व्रत पालन करनेके लिये ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंको नाश करनेवाली अधिक नींद कभी नहीं लेनी चाहिये ॥१११॥ व्रतियोंको तीव्र निद्रा दूर करनेके लिये और सुखका त्याग कर देनेके लिये धनुषके आकारकी शय्या बनानी चाहिये वा दण्डाकार सोना चाहिये अथवा मृतकासनसे सोना चाहिये ॥११२॥ संयमियोंको रात्रिके पिछिले पहर शय्यासे उठ कर छहों आवश्यकोंके अन्तर्गत रहनेवाला धर्मध्यान अवश्य करना चाहिये ॥११३॥ बहुत कहनेसे क्या, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि घर गृहस्थीका त्याग करनेवाले क्षुल्लकोंको अपना सदाका समस्त समय धर्मध्यान पूर्वक ही व्यतीत करना चाहिये ॥११४॥ जो बुद्धिमान मन वचन

एकादशसम्प्रतिमां त्रिशुद्धचा पालयेत्सुधीः। यो जिनेन्द्रैः स सम्प्रोक्तः उत्तमः श्रावको भुवि ॥११५
ते धन्या त्रिजगत्पूज्याः गता ये प्रार्चतां जनात्। लोकेऽस्मिन् सद्व्रताचाराचरणे नैव सर्वथा ॥११६
अखिलगुणनिधानं सर्वदेवैः प्रपूज्यं अवगमत्रययुक्तं सारमष्टर्द्धिगेहम्।
निरुपमगुणखानि प्रोत्तमः श्रावकोऽत्र व्रतजनितवृषाद्वै संव्रजेत्स्वर्गराज्यम् ॥११७
अखिलगुणसमुद्रं कृत्स्नभोगैकधाम विविधगुणसुपूर्णं ज्ञानऋद्ध्यादिकाढ्यम्।
विगतसकलदुःखं पुण्यमूलं गृहस्थो निरुपमव्रतयोगादच्युतं याति नाकम् ॥११८
षट्खण्डभूसम्भवसौख्यगेहं रामादिसप्तद्वयरत्नयुक्तम्।
निध्याकरं सद्व्रतजातपुण्यात्संलभ्यते चक्रिपदं गृहस्थैः ॥११९
यद्देवेन्द्र-नरेन्द्रवन्दितमहो लोकत्रये पूजितं प्रार्थ्यं यन्मुनिनायकैः कृतमहाकष्टैस्तपोदुष्करात्।
अन्तातीतगुणाकरं सुविमलं सौख्यालयं मुक्तिदं तन्नृणां प्रभवेत्सुगेहिव्रततः सर्वज्ञसंवैभवम् ॥१२०
मुनिवरगणप्रार्थ्यो दुष्करैः सत्तपोभिरजर इह क्रमात् सं जन्मजातङ्कदूरम्।
निरुपमगुणयुक्तो मोक्ष एवाप्यते वै अखिलसुखसमुद्रः सद्बुधैर्गेहिधर्मात् ॥१२१

कायकी शुद्धता पूर्वक इन ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करते हैं वे इस संसारमें श्री तीर्थंकर परमदेव के द्वारा उत्तम श्रावक कहे जाते हैं ॥११५॥ जो जीव इस संसारमें व्रत और चारित्रके आचरण करनेसे ही लोगोंके द्वारा सर्वथा पूज्य हुए है वे ही संसारमें धन्य हैं और वे ही संसारमें पूज्य हैं ॥११६॥ जो उत्तम श्रावक (क्षुल्लक) स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये व्रत पालन करता है उस धर्म के प्रभावसे वह स्वर्गकी ऐसी सम्पदा प्राप्त करता है जो समस्त गुणोंकी निधि है, सब देवोंके द्वारा पूज्य है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोसे सुशोभित है, सबमें सारभूत है, आठों ऋद्धियोंका घर है और निरुपम गुणोंकी खानि है ॥११७॥ उत्तम श्रावक अपने निरुपम (उपमारहित) व्रतोंके पालन करनेसे सोलहवें अच्युत स्वर्गको प्राप्त करता है। वह अच्युत स्वर्ग सब गुणोंका सागर है, समस्त भोगोंका एक मात्र स्थान है, अनेक गुणोंसे भरपूर है, ज्ञान और ऋद्धियोंसे सुशोभित है, सब प्रकारके दुःखोंसे रहित है और पुण्यकी जड़ है ॥११८॥ उत्तम श्रावकों को उनके द्वारा पालन किये गये उत्तम व्रतोंसे उत्पन्न हुए पुण्यसे चक्रवर्तियोंका उत्तम पद प्राप्त होता है। वह चक्रवर्तियोंका पद छहों खण्ड पृथिवीसे उत्पन्न हुए सुखोंका घर है और नौनिधि तथा चौदह रत्नोंसे सुशोभित है ॥११९॥ उत्तम श्रावकोंको व्रतोंके प्रभावसे श्री तीर्थंकरकी विभूति प्राप्त होती है। यह तीर्थंकरकी विभूति इन्द्र चक्रवर्तियोंके द्वारा पूज्य है, तीनों लोकोंमे पूज्य है, घोर तपश्चरण करनेवाले महा मुनिराज भी घोर तपश्चरणके द्वारा इसको प्रार्थना करते है, यह अनन्त गुणोंकी खानि है, अत्यन्त निर्मल है, परम सुखका घर है, और मुक्तिको देनेवाली है। ऐसी यह तीर्थंकरकी विभूति उत्तम श्रावकोंको प्राप्त होती है ॥१२०॥ बुद्धिमानोंको इस उत्तम गृहस्थधर्मके प्रभावसे अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होती है। इस मोक्षको मुनिराज भी श्रेष्ठ तपश्चरणके द्वारा प्रार्थना करते हैं, यह जन्म जरा मरणसे रहित है, अनुपम गुणोंसे सुशोभित है और समस्त सुखोंका सागर है ॥१२१॥ उत्तम मनुष्य गृहस्थधर्मसे उत्पन्न हुए पुण्यके प्रभावसे तीनों लोकोंमें जो सुख सबसे उत्तम है उनको पाकर अनुक्रमसे समस्त दुःखोंसे रहित और सुखका समुद्र ऐसे मोक्षरूप परम स्थानको प्राप्त होते हैं ॥१२ ॥

श्री जिनेन्द्रदेवने यह उत्तम धर्म दो प्रकारका बतलाया है—एक मुनियोंका और दूसरा

यत्सुखं त्रिभुवनाखिले वरं तद्गृहाश्रितसुपुण्यपाकतः ।
प्राप्य याति सुपदं नरोऽसमस्त्यक्तदुःखसुखसागरं क्रमात् ॥१२२
श्रीजिनेन कथितो वरधर्मः सद्गृहेशमुनिगोचरो द्विधा ।
दुष्करे मुनिवृषे किलाक्षमास्ते धरन्तु गृहिणां व्रतमेतत् ॥१२३
संसाराम्बुधितारकं सुखकरं स्वर्गगृहोद्घाटनं श्वभ्रद्वारकपाटदं गुणकरं सारं क्रमान्मुक्तिदम् ।
उत्कृष्टव्रतपालनादिविषयं सागारधर्मं बुधाः सेवध्वं परित्यक्तदोषमखिलं स्वर्मोक्षसौख्याप्तये ॥१२४
ये पालयन्ति निपुणा हि गृहस्थधर्मं ते प्राप्य सौख्यमखिलं नृसुरादिजातम् ।
लब्ध्वापि तीर्थकरभूतिमपीह पूज्यं चामुत्र केवलिपदं च प्रयान्ति मुक्तिम् ॥१२५
प्रोपासकाचारमिदं पवित्रं पठन्ति ये शास्त्रमपीह भक्त्या ।
ते प्राप्य सौख्यं नृसुरादिजातं प्रचारतस्ते नु प्रयान्ति मुक्तिम् ॥१२६
ये तत्पठन्ति सुधियः परिणामशुद्धया ते कीर्तिमेव विमलां समवाप्य लोके ।
ज्ञात्वार्थतोऽतिगुणदं च शुभाशुभं वै त्यक्तेन सो घनतरं प्रभजन्ति पुण्यम् ॥१२७
ये पाठयन्ति गुणिनो गृहिणां स्वपुत्रान् व्याख्यां वदन्ति निजश्रावकजैनमध्ये ।
ग्रन्थस्य तेऽतिश्रुतदानत एव लब्ध्वा सत्केवलं सुविमलं च भजन्ति मोक्षम् ॥१२८
शृण्वन्ति येऽतिशुभदं परमं हि ग्रन्थमेकाग्रचित्तसहिता परमातिभक्त्या ।
ते ज्ञानिनोऽतिविमलाचरणात्प्रयान्ति मुक्तिं समाप्य भुवनत्रयजं सुखं च ॥१२९
संवेगधर्मजननं विमलं गुणाढ्यं प्राचारकृत्स्नकथकं गृहमेधिनां च ।
सद्दर्शनावगमनिर्मलनीरपूर्णं ग्रन्थामृतं सुकृतिनो हि पिबध्वमेव ॥१३०

गृहस्थोंका । मुनियोंका धर्म अत्यन्त कठिन है । जो इसे पालन नहीं कर सकते उन्हें गृहस्थोंके व्रत अवश्य पालन करने चाहिए ॥१२३॥ यह गृहस्थ धर्म संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाला है, सुख देनेवाला है, स्वर्गरूपी घरको उघाड़नेवाला है, नरकके द्वारके किवाड़ोंको बन्द कर देनेवाला है, अनेक गुण प्रगट करनेवाला है, सबमें सारभूत है, अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, इसमें उत्तम मध्यम जघन्य सब प्रकारके व्रत पालन किये जाते हैं, और यह समस्त दोषोंसे रहित है । हे विद्वानो ! तुम लोग स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिए ऐसे इस गृहस्थ धर्मका सेवन करो ॥१२४॥ जो चतुर पुरुष इस गृहस्थ धर्मका पालन करते हैं वे मनुष्य और देवोंके समस्त सुख पाकर तथा सबके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकर परमपदको पाकर और केवलज्ञानकी परम विभूतिको पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१२५॥ जो पुरुष भक्तिपूर्वक इस श्रावकाचार ग्रन्थका पठन-पाठन करते हैं वे उन आचरणोंका पालन कर देव मनुष्योंके सब सुख पाते हैं और अन्तमें मोक्षपदको प्राप्त होते हैं ॥१२६॥ जो बुद्धिमान् अपने परिणामोंको शुद्धकर इस श्रावकाचारका पठन-पाठन करते हैं वे इस संसारमें अपनी निर्मल कीर्ति फैलाते हैं तथा अनेक गुण देनेवाले शुभ अशुभ पदार्थोंको जानकर और समस्त पापोंका त्याग कर अतिशय पुण्यको प्राप्त होते हैं ॥१२७॥ जो पुरुष इस ग्रन्थको गुणी श्रावकोंके लिए अथवा अपने पुत्रोंके लिए पढ़ाते हैं अथवा जैनी श्रावकोंके मध्यमें बैठकर इसका व्याख्यान करते हैं, सुनाते हैं वे ज्ञान दानके प्रभावसे निर्मल केवलज्ञानको पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१२८॥ जो गृहस्थ एकाग्रचित्त कर बड़ी भक्तिसे पुण्य बढ़ानेवाले इस ग्रन्थको सुनते हैं वे उस ज्ञानसे और निर्मल चारित्रको धारण करनेसे तीनों लोकोंके सुख पाकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१२९॥ हे पुण्यवान मनुष्यो ! यह ग्रन्थरूपी अमृत संवेग और धर्मको उत्पन्न करनेवाला

ग्रन्थं गृहस्थचरणान्वितमेव सारं संशोधयन्तु मुनयो बहुशास्त्रवन्तः ।
रागादिदोषरहिता हि निरूपयन्तस्तत्तुल्यशास्त्रसहितेन दिगम्बरेण ॥१३१
अर्थो जिनेश्वरमुखादिह जातमेतत् सङ्ग्रन्थितं गणधरैर्विविधाक्षरैश्च ।
लोके बभूव प्रकटं सुमुनीन्द्रवर्गात् सर्वादिकीर्तिविशदाच्च ह्युपासकाख्यम् ॥१३२
पूज्या ये भुवनत्रये जिनवरा इन्द्रादिभिः प्रत्यहं संसाराम्बुधितारकाः गणधरैर्वन्द्या मुनीन्द्रादिभिः ।
अन्तातीतसुखादिनिर्मलगुणैर्युक्ता व्यतीतोपमास्तेषां तीर्थकृतां नमामि चरणौ सद्बुद्धिसंसिद्धये १३३
अमरगुणसुसेव्यं धर्मसद्रत्नभाण्डं निरुपमगुणयुक्तं पूर्वपूर्वे विदेहे ।
विजितकरणमारं तं हि सीमन्धराख्यं सकलगुणसमाप्त्यै संस्तुवे तीर्थनाथम् ॥१३४
ये तीर्थेश्वरभूतिसारकलिता देवेन्द्रसंसेविता-
तीतानागतवर्तमानसकले काले जिनेन्द्रा भुवि ।
अन्तातीतगुणाकरा गुणप्रदास्त्यक्तोपमा मुक्तये
ह्यन्तातीतजिनेशिनां सुचरणौ तेषां प्रवन्दे शुभौ ॥१३५
ये सिद्धा नमिता मुनीश्वरगणैर्लोकाग्रगेहे स्थिताः
सम्यक्त्वादिगुणाष्टका निरुपमा देहादिभारोज्झिताः ।
सारानन्तसुखाकरा हि विमला अन्तातिगा धर्मदा-
स्तेषां तद्‌गुणप्राप्तये प्रतिदिनं ध्यानं करोम्येव वै ॥१३६

है, गृहस्थोंके समस्त श्रावकाचारको कहनेवाला है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल जलसे भरा हुआ है। हे पुण्यवानो, ऐसे इस ग्रन्थरूपी अमृतका तुम लोग पान करो, अर्थात् इसका पठन-पाठन मनन श्रवण आदि करो ॥१३०॥ जो राग द्वेष रहित और अनेक शास्त्रोंके जानकार मुनि इसीके समान किसी दिगम्बर आचार्यके बताये हुए शास्त्रोंसे श्रावकाचारको कहनेवाले इस ग्रन्थका शोधन करते हैं वे भी अनन्त पुण्यके भागी होते है ॥१३१॥ यह उपासकाचार ग्रन्थ अर्थ-रूपसे तो भगवान् अरहन्त देवके मुखसे प्रगट हुआ है, गणधर देवोके द्वारा अनेक प्रकारके अक्षरोंसे गूंथा गया है और इस संसारमें मुनिराज सकलकीर्तिके द्वारा विस्तारताको प्राप्त हुआ है ॥१३२॥ जो तीर्थंकर परमदेव तीनों लोकोंमें इन्द्रादिकोंके द्वारा प्रतिदिन पूज्य हैं, जो संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाले हैं, जो गणधर और मुनिराजोंके द्वारा वन्दनीय है, जो अनन्त सुख आदि निर्मल गुणोंसे सुशोभित हैं और संसारमें जिनकी कोई उपमा नहीं है ऐसे श्री तीर्थंकर परमदेवके चरण-कमलोंको मैं निर्मल बुद्धि प्राप्त करनेके लिए नमस्कार करता हूँ ॥१३३॥ जो समस्त इन्द्रादि देवोंके द्वारा पूज्य हैं, अनुपम गुणोंसे सुशोभित हैं और इन्द्रिय तथा कामदेवको जीतनेवाले हैं ऐसे पूर्व विदेहमें विराजमान श्री सीमन्धर तीर्थंकर परमदेवकी मैं उनके समस्त गुण प्राप्त करनेके लिए स्तुति करता हूँ ॥१३४॥ जो तीर्थंकर परमदेवकी सारभूत विभूतिको प्राप्त हुए हैं, इन्द्रादिक देव भी जिनकी सेवा करते हैं, जो अनन्त गुणोंकी खानि हैं, अनन्त गुण देनेवाले हैं, और जिनकी उपमा संसारभरमें कोई नहीं है ऐसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले अनन्तानन्त तीर्थंकरों-के पुण्य बढ़ानेवाले चरणकमलोंको मैं केवल मोक्ष प्राप्त करनेके लिए नमस्कार करता हूँ ॥१३५॥ जो सिद्ध भगवान् लोकशिखरपर विराजमान होते हैं, सम्यक्त्व आदि आठों गुणोंसे सुशोभित हैं, संसारमें जिनकी कोई उपमा नहीं, जिन्हें अनेक मुनिराजोंके समूह भी नमस्कार करते हैं, जो

पञ्चाचारं ये चरन्ति स्वयं वै सच्छिष्याणां चारयन्त्येव शुद्धम् ।
मुक्तेरङ्गं नित्यमाचारशुद्धैः वन्दे सर्वान् तान् सदा सूरिसंघान् ॥१३७

ये पठन्ति श्रुतमङ्गपूर्वकं पाठयन्ति च विनेयमुनीनाम् ।
ज्ञानदं शुभश्रुताय पाठकाः, संस्तुवे पदयुगं खलु तेषाम् ॥१३८

ये सद्धर्ममहाब्धिमध्यविगता रत्नत्रयालङ्कृता ध्यानध्वस्तसमस्तकिल्बिषविषाः स्वर्मोक्षसंसाधकाः ।
अन्तातीतगुणास्तपोधनधना रत्नत्रये संस्थितास्तेषां तद्गुणप्राप्तये क्रमयुगं वन्दे यतीनां सदा ॥१३९

सौख्याकरं सकलभव्यहितं बुधार्च्यं सम्पूजितं सुरगणैर्भुवनैकज्येष्ठम् ।
संसारत्रस्तमनसां शरणं परं यत् तच्छासनं जयतु श्रीजिनपुङ्गवानाम् ॥१४०

गणधरमुनिसेव्यं विश्वतत्त्वप्रदीपं विगतसकलदोषं श्रीजिनेन्द्रैः प्रणीतम् ।
खचरसुरसमर्च्यं ज्ञानसिद्ध्यै प्रवन्दे निखिलसुखनिधानं ज्ञानमेवात्र सारम् ॥१४१

उपासकाख्यो विबुधैः प्रपूज्यो ग्रन्थो महाधर्मकरो गुणाढ्यः ।
समस्तकीर्त्यादिमुनीश्वरोक्तः सुपुण्यहेतुर्जयतात् धरित्र्याम् ॥१४२

शरीरके भारसे रहित हैं, सारभूत अनन्त सुखोंकी खानि हैं, अत्यन्त निर्मल हैं, जो मध्य अन्त रहित हैं और जो धर्मको प्रदान करनेवाले है, ऐसे श्री सिद्ध भगवान्‌के समस्त गुण प्राप्त करनेके लिए मैं उनका प्रतिदिन ध्यान करता हूँ ॥१३६॥ जो आचार्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र, तप और वीर्य इन पाँचों आचारोंको स्वयं पालन करते हैं और शिष्योंसे पालन कराते हैं तथा जो शुद्ध आचरणोंके द्वारा मोक्षके कारण बने रहते हैं ऐसे समस्त आचार्योंको मै सदा नमस्कार करता हूँ ॥१३७॥ जो उपाध्याय ज्ञान देनेवाले अंगपूर्वरूप श्रुतज्ञानको स्वयं पढ़ते हैं और अपने शिष्य मुनियोंको पढ़ाते हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीके चरणकमलोंकी मैं शुभ श्रुतज्ञान प्राप्त करनेके लिए स्तुति करता हूँ ॥१३८॥ जो मुनिराज सद्धर्मरूपी महासागरके मध्यमें विराजमान हैं, जो रत्नत्रयसे सुशोभित हैं, जिन्होंने अपने ध्यानसे समस्त पापरूपी विष धो डाला है, जो स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करनेवाले हैं, अनन्त गुणोंको धारण करनेवाले हैं, जो तपश्चरणरूपी धनसे ही धनी हैं, और जो रत्नत्रयमें सदा लीन रहते हैं ऐसे मुनिराजों के समस्त गुण प्राप्त करनेके लिए मैं उनके चरणकमलों को सदा नमस्कार करता हूँ ॥१३९॥ यह श्री तीर्थंकर परमदेवका शासन सब सुखों-की खानि है, समस्त भव्यों का हित करनेवाला है, इन्द्रादि समस्त देव भी इसकी पूजा करते हैं, यह तीनों लोकों में सर्वोत्तम है, और जिनका मन संसारसे भयभीत है उनके लिए परम शरण है, ऐसा यह श्री तीर्थंकर परमदेवका शासन (जैनमत) सदा जयशील हो ॥१४०॥ इस संसारमें सम्यग्ज्ञान ही सार है, गणधर और मुनिराज भी इसकी सेवा करते हैं, यह समस्त तत्त्वोंको प्रगट करनेके लिए दीपक समान है, समस्त दोषोंसे रहित है, श्री जिनेन्द्रदेवने स्वयं इसका निरूपण किया है, देव विद्याधर सब इसकी पूजा करते हैं और यह समस्त सुखोंको निधि है ऐसे सम्यग्ज्ञान-को प्राप्त करनेके लिए मै उसे नमस्कार करता हूँ ॥१४१॥ यह उपासकाचार (प्रश्नोत्तर श्रावका-चार) ग्रन्थ देवोंके द्वारा भी पूज्य है, उत्तम धर्मका निरूपण करनेवाला है, अनेक गुणोंसे भरपूर है, उत्तम पुण्यका कारण है और श्री सकलकीर्ति मुनिराजका बनाया हुआ है ऐसा यह प्रश्नोत्तर श्रावकाचार संसारभरमें जयशील हो ॥१४२॥ यह ग्रन्थ न तो कीर्ति बढ़ानेके लिए बनाया गया है,

न कीर्तिपूजादिसुलाभलोभात्कृतः कवित्वाद्यभिमानतो न ।
ग्रन्थो यमत्रैव हिताय स्वस्य परोपकाराय मया विशुद्धयै ॥१४३
अक्षरस्वरसुसन्धिपदादि-मात्रया रहितमुक्तमपीह ।
ज्ञानहीनं त एव प्रमादतस्तत्क्षमध्वमृषिनायका हि मे ॥१४४
शून्याष्टाष्टद्वयाङ्काढ्यः संख्यया मुनिनोदितः । नन्दते चावनौ ग्रन्थो यावत्कालान्तमेव हि ॥१४५

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अनुमतित्यागउद्दिष्टत्याग-
प्रतिमानिरूपको नाम चतुर्विंशतितमः परिच्छेदः ॥२४॥

●

न किसी लाभके लोभसे बनाया है और न अपने कवि होनेके अभिमानसे बनाया है, किन्तु इस संसारमें अपना कल्याण करनेके लिए तथा दूसरोंका कल्याण करनेके लिए और अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए (परलोक सुधारनेके लिए) ही मैंने यह ग्रन्थ बनाया है ॥१४३॥ अपने अज्ञानके कारण अथवा प्रमादके कारण इसमें अक्षर स्वर सन्धि पद मात्रा आदि जो कुछ कम हो वह सब ज्ञानी मुनिराजोंको क्षमा कर देना चाहिये ॥१४४॥ इस ग्रन्थकी संख्या मुनिराजोंने दो हजार आठ सौ अस्सी (२८८० श्लोक) बतलाई है। ऐसा यह ग्रन्थ इस पृथ्वी पर जब तक समय रहे तब तक वृद्धिको प्राप्त होता रहे ॥१४५॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग नामकी उत्तम प्रतिमाओंको निरूपण करनेवाला यह चौवीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२४॥

●

गुणभूषण-श्रावकाचार

पहला उद्देश

प्रणम्य त्रिजगत्कीर्त्तिं जिनेन्द्रं गुणभूषणम् । संक्षेपेणैव संवक्ष्ये धर्मं सागारगोचरम् ॥१
संसारेऽत्र मनुष्यत्वं तत्रापि सुकुलीनता । यस्मिन् विवेकस्तत्रापि सद्धर्मत्वं सुदुर्लभम् ॥२
न हितं विहितं किं तया सद्धर्ममना यदि । नाहितं विहितं किं तयासद्धर्ममना यदि ॥३
नर-नाग-सुरेशत्वमथान्यच्च समीहितम् । धर्मं विना कथं तत्स्याद्यथा वृष्टिर्विना घनम् ॥४
स्वर्ग-मोक्षफलो धर्मः स च रत्नत्रयात्मकः । सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयं रत्नत्रयं मतम् ॥५
स्याद्वादाप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानं यन्मलोज्झितम् । गुणान्वितं च सम्यक्त्वं तद्वि-त्रि-दशभेदभाक् ॥६
आप्तः स्याद्दोषनिर्मुक्तः सर्वज्ञः शास्त्रदेशकः । क्षुधा तृषा जराऽऽतङ्को रागो मोहश्च विस्मयः ॥७
रुजा मृत्युश्च चिन्ता च स्वेदो निद्रा रतिर्जनिः । विषादो द्विन्मदः खेदो दोषाश्चाष्टादश स्मृताः ॥८
सर्वज्ञत्वं विना नैषोऽतीन्द्रियार्थोपदेशकः । विना सच्छास्त्रदेशित्वाच्चाप्तत्वमपि सम्भवेत् ॥९
आप्तोदितं प्रमाभूतमागमः स निगद्यते । द्वेषात्सरागवक्तृत्वाभावात्तस्य प्रमाणता ॥१०

तीन जगत्में जिनकी कीर्ति व्याप्त है और जो सम्यक्त्व-ज्ञानादि अनन्त गुणोंवाले आभूषणों के धारक हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवको प्रणाम करके मैं गुणभूषण संक्षेपसे ही श्रावक-सम्बन्धी धर्मको कहूँगा ॥१॥ इस संसारमें सर्वप्रथम तो मनुष्य भव पाना ही अतिदुर्लभ है, उसमें भी उत्तम कुलमें जन्म पाना अतिकठिन है। उस कुलीनताके पानेपर भी हित-अहितका विवेक पाना और भी दुर्लभ है। विवेक पानेपर भी उत्तम धर्मका पाना और भी दुर्लभ है ॥२॥ यदि उत्तम धर्म पाकर भी जिस मनुष्यने अपना हित नहीं किया, तो उससे क्या लाभ है? और यदि असद्-धर्म-बुद्धि होकर अहित नहीं किया, तो उससे क्या है ॥३॥ यदि तुम नरेन्द्रपना, सुरेन्द्रपना अथवा और किसी महान् पद पानेकी इच्छा रखते हो, तो धर्मके विना वह कैसे प्राप्त हो सकता है? जैसे कि मेघके विना वर्षा प्राप्त नहीं हो सकती ॥४॥ धर्म ही स्वर्ग और मोक्षरूप फलको देता है। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंको रत्नत्रय माना गया है ॥५॥ सम्यग्दर्शनका स्वरूप और भेद—सत्यार्थदेव आगम और तत्त्वोंका जो पच्चीस दोषों से रहित और आठ गुणोंसे सहित श्रद्धान है, वह सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन है। उसके दो, तीन और दश भेद कहे गये हैं ॥६॥ आप्तका स्वरूप—जो अठारह दोषोंसे रहित है, सर्वज्ञ है और शास्त्रका उपदेशक है, वह आप्त कहलाता है। भूख, प्यास, बुढ़ापा, आतंक, राग, मोह, विस्मय, रोग, मृत्यु, चिन्ता, स्वेद (पसीना), निद्रा, रति, जन्म, विषाद, द्वेष, मद और खेद ये अठारह दोष माने गये हैं। इनसे रहित पुरुष ही सर्वज्ञ हो सकता है ॥७–८॥ सर्वज्ञताके विना कोई पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थोंका उपदेशक नहीं हो सकता है और सत्य शास्त्रके उपदेशके विना आप्तपना भी सम्भव नहीं है ॥९॥ आगमका स्वरूप—जो आप्तके द्वारा कहा गया हो, वह आगम प्रमाणभूत कहा

जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरौ निर्जरा तथा। मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वानि स्युर्जिनागमे ॥११
चेतनालक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता तनुप्रमः। अनादिनिधनोऽमूर्तः स च सिद्धः प्रमाणतः ॥१२
मूर्तामूर्तभिदा द्वेधा जीवो मूर्तोऽथ पुद्गलः। स्कन्धदेशप्रदेशाविभागिभेदाच्चतुर्विधः ॥१३
धर्माधर्मनभःकालास्त्वमूर्ता शाश्वताक्रियाः। यानस्थानावकाशार्थवर्तनागुणलक्षणाः ॥१४
मुख्यो गौणश्च कालोऽत्र स्यान्मुख्योऽणुस्वभावकः। मुख्यहेतुरतीतादिरूपो गौणः स उच्यते ॥१५
मिथ्यात्वादिचतुष्केन जिनपूजादिना च यत्। कर्माशुभं शुभं जीवमासदेत्स्यात्स आस्रवः ॥१६
स्यादन्योन्यप्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः। स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावादिस्वभावकः ॥१७
सम्यक्त्व-व्रत-कोपादिनिग्रहाद् योगरोधतः। कर्मास्रवनिरोधो यः स्यात्संवरः स उच्यते ॥१८
सविपाकाविपाकाथ निर्जरा स्याद् द्विधाऽऽदिमा। संसारे सर्वजीवानां द्वितीया सुतपस्विनाम् ॥१९
निर्जरा-संवराभ्यां यो विश्वकर्मक्षयो भवेत्। स मोक्ष इह विज्ञेयो भव्यैर्ज्ञानसुखात्मकः ॥२०
प्रमाणनयनिक्षेपैरर्थव्यञ्जनपर्ययैः। परिणामीनि तत्त्वानि श्रद्धेयान्यवबुध्य च ॥२१
अष्टौ मदास्त्रयो मूढास्तथानायतनादि षट्। अष्टौ शङ्कादयश्चैते दोषाः सम्यक्त्वदूषकाः ॥२२

जाता है, क्योंकि द्वेषसे और सरागभावसे वक्तापनेका अभाव होनेके कारण उस वीतरागी वक्ताके वचनरूप आगमके प्रमाणता मानी जाती है ॥१०॥ तत्त्वोंका वर्णन—जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व ही जिनागममें कहे गये हैं ॥११॥ इनमेंसे जीवका लक्षण चेतना है, वह अपने शुभ-अशुभ कर्मोंका कर्त्ता और भोक्ता है, शरीर-प्रमाण है, अनादि निधन है, अमूर्त है और सिद्धस्वरूप है ॥१२॥ वह जीव मूर्त और अमूर्तके भेदसे दो प्रकारका है। (कर्मों से बँधा होनेके कारण संसारी जीव मूर्त कहा जाता है और सिद्ध स्वरूपकी अपेक्षा वह अमूर्त है।) पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है और वह स्कन्ध, देश, प्रदेश और अविभागी परमाणुकी अपेक्षा चार प्रकारका है ॥१३॥ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल ये चारों द्रव्य अमूर्त हैं, नित्य है और निष्क्रिय हैं। गमनमें सहकारी होना धर्मद्रव्यका लक्षण है, अवस्थानमें सहकारी होना अधर्मद्रव्य का लक्षण है, अवकाश देना आकाशका लक्षण है और वर्तनागुण कालका लक्षण है ॥१४॥ काल के दो भेद हैं—मुख्यकाल और गौणकाल। मुख्य या निश्चयकाल अणुस्वभावी है और गौण या व्यवहारकाल भूत, वर्तमानादिरूप है तथा मुख्यकालके जाननेका हेतु है ॥१५॥ आस्रवतत्त्वका स्वरूप—मिथ्यात्व, विरति, कषाय और योग इन चारके द्वारा जो अशुभ कर्म, तथा जिनपूजा आदिके द्वारा जो शुभकर्म जीवके भीतर आता है, वह आस्रव कहलाता है ॥१६॥ बन्धतत्त्वका स्वरूप –जीव और आनेवाले कर्मोंके प्रदेशोंका परस्परमें जो प्रवेश है, वह बन्ध कहलाता है। वह चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और आदि पदसे प्रदेश बन्ध ॥१७॥ संवरतत्त्वका स्वरूप—सम्यक्त्व, व्रत, क्रोधादि कषायोंका निग्रह और योग-निरोधसे जो कर्मोंका आस्रव-निरोध होता है, वह संवर कहा जाता है ॥१८॥ निर्जरातत्त्वका वर्णन—संचित कर्मोंके झड़नेको निर्जरा कहते है। वह दो प्रकारकी होती है—सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा। प्रथम सविपाकनिर्जरा संसारमें सब जीवोंके होती है और दूसरी अविपाकनिर्जरा परम तपस्वियोंके होती है ॥१९॥ मोक्ष तत्त्वका स्वरूप—निर्जरा और संवरके द्वारा जो समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है, वह मोक्ष है। वह मोक्ष भव्य पुरुषोंको अनन्त ज्ञान और सुखरूप जानना चाहिये ॥२०॥

ये तत्त्व अपनी अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्यायोंसे सदा परिणमित होते रहते हैं, उन्हें प्रमाण, नय और निक्षेपोंसे जानकर श्रद्धान करना चाहिए ॥२१॥ सम्यक्त्वके दोषोंका वर्णन—

कुलजातितपोज्ञानार्थो वीर्यैश्वर्यवपुर्मदाः । अष्टौ ते दूषका दृष्टेस्तस्मात्स्याज्याः प्रयत्नतः ॥२३
धर्मबुद्धया गिरेरग्नौ भृङ्गो पातश्च भेदनम् । कुन्ताद्यैर्निजदेहस्य मज्जनं सागरादिषु ॥२४
देहलीगेहवाज्यर्चा संक्रान्तिग्रहणादिषु । दानमित्यादि लोकानां जनमूढमनेकधा ॥२५
वरमन्त्रौषधाप्त्यर्थं लुब्धपाखण्डिसेवनम् । देवपाखण्डिमूढा वेत्येते स्युर्दृष्टिदूषकाः ॥२६
कुदेवागमचारित्रे तदाधारेऽप्युपासना । षडनायतनानि स्युर्दृग्विदूषीण्यतस्त्यजेत् ॥२७
शङ्का काङ्क्षा जुगुप्सा च मूढतानुपगूहनम् । अस्थिरीकरणं चैवावात्सल्यं चाप्रभावना ॥२८
अष्टौ दोषा भवन्त्येते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् । विपरीता गुणास्त्वेते दृग्विशुद्धिविधायिनः ॥२९
अर्हन् देवो भवेन्नो वा तत्त्वमेतत्किमन्यथा । व्रतमेतत्किमन्यद्वेत्येषा शङ्का प्रकाशिता ॥३०
निर्दोषोऽर्हन्नेव देवस्तत्त्वं तत्प्रतिपादितम् । व्रतं तदुक्तमेवेति निःशङ्कोऽञ्जनवद्भवेत् ॥३१
सम्यक्त्वस्य व्रतस्यापि माहात्म्यं यदि विद्यते । देवो यक्षोऽमरः स्वामी मे स्यादाकाङ्क्षणां त्यजेत् ॥
एकैवेयं यतो दृष्टिर्निष्काङ्क्षेष्टफलप्रदा । भजेन्निःकाङ्क्षितां तस्माद्यथानन्तमती श्रुता ॥३३
दृष्ट्वातिम्लानबीभत्सं रोगग्रस्तं वपुः सताम् । या तन्वादिविनिन्दा स्यात्सा जुगुप्सेति कथ्यते ॥३४
जरारोगादिविक्लिष्टानां सतां भक्त्या स्वशक्तितः । वैयावृत्यं निर्जुगुप्सा तामौदायनवद्धरेत् ॥३५

आठ मद, तीन मूढता,छह अनायतन, और शंकादिक आठ दोष, ये पच्चीस दोष सम्यग्दर्शनको दूषित करते हैं ॥२२॥ कुलमद, जातिमद, तपमद, ज्ञानमद, धनमद, वीर्यमद, ऐश्वर्यमद और शरीरमद; ये आठों ही मद सम्यक्त्वके दूषक हैं, इसलिए इन्हें प्रयत्नसे छोड़ना चाहिए ॥२३॥ धर्मबुद्धिसे पर्वतसे गिरना, अग्निमें गिरना, भृगुपात करना, भाले आदिसे अपने शरीरको भेदना, समुद्र आदिमें स्नान करना, देहली घर और घोड़ेकी पूजा करना, संक्रान्ति और सूर्य-ग्रहणादिके समय दान देना, इत्यादि अनेक प्रकारकी लोकमूढ़ता या जनमूढ़ता है ॥२४–२५॥ वर पानेकी, मंत्र-सिद्धिकी और औषधि बनानेकी इच्छासे रागी देवी देवोंको पूजना देवमूढ़ता हैं, तथा पाखंडी गुरुओंकी सेवा करना पाखंडिमूढ़ता है। ये उपर्युक्त तीनों ही मूढ़ताएँ सम्यक्त्वकी दूषक हैं ॥२६॥ कुदेव, कुशास्त्र और कुचारित्रकी तथा इनके धारकोंकी उपासना करना सो छह अनायतन (अधर्मके स्थान) हैं। ये सभी सम्यग्दर्शनको दूषित करती हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिए ॥२७॥ शंका, कांक्षा, जुगुप्सा, मूढता, अनुपगूहन, अस्थिरीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ दोष सम्यग्दर्शनकी अशुद्धिके कारण हैं और इनके विपरीत निःशंकिता, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ गुण सम्यग्दर्शन-की शुद्धि करनेवाले हैं ॥२८–२९॥ अरहन्त सच्चे देव हैं, अथवा नहीं ? क्या यह तत्त्व यथार्थ हैं, अथवा नहीं ? यही व्रत है अथवा अन्य व्रत है, इस प्रकारकी अप्रतीतिको शंकादोष कहा गया है ॥३०॥ निर्दोष अर्हन् ही सच्चे देव हैं, उनका प्रतिपादित तत्त्व ही सत्य है और उनका कहा व्रत ही सच्चा व्रत है; इस प्रकारके दृढ़ श्रद्धावाला पुरुष अंजनचोरके समान निःशंक गुणका धारक होता है ॥३१॥ यदि सम्यक्त्वका और व्रतका कुछ भी माहात्म्य है, तो मैं देव, यक्ष हो जाऊँ, अथवा मेरा स्वामी देव हो जाय, इस प्रकारकी आकांक्षाको छोड़े ॥३२॥ यही एक निःकांक्षित दृष्टि इष्ट फलकी देनेवाली है। इसलिए इस निःकांक्षिताको धारण करे। जैसी कि अनन्तमती निःकांक्षित गुणको धारण करनेवाली सुनी जाती है ॥३३॥ सन्तजनोंके अतिमलिन, कुरूप और रोगाक्रान्त शरीरको देखकर जो उनके शरीरादिकी निन्दा की जाती है; वह जुगुप्सा कही जाती है ॥३४॥ किन्तु जरा रोग आदिसे आक्रान्त सन्तोंकी भक्तिके साथ अपनी शक्तिके

मिथ्यावर्त्मनि तन्निष्ठे शंसासम्पर्कसंस्तवाः । मौढ्यं निर्मूढताऽऽज्ञातस्तां भजेद् रेवती यथा ॥३६
सम्यगज्ञातमार्गत्वादशक्तत्वाच्च यान्यथा । प्रवृत्तिस्तदनाच्छादोऽनुपगूहनमुच्यते ॥३७
मार्गविप्लवरक्षार्थं दैवयोगसमागतान् । जिनेन्द्रभक्तवन्नित्यं दोषानप्युपगूहते ॥३८
चारित्राद्दर्शनाच्चैव परीषहभयादितः । उपेक्षा चलतां प्रोक्तमस्थिरीकरणं बुधैः ॥३९
तद्धर्मसङ्घवृद्धयर्थं स्थापनं चलतां पुनः । तस्मिन् तत्स्थिरीकरणं प्रकुर्याद्वारिषेणवत् ॥४०
तपोगुणादिवृद्धानामवज्ञा या सधर्मिणाम् । अवात्सल्यं हि तत्प्रोक्तं सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥४१
निःकैतवोपचारा या प्रतिपत्तिः सधर्मिषु । तद्वात्सल्यं यथायोग्यं कुर्याद्विष्णुकुमारवत् ॥४२
सामर्थ्यत्वेऽपि यन्नैव कुर्याच्छासनभासनम् । तदप्रभावनं प्रोक्तं सद्-दृष्टिमलिनाकरम् ॥४३
तत्पूजादानविद्याद्यैस्तपोभिर्विविधात्मकैः । मार्गप्रभावनां शश्वत्कुर्याद्वज्रकुमारवत् ॥४४
तद्-द्वेधा स्यात्सरागश्च वीतरागस्त्वगोचरम् । प्रशमादिगुणं त्वाद्यं परं स्यादात्मशुद्धिभाक् ॥४५
शमः संवेगनिर्वेगौ निन्दागर्हणभक्तयः । आस्तिक्यमनुकम्पेति गुणा दृष्टयनुमापकाः ॥४६
धर्माद्यतीन्द्रियं यद्वन्मीयतेऽस्मिन् सुखादितः । तद्वत्सम्यक्त्वरत्नं हि मीयते प्रशमादितः ॥४७

अनुसार वैश्यावृत्य की जाती है; वह निर्जुगुप्सा या निर्विचिकित्सा है । उसे उद्दायन राजाके समान धारण करना चाहिए ॥३५॥ मिथ्यामार्गमें और उसपर निष्ठा रखनेवालोंपर मनसे प्रशंसा करना, कायसे सम्पर्क रखना और वचनसे स्तुति करना मूढता है । उस मूढताको छोड़कर निर्मूढताको रेवतीके समान धारण करना चाहिए ॥३६॥ उत्तम प्रकारसे जैनमार्गको न जाननेके कारण, अथवा पालन करनेमें अशक्त होनेसे लोग जो अन्यथा प्रवृत्ति करते हैं, उसको नहीं ढकना अनुपगूहन दोष कहलाता है ॥३७॥ मार्ग-विप्लवकी रक्षाके लिये दैवयोगसे आये हुए दोषोंको जिनेन्द्रभक्त सेठके समान नित्य ही जो ढाँकता है, वह उपगूहन गुण कहा जाता है ॥३८॥ परीषह आदिके भयसे चारित्र और दर्शनसे चल-विचल होनेवाले लोगोंके प्रति उपेक्षा रखनेको ज्ञानियोंने अस्थिरीकरण दोष कहा है ॥३९॥ ऐसे दर्शन और चारित्रसे चल-विचल होनेवाले पुरुषोंको उनके धर्मकी रक्षाके लिये तथा संघकी वृद्धिके लिये दर्शन और चारित्रमें वारिषेण मुनिके समान पुनः स्थापन करना स्थिरीकरण गुण है, इसका पालन करना चाहिये ॥४०॥ तपोगुण आदिसे वृद्ध साधर्मी जनोंकी जो अवज्ञा की जाती है, वह अवात्सल्य दोष है, जो सम्यक्त्वकी क्षतिका कारण कहा गया है ॥४१॥ साधर्मी जनोंमें जो निश्छल व्यवहारवाला विष्णुकुमार मुनिके समान यथा-योग्य स्नेह और आदर-सम्मान किया जाता है, वह वात्सल्य गुण है, उसे करना चाहिये ॥४२॥ सामर्थ्य होनेपर भी जो जैन शासनका प्रकाशन नहीं करना, उसे सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाला अप्रभावन दोष कहा गया है ॥४३॥ इसलिये पूजा, दान, विद्या आदिके द्वारा तथा अनेक प्रकारके तपोंके द्वारा वज्रकुमार मुनिके समान सदा जैन मार्गकी प्रभावना करनी चाहिये ॥४४॥ यह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—सराग सम्यक्त्व और वीतरागसम्यक्त्व । प्रथम सरागसम्यक्त्व प्रशम-संवेगादि गुणवाला है और दूसरा वीतराग सम्यक्त्व आत्मशुद्धिका स्वरूप है ॥४५॥ प्रशम, संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, भक्ति, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये आठ गुण सम्यग्दर्शनके अनुमापक हैं । अर्थात् इन गुणोंके द्वारा जीवमें सम्यग्दर्शन होनेका अनुमान किया जाता है ॥४६॥ जिस प्रकार जीवमें सुखादिक पाये जानेसे धर्म आदि अतीन्द्रिय वस्तुका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार प्रशम आदि गुणोंसे जीवमें सम्यक्त्वरत्नके होनेका अनुमान किया जाता है ॥४७॥ रागादि दोषोंमें

यद्-रागादिदोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम् । शमः समुच्यते तज्ज्ञैः समस्तव्रतभूषणम् ॥४८
धर्मे धर्मफले रागः संवेगः स समुच्यते । निर्वेगो देह-संसारभोगान्निर्विण्णता मता ॥४९
मनसा वपुषा वाचा सति दोषे विनिन्दनम् । आत्मसाक्षि भवेन्निन्दा गर्हा गुर्वादिसाक्षिकी ॥५०
अर्हच्छ्रुततपोभृत्सु वन्दनास्तवनार्चने । स्यादान्तरोऽनुरागो यः सा भक्तिरिति कीर्त्यते ॥५१
तत्त्वाऽऽप्तव्रतमार्गेषु चित्तमस्तित्वसंयुतम् । यत्तदास्तिक्यमित्युक्तं सम्यक्त्वस्य विभूषणम् ॥५२
सर्वजन्तुषु चित्तस्य कृपाऽऽर्द्रत्वं कृपालवः । सद्धर्मस्य परं बीजमनुकम्पां वदन्ति ताम् ॥५३
चारित्रं देहजं ज्ञानमक्षजं मोहजा रुचिः । मुक्तात्मनि यतो नास्ति तस्मादात्मैव तत्त्रयम् ॥५४
तीव्रक्रोधादिमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वकर्मणाम् । सप्तानां क्षयतः शान्तेः क्षयोपशमितोऽपि च ॥५५
क्षायिकं चौपशमिकं क्षायोपशमिकं तथा । सम्यक्त्वं त्रिविधं प्रोक्तं तत्त्वनिश्चलतात्मकम् ॥५६
आज्ञामार्गोपदेशात्तु सूत्रबीजसमासजम् । विस्तारोऽर्थोद्भवं वा च परमावादिगाढके ॥५७
सर्वज्ञोपज्ञमार्गस्यानुज्ञा साज्ञा समुच्यते । रत्नत्रयविचारस्य मार्गो मार्गस्तु कीर्त्यते ॥५८
पुराणपुरुषाख्यानश्रुत्यादेशो निगद्यते । उपदेशो यत्याचारवर्णनं सूत्रमुच्यते ॥५९
सर्वागमफलावाप्ति-सूचनं बीजमुच्यते । सः समासो यः संक्षेपालापस्तत्त्वाप्तवर्णनम् ॥६०

चित्तवृत्तिके शान्त होनेको ज्ञानियोंने समस्त व्रतोंका भूषणस्वरूप प्रशम गुण कहा है ॥४८॥ धर्म और धर्मके फलमें जो अनुराग है, वह संवेग कहलाता है। संसार, शरीर और इन्द्रियोंके भोगोंसे विरक्तिको निर्वेग माना गया है ॥४९॥ किसी व्रतमें दोष लग जानेपर मनसे वचनसे और कायसे जो अपनी निन्दा की जाती है, वह यदि आत्मसाक्षीपूर्वक हो तो निन्दा गुण है, और यदि गुरु आदिकी साक्षीपूर्वक हो, तो गर्हा गुण है ॥५०॥ अरहन्त, श्रुत और गुरुओंमें वन्दना, स्तवन और अर्चन करते हुए जो आन्तरिक अनुराग प्रकट किया जाता है, वह भक्ति कही जाती है ॥५१॥ तत्त्व, आप्त, व्रत और जैनमार्गमें जो अस्तित्वबुद्धिसे युक्त चित्तका होना, सो आस्तिक्य कहा जाता है। यह गुण सम्यक्त्वका आभूषण है ॥५२॥ सर्व प्राणियोंपर चित्तका दयासे भींग जाना अनुकम्पा है। दयालु पुरुष इस अनुकम्पा गुणको सद्-धर्मका बीज कहते हैं ॥५३॥ यतः मुक्त आत्मामें शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला चारित्र, इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान और मोहसे प्रकट होनेवाली रुचि नहीं पाई जाती है, अतः आत्मा ही सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र इन तीनोंमय है ॥५४॥ तीव्र क्रोधादिरूप अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-प्रकृति इन सात कर्मोंके क्षयसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं। उन ही सातों कर्मोंके उपशमसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको औपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं, और उन ही सातों कर्मोंके क्षयोपशमसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। इस प्रकार तत्त्वनिश्चयात्मक सम्यक्त्व तीन प्रकारका कहा गया है ॥५५-५६॥ सम्यग्दर्शनके जो दश भेद कहे गये हैं वे इस प्रकार हैं—आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व, समास या संक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसमुद्भवसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढ-सम्यक्त्व ॥५७॥ सर्वज्ञदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गकी अनुज्ञाको प्रमाण मानकर श्रद्धान करना आज्ञासम्यक्त्व है। रत्नत्रयकी प्राप्तिके मार्गका विचार करना मार्गसम्यक्त्व कहा जाता है ॥५८॥ त्रेसठशलाकापुराण पुरुषोंके कथानक सुनकर उत्पन्न होनेवाले सम्यक्त्वको उपदेशसम्यक्त्व कहते हैं। मुनिजनोंके आचारका वर्णन सुनकर होनेवाले सम्यक्त्वको सूत्रसम्यक्त्व कहते हैं ॥५९॥ सर्व

विस्तारोऽङ्गादिविस्तीर्णश्रुतस्यार्थसमर्थता । स्वप्रत्ययः समर्थः स्यादर्थस्त्वागमगोचरः ॥६१
अङ्गपूर्वप्रकीर्णात्मश्रुतस्यैकतमे स्थले । निःशेषार्थावबोधार्थं भवेत्तदवगाढकम् ॥६२
सर्वज्ञानावधिज्ञानमनःपर्ययसन्निधौ । यदात्मप्रत्ययोत्थं तत्परमाद्यवगाढकम् ॥६३
तदुत्पत्तिर्निसर्गेणाधिगमेन च जायते । अल्पात्प्रयासतस्त्वाद्या द्वितीया बहुतस्ततः ॥६४
प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं महत्वाद्यवलोकने । बाह्योपदेशकार्याद्वा ज्ञानं यत्तन्निसर्गजम् ॥६५
प्रमाण-नय-निक्षेपैस्तत्त्वं निश्चित्य ह्यात्मनः । सन्देहादीनपाकृत्य रुचिः साधिगमोद्भवा ॥६६
दोषा गुणा गुणा दोषा वैपरीत्ये भवन्त्यमी । भावान्तरस्वभावोऽयमभावो यद्व्यवस्थितः ॥६७
त्रयस्त्रिंशद्-गुणैर्युक्तं दोषैस्तावद्भिरुज्झितम् । यः पालयति सम्यक्त्वं स याति त्रिजगच्छ्रियम् ॥६८
एकमेव हि सम्यक्त्वं यस्य जातं गुणोज्ज्वलम् । षट्पाताल-त्रिधादेवस्त्रीषूत्पत्तिं विलुम्पति ॥६९

तमवनिपतिसम्पत्सेवते नाकलक्ष्मीर्भवति गुणसमृद्धिस्तं वृणीते च सिद्धिः ।
स भवजलधिपारं प्राप्तवान् कर्मदूरं त्रिजगदमितदृष्टिर्निर्मला यस्य दृष्टिः ॥७०

आगमके फलकी प्राप्तिकी सूचना करनेवाले बीजपदसे उत्पन्न सम्यक्त्वको बीजसम्यक्त्व कहते है। तत्त्वोंका और आप्त-आगमादिका संक्षेपसे वर्णन सुनकर उत्पन्न सम्यक्त्वको समाससम्यक्त्व कहते हैं ॥६०॥ अंग-पूर्व आदि विस्तृत श्रुतके अभ्याससे उत्पन्न सम्यक्त्वको विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। द्वादशाङ्गवाणीके अर्थको अपने आप हृदयंगम करनेसे उत्पन्न सम्यक्त्वको अर्थसमुद्भवसम्यक्त्व कहते हैं ॥६१॥ अंग, पूर्व और प्रकीर्णकरूप श्रुतके किसी एक स्थलपर चिन्तवन करते हुए समस्त अर्थका ज्ञान होनेसे जो दृढ़ सम्यक्त्व होता है, वह अवगाढसम्यक्त्व है ॥६२॥ केवलज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके सान्निध्यमें जो आत्मप्रतीतिसे उत्पन्न दृढ़सम्यक्त्व होता है, वह परमावगाढ-सम्यक्त्व है ॥६३॥ यहाँपर इतना विशेष ज्ञातव्य है कि आत्मानुशासन आदिमें श्रुतकेवलीके सम्यक्त्वको अवगाढसम्यक्त्व और केवलीभगवान्‌के सम्यक्त्वको परमावगाढसम्यक्त्व कहा गया है। उस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति निसर्गसे और अधिगमसे होती है। इनमे अल्प प्रयत्नसे निसर्ग-सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और बहुत प्रयत्नसे अधिगमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है ॥६४॥ द्रव्यादि योग्य सामग्रीको पाकर, कल्याणकोंके माहात्म्य आदिके देखनेपर, अथवा बाह्य उपदेशरूप कार्यसे जो यथार्थज्ञान होता है, वह निसर्गजसम्यक्त्व है ॥६५॥ प्रमाण, नय और निक्षेपसे तत्त्वका निश्चय करके और अपने सन्देह आदिको दूर करके जो रुचि उत्पन्न होती है वह अधिगमज सम्यक्त्व है ॥६६॥ रुचि या श्रद्धाके विपरीत होनेपर अर्थात् उसके अभावमें दोष तो गुण प्रतीत होने लगते हैं और गुण दोष मालूम पड़ने लगते हैं ? क्योंकि जैनमतमें अभावको भावान्तर-स्वभावी अवस्थित माना गया है। अर्थात् जब सम्यक्त्वका अभाव है, ऐसा कहा जाय; तब उसके प्रतिपक्षी मिथ्यात्व-का सद्भाव वहीं पर जानना चाहिए ॥६७॥ जो मनुष्य तेतीस गुणोंसे युक्त और इतने ही दोषोंसे रहित सम्यक्त्वको पालता है, वह तीन जगत्‌की लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥६८॥ भावार्थ—सम्यक्त्व के पच्चीस दोष पहले बतलाये गये हैं, उनमें प्रशम, संवेग आदि आठ गुणोंके अभावरूप आठ दोष मिलानेपर तेतीस दोष हो जाते हैं। तथा इन्हीं तेतीस दोषोंके अभाव होनेपर तेतीस गुण प्रकट हो जाते हैं क्योंकि ऊपर अभावको भावान्तर स्वभावी बतलाया गया है। जिस पुरुषके गुणोंसे उज्ज्वल एक ही सम्यक्त्वरत्न उत्पन्न हो जाता है, वह छह पातालों (नरकों) में भवनत्रिक देवोंमें और सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें अपनी उत्पत्तिका विलोप कर देता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव इनमें जन्म नहीं लेता है ॥६९॥ जिसकी दृष्टि (सम्यग्दर्शन) निर्मल है, उसकी राज्यलक्ष्मी सेवा करती है,

दृष्टिनिष्ठः कनिष्ठोऽपि वरिष्ठो गुणभूषणः । दृष्टयनिष्ठो वरिष्ठोऽपि कनिष्ठोऽगुणभूषणः ॥७१

इति श्रीमद्-गुणभूषणाचार्यविरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधानश्रावकाचारे
साधुनेमिदेवनामाङ्किते सम्यक्त्ववर्णनं नाम प्रथमोद्देशः ॥१॥

●

स्वर्गलक्ष्मी प्राप्त होती है, गुणोंकी समृद्धिवाली सिद्धि उसे वरण करती है और वह तीन जगत्को देखनेवाली अनन्तदृष्टिवाला होकर, कर्मोंको दूरकर संसार-समुद्रके पारको प्राप्त होता है ॥७०॥ सम्यक्दृष्टिसे युक्त कनिष्ठ (लघु या नीच) भी पुरुष वरिष्ठ (श्रेष्ठ) गुणभूषण है और सम्यक् दृष्टिसे रहित वरिष्ठ भी पुरुष कनिष्ठ और अगुणभूषण है ॥७१॥

भावार्थ—इस श्लोकमें ग्रन्थकारने श्लेषरूपसे 'गुणभूषण' यह अपना नाम प्रकट किया है।

इस प्रकार श्रीगुणभूषणाचार्य-रचित, भव्यजन-चित्तवल्लभ नामवाले और साहु नेमिदेवके नामसे
अंकित इस श्रावकाचारमें सम्यक्त्वका वर्णन करनेवाला पहला उद्देश समाप्त हुआ।

●

दूसरा उद्देश

यत्सन्देहविपर्यासाव्यवसायसमुज्झितम् । तत्स्वार्थव्यवसायात्मा सम्यग्ज्ञानं समुच्यते ॥१
परोक्षाध्यक्षभेदेन तद्-द्वेधा स्याद् द्विधा पुनः । मति-श्रुताविभेदेन परोक्षज्ञानमुच्यते ॥२
इन्द्रियानिन्द्रियोद्भूतं मतिज्ञानं तु षड्-विधम् । अवग्रहादिभिन्नं तु तच्चतुर्विंशतिप्रमम् ॥३
तदष्टाशीतिद्विशतीभेदं बह्वादिसद्-गुणात् । षट्त्रिंशत्रिशतीभेदं व्यञ्जनावग्रहैर्युतम् ॥४
मतिपूर्वं श्रुतं ज्ञेयं सर्वभावस्वभावकम् । केवलज्ञानवच्चास्माद् भेदोऽसाक्षात्प्रकाशनात् ॥५
विस्तारेणाङ्गपूर्वादिभेदं तच्च प्रकीर्त्यते । संक्षेपात्तु चतुर्भेदं तदेवात्र निरूप्यते ॥६
तीर्थचक्रार्धचक्रेशबलादेर्यत्कथानकम् । प्रथमः सोऽनुयोगः स्यात्तत्परीक्षात्मकश्च सः ॥७
यतीनां श्रावकाणां च यत्र धर्मो निरूप्यते । चरणानुयोगः स स्यात्तद्विचारस्वभावकः ॥८
अधोमध्योर्ध्वलोकानां संख्या-नामादिवर्णनम् । क्रियते यत्र स ज्ञेयो योगः स करणात्मकः ॥९
विशुद्धशुद्धजीवादिषड्द्रव्याणां निरूपणम् । यस्मिन् विधीयते द्रव्यानुयोगः स प्रकीर्त्तितः ॥१०
प्रत्यक्षं त्ववधिज्ञानमनःपर्ययकेवलम् । द्विधा स्यादवधिज्ञानं द्वेधागुण-भवोत्थितम् ॥११

जो ज्ञान सन्देह, विपर्यास और अनध्यवसायसे रहित और स्व-परका निश्चय करनेवाला होता है, वह सम्यग्ज्ञान कहा जाता है ॥१॥ वह सम्यग्ज्ञान परोक्ष और प्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें परोक्ष ज्ञान मति और श्रुतज्ञानके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥२॥ मतिज्ञान पाँच इन्द्रियोंसे और अनिन्द्रियसे (मनसे) उत्पन्न होनेके कारण छह प्रकारका है और वह अवग्रह ईहा अवाय और धारणाके भेदसे भिन्नताको प्राप्त होकर चौबीस प्रकारका हो जाता है ॥३॥ पुनः वह चौबीस प्रकारका मतिज्ञान बहु, बहुविध आदि बारह प्रकारके पदार्थोंको जाननेसे उनके द्वारा गुणित करनेपर दो सौ अट्ठासी भेद वाला हो जाता है। (ये २८८ भेद अर्थावग्रहके हैं।) इनमें व्यञ्जनावग्रहके अड़तालीस भेद और मिलाने पर (२८८ + ४८ = ३३६) मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥४॥ इन सर्व मतिज्ञानके भेदोंका विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थ सूत्रके प्रथम अध्यायकी टीकाओंसे जानना चाहिए। मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान जानना चाहिए। वह केवलज्ञानके समान सर्वभावस्वभावी है, अर्थात् सर्व पदार्थोंको जानता है। भेद केवल इतना ही है कि केवलज्ञान सर्वपदार्थोंको साक्षात् प्रत्यक्ष रूपसे जानता है और यह श्रुतज्ञान असाक्षात् अर्थात् परोक्षरूपसे जानता है ॥५॥ विस्तारकी अपेक्षा श्रुतज्ञान, अंग, पूर्व आदिकी अपेक्षा अनेक भेद रूप कहा गया है। किन्तु यहाँ पर संक्षेपसे चार भेदोंके रूपमें उसका निरूपण किया जाता है ॥६॥ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री (नारायण-प्रतिनारायण) और बलभद्र आदि महापुरुषोंके कथानकोंको प्रथमानुयोग कहते हैं। यह प्रथमानुयोग परीक्षात्मक है, अर्थात् आदर्श पुरुषोंके गुण-दोषोंकी परीक्षा करता है ॥७॥ मुनियों और श्रावकोंका आचार धर्म जिसमें निरूपण किया जाता है, वह चरणानुयोग है। यह अनुयोग मुनि-श्रावकोंके आचारका विचार करता है ॥८॥ जिसमें अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोककी संख्या, नाम, प्रमाण आदिका वर्णन किया गया है, वह करणानुयोग जानना चाहिए ॥९॥ जिसमें शुद्ध-अशुद्ध स्वभाववाले जीवादि षड्द्रव्योंका निरूपण किया गया है वह द्रव्यानुयोग कहा गया है ॥१०॥ इस प्रकार चार अनुयोगरूप श्रुतज्ञान जानना चाहिए।

गुणोत्थमवधिज्ञानं नर-तिर्यक्षु जायते । भवसमुद्भूतं देव-नारकेषु जिनेष्वपि ॥१२
गुणोत्थितं देश-सर्व-परमावधितस्त्रिधा । षोढा देशावधिस्तत्र वर्धमानादिभेदतः ॥१३
वर्धमानो हीयमानोऽनवस्थः स्यादवस्थितः । अनुगाम्यननुगामी षोढा देशावधिर्मतः ॥१४
शुक्लचन्द्रवदुत्पद्यानवस्थं समयं प्रति । वृद्धया केवलमुत्कृष्टं न नश्येत्तद्वर्धमानकम् ॥१५
चन्द्रवत्कृष्णपक्षे स्याद् वृद्धयवस्थानवर्जितम् । ज्ञानं सद्धीयते सर्व-नाशं तद्धीयमानकम् ॥१६
यत्सूर्यबिम्बवज्जातं वृद्धि-हानिसमुज्झितम् । आकेवलमवस्थाय विनश्येत्तदवस्थितम् ॥१७
उत्पन्नं यत्कदाचित्तु हीयते वर्धतेऽपि च । अवतिष्ठते कदाचिच्च तद्भवेदनवस्थितम् ॥१८
अनुगामि यदुत्पन्नं जीवेन सह गच्छति । तत्त्रेधा स्यात् क्षेत्रजन्मक्षेत्रजन्मानुगामिनः ॥१९
क्षेत्रानुगामि यज्जातं याति क्षेत्रान्तरं समम् । भवानुगामि यज्जातं जीवेनान्यभवे व्रजेत् ॥२०
क्षेत्रजन्मानुगाम्युक्तं यज्जीवेन समं व्रजेत् । नृ-देवादिभवं क्षेत्रं भरतैरावतादिकम् ॥२१
त्रेधाननुगामी क्षेत्रभवोभयानुगामिनः । क्षेत्राननुगामी क्षेत्रं नैति याति भवान्तरम् ॥२२
देशावधिर्जघन्येन नो कर्मौदारसञ्चयम् । मध्ययोगार्जितं लोकविभक्तमधिगच्छति ॥२३

प्रत्यक्ष दानके तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें अवधिज्ञान दो प्रकारका है—गुणोत्थित और भवोत्थित। गुणसे उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचोंमें होता है और भवके साथ उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान देव, नारकी और तीर्थंकर जिनराजों में होता है ॥११–१२॥ गुणोत्थित या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीन प्रकारका है—देशावधि, परमावधि और सर्वावधिज्ञान। इनमें देशावधिज्ञान वर्धमान आदिके भेदसे छह प्रकारका है ॥१३॥ वे छह भेद इस प्रकार हैं—वर्धमान, हीयमान, अनवस्थित, अवस्थित, अनुगामी और अननुगामी। इस प्रकार देशावधि छह प्रकारका माना गया है ॥१४॥ जो शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान उत्पन्न होकर एक रूपसे अवस्थित न रहकर प्रतिसमय केवल वृद्धिके साथ उत्कृष्ट सीमा तक बढ़ता ही जाय, कभी नष्ट न हो, वह वर्धमान देशावधि है ॥१५॥ जो कृष्णपक्षके चन्द्रमाके समान वृद्धि और अवस्थानसे रहित होकर निरन्तर सर्वनाश होने तक घटता ही जाय वह हीयमान देशावधिज्ञान है ॥१६॥ जो सूर्य बिम्बके समान उत्पन्न होनेके पश्चात् वृद्धि और हानिसे रहित होकर एक रूपसे अवस्थित रहकर केवलज्ञान होने पर विनष्ट हो, वह अवस्थित देशावधिज्ञान है ॥१७॥ जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् कदाचित् घटे, कदाचित् बढ़े और कदाचित अवस्थित भी रहे, वह अनवस्थित देशावधिज्ञान है ॥१८॥ उत्पन्न हुआ जो अवधिज्ञान जीवके साथ जाता है, वह अनुगामी कहलाता है। वह तीन प्रकारका है—क्षेत्रानुगामी, जन्मानुगामी और क्षेत्र-जन्मानुगामी ॥१९॥ किसी विशिष्ट क्षेत्रमें उत्पन्न हुआ जो अवधिज्ञान जीवके साथ अन्य क्षेत्रमें भी जाता है वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है। जो उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान जीवके साथ अन्य भवमें जावे, वह भवानुगामी अवधिज्ञान है ॥२०॥ जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्रमें और जिस भवमें उत्पन्न हुआ है, वह जीवके साथ मनुष्य-देवादि अन्य भवमें और भरत-ऐरावतादि अन्य क्षेत्रमें जावे, वह क्षेत्र-भवानुगामी अर्थात् उभयानुगामी अवधिज्ञान है ॥२१॥ अननुगामी अवधिज्ञान तीन प्रकारका है—क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी और उभयाननुगामी। क्षेत्राननुगामी जीवके साथ अन्य क्षेत्रमें, भवाननुगामी जीवके साथ अन्य भवमें और उभयाननुगामी जीवके साथ दोनों ही स्थानोंमें नहीं जाता है ॥२२॥

मध्यमयोगसे संचित विस्रसोपचय-सहित नोकर्म औदारिक वर्गणाके संचयमें लोकके प्रदेशों-का भाग देनेपर जितना द्रव्य लब्ध आता है, उतने द्रव्यको जघन्य देशावधि जानता है ॥२३॥

कर्मणां वर्गणामेकध्रुवहारविभाजितम् । वरो देशावधिर्वेत्ति मध्यमो वेत्त्यनेकधा ॥२४
वरदेशावधिर्ज्ञेयं ध्रुवहारविभाजितम् । परोऽवधिर्जघन्येन वेत्ति मध्यस्त्वनेकधा ॥२५
वरः परावधिर्वेत्ति स्वावगाहविभाजिते । तैजसे स्वविशिष्टं यद् ध्रुवहारप्रमाणकम् ॥२६
सर्वावधिर्निर्विकल्पपरमाणु निबोधति । परः सर्वावधिस्त्वन्त्यशरीरे विरते भवेत् ॥२७
चिन्तिताचिन्तितं वार्धचिन्तितं सर्वभावगम् । नृलोक एव यद्वेत्ति तन्मनःपर्ययं स्मृतम् ॥२८
विपुलर्जुविबुद्धिभ्यां तद्-द्वेधाऽऽद्यं तु षड्विधम् । वक्रेतरमनःकायवाग्गतार्थनिबोधनात् ॥२९
त्रेधा स्यादृजुर्वाक्कायचित्तस्थार्थप्रवेदनात् । द्वितीयं तच्च सम्पाति पूर्वं त्वप्रतिपातिकम् ॥३०
त्रिकालगोचरं मूर्त्तं समीपस्थेन चिन्तितम् । ऋजुबुद्धिर्वेत्ति पूर्वं चिन्तिताचिन्तितं च तम् ॥३१
करणक्रमनिर्मुक्तं लोकालोकप्रकाशकम् । सर्वावरणनाशोत्थं केवलज्ञानमुच्यते ॥३२
उपचारोऽस्ति तं रूपं तत्त्वं सज्ज्ञानतोऽखिलम् । सम्यङ्निश्चित्य सम्यक्त्वं विश्वासात्मोपजायते ३३
सम्यग्ज्ञानं विना नैव तत्त्वनिश्चयसम्भवः । कर्मोच्छित्तिर्न तं मुक्त्वा न मोक्षाप्तिश्च तां विना ॥३४

कार्मण वर्गणामें एक बार ध्रुवहारका भाग देनेपर जो लब्ध आता है, उतने द्रव्यको उत्कृष्ट देशावधि जानता है। मध्यम देशावधि जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यके मध्यवर्ती अनेक प्रकारके द्रव्यको जानता है ॥२४॥ देशावधिज्ञानका जो उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण है, उसे ध्रुवहारसे विभाजित करनेपर जितना द्रव्य प्राप्त होता है, उसे जघन्य परमावधिज्ञान जानता है। तैजस्कायिक जीवराशिके प्रमाणमें उसकी अवगाहनाके भेदोंसे विभाजित करनेपर जो ध्रुवहार प्रमाण द्रव्य अवशिष्ट रहता है, उसे उत्कृष्ट परमावधिज्ञान जानता है। जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यके मध्यवर्ती अनेक भेदोंको मध्यम परमावधि जानता है ॥२५-२६॥ सर्वावधिज्ञान एक निर्विकल्प या अविभागी परमाणुको जानता है। यह परमावधि और सर्वावधिज्ञान चरमशरीर संयतजीवके उत्पन्न होता है ॥२७॥ जो मनुष्य लोकवर्ती जीवोंके मनमें चिन्तवन किये गये, नहीं चिन्तवन किये गये और आधे चिन्तवन किये गये सर्वपदार्थोंको जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान माना गया है ॥२८॥ वह मनः-पर्ययज्ञान विपुलमति और ऋजुमतिके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेसे आदिका विपुलमति मनः-पर्ययज्ञान वक्र मन-वचन-कायगत और अवक्र (ऋजु) मन-वचन-कायगत पदार्थोके जाननेसे छह प्रकारका है ॥२९॥ ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान ऋजु (सरल) मन-वचन-कायगत पदार्थोंके जाननेसे तीन प्रकारका है। यह दूसरा ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान प्रतिपाति है, अर्थात् होकरके छूट जाता है। किन्तु पहला विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान अप्रतिपाति है ॥३०॥ समीपमें स्थित जीवके द्वारा चिन्तवन किये गये त्रिकाल-सम्बन्धी मूर्त्तद्रव्यको ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान जानता है और विपुल-मतिमनःपर्ययज्ञान मनुष्यलोकमें स्थित जीवके चिन्तित और अचिन्तित सर्व प्रकारके त्रिकाल-गोचर मूर्त्त द्रव्यको जानता है ॥३१॥ जो ज्ञान इन्द्रियों द्वारा जाननेके क्रमसे विमुक्त है, लोक और अलोकका प्रकाशक है और सम्पूर्ण ज्ञानावरणकर्मके विनाश होनेपर उत्पन्न होता है, वह केवलज्ञान कहलाता है ॥३२॥ इस प्रकार समस्त तत्त्वोंके यथार्थस्वरूपको सम्यग्ज्ञानसे भली-भाँति निश्चय करके दृढ़ विश्वासात्मक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ॥३३॥ सम्यग्ज्ञानके विना तत्त्वोंका निश्चय सम्भव नहीं है। तत्त्वोंके निश्चयके विना कर्मोंका विनाश नहीं हो सकता है और कर्मोंके विनाशके विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है, इसलिए मनुष्यको सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनी चाहिए ॥३४॥

विनोद्योतं यथा न स्यात्पुमान् सद्-गतिभाजनम् ।
विना ज्ञानं तथा न स्यात् पुमान् सद्-गतिभाजनम् ।।३५
न तस्य तत्त्वाप्तिरिहास्ति दूरे न कर्मनाशोऽप्यधुना समर्थः ।
न मोक्षलक्ष्मीरनवाप्यभावः स्यादभ्रसंविद्-गुणभूषणो यः ।।३६

बुद्धिनिष्ठः कनिष्ठोऽपि वरिष्ठो गुणभूषणः । बुद्ध्यनिष्ठो वरिष्ठोऽपि कनिष्ठोऽगुणभूषणः ।।३७

इति श्रीगुणभूषणाचार्य-विरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधानश्रावकाचारे
साधुनेमिदेवनामाङ्किते सम्यग्ज्ञानवर्णनो नाम द्वितीयोद्देशः ।।२।।

●

जैसे प्रकाशके विना मनुष्य अभीष्ट स्थानको जाननेका पात्र नही है, उसी प्रकार ज्ञानके विना पुरुष सद्-गतिका भाजन नहीं हो सकता है ।।३५।। जो पुरुष निर्मल सम्यग्ज्ञानगुणसे विभूषित है, उसको तत्त्वोंकी प्राप्ति होना इस लोकमें दूर नहीं है, और न कर्मोंका नाश होना दूर है, प्रत्युत वह इसी भवमें कर्मनाश करनेके लिए समर्थ है । सम्यग्ज्ञानी पुरुषके लिए मोक्षलक्ष्मी भी अप्राप्य नहीं है, अर्थात् वह शीघ्र ही निश्चयसे प्राप्त होती है ।।३६।। सम्यग्ज्ञानसे युक्त कनिष्ठ (लघु) भी पुरुष वरिष्ठ है और गुणोंसे आभूषित है । किन्तु सम्यग्ज्ञानसे रहित श्रेष्ठ भी पुरुष कनिष्ठ है और उत्तम गुणोंसे रहित है ।।३७।।

इस प्रकार श्रीगुणभद्राचार्य-विरचित भव्यजनचित्तवल्लभ नामवाले और साहु नेमिदेवके नामसे अंकित इस श्रावकाचारमें सम्यग्ज्ञानका वर्णन करनेवाला दूसरा उद्देश समाप्त हुआ ।।२।।

●

तीसरा उद्देश

शुभप्रवृत्तिरूपा या निवृत्तिरशुभाद् भवेत् । तच्चारित्रं द्विधा प्रोक्तं सागार-विरताश्रितम् ॥१
दार्शनिकश्च व्रतिकः सामयिकी प्रोषधोपवासी च । तस्मात्सचित्तविरतो दिवा सदा ब्रह्मचारी च ॥२
स्यादारम्भाद्विरतः परिग्रहादनुमतात्तथोद्दिष्टात् । इत्येकादश भेदाः सागारा देशयत्याख्याः ॥३
उदुम्बराणि पञ्चैव सप्तव्यसनान्यपि । वर्जयेद्यः स सागारो भवेद्दार्शनिकाह्वयः ॥४
प्रत्यक्षविषयैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्चागमगोचरैः । सत्त्वैराकीर्णमध्यानि कृपालुस्तानि वर्जयेत् ॥५
द्यूतमद्यामिषं वेश्याऽऽखेटचौर्यपराङ्गनाः । सप्तैवैतानि पापानि व्यसनानि त्यजेत्सुधीः ॥६
असत्यस्य निधानं यत्कृत्याकृत्यविवर्जितम् । दुर्गतेर्वर्त्म तत्त्याज्यं द्यूतं क्रोधादिवर्धनम् ॥७
यदुत्पद्य मृता प्राणिदेहजोन्मादशक्तिकम् । सर्वावद्यपुरश्चार्यनिन्द्यं मद्यं भजेच्च कः ॥८
जातं यन्मक्षिकागर्भसम्भूताण्डकपीडनात् । तत्कथं कलिलप्रायं सेव्यं दुर्गतिदं मधु ॥९
प्राणिदेहविघातोत्थमनेककृमिसङ्कुलम् । पूतिगन्धं च बीभत्सं त्याज्यं मांसं कृपालुना ॥१०
मद्यमांससमायुक्ताः कुक्कुरपात्रसन्निभाः । जनावस्करसादृश्या वेश्या द्वारं च दुर्गतेः ॥११

जो शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति और अशुभ कार्योंसे निवृत्ति है, वह चारित्र कहलाता है। वह चारित्र दो प्रकारका है—सागार-आश्रित और विरत-(अनगार-) आश्रित ॥१॥ सागार-आश्रित चारित्रके ग्यारह भेद हैं—दार्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, दिवा ब्रह्मचारी, सदा ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत। ये सब देशयति, देश संयमी, श्रावक और उपासक नाम वाले जीव सागार कहलाते हैं ॥२-३॥ जो जीव पाँचों उदुम्बर फलोंको और सातों ही व्यसनोंका त्याग करे, वह दार्शनिक नामका श्रावक है ॥४॥ वट, पीपल आदि पाँचों ही उदुम्बर फल प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होनेवाले स्थूल त्रसजीवोंसे, तथा आगम-गोचर असंख्य सूक्ष्म जीवोंसे भरे हुए हैं, अतः दयालु पुरुषोंको उनका त्याग करना चाहिए ॥५॥ जूआ, मद्य, मास, वेश्या, आखेट (शिकार), चोरी और परस्त्रीका सेवन करना, इन सातों ही पापोंको व्यसन कहते हैं। ज्ञानी जनोंको इनका त्याग करना चाहिए ॥६॥ जूआ खेलना असत्यका भण्डार है, कर्त्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे रहित है, दुर्गतिका मार्ग है और क्रोधादिकषायोंको बढ़ानेवाला है, इसलिए जूआ खेलनेका त्याग करना चाहिए ॥७॥ जिसमें प्राणी सदा उत्पन्न होते मरते रहते हैं, जो प्राणियोंके उन्मादको बढ़ानेवाला है, सर्व पापोंका अग्रगामी है और आर्य पुरुषोंके द्वारा निन्दनीय है, ऐसे मद्य (मदिरा) को कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा ? कोई भी नहीं ॥८॥ जो मधु-मक्षिकाओंके गर्भसे उत्पन्न हुए अण्डोंके पीड़नसे उत्पन्न होता है, मांसके सदृश दिखाई देता है, और जिसका सेवन दुर्गतियोंको देनेवाला है, ऐसा मधु कैसे सेवन योग्य हो सकता है ? अर्थात् ऐसा मधु सेवनके योग्य नही है ॥९॥ जो जीवोंके देहका विघात करके उत्पन्न होता है, अनेक कृमियोंसे परिपूर्ण है, दुर्गन्धमय है और देखनेमें बीभत्स है, ऐसा मांस दयालु जनोंको त्यागनेके योग्य है ॥१०॥ जो वेश्याएँ निरन्तर मद्य-मांसका सेवन करती रहती हैं, कुत्तोंके द्वारा चाटे जाने-वाले पत्रके सदृश हैं और मनुष्योंके मल-मूत्र करनेके स्थानके समान हैं, ऐसी वेश्याएँ दुर्गतिकी

भयकम्पसमाक्रान्तं प्राणिवर्गनिरागसम् । विलोक्य कोऽनुकम्पावान् खेटं दुर्गतिदं भजेत् ॥१२
यद्दत्तेऽत्र सदा भीतिं हस्ताद्यवयवच्छिदम् । दुःखं परत्र दुर्वार्यं तच्चौरं मतिमान् त्यजेत् ॥१३
परस्त्रीसङ्गतेरस्यासौभाग्यं किमिवोच्यते । सत्यां यस्यां भवत्येव पुमान् दुर्गतिवल्लभः ॥१४
पण्डोः सुता यदोः पुत्रा बकाख्यश्चारुदत्तकः । ब्रह्मदत्तः शिवभूतिर्दशास्यप्रमुखा नराः ॥१५
एते प्राप्ता महादुःखं एकैकव्यसनादतः । सेवते यस्त्वशेषाणि स स्याद्दुःखैकभाजनम् ॥१६
विशोध्याद्यात्फलसिम्बि द्विदलमुम्बरव्रतम् । त्यजेत्स्नेहाम्बु चर्मस्थं व्यापन्नान्नं पलव्रती ॥१७
काञ्जिकं पुष्पितमपि दधि तक्रं द्व्यहोषितम् । सन्धानकं नवनीतं त्यजेन्नित्यं मधुव्रती ॥१८
रात्रिभुक्तिपरित्यागो गालिताम्बुनिषेवणम् । कार्यं मांसाशनत्यागकारिणा न स चान्यथा ॥१९

दिनान्ते यः द्विषन्नास्ते कुन्थ्वादिप्राणिनां गणाः ।
भोज्यं भूतादि भुङ्क्ते च नक्तंभुक्ति ततस्त्यजे ॥२०

सम्मूर्च्छति मुहूर्तेन गालितं च जलं यतः । सत्सर्वत्र श्रुतेनैव नाम्ब्पानादिकं त्यजेत् ॥२१
पञ्चधाऽणुव्रतं यस्य त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्धा स्यात्स भवेद् व्रतिको यतिः ॥२२

द्वार हैं। अतः उनका सेवन नहीं करना चाहिए ॥११॥ जो प्राणीवर्ग भय-भीत है अर्थात् भयसे अत्यन्त व्याप्त है और निरपराधी है, ऐसे दीन प्राणियोंको देखकरके कौन दयावान् मनुष्य दुर्गतिको देनेवाले आखेट (शिकार) को करेगा ॥१२॥ जो चोरी मनुष्यको इस लोकमें सदा भयभीत रखती है, शरीरके हाथ आदि अगोंको कटवात्ती है और परलोकमें दुर्निवार दुःखोंको देती है, ऐसी चोरी-का बुद्धिमानोंको त्याग ही करना चाहिए ॥१३॥ परायी स्त्रीकी संगतिको, मनुष्यका इससे अधिक और दुर्भाग्य क्या कहा जाय कि जिसके सम्पर्क होने पर मनुष्य दुर्गतियोंका वल्लभ हो जाता है ॥१४॥ देखो—जूआ खेलनेसे पण्डुराजाके पुत्र पाण्डव महान् दुःखोंको प्राप्त हुए, मद्यपानसे यदुराजके पुत्र यादव नष्ट हुए, मांस-भक्षणसे बकराजा मारा गया, वेश्या सेवनसे चारुदत्त सेठकी दुर्गति हुई, आखेटसे ब्रह्मदत्तने महा दुःख पाया, चोरीसे शिवभूति ब्राह्मण दुर्गतिको गया और परस्त्री-हरणसे रावण मारा गया। जब ऐसे ऐसे प्रमुख पुरुष एक एक व्यसनके सेवनसे महादुःखको प्राप्त हुए, तो जो पुरुष समस्त ही व्यसनोंको सेवन करेगा, वह तो नियमसे ही दुःखोंका पात्र होवेगा ॥१५-१६॥ पञ्चउदुम्बर खानेका त्यागी श्रावक फलोंको और सेम भिण्डी आदि शाकोंको दो दल करके और शोध करके खावे। मांस खानेका त्यागी चमड़ेमें रखे हुए घी, तेल और पानीका तथा चलित रसवाले अन्नका त्याग करे ॥१७॥ मधु खानेका त्यागी कांजीको, अंकुरित्त अन्नको, दो दिनके वासे छांछ दहीको, अचार-मुरब्बेको और मक्खनको सदा ही त्याग करे ॥१८॥ मांस खानेके त्यागी पुरुषको रात्रिमें भोजन करनेका त्याग करना चाहिए और वस्त्र-गालित जलका सेवन करना चाहिए। अन्यथा वह मांसका त्यागी नहीं है ॥१९॥ रात्रिमें कुन्थु आदि प्राणियोंके समूह दृष्टिगोचर नहीं होते, तथा भोजनके योग्य वस्तुको भूत-प्रेतादि खाते हैं, अतः वह उच्छिष्ट हो जाती है, इसलिए रात्रिभुक्तिका त्याग ही करना चाहिए ॥२०॥ वस्त्रसे गाला हुआ भी जल एक मुहूर्तके पश्चात् सम्मूर्च्छन जीवोंसे व्याप्त हो जाता है, अतः मर्यादाके बाहिरका जल न पीवे। गालितशेष जल (जिवानी) को जहाँ कहीं सर्वत्र न छोड़े, किन्तु जिस स्थानसे जल लाया गया है, वहाँ पर ही छोड़े ॥२१॥ इस प्रकार पहली दार्शनिक श्रावक-प्रतिमाका वर्णन किया।

अब दूसरी व्रत प्रतिमाका स्वरूप वर्णन करते हैं—जिस पुरुषके पाँच प्रकारके अणुव्रत, तीन

अहिंसा सत्यमस्तेयस्थूलब्रह्मापरिग्रहैः । पञ्चधाऽणुव्रतं यस्य स्वःश्रियस्तस्य दायकम् ॥२३
यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिप्राणापरोपणम् । सा हिंसा दुर्गतेर्द्वारमतस्त्याज्या प्रयत्नतः ॥२४
रक्षणं यत्प्रयत्नेन त्रसाणां स्थावरे पुनः । कार्यकारणतावृत्तिरहिंसा सा गृहाश्रमे ॥२५
क्रोधादिनापि नो वाच्यं वचोऽसत्यं मनीषिणा । सत्यं तदपि नो वाच्यं यत्स्यात् प्राणिविघातकम् २६
ग्रामे चतुष्पथादौ वा विस्मृतं पतितं धृतम् । परद्रव्यं हिरण्यादि वर्ज्यं स्तेयविवर्जिना ॥२७
स्त्रीसेवारङ्गरमणं यः पर्वणि परित्यजेत् । स स्थूलब्रह्मचारी च प्रोक्तं प्रवचने जिनैः ॥२८
धनधान्यहिरण्यादिप्रमाणं यद्विधीयते । ततोऽधिकेऽवपातेऽस्मिन् निवृत्तिः सोऽपरिग्रहः ॥२९
असृग्मांससुरासार्द्रचर्मस्थाद्यवलोकने । प्रत्याख्यातबहुप्राणिसन्मिश्रान्ननिषेवणे ॥३०
त्यजेद् भोज्ये तदेवान्यभुक्तिं चैव विवर्जयेत् । अतिप्रसङ्गहान्यर्थं तपोवृद्धयर्थमेव च ॥३१
दिग्देशानर्थदण्डविरतिः स्याद् गुणव्रतम् । सा दिशाविरतिर्या स्याद्दिशानुगमनप्रमा ॥३२
यत्र व्रतस्य भङ्गः स्याद्देशे यत्र प्रयत्नतः । गमनस्य निवृत्तिर्या सा देशविरतिर्मता ॥३३
कूटमानतुलापाशविषशस्त्रादिकस्य च । क्रूरप्राणिभृतां त्यागस्तत्तृतीयगुणव्रतम् ॥३४

प्रकारके गुणव्रत और चार प्रकारके शिक्षाव्रत हैं, वह व्रत प्रतिमाधारी देशव्रती है ॥२२॥ जिसके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, स्थूल ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पाँच प्रकारके अणुव्रत हैं, उसको वे स्वर्ग लक्ष्मीके दायक हैं ॥२३॥ जो प्रमादयोगसे प्राणियोंके प्राणोंका घात किया जाता है, वह हिंसा कहलाती है। हिंसा दुर्गतिका द्वार है, अतः उसे प्रयत्नसे त्यागना चाहिए ॥२४॥ त्रसजीवोंकी प्रयत्नके साथ रक्षा करनी चाहिए। स्थावर जीवोंमें भी यथा संभव यत्नाचार रखे, क्योंकि स्थावर हिंसा त्रसहिंसाकी कारणभूत है। यही गृहस्थाश्रममें अहिंसा कही गयी है ॥२५॥

मनीषी पुरुषको क्रोधादिके आवेशसे भी असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए। तथा वह सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए जो किसी प्राणीका घात करनेवाला हो यह सत्याणुव्रत है ॥२६॥ ग्राममें अथवा चतुष्पथ (चौराहा) आदिमे विस्मृत, पतित अथवा रखा हुआ सुवर्णादि पर द्रव्य चोरीके त्यागी पुरुषको ग्रहण नहीं करना चाहिए। यह अचौर्याणुव्रत है ॥२७॥ जो अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वके दिन स्त्री-सेवा और उसके संग रमणका परित्याग करता है, उसे जिनेश्वरोंने अपने प्रवचनमें स्थूल ब्रह्मचारी कहा है। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥२८॥ जो धन, धान्य और सुवर्णादि द्रव्योंका प्रमाण किया जाता है और उससे अधिक द्रव्यमें निवृत्ति भाव रखा जाता है, वह अपरिग्रह या परिग्रह परिमाणाणुव्रत है ॥२९॥ भोजन करते समय रक्त, मांस, मदिरा, गीला चमड़ा और उसमें रखे पदार्थके देखनेपर भोजनका परित्याग कर देना चाहिये। त्यागी हुई वस्तुके सेवन करनेपर और बहुत प्राणियोंसे मिश्रित अन्नके सेवन करनेपर भोजनका त्याग कर देवे। ऐसे अन्तरायके आनेपर दूसरी थालीमें परोसा गया भोजन भी नहीं करना चाहिये। उत्तरोत्तर बढ़नेवाली गृद्धिताके नाश करनेके लिये तथा तपकी वृद्धिके लिये उक्त अतीचारोंका पालन करना चाहिये ॥३०-३१॥ गुणव्रत तीन प्रकारके हैं--दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत। जीवन-पर्यन्तके लिये दशों दिशाओंमें जाने आनेकी मर्यादाका जो प्रमाण किया जाता है, वह दिग्विरति गुणव्रत है ॥३२॥ जिस देशमें व्रतके भंग होनेकी सम्भावना हो, उस देशमें प्रयत्नके साथ जो गमनकी निवृत्ति की जाती है, वह देशविरति गुणव्रत माना गया है ॥३३॥ कूट मान-तुलाका व्यवहार करना, पाश आदि शस्त्रोंका और विष आदि जहरीले पदार्थोंको बेचना तथा क्रूर हिंसक पशुओंको पालना

भोगस्य चोपभोगस्य संख्यानं पात्रसत्क्रिया । सल्लेखणेति शिक्षाख्यं व्रतमुक्तं चतुर्विधम् ॥३५
यः सकृद् भुज्यते भोगस्ताम्बूलकुसुमादिकम् । तस्य या क्रियते संख्या भोगसंख्यानमुच्यते ॥३६
उपभोगो मुहुर्भोग्यो वस्त्रस्त्र्याभरणादिकः । या यथाशक्तितः संख्या सोपभोगप्रमोच्यते ॥३७
स्वस्य पुण्यार्थमन्यस्य रत्नत्रयसमृद्धये । यद्दीयतेऽत्र तद्दानं तत्र पञ्चाधिकारकम् ॥३८
पात्रं दाता दानविधिर्देयं दानफलं तथा । अधिकारा भवन्त्येते दाने पञ्च यथाक्रमम् ॥३९
पात्रं त्रिधोत्तमं चैतन्मध्यमं च जघन्यकम् । सर्वसंयमसंयुक्तः साधुः स्यात्पात्रमुत्तमम् ॥४०
एकादशप्रकारोऽसौ गृही पात्रमनुत्तमम् । विरत्या रहितं सम्यग्दृष्टिपात्रं जघन्यकम् ॥४१
तपःशीलव्रतैर्युक्तः कुदृष्टिः स्यात्कुपात्रकम् । अपात्रं व्रतसम्यक्त्वतपःशीलविवर्जितम् ॥४२
श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं तुष्टिः शक्तिरलुब्धता । क्षमा च यत्र सप्तैते गुणा दाता प्रशस्यते ॥४३
स्थापनोच्चासनपाद्यपूजाप्रणमनैस्तथा । मनोवाक्कायशुद्धयाऽन्नशुद्धो दानविधिः स्मृतः ॥४४
आहाराभयभैषज्यशास्त्रैर्देयं चतुर्विधम् । खाद्यपेयाशनस्वाद्यैराहारः स्याच्चतुर्विधः ॥४५
आहाराद् भोगवान् वीरोऽभयदानाच्च भेषजात् । नीरोगी शास्त्रदानाच्च भवेत्केवलबोधवान् ॥४६
यथोप्तमुत्तमे क्षेत्रे फलेद्बीजमनेकधा । तथा सत्पात्रनिक्षिप्तं फलेद्दानमनेकधा ॥४७

इस प्रकारके अनर्थ करनेवाले कार्योंका त्याग करना सो अनर्थ दण्ड-विरतिनामका तीसरा गुणव्रत है ॥३४॥ भोग संख्यान, उपभोगसंख्यान, पात्र-सत्कार और सल्लेखना नामक चार प्रकारका शिक्षाव्रत कहा गया है ॥३५॥ जो ताम्बूल, पुष्प आदि पदार्थ एक बार भोगे जाते हैं, वे भोग कहलाते हैं, उनके सेवनकी संख्याका नियम लेना भोगसंख्यान शिक्षाव्रत कहा जाता है ॥३६॥ जो वस्त्र, स्त्री और आभूषण आदिक पदार्थ बार-बार भोगे जाते हैं, वे उपभोग कहलाते हैं। उनकी यथाशक्ति संख्याका प्रमाण करनेको उपभोगसंख्यान शिक्षाव्रत कहते हैं ॥३७॥ अपने पुण्यके लिये और अन्य पात्रके रत्नत्रयकी वृद्धिके लिये जो दिया जाता है, वह दान कहलाता है। इस दानमें पाँच अधिकार जाननेके योग्य हैं ॥३८॥ पात्र, दाता, दानविधि, देय और दानका फल ये यथाक्रमसे दानमें पाँच अधिकार होते हैं ॥३९॥ अब इनमेंसे पहले पात्रका वर्णन करते हैं—दान देनेके योग्य पुरुषको पात्र कहते हैं। वह पात्र तीन प्रकारका होता है—उत्तम, मध्यम और जघन्य। सम्पूर्ण संयमसे युक्त साधु उत्तम पात्र है ॥४०॥ ग्यारह प्रकारकी प्रतिमाओंका धारक गृहस्थ श्रावक अनुत्तम (मध्यम) पात्र है। और विरतिसे रहित अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पात्र है ॥४१॥ तप, शील और व्रतसे युक्त मिथ्यादृष्टि पुरुष कुपात्र है और व्रत, सम्यक्त्व, तप एवं शीलसे रहित पुरुष अपात्र है ॥४२॥ अब दाताका स्वरूप कहते हैं—श्रद्धा, भक्ति, विज्ञान, सन्तोष, शक्ति, अलुब्धता और क्षमा ये सात गुण जिस पुरुषमें होते हैं, वह दाता प्रशंसनीय कहा गया है ॥४३॥ अब दानकी विधि कहते हैं—पात्रको पडिगाहना, ऊँचे स्थानपर बैठाना, पाद धोना, पूजा करना, प्रणाम करना, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि और काय शुद्धिके साथ अन्नका शुद्ध होना यह दानकी विधि मानी गई है ॥४४॥ अब दान देनेके योग्य देय वस्तुका कथन करते हैं—देय पदार्थ चार प्रकारका है—आहार, अभय, भैषज्य और शास्त्र। इनमेंसे आहार खाद्य, पेय, अशन और स्वाद्यके भेदसे चार प्रकारका है ॥४५॥

अब दानका फल कहते हैं—आहारदानसे मनुष्य भोगवान् होता है, अभयदानसे वीर होता है, भैषज्यदानसे नीरोग होता है और शास्त्रदानसे केवलज्ञान वाला होता है ॥४६॥ जिस प्रकार उत्तम क्षेत्रमें बोया गया बीज भारी फलता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रमें दिया गया दान

यथोप्तमूषरे क्षेत्रे फलेद्बीजं न किञ्चन। कुपात्रापात्रनिक्षिप्तं तद्दानं न किञ्चन ॥४८
कारुण्यादथवौचित्यादन्येभ्योऽपि स्वशक्तितः। वृद्धदीनातिकष्टेभ्यो दानं देयं कृपालुना ॥४९
रोगोपसर्गे दुर्भिक्षे वार्धक्ये वाऽप्रतिक्रिये। धर्मार्थं यस्तनोस्त्यागः सोक्ता सल्लेखना बुधैः ॥५०
त्यक्त्वा परिग्रहं स्नेहं वैरं सङ्गं प्रयत्नतः। वात्सल्यैर्वचनैः क्षान्त्वा क्षमयेत्स्व-परं जनम् ॥५१
दोषानालोच्य निर्व्याजं मनोवाक्कायसञ्चितान्। सोत्साहश्च श्रुतश्रुत्या भावयेच्च स्वमञ्जसा ॥५२
आहारं स्निग्धपानं च खरपानं यथाक्रमम्। त्यक्त्वोपवासमाश्रित्य ध्यायन्नर्हं त्यजेत्तनुम् ॥५३
व्रतानि द्वादशैतानि व्यतीचाराणि पालयन्। भवेत्स्वर्मोक्षलक्ष्मीनामेकान्तेन समाश्रयः ॥५४
देवदेवोपदेशः स्यात्समयोऽत्र समुद्भवम्। नियुक्तं वापि यत्कर्म तत्सामायिकमुच्यते ॥५५

वैयग्र्यं त्रिविधं त्यक्त्वा त्यक्त्वाऽऽरम्भपरिग्रहम्।
स्नानादिना विशुद्धोऽङ्गशुद्धया सामायिकं भजेत् ॥५६

गेहे जिनालयेऽन्यत्र प्रदेशे वाऽनघे शुचौ। उपविष्टः स्थितो वापि योग्यकालसमाश्रितम् ॥५७
द्विनतिर्द्वादशावर्तांश्चतुःशीर्षनतान्वितः। भक्तिद्वयं चतुष्कं वा समुच्चार्य निराकुलः ॥५८
कायोत्सर्गस्थितो भूत्वा ध्यायेत्पञ्चपदीं हृदि। गुरून् पञ्चाथवा सिद्धस्वरूपं चिन्तयेत्सुधीः ॥५९

अनेक प्रकारके महान् फलोंको फलता है ॥४७॥ जिस प्रकार ऊपर क्षेत्रमें बोया गया बीज कुछ भी नहीं फलता है, उसी प्रकार कुपात्र और अपात्रमें दिया गया दान कुछ भी नही फलता है ॥४८॥ करुणा भावसे, अथवा औचित्य देखकर दयालु पुरुषको अपनी शक्तिके अनुसार वृद्ध, दीन और कष्टमें पड़े हुए अन्य जीवोंको भी दान देना चाहिए ॥४९॥ अब सल्लेखना नामक चौथे शिक्षा व्रतका वर्णन करते हैं—निष्प्रतीकार रोग आनेपर, उपसर्ग आनेपर, दुर्भिक्ष पड़ने पर, और बुढ़ापा आनेपर अपने धर्मकी रक्षाके लिए जो शरीरका त्याग किया जाता है, उसे ज्ञानियोंने सल्लेखना कहा है ॥५०॥ सल्लेखनाके समय बाह्य परिग्रह, स्नेह, वैर और अन्तरंग संगको प्रयत्नसे छोड़कर वात्सल्ययुक्त वचनोंसे औरोंको क्षमा कर अपने कुटुम्बी तथा अन्य जनोंसे क्षमा मांगे ॥५१॥ पुनः इस जीवनमें मन, वचन और कायसे संचित दोषोंकी निश्छल भावसे आलोचना करके और उत्साह-युक्त होकर शास्त्रका श्रवण करते हुए अपने आत्माकी भलीभांति भावना करे ॥५२॥ पुनः यथा क्रमसे आहार, स्निग्धपान और खरपानका त्याग कर और उपवासका आश्रय लेकर 'अर्हन्' का ध्यान करता हुआ शरीरका परित्याग करे ॥५३॥ इस प्रकार इन उपर्युक्त बारह व्रतोंको अतीचार रहित पालन करता हुआ श्रावक नियमसे स्वर्ग लक्ष्मीका और मोक्ष लक्ष्मीका आश्रय बनता है ॥५४॥ अब तीसरी सामायिक प्रतिमाका वर्णन करते हैं—देवोंके देव जिनेन्द्रदेवके उपदेशको समय कहते हैं। उसमें पैदा होनेवाला अथवा नियुक्त जो कार्य है, वह सामायिक कहा जाता है ॥५५॥ तीनों योगोंकी व्यग्रताको छोड़कर तथा आरम्भ-परिग्रहको छोड़कर और स्नानादि अंग शुद्धिसे विशुद्ध होकर सामायिक करना चाहिए ॥५६॥ घरमें, जिनालयमें, अथवा अन्य किसी निर्दोष पवित्र स्थान पर बैठकर अथवा खड़े होकर प्रातः सन्ध्या आदि योग्य कालका आश्रय लेकर, दो नमस्कार, बारह आवर्त्त, चार शिरोनमनके साथ, (चैत्यभक्ति और पञ्चपरमेष्ठी भक्ति) दो भक्तियोंको, अथवा (इन दोनों भक्तियोंके साथ सिद्धभक्ति और शान्तिभक्ति मिलाकर) चार भक्तियोंका भक्ति पूर्वक उच्चारण कर निराकुल हो कायोत्सर्गसे अवस्थित होकर हृदयमें पञ्च नमस्कार पदको, अथवा पञ्च गुरुओंको अथवा सिद्धके स्वरूपको वह बुद्धिमान श्रावक चिन्तवन

सामायिकं भजन्नेवं नित्यं सामायिकोऽङ्गसा । नरोरगसुराधीशैर्भवेद् वन्द्यः पदद्वयम् ॥६०
मासे चत्वारि पर्वाणि प्रोषधाख्यानि तानि च । यत्तत्रोपोषणं प्रोषधोपवासस्तदुच्यते ॥६१
उत्तमो मध्यमश्चैव जघन्यश्चेति स त्रिधा । यथाशक्तिर्विधातव्यो कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥६२
सप्तम्यां च त्रयोदश्यां जिनार्चां पात्रसत्क्रियाम् । विधाय विधिवच्चैकभुक्तं शुद्धवपुस्ततः ॥६३
गुर्वादिसन्निधिं गत्वा चतुराहारवर्जनम् । स्वीकृत्य निखिलां रात्रिं नयेत्सत्कथानकैः ॥६४
प्रातः पुनः शुचीभूय निर्माप्याऽऽप्तादिपूजनम् । सोत्साहस्तवहोरात्रं सद्-ध्यानाध्ययनैर्नयेत् ॥६५
तत्पारणाह्नि निर्माप्य जिनार्चां पात्रसत्क्रियाम् । स्वयं वा चैकभक्तं यः कुर्यात्तस्योत्तमो हि सः ॥६६
मध्यमोऽपि भवेदेवं स त्रिधाऽऽहारवर्जनम् । जलं मुक्त्वा जघन्यस्त्वेकभक्तादिरनेकधा ॥६७
स्नानमुद्वर्तनं गन्धं माल्यं चैव विलेपनम् । यच्चान्यद्रागहेतुः स्याद्वर्ज्यं तत्प्रोषधोऽखिलम् ॥६८
प्रोषधाद्युपवासं यः कुर्वीत विधिना पुनः । स भवेत्परमस्थानं पञ्चकल्याणसम्पदाम् ॥६९
मूलं फलं च शाकादि पुष्पं बीजं करीरकम् । अप्रासुकं त्यजेन्नीरं सचित्तविरतो गृही ॥७०
स दिवाब्रह्मचारी यो दिवास्त्रीसङ्गमं त्यजेत् । स सदा ब्रह्मचारी यः स्त्रीसङ्गं नवधा त्यजेत् ॥७१
स स्यादारम्भविरतो विरमेद्योऽखिलादपि । पापहेतोः सदाऽऽरम्भात्सेवाकृष्यादिकान्मुदा ॥७२

करे । इस प्रकार जो नित्य नियमसे सामायिकको करता है, वह सामायिकप्रतिमाधारी श्रावक है। उसके दोनों चरण नरेश, नागेश और सुराधीशोंसे वन्दनीय होते हैं ॥५७–६०॥ चौथी प्रोषध-प्रतिमाका वर्णन करते हैं—एक मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ये चार पर्व होते हैं, जिन्हें प्रोषध कहा जाता है। इस प्रोषध पर्वके दिन जो उपवास किया जाता है, वह प्रोषधोपवास कहा जाता है ॥६१॥ यह प्रोषधोपवास तीन प्रकारका होता है—उत्तम, मध्यम और जघन्य। कर्मोंके निर्मूल नाश करनेमें समर्थ यह प्रोषधोपवास यथाशक्ति करना चाहिए ॥६२॥ उसको विधि इस प्रकार है—सप्तमी और त्रयोदशीके दिन जिन-पूजन करके और पात्र-दान देकर पुन स्वयं विधि पूर्वक एकाशन करके शुद्ध शरीर होकर; गुरु आदिके समीप जाकर, और चारों प्रकारके आहारका त्याग करके उपवासको स्वीकार सम्पूर्ण रात्रिको उत्तम कथानक कहते-सुनते हुए बितावे ॥६३–६४॥ पुनः प्रातःकाल पवित्र होकर देव-शास्त्र आदिका पूजन करके उत्साहके साथ उत्तम ध्यान और अध्ययन करते हुए उस दिन और रात्रिको बितावे ॥६५॥ पुनः पारणाके दिन प्रातःकाल जिन-पूजन करके और पात्रको सत्कारपूर्वक आहार दान देकर जो स्वयं एकाशन करता है, उसके यह उत्तम प्रोषधोपवास जानना चाहिए ॥६६॥ मध्यम प्रोषधोपवास भी इसी प्रकारका होता है, केवल उसमें पर्वके दिन जलको छोड़कर शेष तीन प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है। जघन्य प्रोषधोपवास पर्वके दिन एकाशन, नीरस भोजन आदिके रूपमें अनेक प्रकारका है। शेष पूर्व विधि पूर्वोक्त करता है ॥६७॥ प्रोषधोपवासके दिन स्नान, उबटन, गन्ध, माल्य-धारण, विलेपन तथा अन्य जितने भी रागके हेतु हैं, उन सबका त्याग करना चाहिए ॥६८॥ इस प्रकार जो विधिसे प्रोषधोपवासको करता है, वह पञ्च कल्याणकोंकी सम्पदाका परम स्थान प्राप्त करता है ॥६९॥ पाँचवीं सचित्त त्याग प्रतिमाका स्वरूप—जो अप्रासुक (सचित्त) मूल, फल, शाक, आदि तथा पुष्प, बीज, कैर आदिको और अप्रासुक जलको ग्रहण करनेका त्याग करता है, वह सचित्त विरत श्रावक है ॥७०॥ जो दिनमें स्त्री संगका त्याग करता है, वह छठी प्रतिमाका धारक दिवा ब्रह्म-चारी श्रावक है। जो स्त्रीका संगम नव कोटिसे त्याग करता है वह सदा ब्रह्मचारी पुरुष सातवीं प्रतिमाका धारक है ॥७१॥ जो पापके कारणभूत सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि सर्व प्रकारके आरम्भ

निर्मूच्छँ वस्त्रमात्रं यः स्वीकृत्य निखिलं त्यजेत् । बाह्यं परिग्रहं स स्याद्विरक्तस्तु परिग्रहात् ॥७३
पृष्टोऽपृष्टोऽपि नो दत्तेऽनुमतिं पापहेतुके । ऐहिकाखिलकार्ये योऽनुमतिविरतोऽस्तु सः ॥७४
गेहादिव्याश्रमं त्यक्त्वा गुर्वन्ते व्रतमाश्रितः । भैक्ष्याशीयस्तपस्तप्येदुद्दिष्टविरतो हि सः ॥७५
उद्दिष्टविरतो द्वेधा स्यादाद्यो वस्त्रखण्डभाक् । स मूर्ध्वजानां वपनं कर्त्तनं चैव कारयेत् ॥७६
गच्छेन्नाकारितो भोक्तुं कुर्याद्भैक्ष्यं यथाशनम् । पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेद्भुक्तिं निविष्टवान् ॥७७
भुक्त्वा प्रक्षाल्य पात्रं च गत्वा गुरुसन्निधिम् । चतुर्धान्नपरित्यागं कृत्वाऽऽलोचनमाश्रयेत् ॥७८
द्वितीयोऽपि भवेदेवं स तु कौपीनमात्रवान् । कुर्याल्लोचं धरेत्पिच्छं पाणिपात्रेऽशनं भजेत् ॥७९
वीरचर्याविनच्छाया सिद्धान्तैतिह्यसंश्रुतौ । त्रैकालिके च योगेऽस्य विद्यते नाधिकारिता ॥८०
पूर्वं पूर्वं व्रतं रक्षन्नुत्तरोत्तरमाश्रयेत् । य एवं स भवेदेव देववन्द्यपदद्वयः ॥८१
विनयः स्याद्वैयावृत्यं कायक्लेशस्तथार्चना । कर्तव्या देशविरतैर्यथाशक्तिर्यथागमम् ॥८२
दर्शनज्ञानचारित्रैस्तपसाऽप्युपचारतः । विनयः पञ्चधा सः स्यात्समस्तगुणभूषणः ॥८३
निःशङ्कितादयोऽपूर्वा ये गुणा वर्णिता मया । यत्तेषां पालनं स स्याद्विनयो दर्शनात्मकः ॥८४
ज्ञान-ज्ञानोपकरण-ज्ञानवत्सु सुभक्तितः । यत्पर्युपासनं शश्वत्स ज्ञानविनयो भवेत् ॥८५

से सदाके लिये सहर्ष विराम लेता है, वह आठवीं प्रतिमाका धारक आरम्भ विरत श्रावक है ॥७२॥ जो एकमात्र वस्त्रको रखकर शेष सर्व प्रकारके बाह्य परिग्रहका त्याग करता है, वह नवीं प्रतिमाका धारक परिग्रह विरत श्रावक है ॥७३॥ जो घरमें रहते हुए भी पापके कारण-भूत इस लोक-सम्बन्धी समस्त कार्योंमें पूछनेपर, या नहीं पूछनेपर भी अनुमतिको नहीं देता है, वह दशवीं प्रतिमाका धारक अनुमतिविरत श्रावक है ॥७४॥ अब ग्यारहवीं उद्दिष्टविरत प्रतिमाका वर्णन करते हैं—घर आदिके निवासको छोड़कर और गुरुके समीप जाकर व्रतोंको लेकर जो भिक्षावृत्तिसे भोजन करता हुआ तपको तपता है, वह उद्दिष्टविरत श्रावक है ॥७५॥ यह उद्दिष्ट-विरत श्रावक दो प्रकारका होता है, उनमें जो प्रथम उद्दिष्टविरत है, वह खण्डवस्त्र रखता है, तथा अपने शिर-दाढ़ीके केशोंका मुण्डन या कर्तन कराता है ॥७६॥ वह भोजनके लिये बुलाया हुआ नहीं जाता है किन्तु भोजनके समय गोचरीके लिये स्वयं ही परिभ्रमण करता है और यथा-योग्य भिक्षा प्राप्त होनेपर बैठकर पाणिपात्रमें अथवा अन्य पात्रमें भोजन करता है ॥७७॥ भोजन करके पात्रका प्रक्षालन कर और गुरुके समीप जाकर, चार प्रकारके आहारका त्याग कर अपनी आलोचना करता है ॥७८॥ द्वितीय उद्दिष्टविरत भी इसी प्रकारका होता है, किन्तु वह लंगोटी मात्र रखता है, केशोंका लुंचन करता है, पीछीको धारण करता है और पाणिपात्रमें भोजन करता है ॥७९॥ ग्यारहवीं प्रतिमाधारीको वीरचर्या, दिनका आतापनयोग, सिद्धान्त रहस्य (प्राय-श्चित्त शास्त्र) का अध्ययन और त्रैकालिक योग धारण करनेका अधिकार नहीं है ॥८०॥ इस प्रकार जो पूर्व प्रतिमाके व्रतोंकी रक्षा करते हुए उत्तरोत्तर व्रतका आश्रय लेता है, वह देवोंके द्वारा वन्दनीय चरण युगलवाला होता है ॥८१॥

देशसंयमके धारक श्रावकोंको यथाशक्ति आगमके अनुसार विनय, वैयावृत्त्य, कायक्लेश और पूजन करना चाहिए ॥८२॥ अब प्रथम विनयका वर्णन करते हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचारकी अपेक्षा विनय पाँच प्रकारका है। यह विनयगुण समस्त गुणोंका आभूषण है ॥८३॥ सम्यग्दर्शनके निःशंकित आदि जो अपूर्व गुण मैंने पहले वर्णन किये हैं, उनका पालन करना सो दर्शन विनय है ॥८४॥ ज्ञानकी, ज्ञान-प्राप्तिके उपकरणोंकी और ज्ञानवानोंकी उत्तम

पञ्चप्रकारचारित्रधारकाणां मुनीशिनाम् । सन्माननं भवेद्यस्तु चारित्रविनयो हि सः ॥८६
विहाय कल्पनां बालो वृद्धो वेति तपस्विनाम् । यत्स्यादुपासनं शश्वत्तपसो विनयो हि सः ॥८७
मनोवाक्कायभेदेनोपचारविनयस्त्रिधा । प्रत्यक्षेतरभेदेन सोऽपि स्याद् द्विविधः पुनः ॥८८
दुर्ध्यानात्समाकृष्य शुभध्यानेन धार्यते । मानसं त्वनिशं प्रोक्तो मानसो विनयो हि सः ॥८९
वचनं हितं मितं पूज्यमनुवीचिवचोऽपि च । यद्यतिमनुवर्तेत वाचिको विनयोऽस्तु सः ॥९०
गुरुस्तुतिः क्रियायुक्ता नमनोच्चासनार्पणम् । सम्मुखे गमनं चैव तथैवानुव्रजक्रिया ॥९१
अङ्गसंवाहनं योग्यप्रतीकारादिनिर्मितिः । विधीयते यतीनां यत्कायिको विनयो हि सः ॥९२
प्रत्यक्षोऽप्ययमेतस्य परोक्षस्तु विनापि वा । गुरूंस्तदाज्ञयैव स्यात्प्रवृत्तिः धर्मकर्मसु ॥९३
शशाङ्कनिर्मला कीर्तिः सौभाग्यं भाग्यमेव च । आदेयवचनत्वं च भवेद्विनयतः सताम् ॥९४
विनयेन समं किञ्चिन्नास्ति मित्रं जगत्त्रये । यस्मात्तेनैव विद्यानां रहस्यमुपलभ्यते ॥९५
विद्वेषिणोऽपि मित्रत्वं प्रयान्ति विनयाद्यतः । तस्मात्त्रेधा विधातव्यो विनयो देशसंयतैः ॥९६
बालवार्धक्यरोगादिक्लिष्टे सङ्घे चतुर्विधे । वैयावृत्यं यथाशक्ति विधेयं देशसंयतैः ॥९७
वपुस्तपो बलं शीलं गतिबुद्धिसमाधयः । निर्भयं नियमादि स्याद्वैयावृत्यकृतार्पणम् ॥९८
वैयावृत्यकृतः किञ्चिद् दुर्लभं न जगत्त्रये । विद्या कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः धीः सौभाग्यगुणेष्वपि ॥९९

भक्तिके साथ जो निरन्तर उपासना की जाती है, वह ज्ञानविनय है ॥८५॥ पाँच प्रकारके चारित्र-धारक मुनीश्वरोंका जो सन्मान किया जाता है, वह चारित्रविनय है ॥८६॥ यह बालक है, अथवा वृद्ध है, इस प्रकारकी कल्पनाको दूर कर तपस्वियोंकी जो सदा उपासना की जाती है, वह तप विनय है ॥८७॥ उपचार विनय मन वचन कायके भेदसे तीन प्रकारका है। और यह तीनों ही प्रकारका उपचार विनय प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है ॥८८॥ मनको दुर्ध्यानसे खींचकर शुभध्यानमें निरन्तर लगाया जाता है वह मानस विनय कहा गया है ॥८९॥ हित, मित, पूज्य और आगमके अनुकूल प्रियवचन बोलना, और यतिजनोंके स्तुतिरूप अनुकूल वचन प्रवृत्ति करना सो वाचिकविनय है ॥९०॥ गुरुजनोंकी स्तवन-क्रियामें उद्यत होना, उन्हें नमस्कार करना, उच्च आसन देना, उनको आते हुए देखकर सन्मुख जाना, उनके पीछे चलना, उनके अंगोंका दाबना, तथा इसी प्रकारके मुनिजनोंके योग्य प्रतीकार आदि करना सो यह कायिक विनय है ॥९१-९२॥ गुरुजनोंके सम्मुख उक्त तीनों प्रकारका विनय करना प्रत्यक्ष विनय है। गुरुजनोंके विना भी परोक्षमें मन वचन कायसे विनय करना और उनकी आज्ञाके अनुसार ही धर्मकार्योंमें प्रवृत्ति करना सो परोक्षविनय है ॥९३॥ विनयसे सज्जनोंको चन्द्रतुल्य निर्मल कीर्त्ति, सौभाग्य, भाग्यवानपना और आदेयवचनता प्राप्त होती है ॥९४॥ तीन जगत्में विनयके समान कोई अन्य मित्र नहीं है और इसी विनयके द्वारा गुरुजनोंसे विद्याओंका रहस्य प्राप्त होता है ॥९५॥ इस विनयसे शत्रु भी मित्रताको प्राप्त होते हैं, इसलिए देशसंयमी श्रावकोंको मन वचन कायसे विनय धारण करना चाहिए ॥९६॥ अब वैयावृत्त्यका वर्णन करते हैं—चार प्रकारके संघमें बालक वृद्ध आदिके रोगादिसे क्लेशको प्राप्त होनेपर देशसंयमी श्रावकोंको यथाशक्ति वैयावृत्य करना चाहिए ॥९७॥ जो रोगादिसे ग्रस्त साधु आदिकी वैयावृत्त्य करता है, वह उसे शरीर, तप, बल, शील, गति, बुद्धि, समाधि, निर्भयता और नियमादि सभी कुछ समर्पण करता है ॥९८॥ वैयावृत्य करने-वाले पुरुषके लिए तीन लोकमें किसी भी वस्तुका पाना दुर्लभ नहीं है। वैयावृत्य करनेवाले पुरुषको सौभाग्य गुणोंके साथ विद्या, कीर्त्ति, यश, लक्ष्मी और बुद्धि प्राप्त होती है। इसलिए श्रावकको

आचाम्लं निर्विकृत्यैकभक्तषष्ठाष्टमादिकम् । यथाशक्तिश्च क्रियते कायक्लेशः स उच्यते ॥१००
कायक्लेशाद्भवत्येव जीवः शुद्धतमोऽञ्जसा । कालिकाकिट्टसन्मिश्रं स्वर्णं वा वह्निसङ्गमात् ॥१०१
कृत्वा कर्मक्षयं प्राप्य पूजामिन्द्रादिनिर्मिताम् । अनन्तज्ञानदृग्वीर्यसुखं मोक्षं प्रयात्यसौ ॥१०२
गुरूणामपि पञ्चानां या यथाभक्ति-शक्तितः । क्रियतेऽनेकधा पूजा सोऽर्चनाविधिरुच्यते ॥१०३
स नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालाच्च भावतः । षोढार्चाविधिरुद्दिष्टो विधेयो देशसंयतैः ॥१०४
नामोच्चारोऽर्हदादीनां प्रदेशे परितः शुचौ । यः पुष्पाक्षतनिक्षेपः क्रियते नामपूजनम् ॥१०५
सद्भावेतरभेदेन स्थापना द्विविधा मता । सद्भावस्थापना भावे साकारे गुणरोपणम् ॥१०६
उत्पलादौ निराकारे शुचौ सङ्कल्पपूर्वकम् । स्थापनं यदसद्भावः स्थापनेति तदुच्यते ॥१०७
हुण्डावसर्पिणीकाले द्वितीया स्थापना बुधैः । न कर्तव्या यतो लोके समूढे संशयो भवेत् ॥१०८
निर्मापकेन्द्रप्रतिमाप्रतिष्ठा लक्ष्म तत्फलम् । अधिकाराश्च पञ्चैते सद्भावस्थापने स्मृताः ॥१०९
लक्ष्म निर्मापकादीनां प्रतिष्ठाशास्त्रतोऽखिलम् । ज्ञातव्यं तत्फलं किञ्चित्तदग्रे कथयिष्यति ॥११०
जलगन्धादिकैर्द्रव्यैः पूजनं द्रव्यपूजनम् । द्रव्यस्याप्यथवा पूजा सा तु द्रव्यार्चना मता ॥१११

सदा वैयावृत्य करना चाहिए ॥९९॥ अब कायक्लेशका वर्णन करते हैं—जो श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार आचाम्ल, निर्विकृति, एकाशन और वेला, तेला आदि उपवासको करता है, वह कायक्लेश कहा जाता है ॥१००॥ (घी आदिके छौंकसे रहित इमली आदिके पानीके साथ भात आदि खानेको आचाम्ल कहते हैं और सर्व प्रकारके रसोंसे रहित नीरस भोजन करनेको निर्विकृति भोजन कहते हैं।) कायक्लेश करनेसे जीव नियमसे अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। जैसे कि अग्निके संगमसे कालिका-कीटसे मिला हुआ सुवर्ण बिलकुल शुद्ध हो जाता है ॥१०१॥ कायक्लेश करनेवाला पुरुष कर्मोंका क्षय करके और इन्द्रादिके द्वारा की जानेवाली पूजाको प्राप्त करके अनन्तज्ञान दर्शन वीर्य और सुखवाले मोक्षको जाता है (इसलिए श्रावकको यथाशक्ति कायक्लेश तप करते रहना चाहिए) ॥१०२॥ अब पूजाका वर्णन करते हैं—पाँचों ही परम गुरुओंकी जो अपनी भक्ति और शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारसे पूजन-अर्चन किया जाता है, वह अर्चनाविधि कहलाती है ॥१०३॥ आचार्योंने वह अर्चनाविधि नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे छह प्रकारकी कही है, उसे देशसंयत श्रावकोंको करना चाहिए ॥१०४॥ सर्व ओरसे पवित्र स्थानपर अरहन्त आदि परमेष्ठियोंका नाम उच्चारण करते हुए जो पुष्प अक्षत आदिका क्षेपण किया जाता है, वह नाम-पूजन है ॥१०५॥ सद्भाव (तदाकार) असद्भाव (अतदाकार) के भेदसे स्थापना दो प्रकारकी मानी गई है। आकारवाले पदार्थमें पूज्य पुरुषके गुणोंका आरोपण करना सद्भावस्थापना है ॥१०६॥ निराकार पवित्र कमल आदिमें संकल्पपूर्वक जो पूज्य पुरुषकी स्थापना की जाती है, वह असद्भाव स्थापना कहलाती है ॥१०७॥ इस हुण्डासर्पिणीकालमें ज्ञानियोंको यह दूसरी अद्भावस्थापना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इसके करनेसे मूढ़ लोगोंमें संशय हो सकता है। अर्थात् अज्ञानीजन यह समझेंगे कि ये कमल पुष्पादि ही पूजनेके योग्य हैं, और फिर इस भ्रमसे मिथ्यात्वका प्रचार बढ़ेगा ॥१०८॥

सद्भावस्थापनामें निर्मापक, इन्द्र, प्रतिमा और प्रतिमाका लक्षण तथा प्रतिष्ठाका फल ये पाँच अधिकार माने गये हैं ॥१०९॥ निर्मापक आदिके लक्षण और अन्य समस्त ज्ञातव्य बातें प्रतिष्ठाशास्त्रसे जाननी चाहिए। प्रतिष्ठाका कुछ फल आगे कहा जायगा ॥११०॥ जल-गन्धादिक

चेतनं वाऽचेतनं वा मिश्रद्रव्यमिति त्रिधा । साक्षाज्जिनादयो द्रव्यं चेतनाख्यं तदुच्यते ॥११२
तद्वपुर्द्रव्यं शास्त्रं वाऽचित्तं मिश्रं तु तद्द्वयम् । तस्य पूजनतो द्रव्यपूजनं च त्रिधा मतम् ॥११३
जन्मनिःक्रमणज्ञानोत्पत्तिक्षेत्रे जिनेशिनाम् । निषिध्यास्वपि कर्तव्या क्षेत्रे पूजा यथाविधि ॥११४
कल्याणपञ्चकोत्पत्तिर्यस्मिन्नह्नि जिनेशिनाम् । तदह्नि स्थापना पूजाऽवश्यं कार्या सुभक्तितः ११५
पर्वण्यष्टाह्निकेऽन्यस्मिन्नपि भक्त्या स्वशक्तितः । महामहविधानं यत्तत्कालार्चनमुच्यते ॥११६
स्मृत्वाऽनन्तगुणोपेतं जिनं सन्ध्यात्रयेऽर्चयेत् । वन्दना क्रियते भक्त्या तद्भावार्चनमुच्यते ॥११७
जाप्यः पञ्चपदानां वा स्तवनं वा जिनेशिनः । क्रियते यद्यथाशक्तिस्तद्वा भावार्चनं मतम् ॥११८
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् । यद्-ध्यानं ध्यायते यद्वा भावपूजेति सम्मतम् ॥११९
शुद्धस्फटिकसङ्काशं प्रातिहार्याष्टकान्वितम् । यद् ध्यायतेऽर्हतो रूपं तद्ध्यानं पिण्डसंज्ञकम् ॥१२०
अधोभागमधोलोकं मध्यांशं मध्यमं जगत् । नाभिं प्रकल्पयेन्मेरुं स्वर्गाणां स्कन्धमूर्ध्वतः ॥१२१
ग्रैवेयका स्वग्रीवायां हन्वामनुदिशानपि । विजयाद्यान्मुखं पञ्च सिद्धस्थानं ललाटके ॥१२२
मूर्ध्नि लोकाग्रमित्येवं लोकत्रितयसन्निभम् । चिन्तनं यत्स्वदेहस्थं पिण्डस्थं तदपि स्मृतम् ॥१२३
एकाक्षरादिकं मन्त्रमुच्चार्य परमेष्ठिनाम् । क्रमस्य चिन्तनं यत्तत्पदस्थध्यानसंज्ञकम् ॥१२४
अकारपूर्वकं शून्यं रेफानुस्वारपूर्वकम् । पापान्धकारनिर्नाशं ध्यातव्यं तु सितप्रभम् ॥१२५

द्रव्योंसे पूजन करनेको द्रव्यपूजा कहते हैं। अथवा पंचपरमेष्ठीके शरीरादिरूप द्रव्यकी जो पूजा की जाती है; वह भी द्रव्यपूजा मानी गयी है ॥१११॥ पूज्य द्रव्य तीन प्रकारका है—चेतन, अचेतन और मिश्रद्रव्य। साक्षात् तीर्थंकर जिनेन्द्र आदिक चेतन द्रव्य कहे जाते हैं ॥११२॥ तीर्थंकरादिका शरीर और शास्त्र अचित्तद्रव्य हैं। चेतन और अचेतन इन दोनोंसे युक्त समवशरणमें विराजमान तीर्थंकरादिक मिश्रद्रव्य हैं ॥११३॥ इन तीनों प्रकारके द्रव्योंका पूजन करना द्रव्यपूजा है। तीर्थंकरोंके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञान उत्पन्न होनेके क्षेत्र और उनके शरीर-त्यागके स्थान निषिध्याओंमें—इन क्षेत्रोंमें यथाविधि पूजा करना चाहिए। यह क्षेत्र पूजा है ॥११४॥ तीर्थंकरोंके पाँचों कल्याणकोंकी उत्पत्ति जिस दिन हुई है उस दिन उस कल्याणककी स्थापना करके भक्तिके साथ अवश्य पूजा करनी चाहिए ॥११५॥ तथा नित्यपर्व अष्टमी-चतुर्दशी और नैमित्तिक पर्व अष्टाह्निकामें, तथा दशलक्षणादि अन्य पर्वोंमें भक्तिके साथ अपनी शक्तिके अनुसार जो महामह आदि पूजाएँ की जाती हैं, वह सब कालपूजा कहलाती हैं ॥११६॥ तीनों सन्ध्याओंमें अनन्तगुण संयुक्त जिनदेवकी भक्तिसे जो पूजा और वन्दना की जाती है वह भावपूजा कही जाती है ॥११७॥ तथा पंचनमस्कार पदोंका जाप करना और तीर्थंकरादि जिनराजोंका यथाशक्ति जो स्तवन आदि किया जाता है वह भी भावपूजन माना गया है ॥११८॥ तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप जो ध्यान किया जाता है, वह भी भावपूजन माना गया है ॥११९॥ अब पिण्डस्थ ध्यानका वर्णन करते हैं—शुद्ध स्फटिकमणिके सदृश निर्मल और आठ प्रातिहार्योंसे युक्त अरहन्तदेवके रूपका जो ध्यान किया जाता है, वह पिण्डस्थ नामका ध्यान है ॥१२०॥ अथवा अपने शरीरके अधोभागको अधोलोक, मध्यभागको मध्यलोक और नाभिके स्थानपर मेरुपर्वतकी कल्पना करे। नाभिसे ऊपरी भागको ऊर्ध्वलोक मानकर कन्धेतकके भागमें स्वर्गोंकी, कन्धेसे ऊपर अपनी ग्रीवामें ग्रैवेयककी, ठोडीके स्थानपर अनुदिशकी, मुखस्थानपर विजयादिक पाँच अनुत्तर विमानकी, ललाट पर सिद्ध स्थानकी और मस्तकके ऊपर लोकके अग्र भागकी कल्पना करे। इस प्रकार अपने देहमें स्थित तीन लोकसदृश आकारका जो चिन्तवन किया जाता है, वह भी पिण्डस्थ ध्यान माना गया है॥१२१-१२३॥

अब अपदस्थध्यानका वर्णन करते हैं—पंचपरमेष्ठियोंके एक अक्षररूप 'ॐ', अ सि आ उ सा आदि मन्त्रोंको उच्चारण कर उनके चरण-कमलका चिन्तवन करना सो पदस्थ नामका ध्यान है ॥१२४॥ जिस पदमें 'अ' कार पूर्व अक्षर है और शून्य अर्थात् 'ह' यह रेफ और अनुस्वार-सहित

चतुर्दलस्य पद्मस्य कर्णिकायन्त्रमन्तरम् । पूर्वादिदिक्क्रमान्न्यस्य पदाद्यक्षरपञ्चकम् ॥१२६
तच्चाष्टपत्रपद्मानां तदेवाक्षरपञ्चकम् । पूर्ववन्न्यस्य दृग्ज्ञानचारित्रतपसामपि ॥१२७
विदिक्ष्वाद्याक्षरं न्यस्य ध्यायेन्मूर्ध्नि गले हृदि । नाभौ वक्त्रेऽथवा पूर्वं ललाटे मूर्ध्नि वा परम् ॥१२८
चत्वारि यानि पद्मानि दक्षिणादिदिशास्वपि । विन्यस्य चिन्तयेन्नित्यं पापनाशनहेतवे ॥१२९
मध्येऽष्टपत्रपद्मस्य खं द्विरेफं सबिन्दुकम् । स्वरपञ्चपदावेष्टयं विन्यस्यास्य दलेषु तु ॥१३०
भृत्वा वर्गाष्टकं पत्रं प्रान्ते न्यस्यादिमं पदम् । मायाबीजेन संवेष्ट्य ध्येयमेतत्सुशर्मदम् ॥१३१

है, ऐसा 'अर्हं' यह पद श्वेत प्रभासे युक्त ध्यान करना चाहिये। यह पद समस्त पापरूप अन्धकार का नाश करनेवाला है ॥१२५॥ अथवा चार पत्रवाले और मध्यमें गोल आकारकी कर्णिकावाले कमलमें पंचपरमेष्ठीके वाचक पाँचों पदोंके आद्य अक्षरोंको क्रमसे पूर्वादिदिशाओंमें स्थापित कर चिन्तवन करना भी पदस्थ ध्यान है ॥१२६॥ अथवा आठ पत्र वाले कमलमें पूर्वके समान उन ही पंच परमेष्ठियोंके अक्षरोंको मध्यमें और पूर्वादि दिशाओंमें, तथा विदिशावाले पत्रोंपर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-वाचक अक्षरोंकी स्थापना कर उनका ध्यान करे। यह अष्टदल कमल मस्तकपर, गलेमें, हृदयमें, नाभिमें और मुखमें स्थापित करना चाहिये। अथवा इस अष्टदल कमलको ललाटपर या मस्तकपर स्थापित करे और चार अन्य कमलोंको दक्षिण आदि दिशाओंमें स्थापित करके पापोंका नाश करनेके लिये नित्य चिन्तवन करना चाहिये ॥१२७-१२९॥ अथवा अष्ट पत्रवाले कमलके मध्य भागमें दो रेफ और बिन्दु सहित शून्य अक्षर 'ह्' कारको अर्थात् 'ह्रँ' पदको अकारादि स्वर और पंच नमस्कार पदोंसे वेष्टित करके उसके आठों दलोंपर क वर्गादि आठ वर्गोंसे भरकर और कोण भागमें आदिका 'णमो अरहंताणं' यह पद स्थापित कर इसे माया बीज 'ह्रीं'कारसे वेष्टित करके ध्यान करना चाहिये। यह उत्तम सुखका देनेवाला है ॥१३०-१३१॥ उक्त रचना इस प्रकार करके ध्यान करे।
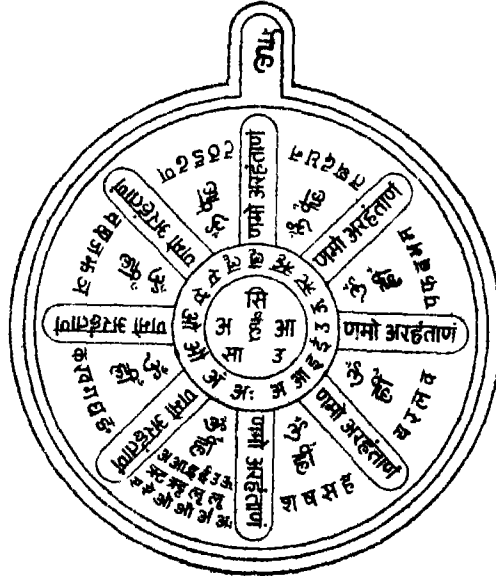
आकाशस्फटिकाभासः प्रातिहार्याष्टकान्वितः । सर्वामरैः सुसंसेव्योऽप्यनन्तगुणलक्षितः ॥१३२
नभोमार्गेऽथवोक्तेन वर्जितं क्षीरनीरधेः । मध्ये शशाङ्कसङ्काशनीरे जातस्थितो जिनः ॥१३३
क्षीराम्भोधिः क्षीरधारा-शुभ्राशेषाङ्गसङ्गमः । एवं यच्चिन्त्यते तत्स्याद् ध्यानं रूपस्थनामकम् ॥

गन्धवर्णरसस्पर्शवर्जितं बोधदृङ्मयम् । यच्चिन्त्यतेऽर्हद्रूपं तद् ध्यानं रूपवर्जितम् ॥१३५
इत्येषा षड्विधा पूजा यथाशक्ति स्वभक्तितः । यथाविधिर्विधातव्या प्रयत्नैर्देशसंयतैः ॥१३६
कुस्तुम्बरखण्डमात्रं यो निर्माप्य जिनालयम् । स्थापयेत् प्रतिमां स स्यात् त्रैलोक्यस्तुतिगोचरः ॥१३७
यस्तु निर्मापयेत्तुङ्गं जिनं चैत्यं मनोहरम् । वक्तुं तस्य फलं शक्तः कथं सर्वविदोऽपरः ॥१३८
जिनानां पूजनात्पूज्यः स्तुत्यः स्तोत्राच्च वन्दनात् । वन्द्यो ध्यानाद्भवेद् ध्येयो जगतां त्रितये सुधीः ॥

इत्येकादशसागारसच्चारित्रं यथागमम् । यथोक्तं पालयेद् यस्तु स पायाज्जगतां त्रयम् ॥१४०
तपोनिष्ठः कनिष्ठोऽपि वरिष्ठो गुणभूषणः । तपोऽनिष्ठः वरिष्ठोऽपि कनिष्ठोऽगुणभूषणः ॥१४१

ज्ञाने सत्यपि चारित्रं नो जातु यदि जायते । निष्फलं तस्य विज्ञानं दुर्भगाभरणं यथा ॥१४२
आगामिकर्मसंरोधि ज्ञानं चारित्रमर्जितम् । क्षपयेत्कर्म सम्यक्त्वं शश्वत्पुष्णाति तद्द्वयम् ॥१४३

आकाश और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ आभावाले, आठ प्रातिहार्योंसे संयुक्त, सर्व देवोंसे सुसेवित और अनन्त गुणोंसे उपलक्षित ऐसे जिन देवको आकाशके मध्य अवस्थित चिन्तवन करना भी रूपस्थ ध्यान है। क्षीरसागरके मध्य चन्द्र-तुल्य निर्मल जलमें (कमलासनपर) यथा-जातरूपसे अवस्थित और जिनका क्षीरसागरकी क्षीरधाराके प्रवाहसे सर्वाङ्ग शुभ्ररूपको धारण कर रहा है, ऐसे जिनेन्द्रदेवका जो चिन्तवन किया जाता है, यह भी रूपस्थ नामका ध्यान है ॥१३२–१३४॥ अब रूपातीत ध्यानका वर्णन करते हैं—गन्ध, वर्ण, रस और स्पर्शसे रहित केवल ज्ञान-दर्शनमय अरहंतके रूपका जो चिन्तवन किया जाता है, वह रूप-रहित रूपातीत ध्यान कहलाता है ॥१३५॥ ऐसी यह छह प्रकारकी पूजा यथाशक्ति अपनी भक्तिके अनुसार प्रयत्नशील देशसंयमी श्रावकोंको विधिपूर्वक नित्य करनी चाहिये ॥१३६॥ जो पुरुष कुस्तुम्बर (कुलथी) के खण्ड प्रमाण जिनालयको बनवाकर उसमें सरसोंके बराबर प्रतिमाको स्थापित करता है, वह तीन लोकके जीवोंकी स्तुतिका विषय होता है ॥१३७॥ फिर जो अति उन्नत जिनालय बनवा करके उसमें विशाल मनोहर प्रतिमाको स्थापित करता है, उसके पुण्यका फल तो सर्वज्ञदेवके सिवाय और दूसरा कौन पुरुष कहनेके लिए समर्थ हो सकता है ॥१३८॥ जिनराजोंका पूजन करनेसे ज्ञानी पुरुष तीन जगत्में पूज्य होता है, स्तुति करनेसे स्तुत्य होता है, वन्दना करनेसे वन्द्य होता है और ध्यान करनेसे ध्येय होता है, अर्थात् अन्य पुरुषोंके द्वारा ध्याया जाता है ॥१३९॥ इस प्रकार श्रावकोंके ग्यारहपदोंके सच्चारित्रको मैने आगमके अनुसार जैसा कहा है, उसे जो गृहस्थ पालन करेगा, वह तीनों लोकोंके जीवोंकी रक्षा करेगा, अर्थात् त्रिलोकीनाथ होगा ॥१४०॥ तपोनिष्ठ कनिष्ठ भी पुरुष वरिष्ठ और गुणभूषण है किन्तु जो तपमें निष्ठ नहीं है, वह वरिष्ठ होकर भी कनिष्ठ हैं और गुणभूषण नहीं है ॥१४१॥ मनुष्यमें ज्ञानके होनेपर भी यदि चारित्र नहीं है, तो उसका वह ज्ञान विधवा स्त्रीके आभूषण धारण करनेके समान निष्फल है ॥१४२॥ चारित्र युक्त ज्ञान आगामी कर्म-बन्धको रोकता है। और यदि ये दोनों सम्यक्त्व-सहित हों तो वह कर्मका क्षय करता है, क्योंकि सम्यक्त्व सदा ही ज्ञान और चारित्रको पुष्ट करता है ॥१४३॥

श्रद्धानं केवलं नैव स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम् । न ज्ञानं नापि चारित्रं किन्तु तत्त्रितयं मतम् ॥१४४

श्रद्धानात्स्वेष्टसिद्धिश्चेत्तदैतन्न सुदुर्लभम् । कुशूलस्थितधान्यस्य पाकः श्रद्धानगो भवेत् ॥१४५
ज्ञानादेवेष्टसिद्धिश्चेत्तदा श्रद्दध्महे वयम् । दृष्टमेव जलं दूरात्तृष्णाघाति भवेदिति ॥१४६
चारित्रेणैव चेत्सिद्धिरन्धः पिहितदावनात् । दावानलव्यालकूपव्याप्ताद् गच्छेत्सुखं बहिः ॥१४७
तस्मात्सम्यक्त्वसज्ज्ञानसच्चारित्रत्रयात्मकः । धर्मः स्वर्गापवर्गैकफलनिष्पत्तिसाधकः ॥१४८
विज्ञायेति समाराध्यो धर्म एषो मनीषिभिः । यस्तुष्टो सम्पदा तुष्टो ददाति विपदोऽन्यथा ॥१४९

इत्येष धर्मो गृहिणां मयोक्तो यथाऽऽगमं स्वल्परुचीन् विनेयान् ।
विशोध्य विस्तारयतः प्रयत्नात्सन्तः सदा सद्गुणभूषणाढ्या ॥१५०

इति श्रीमद्-गुणभूषणाचार्यविरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधानश्रावकाचारे
साधुनेमिदेवनामाङ्किते सम्यक्चारित्रवर्णनो नाम तृतीयोद्देशः ॥३॥

•

केवल श्रद्धान ही अपने अभीष्ट अर्थका साधक नहीं है। इसी प्रकार अकेला ज्ञान और चारित्र भी इष्ट अर्थको नहीं सिद्ध करता है। किन्तु ये तीनों ही अभीष्ट अर्थ मोक्षके साधक माने गये हैं ॥१४४॥ यदि केवल श्रद्धानसे अपने इष्टकी सिद्धि होवे, तब तो फिर यह भी दुर्लभ नहीं है कि कोठीमें स्थित धान्यका परिपाक भी श्रद्धानमात्रसे हो जायगा ॥१४५॥ यदि अकेले ज्ञानमात्रसे इष्टसिद्धि होवे, तब तो हम यह विश्वास करते हैं कि दूरसे देखा गया जल भी प्यासका बुझानेवाला हो जायगा ॥१४६॥ यदि केवल चारित्रसे ही सिद्धि सम्भव हो, तब तो अन्धा पुरुष दावानलसे, हाथियों या सर्पोंसे तथा कूपोंसे व्याप्त दुर्गम वनसे सुखपूर्वक बाहर निकल जायगा ॥१४७॥ इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप जो धर्म है, वह ही स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) रूप फलकी प्राप्तिका साधक है ॥१४८॥ ऐसा जानकर मनीषीजनोंको इस रत्नत्रयरूप धर्मकी ही आराधना करना चाहिए। जो धर्म सेवनसे सन्तुष्ट है, वह सम्पदासे भी पुष्ट है। अन्यथा अधर्म विपदाएँ देता है ॥१४९॥ इस प्रकार यह गृहस्थोंका धर्म मैंने आगमके अनुसार अल्प रुचिवाले शिष्योंके लिए कहा। यदि इसमें कहीं कोई भूल या चूक हो तो उसे संशोधन करके उत्तम गुणोंसे विभूषित सन्त जन प्रयत्नके साथ इस ग्रन्थका विस्तार करें ॥१५०॥

इस प्रकार श्री गुणभूषणाचार्य-विरचित भव्यजनचित्तवल्लभ नामका साहु नेमिदेवके नामसे अंकित इस श्रावकाचारमें सम्यक्चारित्रका वर्णन करनेवाला तीसरा उद्देश्य समाप्त हुआ।

•

ग्रन्थकार-प्रशस्तिः

विख्यातोऽस्ति समस्तलोकवलये श्रीमूलसंघोऽनघस्तत्राभूद्विनयेन्दुरद्भुतमतिः श्रीसागरेन्दोः सुतः ।
तच्छिष्योऽजनि मोहभूभृदशनिस्त्रैलोक्यकीर्तिर्मुनिस्तच्छिष्यो गुणभूषणः समभवत्स्याद्वादचूडामणिः॥
तेनायं भव्यचित्तादिवल्लभाख्यः सतां कृते । सागारधर्मो विहितः स्थेयादापृथिवीतले ॥१५२

अस्त्यत्र वंशः पुरपाटसंज्ञः समस्तपृथ्वीपतिमाननीयः ।
व्यक्त्वा स्वकीयां सुरलोकलक्ष्मीं देवा अपीच्छन्ति हि यत्र जन्म ॥१५३
तत्र प्रसिद्धोऽजनि कामदेवः पत्नी च तस्याजनि नाम देवी ।
पुत्रौ तयोर्जोमन-लक्ष्मणाख्यौ बभूवतू राघवलक्ष्मणाविव ॥१५४

रत्नं रत्नखनेः शशी जलनिधेरात्मोद्भवः श्रीपतेस्तद्वज्जोमनतो बभूव तनुजः श्रीनेमिदेवाह्वयः ।
यो बाल्येऽपि महानुभावचरितः सज्जैनमार्गे रतः शान्तः श्रीगुणभूषणक्रमनतः सम्यक्त्वचूडाङ्कितः ॥
यस्त्यागेन जिगाय कर्णनृपतिं न्यायेन वाचस्पतिं नैर्मल्येन निशापतिं नगपतिं सत्स्थैर्यभावेन च ।
गाम्भीर्येण सरित्पतिं सुरपतिं सद्धर्मसद्भावनात् सः श्रीमद्-गुणभूषणोन्नतिनतो नेमिश्चिरं नन्दतु ॥
श्रीमद्वीरजिनेशपादकमले चेतः षडङ्घ्रिः सदा हेयादेयविचारबोधनिपुणा बुद्धिश्च यस्यात्मनि ।
दानं श्रीकरकुड्मले गुणततिर्देहे शिरस्युन्नतिः रत्नानां त्रितयं हृदि स्थितमसौ नेमिश्चिरं नन्दतु ॥१५७

ग्रन्थकारकी प्रशस्ति

इस समस्त भूमण्डलमें निर्दोष मूलसंघ अति प्रसिद्ध है। उस मूलसंघमें अद्भुत बुद्धिशाली विनयचन्द्र हुए जो कि श्री सागरचन्द्रके पुत्र थे। उनके शिष्य त्रैलोक्यकीर्त्ति मुनि हुए, जो मोहरूप पर्वतके भेदनेके लिए वज्रतुल्य हैं, त्रैलोक्यमें जिनकी कीर्त्ति व्याप्त है। उनके शिष्य गुणभूषण हुए, जो कि स्याद्वादविद्याके चूड़ामणि हैं ॥१५१॥ उन्होंने सज्जनोंके उपकारके लिए यह भव्यजनोंके चित्तको प्यारा भव्यजन चित्तवल्लभ नामवाला सागारधर्म प्रतिपादन किया, जो यह इस भूतलपर चिरकाल तक स्थिर रहे ॥१५२॥ इस भारतवर्षमें पुरपाट नामका एक वंश है, जो कि समस्त राजाओंके द्वारा माननीय है। वह वंश इतना विशुद्ध है कि देवगण भी अपनी स्वर्गलोक-की लक्ष्मीको छोड़कर जिसमें जन्म लेनेकी इच्छा करते हैं ॥१५३॥ इस पुरपाट वंशमें एक प्रसिद्ध कामदेव सेठ हुए। उनकी पत्नीका नाम देवी थी। उन दोनोंके राम-लक्ष्मणके समान तेजस्वी जोमन और लक्ष्मण नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥१५४॥

जिस प्रकार रत्नोंकी खानिसे रत्न उत्पन्न होता है; क्षीरसागरसे जैसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और श्रीकृष्णसे जैसे प्रद्युम्न उत्पन्न हुए, उसी प्रकार जोमनसे श्रीनेमिदेव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। जो बाल्यावस्थामें भी महापुरुषोंके समान आचरणवाला, सत्य जैनमार्गमें निरत, शान्त सम्यक्त्व-चूडामणि और श्रीगुणभूषणके चरणोंमें नम्रीभूत है ॥१५५॥ जिसने अपने त्याग (दान) से कर्ण राजाको जीत लिया, न्यायसे बृहस्पतिको जीत लिया, अपनी निर्मलतासे चन्द्रमाको, स्थिरतासे सुमेरुको, गम्भीरतासे समुद्रको और सद्धर्मकी भावनासे देवोंके स्वामी इन्द्रको जीत लिया है, और जो श्रीमद्-गुणभूषणाचार्यकी उन्नतिमें निरत एवं चरणोंमें विनत हैं, वह नेमिदेव चिरकाल तक आनन्दित रहें ॥१५६॥ जो श्रीमान् वीर जिनेश्वरके चरणकमलोंमें भ्रमर जैसा अनुरक्त चित्त हो रहा है, जिसकी आत्मामें सदा हेय और उपादेयका विचार करनेमें निपुण बुद्धि विद्यमान है, जिसका श्रीकर-कमल सदा दानमें संलग्न है, जिसके देहमें गुणोंकी पंक्ति विद्यमान है, शिर सद्गुणोंसे सदा उन्नत रहता है, और जिसके हृदयमें रत्नत्रय धर्म सदा अवस्थित है, वह नेमिदेव चिरकाल तक आनन्दित रहे ॥१५७॥

धर्मोपदेशपीयूषवर्ष-श्रावकाचार

प्रथमोऽधिकारः

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्योच्चैः केवलज्ञानलोचनम् । सद्धर्मं देशयाम्येष भव्यानां शर्महेतवे ॥१॥
नमामि भारतीं जैनीं सर्वसन्देहनाशिनीम् । भानुभामिव भव्यानां मनःपद्मविकासिनीम् ॥२
सन्तु ते गुरवो नित्यं ये संसार-सरित्पतौ । रत्नत्रयमहानावा स्व-परेषां च तारकाः ॥३
यो धर्मः सेवितो भक्त्या मनोवाक्काययोगतः । संसाराम्भोधितो भव्यान् सन्धरत्येव सत्पदे ॥४
तं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं भुवनोत्तमम् । धर्मं प्राहुर्गणाधीशाः सुराधीशैः समर्चितम् ॥५
तत्राद्यं मुनिभिः प्रोक्तं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् । श्रद्धानं सत्यभूताऽऽप्त-सदागम-तपस्विनाम् ॥६
तथा श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते धर्मे हिंसाविवर्जिते । प्रीतिरात्यन्तिकी या तत्सम्यक्त्वं सूरिभिर्मतम् ॥७
अष्टाङ्गैः शोभते तच्च सम्यग्दर्शनमुज्ज्वलम् । यथाष्टाङ्गैर्दृढैर्नित्यं नरत्वं भाति भूतले ॥८
सम्यग्दर्शनसद्रत्नं मूढत्रयमदाष्टकात् । वर्जितं राजते गाढं यथारत्नं मलोज्झितम् ॥९

केवलज्ञानरूप नेत्रवाले श्रीसर्वज्ञदेवको उच्च भक्तिसे प्रणाम करके भव्य जीवोंके सुखके लिए यह मैं ग्रन्थकार सत्-धर्मका उपदेश करता हूँ ॥१॥ मैं जैनी भारती (द्वादशाङ्गरूप वाणी) को नमस्कार करता हूँ जो कि सूर्यकी प्रभाके समान भव्य जीवोंके हृदय-कमलको विकसित करती है और सर्व सन्देहोंका नाश करती है ॥२॥ वे गुरुजन सदा जयवन्त रहें जो कि संसाररूपी सागरमें रत्नत्रयरूपी महानावके द्वारा स्व और परके तारक हैं ॥३॥ मन वचन काय इन तीनों योगोसे भक्तिके साथ सेवन किया गया जो धर्म संसार-समुद्रसे निकालकर भव्य जीवोंको उत्तम पदमें घर देता है, ऐसे, सुराधीशोंसे पूजित, भुवनोत्तम धर्मको गणाधीश सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र-रूप कहते है ॥४–५॥ उनमेसे सत्यार्थ आप्त, आगम और तपस्वियोंका श्रद्धान करनेको मुनिजनोंने आद्य उत्तम सम्यग्दर्शन कहा है ॥६॥ तथा श्रीमज्जिनेन्द्रदेव-कथित हिंसादि सर्वपापोंसे रहित अहिंसामयी जिनधर्ममें जो आत्यन्तिक प्रीति होती है, उसे आचार्योंने सम्यक्त्व कहा है ॥७॥ जैसे भूतलपर दृढ आठ अंगोंसे उज्ज्वल सम्यग्दर्शन भी शोभाको प्राप्त होता है ॥८॥ जैसे मलसे रहित रत्न शोभायमान होता है, उसी प्रकार तीन मूढ़ताओंसे, तथा आठ मदोंसे रहित सम्यग्दर्शन-

---

नोट—**ब** प्रति परिचय

आकार ११ × ४॥। पत्र संख्या ३२ । प्रतिपत्र पंक्ति संख्या ८ । प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ३३-३४ ।

इस प्रतिके अन्तिम पत्रमें प्रशस्तिके······ श्रीमल्लि········· तकका ही अंश है। इसके आगेका अंश आगेके पत्रमें रहा होगा और उसीमें लेखकका नाम और लेखन-काल भी रहा होगा। पर उसके न होनेसे यह सब अज्ञात है। फिर भी इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि यह प्रति कमसे कम ३०० वर्ष पुरानी अवश्य है और बहुत शुद्ध है।

'अ' प्रतिमें सर्वत्र 'व' के स्थान पर 'ब' और प्रायः 'स' के स्थान पर 'श' या 'श' के स्थान पर 'स' पाया जाता है।

तत्राऽऽप्तो भण्यते देवः सोऽपि दोषैर्विवर्जितः। तेऽपि दोषा बुधैर्ज्ञेयाः क्षुत्पिपासा जरा रुजा ॥१०
जन्मान्तको भयं निद्रा रागो द्वेषश्च विस्मयः। चिन्ता रतिः स्मयः खेदो विषादः स्वेद-मोहकौ ॥११
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तो यः सर्वज्ञो जिनेश्वरः। स्नातकः परमेष्ठी च कथ्यते स निरञ्जनः ॥१२
तेन श्रीमज्जिनेन्द्रेण स्वस्वभावेन देहिनाम्। यत्प्रोक्तं शास्त्रमत्युच्चैर्विरोधपरिवर्जितम् ॥१३
जीवाजीवादिकं तत्त्वं पवित्रं भुवनत्रये। तदेवाऽऽगमसारस्तु स्वर्ग-मोक्षसुखप्रदः ॥१४
निर्ग्रन्थो यो मुनिर्बाह्याऽऽभ्यन्तरोरुपरिग्रहैः। निर्मुक्तो वा ग्रहैर्भव्यो भूतले परमार्थवित् ॥१५
ज्ञान-ध्यान-तपोयोगैः संयुक्तः सद्दयापरः। क्षमावान् शीलसम्पन्नस्तपस्वी स जगद्धितः ॥१६
इत्याप्ताऽऽगम-चारित्र-धारिष्वेव महारुचिः। जायते संज्ञिभव्यस्य संशयादिविवर्जिता ॥१७
या सा सर्वजगत्सार-सम्पदा शर्मदायिनी। तदेव प्रोच्यते सद्भिः सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥१८
संसार-देह-भोगादेः सुखे कर्म-निबन्धने। नैव वाञ्छा त्रिधा या सा निःकाङ्क्षा कथ्यते बुधैः ॥१९
तथाऽशुचौ शरीरेऽपि रत्नत्रयसमन्विते। गुणप्रीत्या जुगुप्सा न सतां निर्विचिकित्सता ॥२०
मिथ्यामार्गे तथा मिथ्या-दृष्टौ पुंसि कदाचन। नैव प्रीतिः स्तुतिर्नैव क्रियते साऽमूढदृष्टिता ॥२१
शुद्धस्य जिनमार्गस्य बालाऽशक्तजनाऽऽगता। निन्द्यताऽऽच्छाद्यते यत्तत्कथ्यते चोपगूहनम् ॥२२
दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्प्रमादाच्चलतां बुधैः। पुनः संस्थापनं प्रोक्तं संस्थितीकरणं शुभम् ॥२३

रूपी सद्-रत्न अति गाढरूपसे शोभायमान होता है ॥९॥ सत्यार्थ आप्त वह कहा जाता है, जो कि सर्व दोषोंसे रहित होता है। ज्ञानियोंको वे दोष इस प्रकार जानना चाहिए—क्षुधा तृषा जरा रोग जन्म मरण भय निद्रा राग द्वेष विस्मय चिन्ता रति स्मय खेद विषाद प्रस्वेद और मोह इन अठारह दोषोंसे जो विनिर्मुक्त है, अर्थात् वीतरागी है, सर्वज्ञ है, और हितोपदेशी है, वही सत्यार्थ आप्त है। वही जिनेश्वर, श्रावक, निरंजन और परमेष्ठी कहा जाता है ॥१०–१२॥ उस श्रीमज्जिनेन्द्रदेवके द्वारा स्व-स्वभावसे (अपने आप) प्राणियोंके कल्याणके लिए जो कहा गया है और जो पूर्वापर विरोधसे सर्वथा रहित है, वह सत्यार्थ शास्त्र है ॥१३॥ जीव-अजीवादिक सात ही भुवनत्रयमें पवित्र तत्त्व हैं, वे ही उक्त आगमके सारभूत है और वे ही स्वर्ग एवं मोक्षके सुखोंके देनेवाले हैं ॥१४॥ जो भव्य बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकारके परिग्रहोंसे तथा ग्रहोंसे निर्मुक्त, निर्ग्रन्थ मुनि है, वही इस भूतलमें परमार्थका वेत्ता है। जो ज्ञान-ध्यान और तपोयोगसे संयुक्त है, सद्-दयामें तत्पर है, क्षमावान् है, शील-सम्पन्न है, तेजस्वी है और जगत्का हितैषी है, वही सत्यार्थ गुरु कहलाता है ॥१५–१६॥ इस प्रकारके आप्त, आगम और चारित्र-धारी गुरुओंमें संज्ञी भव्य जीवके जो संशयादिसे रहित महारुचि (दृढ़ श्रद्धा) होती है, वही सर्वजगत्में सारभूत सम्पदा है; और यथार्थ सुखको देनेवाली है। उसे ही सन्तजन उत्तम सम्यग्दर्शन कहते हैं। (यह निःशंकित अंग है) ॥१७–१८॥ कर्म-बन्धनके कारणभूत सांसारिक एवं शारीरिक भोगादिके सुखमें जो मन-वचन-कायसे वांछा नहीं होना, उसे ही ज्ञानियोंने निःकांक्षित अंग कहा है ॥१९॥ तथा रत्नत्रयसे संयुक्त साधुके अशुचि भी शरीरमें ग्लानि नहीं करना और उनके गुणोंमें प्रीति करना उसे सन्तोंका निर्विचिकित्सा अंग माना गया है ॥२०॥ मिथ्यामार्गमें तथा मिथ्यादृष्टि पुरुषमें कदाचित् भी न प्रीति करना और न स्तुति ही करना, सो यह अमूढदृष्टि अंग है ॥२१॥ शुद्ध जिनमार्गकी बाल एवं अशक्त जनोंके आश्रयसे होनेवाली निन्दाका जो आच्छादन किया जाता है, वह उपगूहन अंग कहा गया है ॥२२॥ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रसे प्रमाद-वश चल-विचल

साधर्मिकेषु या भक्तिर्मायादोषविवर्जिता । वात्सल्यं मुनयः प्राहुस्तदेव सुख-साधनम् ॥२४
मिथ्याज्ञानतमस्तोमं निराकृत्य स्वशक्तितः । जैनधर्मे समुद्योतः क्रियते सा प्रभावना ॥२५
गुणैरष्टाभिरेतैश्च संयुक्तं दर्शनं शुभम् । हन्ति कर्माणि सम्पूर्णो मन्त्रो वा विषवेदनाम् ॥२६
निःशङ्किते‍ऽञ्जनश्चौरस्ततोऽनन्तमतिर्मता । उद्दायनस्तृतीये च तुरीये रेवती सती ॥२७
श्रेष्ठी जिनेन्द्रभक्तश्च वारिषेणश्च विष्णुवाक् । वज्रनामा मुनिः पूजां क्रमादष्टाङ्गेष्विताः ॥२८
अष्टौ शङ्कादयो दोषास्तथाऽनायतनानि षट् । मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥२९
कुदेवस्तस्य भक्तश्च कुज्ञानं तस्य पाठकः । कुलिङ्गी सेवकस्तस्य लोकेऽनायतनानि षट् ॥३०
मिथ्यावद्भास्करायाऽर्घः स्नानं च ग्रहणादिके । दानं सङ्क्रान्तिके सन्ध्या वह्नि-देह-गृहार्चनम् ॥३१
गोऽश्ववाहन-भूम्यस्त्र-वटवृक्षादिपूजनम् । नागार्चनं तथा नद्यां सागरे स्नानकं तथा ॥३२
पाषाण-सिकताराशेः सत्कारश्च तथा बुधैः । पर्वताऽग्निप्रपातश्च लोकमूढं प्रचक्ष्यते ॥३३
आत्मघातं महापापं विष-शस्त्रादिकैः कृतम् । प्राहुर्बुधा भवेद्यस्मात्संसारे भ्रमणं सदा ॥३४
वरादिवाञ्छया लोभाद्राग-द्वेषादिदूषिताः । सेव्यन्ते देवता मूढैर्देवमूढं तदेव च ॥३५
गृहव्यापारसारम्भ-भागिनां भववर्तिनाम् । पाखण्डिनां कृता सेवा मता पाखण्डिमूढता ॥३६
इति मूढत्रयेणोच्चैः संत्यक्तं शुद्धदर्शनम् ।पालनीयं बुधैर्नित्यं व्रतसन्दोहभूषणम् ॥३७

होनेवाले पुरुषोंका पुनः उसमें संस्थापन करनेको ज्ञानियोंने उत्तम स्थितीकरण अंग कहा है ॥२३॥ साधर्मिक जनोंपर मायादोषसे रहित जो भक्ति होती है उसे ही मुनिगण सुखका साधन वात्सल्य अंग कहते हैं ॥२४॥ मिथ्याज्ञानरूप अन्धकारके प्रस्तारको अपनी शक्तिसे निराकरण करके जैनधर्मका जो उद्योत किया जाता है, उसे प्रभावना अंग कहते हैं ॥२५॥ इन आठों ही गुणोंसे संयुक्त उत्तम सम्यग्दर्शन जीवके सर्व कर्मोंका नाश कर देता है, जैसे कि सर्व अक्षरोंसे सम्पूर्ण मंत्र विषकी वेदनाका नाश कर देता है ॥२६॥ सम्यग्दर्शनके उपर्युक्त अंगोंमेंसे प्रथम निःशंकित अंगमें अंजनचोर, द्वितीय अंगमें अनन्तमती, तृतीय अंगमें उद्दायन, चतुर्थ अंगमें रेवती, पंचम अंगमें जिनेन्द्रभक्त, षष्ठ अंगमें वारिषेण, सप्तम अंगमें विष्णुकुमार और अष्टम अंगमें वज्रकुमार मुनि पूजाको प्राप्त हुए हैं ॥२७–२८॥ शंकादिक आठ दोष, छह अनायतन, तीन मूढ़ता और आठ मद ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं ॥२९॥ कुदेव, कुदेवका भक्त, कुज्ञान, कुज्ञानका पाठक, कुलिंगी और कुलिंगीका सेवक ये लोकमें छह अनायतन कहलाते हैं ॥३०॥ मिथ्यात्वियोंके समान सूर्यके लिए अर्घ चढ़ाना, चन्द्र-सूर्यादिके ग्रहण-समय स्नान करना, संक्रान्तिमें दान देना, सन्ध्या करना, अग्नि, देह और घरकी पूजा करना; गाय, अश्व, वाहन, भूमि, अस्त्र और वट-वृक्षादिका पूजन करना, नागोंकी पूजा करना, नदी और सागरमें स्नान करना, पाषाण और वालुकाराशिका सत्कार करना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें प्रवेश करना इत्यादि कार्य ज्ञानियोंके द्वारा लोकमूढता कही गयी है ॥३१–३३॥ विष-शस्त्रादिसे आत्मघात करनेको ज्ञानियोंने महापाप कहा है, क्योंकि इससे संसारमें सदा परिभ्रमण करना पड़ता है ॥३४॥ लोभसे अथवा वर आदि पानेकी वांछासे राग-द्वेषादिसे दूषित देवोंकी मूढ़जनोंके द्वारा जो सेवा-उपासना की जाती है, वह देवमूढ़ता है ॥३५॥ गृह-व्यापार और आरम्भ समारम्भ करनेवाले, सांसारिक कार्योंमें प्रवृत्त पाखण्डियोंकी सेवा करना पाखण्डिमूढ़ता मानी गयी है ॥३६॥

इस प्रकार तीन मूढ़ताओंसे सर्वथा रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन ज्ञानीजनोंको सदा पालन करना

तथा सद्-दृष्टिभिर्भव्यैस्त्याज्यं गर्वाष्टकं सदा । ज्ञात्वा धर्मस्य सद्भावं निर्मदं जिनभाषितम् ॥३८
ज्ञानं च पूज्यता लोके कुलं जातिर्बलं तथा । सम्पदा सुतपो रूपं दुर्धियां गर्वकारणम् ॥३९
मलैः पञ्चविंशत्या त्यक्तमेतैर्जगद्धितम् । ज्ञेयं सम्यक्त्वसद्रत्नं भव्यैर्लोकद्वये हितम् ॥४०
तथा चोपशमाऽऽद्याश्च त्रयो भेदा जिनेश्वरैः । सम्यक्त्वस्य समाख्याताः केवलज्ञानभास्करैः ॥४१
सप्तानां प्रकृतीनां हि शमादौपशमं भवेत् । संक्षयात् क्षायिकं तद्धि तन्मिश्रान्मिश्रनामकम् ॥४२
व्यवहारेण सम्यक्त्वमिति प्रोक्तं च निश्चयात् । मोह-क्षोभपरित्यक्ता या शुद्धा स्वात्मभावना ॥४३
इति द्विविधसम्यक्त्वं मुक्तिबीजं सुखप्रदम् । यो भव्यो नित्यशः पाति सम्यग्दृष्टिः स एव हि ॥४४

यदुक्तम्—

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती । वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥१

संवेगः परमा प्रीतिर्धर्मे धर्मफलेषु च । निर्वेदो देहभोगेषु संसारे च विरक्तता ॥४५
अधिष्ठानं यथा शुद्धं गाढं प्रासादरक्षणम् । तथा ज्ञान-तपोलक्ष्मी-कारणं दर्शनं मतम् ॥४६
सम्यक्त्वरत्नसंयुक्तो भव्यः श्रीजिनभक्तिभाक् । दुर्गतेर्बन्धनिर्मुक्तो भाविमुक्तिमावरः ॥४७
श्वभ्र-तिर्यक्कुदेवत्वं स्त्रीत्वं नीचकुलादिकम् । रोगत्वाल्पायुदारिद्र्यं नैव प्राप्नोति निश्चयात् ॥४८

चाहिए, क्योंकि वह सर्वव्रत-समूहका आभूषण है ॥३७॥ तथा सम्यग्दृष्टि भव्य जीवोंको 'जिन भाषित धर्मका सद्भाव निर्मदपना है' यह जानकर सदा ही आठों प्रकारके मदोंका त्याग करना चाहिए ॥३८॥ वे आठ मद इस प्रकार हैं—ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, सम्पदामद, तपमद और रूपमद। लोकमें ये आठ मद दुर्बुद्धियोंके गर्वके कारण होते हैं ॥३९॥ इस प्रकार इन उपर्युक्त पच्चीस दोषोंसे रहित, जगत्का हितकारी यह सम्यक्त्वरूप सद्-रत्न भव्य जीवोंको दोनों लोकोंमें हितरूप जानना चाहिए ॥४०॥ केवलज्ञान-भास्करस्वरूप जिनेश्वर देवने सम्यक्त्वके उपशम आदिक तीन भेद कहे हैं ॥४१॥ दर्शनमोहकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति, तथा चारित्रमोहकी अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है, इन्हीं सातोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है और इन्हीं सातोंके मिश्रसे (क्षयोपशमसे) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ॥४२॥ व्यवहारसे ये तीनों भेद सम्यक्त्वके कहे गये हैं। निश्चयसे तो मोह और क्षोभसे रहित जो शुद्ध स्वात्म-भावना है, वही निश्चय सम्यक्त्व है ॥४३॥ इस प्रकार मुक्तिका बीज और सुखके देनेवाले दोनों ही प्रकारके सम्यक्त्वको जो भव्य पुरुष नित्य पालन करता है, वही सम्यग्दृष्टि है ॥४४॥ जैसा कि कहा है—सम्यग्दर्शनके होनेपर जीवमें संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण प्रकट होते हैं ॥१॥ धर्म और धर्मके फलमें परम प्रीति होना संवेग है। शरीरमें, इन्द्रियोंके भोगोंमें और संसारमें विरक्तिभाव होना निर्वेद है ॥४५॥ (निन्दा आदि शेष गुणोंका स्वरूप सुगम होनेसे ग्रन्थकारने नहीं लिखा है।) जैसे शुद्ध दृढ़ अधिष्ठान (नींव) भवनका संरक्षक होता है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान और तपोलक्ष्मीका कारण माना गया है ॥४६॥ सम्यक्त्वरूप रत्नसे संयुक्त, श्रीजिनेन्द्रदेवकी भक्ति करनेवाला भव्य जीव दुर्गतिके बन्धसे निर्मुक्त रहता है और भावीकालमें मुक्ति-रमाको वरण करता है ॥४७॥ यह सम्यक्त्वी जीव निश्चयसे नरकगति, तिर्यंगति, कुदेवत्व (भवनत्रिकत्व) स्त्रीत्व, नीचकुलादिकवाले मनुष्योंमें जन्म, रोगी-पना, अल्प आयु और दरिद्रताको नहीं प्राप्त होता है ॥४८॥ किन्तु लोगोंके चित्तोंका अनुरंजन

किन्तु देवेन्द्र-चक्र्यादि-श्रियं प्राप्नोति शर्मदाम् । नानाभोगशताकीर्णां जगच्चेतोऽनुरञ्जिनीम् ॥४९
पुनः सम्यक्त्वमाहात्म्याज्ज्ञानचारित्रमुत्तमम् । समासाद्यैव निर्वाणं संप्रयात्येव निश्चलम् ॥५०
भो भव्यास्त्रिजगत्सारं सम्यक्त्वं सौख्यसाधनम् । नापरं भुवने किञ्चित्तत्समं देहिनां हितम् ॥५१
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सम्यग्दर्शनमुत्तमम् । स्वर्ग-मोक्षश्रियो हेतुं भो भव्याः संभजन्तु वै ॥५२
अर्हद्देव-तदुक्ततत्त्व-सुगुरु-श्रद्धानमाहुर्बुधाः, सम्यक्त्वं भव-दुःखराशिदलनं वै दुर्गतेर्नाशनम् ।
ज्ञान-ध्यान-तपोविधानविलसद्दानक्रियामण्डनं बीजं धर्मतरोः करोतु नितरां स्वर्गापवर्गं सताम् ॥५३
अदेवे देवताबुद्धिरगुरौ गुरुसम्मतिः । अतत्त्वे तत्त्वचिन्ता च मिथ्यात्वं चेति संत्यजेत् ॥५४

इति धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामश्रावकाचारे सम्यक्त्वव्यावर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः ॥१॥

●

करनेवाली, नाना प्रकारके सैकड़ों भोगोंसे व्याप्त और सुख-दायिनी देवेन्द्र-चक्रवर्ती आदिकी लक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥४९॥ पुनः सम्यक्त्वके माहात्म्यसे उत्तमज्ञान और चारित्रको प्राप्त करके निश्चल निर्वाणको प्राप्त होता है ॥५०॥ हे भव्य जीवो ! यह सम्यक्त्व तीन जगत्में सार है और अक्षय सुखका साधन है। इसके समान लोकमें और कोई भी वस्तु प्राणियोंके लिए हितकारी नहीं है ॥५१॥ इसलिए हे भव्यो, सर्व प्रयत्नसे स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मीके पानेके कारणभूत इस उत्तम सम्यग्दर्शनको नियमसे भली-भाँति सेवन करो ॥५२॥ ज्ञानियोंने अरहन्तदेव, उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व और सुगुरुके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। यह संसारके दुःखराशिका दलन करनेवाला है; निश्चयसे दुर्गतिका नाशक है, ज्ञान ध्यान तपोविधानसे विलसित दान क्रियाका मण्डनस्वरूप है और धर्मरूप वृक्षका बीज है। ऐसा यह सम्यग्दर्शन सज्जनोंके स्वर्ग और मोक्ष शीघ्र प्रदान करे ॥५३॥ अदेवमें देवबुद्धि होना; अगुरुमें गुरुपना मानना और अतत्त्वमें तत्त्व-चिन्तन करना मिथ्यात्व है। (यह संसारका कारण है अतः) इसका त्याग करना चाहिए ॥५४॥

इस प्रकार धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामक श्रावकाचारमें सम्यक्त्वका वर्णन करनेवाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ॥१॥

●

द्वितीयोऽधिकारः

अथ श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं सज्ज्ञानं भुवनोत्तमम् । नत्वा ज्ञानस्वरूपं च संक्षेपेण सतां ब्रुवे ॥१
पूर्वापरविरोधेन वर्जितं यच्च निर्मलम् । तदेव भुवने ज्ञानं भव्यानां लोचनं परम् ॥२
जीवानां सुदया यत्र स्थाप्यते शर्मकारिणी । सज्ज्ञानं तद्बुधैः प्रोक्तं सर्वसम्पद्-विधायकम् ॥३
जन्तूनां विद्यते यत्र हिंसा दुःखशतप्रदा । तत् कुज्ञानं मतं सद्भिर्महापापस्य कारणम् ॥४
हिंसादिपातकं येन त्यज्यते जन्तुभिः सदा । तज्ज्ञानं सर्वजीवानां शर्मदं ज्ञानिभिर्मतम् ॥५
येन जीवो जडात्माऽपि लोकालोकं हिताहितम् । निःसन्देहं विजानाति तज्जैनं ज्ञानमुत्तमम् ॥६
तद्-भेदाः भूरिशः सन्ति संप्रोक्ताः श्रीजिनेश्वरैः । ज्ञातव्यास्ते महाभव्यैरागमे जिनभाषिते ॥७
महाधिकाराश्चत्वारो विद्यन्ते ये जगद्धिताः । संक्षेपेण प्रसिद्धास्तांन् वक्ष्ये सज्ज्ञानसिद्धये ॥८
तीर्थेशां शान्तिकर्तृणां पुराणं पुण्यकारणम् । पञ्चकल्याणसम्पत्तेर्विस्तारैर्गुणधारणम् ॥९
तथा श्रीमद्-गणाधीश-चक्र्यादिचरितं शुभम् । प्रथमानुयोगदीपो भव्यानां संप्रकाशते ॥१०
लोकालोकस्थितेः काल-परावर्त्तस्य लक्षणम् । भेदाश्चतुर्गतीनां च वर्तन्ते यत्र निश्चयात् ॥११
संशयोरुतमोध्वंसी भव्यानां शर्मदायकः । करणानुयोगरविः संप्रोक्तो मुनिसत्तमैः ॥१२
मुनीनां श्रावकाणां च चारित्रं भुवनोत्तमम् । तस्योत्पत्तिश्च वृद्धिश्च सत्सुखोरुफलानि च ॥१३

श्रीमान् जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे गये, लोकमें उत्तम ऐसे सम्यग्ज्ञानको नमस्कार करके मैं सज्जनोंके लिए ज्ञानका स्वरूप संक्षेपसे कहता हूँ ॥१॥ जो पूर्वापर विरोधसे रहित और निर्मल है, वही ज्ञान संसारमें भव्य जीवोंका परम लोचन (नेत्र) है ॥२॥ जिसमें सर्व जीवोंको सुख करने-वाली उत्तम दयाकी स्थापना की गयी है और जो सभी सम्पदाओंका विधायक है, ज्ञानियोंने उसे ही सद्-ज्ञान कहा है ॥३॥ जिसमें जीवोंको सैकड़ों दुःखोंकी देनेवाली हिंसाका विधान है, उसे सन्तोंने महापापका कारण कुज्ञान कहा है ॥४॥ जिसके द्वारा जीवोंसे हिंसादिक पाप सदा छुड़ाये जाते हैं और जो सर्व जीवोंको सुखका देनेवाला है उसे ही ज्ञानियोंने सम्यग्ज्ञान माना है ॥५॥ जिसके द्वारा जड़ बुद्धि पुरुष भी लोक-अलोकको और अपने हित-अहितको निःसन्देह जानता है, वही जिनोक्त उत्तम सत्य ज्ञान है ॥६॥ श्री जिनेश्वरदेवने उस सम्यग्ज्ञानके बहुत भेद कहे हैं, उन्हें भव्य पुरुष जिनभाषित आगमसे ज्ञात करें ॥७॥ उस सम्यग्ज्ञानके जगत्-हितकारी चार महाधिकार हैं, उन प्रसिद्ध अधिकारोंको सम्यग्ज्ञानकी सिद्धिके लिए मैं संक्षेपसे कहता हूँ ॥८॥ जिसमें शान्तिके कर्ता तीर्थंकरोंकी पंच कल्याणकरूप सम्पत्तिका विस्तारसे गुण-वर्णन किया गया है, ऐसे पुण्यके कारणभूत पुराण ग्रन्थ तथा श्रीमान् गणधरदेवोंका, चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषोंका शुभचरित्त कहा गया है, उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। यह प्रथमानुयोगरूपी दीपक भव्य जीवोंके लिए मोक्षगामी महापुरुषोंका आख्यान (चरित) प्रकाशित करता है ॥९-१०॥ जिसमें लोक और अलोककी स्थितिका, कालके परिवर्तनका और चारों गतियोंके भेदका लक्षण विद्यमान है, जो निश्चयसे भव्य जीवोंके संशयरूप महान्धकारका विध्वंसक है और उन्हें सुखदायक है, उसे उत्तम मुनियोंने करणानुयोगरूपी सूर्य कहा है ॥११-१२॥ जिसमें मुनियों और श्रावकोंके लोकोत्तम

ज्ञायन्ते विस्तरेणोच्चैर्यत्र भव्यैर्निरन्तरम् । चरणानुयोगचन्द्रः स ज्ञेयो लोकसम्मतः ॥१४
जीवजीवादितत्त्वानां सप्तानां यत्र निश्चयः । पुण्य-पापद्वयोर्भेदं सुख-दुःखादिवर्णनम् ॥१५
वर्तते यत्र भो भव्या विस्तरेण जिनागमः । द्रव्यानुयोगनामाऽसौ बोधो मिथ्यात्वनाशकृत् ॥१६
द्वादशाङ्गं श्रुतं चेति केवलज्ञानिभिर्जिनैः । स्वस्वभावेन भव्यानां भाषितं दिव्यभाषया ॥१७
एवं तथा गणाधीशैश्चतुर्ज्ञानविराजितैः नानाग्रन्थस्वरूपेण गुम्फितं रचनाशतैः ॥१८
संस्कृत-प्राकृतैर्भेदैः श्लोककाव्यादिलक्षणैः । प्रोक्तं परोपकाराय स्वात्मनः सिद्धिहेतवे ॥१९
सर्वागमपदानां च संख्या प्रोक्ता जिनागमे । कोटीशतं तथा कोटयो द्वादश प्रविकीर्तिता ॥२०
लक्षास्त्र्यशीतिरित्यष्ट पञ्चाशच्चाससंख्यया । सहस्राणि तथा पञ्च केवलं च पदानि वै ॥२१
सङ्ख्येति ग्रन्थतः प्रोक्ता श्रुते श्रीजिनभाषिते । अर्थतस्तु च सङ्ख्याऽत्र प्राप्यते केन भूतले ॥२२
महागमपदस्यापि कति श्लोका भवन्त्यहो । प्रश्नश्चेत्क्रियते भव्यैः श्रूयतां मुनिभिर्मतम् ॥२३
श्लोकानामेकपञ्चाशत् कोटयो लक्षकाष्टकम् । चतुर्भिरधिकाऽशीतिः सहस्राणि शतानि षट् ॥२४
सार्द्धैकविंशतिश्चेति सङ्ख्या चैकपदस्य वै । सम्प्रोक्ता मुनिभिर्धीरैर्विशुद्धैर्बोधसिन्धुभिः ॥२५

उक्तं च—

एक्कावण कोडीओ लक्खा अट्ठेव सहस चुलसीदी । सय छक्कं णायव्वं सड्ढाइगवीस पयगंथा ॥२
इत्यादि महिमोपेतं श्रुतं श्रीजिनभाषितम् । समाराध्यं महाभव्यैः केवलज्ञानसिद्धये ॥२६

चारित्रका वर्णन है और जिस चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि एवं उसके उत्तम सुखरूप महान् फल भव्योंके द्वारा निरन्तर विस्तारसे अच्छी तरह जाने जाते हैं, वह लोक-प्रसिद्ध चरणानुयोगरूप चन्द्र जानना चाहिये ॥१३–१४॥ जिसमें जीव, अजीव आदि सातों तत्त्वोंका निश्चय किया गया है, जिसमें पुण्य और पाप इन दोनोंके भेदोंके सुख-दुःखादिका वर्णन विस्तारसे विद्यमान है, वह द्रव्यानुयोग नामका जिनागम है। यह द्रव्यानुयोगरूप सम्यग्ज्ञान मिथ्यात्वका नाशक है ॥१५-१६॥ केवलज्ञानी जिनेन्द्रोंने भव्य जीवोंके लिए अपने सहज स्वभावसे दिव्यध्वनिके द्वारा द्वादशाङ्ग श्रुतका निरूपण किया है ॥१७॥ पुनः चार ज्ञानोंसे विराजित गणधरदेवोंने सैकड़ों रचनाओंके द्वारा नाना ग्रन्थोंके स्वरूपसे उस श्रुतज्ञानको गुम्फित किया। पुनः परवर्ती आचार्योंने संस्कृत-प्राकृत भाषाओंसे श्लोक-काव्यादि लक्षणवाले अनेक भेदोंके द्वारा परोपकारके लिए तथा अपने आत्माकी सिद्धिके हेतु उस श्रुतज्ञानका निरूपण किया ॥१८–१९॥ श्री जिनागममें आगमके सर्वपदों की संख्या एक सौ बारह करोड़, तेरासी लाख, अट्ठावन हजार, पाँच (११२८३५८००५) कही गयी है ॥२०–२१॥ श्री जिन-भाषित श्रुतमें ग्रन्थ-रचनाकी अपेक्षा यह संख्या कही गयी है। अर्थ-की अपेक्षा तो श्रुतज्ञानकी संख्याको इस भूतलमें कौन पा सकता है ॥२२॥ श्रुतरूप आगमके एक महापदके कितने श्लोक होते हैं ? यदि भव्य लोग ऐसा प्रश्न करते हैं, तो मुनियोंके द्वारा मानी गयी वह संख्या सुनें ॥२३॥ धीरवीर, विशुद्ध ज्ञानके सागर मुनियोंने एक पदके श्लोकोंका परिमाण एकावन करोड़, आठ लाख, चौरासी हजार छह सौ साढ़े इक्कीस (५१०८८४६२१½) श्लोक-प्रमाण कहा है ॥२४–२५॥

जैसा कि पूर्वाचार्योंने भी कहा है—एक पद इकावन कोड़ि, आठ लाख, चौरासी हजार, छह सौ साढ़े इक्कीस श्लोक-प्रमाण होता है ॥२॥

इत्यादि महिमासे संयुक्त श्री जिन-भाषित श्रुतकी महाभव्य जीवोंको केवलज्ञानकी सिद्धि

श्रुतज्ञानं जिनेन्द्रोक्तं लोकालोकप्रकाशकम् । अनादिनिधनं पूतमज्ञानक्षयकारकम् ॥२७

सद्गुरूणां पदाम्भोज-सारसेवासमन्विताः । पञ्चप्रकारैर्ये भव्याः सारस्वाध्यायलक्षणैः ॥२८
आराधयन्ति सद्-भक्त्या स्वस्थचित्तं विधाय च । ज्ञान-विज्ञानसम्पत्ति-यशःकीर्त्ति समाप्य च ॥२९
सम्यग्ज्ञानप्रसादेन ते भव्याः सौख्यकोटिदम् । केवलज्ञानमुत्पाद्य दृष्ट्वा सर्वं चराचरम् ॥३०
जन्ममृत्युजरातङ्क-दुःखशोकादिवर्जितम् । अनन्तानन्तसत्सौख्यं मोक्षं संयान्ति निश्चितम् ॥३१
इति मत्वा जिनेन्द्रोक्तं संज्ञानं सम्पदाकरम् । मनोवाक्कायसंशुद्धया भव्याः सेवन्तु सच्छ्रिये ॥३२
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राऽऽस्याज्जातः श्रुतसुधाम्बुधिः । मया तुच्छधिया चापि श्रितः स्तात्केवलश्रियः ॥३३
संज्ञानं जिनभाषितं शुभतरं कुज्ञानविध्वंसनं लोकालोकविलोकनैकनयनं सन्देहनिर्णासनम् ।
जीवाजीवमुतत्त्वभेदकथकं संज्ञानि संजीवनं सर्वप्राणिसुखप्रमोदजनकं कुर्यात्सतां मङ्गलम् ॥३४

इति श्रीधर्मोपदेशपीयूषवर्षनामश्रावकाचारे ज्ञानाराधनव्यावर्णनो द्वितीयोऽधिकारः ॥२॥

●

के लिए सम्यक् प्रकारसे आराधना करनी चाहिये ॥२६॥ यह श्री जिनेन्द्र-कथित श्रुतज्ञान लोका-लोकका प्रकाशक है, अनादि निधन है, पवित्र है और अज्ञानका क्षय करनेवाला है ॥२७॥ जो भव्य पुरुष सद्-गुरुओंके पाद-पद्मोंकी सारभूत सेवासे संयुक्त हैं और जो स्वस्थचित्त करके स्वाध्याय-के सारभूत पाँचों भेदों द्वारा सद्-भक्तिसे श्रुतकी आराधना करते हैं, वे भव्य जीव सम्यग्ज्ञानके प्रसादसे ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति और यशःकीर्तिको पा करके अनन्त सुखोंकी कोटिको देनेवाले केवलज्ञानको उत्पन्न करके तथा सर्व चराचर जगत्को देखकर जन्म, जरा, मरण, रोग, दु.ख और शोकादिसे रहित अनन्तानन्त उत्तम सुखवाले निश्चित रूपसे मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥२८-३१॥ ऐसा मानकर सम्पदाओंके करनेवाले जिनेन्द्रोक्त सम्यग्ज्ञानकी भव्य जीवोंको उत्तम मुक्तिलक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए मन वचन कायकी सम्यक् शुद्धिके साथ सेवा करनी चाहिये ॥३२॥ श्रीमान् जिनेन्द्रचन्द्रके मुखसे उत्पन्न हुआ तथा मुझ तुच्छ बुद्धिके द्वारा आश्रय किया हुआ यह श्रुतामृतसागर मेरे लिए केवलज्ञान-लक्ष्मीका प्राप्त करानेवाला होवे ॥३३॥ यह श्री जिन-भाषित सम्यग्ज्ञान अतिशुभ है, कुज्ञानका विध्वंसक है, लोक और अलोकके अवलोकनके लिए अद्वितीय नयन है, सन्देहका नाशक है, जीव-अजीवादि तत्त्वोंके भेदोंका कथन करनेवाला है, सुज्ञानी जीवोंका संजीवन है और सर्व प्राणियोंको सुख एवं प्रमोदका जनक है, वह सदा सज्जनोंके मगल करे ॥३४॥

इस प्रकार धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामक श्रावकाचारमें ज्ञानाराधनाका
वर्णन करनेवाला दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

●

तृतीयोऽधिकारः

अथ श्रीजिनमानम्य केवलज्ञानसम्पदम् । वक्ष्येऽहं चारुचारित्रं भव्यानां सुगतिप्रदम् ॥१
हिंसाऽनृतं तथाऽस्तेयं मैथुनं च परिग्रहः । एतेषां पञ्च पापानां त्यागो वृत्तं हि संज्ञिनाम् ॥२
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्कैर्नरेन्द्राद्यैः समर्चितम् । श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं तच्चारित्रं द्विधा मतम् ॥३
मुनि-श्रावकभेदेन भव्यानां तत्सुखप्रदम् । दुःख-दारिद्र-दौर्भाग्य-दुराचार-विनाशनम् ॥४
हिंसादिपञ्चपापानां साकल्येन विवर्जनात् । सकलं मुनिचारित्रं साक्षान्मोक्षप्रसाधनम् ॥५
तद्भेदाः शतशः सन्ति मूलोत्तरगुणादिभिः । कस्तान् मादृग्विधो वक्तुं समर्थस्तुच्छबुद्धिभाक् ॥६
त्रसानां पालनं कार्यं पञ्चस्थावर हिंसनात् । गृहिणामणुचारित्रं स्वर्गादिसुखसाधनम् ॥७
तत्र श्रावकधर्मेऽत्र शुद्धसम्यक्त्वशोभिते । आदौ मूलगुणैर्भाव्यं भव्यानां शर्मदायकैः ॥८
मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः । अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणां पूर्वसूरिभिः ॥९
सूक्ष्मजन्तुभिराकीर्णं नीचलोकैः समाश्रितम् । बुद्धिनिर्णाशकं निन्द्यं मद्यं हिंसाकरं त्यजेत् ॥१०
यच्च लोके दुराचार-सहस्राणां हि कारणम् । मद्यं कुलक्षयंकारि तत्त्याज्यं सर्वदा बुधैः ॥११
यद्विकलः कुधी प्राणी निपतन् यत्र तत्र च । मलैर्लिप्तो जनैस्त्यक्तो दूरतः कुक्कुरायते ॥१२
तन्मद्यं पापकृन्निन्द्यं संसाराम्भोधिपातकम् । नामतोऽपि सदा त्याज्यं सद्भिः स्वहितवाञ्छकैः ॥१३

अब केवलज्ञानरूपी सम्पदावाले श्रीजिनदेवको नमस्कार करके मै भव्योंको सुगतिके देनेवाले उत्तम चारित्रको कहता हूँ ॥१॥ हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, इन पाँचों पापोंका त्याग करना सुज्ञानियोंका चारित्र कहलाता है ॥२॥ इन्द्र, नागेन्द्र, चन्द्र, सूर्य और नरेन्द्रादिसे पूजित्त, यह श्रीमज्जिनेन्द्र चन्द्र-भाषित चारित्र मुनि और श्रीवकके भेदसे दो प्रकारका माना गया है। यह चारित्र भव्योंको उत्तम सुख देनेवाला है, तथा दुःख, दारिद्र, दौर्भाग्य और दुराचारका विनाशक है ॥३-४॥ हिंसादि पाँचों पापोंका सकलरूपसे त्याग करना सकलचारित्र है, यह मुनियोंके होता है और साक्षात् मोक्षका साधक है ॥५॥ इस सकलचारित्रके मूल और उत्तर गुणादिकी अपेक्षा सैकड़ों भेद हैं। उन सबको कहनेके लिए मेरे जैसा अल्प बुद्धिका धारक कौन मनुष्य समर्थ है ? कोई भी नहीं है ॥६॥ गृहस्थोंके त्रस जीवोंकी हिंसा होनेसे अणुचारित्र (देशसंयम) होता है और वह उनके स्वर्गादि सुखोंका साधक है ॥७॥ शुद्ध सम्यक्त्वसे शोभित उस श्रावकधर्ममें भव्योंको सुख-दायक आठ मूलगुण सर्वप्रथम होना चाहिए ॥८॥ मद्य, मांस और मधुके त्यागके साथ पाँच उदुम्बरफलोंको त्याग करना, इन्हें पूर्व आचार्योंने गृहस्थोंके आठ मूलगुण कहा है ॥९॥ सूक्ष्म जन्तुओंसे परिपूरित, नीच लोगोंके द्वारा संसेव्य, बुद्धि-नाशक, हिंसा-कारक और निन्द्य मद्य छोड़ना चाहिए ॥१०॥ यह मद्य संसारमें सहस्रों दुराचारोंका कारण है, और कुलका क्षयकारी है, अतः ज्ञानियोंको यह सर्वदा त्याज्य है ॥११॥ इस मद्यके पीनेसे बावला हुआ मनुष्य यहाँ वहाँ गिरता हुआ मल-मूत्रसे लिप्त होता है, मनुष्योंके द्वारा दूरसे ही छोड़ दिया जाता है और कुक्कुरके समान आचरण करता है ॥१२॥ यह मद्य पाप-कारक है, निन्द्य है और

किमुच्यते परं लोके यत्पीत्वा कामपीडितः । भगिन्यादौ कुचित्तेन दुर्गतिं याति पापतः ॥१४

यदुक्तम्—

मुहु विलिहिवि मुत्तइ सुणहु एहु ण मज्जहु दोसु ।
मत्तउ बहिणि जि अहिलसइ तें तहु णरइ पएसु ॥३

अतो विवेकिभिर्भव्यैः कुललज्जा-दयापरैः । मनोवाक्कायतो नित्यं तत्त्याज्यं धर्महेतवे ॥१५
तथा तद्-व्रतरक्षार्थं सङ्गतिर्मद्यपायिनाम् । अष्टभिश्च मदैः सार्धं सन्त्याज्यं सद्विचक्षणैः ॥१६
मूलतोऽपि सुयत्नेन व्याधिः संछेदितो यथा । नैव पीडां करोतीह कदाचिदपि देहिनाम् ॥१७

द्वि-धातुजं भवेन्मांसं प्राणिघातसमुद्भवम् । महापापप्रदं नित्यं सन्त्याज्यं दूरतो बुधैः ॥१८
महानरकसंवास-दायकं दुःखहेतुकम् । ज्ञातव्यं फलमेकं हि महासंसारपातकम् ॥१९
कृतं च कारितं चापि तन्निमित्तानुमोदनम् । प्राहुः प्राज्ञा महापापं दुःखकोटिप्रदायकम् ॥२०
महामिथ्योदयेनात्र येन तद्भक्षितं क्षितौ । स निन्द्यो भुवने पापी भवेद्दुःखैकभाजनम् ॥२१
धर्मकल्पद्रुमस्योच्चैर्दया मूलं भवत्यलम् । तद्भक्षिणः कुतो धर्मो बीजाभावे यथा फलम् ॥२२
यन्नाम्ना दर्शनाच्चापि सत्तां दुःखं प्रजायते । तल्लम्पटो महापापी कथं दुःखी न भूतले ॥२३

संसार-सागरमें डुबानेवाला है। अतः आत्म-हितके वांछक सज्जनोंको इसका नामसे भी सदा त्याग करना चाहिए ॥१३॥ इस मद्यकी अधिक क्या निन्दा करें, इसे पीकर कामसे पीड़ित हुआ मनुष्य बहिन आदिमें भी काम-सेवनकी दुर्बुद्धि करके उसके पापसे दुर्गतिको जाता है ॥१४॥

जैसा कि कहा है कि—कुत्ता मद्यपायीके मुखको चाटकर उसके ऊपर मूतता है। इतना ही मद्यपानका दोष नहीं है, अपितु मद्य पीनेसे उन्मत्त हुआ वह अपनी बहिनके साथ भी काम-सेवनकी अभिलाषा करता है और उससे वह नरकमें प्रवेश करता है ॥३॥

अतः विवेकी, कुल-लज्जावाले दयालु भव्योंको धर्मके हेतु मन-वचन-कायसे नित्य ही इस मद्यका त्याग करना चाहिए ॥१५॥ तथा मद्यत्यागव्रतकी रक्षाके लिये मद्यपायी लोगोंकी संगति भी आठों मदोंके साथ सद्ज्ञानियोंको सदा तजनी चाहिए ॥१६॥ जिस प्रकार इस लोकमें सुयत्न-पूर्वक मूलसे ही छेदी गयी व्याधि प्राणियोंको कभी पीड़ा नहीं करती है, इसी प्रकार प्रारम्भसे ही मद्यपानका स्पर्श भी नहीं करनेसे मनुष्य कभी भी किसी प्रकारकी पीड़ाको नहीं प्राप्त होता है ॥१७॥ मांस माताके रज और पिताके वीर्य, इन दो धातुओंसे उत्पन्न होता है, प्राणियोंके घातसे प्राप्त होता है और महापापोंका उपार्जक है, इसलिये ज्ञानियोंको इसका नित्य ही दूरसे त्याग करना चाहिये ॥१८॥ मांसका सेवन महानरकोंका निवास देनेवाला है, दुःखोंका कारण है और इस महासंसार-सागरमें गिराना ही इसका एकमात्र फल जानना चाहिये ॥१९॥ इस मांसका स्वयं उत्पादन करना, दूसरोंसे उत्पादन कराना और उसके निमित्त अनुमोदना करना, इन तीनों ही कर्मोंको ज्ञानियोंने कोटि-कोटि दुःखोंको देनेवाला महापाप कहा है ॥२०॥ महा मिथ्यात्वके उदयसे इस पृथ्वीपर जिसने इस मांसको खाया, वह संसारमें निन्द्य पापी है और सदा ही एक-मात्र दुःखोंका भाजन होगा अर्थात् दुःखोंको भोगेगा ॥२१॥ धर्मरूपी कल्पवृक्षका मूल उत्तम दया है। जो मांसके खानेवाले हैं, अर्थात् जिनके हृदयमें दया नहीं है, उनके धर्म कहाँसे हो सकता है? जैसे कि बीजके अभावमें फल नहीं हो सकता ॥२२॥ जिस मांसके नामसे और देखनेसे सज्जन पुरुषोंको दुःख उत्पन्न होता है, उस मांसका लम्पट महापापी पुरुष भूतलमें कैसे दुःखी न होगा

तद्भक्षिणो वृथा स्नानं धौतवस्त्रादिकं वृथा। यथा काक-वकादीनां नद्यां स्नानं न शुद्धये ॥२४
येषां कुले पलं नास्ति स्वप्ने चापि महाधियाम्। त एव भुवने भव्याः पवित्राः परमागमे ॥२५
तथा तद्-व्रतशुद्धयर्थं पवित्रैर्भव्यदेहिभिः। चर्म-वारि-घृतं तैलं त्याज्यं हिंगु तदाश्रितम् ॥२६

उक्तं च—

चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च। सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते ॥४
चर्मस्थिते घृते तैले तोये चाऽपि विशेषतः। रसोत्पन्नाः सदा जीवाः सम्भवेयुर्मतं बुधैः ॥२७

यदुक्तम्—

घृतेन तैलेन जलेन योगतो भवन्ति जीवाः किल चर्मसंस्थिताः।
रवीन्दुकान्तैरिव वह्निपुष्करे विदांवरैः केवलिभिस्त्वितीरितम् ॥ ५

तथा चोक्तम्—

चमट्ठिय पीयइ जलइं तामच्छउ दूरेण। दंसणसुद्धि ण होइ तसु खद्धं घिय-तिल्लेण ॥६

तथा चोक्तम्—

शौचाय कर्मणे नेष्टं कथं स्नानादिहेतवे। चर्मवारि पिबन्नेष व्रती न जिनशासने ॥७

उक्तं च—

हिंगु घिय तेल सलिलं चम्मगयं वयजुदाण ण हु जुत्तं। सुहुमतसुप्पत्ति जदो मंसवए दूसणं जादो ॥८

इत्यादिसूरिभिः प्रोक्तं निधाय निजमानसे। मांसव्रतसुरक्षार्थं चर्मतोयादिकं त्यजेत् ॥२८

॥२३॥ उस मांस-भक्षी पुरुषका स्नान करना और धुले वस्त्रादिक धारण करना वैसे ही वृथा है, जैसे कि काक और वक आदि मांस-भक्षी जीवोंका नदीमें स्नान करना शुद्धिके लिए नहीं होता है ॥२४॥ जिन महाबुद्धिशालियोंके कुलमें मांस स्वप्नमें भी नही आया है, वे ही भव्य पुरुष संसारमें पवित्र हैं, ऐसा परमागममें कहा है ॥२५॥ तथा मांस-भक्षण त्याग व्रतकी शुद्धिके लिए पवित्र भव्य जीवोंको चर्ममें रखा हुआ जल, घृत, तैल और चर्माश्रित हींग भी तजना चाहिये॥२६॥

जैसा कि कहा है—चर्ममें रखा जल, तैल, घी, गीले चर्ममें रखा हींग और स्वाद-चलित सर्व प्रकारका भोजन खाना मांस त्याग व्रतमें दोष-कारक है ॥४॥

चर्ममें रखे घृतमें, तैलमें और विशेषकर जलमें रसज जीव सदा उत्पन्न होते रहते हैं, ऐसा ज्ञानियोंने माना है ॥२७॥

और भी कहा है— घृतसे, तैलसे और जलके योगसे चर्ममें संस्थित जीव निश्चयसे होते हैं। जैसे कि सूर्यकान्तमणिके योगसे अग्नि और चन्द्रकान्तमणिके योगसे जल उत्पन्न होता है। ऐसा विदांवर केवलियोंने कहा है ॥५॥ और भी कहा है—मांसका खाना तो दूर ही रहे, किन्तु जो चर्म में रखे हुए जलको भी पीता है, उसके सम्यग्दर्शनकी शुद्धि नहीं है। इसी प्रकार चर्ममें रखे घी और तेलके खानेवालेके भी सम्यग्दर्शनकी शुद्धि नहीं है ॥६॥ और भी कहा है—चर्ममें रखा जल तो शौच कर्मके लिए भी इष्ट नहीं माना गया है, फिर स्नान आदिके लिए तो वह कैसे इष्ट हो सकता है? चर्ममें रखे जलको पीनेवाला पुरुष व्रती नहीं हो सकता, ऐसा जिनशासनमें कहा गया है ॥७॥ और भी कहा है—चर्म-गत हींग, घी, तैल और जल व्रतयुक्त पुरुषोंके ग्रहण करनेके योग्य नहीं हैं, क्योंकि उनमें सूक्ष्म त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है। इसलिये चर्मस्थ जलादिका उपयोग करनेपर मांस त्याग व्रतमें दूषण उत्पन्न करता है ॥८॥

इत्यादिक पूर्वाचार्योंके कहे वचनोंको अपने मनमें रखकर मांस-भक्षण त्याग व्रतकी सुरक्षा

मक्षिका-वमनं निन्द्यं मधु त्याज्यं बुधोत्तमैः । अनेकजन्तुसङ्कीर्णं पापराशिप्रदायकम् ॥२९
यन्माक्षिकं जगन्निन्द्यं दृश्यते कलिलाकृति । तत्त्याज्यं साधुभिर्नित्यं जिनेन्द्रवचने रतैः ॥३०
तद्भक्षणे महापापं जायते नात्र संशयः । तद्वर्तिका शरीरेऽपि नैव धार्या व्रतान्वितैः ॥३१
तथा तद्-व्रतसंशुद्धयै जैनतत्त्वविदांवरैः । रसार्द्रपुष्पकं चापि वर्जनीयं हि सर्वथा ॥३२

वटादिपञ्चकं चापि त्रसजीवशतैर्भृतम् । उत्तमैः सर्वथा त्याज्यं पापदुःखैककारणम् ॥३३
भिल्लादिनीचलोकानां यद्भक्ष्यं पापकर्मणाम् । तत्साधुभिः सदा त्याज्यं पञ्चोदुम्बरपातकम् ॥३४
तथा पुण्यधनैर्भव्यैः स्वव्रतप्रतिपालकैः । अज्ञातं सङ्कटे चापि फलं हेयं हि सर्वदा ॥३५

इत्यष्टौ जिनसूत्रेण प्रोक्ता मूलगुणाः सदा । श्रावकाणां सुखप्राप्त्यै पालनीया विवेकिभिः ॥३६

> **अष्टौ मूलगुणान् जगत्त्रयहितान् संसार-विच्छेदकान्**
> **यो भव्यः प्रतिपालयत्यनुदिनं सम्यक्त्वपूर्वं दृढान् ।**
> **श्रीमज्जैनमते जगत्त्रयहिते सन्तुष्टचित्तो महान्**
> **स श्रीसौख्यलसत्प्रतापविजयं कीर्तिप्रमोदं भजेत् ॥३७**

इति धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामश्रावकाचारेऽष्टमूलगुणव्यावर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः ॥३॥

●

के लिए चर्मस्थ जलादिकका त्याग करना चाहिये ॥२८॥ मधु-मक्खियोंका वमन यह मधु अति निन्द्य है, अनेक जन्तुओंसे व्याप्त है और पापराशिका देनेवाला है, उत्तम ज्ञानियोंको इसका त्याग करना चाहिए ॥२९॥ जो मधु जगत्में निन्द्य है, मांसकी आकृतिवाला है, उसका जिनेन्द्रवचनमें निरत साधुजनोंको नित्य ही त्याग करना चाहिए ॥३०॥ इस मधुके भक्षणमें महापाप होता है, इसमें कोई सन्देह नही है। इस मधुकी बत्ती भी व्रत-संयुक्त पुरुषोंको वस्ति आदिके लिये शरीरमें भी नहीं धारण करना चाहिए ॥३१॥ तथा मधुव्रतकी संशुद्धिके लिए जैन तत्त्वके जानकार उत्तम पुरुषोंको रससे गीले (भरे हुए) पुष्प आदिका भी सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥३२॥ सैकड़ों त्रस जीवोंसे भरे हुए वट, पीपल आदि पंचउदुम्बरफलोंका भी उत्तम पुरुषोंको सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि इनका भक्षण एकमात्र पापोत्पादक दुःखोंका कारण है ॥३३॥ जो पापकर्म करने वाले भील आदि नीच लोगोंके भक्ष्य हैं, ऐसे पापरूप पंच उदुम्बर फल साधुजनोंको सदा त्याज्य हैं ॥३४॥ तथा अपने व्रतोंके प्रतिपालक, पुण्यात्मा भव्य जीवोंको संकटके समयमें भी अज्ञात फलोंका भक्षण सर्वदा ही त्याज्य है ॥३५॥ इस प्रकार जिनागमके अनुसार ये आठ मूलगुण श्रावकोंके कहे गये हैं। विवेकी जनोंको सुखकी प्राप्तिके लिए इनका पालन करना चाहिए ॥३६॥ जगत्त्रयमें हितकारी, संसारके विनाशक इन आठ मूलगुणोंको जो भव्य पुरुष सम्यक्त्वपूर्वक प्रतिदिन दृढ़ताके साथ पालन करता है, वह जगत्त्रय हितकारी श्रीमज्जैनमतमें सन्तुष्ट चित्त महापुरुष मुक्तिश्रीके सुखसे विलसित प्रताप विजय कीर्त्ति और प्रमोदको प्राप्त करता है ॥३७॥

इस प्रकार धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामक श्रावकाचारमें अष्टमूलगुणोंका वर्णन करनेवाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥

♥

चतुर्थोऽधिकारः

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि गृहिणां द्वादशप्रमम् ॥१
चारित्रं मुनिभिः प्रोक्तं दुराचार-विनाशनम् । प्रीत्या सम्पालितं सार-सौख्यसम्पत्तिकारणम् ॥२
स्थूलेभ्यः पञ्चपापेभ्यो हिंसादिभ्यः सतां सदा । सम्भवेद्विरतिर्या सा तदणुव्रतपञ्चकम् ॥३

सर्वदा चित्तसङ्कल्पात्त्रसजीववधस्त्रिधा । क्रियते नैव यत्तच्च प्रथमं स्यादणुव्रतम् ॥४
अहिंसा शंस्यते सा च यन्नाम-स्थापनादिभिः । हन्यते न त्रसो जीवः क्वापि पिष्टादिनिर्मितः ॥५
देवता-मन्त्रसिद्ध्यर्थमौषधादिनिमित्तकम् । चेतनाचेतनो जीवो नैव हन्यो हितार्थिभिः ॥६
त्रसाणां रक्षणं कार्यं तत्सदा भव्यदेहिभिः । मनोवाक्काययोगेन धर्मंतत्त्वविदांवरैः ॥७
श्रावकव्रतपूतानां पक्षोऽयं भाषितो जिनैः । हिंसा साङ्कल्पिकी नित्यं त्रसानां क्रियते न यत् ॥८
तथा बन्ध-वधच्छेद-भूरिभाराधिरोपणम् । आहार-वारणा चापि पञ्च दोषा अहिंसने ॥९
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तां सद्दयां त्रसदेहिनाम् । भव्यस्त्रिधा करोतीह स व्रती श्रावकोत्तमः ॥१०
इत्यादिभूरिभेदैर्यो भव्यात्मा सद्दयापरः । जिनेन्द्रवचने नित्यं सावधानो विचक्षणः ॥११
इन्द्र-खेन्द्र-नरेन्द्रादि-सम्पदां शर्मदायिनीम् । पुत्र-मित्र-कलत्रादि-धनैर्धान्यादिभिः सदा ॥१२
रूप-सौभाग्य-सद्गोत्रैर्नानाभोगशतैर्युताम् । सम्प्राप्य श्रीजिनेन्द्रोक्त-रत्नत्रितययोगतः ॥१३
क्रमेण केवलज्ञानी भूत्वा त्रैलोक्यपूजितः । शाश्वतीं मुक्तिमाप्नोति जरामरणवर्जिताम् ॥१४

पाँच अणुव्रत, तीन प्रकारके गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थोंके बारह व्रत है ॥१॥ दुराचारके विनाश करनेको मुनियोंने चारित्र कहा है । वह प्रीतिसे पालन करनेपर सारभूत सुखकी सम्पत्ति (संप्राप्ति) का कारण है ॥२॥ हिंसादिक स्थूल पंच पापोसे सज्जनोंके जो विरति होती है, वे पाँच अणुव्रत कहलाते हैं ॥३॥ मनके संकल्पसे, कृत कारित और अनुमोदनाके द्वारा जो कभी भी त्रसजीवोंका घात नहीं किया जाता है, वह प्रथम अहिंसाणुव्रत है ॥४॥ नाम, स्थापना आदिसे पीठी आदिका बना हुआ भी त्रसजीव जहाँ कहींपर भी नहीं मारा जाता है, वह अहिंसा प्रशंसनीय कही जाती है ॥५॥ आत्महितैषी लोगोंको देवता और मन्त्रकी सिद्धिके लिए, तथा औषधि आदिके निमित्त भी चेतन या अचेतन जीव नही मारना चाहिए ॥६॥ इसलिए धर्मतत्त्वके जानकार भव्य जीवोंको मन-वचन-कायसे सदा त्रसजीवोंकी रक्षा करनी चाहिए ॥७॥ त्रसजीवोंकी सांकल्पिकी हिंसा कभी नहीं करना, यह जिनदेवोंने श्रावकव्रतसे पवित्र गृहस्थोंका पक्ष कहा है ॥८॥ इस अहिंसाणुव्रतमें बन्ध, वध, छेदन, अतिभारारोपण और आहार-वारण ये पाँच दोष होते हैं ॥९॥ जो भव्यजीव इन दोषोंसे रहित त्रसजीवोंकी उत्तम दयाको त्रियोगसे करता है, वह इस लोकमें श्रावकोंमें उत्तम व्रती माना गया है ॥१०॥ जो भव्यात्मा त्रियोग-त्रिकरण इत्यादि अनेक भेदोंसे सद्दयामें तत्पर रहता है और जिनेन्द्रवचनमें नित्य सावधान है, वह विचक्षण सांसारिक सुख देनेवाली इन्द्र, खेचरेन्द्र, नरेन्द्रादिकी सम्पदाको पुत्र मित्र कलत्रादिके तथा धन-धान्यादिके साथ एवं रूप-सौभाग्य, सद्-गोत्र और सैकड़ों प्रकारके अनेक भोगोंके साथ प्राप्त करके श्रीजिनेन्द्र-भाषित रत्नत्रयके योगसे क्रमशः केवलज्ञानी और त्रैलोक्यके जीवोंसे पूजित होकर जरामरण-

हिंसापापप्रदोषेण त्रसानां मूढमानसः। दुःख-दारिद्र-रोगाद्यैर्दुर्गतेर्भाजनं भवेत् ॥१५
तत्रापि छेदनं शस्त्रै र्भेदनं यन्त्रपीलनम्। भुक्त्वा चिरं ततो घोरे संसारे पतति ध्रुवम् ॥१६
ततो जिनेन्द्रसूत्रोक्त्या कृत्वा हिंसाविवर्जनम्। भव्या भवन्तु भो यूयं सारसम्पद्विभोगिनः ॥१७
प्रभावो वर्ण्यते केन दयाया भुवनोत्तमः। यत्र सम्पूजितो देवैश्चाण्डालोऽपि दयापरः ॥१८
लोके जीवदया समस्तसुखदा प्रोक्ता जनानां जिनैर्ये भव्या भवदुःखराशिदलिनीं तां पालयन्ति त्रिधा।
ते नित्यं त्रिदशादिशर्मजननीं सम्प्राप्य सत्सम्पदां पश्चान्मुक्तिरमाप्रमोदमतुलं शुद्धं लभन्ते बुधाः ॥१९

स्थूलासत्यं वचो यच्च सत्यं पीडाकरं च यत्। स्वयं वदन्ति नैवात्र न परान् वादयत्यलम् ॥२०
तं च स्थूलमृषात्यागं सम्प्राहुर्गृहिणां बुधाः। यच्च लाभ-भय-द्वेषैर्व्यलीकं वचनं न हि ॥२१
तथा मर्मव्यथं वाक्यं कर्णयोर्दुःखकारणम्। अपथ्यं च न वक्तव्यं सत्यवाक्यपरायणैः ॥२२
हितं मितं तथा पथ्यं विरोधपरिवर्जितम्। कर्णयोर्हृदयस्यापि वचो जल्पन्ति साधवः ॥२३
पशवोऽपि महाक्रूराः प्रियवाक्यप्रसादतः। तेऽपि तुष्यन्ति तन्नित्यं वक्तव्यं प्रियमेव च ॥२४
ये वदन्ति सदा सत्यं वचः सर्वजनप्रियम्। ते भवन्ति महाभव्याः कीर्त्तिव्याप्तजगत्त्रयाः ॥२५
मिथ्योपदेशकश्चापि रहोऽभ्याख्यानकं तथा। पैशुन्यं कूटलेखं च तथा न्यासापहारता ॥२६
एते सत्यस्य पञ्चापि व्यतीचाराः प्रकीर्त्तिताः। वर्जनीयाः सदा भव्यैर्जिनेन्द्रवचने रतैः ॥२७

रहित शाश्वत मुक्तिको प्राप्त करता है ॥११-१४॥ त्रसजीवोंकी हिंसाके पाप-जनित दोषसे अज्ञानी पुरुष दुःख दारिद्र और रोगादिकका तथा दुर्गतिका पात्र होता है ॥१५॥ उन दुर्गतियोंमें शस्त्रोंसे छेदन, भेदन और यंत्र-पीलनके महादुःखोंको चिरकाल तक भोगकर फिर भी वह निश्चयसे घोर संसारमें पतनको प्राप्त होता है ॥१६॥ अतएव जिनेन्द्र-सूत्र-कथित रीतिसे हिंसाका परित्याग करके हे भव्यो, आप लोग सार सुख-सम्पदाके भोगनेवाले होओ ॥१७॥ इस दयाका लोकोत्तम प्रभाव किसके द्वारा वर्णन किया जा सकता है, जहाँपर कि दयामें तत्पर चाण्डाल भी देवोंके द्वारा पूजित हुआ है ॥१८॥ जिनदेवने लोकमें जीवदयाको समस्त सुखोंकी देनेवाली कही है। जो भव्य जीव त्रियोगसे भव-दुःखराशिका विनाश करनेवाली उस दयाको पालते हैं, वे ज्ञानी सदा ही देवादिकी सुख देनेवाली उत्तम सम्पदाको पा करके पीछे अनुपम, शुद्ध मुक्तिरमाके प्रमोदको पाते हैं ॥१९॥ जो वचन स्थूल असत्य हैं और सत्य हो करके भी अन्यको पीड़ा करनेवाले हैं, उन वचनोंको जो न तो स्वय बोलते हैं और न दूसरोंसे बुलवाते हैं, उसे ज्ञानियोंने गृहस्थोंका स्थूल-मृषात्याग नामक सत्याणुव्रत कहा है। तथा सत्यवाक्य बोलनेमें परायण श्रावकोंको लाभ, भय और द्वेषसे झूठ वचन कभी नहीं बोलना चाहिए। अपथ्य- (अहित-) कारी वचन भी नहीं बोलना चाहिए और पराये मर्मके भेदनेवाले एवं कानोंको दुःखके कारणभूत वाक्य भी नही बोलना चाहिए ॥२०-२२॥ साधु पुरुष हित, मित, पथ्य, विरोध-रहित, कानोंको तथा हृदयको प्रिय लगनेवाले वचन बोलते हैं ॥२३॥ महाक्रूर पशु भी प्रिय वचनोके प्रसादसे सन्तुष्ट होते हैं (और अपना क्रूरपना छोड़ देते हैं।) इसलिए श्रावकोंको सदा प्रिय वचन ही बोलना चाहिए ॥२४॥ जो लोग सदा सब जनोंको प्रिय लगनेवाले वचन बोलते हैं, वे महा भव्य हैं और उनकी कीर्त्ति तीनों लोकोंमें व्याप्त होती है ॥२५॥ मिथ्या उपदेश, रहोऽभ्याख्यान, पैशुन्य, कूटलेखकरण और न्यासापहरण ये पाँच सत्याणुव्रतके अतीचार कहे गये हैं। जिनेन्द्र-वचनोंमें संलग्न भव्य पुरुषोंको ये पाँचों अतिचार सदा ही छोड़ना चाहिए ॥२६-२७॥ सत्य बोलनेसे संसारमें निर्मल कीर्त्ति, विमल लक्ष्मी,

सत्येन कीर्त्तिरमला विमला च लक्ष्मीर्विद्याविलाससुयशो भुवने प्रसिद्धिः ।
सम्प्राप्यते बुधजनैर्जनमान्यता च तस्मात्सदा [1]नृतवचः प्रवदन्तु सन्तः ॥२८

स्थूलस्तेयपरित्यागं तं वदन्ति मुनीश्वराः । यत्परेषां धनाद्युच्चैरदत्तं गृह्यते न हि ॥२९
विस्मृतं पतितं चापि पथे चापथि कानने । स्थापितं च परद्रव्यं न ग्राह्यं स्तेयदूरगैः ॥३०
धनं धान्यं सुवर्णं च मणि-मुक्ताफलादिकम् । परेषां ये न गृह्णन्ति स्तेयभावेन धीधनाः ॥३१
ते तद्-व्रतप्रभावेन भवेयुर्निधिभागिनः । नानासम्पत्सहस्रेण मण्डिताः शर्मसङ्गिणः ॥३२

येऽत्र लोभग्रहग्रस्ताः परद्रव्यं हरन्ति च । तैः संहृताः परप्राणाः परं निन्द्यं किमुच्यते ॥३३
यो मूढश्चोरयित्वा च परद्रव्यं गृहं नयेत् । तेन स्वमूलनाशश्च विहितो नात्र संशयः ॥३४
ततो दुःखी दरिद्री च रोगी शोकी विरूपकः । परद्रव्योरुपापेन संसारे संसरत्यरम् ॥३५
तस्मात्सन्तोषतो नित्यं मनोवाक्काययोगतः । स्तेयव्रतं दृढं भव्यैः पालनीयं सुखप्रदम् ॥३६
स्तेयप्रयोगकः स्तेयाऽऽहृताऽऽदानं विलोपनम् । हीनाधिकं तथा मानं वस्तूनां मिश्रता तथा ॥३७
एते स्तेयव्रतस्यापि व्यतीचाराश्च पञ्च वै । सन्त्याज्या व्रतरक्षार्थं धीधनैः सर्वथा त्रिधा ॥३८
जिनपतिकथितं ये स्तेयदोषं च मत्वा मनसि विशदचित्तास्तद्व्रतं पालयन्ति ।
इह-परभवलक्ष्मीशर्म सम्प्राप्यते वै परमसुखनिधानं प्राप्नुवन्त्येव भव्याः ॥३९

विद्या-विलास, सुयश, प्रसिद्धि और बुधजनोके द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। इसलिए सज्जन पुरुषोंको सदा ही सत्य बोलना चाहिए ॥२८॥ जो दूसरोंके विना दिये हुए धनादिको कभी नहीं ग्रहण करते हैं, उसे मुनीश्वर स्थूलस्तेयपरित्याग नामका अणुव्रत कहते हैं ॥२९॥ चोरीसे दूर रहनेवाले पुरुषोंको दूसरोंके भूले हुए, गिरे हुए, मार्गमें या अमार्गमें (मकान आदिमें) या जंगलमें रखे हुए द्रव्यको ग्रहण नही करना चाहिए ॥३०॥

जो बुद्धिमान् लोग दूसरोंके धन, धान्य, सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल (मोती) आदिको चोरी भावसे ग्रहण नहीं करते है, वे इस अस्तेयव्रतके प्रभावसे नौ निधियोंके भोक्ता चक्रवर्त्ती होते हैं, तथा सहस्रों प्रकारकी नाना सम्पत्तियोंसे मण्डित होकर सुखके भोक्ता होते हैं ॥३१-३२॥ किन्तु जो लोग यहाँपर लोभरूपी ग्रहसे ग्रसित होकर पर-द्रव्यको हरण करते हैं, वे उन लोगोंके प्राणोंको ही हरण करते हैं, इससे अधिक निन्द्य बात और क्या कही जाय ॥३३॥ जो मूढ पुरुष पराये द्रव्यको हरकर अपने घर लाता है, उसने अपना समूल नाश किया, इसमें संशय नहीं है ॥३४॥ तत्पश्चात् वह पर-द्रव्यके हरण करनेके महापापसे दुःखी, दरिद्री, रोगी, शोकी और कुरूप होकर संसारमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है ॥३५॥ इसलिए भव्योंको सन्तोषके साथ मन-वचन-कायसे सुखदायी चौर्य-त्यागरूप व्रतको सदा ही दृढ़रूपसे पालना चाहिए ॥३६॥ स्तेयप्रयोग, स्तेयाहृतादान, राजाज्ञा-विलोपन, हीनाधिकमानोन्मान और वस्तु-संमिश्रण, ये पाँच अचौर्यव्रतके अतीचार हैं। बुद्धिमानोंको अपने अचौर्यव्रतकी रक्षाके लिए इन पाँचोंको सदा ही त्रियोगसे छोड़ देना चाहिये ॥३७-३८॥ जो निर्मल चित्तवाले पुरुष जिनदेव-कथित इन स्तेयदोषोंको जानकर मनमें इस व्रतको पालते हैं, वे भव्य जीव इस भवमें लक्ष्मीके सुखको प्राप्त करते हैं और परभवमें परम,

---

१. अ 'सदाऽनृतवचः प्रहरन्तु' इति पाठः ।

यत्सन्तः सर्वथा नित्यं परस्त्रीषु पराङ्मुखाः । स्वनारीष्वेव सन्तुष्टास्तच्चतुर्थमणुव्रतम् ॥४०
[1]हाव-भाव-विलासाढ्या स्वयं वा गृहमागता ।-परस्त्री सर्वथा त्याज्या सद्भिः सच्छीलधारिभिः ॥४१
ते धीराः पण्डिताः शूरास्ते भव्या गुणसागराः । मनोवाक्कायतो नित्यं ये परस्त्रीपराङ्मुखाः ॥४२
परस्त्रीरूपमालोक्य सन्तो यान्ति नताननाः । मेघधाराहता वृद्धा यान्ति वा वृषभा द्रुतम् ॥४३
न्यायोपार्जितभोगाश्च सतां चित्ते न सर्वथा । प्रीतये सम्भवन्त्येव कथं ते न्यायवर्जिताः ॥४४
परपाणिग्रहाऽऽक्षेपानङ्गक्रीडा विटत्वकम् । भूरिभोगतृषा चापीत्वरिकागमनं तथा ॥४५
पञ्चैतेऽपि व्यतीचाराश्चतुर्थाणुव्रते मताः । सन्तः स्वव्रतसिद्ध्यर्थं सन्त्यज्यन्त्येव तानपि ॥४६

एवं येऽत्र महाभव्या मनोवाक्काययोगतः । परस्त्रियं त्यजन्त्युच्चैस्ते लभन्ते परं पदम् ॥४७
परस्त्रीलम्पटो मूढः पापं वैरं विधाय च । प्रायेण दुर्गतिं याति तस्मात्तां दूरतस्त्यजेत् ॥४८
कामदेवाऽऽकृतिं चापि नरं वीक्ष्य परं तथा । भ्राता मेऽयं पिता चेति चिन्तनीयं कुलस्त्रिया ॥४९

विशदचन्द्रकरद्युतिनिर्मला भवति कीर्तिरनुत्तरसम्पदा ।
जिनपतेर्वचनामृतपायिनां विमलशीलवतामिह देहिनाम् ॥५०

धन-धान्य-सुवर्णादि-चीरकर्पूरकादिषु । चतुःपदादिके सङ्ख्या पञ्चमं तदणुव्रतम् ॥५१
सङ्ख्यां विना न सन्तोषो जायते भुवि देहिनाम् । यथा भूरिनदीतोयैर्नैव तृप्तिः सरित्पतेः ॥५२

सुखके निधान स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥३९॥ जो सन्त पुरुष सर्व प्रकारसे नित्य ही परस्त्रियोंमें पराङ्मुख रहते हैं और अपनी ही स्त्रियोंमें सन्तुष्ट रहते हैं, उनके यह स्वदारसन्तोष नामका चौथा अणुव्रत जानना चाहिए ॥४०॥ उत्तम शीलके धारक सन्त जनोंको हाव-भाव विलाससे युक्त वेश्याका, तथा स्वयं ही अपने घरमें आयी हुई परस्त्रीका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥४१॥ जो मन-वचन-कायसे नित्य ही परस्त्रीसे पराङ्मुख रहते है, वे ही भव्य पुरुष धीर, पण्डित, शूरवीर और गुणोंके सागर हैं ॥४२॥ परस्त्रीके रूपको देखकर सन्तजन नीचा मुख करके चले जाते हैं। जैसे कि मेघकी जलधारासे पीड़ित बूढ़े बैल शीघ्र भाग जाते है ॥४३॥ सर्व प्रकारसे न्यायोपार्जित भोग भी सन्त जनोंके चित्तमें प्रीतिके लिए नहीं होते है, तो न्याय-वर्जित भोग कैसे प्रीतिके लिए हो सकते हैं ॥४४॥ परविवाहकरण, अनंगक्रीड़ा, विटत्व, अतिभोगतृषा और इत्वरिकागमन, ये पाँच चतुर्थ अणुव्रतमें अतीचार माने गये हैं। सन्त जन अपने व्रतकी सिद्धिके लिए इनको भी छोड़ते ही है ॥४५–४६॥ इस प्रकार जो महाभव्य इस लोकमें मन-वचन-कायके योगसे परस्त्रीका सर्वथा त्याग करते हैं, वे परम पदको प्राप्त करते हैं ॥४७॥ परस्त्री लम्पट मूढ मानव पाप और वैरका उपार्जन करके प्रायः दुर्गतिको जाता है, इसलिए परस्त्रीको दूरसे ही तजे ॥४८॥ इसी प्रकार कामदेव जैसी आकृतिवाले सुन्दर परपुरुषको भी देखकर 'यह मेरा भाई है, अथवा पिता है' ऐसा चिन्तवन करना चाहिए ॥४९॥ जिनपतिके वचनामृत-पायी निर्मल-शीलवाले जीवोंको इस लोकमें अनुपम सम्पदा और निर्मलचन्द्रकी किरणोंकी कान्तिके समान विमल कीर्त्ति प्राप्त होती है ॥५०॥ धन, धान्य, सुवर्णादिमें तथा वस्त्र, कपूर आदि अन्य वस्तुओंमें और चतुष्पद (गाय-बैल आदि) द्विपद (दासी-दास) आदिमें संख्या करना (उनका परिमाण करना) यह पाँचवाँ परिग्रह परिमाण अणुव्रत है ॥५१॥ परिग्रहकी संख्यादिके विना संसारमें

---

१. हावो मुखविकारः स्याद्भावश्चित्तसमुद्भवः । विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः ॥

शतं सहस्रकं चापि लक्षं कोटिं ततोऽधिकम् । धनं नो तृप्तये जन्तोर्वह्नेर्वा प्रचुरेन्धनम् ॥५३
इति ज्ञात्वा बुधैः कार्यं परिमाणं परिग्रहे । जायते येन सन्तोषो लोकद्वयसुखप्रदः ॥५४
अतिवाहनं तथाऽतिसङ्ग्रहश्च विषादकः । भूरिलोभो महाभार-वाहनं पापकारणम् ॥५५
पञ्चमाणुव्रतस्यैते विक्षेपाः पञ्चधा स्मृताः । तेऽपि त्याज्या व्रतोपेतैः सज्जनैर्धर्महेतवे ॥५६

उक्तं च—

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः । नीली जयश्च सम्प्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥९

इत्युच्चैर्जिनभाषितानि नितरां प्रीत्या प्रमादोज्झिताः
पञ्चाणुव्रतसुव्रतानि सुधियः सुश्रावका नित्यशः ।
ये भव्याः प्रतिपालयन्ति जगति प्राप्योरुसत्सम्पदं
पश्चात्ते भवभूरिसिन्धुतरणं कृत्वा लभन्ते शिवम् ॥५७

अणुव्रतानि पञ्चेति कथितानि मुनीश्वरैः । श्रावकाणां तथा रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥५८
पतत्कीटपतङ्गादेर्भक्षणान्निशिभोजनम् । महापापप्रदं त्याज्यं मांसव्रतविशुद्धये ॥५९
मक्षिका कारयत्येव वान्तिं कण्ठक्षतिं कचः । करोति भक्षिता रात्रौ यूका चापि जलोदरम् ॥६०
पुरा केनापि विप्रेण भुञ्जता निशि भोजनम् । मण्डूकोऽपि मुखे क्षिप्तः का वार्ता सूक्ष्मजन्तुषु ॥६१
ततो भव्यैर्जिनेन्द्राणां वचने प्रीतमानसैः । निशाऽऽहारः सदा त्याज्यो मनोवाक्कायशुद्धितः ॥६२
मुक्त्वोच्चैर्घटिके द्वे द्वे दिनस्यान्ते मुखेऽपि च । सर्वथा भोजनं कार्यं धर्मसारविचक्षणैः ॥६३

जीवोंके सन्तोष नही होता है। जैसे कि भारी नदियोंके जलोंसे भी समुद्रको तृप्ति नही होती

है ॥५२॥ शत, सहस्र, लक्ष, कोटी और इससे भी अधिक धन जीवकी तृप्तिके लिये पर्याप्त नहीं है। जैसे कि अग्निके प्रचुर इन्धनसे भी तृप्ति नहीं होती है ॥५३॥ ऐसा जानकर ज्ञानियोंको परिग्रहमें परिमाण करना चाहिए, जिससे कि दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला सन्तोष प्राप्त होता है ॥५४॥ अतिवाहन, अतिसंग्रह, विषाद, अतिलोभ और महाभार-वाहन ये पापके कारणभूत पाँच अतीचार पंचम अणुव्रतके माने गये है। धर्मकी रक्षाके लिये व्रत-संयुक्त सज्जनोंको इनका भी त्याग करना चाहिए ॥५५-५६॥ कहा भी है—मातंग, धनदेव, वारिषेण, नीलीबाई और जयकुमार ये क्रमशः अहिंसादि अणुव्रतोंमें उत्तम पूजातिशयको प्राप्त हुए हैं ॥९॥

इस प्रकार जिन-भाषित इन पाँचों ही अणुव्रतरूप सुव्रतोंको जो भव्य सुधी सुश्रावक प्रमाद छोड़कर अत्यन्त प्रीतिसे परिपालन करते हैं, वे जगत्‌में विशाल सत्सम्पदाको पाकर पीछे इस भारी भव-सागरको पार करके शिवको प्राप्त करते है ॥५७॥

इस प्रकार मुनीश्वरोंने श्रावकोंके ये पाँच अणुव्रत कहे हैं। तथा रात्रि-भोजन-त्याग नाम का छठा भी अणुव्रत श्रावकोंका माना गया है ॥५८॥ गिरते हुए कीट-पतंगादि जन्तुओंके भक्षणसे रात्रि भोजन महापापका देनेवाला है, अतः मांस त्यागरूपव्रतकी विशुद्धिके लिये उसका त्याग करना चाहिये ॥५९॥ यदि रात्रिमें भोजन करते समय मक्खी खानेमें आ जाय, तो वह वमन करा देती है, बाल कण्ठका स्वर-भंग करता है, और यदि यूका (जूं) खा ली जाय तो वह जलोदर रोगको कर देती है ॥६०॥ पूर्वकालमें रात्रि भोजन करते हुए किसी ब्राह्मणने मुखमें गिरा हुआ मेंढक भी खा लिया, तो फिर सूक्ष्म जन्तुओंकी क्या बात है ॥६१॥ इसलिये जिनेन्द्रदेवके वचनोंमें प्रीति रखनेवाले भव्य जीवोंको निशाहार सदा ही मन-वचन-कायकी शुद्धिसे त्यागना चाहिये ॥६२॥ धर्मका सार जाननेवाले चतुर ज्ञानियोंको दिनकी अन्तिम और आदिम दो-दो घड़ियोंको

सामान्यतो निशायां च जल-ताम्बूलमौषधम् । गृह्णन्ति चेह गृह्णन्तु नैव ग्राह्यं फलादिकम् ॥६४

यदुक्तम्—

तंबोलोसहु जलु मुइवि जो अत्थंविए सूरि । भोगासण फल अहिलसइ तें किउ दंसणु दूरि ॥१०

ये च भव्या निशाऽऽहारं सन्त्यजन्ति चतुर्विधम् । स्यात्षण्मासोपवासानां तेषां संवत्सरे शुभम् ॥६५

उक्तं च—

धर्मबुद्धया तमस्विन्यां भोजनं ये वितन्वते । आरोपयन्ति ते पद्मवनं वह्नौ विवृद्धये ॥११

निःशेषेऽह्नि बुभुक्षां ये सोढ्वा सुकृतकाङ्क्षया । भुञ्जन्ते निशि संवर्द्ध्य कल्पाङ्गं भस्मयन्ति ते ॥६६

पुनश्चोक्तम्—

उलूक-काक-मार्जार-गृध्र-संवर-शूकराः । अहि-वृश्चिक-गोधाश्च जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥१२

रात्रिभुक्तिपरित्याग-व्रतोपेतैर्विचक्षणैः । अन्धकारे दिने चापि भोक्तव्यं नैव सर्वदा ॥६७

इत्यादियुक्तितो नित्यं रात्रिभुक्तं त्यजन्ति ये । ते भवन्ति महाभव्याः स्वकुलाम्भोजभास्कराः ॥६८

पुत्र-पौत्रादिबन्धुत्वं मणि मुक्ताफलादिकम् । स्त्रियो वा पुरुषश्चापि प्राप्नुवन्ति स्ववाञ्छितम् ॥६९

रात्रिभोजनसन्त्यागाद् रूपसौभाग्यसम्पदाम् । लभन्ते सत्कुलं कीर्त्ति कान्ति रोगविवर्जितम् ॥७०

काणान्धा बधिरा मूका दुःखदारिद्रपीडिताः । रात्रिभोजनपापेन भवन्ति सुखवर्जिताः ॥७१

सर्वथा छोड़कर ही भोजन करना चाहिये ॥६३॥ जो लोग साधारणतः रात्रिमें जल, ताम्बूल और औषधि लेते है, वे उन्हें भले ही लेते रहें। किन्तु फलादिक तो नही ही ग्रहण करना चाहिये ॥६४॥

जैसा कि कहा है—जो सूर्यके अस्तंगत हो जानेपर ताम्बूल, औषधि और जलको छोड़कर भोग्य खाद्य स्वाद्य और फलकी अभिलाषा करता है, वह सम्यग्दर्शनको अपनी आत्मासे दूर करता है ॥१०॥

किन्तु जो भव्य जीव चारों ही प्रकारके आहारको रात्रिमें खाना सम्यक् प्रकारसे छोड़ते हैं, वे एक वर्षमें छह मासके उपवासोंका शुभ पुण्य प्राप्त करते हैं ॥६५॥

और भी कहा है—जो लोग धर्मबुद्धिसे रात्रिमें भोजन करते है, वे कमलवनको उसकी वृद्धिके लिये अग्निमें आरोपण करते हैं ॥११॥

जो लोग सुकृत (पुण्य) की आकांक्षासे सारे दिनमें भूखको सहकर रात्रिमें खाते हैं, वे कल्पवृक्षका संवर्धन करके उसे भस्म करते हैं ॥६६॥ और भी कहा है—रात्रिमें भोजन करनेसे मनुष्य उलूक, काक, मार्जार, गिद्ध, संवर, सूकर, सर्प, बिच्छू और गोहटा होते हैं ॥१२॥ रात्रि भोजन परित्यागव्रतसे संयुक्त ज्ञानियोंको दिनमें भी अन्धकारके समय और अन्धेरे स्थानमें कभी भी नहीं खाना चाहिये ॥६७॥ इत्यादि युक्तियोंसे रात्रिभोजनको निषिद्ध जानकर जो महाभव्य रातमें खानेका परित्याग करते हैं, वे अपने कुलरूप कमलको विकसित करनेवाले सूर्यके समान महापुरुष होते हैं ॥६८॥ रात्रिमें भोजनके त्यागसे स्त्री और पुरुष सभी लोग पुत्र, पौत्रादि बन्धुजनोंको और अपने वांछित मणि, मुक्ताफलादिकको प्राप्त करते हैं। तथा रूप, सौभाग्य सम्पदाको उत्तम कुलको, कीर्त्तिको, कान्तिको और रोग-रहित शरीरको पाते है ॥६९-७०॥ रात्रिभोजनके

जन्तवोऽन्यभवे चेति मत्वा भव्याः स्वमानसे । स्वर्ग-मोक्षसुखप्राप्त्यै रात्रिभुक्ति त्यजन्त्वलम् ॥७२

रात्रौ स्नानविवर्जनं दिनपतेर्नो दृश्यते दर्शनं
मुग्धैश्चापि न भक्ष्यते कणचरैर्धान्यादिकं चर्वणम् ।
तत्किं धर्मवतां विशुद्धमनसां सत्प्राणिनां युज्यते
रात्रौ भोजनमामवृद्धिजनकं सामान्यवद्दुःखदम् ॥७३

जिनपतिकथितं वै धर्मसारं विदित्वा परमपदमुदारं प्राप्यते येन भव्यैः ।
कुगतिशतनिवारं पुण्यसारं भजन्तु प्रवरविशदचित्ता वर्जनं रात्रिभुक्तेः ॥७४

तथा भव्यैः प्रकर्तव्यं मौनं वै भोजनादिषु । ज्ञानस्य विनयार्थं हि सन्तोषार्थं च धीधनैः ॥७५
मलमूत्रोज्झने स्नाने पूजने परमेष्ठिनाम् । भोजने सुरते स्तोत्रे सतां मौनव्रतं मतम् ॥७६
यत्किञ्चिदुच्यते वाक्यमक्षरैरेव तज्जनैः । ज्ञानप्रकाशकान्युच्चैस्तानि सन्ति महीतले ॥७७
ततः सुश्रावकैर्भव्यैर्ज्ञानस्य विनयश्रिये । सप्तस्थानेषु कर्त्तव्यं मौनं शर्मशतप्रदम् ॥७८
एवं श्रीमद्गणाधीशैः प्रोक्तं मौनव्रतं शुभम् । ये भव्याः पालयन्त्युच्चैस्तेषां स्याज्ज्ञानसम्पदा ॥७९
सरस्वत्याः प्रसादेन दिव्यनादो भवेत्तराम् । सौभाग्यं सुन्दरत्वं च मौनव्रतविशुद्धितः ॥८०
यथा भवन्ति पद्मानि स्वच्छतोयप्रयोगतः । तथा मौनव्रतेनोच्चैः स्यात्सतां ज्ञानसम्भवः ॥८१
चापल्यं दन्तबन्धेन जल्पनं तीव्रहुंकृतिम् । हास्यं च लिखनं चापि भोजनावसरे त्यजेत् ॥८२

पापसे मनुष्य, परभवमें काने, अन्धे, बहरे, गूंगे, दुःख और दारिद्रसे पीड़ित एवं सुखसे रहित उत्पन्न होते है । ऐसा अपने मनमें समझकर भव्य जीव स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके लिये रात्रिमें भोजन करना सर्वथा छोड़ें ॥७१–७२॥ रात्रिमें स्नान करनेका भी त्याग करना चाहिये । देखो— रात्रिमें जब सूर्यका दर्शन नहीं होता, तब कण-भक्षी पक्षी आदि मुग्ध प्राणी भी नही खाते हैं, तब धर्मात्मा, विशुद्ध हृदयवाले उत्तम मनुष्योंको रात्रिमें धान्यादिकका भक्षण क्या योग्य है ? अर्थात् नहीं है । दूसरी बात यह है कि रात्रिमें भोजन करना आमकी वृद्धि करता है, अतः वह किसानके समान दुःखदायक है ॥७३॥ इसलिये जिनदेव-कथित धर्मके सारको निश्चयसे जानकर भव्यजन जिसके द्वारा उदार परम पदको पाते हैं, उस सहस्रों कुगतियोंके निवारण करनेवाले, पुण्यके सारस्वरूप रात्रिभोजन परित्यागको उत्तम एवं निर्मल चित्तवाले पुरुष स्वीकार करें ॥७४॥ इसी प्रकार बुद्धिमान् भव्य जनोंको भोजनादिके समय ज्ञानकी विनयके लिये तथा सन्तोषकी प्राप्ति के लिये मौन भी धारण करना चाहिये ॥७५॥ मल-मूत्र त्याग करते समय, स्नान, परमेष्ठियोंका पूजन और स्तुति करते समय, भोजन और सुरत-कालमें सज्जनोंके मौनव्रत माना गया है । जो कुछ भी वाक्य बोला जाता है, अक्षरोंसे ही उत्पन्न होता है और ये अक्षर ही महीतलपर उत्तम रूपसे ज्ञानके प्रकाशक हैं, इसलिये उत्तम भव्य श्रावकोंको ज्ञानकी विनयश्रीके लिये उक्त सप्त स्थानोंमें सैकड़ों सुखोंको देनेवाला मौन धारण करना चाहिये ॥७६–७८॥ इस प्रकार श्रीमन्त गणधरदेवोंने मौनव्रतको उत्तम कहा है । जो भव्य पुरुष उत्तम रीतिसे इसका पालन करते हैं, उनके ज्ञानरूपी सम्पदा प्राप्त होती है ॥७९॥ सरस्वतीके प्रसादसे उनके दिव्यध्वनि प्रकट होती है । तथा मौनव्रतकी विशुद्धतासे सौभाग्य और सौन्दर्य प्राप्त होता है ॥८०॥ जैसे स्वच्छ जलके संयोगसे कमल उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उच्च मौनव्रतसे सत्पुरुषोंके उत्तम ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥८१॥ भोजनके अवसरमें चपलता, दाँत बाँधकर बोलना, तीव्र हुंकार करना, हँसना

अग्निवत्सर्वभक्षित्वं परित्यज्य दृढव्रती । शान्ततागुणमाश्रित्य कुर्यात्सद्भोजनं सुधीः ॥८३
तथा सुश्रावकाणां हि सप्तधा चान्तरायकः । भोजनावसरे प्रोक्तो मूलव्रतविशुद्धये ॥८४

मांसरक्ताऽऽर्द्रचर्मास्थि पूयं वीक्ष्य मृताङ्गिकम् ।
सन्त्याज्यं भोजनं भव्यैः प्रत्याख्यानान्नभक्षणात् ॥८५

उक्तं च—

रुहिरामिसु चम्मट्ठि सुरु पच्चक्खिय बहु जंतु । अंतराय पालहि भविय दंसणसुद्धि-णिमित्तु ॥१३
तथा चाण्डालकादीनां दर्शने वचने श्रुते । मलादिदर्शने चापि त्याज्यं भोज्यं विचक्षणैः ॥८६
जलानां गालनं पुण्यं सतां प्राहुर्जिनेश्वराः । सदा जीवदयासिद्ध्यै गाढवस्त्रेण सर्वथा ॥८७

तथा चोक्तम्—

षट्त्रिंशदङ्गुलं वस्त्रं चतुर्विंशतिविस्तृतम् । तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत् ॥१४
प्रमादो नैव कर्त्तव्यो जलानां गालने बुधैः । श्रीमज्जैनमते दक्षैः सदा जीवदयापरैः ॥८८
पिबन्ति गालितं तोयं तेऽत्र भव्या विचक्षणाः । अन्यथा पशुभिस्तुल्याः पापतो विकलाशयाः ॥८९
गालितं तोयमप्युच्चैः सम्मूर्च्छति मुहूर्त्ततः । प्रासुकं यामयुग्माच्च सदुष्णं प्रहराष्टकात् ॥९०
कर्पूरैलालवङ्गाद्यैः सुगन्धैः सारवस्तुभिः । प्रासुकं क्रियते तोयं कषायद्रव्यकैस्तथा ॥९१

और लिखना भी छोड़ना चाहिये ॥८२॥ दृढ़व्रती सुधी पुरुष अग्निके समान सर्वभक्षीपना छोड़ कर और शान्तपनारूप गुणका आश्रय कर सद्भोजन करें ॥८३॥ तथा भोजनके समय मूल व्रतों की विशुद्धिके लिये सुश्रावकोंके सात प्रकारके अन्तराय भी कहे गये हैं ॥८४॥ मांस, रक्त, गीला चमड़ा, हड्डी, पीव और मरा प्राणी देखकर भव्योंको भोजन छोड़ देना चाहिये। तथा त्याग किये हुए अन्नके भक्षणसे भी भोजनका त्याग कर देना चाहिये ॥८५॥

कहा भी है—रुधिर, मांस, चर्म, अस्थि, सुरा (मदिरा), प्रत्याख्यात वस्तु और बहु जन्तु इन सात अन्तरायोंको हे भव्य, सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके निमित्त पालन करो ॥१३॥

तथा चाण्डालादिके देखनेपर, उनके वचन सुननेपर और मलादिके देखनेपर भी ज्ञानियों को भोजन छोड़ देना चाहिये ॥८६॥ सर्व प्रकारसे जीवदयाकी सिद्धिके लिये गाढ़े वस्त्रसे सदा जलके गालनेको जिनेश्वरदेवने सज्जनोंको पुण्यका कारण कहा है ॥८७॥

जैसा कि कहा है—छत्तीस अंगुल प्रमाण लम्बे और चौबीस अंगुल चौड़े वस्त्रको दुगुना करके उससे जलको छानना चाहिये ॥१४॥

श्रीमज्जैनमतमें दक्ष, जीवदयामें तत्पर ज्ञानियोंको जलके गालनेमें कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥८८॥ जो पुरुष यहाँ वस्त्र-गालित जलको पीते हैं वे ज्ञानी भव्य हैं। अन्यथा प्रवृत्ति करनेवाले पशुओंके समान हैं और पापके उपार्जन करनेसे हीन हृदयवाले हैं ॥८९॥ अच्छे प्रकारसे गाला गया जल भी एक मुहूर्तके पश्चात् सम्मूर्च्छन जीवोंको उत्पन्न करता है; प्रासुक किया हुआ जल दो प्रहरोंके पश्चात् और खूब उष्ण किया हुआ जल आठ पहरके बाद सम्मूर्च्छित होता है ॥९०॥ कपूर, इलायची, लौंग आदि सुगन्धित सार वस्तुओंसे, तथा कषायले हरड, आँवला आदि द्रव्योंसे जल प्रासुक किया जाता है ॥९१॥ जैनधर्ममें, तथा नीतिमार्गमें सन्तोंके

जैनधर्मे तथा नीतिमार्गे सद्भिः प्रकीर्तितम् । जलानां गालनं धर्मः प्रसिद्धो भुवनत्रये ॥९२

स्मृतिवाक्यं च—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं पटपूतं जलं पिबेत् । सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥१५
यस्माज्जलं समानीतं गालयित्वा सुयत्नतः । तज्जीवसंयुतं तोयं तत्रोच्चैर्मुच्यते बुधैः ॥९३
एवं यत्नं प्रकुर्वन्ति ये सदा जलगालने । भवन्ति सुखिनो नित्यं ते भव्या धर्मवत्सलाः ॥९४
कन्दमूलं च सन्धानं काञ्जिकं वह्निदूरगम् । नवनीतं पुष्पशाकं बिल्वालाम्बुफलं त्यजेत् ॥९५
त्यजेदनन्तकायित्वाच्छृङ्गवेरादिकं सदा । तुच्छेन भक्षितेनापि येन पापं भवेन्महत् ॥९६
जिनेन्द्रवचने प्रीता ये भव्याः सद्दयान्विताः । तैर्नित्यं कन्दमूलं च सन्त्याज्यं पापकारणम् ॥९७
सन्धानं त्रसजीवानां शरीररसमिश्रितम् । किं परं भक्षिते तस्मिन् प्रयाति पिशितव्रतम् ॥९८
एकेन्द्रियादिका जीवा जायन्ते शीतकाञ्जिके । तस्मात्तद्-व्रतरक्षार्थं काञ्जिकं सर्वदा त्यजेत् ॥९९

उक्तं च—

चहुं एइंदिय विण्णि छह अट्ठहं तिण्णि हवंति । दह चउरिंदिय जीवडा बारह पंचण भंति ॥१५

मुहूर्तद्वयतः पश्चाज्जीवाश्चैकेन्द्रियादयः । जायन्ते नवनीतेऽपि तस्मात्तत्त्यज्यते बुधैः ॥१००

द्वारा कहा गया जलका गालन तीनों भुवनोंमें धर्मरूपसे प्रसिद्ध है ॥९२॥

स्मृतिका वचन भी इस प्रकार है—आँखसे देखकर पैरको रखे, वस्त्रसे गालित पवित्र जल पीवे, सत्यसे पवित्र वचन बोले और मनसे पवित्र आचरण करे ॥१५॥

जिस जलाशयसे जल लाया गया है, उसे सुप्रयत्नसे गालकर उस जीवसंयुक्त जल (जियानी) को ज्ञानी जन सावधानीके साथ वहींपर छोड़ते हैं ॥९३॥ जो धर्म-वत्सल भव्य जन जल-गालनमें इस प्रकारसे सदा प्रयत्न करते हैं, वे सुखी रहते हैं ॥९४॥ कन्दमूल, सन्धानक (अचार-मुरब्बा) काँजी बड़े, अग्निपर नहीं तपाया नवनीत (लोनी), पुष्प, शाक, बिल्वफल और अलाबु (लौकी-तुम्बा) का त्याग करे ॥९५॥ अदरक आदिको अनन्तकायिक होनेसे सदा ही तजे, क्योंकि इन तुच्छ वस्तुओंके खानेसे लाभ तो अल्प होता है और पाप भारी होता है ॥९६॥ जो भव्य जिनेन्द्र-देवके वचनोंमें प्रीति रखते हैं और उत्तम दयासे संयुक्त हैं, उन्हें नित्य ही पापके कारणभूत सभी कन्दमूल तजना चाहिए ॥९७॥ सन्धानक (आठ पहरके बाद सड़ते रहनेसे) त्रसजीवोंके शरीरके रससे मिश्रित हो जाता है, (अतः वह अभक्ष्य है।) अधिक क्या कहें उसके खानेपर मांस त्यागका व्रत नष्ट हो जाता है ॥९८॥ ठण्डी काँजीमें एकेन्द्रियादिक जीव उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए काँजीको सदाके लिए तजे ॥९९॥

कहा भी है—काँजीमें चार पहरके बाद एकेन्द्रिय, छह पहरके बाद द्वीन्द्रिय, आठ पहरके बाद त्रीन्द्रिय, दश पहरके बाद चतुरिन्द्रिय और बारह पहरके बाद पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं, इसमें कोई भी भ्रान्ति नहीं है ॥१६॥

नवनीतमें भी दो मुहूर्त्तके पश्चात् एकेन्द्रियादिक जीव उत्पन्न होने लगते हैं, इसलिए ज्ञानी जन नवनीतके खानेका त्याग करते हैं ॥१००॥

यदुक्तं च—

आमिससरिसउ भासियउ सो अंधो जो खाइ। वोह मुहुत्तहं उप्परिहं लोणिउं सम्मुच्छाइ ॥१७

गो-महिष्याः पयश्चापि वत्सोत्पत्तिदिनात्तथा। सन्त्याज्जं सर्वथा सद्भिर्दिनैः पञ्चदशप्रमैः ॥१०१

दुग्धे तक्रपरिक्षेपाद्दधि तक्रं दिनद्वयम्। ग्राह्यं ततः परं भव्यैर्वर्जनीयं च सर्वदा ॥१०२

इत्यादिकं परित्याज्यं यत्प्रोक्तं श्रीजिनागमे। कन्दमूलादिकं वस्तु तत्त्याज्यं श्रावकोत्तमैः ॥१०३

इत्यादिकं जिनपतेः परमागमे वै यद्वर्जितं मुनिवरैरिह कन्दकादि।

तत्सर्वथा निजहितैः परिवर्जनीयं सन्तोषसंयमपरैः सुविचक्षणैश्च ॥१०४

तथा श्रावकलोकानां दिग्देशानर्थदण्डकम्। गुणव्रतं त्रिधा प्राहुर्मुनीन्द्राः श्रुतधारिणः ॥१०५

मर्यादां मृत्युपर्यन्तं कृत्वा यत्सर्वदिक्षु यः। ततः परं न यात्येव तस्याद्यं स्याद्गुणव्रतम् ॥१०६

नदी-समुद्र-गिर्यादि-योजनाद्यैश्च धीधनैः। मर्यादा दिग्व्रते प्रोक्ता सतां सन्तोषशालिनाम् ॥१०७

ऊर्ध्वस्तिर्यगधाक्रान्तिः क्षेत्रवृद्धिश्च विस्मृतिः।
दिग्व्रतस्याप्यतीचाराः पञ्चैते ज्ञानिभिः स्मृताः ॥१०८

देशव्रतं तथा प्रोक्तं यद्विशालस्य संहृतिः। दिनं प्रति स्वशक्त्या च क्रियते सुश्रावकैः शुभम् ॥१०९

तस्य चापि गृह-ग्राम-नदी-योजनकादिभिः। मर्यादां सूरयो धीरा वदन्ति स्म सुखप्रदाम् ॥११०

प्रेषण-शब्दाऽऽनयनं रूपाभिव्यक्तिरत्र च। पुद्गलक्षेपणं पञ्चातीचारा देशसद्व्रते ॥१११

कहा भी है—नवनीत दो मुहूर्तके ऊपर सम्मूर्च्छित हो जाता है, अतः वह मांस-सदृश कहा गया है। जो इसे खाता है, वह अन्धा है ॥१७॥

गाय-भैंसका दूध भी बछड़ा उत्पन्न होनेके दिनसे लेकर पन्द्रह दिन तक सज्जनोंको सर्वथा ही त्याग करना चाहिए ॥१०१॥ दूधमें जामनके लिए छांछ डालनेके पश्चात् जमा हुआ दही और उससे बना छाँछ दो दिन तक ही ग्रहण करनेके योग्य हैं। उसके पश्चात् भव्योंको उसका सर्वदा त्याग करना चाहिए ॥१०२॥ श्रीजिनागममें उपर्युक्त आदि जिन वस्तुओंको परित्याज्य कहा है, वे सभी कन्दमूलादिक वस्तुएँ उत्तम श्रावकोंको त्यागना चाहिए ॥१०३॥ जिनेन्द्रदेवके परमागममें कन्दमूल इत्यादि जिन वस्तुओंको यहाँ मुनिवरोंने वर्जनीय कहा है वे सभी वस्तुएँ आत्म-हितैषी, सन्तोष और संयममें तत्पर ज्ञानियोंको सर्वथा ही परिवर्जन करना चाहिए ॥१०४॥ श्रुत-धारी मुनीन्द्रोंने श्रावक लोगोंके दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत, ये तीन गुणव्रत कहे है ॥१०५॥ सभी दिशाओंमें मर्यादा करके मृत्यु-पर्यन्त जो उससे बाहिर नहीं जाता है, उसके यह पहला दिग्व्रत नामका गुणव्रत होता है ॥१०६॥ सन्तोषशाली सन्तोंके दिग्व्रतमें ज्ञानियोंने नदी, समुद्र, पर्वत और योजनादिके द्वारा मर्यादा करनेका विधान किया है ॥१०७॥ ऊर्ध्वातिक्रान्ति, अधोऽतिक्रान्ति, तिर्यगतिक्रान्ति, क्षेत्रवृद्धि और सीमविस्मृति ये पाँच अतिचार दिग्व्रतके ज्ञानियोंने कहे हैं ॥१०८॥ दिग्व्रतमें स्वीकृत विशाल क्षेत्रका प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम श्रावकों-के द्वारा जो संकोच किया जाता है, उसे शुभ देशव्रत कहा गया है ॥१०९॥ धीरवीर आचार्योंने उस देशव्रतको भी घर, गली, ग्राम, नदी और योजनादिके द्वारा मर्यादा करनेको सुखदायी कहा है ॥११०॥ इस देशव्रतमें मर्यादित क्षेत्रसे बाहिर प्रेषण, आनयन, शब्दोच्चारण, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गल क्षेपण करना ये पाँच अतिचार होते हैं ॥१११॥ आचार्योंने पापोपदेश, हिंसादान,

पापोपदेशकं हिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः। प्राहुः प्रमादचर्यां वै पञ्च चानर्थदण्डकान् ॥११२
पशुक्लेशवणिज्यादि-हिंसाऽऽरम्भ-प्रवञ्चने। उपदेशो हि यः सोऽत्र ज्ञेयः पापोपदेशकः ॥११३

अस्याऽऽस्त्राऽऽयुधरज्ज्वादि-शृङ्खला-मुशलार्चिषाम्।
दानं पापप्रदं प्रोक्तं हिंसादानं बुधोत्तमैः ॥११४

शत्रूणां द्वेषभावेन वध-बन्धन-मारणे। परस्त्र्यादिषु दुश्चिन्ता त्वपध्यानमुदाहृतम् ॥११५
राग-द्वेष-महारम्भ-हिंसा-मिथ्यात्वकारिणीः। दुःश्रुतिः श्रुतज्ञैश्च सा प्रोक्ता पापकारणम् ॥११६
भूमि-तोयाग्नि-वातादि-वनस्पतिविराधनम्। वृथाऽटनादिकं चेति चर्या प्रोक्ता प्रमादजा ॥११७

तथाऽनर्थदण्डभेदाश्च (प्राहुः)—

मार्जारं कुर्कुरं कीरं वानरं चित्रकादिकम्। पारापतादिकं गेहे पोषयन् पापभाग् भवेत् ॥१८

उक्तं च—

लोह लक्ख विसु सणु मयणु दुट्ठभरणु पसु-भारु।
छंडि अणत्थहं पिंडिय पडिउ किम तरहिसि संसारु ॥१९

कन्दर्पं चापि कौत्कुच्यं मौखर्यं सुप्रसाधनम्। अत्रासमीक्षिताधिकरणं पञ्च व्यतिक्रमाः ॥११८

तथा शिक्षाव्रतान्युच्चैर्जगुश्चत्वारि साधवः। सामायिकं सदा पर्वोपवासो निर्जराकरः ॥११९
भोगोपभोगवस्तूनां सदा सङ्ख्या सुखप्रदा। संविभागोऽतिथीनां च क्रमात्तद्विस्तरं ब्रुवे ॥१२०
सर्वथा सर्वसावद्य-त्यागाश्चाऽऽसमयं भवेत्। सामायिकं व्रतं पूतं प्राहुस्तद्धर्मवेदिनः ॥१२१

अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ये अनर्थदण्डके पाँच भेद कहे हैं ॥११२॥ पशुओंको क्लेश पहुँचानेवाले व्यापार आदिका, हिंसा, आरम्भ और छल-प्रपंचका जो उपदेश देना सो पापोपदेश जानना चाहिए ॥११३॥ असि (खड्ग) आदि आयुधोंका, रस्सी आदिका तथा सांकल, मूसल और अग्नि आदि हिंसाके कारणभूत पदार्थोंके देनेको उत्तम ज्ञानियोंने पापप्रद हिंसादान कहा है ॥११४॥ द्वेषभावसे शत्रुओंके वध, बन्धन और मारणका चिन्तवन करना, तथा रागभावसे परस्त्री आदिका खोटा चिन्तवन करना, इसे अपध्यान कहा गया है ॥११५॥ राग, द्वेष, महारम्भ, हिंसा और मिथ्यात्वकी करनेवाली खोटी कथा-वार्ताओंका सुनना; उसे उत्तम श्रुतज्ञाताओंने दुःश्रुति कहा है; जो कि पापका कारण है ॥११६॥ भूमि, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकी वृथा विराधना करना तथा व्यर्थ गमनागमनादिक करना, इसे प्रमादचर्या कहा है ॥११७॥ इस प्रकार अनर्थदण्डके ये पाँच भेद कहे गये हैं। इसी प्रकार अपने घरमें बिल्ली, कुत्ता, सुआ, वानर, तीतर, कबूतर और चीता आदिका पालन-पोषण करनेवाला मनुष्य भी पापका भागी होता है ॥१८॥

और भी कहा है—लोहा, लाख, विष, सन, मैन, दुष्ट जीव-पालन और पशुओंपर भार लादना इन अनर्थोंको छोड़ो। अन्यथा संसारको कैसे तिरेगा ॥१९॥

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अति प्रसाधन और असमीक्ष्याधिकरण ये पाँच इस अनर्थदण्ड-व्रतके अतिचार हैं ॥११८॥ मुनियोंने उत्तम चार शिक्षाव्रत कहे हैं—सामायिक, निर्जरा करनेवाला सदा पर्वोपवास, भोगोपभोगकी वस्तुओंकी सदा सुखदायी संख्या, और अतिथिसंविभाग। अब मैं क्रमसे इनका विस्तृत कथन करता हूँ ॥११९–१२०॥ निश्चित समय तक सर्व पापकार्योंका सर्वथा त्याग करना सामायिक है। इसे धर्मके ज्ञाताओंने पवित्र व्रत कहा है ॥१२१॥ सामायिकके

समत्वं सर्वजीवेषु संयमो द्विविधस्तराम् । आर्त्त-रौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥१२२
चैत्यालये तथैकान्ते गृहे वा स्वस्थचित्तभाक् । स्थानं पद्मासनं स्थित्वा कुर्यात्सामायिकं सुधीः ॥१२३
चैत्य-पञ्चगुरूणां च भक्त्यादिक्रमयोगतः । महावैराग्यभावेन द्वि-त्रिसन्ध्यं तदाऽऽचरेत् ॥१२४
एकोऽहं शुद्ध-बुद्धोऽहं कर्मभिर्वेष्टितोऽपि च । संसारे कोऽपि मे नाहं नैव कस्येति चिन्तयेत् ॥१२५

उक्तं च—

कर्मबन्धकलितोऽप्यबन्धनो राग-रोषमलिनोऽपि निर्मलः ।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमत्र किल शक्तिरात्मनः ॥२०

चिन्ताऽऽरम्भ-मदं द्वेषं काम-क्रोधादिचिन्तनम् । यथाकालं परित्यज्य सुधीः सामायिकं भजेत् ॥१२६
शीतोष्ण-वातबाधां च दंशाद्यैश्चोपसर्गकम् । जिनेन्द्रवचने धीरः सहमानस्तदाश्रयेत् ॥१२७
केशबन्धस्तथा मुष्टि-बन्धः पल्यङ्कबन्धनः । वस्त्रादिबन्धनं चेति प्राहुस्तत्समयं बुधाः ॥१२८
उक्तं पञ्चव्रतानां हि पूरणं धर्मकारणम् । नित्यं सामायिकं भव्याः सङ्कुर्युर्दुःखवारणम् ॥१२९
पूर्वाऽऽचार्यक्रमेणोच्चैर्ये कुर्वन्ति विचक्षणाः । सामायिकं त्रिशुद्धया च भवभ्रमणनाशनम् ॥१३०
ते भव्याः श्रीजिनेन्द्राणां महाभक्तिपरायणाः । क्रमात्स्वमेक्षिजं सौख्यं प्राप्नुवन्त्येव निर्मलम् ॥१३१
मनोवाक्काययोगानां त्रिभिर्दुःप्रणिधानकैः । निरादरास्मृती सामायिके पञ्चव्यतिक्रमाः ॥१३२

काल-पर्यन्त सर्व जीवोंपर समता भाव रखना, इन्द्रिय-संयम और प्राणिसंयम यह दोनों प्रकारका संयम पालन तथा आर्त्त और रौद्रध्यानका त्याग करना, यह सामायिक व्रत है ॥१२२॥ चैत्यालयमें, एकान्त घरमें अथवा अन्य किसी स्थानमें स्वस्थ चित्त होकर, पद्मासन या खड्गासनसे स्थित होके ज्ञानी श्रावकको सामायिक करना चाहिए ॥१२३॥ यह सामायिक चैत्य और पंच परमेष्ठीकी भक्ति आदिके क्रमसे महान् वैराग्यभावके साथ श्रावकको प्रातः, सायं इन दोमें, अथवा प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों सन्ध्याओंमें करना चाहिए ॥१२४॥ सामायिकमें ऐसा चिन्तवन करे कि मै अकेला हूँ, कर्मोंसे वेष्टित होते हुए भी शुद्ध-बुद्ध हूँ, संसारमें कोई भी मेरा नहीं है और मैं भी किसीका नही हूँ ॥१२५॥

जैसा कि कहा है—कर्म-बन्धसे संयुक्त हो करके भी मैं बन्धन-रहित हूँ, राग-द्वेषसे मलिन होते हुए भी मै निर्मल हूँ, और देहवान् हो करके भी मैं देह-रहित हूँ। आत्माकी इस शक्तिपर आश्चर्य है ॥२०॥

सामायिकके काल-पर्यन्त चिन्ता, आरम्भ, मद, द्वेष, काम और क्रोधादिका चिन्तवन छोड़कर ज्ञानी पुरुष सामायिक करे ॥१२६॥ सामायिकके समय धीरवीर श्रावक जिनेन्द्रवचनमें दृढ़श्रद्धान रखता हुआ शीत-उष्ण पवनकी बाधाको और दंश-मशकादिके द्वारा होनेवाले उपसर्गको सहते हुए समताभावका आश्रय करे ॥१२७॥ ज्ञानियोंने केशबन्ध, मुष्टिबन्ध, पर्यङ्कासन बन्ध और वस्त्रादिबन्धको सामायिकका समय कहा है ॥१२८॥ यह सामायिक शिक्षाव्रत अहिंसादि पाँचों व्रतोंका परिपूरक, धर्मका कारण और दुःखोंका निवारण करनेवाला कहा गया है। अतः भव्यजन इस सामायिकको नित्य करें ॥१२९॥ जो ज्ञानी पुरुष भव-भ्रमणका नाशक इस सामायिकको पूर्वाचार्योंके द्वारा बतलाये हुए क्रमसे उच्च त्रियोग-शुद्धिके साथ करते हैं, वे श्रीजिनेन्द्रदेवकी महाभक्तिमें परायण भव्यजीव क्रमसे स्वर्ग और मोक्षमें उत्पन्न होनेवाले निर्मल सुखको प्राप्त होते ही हैं ॥१३०–१३१॥ तीनों योगोंका खोटा रखना अर्थात् मनोदुःप्रणिधान, वाक्दुः-

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां प्रोषधः क्रियते सदा । कर्मणां निर्जराहेतुः श्रावकाचारचञ्चुभिः ॥१३३
अन्नं[1] पानं च खाद्यं च लेह्यं चेति चतुर्विधम् । आहारं सन्त्यजेद् भव्यः प्रोषधस्य दिने सुधीः १३४
पूर्वस्मिन् दिवसे चैकभक्तं प्रोक्तं सुयुक्तितः । उपवासं विधायोच्चैः पारणादिवसे तथा ॥१३५
स प्रोषधोपवासस्तु समुत्कृष्टः सुखप्रदः । [2]तद्दिने पञ्चपापानां सन्त्यागोऽपि विधीयते ॥१३६
जलस्नानं तथा नस्यं नेत्रयोः कज्जलादिकम् । शरीरे मण्डनं चापि सन्त्यजेदुपवासभाक् ॥१३७
श्रीमज्जिनेन्द्र-संज्ञान-गुरूणां पादसेवया । धर्मध्यानेन भव्येन स्थातव्यं तद्दिने सुखम् ॥१३८
धर्मोपदेशपीयूषं श्रवणाभ्यां पिबन् सुधीः । पाययन् वा परान् भव्यानुपवासे शुभं भजेत् ॥१३९
एवं सुयुक्तितो भव्यः प्रोषधं यः करोत्यलम् । कर्मणां निर्जरा तस्य सम्भवेन्मुनिभिर्मतम् ॥१४०
अवीक्ष्य ग्रहणं वस्तु मोचनास्तरणे तथा । अनादरास्मृती पञ्च प्रोषधोऽपि व्यतिक्रमाः १४१

भोगोपभोगयोस्त्यागे यमश्च नियमो मतौ । यावज्जीवं यमो ज्ञेयो नियमः शक्ति-कालभाक् ॥१४२
अन्न-पानादिताम्बूलं भुज्यते भोगवस्तु यत् । स भोगः कथ्यते सद्भिर्धर्मशास्त्रविचक्षणैः ॥१४३

प्रणिधान, कायदुःप्रणिधान, इन तीनों दुःप्रणिधानोंके साथ सामायिकमे निरादर करना और स्मरण न रखना ये पाँच सामायिक व्रतमें अतीचार कहे गये हैं ॥१३२॥ श्रावकके आचारमें कुशल पुरुष अष्टमी और चतुर्दशीके दिन कर्मोंकी निर्जराका कारणभूत उपवास सदा करते हैं ॥१३३॥ ज्ञानी भव्य पुरुष प्रोषधके दिन अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकारके आहारको सर्वथा त्याग करें ॥१३४॥ पर्वके पहले दिन एकाशन करना कहा गया है, पुनः पर्वके दिन अच्छी रीतिसे उपवास करके पश्चात् पारणाके दिनमें एकाशन करे। यह सुखदायी उत्कृष्ट उपवास कहा गया है। इस प्रोषधोपवासके दिन पाँचो पापोंका सर्वथा त्याग विधेय है ॥१३५–१३६॥ उपवास करनेवाला जलसे स्नान करना, नस्य सूँघना, नेत्रोंमें कज्जलादिक लगाना और शरीरमें आभूषण धारण करना इत्यादिको भी छोड़े ॥१३७॥ उपवासके दिन श्रीमज्जिनेन्द्रदेवकी पूजा, शास्त्र-स्वाध्याय और गुरुजनोंकी चरण-सेवाके साथ धर्मध्यान करते हुए भव्य पुरुषको रहना चाहिए ॥१३८॥ उपवासके दिन ज्ञानी श्रावक अपने दोनों कानोंसे धर्मोपदेशरूप अमृतको स्वयं पीता हुआ और दूसरे भव्योंको पिलाता हुआ शुभध्यानको धारण करे ॥१३९॥ इस प्रकार जो भव्य सुयुक्तिसे सम्यक् प्रकार प्रोषधको करता है, उसके कर्मोंकी निर्जरा होती है, ऐसा मुनिजनोंने कहा है ॥१४०॥ विना देखे-शोधे वस्तुको ग्रहण करना, रखना और विस्तरादिको बिछाना, तथा प्रोषधोपवास करनेमें अनादर करना और भूल जाना, ये पाँच अतिचार प्रोषधव्रतके कहे गये हैं ॥१४१॥ भोगोपभोगके त्यागमें यम और नियम करना कहा गया है। यावज्जीवनके त्यागको यम और शक्तिके अनुसार नियत कालतकके त्यागको नियम जानना चाहिए ॥१४२॥ अन्न, पान, ताम्बूल आदिक जो भोग्य वस्तु एक बार भोगी जाती है, उसे धर्मशास्त्रके ज्ञाता सन्तोंने भोग कहा है ॥१४३॥

---

१. ओदनाद्यशनं स्वाद्यं ताम्बूलादि जलादिकम् ।
पेयं खाद्यं त्वपूपाद्यं त्याज्यान्येतानि शक्तितः ॥

२. खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी प्रमार्जिनी ।
पञ्च सूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न याति सः ॥

वस्त्रालङ्करणं यानं वाहनं शयनं स्त्रियः । भाजनादिकवस्तूच्चैरुपभोगः समाहृतः ॥१४४
तद्-द्वयोश्च यथाशक्ति यमो वा नियमो बुधैः । आजन्मपक्ष-मासर्तुवर्षाद्यैः संविधीयते ॥१४५
अत्यादरः स्मृतिर्नित्यं लौल्यं सानुभवं तृषा । भोगोपभोगसङ्ख्यायामतीचाराश्च पञ्च वै ॥१४६

संविभागो भवेत्त्यागस्त्यागो दानं च पूजनम् । तद्दानं भक्तितो देयं सुपात्राय यथाविधि ॥१४७
तत्सुपात्रं त्रिधा प्रोक्तं समुत्कृष्टं च मध्यमम् । जघन्यं च समाख्यातं मुनीन्द्रैर्ज्ञानलोचनैः ॥१४८
महाव्रतानि यः पञ्च तिस्रो गुप्तीर्निरन्तरम् । समितीः पञ्च सन्धत्ते स मुनिः पात्रमुत्तमम् ॥१४९
निर्ग्रन्थोऽसौ महापात्रं यानपात्रमिवोत्तमः । महासंसारवाराशौ सुधीः स्व-परतारकः ॥१५०
सम्यक्त्वेन समायुक्तो व्रतैर्द्वादशभिर्युतः । स श्रावको भवेत्पात्रं मध्यमं धर्मवत्सलः ॥१५१
केवलं सारसम्यक्त्वं यो बिभर्त्ति विचक्षणः । स जघन्यं सुधीः पात्रं सद्-दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥१५२
इति त्रिविधपात्रेभ्यो दानं देयं चतुर्विधम् । महादयापरैर्भव्यैर्यथायोग्यं यथाविधि ॥१५२
विधिर्दातृगुणा दानभेदाः प्रोक्ता जिनागमे । तान् सङ्क्षेपेण संवक्ष्ये पूर्वाचार्यक्रमेण च ॥१५४
पुण्यात्स्वगृहमायाते सुपात्रे मुनिसत्तमे । श्रावकेण विधिः कार्यो नवधा पुण्यभागिना ॥१५५
प्रतिग्रहोच्चैःसुस्थानं पादक्षालनमर्चनम् । नतिस्त्रियोगभोज्येषु शुद्धयो नवधा विधिः ॥१५६

श्रद्धा भक्तिरलोभत्वं दया शक्तिः क्षमा परा । विज्ञानं सप्तधा चेति गुणा दातुः प्रकीर्त्तिताः ॥१५७

वस्त्र, अलंकार, यान, वाहन, शयन, स्त्री और पात्रादिक वस्तुओंका सेवन करना उपभोग कहा गया है ॥१४४॥ इन भोग और उपभोग दोनोंका ही ज्ञानी जन जन्म भरके लिए यम और पक्ष, मास, ऋतु (दो मास), वर्ष आदिकालकी मर्यादारूप नियमको धारण करते हैं ॥१४५॥ भोग-उपभोगकी वस्तुओंमें अति आदरभाव रखना, पूर्वमें भोगे भोगोंका स्मरण करना, वर्तमानके भोगोंमें अति लोलुपता रखना, नहीं भोगते हुए भी उनका अनुभव-सा करना और आगामी कालमें उनके भोगनेकी तृष्णा रखना, ये पाँच भोगोपभोग संख्यातव्रतके अतिचार हैं ॥१४६॥ संविभाग नाम त्यागका है और त्याग दान एवं पूजनको कहते हैं, इसलिए यह दान सुपात्रके लिए भक्तिसे यथाविधि देना चाहिए ॥१४७॥ ज्ञाननेत्रवाले मुनीन्द्रोंने वह सुपात्र तीन प्रकारके कहे हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य ॥१४८॥ जो निरन्तर पाँचों महाव्रतोंको, तीनों गुप्तियोंको और पाँचों समितियोंको धारण करता है, वह मुनि उत्तम पात्र है ॥१४९॥ वह महापात्र उत्तम निर्ग्रन्थ बुद्धिमान् महान् संसाररूप सागरमें यानपात्र (जहाज) के समान स्व-परका तारक है ॥१५०॥ जो सम्यग्दर्शनसे संयुक्त है, और बारह व्रतोंसे भी समायुक्त है, वह धर्म-वत्सल श्रावक मध्यम पात्र है ॥१५१॥ जो विचक्षण केवल सारभूत सम्यक्त्वको धारण करता है, वह सुधी, जिन-भक्त सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है ॥१५२॥ महान् दयालु भव्य जीवोंको उपर्युक्त तीनों प्रकारके पात्रोंके लिए चारों प्रकारका दान यथायोग्य विधिपूर्वक देना चाहिए ॥१५३॥ जैन आगममें दानकी विधि, दाताके गुण और दानके भेद कहे गये हैं, उन्हें मैं पूर्वाचार्योंके अनुसार संक्षेपमें कहता हूँ ॥१५४॥ पुण्योदयसे सुपात्र श्रेष्ठ मुनिके अपने घर आनेपर पुण्यशाली श्रावकको नवधा भक्ति करनी चाहिए ॥१५५॥ प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पाद प्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, तीनों भोगोंकी शुद्धि ये नवधा भक्ति ही दानकी विधि है ॥१५६॥

श्रद्धा, भक्ति, अलोभत्व, दया, शक्ति, उत्तम क्षमा और विज्ञान ये दाताके सात प्रकारके

पात्रं मे गृहमायातु समायाते च सन्मुनौ । पात्रं मयाऽद्य सम्प्राप्तं प्रीतः श्रद्धायुतो भवेत् १५८
आहारावधि तत्पार्श्वे सेवां कुर्वन् प्रतिष्ठते । महाधर्मानुरागेण श्रावको भक्तिमान् स च ॥१५९
राज्यादिकार्यं मे तस्माद् भविष्यति मुनेर्मम । इतीच्छावर्जितो दाता स भवेल्लोभवर्जितः ॥१६०
कार्यार्थं स्वगृहस्यान्ते कीटकादीन् विलोकयन् । सम्प्रयात्येति यो दाता दयावान् न प्रकीर्त्यते ॥१६१
साधिके च व्यये जाते कातरो यो न जायते । शक्तिमान् स भवेद्दाता गम्भीरः सागरादपि ॥१६२
स्त्री-पुत्रादिकृते दोषे दानकाले न कुप्यति । सुश्रावकः क्षमायुक्तो भण्यते स विदांवरैः ॥१६३
पात्रापात्रविशेषज्ञो गुणदोषविचारवान् । देयादेयं च जानाति स दाता ज्ञानवान् सुधीः ॥१६४

तथा चोक्तं दातृविज्ञानम्—

विवर्णं विरसं विद्धमस्यात्मप्रभृतं च यत् । मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहम् ॥२१
उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम् । न देयं दुर्जनस्पृष्टं देव-यक्षादिकल्पितम् ॥१६५
ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्राऽऽनीतमुपायनम् । न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वाऽप्यथार्तुकम् ॥१६६

आहारौषधशास्त्राभयाख्यं चतुर्विधम् । श्रीमज्जिनागमे प्रोक्तं सतां दानं सुखप्रदम् ॥१६७
पवित्रैर्नवभिः पुण्यैर्दातृसप्तगुणैर्युतः । यः सुपात्राय सद्-भक्त्या दानमाहारसंज्ञकम् ॥१६८

गुण कहे हैं ॥१५७॥ 'पात्र मेरे घर आवे; (ऐसी भावना रखे) और उत्तम मुनिके आनेपर 'आज मुझे पात्रका सुलाभ हुआ है' इस प्रकार प्रसन्न होकर श्रद्धा युक्त हो गये। यह श्रद्धा गुण है ॥१५८॥ पुनः आहार होने तक उनके समीप महान् धर्मानुरागसे उनकी सेवा करता हुआ रहे; वह भक्तिमान् श्रावक है। यह भक्तिगुण है ॥१५९॥ 'इस मुनिको दान देनेसे मेरा अमुक राज्यादि-कार्य हो जायगा' इस प्रकारकी इच्छासे रहित जो दाता होता है, वह लोभ-रहित कहलाता है। यह अलोभत्वगुण है ॥१६०॥ जो दयावान् दाता अपने घरके भीतर कार्यके लिए आते जाते कीड़े आदिको देखता हुआ जाता-आता है, वह दयावान् कहलाता है ॥१६१॥ दान देनेमें अधिक व्यय हो जानेपर भी जो दाता कायर नहीं होता, प्रत्युत समुद्रसे भी गम्भीर बना रहता है, वह शक्तिमान् कहा जाता है ॥१६२॥ दानके समय स्त्री-पुत्रादिके द्वारा किसी दोषके हो जानेपर भी जो कुपित नहीं होता है, वह सुश्रावक ज्ञानियोंके द्वारा क्षमायुक्त कहा गया है ॥१६३॥ जो पात्र और अपात्रके भेदको जानता है, गुण-दोषका विचारक है, और देय-अदेय वस्तुको जानता है, वह सुधी दाता ज्ञानवान् कहलाता है ॥१६४॥

दाताके विज्ञानके विषयमें कहा है—मुनियोंके लिये विवर्ण, विरस (चलितरस), विद्ध (घुना) और जीवोंसे भरा हुआ अन्न नहीं देना चाहिए। तथा जो वस्तु शुद्ध होनेपर भी खानेसे रोग-कारक हो, वह भी नहीं देना चाहिये ॥२१॥

जो वस्तु उच्छिष्ट हो, नीच लोगोंके योग्य हो, अन्यके उद्देशसे बनायी गयी हो, निन्दनीय हो, दुर्जनके द्वारा स्पर्श की गयी हो, देव-यक्षादिके लिये संकल्पित हो, अन्य ग्रामसे लायी गयी हो, मन्त्र-द्वारा बुलायी गयी हो, भेंटमें आयी हो, बाजारसे खरीदी गयी हो, प्रकृति-विरुद्ध हो, ऋतुके प्रतिकूल हो, ऐसा आहार भी साधुको नहीं देना चाहिये ॥१६५–१६६॥ श्रीमज्जिनागममें आहार, औषध, शास्त्र और अभय नामके चार प्रकारके दान सज्जनोंको सुख-दायक कहे गये हैं ॥१६७॥ पवित्र नव पुण्योंसे, और दाताके सात गुणोंसे युक्त जो पुरुष सुपात्रके लिये उत्तम भक्तिके साथ

संददाति जगत्सारं स दाता पुण्यभाजनम् । महासुखी भवेन्नित्यं कुगतिं नैव पश्यति ॥१६९
धनैर्धान्यैर्जनैर्युक्ता रोग-शोकविवर्जिताः । रूप-सौभाग्यसम्पन्नाः कीर्त्या व्याप्तत्रिविष्टपाः ॥१७०
महाकुला महासत्त्वा महाराज्यादिसम्पदः । भव्या भवन्ति ते सर्वे सत्पात्राऽऽहारदानतः ॥१७१
स्वर्गादिसुखसम्प्राप्तेरन्नदातुः किमुच्यते । यद्-गृहं तीर्थनाथोऽपि समायाति स्वयं यतः ॥१७२
तथा भव्यैः प्रदातव्यं दानं चौषधमुत्तमम् । जीवानां रोगतप्तानां जीवदानोपमं शुभम् ॥१७३
येन त्रिविधपात्रेभ्यो दत्तमौषधमुत्तमम् । भवे भवे भवेन्नित्यं स दाता रोगवर्जितः ॥१७४
व्याधितश्चाङ्गनाशः स्यादङ्गनाशे कुतस्तपः । जिनेन्द्रतपसा शून्यः कथं प्राणी लभेच्छिवम् ॥१७५
तस्माद् भव्यैः प्रयत्नेन महाधर्मानुरागतः । सार्धमिकादिकेभ्यश्च देयं दानं सदौषधम् ॥१७६

श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं शास्त्रं त्रैलोक्यपूजितम् । सुश्रावकैः सुपात्राय तद्देयं शर्मकोटिदम् ॥१७७
ज्ञानदानेन पात्रस्य सद्दाता परजन्मनि । जानाति सर्वशास्त्राणि कीर्त्या व्याप्तजगत्त्रयः ॥१७८
यज्ज्ञानं लोचनप्रायं वर्तते सर्वदेहिनाम् । तद्दीयते सुपात्राय किं सुपुण्यमतः परम् ॥१७९
ततः शास्त्रं जिनेन्द्रोक्तं स्वर्ग-मोक्षसुखप्रदम् । लिखित्वा लेखयित्वा च स्वशक्त्या भक्तिपूर्वकम् ॥१८०
शास्त्रदानं सुपात्राय देयं सज्ज्ञानसिद्धये । सुश्रावकैर्महाभव्यैः संसाराम्भोधितारणम् ॥१८१

पुनर्भव्यैः प्रदातव्यं दानं चाभयसंज्ञकम् । जन्तुभ्यो भय-भीतेभ्यो दशधाप्राणरक्षणम् ॥१८२

आहारसंज्ञक दान देता है, वह दाता जगत्‌में सारभूत पुण्यका भाजन होता है, सदा सुखी रहता है और कुगतिको नहीं देखता है ॥१६८-१६९॥ सुपात्रोंको आहार दान देनेसे सभी भव्य पुरुष धन, धान्य और परिजनोंसे युक्त होते हैं, रोग-शोकसे रहित रहते हैं, रूप-सौभाग्यसे सम्पन्न, कीर्त्तिसे त्रिलोकको व्याप्त करनेवाले, महाकुलीन, महाबलशाली और महान् राज्यादि सम्पदा-वाले होते हैं ॥१७०-१७१॥ स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति करनेवाले अन्नदानके दाताकी अधिक क्या प्रशंसा की जाय, जिसके कि घरपर स्वयं तीर्थंकर देव भी आहारके लिये आते हैं ॥१७२॥ तथा भव्य जनोंको रोग-पीड़ित जीवोंके लिये जीवन-दानके सदृश शुभ, उत्तम औषध-दान भी देना चाहिये ॥१७३॥ जिस पुरुषने तीनों प्रकारके पात्रोंके लिये उत्तम औषध-दान दिया है, वह दाता भव-भवमें नित्य ही रोगसे रहित रहेगा ॥१७४॥ व्याधिसे शरीरका नाश होता है और शरीरके विनष्ट होनेपर तप कैसे हो सकता है ? पुनः जिनेन्द्रोक्त तपसे शून्य प्राणी शिवको कैसे पावेगा ॥१७५॥ अतएव भव्य जनोंको चाहिये कि वे प्रयत्नके साथ महान् धर्मानुरागसे साधर्मी लोगोंके लिये सदा औषधदान देवें ॥१७६॥ श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रसे कथित, त्रैलोक्य पूजित, और कोटि-कोटि सुखोंको देनेवाला शास्त्र-दान सुपात्रके लिये श्रावकोंको देना चाहिये ॥१७७॥ पात्रके ज्ञानदानसे ज्ञानदाता पुरुष परजन्ममें सर्व शास्त्रोंको जानता है और अपनी कीर्त्तिसे तीनों लोकोंको व्याप्त करता है ॥१७८॥ जो ज्ञान सभी प्राणियोंके नेत्रोंके समान है, उसे जो सुपात्रके लिये देता है, उससे बड़ा और क्या पुण्य है ॥१७९॥ इसलिये स्वर्ग और मोक्षके सुखको देनेवाले जिनेन्द्र-कथित शास्त्र को लिखकर और अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंसे लिखाकर भक्तिपूर्वक महाभव्य उत्तम श्रावकोंको सम्यग्ज्ञानकी सिद्धिके लिये संसार-सागरसे पार उतारनेवाला शास्त्रदान सुपात्रोंके लिये देना चाहिये ॥१८०-१८१॥ पुनः भव्य जनोंको चाहिये कि वे भय-भीत प्राणियोंके लिये दश प्रकारके प्राणोंका रक्षण करनेवाला अभय नामका दान देवें ॥१८२॥ जिस भव्यने जीवोंको निर्भय

येन भव्येन संदत्तं दानं निर्भयकारणम् । जन्तुभ्यस्तेन भव्येन कृतं तज्जीवधारणम् ॥१८३
तेन दानेन तद्दाता निर्भयो भुवने भवेत् । शूरो वीरोऽतिगम्भीरो विशुद्धहृदयः सुधीः ॥१८४
दयार्थं दीयते सर्वं दानं सद्-भोजनादिकम् । साक्षाद्दया कृता तेन दत्तं येनाभयं शुभम् ॥१८५
इति ज्ञात्वा सुपात्राय देयं तद्दानमुत्तमम् । अन्यत्रापि यथायोग्यमभयं शर्मदं बुधैः ॥१८६
एवं त्रिविधपात्रेभ्यो दानं शक्त्या चतुर्विधम् । यैर्दत्तं भक्तितो भव्यैस्तैः सिक्तो धर्मपादपः ॥१८७

पात्रं जिनाश्रयी चापि पोष्यः सुश्रावकैः क्रमात् ।
सर्वथा विपरीतो यः स सन्त्याज्यो विवेकिभिः ॥१८८

उक्तं च—

मिथ्यादृग्भ्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्धकः । पन्नगाऽऽस्ये पयो दत्तं केवलं विषवृद्धिकृत् ॥२२
सुपात्रापात्रयोर्दान-भेदो लोके महानहो । शुद्धपात्रं यथा यान-पात्रं स्व-पर तारकम् ॥१८९
कुपात्रं च भवेल्लोके कुधीः स्व-परवञ्चकः । स पाषाणसमो ज्ञेयो मिथ्यादृष्टिरतात्त्विकः ॥१९०

उक्तं च—

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥२३

यथा स्वच्छजलं चापि वृक्षभेदेषु भूतले । नानारसत्वमाप्नोति पात्रभेदात्तथाऽशनम् ॥१९१

करनेका कारण अभयदान दिया, उस भव्यने अपने निर्भय जीवनको धारण किया ॥१८३॥ इस अभयदानसे दाता पुरुष संसारमें निर्भय, शूर, वीर, अति गम्भीर, विशुद्ध हृदय और सुज्ञानी होता है ॥१८४॥ दयाके लिये उत्तम भोजनादिक सभी दान दिये जाते हैं, किन्तु जिसने उत्तम अभयदान दिया, उसने तो सभी जीवोंपर साक्षात् दया की ॥१८५॥ ऐसा जान कर ज्ञानियोंको सुपात्रके लिये यह उत्तम अभय दान देना चाहिये। तथा अन्य प्राणियोंपर भी सुखदायी यह अभय दान यथायोग्य देना चाहिये ॥१८६॥ इस प्रकार जिन भव्योंने त्रिविध-पात्रोंके लिये उक्त चतुर्विध दान अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिसे दिया, उन्होंने धर्मरूपी वृक्षको सींचा ॥१८७॥ उत्तम श्रावकोंको जिनदेवका आश्रय करनेवाला पात्र सदा ही क्रमसे पोषण करनेके योग्य है। किन्तु जो जिनमार्गसे सर्वथा विपरीत है, वह विवेकी जनोंके द्वारा सन्त्याज्य है ॥१८८॥

कहा भी है—मिथ्यादृष्टियोंके लिये दानको देनेवाला दाता अपने मिथ्यात्वको ही बढ़ाता है। क्योंकि साँपके मुखमें दिया गया दूध केवल विषकी वृद्धि ही करता है ॥२२॥

अहो, लोकमें सुपात्र और अपात्रको दिये गये दानमें महान् भेद है। शुद्ध पात्र तो यान-पात्र (जहाज) के समान स्व और परका तारक है ॥१८९॥ किन्तु कुपात्र लोकमें कुबुद्धि और स्व-परक वंचक होता है। यह तत्त्वज्ञानसे रहित मिथ्यादृष्टि कुपात्र पाषाणके जहाजके समान स्व और परको डुबानेवाला जानना चाहिये ॥१९०॥

कहा भी है—महाव्रतसे युक्त अनगार साधु उत्कृष्ट पात्र है, अणुव्रतसे युक्त गृहस्थ मध्यम पात्र है, व्रतसे रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। सम्यग्दर्शनसे रहित और व्रत-समूहसे युक्त जीव कुपात्र है और जो सम्यग्दर्शन और व्रत इन दोनोंसे ही रहित है, ऐसे मनुष्यको अपात्र जानो ॥२३॥

जिस प्रकार भूतलपर स्वच्छ जल भी अनेक जाति भेदवाले वृक्षोंमें पहुँचकर नाना प्रकार

पात्रदानं भवेद्दातुर्महाफलशतप्रदम् । मृष्टभूमौ यथा बीजं क्षिप्तं भूरिफलप्रदम् ॥१९२
उप्तं क्षारक्षितौ यद्वद्बीजं चापि वृथा भवेत् । तथा कुपात्रजं दानं दातुर्निष्फलतां भजेत् ॥१९३

इत्यादि पात्रभेदज्ञो यः सुपात्राय भक्तितः । शक्त्या दानं ददात्युच्चैः स दाता हि विचक्षणः ॥१९४
पात्रदानेन तेनात्र मनोवाञ्छितसम्पदा । धनं धान्यं सुवर्णं च मणि-माणिक्यमुत्तमम् ॥१९५
स्वर्गादिसुखमुत्कृष्टं कुलं परिजनादिकम् । सम्प्राप्य क्रमतो भव्या लभन्ते शाश्वतं सुखम् ॥१९६
इति मत्वा महाभव्यैः सुपात्रेभ्यः सुभक्तितः । दानं चतुर्विधं देयं शर्मकोटिविधायकम् ॥१९७
श्रीषेणो वृषभसेना कौण्डेशः शूकरोऽपि च । चतुर्णां शुभदानानां क्रमादेते सुखं श्रिताः ॥१९८
सचित्तपत्रके क्षिप्तं तेनाच्छादनविस्मृती । दाने निरादरः पञ्च मत्सरत्वं व्यतिक्रमाः ॥१९९

ये भव्या जिनधर्म-कर्मनिरताः सुश्रावकाः सज्जना-
स्ते नित्यं निजभक्ति-शक्तिसहिताः प्रीताः प्रमादोज्झिताः ।
पात्रेभ्यो वरभोजनादिविशदं दानं चतुर्लक्षणं
दत्वा शर्मशतप्रदं शुभतरं दिव्यां भजन्तु श्रियम् ॥२००

उक्तं च—

य आचष्टे सङ्ख्यां गगनतलनक्षत्रविषयामिदं वा जानीते कतिचुलुकमानो जलनिधिः ।
अभिज्ञो जीवानां प्रतिभवपरावर्तकथने प्रमाणं पुण्यस्य प्रथयतु सुपात्रार्पितधने ॥२४

के रसपनेको प्राप्त होता है, उसी प्रकार सामान्यरूप भोजन भी पात्रके भेदसे नाना प्रकारके विपाकको प्राप्त होता है ॥१९१॥ पात्रमें दिया गया दान दाताके सैकड़ों महान् फलोंको देता है। जैसे कि उत्तम भूमिमें बोया गया बीज भारी फलको देता है ॥१९२॥ क्षार भूमिमें बोया गया बीज जैसे वृथा जाता है, उसी प्रकार कुपात्रको दिया गया दाताका दान निष्फल जाता है ॥१९३॥ जो श्रावक सुपात्र-कुपात्रादिके भेदोंको जानकर, सुपात्रके लिये भक्तिसे शक्तिके अनुसार उत्तम दान देता है, वह दाता विचक्षण (ज्ञानी) कहलाता है ॥१९४॥ इस पात्र दानसे भव्य जीव इस भवमें ही मनोवांछित सम्पत्ति, धन, धान्य, सुवर्ण और उत्तम मणि-माणिकको पाकर, तथा पर-भवमें स्वर्गादिके सुख, उत्कृष्ट कुल, कुटुम्बादिकको पा करके क्रमसे शाश्वत शिव-सुखको पाते हैं ॥१९५–१९६॥ ऐसा जानकर महाभव्य श्रावकोंको सुपात्रोंके लिए उत्तम भक्तिके साथ कोटि-कोटि सुखोंका देनेवाला चार प्रकारका दान देना चाहिये ॥१९७॥ श्रीषेण, वृषभसेना, कौण्डेश और सूकर ये चारों जीव क्रमशः शुभ दानोंके देनेसे परम सुखको प्राप्त हुए ॥१९८॥ सचित्तपत्र-निक्षेप, सचित्तपत्राच्छादन, विस्मृति, निरादर और मत्सरत्व ये पाँच अतिथिसंविभाग व्रतके अतिचार हैं ॥१९९॥ जो भव्य जिनधर्मके कार्योंमें संलग्न है, उत्तम श्रावक हैं, सज्जन हैं, वे प्रमाद-रहित होकर, परम प्रीतिके साथ निजभक्ति और शक्तिसे सहित नित्य ही सुपात्रोंके लिये उत्तम आहारादि निर्मल चतुर्विध, शत-सहस्र सुखप्रद और अतिशुभ दानको देकर दिव्य लक्ष्मी को भोगें ॥२००॥

कहा भी है—जो पुरुष गगनतलमें विद्यमान नक्षत्रोंकी संख्याको कह सकता है, अथवा जो यह जानता है कि यह जलनिधि (समुद्र) कितनी चुल्लू-प्रमाण जलवाला है, अथवा जो जीवों के प्रति भवके परावर्तनोंके कथनमें अभिज्ञ है, वही मनुष्य सुपात्रको अर्पण किये गये धनसे उपा-

तथा चोक्तम्—

दानेन तिष्ठन्ति यशांसि लोके दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्तस्मात्सुदानं सततं प्रदेयम् ॥२५

पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपद्मद्वयोर्मुदा । महाभव्यैः प्रकर्त्तव्या लोकद्वयसुखप्रदा ॥२०१
तत्रापूर्वं जिनेन्द्राणां शक्तिश्चेद् भक्तिपूर्वकम् । प्रासादं कारयित्वोच्चैर्ध्वजाद्यैः परिशोभितम् ॥२०२
स्वर्ण-रत्नादिकाश्चापि प्रतिमाः पापनाशिनीः । तत्प्रतिष्ठां विधायोच्चैर्गरिष्ठां विधिपूर्वकम् ॥२०३
तत्र संस्थापयन्त्येवं ये भव्या शुद्धमानसाः । पञ्चकल्याणकोत्पन्नां ते लभन्ते सुसम्पदाम् ॥२०४
सामान्यतोऽपि देवेन्द्र-चक्रिलक्ष्मीर्न दुर्लभा । तेषामासन्नभव्यानां जिनभक्तिविधायिनाम् ॥२०५

उक्तं च—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् । पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥२६
पञ्चामृतैर्जिनेन्द्रार्चा ये नित्यं स्नपयन्ति च । ते स्नाप्यन्ते महाभव्याः सुराधीशैः सुराचले ॥२०६
तथा जलादिभिर्द्रव्यैरष्टभेदैर्जिनाधिपान् । सम्पूजयन्ति ये भक्त्या ते पूज्यन्ते सदामरैः ॥२०७
इन्द्र-नागेन्द्र-चन्द्रार्कैश्चक्रवर्त्यादिभिर्मुदा । श्रीजिनेन्द्राः सदा पूज्या जगत्त्रयहितङ्कराः ॥२०८
तेषां श्रीमज्जिनेन्द्राणां केवलज्ञानसम्पदाम् । किं तैः पूजादिभिः साध्यं किन्तु भव्याः सुखार्थिनः २०९

जित पुण्यके प्रमाणको कहनेमें समर्थ हो सकता है। सारांश यह है कि जैसे कोई भी व्यक्ति आकाशके नक्षत्रोंकी संख्या, समुद्रके जलका प्रमाण और जीवोंके भव-परिवर्तनोंको कहनेमें समर्थ नहीं है, वैसे ही सुपात्र दानके पुण्यका फल कहना भी सम्भव नहीं है ॥२४॥ और भी कहा है—दानसे लोकमें यश विस्तारको प्राप्त होता है, दानसे वैरभाव भी विनष्ट हो जाते हैं, दानसे अन्य जन भी बन्धुभावको प्राप्त होते है, इस कारण उत्तम दान सदा ही देना चाहिए ॥२५॥

श्रीमज्जिनेन्द्रदेवोंके दोनों चरणकमलोंकी दोनों लोकोंमें सुखको देनेवाली पूजा महाभव्योंको अतिप्रमोदसे करनी चाहिए ॥२०१॥ यदि शक्ति हो, तो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवोंके ध्वजादिसे सुशोभित उच्च प्रासाद (जिनमन्दिर) बनवा करके और सुवर्ण-रत्नादिककी पापनाशिनी सुन्दर प्रतिमाएँ बनवाकर और विधिपूर्वक उनकी उत्तम प्रतिष्ठा करके जो शुद्ध हृदय भव्य जीव उन जिनमन्दिरोंमें संस्थापित करते है, वे पंचकल्याणकोंसे उत्पन्न होनेवाली उत्तम सम्पदाको प्राप्त करते हैं ॥२०२–२०४॥ फिर जिनभक्ति करनेवाले उन निकट भव्योंको सामान्य रूपसे देवेन्द्र और चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिलना दुर्लभ नही है ॥२०५॥

कहा भी है—यह एक ही जिनभक्ति कृती पुरुषको दुर्गतिके निवारण करनेके लिए, पुण्योंको पूरनेके लिए और मुक्तिश्री देनेके लिए समर्थ है ॥२६॥

जो भव्य जीव पचामृतोंसे नित्य ही जिन-बिम्बोंका अभिषेक करते हैं, वे महाभव्य सुमेरु गिरिपर देवेन्द्रोंके द्वारा अभिषिक्त होते हैं ॥२०६॥ जो पुरुष जलादि आठ भेदवाले द्रव्योंसे भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रोंकी पूजा करते है, वे सदा ही देवोंके द्वारा पूजे जाते है ॥२०७॥ भुवनत्रयके हितकारी श्रीजिनेन्द्रदेव इन्द्र, नागेन्द्र, चन्द्र, सूर्य और चक्रवर्ती आदिके द्वारा हर्षके साथ सदा ही पूज्य है ॥२०८॥ केवलज्ञानकी सम्पदावाले उन श्रीमज्जिनेन्द्रदेवोंको पूजादिसे क्या साध्य है? अर्थात् उन्हे अपनी पूजादिसे कोई प्रयोजन नही है। किन्तु जो सुखार्थी भव्य जीव हैं, धर्म तत्त्वके

ये पूजयन्ति सद्-भक्त्या धर्मतत्त्वविदांवराः। श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-द्वयं स्वर्मोक्षसौख्यदम् ॥२१०
ते भव्या भुवने पूज्या भूत्वा पश्चाद्यथाक्रमम्। केवलज्ञानसाम्राज्यं संलभन्ते जगद्धितम् ॥२११
तथा भव्यैः समभ्यर्च्य श्रीजिनेन्द्रान् जगद्धितान्। संस्तुतिर्भक्तितः कार्या सर्वपापप्रणाशिनी ॥२१२

ततो जाप्यं जगत्सारं कर्त्तव्यं परमेष्ठिनाम्। मनोवाक्कायसंशुद्धया दुर्गतिक्षयकारणम् ॥२१३
मन्त्रोऽयं त्रिजगत्पूतः सत्पञ्चत्रिंशदक्षरः। सञ्जप्यो भुवने भव्यैः सर्वपापप्रणाशकः ॥२१४
एतन्मन्त्रप्रसादेन तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः। का वार्ता परभव्यानां युक्तितस्तन्निसेविनाम् ॥२१५

यदुक्तम्—

प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम्।
कः सन्देहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं जप्यन् जाप्यैरमलमणिभिस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ॥२७
तथा गुरूपदेशेन जपं कार्यं जगद्धितम्। षोडशाद्यक्षरैर्भव्यैर्यथागममुदाहृतम् ॥२१६

उक्तं च—

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह। परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवदेसेण ॥२८

जानकार हैं, और सद्-भक्तिसे स्वर्ग और मोक्षको देनेवाले श्रीजिनेन्द्रदेवके चरण-युगलको पूजते हैं, वे भव्य इस भुवनमें पूज्य होकर, पश्चात् यथाक्रमसे जगत्-हितकर केवलज्ञानरूप साम्राज्य प्राप्त करते हैं ॥२०९-२११॥ इस प्रकार जगत्के कल्याण करनेवाले श्रीमज्जिनेन्द्रदेवकी पूजा करके भव्योंको परमभक्तिसे सर्वपापोंकी नाश करनेवाली उत्तम स्तुति भी करनी चाहिए ॥२१२॥ तत्पश्चात् दुर्गतिके क्षयका कारण और जगत्में सार ऐसा पंचपरमेष्ठियोंके नामका जाप भी मन-वचन-कायकी शुद्धिसे करना चाहिए ॥२१३॥ पैंतीस अक्षरवाला 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि अनादि मूलमन्त्र तीन लोकमें पूज्य है और सर्वपापोंका विनाश करनेवाला है, अतः भव्यजीव इसका सदा जाप करें ॥२१४॥ इस मन्त्रके प्रसादसे तिर्यंच जीव भी स्वर्गको गये हैं, फिर जो परम भव्य जीव युक्तिसे उसकी आराधना करते हैं, उनके पुण्यकी क्या बात है ॥२१५॥

जैसा कि कहा है—जीवन्धरकुमारके द्वारा उपदिष्ट तुम्हारे नमस्कारमन्त्रके पदोंको मरण-समयमें पाकर पापाचारी कुत्ता भी देवोंके सुखोंको प्राप्त हुआ, तो फिर जो निर्मल मणियोंके द्वारा आपके नमस्कारमन्त्ररूप चक्रको मालाओंसे जपता हुआ पुरुष देवेन्द्रकी लक्ष्मीके प्रभुत्वको पाता है, तो इसमें क्या सन्देह है? कुछ भी नहीं ॥२७॥

तथा गुरुके उपदेशसे सोलह आदि अक्षरोंके द्वारा जैसा आगममें कहा है, तदनुसार जगत्-हितकारी जप भी भव्योंको करना चाहिए ॥२१६॥

कहा भी है—पंचपरमेष्ठीके वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर-वाले मन्त्रका जप और ध्यान करना चाहिए। तथा गुरुके उपदेशसे परमेष्ठी-वाचक अन्य मन्त्रोंका भी जप और ध्यान करना चाहिए। भावार्थ—पूरा णमोकार मन्त्र पैंतीस अक्षरका मन्त्र है। 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' यह सोलह अक्षरका मन्त्र है। 'अरहन्त सिद्ध', अथवा 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' यह छह अक्षरका मन्त्र है। 'अरहन्त' यह चार अक्षरका मन्त्र है। 'सिद्ध' यह दो अक्षरका और 'ओं' यह एक अक्षरका मन्त्र है ॥२८॥ और भी कहा है—पुष्पोंसे,

तथा चोक्तम्—

पुष्पैः पर्वभिरम्बुज-बीज-स्वर्णार्ककान्तरत्नैर्वा । निःकम्पिताक्षवलयः पर्यङ्कस्थो जपं कुर्यात् ॥२९
एवं जिनागमे प्रोक्त-सप्तक्षेत्रेषु भक्तितः । सुश्रावकैर्धनं बीजं देयं शर्मशतप्रदम् ॥२१७

यदुक्तम्—

जिणभवण-बिंब-पोत्थय-संघसरूवाइं सत्तखेत्तेसु । जं बइयं धणबीयं तमहं अणुमोयए सकयं ॥३०

उक्तं च—

जिनबिम्बं जिनागारं जिनयात्रा प्रतिष्ठितम् । दानं पूजा च सिद्धान्त-लेखनं सप्तक्षेत्रकम् ॥३१

उक्तं च—

बिम्बावलोन्नति-यवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च ।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥३२
पूज्यपूजाक्रमेणोच्चैर्भव्यः पूज्यतमो भवेत् । ततो भव्यः सुखार्थी च पूज्यपूजां न लङ्घयेत् ॥२१८
अनेकैर्भव्यसन्दोहैर्भरतादिभिरुत्तमैः । श्रीमज्जिनेन्द्रपूजायाः फलं प्राप्तं महोत्तमम् ॥२१९
तद्वर्णने क्षमः कोऽत्र लोके श्रीमज्जिनं विना । किन्तु पूजाफलस्योच्चैर्दृष्टान्तो दर्दुरो मतः ॥२२०

यदुक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् । भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥३३

हाथकी अँगुलियोंके पर्वोसे, कमल-बीजोंसे, सुवर्ण, चाँदी, एवं सुन्दर रत्नोंकी मालाओंके द्वारा भव्य पुरुष पद्मासन बैठकर इन्द्रियोंको निष्कम्प रखते हुए जिनमन्त्रोंका जप करे ॥२९॥

इस प्रकार जिनागममें कहे गये सात क्षेत्रोंमें अति भक्तिसे शतसहस्र-सुखको देनेवाला धनरूपी बीज श्रावकोंको देना (बोना) चाहिए ॥२१७॥

वे सात क्षेत्र इस प्रकार कहे गये है—जिनभवन, जिनबिम्ब, जिनशास्त्र और मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ इन सात क्षेत्रोंमें जो धनरूपी बीज बोया जाता है, वह अपना है, ऐसी मै अनुमोदना करता हूँ ॥३०॥ और भी कहा है—जिनबिम्ब, जिनालय, जिनयात्रा, जिनप्रतिष्ठा, दान, पूजा और सिद्धान्त- (शास्त्र-) लेखन ये सात धर्मक्षेत्र हैं ॥३१॥ और भी कहा है—जो मनुष्य बिम्बापत्रकी ऊँचाईवाले जिनभवनको और जौकी ऊँचाईवाली जिनप्रतिमाको भक्तिसे बनवाते हैं, उनके पुण्यको कहनेके लिए सरस्वती भी समर्थ नहीं है। फिर दोनोंको करानेवाले मनुष्यके पुण्यका तो कहना ही क्या है ॥३२॥

पूज्य पुरुषोंकी पूजाके क्रमसे भव्य पुरुष अति उत्तम पूज्य होता है, इसलिए सुखार्थी भव्य पुरुष पूज्यकी पूजाका उल्लंघन नहीं करे ॥२१८॥ भरत आदि अनेक उत्तम भव्य सार्थोंने श्रीमज्जिनेन्द्रदेवकी पूजाका महान् उत्तम फल पाया। उसका वर्णन करनेमें श्रीमज्जिनेन्द्रदेवके विना और कौन पुरुष इस लोकमें समर्थ है। किन्तु फिर भी पूजाके फलका उच्च दृष्टान्त मेंढक माना गया है ॥२१९-२२०॥

जैसा कि श्रीसमन्तभद्र स्वामीने कहा है—राजगृह नगरमें अति प्रमुदित मेंढकने एक पुष्पके द्वारा अर्हन्तदेवके चरणोंकी पूजाके महान् प्रभावको महापुरुषोंके लिये कहा ॥३३॥

इत्युच्चैर्जिनपुङ्गवं शुभतरं देवेन्द्रचन्द्रार्चितं
ये भव्या भवसिन्धुतारणपरं सम्पूजयन्ति त्रिधा।
ते भव्यास्त्रिदशादिसौख्यमतुलं सम्प्राप्य राज्यादिकं
पश्चात्सिद्धिसुखं विनाशविमुखं सम्प्राप्नुवन्ति क्रमात् ॥२२१

सम्यक्त्वद्रुमसिञ्चने शुभतरा कादम्बिनी बोधदा भव्यानां वरभारतीव नितरां दूती सतां सम्पदे।
मुक्तिप्रोन्नतमन्दिरस्य सुखदा सोपानपङ्क्तिर्मुदा कुर्यात्सारसुखं समस्तजगतां पूजा जिनानां सदा ॥

गुणव्रतत्रयं चापि शिक्षाव्रतचतुष्टयम्। श्रावकाणां बुधाः प्राहुः शीलसप्तकमित्यलम् ॥२२३
पञ्चाणुव्रत-शीलसप्तकमिति प्रोक्तानि च द्वादशश्राद्धानां मुनिसत्तमैः शुभतराण्येवं व्रतानि ध्रुवम्।
ये भव्याः प्रतिपालयन्ति नितरां ते प्राप्य सत्सम्पदां देवेन्द्रादिसमुद्भवां शिवपदं पश्चाल्लभन्ते क्रमात् ॥

तथा चैकादश प्रोक्ताः प्रतिमा पूर्वसूरिभिः। श्रावकाणां जगत्सार-सम्पदा-सुखदाः सदा ॥२२५
श्राद्धो दर्शनिकः पूर्वो द्वितीयो व्रतिको मतः। सामायिकस्तृतीयः स्याच्चतुर्थः प्रोषधव्रती ॥२२६
सचित्तविरतश्चापि रात्रिभुक्तिविवर्जितः। सप्तमो ब्रह्मचारी च प्रारम्भरहितोऽष्टमः ॥२२७
परिग्रहग्रहैर्मुक्तः श्रावको नवमो मतः। दशमोऽनुमते दूरः परो नोद्दिष्टभुक्तिभाक् ॥२२८
तेषामेकादशस्थान-श्रावकाणां जिनोक्तिभिः। सङ्क्षेपाल्लक्षणं वक्ष्ये शृण्वन्तु सुधियो जनाः ॥२२९
द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्द्धिः परदारता। स्तेयेन सह सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥२३०
एतैः सप्तमहादोषैर्मुक्तो मूलगुणाष्टकः। श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-सेवनैकमधुव्रतः ॥२३१

जो भव्य जीव भव-सागरसे पार उतारनेवाले, देवेन्द्रचन्द्रसे पूजित और अति पवित्र ऐसे श्रेष्ठ जिनदेवकी त्रियोगसे पूजा करते हैं, वे भव्य देवेन्द्रादिके सुखोंको, अतुल राज्यादिकको पा करके तत्पश्चात् क्रमसे अविनाशी सिद्धि (मुक्ति) के सुखको प्राप्त करते हैं ॥२२१॥ जिनदेवोंकी पूजा सम्यक्त्वरूपी वृक्षको सींचनेके लिए उत्तम मेघधारा है, भव्योंको श्रेष्ठ सरस्वतीके समान बोध देनेवाली है, सज्जनोंको सम्पत्ति देनेके लिए अति चतुर दूतीके समान है, मुक्तिरूपी अति उच्च भवनकी सुखदायिनी सोपान पंक्ति है। इस प्रकार यह जिनपूजा समस्त जगत्को सदा सार सुख करे ॥२२२॥ ज्ञानियोंने तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतको श्रावकोंके सात शीलव्रत कहा है ॥२२३॥ इस प्रकार पाँच अणुव्रत और सात शील, ये अति शुभ बारह व्रत निश्चयसे श्रेष्ठ-मुनियोंने श्रद्धाशील श्रावकोंके कहे हैं। जो भव्यजीव इनको पालते है, वे निश्चयसे देवेन्द्रादिके होनेवाली उत्तम सम्पदा प्राप्त करके पीछे अनुक्रमसे शिवपदको पाते हैं ॥२२४॥ तथा पूर्वाचार्योंने जगत्की सारभूत—सुख-सम्पदाको सदा देनेवाली श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाएँ कही हैं ॥२२५॥ उनके धारक श्रावक इस प्रकार हैं—पहला दार्शनिक श्रावक, दूसरा व्रतिक, तीसरा सामायिक, चौथा प्रोषधव्रती, पाँचवाँ सचित्तविरत, छठा रात्रिभुक्ति विरहित, सातवाँ ब्रह्मचारी, आठवाँ आरम्भरहित, नवाँ परिग्रहविरत, दसवाँ अनुमतिविरत, और ग्यारहवाँ अनुद्दिष्टभोजी ॥२२६-२२८॥ इन उपर्युक्त ग्यारह स्थानवाले श्रावकोंके लक्षण जिनवाणीके अनुसार संक्षेपसे कहता हूँ, सो हे सुधी जनो, आप लोग सुनें ॥२२९॥

द्यूत, मांस, मदिरा, वेश्या, आखेट, परस्त्री और चोरी इन सात व्यसनोंको ज्ञानी पुरुष छोड़े ॥२३०॥ जो इन सातों महादोषोंसे विमुक्त है, आठ मूल गुणोंका धारक है, श्री जिनेन्द्रदेवके

सम्यग्दर्शनसंशुद्धो जैनधर्मे महारुचिः । दर्शनप्रतिमाधारी श्रावकः सम्मतो बुधः ॥२३२
अणुव्रतानि पञ्चोच्चैस्त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि यो धत्ते स द्वितीयकः ॥२३३
सामायिकं त्रिसन्ध्यं यः करोत्यत्र त्रिशुद्धितः । निश्चयेन विनीतात्मा तृतीयो युक्तितः स च ॥२३४
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां प्रोषधं नियमेन यः । विदधाति सदा शुद्धः श्रावकः स चतुर्थकः ॥२३५
सचित्तफलतोयादि वस्तु यो नात्ति सर्वथा । सचित्तविरतः सोऽत्र दयामूर्त्तिस्तु पञ्चमः ॥२३६
अन्नं पानं तथा खाद्यं लेह्यं रात्रौ हि सर्वदा । नैव भुङ्क्ते पवित्रात्मा स षष्ठः श्रावकोत्तमः ॥२३७

त्रिधा वैराग्यसम्पन्नो यः सदा ब्रह्मचर्यभाक् । मनोवाक्कायतो भव्यो ब्रह्मचर्यव्रती स च ॥२३८
सेवा-कृष्यादिवाणिज्य-प्रारम्भाद् रहितः सदा । सर्वप्राणिदयायुक्तः स प्रोक्तः श्रावकोत्तमः ॥२३९
बाह्याभ्यन्तरसङ्गेषु ममत्वपरिवर्जितः । महासन्तोषसम्पन्नः स भवेन्नवमः सुधीः ॥२४०

यदुक्तम्—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् । यानं शय्याऽऽसनं कुप्यं भाण्डं चेति बहिर्दश ॥३४
मिथ्यात्व-वेद-हास्यादि-षट्कषायचतुष्टयम् । राग-द्वेषौ च सङ्गाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥३५
बाह्यवस्तुविनिर्मुक्ता बहवः पापकर्मणा । अन्तःपरिग्रहत्यागी स भव्यो दुर्लभो भुवि ॥२४१
सर्वसावद्यकार्येषु विवाहादिषु सर्वदा । विद्यतेऽनुमतिर्नैव यस्यासौ दशमो मतः ॥२४२

चरण-कमलोंका सेवन करनेवाला अद्वितीय मधुव्रती भ्रमरके समान है, सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध है और जैनधर्ममें महा रुचि रखता है, वह ज्ञानी श्रावक दर्शन प्रतिमाधारी माना गया है ॥२३१-२३२॥ जो पाँचों अणुव्रतोंको, तीनों गुणव्रतोंको और चारों शिक्षाव्रतोंको निर्दोष धारण करता है, वह दूसरी व्रत प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥२३३॥ जो तीनों सन्ध्याओंमें त्रियोग-शुद्धिसे सामायिक करता है, वह विनीत भव्य निश्चयसे तीसरी प्रतिमाका धारक है ॥२३४॥ जो अष्टमी और चतुर्दशीके दिन नियमसे प्रोषधोपवास करता है, वह सदा शुद्ध रहनेवाला चौथी प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥२३५॥ जो सर्वथा ही सचित्त पत्र-फल और जलादि वस्तुको नहीं खाता है, वह दयामूर्त्ति सचित्त विरत पाँचवीं प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥२३६॥ जो रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों ही प्रकारके आहारको नहीं खाता है, वह पवित्रात्मा छठा उत्तम श्रावक है ॥२३७॥ जो भव्य मन वचन कायरूप त्रियोगसे वैराग्य-सम्पन्न है, और सदा ही ब्रह्मचर्यका धारक है, वह सातवाँ ब्रह्मचर्यव्रती श्रावक है ॥२३८॥ जो सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भसे रहित है और सदा ही सर्व प्राणियोंकी दयासे युक्त है, वह श्रावकोत्तम आठवीं प्रतिमाका धारक है ॥२३९॥ जो सुधी बाहरी और भीतरी परिग्रहोंमें ममता भावसे रहित है, और महान् सन्तोषसे संयुक्त है, वह नवाँ श्रावक है ॥२४०॥

जैसा कि कहा है—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद (दासी-दास), चतुष्पद (गाय-भैंसादि), यान, शय्या, आसन, कुप्य (वस्त्रादि) और भाण्ड ये दश बाहिरी परिग्रह हैं ॥३४॥ मिथ्यात्व, वेद, हास्यादि छह नोकषाय, क्रोधादि चार कषाय, राग और द्वेष ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं ॥३५॥

पाप कर्मके उदयसे बाहिरी वस्तुओंसे रहित तो बहुत लोग होते हैं, (परन्तु वे परिग्रह-त्यागी नहीं हैं।) किन्तु जो अन्तरंगपरिग्रहका त्यागी है, वह भव्य संसारमें दुर्लभ है ॥२४१॥ जिस श्रावकको सभी सावद्य कार्योंमें और विवाहादिमें सर्वदा अनुमति नहीं है, वह दशवाँ अनुमति

गृहं त्यक्त्वा वनं गत्वा मुनीनां चरणान्तिके । ब्रह्मचारिव्रतोपेतः स चैकादशको भवेत् ॥२४३
तस्य भेदद्वयं प्राहुरेकवस्त्रधरः सुधीः । प्रथमोऽसौ द्वितीयस्तु यती कौपीनमात्रभाक् ॥२४४
यः कौपीनधरो रात्रि-प्रतिमायोगमुत्तमम् । करोति नियमेनोच्चैः सदाऽसौ धीरमानसः ॥२४५
लोचं पिच्छं च सन्धत्ते भुङ्क्तेऽसौ चोपविश्य वै । पाणिपात्रेण पूतात्मा ब्रह्मचारी स चोत्तमः २४६
कृतकारितं परित्यज्य श्रावकाणां गृहे सुधीः । उद्दण्डभिक्षया भुङ्क्ते चैकवारं स युक्तितः ॥२४७
त्रिकालयोगे नियमो वीरचर्या च सर्वथा । सिद्धान्ताध्ययनं सूर्यप्रतिमा नास्ति तस्य वै ॥२४८
षडाद्यास्ते जघन्याः स्युः मध्यमाश्च ततस्त्रयः । उत्कृष्टौ द्वौ परौ प्रोक्तौ श्रावकेषु जिनागमे ॥२४९
श्रीमज्जैनमतं पूतं पवित्रीकृतभूतलम् । मत्वा सम्यक्त्वसंयुक्तो यो धर्मप्रतिपालकः ॥२५०
स भव्यो भुवनाम्भोज-भास्करो जगदर्चितः । सम्भूत्वा केवलज्ञानी मुक्तिकान्तावरो भवेत् ॥२५१

इत्येवं जिनदेवशास्त्रनिपुणैः प्रोक्ता मुनीन्द्रैः शुभैः
सम्यक्त्वादिगुणान्विताः शुचितराश्चैकादशस्थानिकाः ।
ये भव्याः प्रतिमाः सुरेन्द्रमहिताः शक्त्या भजन्त्युच्चकै-
स्ते दिव्याच्युतकल्पसौख्यनिलया भव्या भवन्त्युत्तमाः ॥२५२

इति धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामश्रावकाचारे द्वादशव्रतैकादशप्रतिमाव्यावर्णनो नाम चतुर्थोऽधिकारः ॥४॥

●

विरत श्रावक है ॥२४२॥ जो घरको छोड़कर और वनमें जाकर मुनियोंके चरणोंके समीपमें ब्रह्मचारीके व्रतको धारण करता है, वह ग्यारहवाँ श्रावक है ॥२४३॥ आचार्योंने उसके दो भेद कहे हैं—पहला एक वस्त्रधारी सुधी और दूसरा कौपीन मात्रका धारक यती ॥२४४॥ इनमें जो कौपीन मात्रका धारक है, वह उत्तम धीर मानस सदा ही रात्रि प्रतिमायोगको नियमसे भले प्रकार करता है ॥२४५॥ यह केश लोंच करता है, पिच्छीको रखता है और बैठकर नियमसे पाणिपात्रसे खाता है। यह उत्तम पवित्रात्मा ब्रह्मचारी है ॥२४६॥ (दूसरा भेदवाला भी) उत्तम सुधी कृत और कारित (एवं अनुमत) भोजनको छोड़कर श्रावकोंके घरमें उद्दण्ड भिक्षासे युक्ति पूर्वक एक बार ही भोजन करता है ॥२४७॥ इसे त्रिकालयोगमें नियम, वीरचर्या, सिद्धान्त रहस्य (प्रायश्चित्त सूत्र) का अध्ययन और सूर्य प्रतिमाका सर्वथा अधिकार नहीं है ॥२४८॥ उपर्युक्त ग्यारह प्रकारके श्रावकोंमेंसे जिनागममें आदिके छह श्रावक जघन्य, तदनन्तर तीन श्रावक मध्यम और अन्तिम दो श्रावक उत्कृष्ट कहे गये हैं ॥२४९॥ जो श्रावक श्रीमज्जैनमतको पवित्र एवं भूतलको पवित्र करनेवाला मानकर सम्यक्त्वसे संयुक्त होकर जैनधर्मका प्रतिपालन करता है, वह भव्य तीन भुवनके रूप कमलोंको विकसित करनेवाला सूर्य बनकर एवं जगत्पूज्य होकर केवलज्ञानी हो मुक्तिकान्ताको वरण करता है ॥२५०-२५१॥ इस प्रकार जिनदेव-भाषित शास्त्रोंमें निपुण उत्तम मुनीन्द्रोंने सम्यक्त्व आदि गुणोंसे संयुक्त, अतिपवित्र ग्यारह स्थानवाली श्रावक प्रतिमाएँ कहीं हैं, जो भव्य पुरुष देवेन्द्रोंसे पूजित इन प्रतिमाओंको शक्तिके अनुसार उच्च प्रकार से धारण करते हैं, वे उत्तम भव्य दिव्य अच्युत स्वर्गके सौख्योंके भोक्ता होते हैं ॥२५२॥

इस प्रकार धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामक श्रावकाचारमें श्रावकके बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाका वर्णन करनेवाला चौथा अधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

●

पञ्चमोऽधिकारः

तथा श्रीमज्जिनेन्द्राणां तत्त्वसार-विदांवरैः। अन्ते सल्लेखना कार्या धीर-वीरैकमानसैः ॥१
तस्या विधिः समाख्यातः पूर्वाचार्यैर्जगद्धितैः। तत्सङ्क्षेपेण वक्ष्येऽहं यथागममनुत्तरम् ॥२
महोपसर्गके जाते दुर्भिक्षे दुष्टरोगके। जरादौ निःप्रतीकारे सतां संन्याससत्क्रिया ॥३
दान-पूजा-तपः-शील-फलं प्राहुर्मुनीश्वराः। तदुच्चैर्यत्प्रकुर्वन्ति सन्तः सल्लेखनाविधिम् ॥४
तत्र सद्भिर्जिनेन्द्राणां महाधर्मविचक्षणैः। त्यक्त्वा परिग्रहं सर्वं मनोवाक्कायशुद्धितः ॥५
राग-द्वेषादिकं चापि परित्यज्य पुरा त्रिधा। महाक्षमाऽमृतैर्वाक्यैः सर्वान् सन्तोष्य सज्जनान् ॥६
गुरूणामग्रतो भक्त्या समालोच्य कृताघकम्। सुश्रावकैर्भवेच्छक्तिस्तदा ग्राह्यं महाव्रतम् ॥७
शोकं भयादिकं त्यक्त्वा जीविते मरणे तथा। चिन्तां सर्वां परित्यज्य कार्या कर्मक्षये मतिः ॥८
श्रीमज्जैन"ते धीरैर्महासन्तोषशालिभिः। शनैः शनैः परित्याज्यं चतुर्धाऽऽहारवस्तुकम् ॥९
भव्यैः पञ्चनमस्कार-संस्मृत्याऽऽसक्तमानसैः। अनन्यशरणीभूतैः कार्यं प्राणविसर्जनम् ॥१०
अवश्यं मरणे प्राप्ते मर्तव्यं नात्र संशयः। कथं न क्रियते सद्भिः संन्यासः सर्वसौख्यदः ॥११
इत्थमन्त्यक्रियां भव्या ये त्रिशुद्धया प्रकुर्वते। सौधर्माच्युतकल्पेषु प्राप्नुवन्ति महासुखम् ॥१२
अणिमादिगुणोपेतं दिव्यं रूपं च सम्पदाः। सुराङ्गनाः समासाद्य भुक्त्वा भोगान् पुनश्च ते ॥१३

बारह व्रत पालन करने समान जीवनके अन्तमें श्रीमज्जिनेन्द्रदेवके तत्त्वसारके जानकार, एवं धीर वीर चित्तवाले गृहस्थोंको सल्लेखना करना चाहिये ॥१॥ जगत्का हित करनेवाले पूर्वाचार्योंने उस सल्लेखनाकी विधि विस्तारसे कही है, उसे मैं आगमके अनुसार संक्षेपसे ही अनुपम रूपमें कहता हूँ ॥२॥ महान् उपसर्ग आनेपर, दुर्भिक्ष पड़नेपर, निःप्रतीकार भयंकर रोगके और बुढ़ापा आदिके आ जानेपर सन्तजनोंके संन्यासकी सत्क्रिया कही गयी है ॥३॥ जो सज्जन उत्तम प्रकारसे सल्लेखनाविधिको करते हैं, उसे ही मुनीश्वरोंने दान, पूजा, तप और शीलका फल कहा है ॥४॥ श्री जिनेन्द्रदेवके महान् धर्मके जानकार सन्त जन मन वचन कायकी शुद्धिसे सर्व परिग्रहको छोड़कर, तथा राग-द्वेषादिकको भी छोड़कर, त्रियोगसे महाक्षमा रूप अमृत वाक्योंके द्वारा सर्व सज्जनोंको सन्तुष्ट कर, गुरुजनोंके आगे भक्तिसे अपने किये गये पापोंकी समालोचना करके यदि शक्ति हो, तो श्रावक लोग महाव्रतोंको ग्रहण करें ॥५-७॥ उस समय शोक, भय, अरति आदिको छोड़कर तथा जीवन और मरणकी सर्व चिन्ताको छोड़कर कर्मके विनाशमें बुद्धि लगानी चाहिये ॥८॥ श्रीमज्जैनमतमें धीर और महासन्तोषशाली पुरुष धीरे-धीरे क्रमसे चारों प्रकारके आहारकी वस्तुओंका परित्याग करें ॥९॥ पुनः पंच नमस्कार मन्त्रके संस्मरणमें अपने मनको संलग्न कर और उन परमेष्ठियोंके ही शरणको प्राप्त होकर भव्य पुरुषोंको प्राणोंका विसर्जन करना चाहिये ॥१०॥ जब मरणके प्राप्त होनेपर अवश्य ही मरना पड़ता है, इसमें कोई संशय नहीं है, तब सज्जन पुरुष सर्व सुखदायी संन्यास क्यों न धारण करें ॥११॥ इस प्रकार जो भव्य जीव त्रियोगकी शुद्धिसे जीवनके अन्तमें इस सन्यासक्रियाको करते हैं, वे सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युत कल्प तक उत्पन्न होकर वहाँके महान् सुखको प्राप्त करते हैं ॥१२॥ वहाँपर वे अणिमा-

भूतलेऽत्र समागत्य प्राप्य दिव्यं कुलादिकम् । पश्चादुत्कृष्टतो रत्नत्रयाद्यान्ति शिवालयम् ॥१४
यत्र सिद्धा निराबाधाः विशुद्धाः कर्मवर्जिताः । अनन्तसुखसम्पन्नाः सन्तिष्ठतेऽष्टभिर्गुणैः ॥१५
अनन्तानन्तकालेऽपि नैव तेषां च विक्रिया । एवं मत्वा जिनेन्द्रोक्ते धर्मे कार्या मतिः सदा ॥१६
जीविते मरणे वाञ्छा भयं मित्रस्पृहा तथा । निदानं चेति संन्यासे पञ्चैते च व्यतिक्रमाः ॥१७

इत्थं श्रीजिनभाषितं शुभतरं धर्मं जगद्-द्योतकं
सद्-रत्नत्रयलक्षणं द्वितयगं देवेन्द्र-चन्द्रार्चितम् ।
ये भव्या निजशक्ति-भक्तिसहिताः संपालयन्त्यादरात्
ते नाकीन्द्र-नरेन्द्र-चक्रिपदवीं भुक्त्वा शिवं यान्ति च ॥१८

ग्रन्थकार-प्रशस्तिः

गच्छे श्रीमति मूलसङ्घतिलके सारस्वतीये शुभे
विद्यानन्दिगुरुप्रपट्टकमलोल्लासप्रदो भास्करः ।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सिद्धान्तसिन्धुर्महां-
स्तच्छिष्यो मुनिसिंहनन्दिसुगुरुर्जीयात् सतां भूतले ॥१९

तेषां पादाब्जयुग्मे निहितनिजमतिर्नेमिदत्तः स्वशक्त्या
भक्त्या शास्त्रं चकार प्रचुरसुखकरं श्रावकाचारमुच्चैः ।

महिमादि गुणोंसे संयुक्त दिव्य रूपको, दिव्य सम्पदाको और देवांगनाओंको प्राप्त कर और उनके साथ दिव्य भोगोंको भोगकर पुनः इस भूतलपर आकर और उत्तम कुलादिकको पाकर पश्चात् उत्कृष्ट रत्नत्रयसे शिवालयको जाते हैं ॥१३–१४॥ उस शिवालयमें रहनेवाले सभी सिद्ध जीव निराबाध अनन्त सुखसे सम्पन्न हैं, कर्मसे रहित हैं अतः विशुद्ध (निर्मल) हैं और सम्यक्त्वादि आठ महागुणोंसे युक्त रहते हैं ॥१५॥ उस शिवधाममें अनन्तानन्तकाल बीतनेपर भी उन सिद्धों के कभी किसी प्रकारका विकार नहीं उत्पन्न होता है। ऐसा जानकर भव्य जीवोंको जिनेन्द्र-कथित धर्ममें सदा बुद्धि करनी चाहिये ॥१६॥ उस संन्यासके जीवनकी इच्छा करना, मरणकी इच्छा करना, भय करना, मित्रोंकी इच्छा या स्मरण करना और निदान करना, ये पाँच अतीचार होते हैं (सल्लेखनाको धारण करनेपर इन अतिचारोंका त्याग करें।) ॥१७॥ इस प्रकार श्री जिन-भाषित, अतिशुभ, जगत्-प्रकाशक, देवेन्द्रचन्द्रसे पूजित, निश्चय और व्यवहार रूप दो प्रकारके लक्षणवाले उत्तम रत्नत्रय धर्मको जो भव्य जीव निजशक्ति और भक्तिसे सहित होकर आदरसे पालन करते है, वे देवेन्द्र, नरेन्द्र और चक्रवर्तीकी पदवीको भोगकर मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥१८॥

ग्रन्थकारकी प्रशस्ति

श्रीमान् मूलसघके तिलकस्वरूप शुभ सरस्वती गच्छमें श्री विद्यानन्दि गुरुके पट्टरूप कमल को सूर्यके समान उल्लसित करनेवाले, सिद्धान्त महोदधि श्रीभट्टारक मल्लिभूषण गुरु हुए। उनके शिष्य श्री मुनि सिंहनन्दि गुरु हुए। वे इस भूतलपर सदा जयशील रहें ॥१९॥ उन सिंहनन्दि गुरु के चरणकमल युगलपर अपनी बुद्धिको रखनेवाले नेमिदत्तने अपनी शक्तिके अनुसार उच्च भक्ति

नित्यं भव्यैर्विशुद्धैः सकलगुणनिधेः प्राप्तिहेतुं च मत्वा
युक्त्या संसेवितोऽसौ दिशतु शुभतमं मङ्गलं सज्जनानाम् ॥२०

लेखकानां वाचकानां पाठकानां तथैव च । पालकानां सुखं कुर्यान्नित्यं शास्त्रमिदं शुभम् ॥२१

इति श्री धर्मोपदेश पीयूषवर्षनामश्रावकाचारे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्यब्रह्मनेमिदत्त विरचिते सल्लेखनाक्रमव्यावर्णन्ते नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥५॥

●

से अतिसुखकारी इस श्रावकाचार शास्त्रको बनाया। इसे सर्व गुणनिधियोंकी प्राप्तिका कारण मानकर विशुद्ध बुद्धिवाले भव्य जन नित्य ही युक्तिके साथ इसकी सम्यक् सेवा आराधना करें और यह सज्जनोंको परम शुभ मंगल प्रदान करें ॥२०॥ यह शुभ शास्त्र लेखक, वाचक, पाठक और पालक (रक्षक) जनोंके नित्य ही सुख प्रदान करें ॥२१॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीमल्लिभूषणके शिष्य ब्रह्मनेमिदत्त-विरचित धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामक-श्रावकाचारमें सल्लेखनाके क्रमका वर्णन करनेवाला पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥५॥

●